ॐ अर्हं

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क ३२-आ

[परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री जोरावरमलजी महाराज की पुण्यस्मृति में आयोजित]

त्रीणि छेदसूत्राणि

दशाश्रुतस्कन्ध □ बृहत्कल्प □ व्यवहारसूत्र

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, टिप्पण युक्त]

□

प्रेरणा
(स्व.) उपप्रवर्तक शासनसेवी स्वामी श्री ब्रजलालजी महाराज

□

संयोजक तथा आद्य सम्पादक
(स्व०) युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'

□

अनुवादक—विवेचक—सम्पादक
अनुयोगप्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी म० 'कमल'
गीतार्थ श्री तिलोकमुनिजी म०

□

प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क ३२-आ

☐ निर्देशन
साध्वी श्री उमरावकुंवर 'अर्चना'

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ प्रथम संस्करण
वीर निर्वाण सं० २५१७
विक्रम सं० २०४८
जनवरी १९९२ ई०

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति
श्री ब्रज-मधुकर स्मृति भवन,
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन—३०५९०१

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य 100/-

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Shri Joravarmalji Maharaj

TREEṄI CHHEDSŪTRĀṄI

Dashashrutskandha ☐ Brihatkalpa ☐ Vyavhar Sutras

[Original Text with Variant Readings, Hindi Version, Notes and Annotations etc.]

☐

Inspiring Soul
(Late) Up-pravartaka Shasansevi Rev. Swami Shri Brijlalji Maharaj

☐

Convener & Founder Editor
(Late) Yuvacharya Shri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

☐

Translator-Annotator-Editor
Anuyoga Pravartaka Muni Shri Kanhaiyalalji 'Kamal'
Geetarth Shri Tilokmuniji

☐

Publishers
Shri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj.)

Jinagam Granthmala Publication No. 32-B

☐ **Direction**
Sadhwi Shri Umravkunwar 'Archana'

☐ **Board of Editors**
Anuyogapravartaka Muni Shri Kanhaiyalalji 'Kamal'
Upacharya Shri Devendra Muni Shastri
Shri Ratan Muni

☐ **Promotor**
Muni Shri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendra Muni 'Dinakar'

☐ **First Edition**
Vir-Nirvana Samvat 2517
Vikram Samvat 2048,
January 1992.

☐ **Publisher**
Shri Agam Prakashan Samiti,
Shri Brij-Madhukar Smriti Bhawan,
Pipaliya Bazar, Beawar (Raj.)
Pin 305 901

☐ **Printer**
Satish Chandra Shukla
Vedic Yantralaya
Kesarganj, Ajmer

☐ **Price** : [illegible] 100/-

समर्पण

निरतिचार संयमसाधना में
सतत संलग्न रहने वाले
अतीत, अनागत और वर्तमान
के सभी श्रुतधर स्थविरों के
करकमलों में।

समर्पक
अनुयोगप्रवर्तक मुनि कन्हैयालाल 'कमल'
गीतार्थ तिलोकमुनि

प्रकाशकीय

"त्रीणि छेदसूत्राणि" शीर्षक के अन्तर्गत दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार ये तीन छेदसूत्र प्रकाशित हैं। पृष्ठ मर्यादा अधिक होने से निशीथसूत्र को पृथक् ग्रन्थांक के रूप में प्रकाशित किया है।

इन चारों छेदसूत्रों का अनुवाद, विवेचन, संपादन आदि का कार्य मुख्य रूप से अनुयोगप्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी म. 'कमल' के सान्निध्य में गीतार्थ मुनि श्री तिलोकमुनिजी ने बहुत परिश्रम, लगन और मनोयोगपूर्वक किया है। अतएव पाठकगण छेदसूत्रों सम्बन्धी अपनी जिज्ञासाओं के समाधान के लिए मुनि श्री तिलोकमुनिजी से संपर्क बनायें।

आगमबत्तीसी के अंतिम वर्ग में छेदसूत्रों का समावेश है। इनके प्रकाशन के साथ सभी आगमों का प्रकाशन कार्य संपन्न हो गया है। अतएव उपसंहार के रूप में समिति अपना निवेदन प्रस्तुत करती है—

श्रमणसंघ के युवाचार्यश्री स्व. श्रद्धेय मधुकरमुनिजी म. सा. जब अपने महामहिम गुरुदेवश्री जोरावरमलजी म. सा. से आगमों का अध्ययन करते थे तब गुरुदेवश्री ने अनेक बार अपने उद्‌गार व्यक्त किये थे कि आगमों को उनकी टीकाओं का साराश लेकर सरल सुबोध भाषा, शैली में उपलब्ध कराया जाये तो पठन-पाठन के लिये विशेष उपयोगी होगा।

गुरुदेवश्री के इन उद्‌गारों से युवाचार्यश्री जी को प्रेरणा मिली। अपने ज्येष्ठ गुरुभ्राता स्वामीजी श्री हजारीमलजी म., स्वामीजी श्री ब्रजलालजी म. से चर्चा करते, योजना बनाते और जब अपनी ओर से योजना को पूर्ण रूप दे दिया तब विद्वद्वर्य मुनिराजों, विदुषी साध्वियों को भी अपने विचारों से अवगत कराया। सद्‌गृहस्थों से परामर्श किया। इस प्रकार सभी ओर से योजना का अनुमोदन हो गया तब वि. सं. २०३६ वैशाख शुक्ला १० श्रमणभगवान् महावीर के कैवल्यदिवस पर भगवान की देशना रूप आगमबत्तीसी के संपादन, प्रकाशन को प्रारम्भ करने की घोषणा कर दी गई और निर्धारित रीति-नीति के अनुसार कार्य प्रारम्भ हो गया। युवाचार्य चादर-प्रदान महोत्सव दिवस पर आचारांगसूत्र को जिनागम ग्रन्थमाला ग्रन्थांक १ के रूप में पाठकों के अध्ययनार्थ प्रस्तुत किया।

यह प्रकाशन-परम्परा यथाक्रमनि से चल रही थी कि दारुणप्रसंग उपस्थित हो गया, अवसाद की गहरी घटायें घिर आई। योजनाकार युवाचार्यश्री दिवंगत हो गये। यह मार्मिक आघात था। किन्तु साहस और स्व. युवाचार्यश्री के वरद आशीर्वादों का संबल लेकर समिति अपने कार्य में तत्पर रही। इसी का सुफल है कि आगमबत्तीसी के प्रकाशन के जिस महान् कार्य को प्रारम्भ किया था, वह यथाविधि सम्पन्न कर सकी है।

समिति अध्यात्मयोगिनी विदुषी महासती श्री उमरावकुंवरजी म. सा. "अर्चना" की कृतज्ञ है। अपने मार्ग-दर्शन और युवाचार्यश्री के रिक्त स्थान की पूर्ति कर कार्य को पूर्ण करने की प्रेरणा दी। पचपदी मोहनमलजी

सा. चोरड़िया, श्री चिम्मनसिंहजी लोढ़ा, श्री पुखराजजी सिसोदिया, श्री चांदमलजी विनायकिय
श्री शोभाचन्दजी भारिल्ल आदि एवं अन्यान्य अज्ञात कर्मठ सहयोगियों का जो अब हमारे बीच नहीं है, स
श्रद्धाञ्जलि समर्पित करती है।

अंत में समिति अपने सहयोगी परिवार के प्रत्येक सदस्य को धन्यवाद देती है। इनके सहकार
वाङ्मय की चतुर्दिक-चतुर्गुणित श्रीवृद्धि कर सकी है। हम तो इनके मार्गदर्शन में सामान्य कार्यवाहक की
का निर्वाह कर रहे हैं।

रतनचन्द मोदी
कार्यवाहक अध्यक्ष

सायरमल चोरड़िया
महामंत्री

अमरच

श्री आगमप्रकाशन समिति, पीपलिया बाजार, ब्यावर-३०५९०१

सम्पादकीय

छेद-सूत्र : समीक्षात्मक विवेचन

आगमों की संख्या

स्थानकवासी जैन परंपरा जिन आगमों को वीतराग-वाणी के रूप में मानती है, उनकी संख्या ३२ है। वह इस प्रकार है—ग्यारह अंग, बारह उपांग, चार मूल, चार छेद और एक आवश्यक। श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक परंपरा के अनुसार पैंतालीस आगम हैं। अंग, उपांग आदि की संख्या तो समान है। किन्तु प्रकीर्णकों और छेदसूत्रों में निशीथ, दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प व व्यवहारसूत्र के साथ महानिशीथ और पंचकल्प को अधिक माना है।

अंग, उपांग आदि आगमों में धर्म, दर्शन, आचार, संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, कला आदि साहित्य के सभी अंगों का समावेश है। परन्तु मुख्य रूप से जैन दर्शन और धर्म के सिद्धान्तों और आचारों का विस्तार से वर्णन किया गया है। अंग, उपांग, मूलवर्ग में प्रायः सैद्धान्तिक विचारों की मुख्यता है। आचारांग, उपासकदशांग और आवश्यक सूत्रों में आचार का विस्तार से वर्णन किया है। छेदसूत्र आचारशुद्धि के नियमोपनियमों के प्ररूपक हैं।

प्रस्तुत में छेदसूत्रों सम्बंधी कुछ संकेत करते हैं।

छेदसूत्र नाम क्यों ?

छेद शब्द जैन परम्परा के लिये नवीन नहीं है। चारित्र के पांच भेदों में दूसरे का नाम छेदोपस्थापना-चारित्र है। कान, नाक आदि अवयवों का भेदन तो छेद शब्द का सामान्य अर्थ है, किन्तु धर्म-सम्बन्धी छेद का लक्षण इस प्रकार है—

वज्झाणुट्ठाणेणं जेण ण बाहिज्जए तये णियया।
संभवइ य परिसुद्धं सो पुण धम्मम्मि छेउत्ति।

जिन बाह्यक्रियाओं से धर्म में बाधा न आती हो और जिससे निर्मलता की वृद्धि हो, उसे छेद कहते हैं। अतएव छेदोपस्थापना का लक्षण यह हुआ—पुरानी सावद्य पर्याय को छोड़कर अहिंसा आदि पांच प्रकार के यमरूप धर्म में आत्मा को स्थापित करना छेदोपस्थापनासंयम है। अथवा जहाँ हिंसा, चोरी इत्यादि के भेद पूर्वक सावद्य क्रियाओं का त्याग किया जाता है और व्रतभंग हो जाने पर इसकी प्रायश्चित्त आदि से शुद्धि की जाती है, उसको छेदोपस्थापना संयम कहते हैं। यह निरतिचार और सातिचार के भेद से दो प्रकार का है। निरतिचार छेदोपस्थापना में पूर्व के सर्वसावद्यत्याग रूप सामायिक चारित्र के पृथक्-पृथक् अहिंसा आदि पंच महाव्रत रूप भेद करके साधक को स्थापित किया जाता है। सातिचार छेदोपस्थापनाचारित्र में उपस्थापित (पुनः स्थापित) करने के लिये आलोचना के साथ प्रायश्चित्त भी आवश्यक है। यह प्रायश्चित्तविधान स्खलनाओं की गंभीरता को देखकर किया जाता है।

प्रायश्चित्त दस प्रकार के हैं। इनमें छेदप्रायश्चित्त सातवां है। आलोचनार्ह प्रायश्चित्त से छेदार्ह प्रायश्चित्त पर्यन्त सात प्रायश्चित्त होते हैं। ये वेषयुक्त श्रमण को दिये जाते हैं। अंतिम तीन वेषमुक्त श्रमण को दिये जाते हैं।

वेषमुक्त श्रमण को दिये जाने वाले प्रायश्चित्तों में छेदप्रायश्चित्त अंतिम प्रायश्चित्त है। इसके साथ पूर्व के छह प्रायश्चित्त ग्रहण कर लिये जाते हैं। मूलार्ह, अनवस्थाप्यार्ह और पारांञ्चिकार्ह प्रायश्चित्त वाले अल्प होते हैं। आलोचनार्ह से छेदार्ह पर्यन्त प्रायश्चित्त वाले अधिक होते हैं। इसलिये उनकी अधिकता से सहस्राम्रवन नाम के समान दशाश्रुतस्कन्ध (आचारदशा) बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ आगमों को छेदसूत्र कहा जाता है।

छेदसूत्रों का सामान्य वर्ण्य-विषय

उपर्युक्त कथन से यह ज्ञात हो जाता है कि साधनामय जीवन में यदि साधक के द्वारा कोई दोष हो जाये तो इससे कैसे बचा जाये, उसका परिमार्जन कैसे किया जाये, यह छेदसूत्रों का सामान्य वर्ण्य-विषय है। इस दृष्टि से छेदसूत्रों के विषयों को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—

१. उत्सर्गमार्ग, २. अपवादमार्ग, ३. दोषसेवन, ४ प्रायश्चित्तविधान।

१. जिन नियमों का पालन करना साधु-साध्वीवर्ग के लिये अनिवार्य है। बिना किसी हीनाधिकता, परिवर्तन के समान रूप से जिस समाचारी का पालन करना अवश्यंभावी है और इसका प्रामाणिकता से पालन करना उत्सर्गमार्ग है। निर्दोष चारित्र की आराधना करना इस मार्ग की विशेषता है। इसके पालन करने से साधक में अप्रमत्तता बनी रहती है तथा इस मार्ग का अनुसरण करने वाला साधक प्रशंसनीय एवं श्रद्धेय बनता है।

२. अपवाद का अर्थ है विशेषविधि। यह दो प्रकार की है—(१) निर्दोष विशेषविधि और (२) सदोष विशेषविधि। सामान्यविधि से विशेषविधि बलवान होती है। आपवादिक विधि सकारण होती है। उत्तरगुण-प्रत्याख्यान में जो आगार रखे जाते हैं, वे सब निर्दोष अपवाद हैं। जिस क्रिया, प्रवृत्ति से आज्ञा का अतिक्रमण न होता हो, वह निर्दोष है, परन्तु प्रबलता के कारण मन न होते हुए भी विवश होकर जिस दोष का सेवन करना पड़ता है या किया जाये, वह सदोष अपवाद है। प्रायश्चित्त से उसकी शुद्धि हो जाती है। यह मार्ग साधक को आर्त-रौद्र ध्यान से बचाता है। यह मार्ग प्रशंसनीय तो नहीं है किन्तु इतना निन्दनीय भी नहीं कि लोकापवाद का कारण बन जाये।

अनाचार तो किसी भी रूप में अपवादविधि का अंग नहीं बनाया या माना जा सकता है। स्वेच्छा से स्वच्छन्दता से स्वैराचार में प्रवृत्त होना, मर्यादा का अतिक्रमण करते हुए अपने स्वार्थ, मान-अभिमान को सर्वोपरि स्थापित करना, संघ की अवहेलना करना, उद्दण्डता का प्रदर्शन करना, अनुशासन भंग करना अनाचार है। यह अकल्पनीय है, किन्तु अनाचारी कल्पनीय बनाने की युक्ति-प्रयुक्तियों का सहारा लेता है।

ऐसा व्यक्ति, साधक किसी भी प्रकार की विधि से शुद्ध नहीं हो सकता है और न शुद्धि के योग्य पात्र है।

३, ४—दोष का अर्थ है उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का भंग करना और उस भंग के शुद्धिकरण के लिये की जाने वाली विधि, प्रायश्चित्त कहलाती है।

प्रबलकारण के होने पर अनिच्छा से, विस्मृति और प्रमादवश जो दोष सेवन हो जाता है, उसकी शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त से शुद्ध होना, यही छेदसूत्रों के वर्णन की सामान्य रूपरेखा है।

प्रायश्चित्त की अनिवार्यता

दोषशुद्धि के लिये प्रायश्चित्त का विधान है, उपर्युक्त कथन से यह ज्ञात हो जाता है। इसी संदर्भ में यह कुछ विशेष संकेत करते हैं।

अनगारधर्म के पाँच आचारों के बीचोबीच चारित्राचार को स्थान देने का यह हेतु है कि ज्ञानाचार-दर्शनाचार तथा तपाचार-वीर्याचार की समन्वित साधना निर्विघ्न सम्पन्न हो, इसका एक मात्र साधन चारित्राचार है। चारित्राचार के आठ विभाग हैं—पाँच समिति, तीन गुप्ति। पाँच समितियां संयमी जीवन में निवृत्तिमूलक प्रवृत्तिरूपा हैं और तीन गुप्तियां तो निवृत्तिरूपा ही हैं। इनकी भूमिका पर अनगार की साधना में एक अपूर्व उल्लास, उत्साह के दर्शन होते हैं। किन्तु विषय-कषायवश, राग-द्वेषादि के कारण यदि समिति, गुप्ति और महाव्रतों की मर्यादाओं का अतिक्रम, व्यतिक्रम या अतिचार यदा-कदा हो जाये तो सुरक्षा के लिये प्रायश्चित्त प्राकार (परकोटा) रूप है। फलितार्थ यह है कि मूलगुणों, उत्तरगुणों में प्रतिसेवना का घुन लग जाये तो उसके परिहार के लिये प्रायश्चित्त अनिवार्य है।

छेदप्रायश्चित्त की मुख्यता का कारण

प्रायश्चित्त के दस प्रकार हैं। इनमें प्रारंभ के छह प्रायश्चित्त सामान्य दोषों की शुद्धि के लिये हैं और अंतिम चार प्रायश्चित्त प्रबल दोषों की शुद्धि के लिये हैं। छेदार्ह प्रायश्चित्त में अंतिम चार प्रायश्चित्तों में प्रथम प्रायश्चित्त है। व्याख्याकारों ने इसकी व्याख्या करते हुए आयुर्वेद का एक रूपक प्रस्तुत किया है। उसका भाव यह है—किसी व्यक्ति का अंग-उपांग रोग या विष से इतना अधिक दूषित हो जाये कि उपचार से उसके स्वस्थ होने की संभावना ही न रहे तो शल्यक्रिया से उस अंग-उपांग का छेदन करना उचित है, पर रोग या विष को शरीर में व्याप्त नहीं होने देना चाहिये। क्योंकि ऐसा न करने पर अकालमृत्यु अवश्यभावी है। किन्तु अंगच्छेदन के पूर्व वैद्य का कर्तव्य है कि रुग्ण व्यक्ति और उसके निकट सबंधियों को समझाये कि अंग-उपांग रोग से इतना दूषित हो गया है कि अब औषधोपचार से स्वस्थ होने की संभावना नहीं है। जीवन की सुरक्षा और वेदना की मुक्ति चाहें तो शल्यक्रिया से अंग-उपांग का छेदन करवा लें। यद्यपि शल्यक्रिया से अंग-उपांग का छेदन करते समय तीव्र वेदना होगी पर होगी थोड़ी देर, किन्तु शेष जीवन वर्तमान जैसी वेदना से मुक्त रहेगा।

इस प्रकार समझाने पर वह रुग्ण व्यक्ति और उसके अभिभावक अंग-छेदन के लिये सहमत हो जायें तो चिकित्सक का कर्तव्य है कि अंग-उपांग का छेदन कर शरीर और जीवन को व्याधि से बचावे।

इस रूपक की तरह आचार्य आदि अनगार को समझायें कि दोष प्रतिसेवना से आपके उत्तरगुण इतने अधिक दूषित हो गये हैं कि अब उनकी शुद्धि आलोचनादि सामान्य प्रायश्चित्तों से संभव नहीं है। अब आप चाहें तो प्रतिसेवनाकाल के दिनों का छेदन कर शेष संयमी जीवन को सुरक्षित किया जाये। अन्यथा न समाधिमरण होगा और न भवभ्रमण से मुक्ति होगी। इस प्रकार समझाने पर वह अनगार यदि प्रतिसेवना का परित्याग कर छेदप्रायश्चित्त स्वीकार करे तो आचार्य उसे छेदप्रायश्चित्त देकर शुद्ध करें।

यहाँ यह विशेष जानना चाहिये कि छेदप्रायश्चित्त से केवल उत्तरगुणों में लगे दोषों की शुद्धि होती है। मूलगुणों में लगे दोषों की शुद्धि मूलार्ह आदि तीन प्रायश्चित्तों से होती है।

छेदसूत्रों की वर्णनशैली

छेदसूत्रों में तीन प्रकार के चारित्राचार प्रतिपादित हैं—(१) हेयाचार, (२) ज्ञेयाचार, (३) उपादेयाचार। इनका विस्तृत विचार करने पर यह रूप फलित होता है—

(१) विधिकल्प, (२) निषेधकल्प, (३) विधिनिषेधकल्प, (४) प्रायश्चित्तकल्प, (५) प्रकीर्णक। इनमें से प्रायश्चित्तकल्प के अतिरिक्त अन्य विधि-कल्पादिक के चार विभाग होंगे—

(१) निर्ग्रन्थों के विधिकल्प,
(२) निर्ग्रन्थियों के विधिकल्प,
(३) निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के विधिकल्प,
(४) सामान्य विधिकल्प ।

इसी प्रकार निषेधकल्प आदि भी समझना चाहिये । जिन सूत्रों में 'कप्पई' शब्द का प्रयोग है, वे विधिकल्प के सूत्र हैं । जिनमें 'नो कप्पई' शब्द प्रयोग है, वे निषेधकल्प के सूत्र हैं । जिनमें 'कप्पई' और 'नो कप्पई' दोनों का प्रयोग है वे विधि-निषेधकल्प के सूत्र हैं और जिनमें 'कप्पई' और 'नोकप्पई' दोनों का प्रयोग नहीं है वे विधानसूत्र हैं । प्रायश्चित्तविधान के लिये सूत्रों में यथास्थान स्पष्ट उल्लेख है ।

छेदसूत्रों में सामान्य से विधि-निषेधकल्पों का उल्लेख करने के बाद निर्ग्रन्थों के लिये विधिकल्प और निषेधकल्प का स्पष्ट संकेत किया गया है । इसी प्रकार निर्ग्रन्थी के विधि-निषेधकल्प का कथन है । दोनों के लिये क्या और कौन विधि-निषेधकल्प रूप है और प्रतिसेवना होने पर किसका कितना प्रायश्चित्त विधान है, उसकी यहाँ विस्तृत सूची देना संभव नहीं है । ग्रन्थावलोकन से पाठकगण स्वयं ज्ञात कर लें ।

प्रायश्चित्तविधान के दाता-आदाता की योग्यता

दोष के परिमार्जन के लिये प्रायश्चित्त विधान है । इसके लेने और देने वाले की पात्रता के सम्बन्ध में छेदसूत्रों में विस्तृत वर्णन है । जिसके संक्षिप्त सार का यहाँ कुछ संकेत करते हैं ।

अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार दोष सेवन के कारण हैं । किन्तु जो वक्रता और जड़ता के कारण दोषों की आलोचना सहजभाव से नहीं करते हैं, वे तो कभी भी शुद्धि के पात्र नहीं बन सकते हैं । यदि कोई माया-पूर्वक आलोचना करता है तब भी उसकी आलोचना फलप्रद नहीं होती है । उसकी मनोभूमिका आलोचना करने के लिये तत्पर नहीं होती तो प्रायश्चित्त करना आकाशकुसुमवत् है । उक्त कथन का सारांश यह हुआ कि आलोचक ऋजु, छलकपट से रहित मनस्थितिवाला होना चाहिये । उसके अंतर् में पश्चात्ताप की भावना हो, तभी दोषपरिमार्जन के लिये तत्पर हो सकेगा ।

इसी प्रकार आलोचना करने वाले की आलोचना सुनने वाला और उसकी शुद्धि में सहायक होने का अधिकारी वही हो सकेगा जो प्रायश्चित्तविधान का मर्मज्ञ हो, तटस्थ हो, दूसरे के भावों का वेत्ता हो, परिस्थिति का परिज्ञान करने में सक्षम हो, स्वयं निर्दोष हो, पक्षपात रहित हो, आदेय वचन वाला हो । ऐसा वरिष्ठ साधक दोषी को निर्दोष बना सकता है । संघ को अनुशासित एवं लोकापवाद, भ्रांत धारणाओं का शमन कर सकता है ।

इस संक्षिप्त भूमिका के आधार पर अब हम ग्रन्थ में संकलित—१. दशाश्रुतस्कन्ध, २. बृहत्कल्प और ३. व्यवहार, इन तीन छेदसूत्रों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हैं ।

(१) दशाश्रुतस्कन्ध अथवा आचारदशा

समवायांग, उत्तराध्ययन और आवश्यकसूत्र में कल्प और व्यवहारसूत्र के पूर्व आयारदसा (आचारदशा) का नाम कहा गया है । अतः छेदसूत्रों में यह प्रथम छेदसूत्र है । स्थानांगसूत्र के दसवें स्थान में इसके दस अध्ययनों का उल्लेख होने से 'दशाश्रुतस्कन्ध' यह नाम अधिक प्रचलित हो गया है । दस अध्ययनों के नाम इस प्रकार हैं— १. असमाधिस्थान, २. शबलदोष, ३. आशातना, ४. गणिसम्पदा, ५. चित्तसमाधिस्थान, ६. उपासकप्रतिमा, ७. भिक्षुप्रतिमा, ८. पर्युषणाकल्प ९. मोहनीयस्थान और १०. आयतिस्थान । इन दस अध्ययनों में असमाधिस्थान,

चित्तसमाधिस्थान, मोहनीयस्थान और आयतिस्थान में जिन तत्त्वों का संकलन किया गया है, वे वस्तुतः योगविद्या से संबद्ध हैं। योगशास्त्र से उनकी तुलना की जाये तो ज्ञात होगा कि चित्त को एकाग्र तथा समाहित करने के लिए आचारदशा के दस अध्ययनों में ये चार अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उपासकप्रतिमा और भिक्षुप्रतिमा श्रावक व श्रमण की कठोरतम साधना के उच्चतम नियमों का परिज्ञान कराते हैं। पर्युषणाकल्प मे पर्युषण कब करना चाहिये, कैसे मनाना चाहिये····? कब मनाना चाहिये, इस विषय पर विस्तार से विचार किया गया है। सबलदोष और आशातना इन दो दशाओं में साधुजीवन के दैनिक नियमों का विवेचन किया गया है और कहा गया है कि इन नियमों का परिपालन होना ही चाहिये। इनमे जो त्याज्य हैं, उनका दृढ़ता से त्याग करना चाहिये और जो उपादेय हैं, उनका पालन करना चाहिये। चतुर्थ दशागणिसंपदा में आचार्यपद पर विराजित व्यक्ति के व्यक्तित्व, प्रभाव तथा उसके शारीरिक प्रभाव का अत्यन्त उपयोगी वर्णन किया गया है। आचार्यपद की लिप्सा में संलग्न व्यक्तियों को आचार्यपद ग्रहण करने के पूर्व इनका अध्ययन करना आवश्यक है। इस प्रकार यह दशाश्रुतस्कन्ध (आचारदशा) सूत्र श्रमणजीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

प्रकारान्तर से दशाश्रुतस्कन्ध की दशाओं के प्रतिपाद्य का उल्लेख इस रूप में भी हो सकता है—

प्रथम तीन दशाओं और अंतिम दो दशाओं में साधक के हेयाचार का प्रतिपादन है।

चौथी दशा में अगीतार्थ अनगार के ज्ञेयाचार का और गीतार्थ अनगार के लिये उपादेयाचार का कथन है।

पांचवी दशा में उपादेयाचार का निरूपण है।

छठी दशा में अनगार के लिये ज्ञेयाचार और सागार (श्रमणोपासक) के लिये उपादेयाचार का कथन है।

सातवी दशा में अनगार के लिये उपादेयाचार और सागार के लिये ज्ञेयाचार का कथन किया है।

आठवीं दशा में अनगार के लिये कुछ ज्ञेयाचार, कुछ हेयाचार और कुछ उपादेयाचार है।

इस प्रकार यह आचारदशा—दशाश्रुतस्कंध अनगार और सागार दोनों के लिये उपयोगी है। कल्प, व्यवहार आदि छेदसूत्रों में भी हेय, ज्ञेय और उपादेय आचार का कथन किया गया है।

(२) बृहत्कल्पसूत्र

कल्प शब्द अनेक अर्थों का बोधक है, इस शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है। वेद के छह: अंग हैं—उनमें एक वह अंग है जिसमें यज्ञ आदि कर्मकाण्डों का विधान है, वह अंग कल्प कहलाता है।

कालमान के लिये भी कल्प शब्द का प्रयोग मिलता है। चौदह मन्वन्तरों का कालमान कल्प शब्द से जाना जाता है। उसमें चार अरब, बत्तीस करोड़ वर्ष बीत जाते हैं। इतने लम्बे काल की संज्ञा को कल्प कहा है।

सदृश अर्थ में भी कल्प शब्द का प्रयोग किया जाता है, जैसे कि श्रमणकल्प, ऋषिकल्प इत्यादि।

कल्प शब्द उस वृक्ष के लिए भी प्रयुक्त होता है जो वृक्ष मनोवांछित फल देने वाला है, वह कल्पवृक्ष कहलाता है।

राज्यमर्यादा के लिए भी कल्प शब्द का प्रयोग किया जाता है। बारहवें देवलोक तक राजनीति की मर्यादा है। इसी कारण उन देवलोको को 'कल्प देवलोक' कहा जाता है। मर्यादा वैधानिकरीति से जो भी कोई जीवन चलाता है, वह अवश्य ही सुख और सम्पत्ति से समृद्ध बन जाता है। प्रस्तुत शास्त्र का नाम जिस कल्प शब्द से चरितार्थ किया है, वह उपर्युक्त अर्थों से बिल्कुल भिन्न है।

प्रस्तुत प्रसंग में कल्प शब्द का अर्थ धर्म-मर्यादा है। साधु आचार ही धर्म-मर्यादा है। जिस शास्त्र में धर्म-मर्यादा का वर्णन हो वह कल्प है, नाम विषयानुरूप ही है। जिस शास्त्र का जैसा विषय हो वैसा नाम रखना यथार्थ नाम कहलाता है। साधुधर्म के आन्तरिक और बाह्य-आचार का निर्देश एवं मर्यादा बताने वाला शास्त्र कल्प कहलाता है।

जिस सूत्र में भगवान् महावीर, पार्श्वनाथ, अरिष्टनेमि और ऋषभदेव का जीवनवृत्त है, उस शास्त्र के अंतिम प्रकरण में साधु समाचारी का वर्णन है। वह पर्युषणाकल्प होने से लघुकल्प है। उसकी अपेक्षा से जिसमें साधु-मर्यादा का वर्णन विस्तृत हो, वह बृहत्कल्प कहलाता है। इसमें सामायिक, छेदोपस्थापनीय और परिहारविशुद्धि इन तीनों चारित्रों के विधिविधानों का सामान्य रूप से वर्णन है। बृहत्कल्प शास्त्र में जो भी वर्णन है उन सबका पालन करना उक्त चारित्रशीलों के लिये अवश्यभावी है। विविध सूत्रों द्वारा साधु साध्वी की विविध मर्यादाओं का जिसमें वर्णन किया गया है, उसे बृहत्कल्पसूत्र कहते हैं। प्राकृत भाषा में बिहक्कप्पसुत्तं रूप बनता है।

प्रस्तुत "कप्पसुत्त" (कल्पसूत्र) और "कप्पसुयं" (कल्पश्रुत) एक है या भिन्न है? यह आशंका अप्रासंगिक है, क्योंकि "कप्पसुत्त" कालिक आगम है।

आचारदशा अर्थात् दशाश्रुतस्कन्ध का आठवाँ अध्ययन "पर्युषणाकल्प" है, इसमें केवल वर्षावास की समाचारी है। कुछ शताब्दियों पहले इस 'पर्युषणाकल्प" को तीर्थंकरों के जीवनचरित्र तथा स्थविरावली से संयुक्त कर दिया गया था। यह शनैः-शनैः कल्पसूत्र के नाम से जनसाधारण में प्रसिद्ध हो गया। इस कल्पसूत्र से प्रस्तुत कल्पसूत्र का नाम भिन्न दिखाने के लिए प्रस्तुत कल्पसूत्रका नाम बृहत्कल्पसूत्र दिया गया है। वास्तव में बृहत्कल्पसूत्र नाम के आगम का किसी आगम में उल्लेख नहीं है। नन्दीसूत्र में इसका नाम "कप्पो" है।

कप्पसुयं के दो विभाग हैं "चुल्लकप्पसुयं" और "महाकप्पसुयं"। इसी प्रकार "कप्पियाकप्पियं" भी उत्कालिक आगम है।[1] ये सब प्रायश्चित्त-विधायक आगम हैं, पर ये विच्छिन्न हो गये हैं ऐसा जैनसाहित्य के इतिहासज्ञों का अभिमत है।

कल्प वर्गीकरण

प्रस्तुत "कप्पसुत्तं" का मूल पाठ गद्य में है और ४७३ अनुष्टुप श्लोक प्रमाण है। इसमें ८१ विधि-निषेधकल्प हैं। ये सभी कल्प पांच समिति और पांच महाव्रतों से सम्बन्धित हैं। अतः इनका वर्गीकरण यहां किया गया है। जिन सूत्रों का एक से अधिक समितियों या एक से अधिक महाव्रतों से सम्बन्ध है, उनका स्थान समिति और महाव्रत के संयुक्त विधि-निषेध और महाव्रतकल्प शीर्षक के अन्तर्गत है।

उत्तराध्ययन अ० २४ के अनुसार ईर्यासमिति का विषय बहुत व्यापक है, इसलिए जो सूत्र सामान्यतया ज्ञान, दर्शन या चारित्र आदि से सम्बन्धित प्रतीत हुए हैं उनको "ईर्यासमिति के विधि-निषेधकल्प" शीर्षक के नीचे स्थान दिया है। वर्गीकरणदर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

(१) ईर्यासमिति के विधि-निषेध कल्प—१. चारसूत्र, २. अध्वगमनसूत्र, ३. आर्यक्षेत्रसूत्र, ४. महानदीसूत्र, ५. वैराज्य—विरुद्धराज्यसूत्र, ६. अन्तगृहस्था, ७. वाचनासूत्र, ८. संज्ञाप्यसूत्र, ९. गणान्तरोपसम्पत्सूत्र, १०. कल्पस्थितसूत्र।

---

१. अभिधान राजेन्द्र : भाग तृतीय पृष्ठ २३१ पर "कप्पसुयं" शब्द का विवेचन।

(२) ईर्यासमिति और परिष्ठापनिकासमिति के संयुक्त विधि-निषेधकल्प—११. विचारभूमि-विहारभूमिसूत्र।

(३) भाषा-समिति के विधि-निषेधकल्प—१२. वचनसूत्र, १३. प्रस्तारसूत्र, १४. अन्तरगृहस्थानादिसूत्र,

(४) एषणासमिति के विधि-निषेधकल्प [आहारैषणा]—१५. प्रलम्बसूत्र, १६. रात्रि भक्तसूत्र, १७. संखडिसूत्र, १८. सागारिक-पारिहारिकसूत्र, १९. आहृतिका-निहृतिकासूत्र, २०. अंशिकासूत्र, २१. काल-क्षेत्रातिक्रान्तसूत्र, २२. कल्पस्थिताकल्पस्थितसूत्र, २३. संस्तृत-निर्विचिकित्ससूत्र, २४. उद्गारसूत्र, २५. आहारविधिसूत्र, २६. परिवासितसूत्र, २७. पुलाकभक्तसूत्र, २८. क्षेत्रावग्रहप्रमाणसूत्र, २९. रोधक (सेना) सूत्र (पानैषणा) ३०. पानकविधिसूत्र, ३१. अनेषणीयसूत्र, ३२. मोकसूत्र, (वस्त्रैषणा) ३३. चिलिमिलिका सूत्र, ३४. रात्रिवस्त्रादिग्रहणसूत्र, ३५. हृताहृतासूत्र, ३६. उपधिसूत्र, ३७. वस्त्रसूत्र, ३८. निश्रासूत्र, ३९. त्रिकृत्स्न-चतुःकृत्स्नसूत्र, ४०. समवसरणसूत्र, ४१. यथारत्नाधिक वस्त्रपरिभाजकसूत्र, (वस्त्र-पात्रैषणा) ४२. अवग्रहसूत्र, (पात्रैषणा) ४३. घटीमात्रकसूत्र, (रजोहरणैषणा) ४४. रजोहरणसूत्र, (चर्मैषणा) ४५. चर्मसूत्र, (शय्या-संस्तारकैषणा) ४६. शय्या-संस्तारकसूत्र, ४७. यथारत्नाधिक शय्या-संस्तारक-परिभाजनसूत्र, (स्थानैषणा) ४८. अवग्रहसूत्र, (उपाश्रयैषणा)[1] ४९. आपणगृह-रथ्यामुखसूत्र, ५०. चित्रकर्मसूत्र, ५१. सागारिक निश्रासूत्र, ५२. सागारिक उपाश्रयसूत्र, ५३. प्रतिबद्धशय्यासूत्र, ५४. गाथापतिकुलमध्यवाससूत्र, ५५. उपाश्रयसूत्र, ५६. उपाश्रयविधिसूत्र, (वसतिनिवास) ५७. मासकल्पसूत्र, ५८. वगडासूत्र, महाव्रतों के अनधिकारी ५९. प्रव्राजनासूत्र (महाव्रत प्ररूपण) ६०. महाव्रतसूत्र, प्रथम महाव्रत के विधिनिषेधकल्प ६१. अधिकरणसूत्र, ६२. व्यवशमनसूत्र, प्रथम और तृतीय महाव्रत के विधिनिषेधकल्प ६३. आवस्याप्पसूत्र, प्रथम-चतुर्थ महाव्रत के विधिनिषेधकल्प ६४. दकतीरसूत्र, ६५. अनुद्घातिकसूत्र, चतुर्थमहाव्रत के विधिनिषेधकल्प ६६. उपाश्रय-प्रवेशसूत्र, ६७. अपावृतद्वार उपाश्रयसूत्र, ६८. अवग्रहानन्तक-अवग्रहपट्टकसूत्र, ६९. ब्रह्मापायसूत्र, ७०. ब्रह्मरक्षासूत्र, ७१. पाराञ्चिकसूत्र, ७२. कण्टकादि-उद्धरणसूत्र, ७३. दुर्गसूत्र, ७४. क्षिप्तचित्तादिसूत्र, तपकल्प[2] ७५. कृतिकर्मसूत्र ७६. ग्लानसूत्र, ७७. पारिहारिकसूत्र ७८. व्यवहारसूत्र, मरणोत्तरविधि ७९. विष्वग्भवनसूत्र, महाव्रत और समिति के संयुक्तकल्प ८०. परिमन्थसूत्र

इस वर्गीकरण से प्रत्येक विज्ञपाठक इस आगम की उपादेयता समझ सकते हैं। श्रामण्य जीवन के लिए ये विधि-निषेधकल्प कितने महत्त्वपूर्ण हैं। इनके स्वाध्याय एव चिन्तन-मनन से ही पंचाचार का यथार्थ पालन सम्भव है। यह आगमज्ञों का अभिमत है तथा इन विधि-निषेधकल्पों के ज्ञाता ही कल्प विपरीत आचरण के निवारण करने में समर्थ हो सकेंगे, यह स्वत: सिद्ध है।

(३) व्यवहारसूत्र—

प्रस्तुत व्यवहारसूत्र तृतीय छेदसूत्र है[3]। इसके दस उद्देशक हैं। दसवें उद्देशक के अंतिम (पांचवें) सूत्र में पाँच व्यवहारों के नाम हैं[4]। इस सूत्र का नामकरण भी पाँच व्यवहारों को प्रमुख मानकर ही किया गया है।

---

१. उपाश्रय विधि-निषेध-कल्प के जितने सूत्र हैं वे प्रायः चतुर्थ महाव्रत के विधि-निषेध-कल्प भी हैं।

२. विनय वैयावृत्य और प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर तपों का विधान करने वाले ये सूत्र हैं।

३. प्रथम छेदसूत्र दशा, (आयारदशा दशाश्रुतस्कन्ध), द्वितीय छेदसूत्र कल्प (बृहत्कल्प) और तृतीय छेदसूत्र व्यवहार। देखिए सम० २६ सूत्र—२। अथवा उत्त० अ० ३१, गा० १७।

४. भाष्यकार का मन्तव्य है—व्यवहारसूत्र के दसवें उद्देशक का पाँचवां सूत्र ही अन्तिम सूत्र है। पुरुषप्रकार से दसविधवैयावृत्य पर्यन्त जितने सूत्र हैं, वे सब परिवर्धित हैं या चूलिकारूप हैं।

व्यवहार-शब्दरचना

वि+अव+हृ+घञ् । 'वि' और 'अव' ये दो उपसर्ग हैं । हृञ्—हरणे धातु है । 'हृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर हार बनता है । वि+अव+हार—इन तीनों से व्यवहार शब्द की रचना हुई है । 'वि'—विविधता या विधि का सूचक है । 'अव'—संदेह का सूचक है । 'हार'—हरण क्रिया का सूचक है । फलितार्थ यह है कि विवाद विषयक नाना प्रकार के संशयों का जिससे हरण होता है वह 'व्यवहार' है[1] । यह व्यवहार शब्द का विशेषार्थ है ।

व्यवहारसूत्र के प्रमुख विषय

१. व्यवहार, २. व्यवहारी और ३. व्यवहर्तव्य—ये तीन इस सूत्र के प्रमुख विषय हैं ।

दसवें उद्देशक के अन्तिम सूत्र में प्रतिपादित पांच व्यवहार करण (साधन) हैं, गण की शुद्धि करने वाले गीतार्थ (आचार्यादि) व्यवहारी (व्यवहार क्रिया प्रवर्तक) कर्ता हैं[2], और श्रमण-श्रमणियां व्यवहर्तव्य (व्यवहार करने योग्य) हैं । अर्थात् इनकी अतिचार शुद्धिरूप क्रिया का सम्पादन व्यवहारज्ञ व्यवहार द्वारा करता है ।

जिस प्रकार कुम्भकार (कर्ता), चक्र, दण्ड मृत्तिका सूत्र आदि करणों द्वारा कुम्भ (कर्म) का सम्पादन करता है—इसी प्रकार व्यवहारज्ञ व्यवहारों द्वारा व्यवहर्तव्यों (गण) की अतिचार शुद्धि का सम्पादन करता है[3] ।

व्यवहार-व्याख्या

व्यवहार की प्रमुख व्याख्यायें दो हैं । एक लौकिक व्याख्या और दूसरी लोकोत्तर व्याख्या ।

लौकिक व्याख्या दो प्रकार की है—१. सामान्य और २. विशेष । सामान्य व्याख्या है—दूसरे के साथ किया जाने वाला आचरण अथवा रुपये-पैसों का लेन-देन[4] ।

विशेष व्याख्या है—अभियोग की समस्त प्रक्रिया अर्थात् न्याय । इस विशिष्ट व्याख्या से सम्बन्धित कुछ शब्द प्रचलित हैं । जिनका प्रयोग वैदिक परम्परा की श्रुतियों एवं स्मृतियों में चिरन्तन काल से चला आ रहा है[5] । यथा—

१. व्यवहारशास्त्र—(दण्डसंहिता) जिसमें राज्य-शासन द्वारा किसी विशेष विषय में सामूहिक रूप से बनाये गये नियमों के निर्णय और नियमों का भंग करने पर दिये जाने वाले दण्डों का विधान व विवेचन होता है ।

---

१. 'वि' नानार्थे 'अव' संदेहे, 'हरणं' हार उच्यते ।
नाना सन्देहहरणाद्, व्यवहार इति स्थितिः ॥—कात्यायन ।
नाना विवाद विषयः संशयो ह्रियतेऽनेन इति व्यवहारः ।

२. चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता, तं जहा—
गणसोहिकरे नामं एगे नो माणकरे ।.... —व्यव० पुरुषप्रकार सूत्र

३. गाहा—ववहारी खलु कत्ता, ववहारो होई करणभूतो उ ।
ववहरियव्वं कज्जं, कुंभादि तियस्स जह सिद्धी ॥ —व्य० भाष्यपीठिका गाथा २

४. न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं, न कश्चित् कस्यचिद् रिपुः ।
व्यवहारेण जायन्ते, मित्राणि रिपवस्तथा ॥ —हितो० मि० ७२

५. परस्परं मनुष्याणां, स्वार्थविप्रतिपत्तिषु ।
वाक्यान्न्यायाद् व्यवस्थानं, व्यवहार उदाहृतः ॥ —मिताक्षरा ।

२. व्यवहारज्ञ—(न्यायाधीश) जो व्यवहारशास्त्र का ज्ञाता होता है वही किसी अभियोग आदि पर विवेकपूर्वक विचार करने वाला एवं दण्डनिर्णायक होता है।

लोकोत्तर व्याख्या भी दो प्रकार की है—१ सामान्य और २ विशेष। सामान्य व्याख्या है—एक गण का दूसरे गण के साथ किया जाने वाला आचरण। अथवा एक श्रमण का दूसरे श्रमण के साथ, एक आचार्य, उपाध्याय आदि का दूसरे आचार्य, उपाध्याय आदि के साथ किया जाने वाला आचरण।

विशेष व्याख्या है—सर्वज्ञोक्त विधि मे तप प्रभृति अनुष्ठानो का "वपन" याने बोना और उससे अतिचार-जन्य पाप का हरण करना " व्यवहार है[1]।

'विवाप' शब्द के स्थान में 'व्यव' आदेश करके 'हार' शब्द के साथ संयुक्त करने पर व्यवहार शब्द की सृष्टि होती है—यह भाष्यकार का निर्देश है[2]।

व्यवहार के भेद-प्रभेद

व्यवहार दो प्रकार का है—१ विधि व्यवहार और २ अविधि व्यवहार। अविधि व्यवहार मोक्ष-विरोधी है, इसलिए इस सूत्र का विषय नही है, अपितु विधि व्यवहार ही इसका विषय है[3]।

व्यवहार चार प्रकार के हैं—१ नामव्यवहार २ स्थापनाव्यवहार ३ द्रव्यव्यवहार और ४ भावव्यवहार।

१ नामव्यवहार—किसी व्यक्ति विशेष का 'व्यवहार' नाम होना।

२. स्थापनाव्यवहार—व्यवहार नाम वाले व्यक्ति की सत् या असत् प्रतिकृति।

३. द्रव्यव्यवहार—के दो भेद हैं—आगम से और नोआगम से।

आगम से—अनुपयुक्त (उपयोगरहित) व्यवहार पद का ज्ञाता।

नोआगम से—द्रव्यव्यवहार तीन प्रकार का है—१ ज्ञशरीर २ भव्यशरीर और ३ तद्व्यतिरिक्त।

ज्ञशरीर—व्यवहार पद के ज्ञाता का मृतशरीर।

भव्यशरीर—व्यवहार पद के ज्ञाता का भावीशरीर।

तद्व्यतिरिक्त द्रव्यव्यवहार—व्यवहार श्रुत या पुस्तक। यह तीन प्रकार का है—१ लौकिक, २ लोकोत्तर और कुप्रावचनिक।

लौकिक द्रव्यव्यवहार का विकासक्रम

मानव का विकास भोगभूमि से प्रारम्भ हुआ था। उस आदिकाल मे भी पुरुष पति रूप में और स्त्री पत्नी रूप में ही रहते थे, किन्तु दोनों मे काम-वासना अत्यन्त सीमित थी। सारे जीवन मे उनके केवल दो सन्तानें (एक साथ) होती थीं। उनमें भी एक बालक और एक बालिका ही। "हम दो हमारे दो" उनके सांसारिक जीवन का यही सूत्र था। वे भाई-बहिन ही युवावस्था में पति-पत्नी रूप में रहने लगते थे।

---

१. व्यव० भाष्य० पीठिका गा० ४।
२. व्यव० भाष्य० पीठिका गा० ४।
३. व्यव० भाष्य० पीठिका गाथा-६।

उनके जीवन-निर्वाह के साधन थे कल्पवृक्ष। सोना-बैठना उनकी छाया में, खाना फल, पीना वृक्षों का मदजल। पहनते थे वल्कल और सुनते थे वृक्षवाद्य प्रतिपल। न वे काम-धन्धा करते थे, न उन्हें किसी प्रकार की कोई चिन्ता थी, अतः वे दीर्घजीवी एवं अत्यन्त सुखी थे। न वे करते थे धर्म, न वे करते थे पापकर्म, न था कोई वक्ता, न था कोई श्रोता, न थे वे उद्दण्ड, न उन्हें कोई देना था दण्ड, न था कोई शासक, न थे वे शासित। ऐसा था युगलजन-जीवन।

कालचक्र चल रहा था। भोगभूमि कर्मभूमि में परिणत होने लगी थी। जीवन-यापन के साधन कल्पवृक्ष विलीन होने लगे थे। खाने-पीने और सोने-बैठने की समस्यायें सताने लगी थी। क्या खायें-पीयें? कहाँ रहें, कहाँ सोयें? ऊपर आकाश था, नीचे धरती थी। सर्दी, गर्मी और वर्षा से बचें तो कैसे बचें?—इत्यादि अनेक चिन्ताओं ने मानव को घेर लिया था। खाने-पीने के लिए छीना-झपटी चलने लगी। अकाल मृत्युएँ होने लगीं और जोड़े (पति-पत्नी) का जीवन बेजोड़ होने लगा।

प्रथम सुषम-सुषमाकाल और द्वितीय सुषमाकाल समाप्त हो गया था। तृतीय सुषमा-दुषमाकाल के दो विभाग भी समाप्त हो गये थे। तृतीय विभाग का दुश्चक्र चल रहा था। वह था संक्रमण-काल।

सुख, शान्ति एवं व्यवस्था के लिए सर्वप्रथम प्रथम पाँच कुलकरों ने अपराधियों को 'हत्'—इस वाग्दण्ड से प्रताड़ित किया, पर कुछ समय बाद यह दण्ड प्रभावहीन हो गया। दण्ड की दमन नीति का यह प्रथम सूत्र था। मानव हृदय में हिंसा के प्रत्यारोपण का युग यहीं से प्रारम्भ हुआ।

द्वितीय पाँच कुलकरों ने आततायियों को "मत्" इस वाग्दण्ड से प्रताड़ित कर प्रभावित किया, किन्तु यह दण्ड भी समय के सोपान पार करता हुआ प्रभावहीन हो गया।

तृतीय पाँच कुलकरों ने अशान्ति फैलाने वालों को "धिक्" इस वाग्दण्ड से शासित कर निग्रह किया। यद्यपि दण्डनीति के ये तीनों दण्ड वाग्दण्ड मात्र थे, पर हिंसा के पर्यायवाची दण्ड ने मानव को कोमल न बनाकर क्रूर बनाया, दयालु न बनाकर दुष्ट बनाया। प्रथम कुलकर का नाम यद्यपि "सुमति" था। मानव की सुख-समृद्धि के लिए उसे "शमन" का उपयोग करना था पर काल के कुटिल कुचक्रों से प्रभावित होकर उसने भी "दमन" का दुश्चक्र चलाया।

अन्तिम कुलकर श्री ऋषभदेव थे। धिक्कार की दण्डनीति भी असफल होने लगी तो भगवान् ऋषभदेव (आदिनाथ) के श्रीमुख से कर्म त्रिपदी "१ असि, २ मसि, ३ कृषि" प्रस्फुटित हुई। मानव के सामाजिक जीवन का सूर्योदय हुआ। मानव समाज दो वर्गों में विभक्त हो गया। एक वर्ग शासकों का और एक वर्ग शासितों का। अल्पसंख्यक शासक वर्ग बहुसंख्यक शासित वर्ग पर अनुशासन करने लगा।

भगवान् आदिनाथ के सुपुत्र भरत चक्रवर्ती बने। पूर्वजों से विरासत में मिली दमननीति का प्रयोग वे अपने भाइयों पर भी करने लगे। उपशमरस के आदिस्रोत भ० आदिनाथ (ऋषभदेव) ने बाहुबली आदि को सात्त्विक (आध्यात्मिक) साम्राज्य के लिए प्रोत्साहित किया तो वे मान गये। क्योंकि उस युग के मानव 'ऋजुजड़' प्रकृति के थे।

अहिंसा की अमोघ अमीधारा से भाइयों के हृदय में प्रज्वलित राज्यलिप्सा की लोभाग्नि सर्वथा शान्त हो गई।

भ० अजितनाथ से लेकर भ० पार्श्वनाथ पर्यन्त 'ऋजुप्राज्ञ' मानवों का युग रहा। ग्यारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ वासुदेव और नौ प्रतिवासुदेवों के शासन में दण्डनीति का इतना दमनचक्र चला कि सौम्य शमननीति को लोग प्रायः भूल गये। दाम—प्रलोभन, दण्ड और भेद—इन तीन नीतियों का ही सर्व साधारण में अधिकाधिक प्रचार-प्रसार होता रहा।

अब आया "वक्रजड" मानवों का युग। मानव के हृदयपटल पर वक्रता और जड़ता का साम्राज्य छा गया। सामाजिक व्यवस्था के लिए दण्ड (दमन) अनिवार्य मान लिया गया। अंग-भंग और प्राणदण्ड सामान्य हो गये। दण्डसंहितायें बनी, दण्ड-यन्त्र बने। दण्डन्यायालय और दण्डविज्ञान भी विकसित हुआ। आग्नेयास्त्र आदि अनेक प्रकार के शस्त्र-शस्त्रों ने अतीत में और वर्तमान में अणुबम आदि अनेक अस्त्रों द्वारा नृशंस दण्ड से दमन का प्रयोग होता रहा है।

पौराणिक साहित्य में एक दण्डपाणि (यमराज) का वर्णन है पर आज तो यत्र-तत्र-सर्वत्र अनेकानेक दण्डपाणि ही चलते फिरते दिखाई देते हैं। यह लौकिक द्रव्यव्यवहार है।

लोकोत्तर द्रव्यव्यवहार—आचार्यादि की उपेक्षा करनेवाले स्वच्छन्द श्रमणों का अन्य स्वच्छन्द श्रमणों के साथ अशनादि आदान-प्रदान का पारस्परिक व्यवहार।

लोकोत्तर भावव्यवहार— १ यह दो प्रकार का है ? आगम से और २ नोआगम से। आगम से—उपयोगयुक्त व्यवहार पद के अर्थ का ज्ञाता[1]। नोआगम से पांच प्रकार के व्यवहार हैं—

१. आगम, २. श्रुत, ३. आज्ञा, ४. धारणा, ५. जीत।

१. जहाँ आगम हो वहाँ आगम से व्यवहार की प्रस्थापना करें।

२. जहाँ आगम न हो, श्रुत हो, वहाँ श्रुत से व्यवहार की प्रस्थापना करें।

३ जहाँ श्रुत न हो, आज्ञा हो, वहाँ आज्ञा से व्यवहार की प्रस्थापना करें।

४. जहाँ आज्ञा न हो, धारणा हो, वहाँ धारणा से व्यवहार की प्रस्थापना करें।

५. जहाँ धारणा न हो, जीत हो, वहाँ जीत से व्यवहार की प्रस्थापना करें।

इन पांचों से व्यवहार की प्रस्थापना करें—१. आगम, २. श्रुत, ३. आज्ञा, ४. धारणा और ५. जीत से।

इनमें से जहाँ-जहाँ जो हो वहाँ-वहाँ उसी से व्यवहार की प्रस्थापना करें।

प्र० भंते ! आगमबलिक श्रमण निर्ग्रन्थों ने (इन पांच व्यवहारों के सम्बन्ध में) क्या कहा है ?

उ०—(आयुष्मन् श्रमणो) इन पांचों व्यवहारों में से जब-जब जिस-जिस विषय में जो व्यवहार हो तब-तब उस उस विषय में अनिश्रितोपाश्रित— (मध्यस्थ) रहकर सम्यक् व्यवहार करता हुआ श्रमण—निर्ग्रन्थ आज्ञा का आराधक होता है[2]।

---

१. आगमतो व्यवहारपदार्थज्ञाता तत्र चोपयुक्त 'उपयोगो भाव निक्षेप' इति वचनात्।

—व्यव० भा० पीठिका गाथा ६

२. ठाणं-५. उ० २ सू० ४२१/तथा भग० श० ८. उ० ८. सू० ८, ९।

आगमव्यवहार

केवलज्ञानियों, मनःपर्यवज्ञानियों और अवधिज्ञानियों द्वारा आचरित या प्रतिपादित विधि-निषेध आगम-व्यवहार है।

नव पूर्व, दश पूर्व और चौदह पूर्वधारियों द्वारा आचरित या प्ररूपित विधि-निषेध भी आगमव्यवहार ही है।[1]

श्रुतव्यवहार

आठ पूर्व पूर्ण और नवम पूर्व अपूर्णधारी द्वारा आचरित या प्रतिपादित विधि-निषेध भी श्रुतव्यवहार है। दशा (आचारदशा-दशाश्रुतस्कन्ध), कल्प (बृहत्कल्प), व्यवहार, आचारप्रकल्प (निशीथ) आदि छेदसूत्र (शास्त्र) द्वारा निर्दिष्ट विधि-निषेध भी श्रुतव्यवहार है।

आज्ञाव्यवहार

दो गीतार्थ श्रमण एक दूसरे से अलग दूर देशों में विहार कर रहे हों और निकट भविष्य में मिलने की सम्भावना न हो। उनमें से किसी एक को कल्पिका प्रतिसेवना का प्रायश्चित्त लेना हो तो अपने अतिचार दोष कहकर गीतार्थ शिष्य को भेजे। यदि गीतार्थ शिष्य न हो तो धारणाकुशल अगीतार्थ शिष्य को सांकेतिक भाषा में अपने अतिचार कहकर दूरस्थ गीतार्थ मुनि के पास भेजे और उस शिष्य के द्वारा कही गई आलोचना सुनकर वह गीतार्थ मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, संहनन, धैर्य, बल आदि का विचार कर स्वयं वहाँ आवे और प्रायश्चित्त दे। अथवा गीतार्थ शिष्य को समझाकर भेजे। यदि गीतार्थ शिष्य न हो तो आलोचना का सन्देश लाने वाले के साथ ही सांकेतिक भाषाओं में अतिचार-शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का संदेश भेजे—यह आज्ञाव्यवहार है।[2]

धारणाव्यवहार

किसी गीतार्थ श्रमण ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से जिस अतिचार का जो प्रायश्चित्त दिया है, उसकी धारणा करके जो श्रमण उसी प्रकार के अतिचार सेवन करने वाले को धारणानुसार प्रायश्चित्त

---

१. आगमव्यवहार की कल्पना से तीन भेद किये जा सकते हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य।

१. केवलज्ञानियों द्वारा आचरित या प्ररूपित विधि-निषेधपूर्ण उत्कृष्ट आगमव्यवहार है, क्योंकि केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

२. मनःपर्यवज्ञान और अवधिज्ञान यद्यपि विकल (देश) प्रत्यक्ष हैं फिर भी ये दोनों ज्ञान आगम-सापेक्ष हैं, इसलिये मनःपर्यवज्ञानियों या अवधिज्ञानियों द्वारा आचरित या प्ररूपित विधि-निषेध (मध्यम) आगमव्यवहार है।

३. चौदह पूर्व, दश पूर्व और नव पूर्व (सम्पूर्ण) यद्यपि विशिष्ट श्रुत हैं, फिर भी परोक्ष हैं, अतः इनके धारक द्वारा प्ररूपित या आचरित विधि-निषेध भी आगमव्यवहार है, किन्तु यह जघन्य आगमव्यवहार है।

२. सो ववहार विहिण्णू, अणुमज्जित्ता सुत्तोवएसेणं।
सीसस्स देइ आणं, तस्स इमं देहि पच्छित्तं॥

—व्यव० भा० उ० १० गा० ६११।

देता है, वह धारणाव्यवहार है। अथवा—वैयावृत्य अर्थात् सेवाकार्यों मे जिस श्रमण ने गण का उपकार किया है वह यदि छेदश्रुत न सीख सके तो गुरु महाराज उसे कतिपय प्रायश्चित्त पदों की धारणा कराते है—यह भी धारणाव्यवहार है।

जीतव्यवहार

स्थिति, कल्प, मर्यादा और व्यवस्था—ये 'जीत' के पर्यायवाची है। गीतार्थ द्वारा प्रवर्तित शुद्ध व्यवहार जीतव्यवहार है।

श्रुतोक्त प्रायश्चित्त मे हीन या अधिक किन्तु परम्परा से आचरित प्रायश्चित्त देना जीतव्यवहार है।

सूत्रोक्त कारणो के अतिरिक्त कारण उपस्थित होने पर जो अतिचार लगे हैं उनका प्रवर्तित प्रायश्चित्त अनेक गीतार्थों द्वारा आचरित हो तो वह भी जीतव्यवहार है।

अनेक गीतार्थों द्वारा निर्धारित एवं सर्वसम्मत विधि-निषेध भी जीतव्यवहार है।[1]

व्यवहारपंचक के क्रमभंग का प्रायश्चित्त

आगमव्यवहार के होते हुये यदि कोई श्रुतव्यवहार का प्रयोग करता है तो चार गुरु के प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

इसी प्रकार श्रुतव्यवहार के होते हुये आज्ञाव्यवहार का प्रयोगकर्ता, आज्ञाव्यवहार के होते हुये धारणा-व्यवहार का प्रयोगकर्ता तथा धारणाव्यवहार के होते हुये जीतव्यवहार का प्रयोगकर्ता चार गुरु के प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

व्यवहारपंचक का प्रयोग पूर्वानुपूर्वीक्रम से अर्थात् अनुक्रम से ही हो सकता है किन्तु पश्चानुपूर्वीक्रम से अर्थात् विपरीतक्रम से प्रयोग करना सर्वथा निषिद्ध है।

आगमव्यवहारी आगमव्यवहार से ही व्यवहार करते है; अन्य श्रुतादि व्यवहारों से नहीं—क्योंकि जिस समय सूर्य का प्रकाश हो उस समय दीपक के प्रकाश की आवश्यकता नहीं रहती।

---

१ किं पुण गुणोवएसो, ववहारस्स उ चिउ पसत्थस्स।
एसो भे परिकहिओ, दुवालसंगस्स णवणीयं॥
—व्यव० उ० १० भाष्य गाथा ७२४।

ज जीतं सावज्ज, न तेण जीएण होइ ववहारो।
जं जीयमसावज्जं, तेण उ जीएण ववहारो॥
—व्यव० उ० १० भाष्य गाथा ७१५।

ज जस्स पच्छित्तं, आयरियपरंपराए अविरुद्धं।
जोगा य बहु विगप्पा, एसो खलु जीतकप्पो॥ —व्यव० भाष्य पीठिका गाथा १२।

जं जीयमसोहिकरं, पासत्थ-पमत्त-संजयाईण्णं।
जइ वि महाजणाइन्नं, न तेण जीएण ववहारो॥
जं जीयं सोहिकरं, संवेगपरायणेन दत्तेण।
एगेण वि आइण्णं, तेण उ जीएण ववहारो॥ —व्यव० उ० १० भाष्य गाथा ७२०, ७२१।

जीतव्यवहार तीर्थ (जहाँ तक चतुर्विध संघ रहता है वहाँ तक) पर्यन्त रहता है। अन्य व्यवहार विच्छिन्न हो जाते हैं।[1]

कुप्रावचनिकव्यवहार

अनाज में, रस में, फल में और फूल में होने वाले जीवों की हिंसा हो जावे तो घी चाटने से शुद्धि हो जाती है।[2]

कपास, रेशम, ऊन, एकखुर और दोखुर वाले पशु, पक्षी, सुगन्धित पदार्थ, औषधियाँ और रज्जु आदि की चोरी करे तो तीन दिन दूध पीने से शुद्धि हो जाती है।[3]

ऋग्वेद धारण करने वाला विप्र तीनों लोक को मारे या कहीं भी भोजन करे तो उसे किसी प्रकार का पाप नहीं लगता है।[4]

ग्रीष्मऋतु में पंचाग्नि तप करना, वर्षाऋतु में वर्षा बरसते समय बिना छाया के बैठना और शरदृतु में गीले वस्त्र पहने रहना—इस प्रकार क्रमशः तप बढ़ाना चाहिये।[5]

व्यवहारी

व्यवहारज्ञ, व्यवहारी, व्यवहर्ता—ये समानार्थक हैं।

जो प्रियधर्मी हो, दृढ़धर्मी हो, वैराग्यवान हो, पापभीरु हो, सूत्रार्थ का ज्ञाता हो और राग-द्वेषरहित (पक्षपातरहित) हो वह व्यवहारी होता है।[6]

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अतिचारसेवी पुरुष और प्रतिसेवना का चिन्तन करके यदि किसी को अतिचार के अनुरूप आगमविहित प्रायश्चित्त देता है तो व्यवहारज्ञ (प्रायश्चित्तदाता) आराधक होता है।

---

१. गाहा—गुरुसमणागमविसयं, सेसं कालं च पण ववहारो ।
होहिंति न आइल्ला, जा तित्थं ताव जीतो उ ॥ —व्यव० १० भाष्य गाथा ५५ ।

२. अन्नाद्यजानां सत्त्वानां, रसजानां च सर्वशः ।
फलपुष्पोद्भवानां च, घृतप्राशो विशोधनम् ॥ —मनु० अ० ११/१४३ ।

३. कार्पासकीटजोर्णानां, द्विशफैकशफस्य च ।
पक्षिगन्धौषधीनां च, रज्ज्वाश्चैव त्र्यहं पयः ॥ —मनु० अ० ११/१६ ।

४. हत्वा लोकानपीमांस्त्रीन्, अश्नन्नपि यतस्ततः ।
ऋग्वेदं धारयन्विप्रो, नैनः प्राप्नोति किञ्चन ॥ —मनु० अ० ११/२६१ ।

५. ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिकः ।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते, क्रमशो वर्धयंस्तपः ॥ —मनु० अ० ६/२३ ।

६. क—पियधम्मा दढधम्मा, संविग्गा चेव वज्जभीरू य ।
सुत्तत्थ तदुभयविऊ, अणिस्सिय ववहारकारी य ॥ —व्य० भाष्य पीठिका गाथा १४ ।

ख—१ आचारवान्, २ आधारवान्, ३ व्यवहारवान्, ४ अपव्रीडक, ५ प्रकारी, ६ अपरिश्रावी, ७ निर्यापक, ८ अपायदर्शी, ९ प्रियधर्मा, १० दृढधर्मा । ठाणं० १०, सू० ७३३ ।

ग—व्यव० उ० १० भाष्य गाथा २४३ । २४५ । २४६ । २४७ । २९८ । ३०० ।

द्रव्य, क्षेत्र आदि का चिन्तन किये विना राग-द्वेषपूर्वक हीनाधिक प्रायश्चित्त देता है वह व्यवहारज्ञ (प्रायश्चित्तदाता) विराधक होता है।[1]

व्यवहर्तव्य

व्यवहर्तव्य/व्यवहार करने योग्य निर्ग्रन्थ हैं। ये अनेक प्रकार के हैं।

निर्ग्रन्थ चार प्रकार के हैं—

१. एकरात्निक[2] होता है किन्तु भारीकर्मा होता है, अतः वह धर्म का अनाराधक होता है।

२. एकरात्निक होता है और हलुकर्मा होता है, अतः वह धर्म का आराधक होता है।

३. एक अवमरात्निक[3] होता है और भारीकर्मा होता है, अतः वह धर्म का अनाराधक होता है।

४. एक अवमरात्निक होता है किन्तु हलुकर्मा होता है, अतः वह धर्म का आराधक होता है।

इसी प्रकार निर्ग्रन्थियाँ भी चार प्रकार की होती है।[4]

निर्ग्रन्थ पांच प्रकार के है—

१. पुलाक—जिसका संयमी जीवन भूसे के समान साररहित होता है। यद्यपि तत्त्व में श्रद्धा रखता है, क्रियानुष्ठान भी करता है, किन्तु तपानुष्ठान से प्राप्त लब्धि का उपयोग भी करता है और ज्ञानातिचार लगे—ऐसा वर्तन-व्यवहार रखता है।

२. बकुश—ये दो प्रकार के होते हैं—उपकरणवकुश और शरीरवकुश।

जो उपकरणों को एवं शरीर को सजाने में लगा रहता है और ऋद्धि तथा यश का इच्छुक रहता है। छेदप्रायश्चित्त योग्य अतिचारों का सेवन करता है।

३. कुशील—यह दो प्रकार का है—१ प्रतिसेवनाकुशील और २ कषायकुशील।

प्रतिसेवनाकुशील—जो पिण्डशुद्धि आदि उत्तरगुणों में अतिचार लगाते है।

कषायकुशील—जो सदा कदा सज्वलन कषाय के उदय से स्वभावदशा में स्थिर नही रह पाता।

४. निर्ग्रन्थ—उपशान्तमोह निर्ग्रन्थ।

५. स्नातक—सयोगीकेवली और अयोगीकेवली।

इन पाच निर्ग्रन्थो के अनेक भेद-प्रभेद हैं। ये सव व्यवहार्य हैं।

जब तक प्रथम संहनन और चौदह पूर्व का ज्ञान रहा तव तक पूर्वोक्त दस प्रायश्चित्त दिये जाते थे। इनके

---

१. गाहा—जो सुयमहिज्जइ, वहुं सुत्तत्थं च निउणं विजाणाइ।
कप्पे ववहारंमि य, सो उ पमाणं सुयहराणं॥
कप्पस्स य निज्जुत्ति ववहारस्स व परमनिउणस्स।
जो अत्थतो वियाणइ, ववहारी सो अणुण्णातो॥ —व्यव० उ० १० भाष्य गाथा ६०५, ६०७

२. जो दीक्षापर्याय मे वड़ा हो।

३. जो दीक्षापर्याय में छोटा हो।

४. ठाणं० ४, उ० ३, सूत्र ३२०।

विच्छिन्न होने पर अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त भी विच्छिन्न हो गये—अर्थात् ये दोनों प्रायश्चित्त अब नहीं दिये जाते हैं। शेष आठ प्रायश्चित्त तीर्थ (चतुर्विधसंघ) पर्यन्त दिये जायेंगे।

पुलाक को व्युत्सर्गपर्यन्त छह प्रायश्चित्त दिए जाते थे।

प्रतिसेवनाकुश और प्रतिसेवनाकुशील को दसों प्रायश्चित्त दिये जाते हैं। स्थविरों को अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त नहीं दिये जाते; शेष आठ प्रायश्चित्त दिये जाते हैं।

निर्ग्रन्थ को केवल दो प्रायश्चित्त दिये जा सकते हैं—१ आलोचना, २ विवेक।

स्नातक केवल एक प्रायश्चित्त लेता है—विवेक। उन्हें कोई प्रायश्चित्त देता नहीं है।[1]

१ सामायिकचारित्र वाले को छेद और मूल रहित आठ प्रायश्चित्त दिये जाते हैं।

२ छेदोपस्थापनीयचारित्र वाले को दसों प्रायश्चित्त दिये जाते हैं।

३ परिहारविशुद्धिचारित्र वाले को मूलपर्यंत आठ प्रायश्चित्त दिये जाते हैं।

४ सूक्ष्मसंपरायचारित्र वाले को तथा ५ यथाख्यातचारित्र वाले को केवल दो प्रायश्चित्त दिये जाते हैं—१ आलोचना और २ विवेक। ये सब व्यवहार्य हैं।[2]

व्यवहार का प्रयोग

व्यवहारज्ञ जब उक्त व्यवहारपंचक में से किसी एक व्यवहार का किसी एक व्यवहर्तव्य (व्यवहार करने योग्य श्रमण या श्रमणी) के साथ प्रयोग करता है तो विधि के निषेधक को या निषेध के विधायक को प्रायश्चित्त देता है तब व्यवहार शब्द प्रायश्चित्त रूप तप का पर्यायवाची हो जाता है। अतः यहाँ प्रायश्चित्त रूप तप का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

१ गुरुक, २ लघुक, ३ लघुष्वक।

गुरुक के तीन भेद

१ गुरुक, २ गुरुतरक और ३ यथागुरुक।

---

१. गाहा—आलोयणपडिक्कमणे, मीस-विवेगे तहेव विउस्सग्गे।
एए छ पच्छित्ता, पुलागनियंठस्स बोद्धव्वा॥
बउसपडिसेवगाणं, पायच्छित्ता हवंति सव्वे वि।
थेरे कप्पे, जिणकप्पे अट्ठहा होंति॥
आलोयणा विवेगो य, नियंठस्स दुवे भवे।
विवेगो य सिणायस्स, एमेया पडिवत्तिओ॥ —व्यव० १० भाष्य गाथा ३५७, ५८, ५९

२. सामाइयसंजयाणं, पायच्छित्ता, छेद-मूलरहियट्ठा।
थेराणं जिणाणं पुण, मूलंत अट्ठहा होइ॥
परिहारविसुद्धीए, मूलं ता अट्ठहि पच्छित्ता।
थेराणं जिणाणं पुण, छव्विहं छेयादिवज्जं वा॥
आलोयणा-विवेगो य तइयं तु न विज्जती।
सुहुमे य संपराए, अहक्खाए तहेव य॥ —व्यव० उ० १० भाष्य गाथा ३५१-५२-५३-५४।

लघु के तीन भेद

१. लघुक, २. लघुतरक और ३. यथालघुक।

लघुस्वक के तीन भेद

१. लघुस्वक, २. लघुस्वतरक और ३. यथालघुस्वक।

गुरु प्रायश्चित्त महा प्रायश्चित्त होता है उसकी अनुद्घातिक संज्ञा है। इस प्रायश्चित्त के जितने दिन निश्चित हैं और जितना तप निर्धारित है वह तप उतने ही दिनों में पूरा होता है। यह तप दर्पिकाप्रतिसेवना वालों को ही दिया जाता है।

गुरुक व्यवहार : प्रायश्चित तप

१. गुरु प्रायश्चित्त—एक मास पर्यन्त अट्ठम[1] तेला (तीन दिन उपवास)
२. गुरुतर प्रायश्चित्त—चार मास पर्यन्त दशम[2]—चोला (चार दिन का उपवास)
३. गुरुतर प्रायश्चित्त—छह मास पर्यन्त द्वादशम[3]—पचोला (पाँच दिन का उपवास)।

लघुक व्यवहार/प्रायश्चित तप

१. लघु प्रायश्चित्त—तीस दिन पर्यन्त छट्ठ—बेला[4] (दो उपवास)
२. लघुतर प्रायश्चित्त—पचीस दिन पर्यन्त चउत्थ[5]—उपवास।
३. यथालघु प्रायश्चित्त—बीस दिन पर्यन्त—आचाम्ल।[6]

१. लघुस्वक प्रायश्चित्त—पन्द्रह दिन पर्यन्त एक स्थानक[7]—(एगलठाणो)
२. लघुस्वतरक प्रायश्चित्त—दस दिन पर्यन्त—पूर्वार्ध[8] (दो पोरसी)
३. यथालघुस्वक प्रायश्चित्त—पाँच दिन पर्यन्त—निर्विकृतिक[9] (विकृतिरहित आहार)।[10]

---

१. एक मास में आठ अट्ठम होते हैं—इनमें चौवीस दिन तपश्चर्या के और आठ दिन पारणा के। अन्तिम पारणे का दिन यदि छोड़ दें तो एक मास (इकतीस दिन) गुरु प्रायश्चित्त का होता है।
२. एक मास में छह दसम होते हैं—इनमें चौवीस दिन तपश्चर्या के और छह दिन पारणे के—इस प्रकार एक मास (तीस दिन) गुरु प्रायश्चित्त का होता है।
३. एक मास में पाँच द्वादशम होते हैं—इनमें पचीस दिन तपश्चर्या के और पाँच दिन पारणे के इस प्रकार एक मास (तीस दिन) गुरु प्रायश्चित्त का होता है।
४. तीस दिन में दस छट्ठ होते हैं—इनमें बीस दिन तपश्चर्या के और दस दिन पारणे के होते हैं।
५. पचीस दिन में तेरह उपवास होते हैं—इनमें तेरह दिन तपश्चर्या के और बारह दिन पारणे के। अन्तिम पारणे का दिन यहाँ नहीं गिना है।
६. बीस दिन में दस आचाम्ल होते हैं—इनमें दस दिन तपश्चर्या के और दस दिन पारणे के होते हैं।
७. पन्द्रह दिन एक स्थानक निरन्तर किये जाते हैं।
८. दस दिन पूर्वार्ध निरन्तर किये जाते हैं।
९. पाँच दिन निर्विकृतिक आहार निरन्तर किया जाता है।
१०. बृह० उद्दे० ५ भाष्य गाथा ६०३९-६०४४।

विच्छिन्न होने पर अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त भी विच्छिन्न हो गये—अर्थात् ये दोनों प्रायश्चित्त अब नहीं दिये जाते हैं। शेष आठ प्रायश्चित्त तीर्थ (चतुर्विधसंघ) पर्यन्त दिये जायेंगे।

पुलाक को व्युत्सर्गपर्यन्त छह प्रायश्चित्त दिए जाते थे।

प्रतिसेवकबकुश और प्रतिसेवनाकुशील को दसों प्रायश्चित्त दिये जाते हैं। स्थविरों को अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त नहीं दिये जाते; शेष आठ प्रायश्चित्त दिये जाते हैं।

निर्ग्रन्थ को केवल दो प्रायश्चित्त दिये जा सकते हैं—१ आलोचना, २ विवेक।

स्नातक केवल एक प्रायश्चित्त लेता है—विवेक। उन्हें कोई प्रायश्चित्त देता नहीं है।[1]

१ सामायिकचारित्र वाले को छेद और मूल रहित आठ प्रायश्चित्त दिये जाते हैं।

२ छेदोपस्थापनीयचारित्र वाले को दसों प्रायश्चित्त दिये जाते हैं।

३ परिहारविशुद्धिचारित्र वाले को मूलपर्यन्त आठ प्रायश्चित्त दिये जाते हैं।

४ सूक्ष्मसंपरायचारित्र वाले को तथा ५ यथाख्यातचारित्र वाले को केवल दो प्रायश्चित्त दिये जाते है—१ आलोचना और २ विवेक। ये सब व्यवहार्य हैं।[2]

व्यवहार के प्रयोग

व्यवहारज्ञ जब उक्त व्यवहारपंचक में से किसी एक व्यवहार का किसी एक व्यवहर्त्तव्य (व्यवहार करने योग्य श्रमण या श्रमणी) के साथ प्रयोग करता है तो विधि के निषेधक को या निषेध के विधायक को प्रायश्चित्त देता है तब व्यवहार शब्द प्रायश्चित्त रूप तप का पर्यायवाची हो जाता है। अतः यहाँ प्रायश्चित्त रूप तप का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

१ गुरुक, २ लघुक, ३ लघुस्वक।

गुरुक के तीन भेद

१ गुरुक, २ गुरुतरक और ३ यथागुरुक।

---

१. गाहा—आलोयणपडिक्कमणे, मीस-विवेगे तहेव विउस्सग्गे।
एए छ पच्छित्ता, पुलागनियंठाय बोधव्वा॥
बउसपडिसेवगाणं, पायच्छित्ता हवंति सव्वे वि।
थेरे कप्पे, जिणकप्पे अट्ठहा होंति॥
आलोयणा विवेगो य, नियंठस्स दुवे भवे।
विवेगो य सिणायस्स, एमेया पडिवत्तितो॥ —व्यव० १० भाष्य गाथा ३५७, ५८, ५९

२. सामाइयसंजयाणं, पायच्छित्ता, छेद-मूलरहियट्ठा।
थेराणं जिणाणं पुण, मूलत अट्ठहा होइ॥
परिहारविसुद्धीए, मूलं ता अट्ठाति पच्छित्ता।
थेराणं जिणाणं पुण, जव्विहं छेयादिवज्जं वा॥
आलोयणा-विवेगो य तइयं तु न विज्जती।
सुहुमेय संपराए, अहक्खाए तहेव य॥ —व्यव० उ० १० भाष्य गाथा ३६१-६२-६३-६४।

लघु के तीन भेद

१. लघुक, २. लघुतरक और ३. यथालघुक।

लघुस्वक के तीन भेद

१. लघुस्वक, २. लघुस्वतरक और ३. यथालघुस्वक।

गुरु प्रायश्चित्त महा प्रायश्चित्त होता है उसकी अनुद्घातिक संज्ञा है। इस प्रायश्चित्त के जितने दिन निश्चित हैं और जितना तप निर्धारित है वह तप उतने ही दिनों में पूरा होता है। यह तप दर्पिकाप्रतिसेवना वालों को ही दिया जाता है।

गुरुक व्यवहार : प्रायश्चित तप

१. गुरु प्रायश्चित्त—एक मास पर्यन्त अट्ठम[1] तेला (तीन दिन उपवास)
२. गुरुतर प्रायश्चित्त—चार मास पर्यन्त दशम[2]—चोला (चार दिन का उपवास)
३. गुरुतर प्रायश्चित—छह मास पर्यन्त द्वादशम[3]—पचोला (पाँच दिन का उपवास)।

लघुक व्यवहार/प्रायश्चित तप

१. लघु प्रायश्चित्त—तीस दिन पर्यन्त छट्ठ—बेला[4] (दो उपवास)
२. लघुतर प्रायश्चित्त—पचीस दिन पर्यन्त चउत्थ[5]—उपवास।
३. यथालघु प्रायश्चित—बीस दिन पर्यन्त—आचाम्ल।[6]

१. लघुस्वक प्रायश्चित्त—पन्द्रह दिन पर्यन्त एक स्थानक[7]—(एगलठाणो)
२. लघुस्वतरक प्रायश्चित्त—दस दिन पर्यन्त—पूर्वार्ध[8] (दो पोरसी)
३. यथालघुस्वक प्रायश्चित्त—पाँच दिन पर्यन्त—निर्विकृतिक[9] (विकृतिरहित आहार)।[10]

---

१. एक मास में आठ अट्ठम होते हैं—इनमें चौवीस दिन तपश्चर्या के और आठ दिन पारणा के। अन्तिम पारणे का दिन यदि छोड़ दें तो एक मास (इकतीस दिन) गुरु प्रायश्चित्त का होता है।
२. एक मास में छह दसम होते हैं—इनमें चौवीस दिन तपश्चर्या के और छह दिन पारणे के—इस प्रकार एक मास (तीस दिन) गुरु प्रायश्चित्त का होता है।
३. एक मास में पाँच द्वादशम होते हैं—इनमें पचीस दिन तपश्चर्या के और पाँच दिन पारणे के इस प्रकार एक मास (तीस दिन) गुरु प्रायश्चित्त का होता है।
४. तीस दिन में दस छट्ठ होते हैं—इनमें बीस दिन तपश्चर्या के और दस दिन पारणे के होते हैं।
५. पचीस दिन में तेरह उपवास होते हैं—इनमें तेरह दिन तपश्चर्या के और बारह दिन पारणे के। अन्तिम पारणे का दिन यहाँ नहीं गिना है।
६. बीस दिन में दस आचाम्ल होते हैं—इनमें दस दिन तपश्चर्या के और दस दिन पारणे के होते हैं।
७. पन्द्रह दिन एक स्थानक निरन्तर किये जाते हैं।
८. दस दिन पूर्वार्ध निरन्तर किये जाते हैं।
९. पाँच दिन निर्विकृतिक आहार निरन्तर किया जाता है।
१०. बृह० उद्दे० ५ भाष्य गाथा ६०३९-६०४४।

गुरु प्रायश्चित्त तप के तीन विभाग—

१. जघन्य, २. मध्यम और ३. उत्कृष्ट।

१. जघन्य गुरु प्रायश्चित्त—एक मासिक और द्वैमासिक।
२. मध्यम गुरु प्रायश्चित्त—त्रैमासिक और चातुर्मासिक।
३. उत्कृष्ट गुरु प्रायश्चित्त—पाँचमासिक और षाण्मासिक।

जघन्य गुरु प्रायश्चित्त तप है—एक मास या दो मास पर्यन्त निरन्तर अष्टम तप करना।
मध्यम गुरु प्रायश्चित्त तप है—तीन मास या चार मास पर्यन्त निरन्तर दशम तप करना।
उत्कृष्ट गुरु प्रायश्चित्त तप है—पाँच मास या छह मास पर्यन्त निरन्तर द्वादशम तप करना।

इसी प्रकार लघु प्रायश्चित्त तप के और लघुस्वक तप के भी तीन-तीन विभाग हैं। तथा तप की आराधना भी पूर्वोक्त मास क्रम से ही की जाती है।

उत्कृष्ट गुरु प्रायश्चित्त के तीन विभाग—

१. उत्कृष्ट-उत्कृष्ट, २. उत्कृष्ट-मध्यम, ३. उत्कृष्ट-जघन्य।
१. उत्कृष्ट-उत्कृष्ट गुरु प्रायश्चित्त—पाँच मास या छह मास पर्यन्त निरन्तर द्वादशम तप करना।
२. उत्कृष्ट-मध्यम गुरु प्रायश्चित्त—तीन मास या चार मास पर्यन्त निरन्तर द्वादशम तप करना।
३. उत्कृष्ट-जघन्य गुरु प्रायश्चित्त—एक मास या दो मास पर्यन्त निरन्तर द्वादशम तप करना।

इसी प्रकार मध्यम गुरु प्रायश्चित्त के तीन विभाग और जघन्य गुरु प्रायश्चित्त के भी तीन विभाग हैं। तपाराधना भी पूर्वोक्त क्रम से ही की जाती है।

उत्कृष्ट लघु प्रायश्चित्त, मध्यम लघु प्रायश्चित्त, जघन्य लघु प्रायश्चित्त के तीन, तीन विभाग तथा उत्कृष्ट लघुस्वक प्रायश्चित्त, मध्यम लघुस्वक प्रायश्चित्त और जघन्य लघुस्वक प्रायश्चित्त के भी तीन, तीन विभाग हैं। तपाराधना भी पूर्वोक्त मासक्रम से है। विशेष जानने के लिये व्यवहार भाष्य का अध्ययन करना चाहिये।

व्यवहार (प्रायश्चित्त) की उपादेयता

प्र०—भगवन्! प्रायश्चित्त से जीव को क्या लाभ होता है?

उ०—प्रायश्चित्त से पापकर्म की विशुद्धि होती है और चारित्र निरतिचार होता है। सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित्त करने पर मार्ग (सम्यग्दर्शन) और मार्गफल (ज्ञान) की विशुद्धि होती है। आचार और आचारफल (मुक्तिमार्ग) की शुद्धि होती है।[1]

---

१. (क) उत्त० अ० २९
(ख) पावं छिंदइ जम्हा, पायच्छित्तं तु भण्णए तेणं।
पाएण वा वि चित्तं, विसोहए तेण पच्छित्तं॥
—व्यव. भाष्य पीठिका, गाथा ३५
(ग) प्रायः पापं समुद्दिष्टं, चित्तं तस्य विशोधनम्।
यदा प्रायस्य तपसः चित्तम् निश्चय इति स्मृतौ।
(घ) प्रायस्य पापस्य चित्तं विशोधनम् प्रायश्चित्तम्।

प्रायश्चित्त के भेद-प्रभेद

१. ज्ञान-प्रायश्चित्त—ज्ञान के अतिचारों की शुद्धि के लिये आलोचना आदि प्रायश्चित्त करना।[1]

२. दर्शन-प्रायश्चित्त—दर्शन के अतिचारों की शुद्धि के लिये आलोचना आदि प्रायश्चित्त करना।[2]

३. चारित्र प्रायश्चित्त—चारित्र के अतिचारों की शुद्धि के लिये आलोचना आदि प्रायश्चित्त करना।[3]

४. वियत्त किच्चपायच्छित्ते—इस चतुर्थ प्रायश्चित के दो पाठान्तर हैं—

१. वियत्तकिच्चपायच्छित्ते—व्यक्तकृत्य प्रायश्चित।

२. चियत्तकिच्चपायच्छित्ते—त्यक्तकृत्य प्रायश्चित।

क—व्यक्तकृत्य प्रायश्चित्त के दो अर्थ हैं—(१) व्यक्त—अर्थात् आचार्य—उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रायश्चित्त कृत्य पाप का परिहारक होता है। तात्पर्य यह है कि आचार्य यदा-कदा किसी को प्रायश्चित्त देते हैं तो वे अतिचारसेवी के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि देखकर देते हैं। आचार्य द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का उल्लेख दशा-कल्प-व्यवहार आदि में हो या न हो फिर भी उस प्रायश्चित्त से आत्मशुद्धि अवश्य होती है।

ख—व्यक्त अर्थात् स्पष्ट छेद सूत्र निर्दिष्ट प्रायश्चित्त कृत्य। भिन्न भिन्न अतिचारों के भिन्न-भिन्न (आलोचनादि कृत्य) प्रायश्चित्त।

क—त्यक्त कृत्यप्रायश्चित्त—जो कृत्य त्यक्त हैं उनका प्रायश्चित्त।

ख—चियत्त—का एक अर्थ 'प्रीतिकर' भी होता है।[४] आचार्य के प्रीतिकर कृत्य वैयावृत्य आदि भी प्रायश्चित्त रूप हैं।

दस प्रकार के प्रायश्चित्त—

(१) आलोचना योग्य—जिन अतिचारों की शुद्धि आलोचना से हो सकती है ऐसे अतिचारों की आलोचना

(ङ) जिस प्रकार लौकिक व्यवहार में सामाजिक या राजनैतिक अपराधियों को दण्ड देने का विधान है—इसी प्रकार मूलगुण या उत्तरगुण सम्बन्धी (१) अतिक्रम, (२) व्यतिक्रम, (३) अतिचार और (४) अनाचार-सेवियों को प्रायश्चित्त देने का विधान है।

सामान्यतया दण्ड और प्रायश्चित्त समान प्रतीत होते हैं, किन्तु दण्ड क्रूर होता है और प्रायश्चित्त अपेक्षाकृत कोमल होता है। दण्ड अनिच्छापूर्वक स्वीकार किया जाता है और प्रायश्चित्त स्वेच्छापूर्वक स्वीकार किया जाता है। दण्ड से वासनाओं का दमन होता है और प्रायश्चित्त से शमन होता है।

१. ज्ञान के चौदह अतिचार।

२. दर्शन के पांच अतिचार।

३. चारित्र के एकसौ छह (१०६) अतिचार—
पांच महाव्रत से पच्चीस अतिचार। रात्रिभोजन त्याग के दो अतिचार। ईर्यासमिति के चार अतिचार। भाषासमिति के दो अतिचार। एषणा समिति के सेंतालीस अतिचार। आदान निक्षेपणा समिति के दो अतिचार। परिष्ठापना समिति के दस अतिचार। तीन गुप्ति के ९ अतिचार। संलेखना के ५ अतिचार

४. 'चियत्त' का 'प्रीतिकर' अर्थसूचक संस्कृत रूपान्तर मिलता नहीं है।

—अर्धमागधीकोश भाग २ चियत्तशब्द पृ० ६२८

करना आलोचना योग्य प्रायश्चित्त है। एषणा समिति और परिष्ठापना समिति के अतिचार प्रायः आलोचना योग्य हैं।

(२) प्रतिक्रमणयोग्य—जिन अतिचारों की शुद्धि प्रतिक्रमण से ही हो सकती है, ऐसे अतिचारों का प्रतिक्रमण करना—प्रतिक्रमण योग्य है। समितियों एवं गुप्तियों के अतिचार प्रायः प्रतिक्रमण योग्य हैं।

(३) उभययोग्य—जिन अतिचारों की शुद्धि आलोचना और प्रतिक्रमण—दोनों से ही हो सकती है—ऐसे अतिचारों की आलोचना तथा उनका प्रतिक्रमण करना—उभय योग्य प्रायश्चित्त है। एकेन्द्रियादि जीवों का अभिघात करने से यावत् स्थानान्तरण करने से जो अतिचार होते हैं—वे उभय प्रायश्चि योग्यत्त हैं।

(४) विवेकयोग्य—जिन अतिचारों की शुद्धि विवेक अर्थात् परित्याग से होती है—ऐसे अतिचारों का परित्याग करना विवेक (त्याग) योग्य प्रायश्चित्त है। आधाकर्म आहार यदि आ जाय तो उसका परित्याग करना ही विवेकयोग्य प्रायश्चित्त है।

(५) व्युत्सर्ग योग्य—जिन अतिचारों की शुद्धि कायिक क्रियाओं का अवरोध करके ध्येय में उपयोग स्थिर करने से होती है ऐसे अतिचार व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त योग्य हैं। नदी पार करने के बाद किया जाने वाला कायोत्सर्ग व्युत्सर्ग योग्य प्रायश्चित्त है।

(६) तपयोग्य—जिन अतिचारों की शुद्धि तप से ही हो सकती है—ऐसे अतिचार तप प्रायश्चित्त योग्य हैं। निशीथसूत्र निर्दिष्ट अतिचार प्रायः तप (गुरुमास, लघुमास) प्रायश्चित्त योग्य हैं।

(७) छेदयोग्य—जिन अतिचारों की शुद्धि दीक्षा छेद से ही सकती है वे अतिचार छेद प्रायश्चित्त योग्य है। पांच महाव्रतों के कतिपय अतिचार छेद प्रायश्चित्त योग्य हैं।[1]

(८) मूलयोग्य—जिन अतिचारों की शुद्धि महाव्रतों के पुनः आरोपण करने से ही हो सकती है, ऐसे अनाचार मूल प्रायश्चित्त के योग्य होते हैं। एक या एक से अधिक महाव्रतों का होने वाला मूल प्रायश्चित्त योग्य है।[2]

(९) अनवस्थाप्ययोग्य—जिन अनाचारों की शुद्धि व्रत एवं वेष रहित करने पर ही हो सकती है—ऐसे अनाचार अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त योग्य होते हैं।[3]

---

१. अकारण अपवाद मार्ग सेवन में आसक्त, एक अतिचार का अनेक बार आचरणकर्ता, तथा एक साथ अनेक अतिचार सेवनकर्ता छेद प्रायश्चित्त योग्य होता है।

जिस प्रकार शेष अंग की रक्षा के लिये व्याधिविकृत अंग का छेदन अत्यावश्यक है—इसी प्रकार शेष व्रत पर्याय की रक्षा के लिये दूषित व्रत पर्याय का छेदन भी अत्यावश्यक है।

२. एक बार या अनेक बार पंचेन्द्रिय प्राणियों का वध करने वाला, शील भंग करने वाला, संक्लिष्ट संकल्पपूर्वक मृषावाद बोलने वाला, अदत्तादान करने वाला, परिग्रह रखने वाला, पर-लिंग (परिव्राजकादि का वेष) धारण करने वाला तथा गृहस्थलिंग धारण करने वाला मूल प्रायश्चित्त योग्य होता है।

३. अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त योग्य तीन हैं—

१. सार्धमिक की चोरी करने वाला,

२. अन्यधर्मियों की चोरी करने वाला,

३. दण्ड, लाठी या मुक्के आदि से प्रहार करने वाला।

—ठाणं० ३, उ० ४ सू० २०१

(१०) पारांचिक योग्य—जिन अनाचारो की शुद्धि गृहस्थ का वेष धारण कराने पर और बहुत लम्बे समय तक निर्धारित तप का अनुष्ठान कराने पर ही हो सकती है ऐसे अनाचार पारांचिकप्रायश्चित्त योग्य होते हैं।[1] इस प्रायश्चित्त वाला व्यक्ति उपाश्रय, ग्राम और देश से बहिष्कृत किया जाता है।

प्रायश्चित्त के प्रमुख कारण

१. अतिक्रम—दोषसेवन का सकल्प।

२. व्यतिक्रम—दोषसेवन के साधनों का सग्रह करना।

३. अतिचार—दोषसेवन प्रारम्भ करना।

४. अनाचार—दोषसेवन कर लेना।

अतिक्रम के तीन भेद—

१. ज्ञान का अतिक्रम, २. दर्शन का अतिक्रम, ३. चारित्र का अतिक्रम।

इसी प्रकार ज्ञान का व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार हैं। दर्शन और चारित्र के भी तीन-तीन भेद हैं।

ज्ञान का अतिक्रम तीन प्रकार का है—

१. जघन्य, २. मध्यम, ३. उत्कृष्ट। इसी प्रकार ज्ञान का व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार हैं। दर्शन और चारित्र के भी तीन-तीन भेद हैं।

ज्ञानादि का अतिक्रम हो गया हो तो गुरु के समक्ष आलोचना करना, प्रतिक्रमण करना तथा निन्दा, गर्हा आदि करके शुद्धि करना, पुन. दोषसेवन न करने का दृढ संकल्प करना तथा प्रायश्चित्त रूप तप करना। इसी प्रकार के ज्ञान के व्यतिक्रमादि तथा दर्शन-चारित्र के अतिक्रमादि की शुद्धि करनी चाहिए।[2]

---

१. ठाणं० ६, सू० ४८९। ठाणं० ८, सू० ६०५। ठाणं० ९, सू० ६८८। ठाणं० १०, सू० ७३३।

पारांचिक प्रायश्चित्त योग्य पाँच हैं—

१. जो कुल (गच्छ) मे रहकर परस्पर कलह कराता हो।

२. जो गण में रहकर परस्पर कलह कराता हो।

३. जो हिंसाप्रेक्षी हो,

४. जो छिद्रप्रेमी हो,

५. प्रश्नशास्त्र का बारम्बार प्रयोग करता हो। —ठाणं ५, उ०१ सू० ३९८।

पारांचिक प्रायश्चित्त योग्य तीन हैं—

१. दुष्ट पारांचिक

२. प्रमत्त पारांचिक

३. अन्योऽन्य मैथुनसेवी पारांचिक।

अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में विशेष जानने के लिये व्यवहारभाष्य देखना चाहिये।

२. (क) ठाणं ३ उ०४ सू० १९५।

(ख) अस्वाध्यायकाल में स्वाध्याय करने का संकल्प करना ज्ञान का अतिक्रम है। पुस्तक लेने जाना—ज्ञान का व्यतिक्रम है। स्वाध्याय प्रारम्भ करना ज्ञान का अतिचार है। पूर्ण स्वाध्याय करना ज्ञान का अनाचार है। इसी प्रकार दर्शन तथा चारित्र के अतिक्रमादि समझने चाहिए।

प्रतिसेवना के दस प्रकार

१. दर्पप्रतिसेवना—अहंकारपूर्वक अकृत्य सेवन।

२. प्रमादप्रतिसेवना—निद्रादि पांच प्रकार के प्रमादवश अकृत्य सेवन।

३. अनाभोग प्रतिसेवना—विस्मृतिपूर्वक अनिच्छा से अकृत्य सेवन।

४. आतुरप्रतिसेवना—रुग्णावस्था में अकृत्य सेवन।

५. आपत्तिप्रतिसेवना—दुर्भिक्षादि कारणों से अकृत्य सेवन।

६. शंकित प्रतिसेवना—आशंका से अकृत्य सेवन।

७. सहसाकार प्रतिसेवना—अकस्मात् या बलात्कार से अकृत्य सेवन।

८. भयप्रतिसेवना—भय से अकृत्य सेवन।

९. प्रद्वेषप्रतिसेवना—द्वेषभाव से अकृत्य सेवन।

१०. विमर्शप्रतिसेवना—शिष्य की परीक्षा के निमित्त अकृत्य सेवन।

ये प्रतिसेवनायें संक्षेप में दो प्रकार की हैं—दर्पिका और कल्पिका।

राग-द्वेष पूर्वक जो अकृत्य सेवन किया जाता है वह दर्पिका प्रतिसेवना है। इस प्रतिसेवना से प्रतिसेवक विराधक होता है।

राग-द्वेष रहित परिणामों से जो प्रतिसेवना हो जाती है या की जाती है वह कल्पिका प्रतिसेवना है। इसका प्रतिसेवक आराधक होता है।[1]

आठ प्रकार के ज्ञानातिचार—

१. कालातिचार—अकाल में स्वाध्याय करना।

२. विनयातिचार—श्रुत का अध्ययन करते समय जाति और कुल मद से गुरु का विनय न करना।

३. बहुमानातिचार—श्रुत और गुरु का सन्मान न करना।

४. उपधानातिचार—श्रुत की वाचना लेते समय आचाम्लादि तप न करना।

५. निह्नवनाभिधानातिचार—गुरु का नाम छिपाना।

६. व्यंजनातिचार—हीनाधिक अक्षरों का उच्चारण करना।

७. अर्थातिचार—प्रसंग संगत अर्थ न करना। अर्थात् विपरीत अर्थ करना।

८. उभयातिचार—ह्रस्व की जगह दीर्घ उच्चारण करना, दीर्घ की जगह ह्रस्व उच्चारण करना। उदात्त के स्थान में अनुदात्त का और अनुदात्त के स्थान में उदात्त का उच्चारण करना।

अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार ये तीन संज्वलन कषाय के उदय से होते हैं[2]—इनकी शुद्धि आलोचनादि से लेकर तपोर्हपर्यन्त प्रायश्चित्तों से होती है।

छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पाराचिक प्रायश्चित्त योग्य अतिचार और अनाचार शेष बारह कषायों (अनन्तानुबन्धी ४, अप्रत्याख्यानी ४, प्रत्याख्यानी ४) के उदय से होते हैं।

---

१. गाहा—रागद्दोसाणुगया, तु दप्पिया कप्पिया तु तदभावा।
आराधणा उ कप्पे, विराधणा होति दप्पेण॥
—बृह० उ० ४ भाष्य गाथा ४९४३।

२. सव्वे वि अइयारा संजलणाणं उदयओ होंति॥
—अभि० कोष—'अइयार' शब्द।

प्रकट और प्रच्छन्न दोष सेवन

अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार—इन चार प्रकार के दोषों का सेवन करने वाले श्रमण-श्रमणियां चार प्रकार के हैं—

१. कुछ श्रमण-श्रमणियाँ इन उक्त दोषों का सेवन प्रकट करते हैं अर्थात् प्रच्छन्न नहीं करते हैं।

२. कुछ श्रमण-श्रमणियाँ इन उक्त दोषो का सेवन प्रच्छन्न करते हैं अर्थात् प्रकट नहीं करते हैं।

३. कुछ श्रमण-श्रमणियाँ इन उक्त दोषों का सेवन प्रकट भी करते हैं और प्रच्छन्न भी करते हैं।

४. कुछ श्रमण-श्रमणियाँ इन उक्त दोषो का सेवन न प्रकट करते है और न प्रच्छन्न करते हैं।[1]

प्रथम भंग वाले—श्रमण-श्रमणियाँ अनुशासन में नही रहने वाले अविनीत, स्वच्छन्द, प्रपंची एवं निर्लज्ज होते हैं और वे पापभीरू नहीं होते हैं अतः दोषों का सेवन प्रकट करते हैं।

द्वितीय भंग वाले—श्रमण-श्रमणियाँ दो प्रकार के होते हैं—अतः दोष का सेवन प्रकट करते है। यथा—

प्रशस्त भावना वाले—श्रमण-श्रमणियाँ यदि यदा-कदा उक्त दोषो का सेवन करते हैं तो प्रच्छन्न करते हैं, क्योंकि वे स्वयं परिस्थितिवश धार्मिक दुर्बलता के कारण दोषों का सेवन करते हैं इसलिए ऐसा सोचते हैं कि मुझे दोष-सेवन करते हुये देखकर अन्य श्रमण-श्रमणियाँ दोष-सेवन न करें अतः वे दोषों का सेवन प्रच्छन्न करते हैं।

अप्रशस्त भावना वाले—मायावी श्रमण-श्रमणियाँ लोक-लज्जा के भय से या श्रद्धालुजनों की श्रद्धा मेरे पर बनी रहे इस संकल्प से उक्त दोषों का सेवन प्रकट नहीं करते हैं अपितु छिपकर करते हैं।

तृतीय भंग वाले—श्रमण-श्रमणियाँ वंचक प्रकृति के होते हैं वे सामान्य दोषों का सेवन तो प्रकट करते हैं किन्तु सशक्त (प्रबल) दोषों का सेवन प्रच्छन्न करते हैं।

यदि उन्हें कोई सामान्य दोष सेवन करते हुये देखता है तो वे कहते हैं—'सामान्य दोष तो इस पंचमकाल में सभी को लगते हैं। अतः इन दोषो से बचना असम्भव है।'

चतुर्थ भंग वाले—श्रमण-श्रमणियाँ सच्चे वैराग्य वाले होते है, मुमुक्षु और स्वाध्यायशील भी होते हैं अतः वे उक्त दोषों का सेवन न प्रकट करते हैं, न प्रच्छन्न करते हैं।

प्रथम तीन भंग वाले श्रमण-श्रमणियों द्वारा सेवित दोषों की शुद्धि के लिए ही व्यवहारसूत्र निर्दिष्ट प्रायश्चित्त-विधान है। अंतिम चतुर्थ भंग वाले श्रमण-श्रमणियाँ निरतिचार चारित्र के पालक होते हैं अतः उनके लिए किसी भी प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान नही है।

व्यवहारशुद्धि कठिन भी, सरल भी

प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव आदिनाथ के धर्मशासन में श्रमण-श्रमणियाँ प्रायः ऋजु-सरल होते थे पर जड (अल्पबौद्धिक विकास वाले) होते थे। अतः वे सूत्र सिद्धान्त निर्दिष्ट समाचारी का परिपूर्ण ज्ञान तथा परिपूर्ण पालन नही कर पाते थे। उनकी व्यवहार शुद्धि दुःसाध्य होने का एकमात्र यही कारण था।

---

१. ठाणं—४, उ. १, सू. २७२

बावीस तीर्थंकरों (भगवान् अजितनाथ से भ० पार्श्वनाथ पर्यन्त) के श्रमण-श्रमणी प्रायः ऋजु-प्राज्ञ (सरल और प्रबुद्ध) होते थे। वे सूत्र सिद्धान्त प्रतिपादित समाचारी का परिपूर्ण ज्ञान तथा परिपूर्ण पालन करने में सदा प्रयत्नशील रहते थे अतः उनकी व्यवहार शुद्धि अति सरल थी।

अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर की परम्परा के श्रमण-श्रमणी प्रायः वक्रजड हैं। दशा, कल्प, व्यवहार आदि में विशद श्रुत समाचारी के होते हुये भी प्रत्येक गच्छ भिन्न-भिन्न समाचारी की प्ररूपणा करता है। पर्युषण-पर्व तथा संवत्सरी पर्व जैसे महान धार्मिक पर्वों की आराधना, पक्खी, चौमासी आलोचना भी विभिन्न दिनों में की जाती है। वक्रता और जडता के कारण मूलगुण तथा उत्तरगुणों में लगने वाले अतिचारों की आलोचना भी वे सरल हृदय से नहीं करते अतः उनकी व्यवहार शुद्धि अति कठिन है।[1]

आलोचना और आलोचक

आलोचना—अज्ञान, अहंकार, प्रमाद या परिस्थितिवश जो उत्सर्ग मार्ग से स्खलन अर्थात् अतिचार होता है—उसे गुरु के समक्ष प्रकट करना आलोचना है और आलोचक वह है जो पूर्वोक्त कारणों से लगे हुये अतिचारों को गुरु के समक्ष प्रकट करता है।

यदि आलोचक मायावी हो और मायापूर्वक आलोचना करता हो तो उसकी आलोचना का उसे अच्छा फल नहीं मिलता है।

यदि आलोचक मायावी नहीं है और मायारहित आलोचना करता है तो उसकी आलोचना का उसे अच्छा फल मिलता है।

व्यवहारशुद्धि के लिये तथा निश्चय (आत्म) शुद्धि के लिये लगे हुये अतिचारों की आलोचना करना अनिवार्य है किन्तु साधकों के विभिन्न वर्ग हैं। उनमें एक वर्ग ऐसा है जो अतिचारों की आलोचना करता ही नहीं है।

उनका कहना है—हमने अतिचार (अकृत्य) सेवन किये हैं, करते हैं और करते रहेंगे। क्योंकि देश, काल और शारीरिक-मानसिक स्थितियाँ ऐसी हैं कि हमारा संयमी जीवन निरतिचार रहे—ऐसा हमें संभव नहीं लगता है अतः आलोचना से क्या लाभ है यह तो हस्तिस्नान जैसी प्रक्रिया है। अतिचार लगे आलोचना की और फिर अतिचार लगे—यह चक्र चलता ही रहता है।

उनका यह चिन्तन अविवेकपूर्ण है—क्योंकि वस्त्र पहने हैं, पहनते हैं और पहनते रहेंगे तो पहने गये वस्त्र मलिन हुये हैं, होते हैं और होते रहेंगे—'फिर वस्त्र शुद्धि से क्या लाभ है!'—यह कहना कहाँ तक उचित है?

जब तक वस्त्र पहनना है तब तक उन्हें शुद्ध रखना भी एक कर्तव्य है—क्योंकि वस्त्रशुद्धि के भी कई लाभ हैं—प्रतिदिन शुद्ध किये जाने वाले वस्त्र अति मलिन नहीं होते हैं और स्वच्छ वस्त्रों से स्वास्थ्य भी समृद्ध रहता है।

इसी प्रकार जब तक योगों के व्यापार हैं और कषाय तीव्र या मन्द है तब तक अतिचार जन्य कर्ममल लगना निश्चित है।

---

१. गाहा—पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ, चरिमाणं दुरणुपालओ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु, सुविसोज्झो सुपालओ॥
—उत्त. अ. २३, गाथा—२७।

प्रतिदिन प्रतिचारों की आलोचना करते रहने से आत्मा कर्ममल से प्रतिमलिन नहीं होता है और भाव-आरोग्य रहता है। ज्यों ज्यों योगों का व्यापार अवरुद्ध होता है और कषाय मन्दतम होते जाते हैं, त्यों त्यों प्रतिचारों का लगना अल्प होता जाता है।

द्वितीय वर्ग ऐसा है जो अयश-अकीर्ति, अवर्ण (निन्दा) या अवज्ञा के भय से अथवा यश-कीर्ति या पूजा-सत्कार कम हो जाने के भय से प्रतिचारों की आलोचना ही नहीं करते।

तृतीय वर्ग ऐसा है जो आलोचना तो करता है पर मायापूर्वक करता है। वह सोचता है मैं यदि आलोचना नहीं करूँगा तो मेरा वर्तमान जीवन गर्हित हो जायगा और भावी जीवन भी विकृत हो जायगा। अथवा आलोचना करूँगा तो मेरा वर्तमान एवं भावी जीवन प्रशस्त हो जायगा अथवा आलोचना कर लूँगा तो ज्ञान दर्शन एवं चारित्र की प्राप्ति हो जायगी।

मायावी आलोचक को दुगुना प्रायश्चित्त देने का विधान प्रारम्भ के सूत्रों में है।

चौथा वर्ग ऐसा है जो मायारहित आलोचना करता है, वह १. जातिसम्पन्न, २. कुलसम्पन्न, ३. विनयसम्पन्न, ४. ज्ञानसम्पन्न, ५. दर्शनसम्पन्न, ६. चारित्रसम्पन्न, ७. क्षमाशील, ८. निग्रहशील, ९. अमायी, १०. अपश्चात्तापी। ऐसे साधकों का यह वर्ग है। इनका व्यवहार और निश्चय दोनों शुद्ध होते हैं।

आलोचक गीतार्थ हो या अगीतार्थ, उन्हे आलोचना सदा गीतार्थ के सामने ही करनी चाहिये। गीतार्थ के अभाव में किन के सामने करना चाहिये।[1] उनका एक क्रम है—जो छेदसूत्रों के स्वाध्याय से जाना जा सकता है।

व्यवहारसूत्र का सम्पादन क्यों

संयमी आत्माओं के जीवन का चरम लक्ष्य है—"निश्चयशुद्धि" अर्थात् आत्मा की (कर्म-मल से) सर्वथा मुक्ति और इसके लिये व्यवहारसूत्र प्रतिपादित व्यवहारशुद्धि अनिवार्य है।

जिसप्रकार शारीरिक स्वास्थ्यलाभ के लिये उदरशुद्धि आवश्यक है और उदरशुद्धि के लिये आहारशुद्धि अत्यावश्यक है—इसी प्रकार आध्यात्मिक""आरोग्यलाभ के लिए निश्चयशुद्धि आवश्यक है और निश्चयशुद्धि के लिये व्यवहारशुद्धि आवश्यक है। क्योंकि व्यवहारशुद्धि के बिना निश्चयशुद्धि सर्वथा असंभव है।

सांसारिक जीवन में व्यवहारशुद्धि वाले (रुपये-पैसों के देने लेने में प्रामाणिक) के साथ ही लेन-देन का व्यवहार किया जाता है। आध्यात्मिक जीवन में भी व्यवहारशुद्ध साधक के साथ ही कृतिकर्मादि (वन्दन-पूजनादि) व्यवहार किये जाते हैं।

---

१. गाहा—आयरियपायमूलं, गतूणं सइ परक्कमे।
ताहे सव्वेण अत्तसोही, कायव्वा एस उवएसो॥
जह अकुसलो वि वेज्जो, अन्नस्स कहेइ अत्तणो वाहिं।
वेज्जस्स य सो सोउंतो, पडिकम्मं समारभते॥
जायंतेण वि एवं, पायच्छित्तविहिमप्पणो निउणं।
तह वि य पागडतरयं, आलोएदव्वयं होइ॥
जह बालो जप्पंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ।
तं तह आलोइज्जा मायामय विप्पमुक्को उ॥ —व्यव० उ० १० भाष्य गाथा ४६०-४७१।

व्यवहारसूत्र प्रतिपादित पांच व्यवहारों से संयमी आत्माओं का व्यवहारपक्ष शुद्ध (अतिचारजन्य पाप-मल-रहित) होता है।

ग्रन्थ में प्रकाशित छेदसूत्रों के लिये कतिपय विचार व्यक्त किये हैं। इस लेखन में मेरे द्वारा पूर्व में सम्पादित आयारदसा, कप्पसुत्त छेदसूत्रों में पण्डितरत्न मुनि श्री विजयमुनिजी शास्त्री के "आचारदशा: एक अनुशीलन" और उपाध्याय मुनि श्री फूलचन्दजी 'श्रमण के "बृहत्कल्पसूत्र की उत्थानिका" के आवश्यक सैद्धांशों का समावेश किया है। एतदर्थ मुनिद्वय का सधन्यवाद आभार मानता हूँ।

विस्तृत विवेचन आदि लिखने का कार्य श्री तिलोकमुनिजी म. ने किया है। अतएव पाठकगण अपनी जिज्ञासाओं के समाधान के लिये मुनिश्री से संपर्क करने की कृपा करें।

—मुनि कन्हैयालाल "कमल"

प्रस्तावना

त्रीणि छेदसूत्राणि : एक समीक्षात्मक अध्ययन

वैदिक परम्परा में जो स्थान वेद का है, बौद्ध परम्परा में जो स्थान त्रिपिटक का है, ईसाई धर्म में जो स्थान बाईबिल का है, इस्लाम धर्म में जो स्थान कुरान का है, वही स्थान जैनपरम्परा में आगम-साहित्य का है।

वेद तथा बौद्ध और जैन आगम-साहित्य में महत्त्वपूर्ण भेद यह रहा है कि वैदिक परम्परा के ऋषियों ने शब्दों की सुरक्षा पर अधिक बल दिया जबकि जैन और बौद्ध परम्परा में अर्थ पर अधिक बल दिया गया है। यही कारण है कि वेदों के शब्द प्रायः सुरक्षित रहे हैं और अर्थ की दृष्टि से वे एक मत स्थिर नहीं कर सके हैं। जैन और बौद्ध परम्परा में इससे बिल्कुल ही विपरीत रहा है। वहाँ अर्थ की सुरक्षा पर अधिक बल दिया गया है, शब्दों की अपेक्षा अर्थ अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। यही कारण है कि आगमों के पाठभेद मिलते हैं, पर उनमें प्रायः अर्थभेद नहीं है।

वेद के शब्दों में मंत्रों का आरोपण किया गया है जिससे शब्द तो सुरक्षित रहे, पर उसके अर्थ नष्ट हो गए। जैन आगम-साहित्य में मंत्र-शक्ति का आरोप न होने से अर्थ पूर्ण रूप से सुरक्षित रहा है।

वेद किसी एक ऋषि विशेष के विचारों का प्रतिनिधित्व नहीं करते, जब कि जैन गणिपिटक एवं बौद्ध त्रिपिटक क्रमश: भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध की वाणी का प्रतिनिधित्व करते हैं। जैन आगमों के अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर रहे हैं और सूत्र के रचयिता गणधर हैं।

जैन और वैदिक परम्परा की संस्कृति पृथक्-पृथक् रही है। जैनसंस्कृति अध्यात्म प्रधान है। जैन आगमों में अध्यात्म का स्वर प्रधान रूप से झंकृत रहा है, वेदों में लौकिकता का स्वर मुखरित रहा है। यहाँ पर यह बात भी विस्मरण नहीं होनी चाहिए कि आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व अणु-विज्ञान, जीव-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान आदि के सम्बन्ध में जो बातें जैन आगमों में बताई गई है, उन्हें पढ़कर आज का वैज्ञानिक भी विस्मित है। जैन आगम-साहित्य का इन अनेक दृष्टियों से भी महत्त्व रहा है।

कुछ समय पूर्व पाश्चात्य और पौर्वात्य विज्ञों की यह धारणा थी कि वेद ही आगम और त्रिपिटक के मूल स्रोत हैं, पर मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त ध्वंसावशेषों ने विज्ञों की धारणा में आमूलचूल परिवर्तन कर दिया है कि आर्यों के आगमन से पूर्व भारत में जो संस्कृति थी वह पूर्ण रूप से विकसित थी और वह श्रमण-संस्कृति थी।

निष्पक्ष विचारकों ने यह सत्य-तथ्य एक मत से स्वीकार किया है कि श्रमणसंस्कृति के प्रभाव से ही वैदिक परम्परा ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रतों को स्वीकार किया है। आज जो वैदिक

परम्परा में अहिंसादि का वर्णन है वह जैनसंस्कृति की देन है।[1]

आगम शब्द के अनेक अर्थ हैं। उस पर मैंने विस्तार से चर्चा की है।

आचाराङ्ग में जानने के अर्थ में आगम शब्द का प्रयोग हुआ है। "आगमेत्ता-आणवेज्जा"[2] जानकर आज्ञा करे। लाघवं आगममाणे[3] लघुता को जानने वाला। व्यवहारभाष्य[4] में संघदासगणी ने आगम-व्यवहार का वर्णन करते हुए उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद किये हैं। प्रत्यक्ष में अवधि, मनःपर्यव और केवल ज्ञान है और परोक्ष में चतुर्दश पूर्व और उनसे न्यून श्रुतज्ञान का समावेश है। इससे भी स्पष्ट है कि जो ज्ञान है वह आगम है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकरों के द्वारा दिया गया उपदेश भी ज्ञान होने के कारण आगम है।

भगवती[5], अनुयोगद्वार[6] और स्थानाङ्ग[7] में आगम शब्द शास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वहां पर प्रमाण के चार भेद किये गये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम। आगम के भी लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद किए गए हैं। लौकिक आगम भारत, रामायण आदि हैं और लोकोत्तर आगम आचार, सूत्रकृत आदि हैं।[8]

लोकोत्तर आगम के सुत्तागम, अत्थागम और तदुभयागम ये तीन भेद भी किए गए हैं।[9] एक अन्य दृष्टि से आगम के तीन प्रकार और मिलते हैं—आत्मागम, अनन्तरागम और परम्परागम।[10] आगम के अर्थरूप और सूत्ररूप ये दो प्रकार हैं। तीर्थंकर प्रभु अर्थरूप आगम का उपदेश करते हैं अतः अर्थरूप आगम तीर्थंकरों का आत्मागम कहलाता है, क्योंकि वह अर्थागम उनका स्वयं का है, दूसरों से उन्होंने नहीं लिया है, किन्तु वही अर्थागम गणधरों ने तीर्थंकरों से प्राप्त किया है। गणधर और तीर्थंकर के बीच किसी तीसरे व्यक्ति का व्यवधान नहीं है एतदर्थ गणधरों के लिए वह अर्थागम अनन्तरागम कहलाता है, किन्तु उस अर्थागम के आधार से स्वयं गणधर सूत्ररूप रचना करते हैं।[11] इसलिए सूत्रागम गणधरों के लिए आत्मागम कहलाता है। गणधरों के साक्षात् शिष्यों को गणधरों से सूत्रागम सीधा ही प्राप्त होता है, उनके मध्य में कोई भी व्यवधान नहीं होता। इसलिए उन शिष्यों के लिए सूत्रागम अनन्तरागम है, किन्तु अर्थागम तो परम्परागम ही है। क्योंकि वह उन्होंने अपने धर्मगुरु गणधरों से प्राप्त किया है। किन्तु वह गणधरों को भी आत्मागम नहीं था। उन्होंने तीर्थंकरों से प्राप्त किया था। गणधरों के प्रशिष्य और

---

१. संस्कृति के चार अध्याय : पृ. १२५ —रामधारीसिंह "दिनकर"
२. आचारांग १।५।४ ज्ञात्वा आज्ञापयेत्
३. आचारांग १।६।३ लाघवं आगमयन् अवबुध्यमानः
४. व्यवहारभाष्य गा. २०१
५. भगवती ५।३।१९२
६. अनुयोगद्वार
७. स्थानाङ्ग ३३८, २२८
८. अनुयोगद्वार ४९-५० पृ. ६८, पुण्यविजयजी सम्पादित, महावीर विद्यालय, बम्बई द्वारा प्रकाशित
९. अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—सुत्तागमे य अत्थागमे य तदुभयागमे य।
—अनुयोगद्वारसूत्र ४७०, पृ. १७९
१०. अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—अत्तागमे, अणंतरागमे परंपरागमे य।
—अनुयोगद्वारसूत्र ४७०, पृ. १७९
११. (क) श्रीचन्द्रीया संग्रहणी गा. ११२
(ख) आवश्यकनिर्युक्ति गा. ९२

उनकी परम्परा में होने वाले अन्य शिष्य और प्रशिष्यों के लिए सूत्र और अर्थ परम्परागम हैं।[12]

श्रमण भगवान् महावीर के पावन प्रवचनों का सूत्र रूप में संकलन-आकलन गणधरों ने किया, वह अंग-साहित्य के नाम से विश्रुत हुआ। उसके आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, भगवती, ज्ञाता, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाक और दृष्टिवाद ये बारह विभाग हैं। दृष्टिवाद का एक विभाग पूर्व साहित्य है।

आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार गणधरों ने अर्हद्भाषित मातृकापदों के आधार से चतुर्दश शास्त्रों का निर्माण किया, जिसमें सम्पूर्ण श्रुत की अवतारणा की गई।[13] ये चतुर्दश शास्त्र चतुर्दश पूर्व के नाम से विश्रुत हुए। इन पूर्वों की विश्लेषण-पद्धति अत्यधिक क्लिष्ट थी अतः जो महान् प्रतिभासम्पन्न साधक थे उन्हीं के लिए वह पूर्व साहित्य ग्राह्य था। जो साधारण प्रतिभासम्पन्न साधक थे उनके लिए एवं स्त्रियों के उपकारार्थ द्वादशांगी की रचना की गई।

आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने लिखा है कि दृष्टिवाद का अध्ययन-पठन स्त्रियों के लिए वर्ज्य था। क्योंकि स्त्रियां तुच्छ स्वभाव की होती हैं, उन्हें शीघ्र ही गर्व आता है। उनकी इन्द्रियां चंचल होती हैं। उनकी मेधा-शक्ति पुरुषों की अपेक्षा दुर्बल होती है एतदर्थ उत्थान-समुत्थान प्रभृति अतिशय या चमत्कार युक्त अध्ययन और दृष्टिवाद का ज्ञान उनके लिए नहीं है।[14]

मलधारी आचार्य हेमचन्द्र ने प्रस्तुत विषय का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि स्त्रियों को यदि किसी तरह दृष्टिवाद का अध्ययन करा दिया जाए तो तुच्छ प्रकृति के कारण "मैं दृष्टिवाद की अध्येता हूं" इस प्रकार मन में अहंकार आकर पुरुष के परिभव-तिरस्कार प्रभृति में प्रवृत्त हो जाये जिससे उसकी दुर्गति हो सकती है एतदर्थ दया के अवतार महान् परोपकारी तीर्थंकरों ने उत्थान, समुत्थान आदि अतिशय चमत्कार युक्त अध्ययन एवं दृष्टिवाद के अध्ययन का स्त्रियों के लिए निषेध किया।[15] बृहत्कल्पनिर्युक्ति में भी यही बात आई है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने और मलधारी हेमचन्द्र ने स्त्रियों की प्रवृत्ति की विकृति व मेधा की दुर्बलता के सम्बन्ध में जो लिखा है वह पूर्ण संगत नहीं लगता है। ये बातें पुरुष में भी सम्भव हैं। अनेक स्त्रियां पुरुषों से भी अधिक प्रतिभासम्पन्न व गम्भीर होती हैं। यह शास्त्र में आये हुए वर्णनों से भी स्पष्ट है।

---

१२. तित्थगराणं अत्थस्स अत्तागमे, गणहराणं सुत्तस्स अत्तागमे, अत्थस्स अणंतरागमे, गणहरसीसाणं सुत्तस्स अणंतरागमे अत्थस्स परंपरागमे तेणं परं सुत्तस्स वि अत्थस्स वि णो अत्तागमे णो अणंतरागमे, परम्परागमे
—अनुयोगद्वार ४७०, पृ० १७९

१३. धम्मोवाओ पवयणमहवा पुव्वाई देसया तस्स।
सव्वंजिणा ण गणहरा, चोद्दसपुव्वा उ ते तस्स॥
सामाइयाइयावा वयजीवनिकाय भावणा पढमं।
एसो धम्मोवादो जिणेहिं सव्वेहिं उवइट्ठो॥ —आवश्यकनिर्युक्ति गा० २९२-२९३

१४. तुच्छा गारवबहुला चलिंदिया दुब्बला धिईए य।
इति आइसेसज्झयणा भूयावाओ य नो त्थीणं॥

१५. ....इह विचित्रा जगति प्राणिनः तत्र ये दुर्मेधसः ते पूर्वाणि नाध्येतुमीशते, पूर्वाणामतिगम्भीरार्थत्वात् तेषां च दुर्मेधत्वात् स्त्रीणां पूर्वाध्ययनानाधिकार एव तासां तुच्छत्वादि दोषबहुलत्वात्।
—विशेषावश्यकभाष्य गाथा ५५ की व्याख्या पृ० ४८
प्रकाशक—आगमोदय समिति बम्बई

जब स्त्री अध्यात्म-साधना का सर्वोच्चपद तीर्थंकर नामकर्म का अनुबन्ध कर सकती है, केवलज्ञान प्राप्त कर सकती है तब दृष्टिवाद के अध्ययनार्थ जिन दुर्बलताओं की ओर संकेत किया गया है और जिन दुर्बलताओं के कारण स्त्रियों को दृष्टिवाद की अधिकारिणी नहीं माना गया है उन पर विज्ञों को तटस्थ दृष्टि से गम्भीर चिन्तन करना चाहिए।

मेरी दृष्टि से पूर्व-साहित्य का ज्ञान लब्ध्यात्मक था। उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए केवल अध्ययन और पढ़ना ही पर्याप्त नहीं था, कुछ विशिष्ट साधनाएं भी साधक को अनिवार्य रूप से करनी पड़ती थीं। उन साधनाओं के लिए उस साधक को कुछ समय तक एकान्त-शान्त स्थान में एकाकी भी रहना आवश्यक होता था। स्त्रियों का शारीरिक संस्थान इस प्रकार का नहीं है कि वे एकान्त में एकाकी रह कर दीर्घ साधना कर सकें। इस दृष्टि से स्त्रियों के लिए दृष्टिवाद का अध्ययन निषेध किया गया हो। यह अधिक तर्कसंगत व युक्ति-युक्त है। मेरी दृष्टि से यही कारण स्त्रियों के आहारकशरीर की अनुपलब्धि आदि का भी है।

गणधरों द्वारा संकलित अंग ग्रन्थों के आधार से अन्य स्थविरों ने बाद में ग्रन्थों की रचना की, वे अंग-बाह्य कहलाये। अंग और अंगबाह्य ये आगम ग्रन्थ ही भगवान् महावीर के शासन के आधारभूत स्तम्भ हैं। जैन आचार की कुञ्जी हैं, जैन विचार की अद्वितीय निधि हैं, जैनसंस्कृति की गरिमा हैं और जैन साहित्य की महिमा हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि अंगबाह्य ग्रन्थों को आगम में सम्मिलित करने की प्रक्रिया श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में एक समान नहीं रही है। दिगम्बर परंपरा में अंगबाह्य आगमों की संख्या बहुत ही स्वल्प है किन्तु श्वेताम्बरों में यह परम्परा लम्बे समय तक चलती रही जिससे अंगबाह्य ग्रन्थों की संख्या अधिक है। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है कि आवश्यक के विविध अध्ययन, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और निशीथ आदि दोनों ही परम्पराओं में समान रूप से मान्य रहे हैं।

श्वेताम्बर विद्वानों की यह मान्यता है कि आगम-साहित्य का मौलिक स्वरूप बहुत बड़े परिमाण में लुप्त हो गया है पर पूर्ण नहीं, अब भी वह शेष है। अंगों और अंगबाह्य आगमों की जो तीन बार संकलना हुई उसमें उसके मौलिक रूप में कुछ अवश्य ही परिवर्तन हुआ है। उत्तरवर्ती घटनाओं और विचारणाओं का समावेश भी किया गया है। जैसे स्थानांग में सात निह्नव और नवगणों का वर्णन। प्रश्नव्याकरण में जिस विषय का संकेत किया गया है वह वर्तमान में उपलब्ध नहीं है, तथापि आगमों का अधिकांश भाग मौलिक है, सर्वथा मौलिक है। भाषा व रचना शैली की दृष्टि से बहुत ही प्राचीन है। वर्तमान भाषाशास्त्री आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को ढाई हजार वर्ष प्राचीन बतलाते हैं। स्थानांग, भगवती, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, निशीथ और कल्प को भी वे प्राचीन मानते हैं। इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है कि आगम का मूल आज भी सुरक्षित है।

दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से अंग साहित्य लुप्त हो चुका है। अतः उन्होंने नवीन ग्रन्थों का सृजन किया और उन्हें आगमों की तरह प्रमाणभूत माना। श्वेताम्बरों के आगम-साहित्य को दिगम्बर परम्परा प्रमाणभूत नहीं मानती है तो दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों को श्वेताम्बर परम्परा मान्य नहीं करती है, पर जब मैं तटस्थ दृष्टि से चिन्तन करता हूं तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि दोनों ही परम्पराओं के आगम ग्रन्थों में मौलिक दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों के आगम ग्रन्थों में तत्त्वविचार, जीवविचार, कर्मविचार, लोकविचार, ज्ञानविचार समान हैं। दार्शनिक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। आचार परम्परा की दृष्टि से भी चिन्तन करें तो वस्त्र के उपयोग के सम्बन्ध में कुछ मतभेद होने पर भी विशेष अन्तर नहीं रहा। दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में नग्नत्व पर अत्यधिक भार दिया गया, किन्तु व्यवहार में नग्न मुनियों की संख्या बहुत ही कम रही और दिगम्बर भट्टारक आदि की संख्या

उनसे बहुत अधिक रही। श्वेताम्बर आगम साहित्य में जिनकल्प को स्थविरकल्प से अधिक महत्त्व दिया गया किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से आर्य जम्बू के पश्चात् जिनकल्प का निषेध कर दिया गया।

दिगम्बर परम्परा में स्त्री के निर्वाण का निषेध किया है किन्तु दिगम्बर परम्परा मान्य पट्खण्डागम में मनुष्य-स्त्रियां सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानों में नियम से पर्याप्तक होती हैं।[१६] इसमें "संजद" शब्द को सम्पादको ने टिप्पण में दिया है, जिसका सारांश यह है कि मनुष्य-स्त्री को "संयत" गुणस्थान न हो सकता है और संयत गुणस्थान होने पर स्त्री मोक्ष में जा सकती है। प्रस्तुत प्रश्न को लेकर दिगम्बर समाज में प्रबल विरोध का वातावरण समुत्पन्न हुआ तब ग्रन्थ के सम्पादक प. हीरालालजी जैन आदि ने पुनः उसका स्पष्टीकरण "षट्खण्डागम के तृतीय भाग की प्रस्तावना" में किया किन्तु अब विज्ञो ने मूडबिद्री (कर्णाटक) में षट्खण्डागम की मूल प्रति देखी तो उसमें भी "संजद" शब्द मिला है।

वट्टकेरस्वामी विरचित मूलाचार में आर्यिकाओं के आचार का विश्लेषण करते हुए कहा है जो साधु अथवा आर्यिका इस प्रकार आचरण करते हैं वे जगत् में पूजा, यश व सुख को पाकर मोक्ष को पाते हैं।[१७] इसमें भी आर्यिकाओं के मोक्ष में जाने का उल्लेख है।

किन्तु बाद में टीकाकारों ने अपनी टीकाओं में स्त्री निर्वाण का निषेध किया है। आचार के जितने भी नियम हैं उनमें महत्त्वपूर्ण नियम उद्दिष्ट त्याग का है, जिसका दोनों ही परम्पराओं में समान रूप से महत्त्व रहा है।

श्वेताम्बर आगम-साहित्य में और उसके व्याख्या साहित्य में आचार सम्बन्धी अपवाद मार्ग का विशेष वर्णन मिलता है किन्तु दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो में अपवाद का वर्णन नही है, पर गहराई से चिन्तन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि दिगम्बर परम्परा में भी अपवाद रहे होंगे, यदि प्रारम्भ से ही अपवाद नही होते तो अंगबाह्य सूची में निशीथ का नाम कैसे आता? श्वेताम्बर परम्परा में अपवादों को सूत्रबद्ध करके भी उसका अध्ययन प्रत्येक व्यक्ति के लिए निषिद्ध कर दिया गया। विशेष योग्यता वाला श्रमण ही उसके पढ़ने का अधिकारी माना गया। श्वेताम्बर श्रमणों की संख्या प्रारम्भ से ही अत्यधिक रही जिससे समाज की सुव्यवस्था हेतु छेदसूत्रों का निर्माण हुआ। छेदसूत्रों में श्रमणाचार के निगूढ रहस्य और सूक्ष्म क्रिया-कलाप को समझाया गया है। श्रमण के जीवन में अनेकानेक अनुकूल और प्रतिकूल प्रसंग समुपस्थित होते हैं, ऐसी विषम परिस्थिति में किस प्रकार निर्णय लेना चाहिए यह बात छेदसूत्रों में बताई गई है। आचार सम्बन्धी जैसा नियम और उपनियमों का वर्णन जैन परम्परा में छेदसूत्रों में उपलब्ध होता है वैसा ही वर्णन बौद्ध परम्परा में विनयपिटक में मिलता है और वैदिक परम्परा में के कल्पसूत्र, श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्रों में मिलता है। दिगम्बर परम्परा में भी छेदसूत्र बने थे पर आज वे उपलब्ध नहीं हैं।

छेदसूत्र का नामोल्लेख नन्दीसूत्र में नही हुआ है। "छेद सूत्र" का सबसे प्रथम प्रयोग आवश्यकनिर्युक्ति

---

१६. सम्मामिच्छाइट्ठि असंजदसम्माइट्ठि संजदासंजद (अत्र संजद इति पाठशेषः प्रतिभाति) ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ।
—षट्खण्डागम, भाग १ सूत्र ९३ पृ. ३३२, प्रका.—सेठ लक्ष्मीचंद शिताबराय जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय अमरावती (बरार) सन् १९३९

१७. एवं विधाणचरियं चरितं जे साधवो य अज्जाओ।
ते जगपुज्जं कित्ति सुहं च लद्धूण सिज्झंति॥ —मूलाचार ४/१९६, पृ. १६८

में हुआ है।[१८] उसके पश्चात् विशेषावश्यकभाष्य[१९] और निशीथभाष्य[२०] आदि में भी यह शब्द व्यवहृत हुआ है। तात्पर्य यह है कि हम आवश्यकनिर्युक्ति को यदि ज्योतिर्विद वराहमिहिर के भ्राता द्वितीय भद्रबाहु की कृति मानते हैं तो वे विक्रम की छठी शताब्दी में हुए हैं।[२१] उन्होंने इसका प्रयोग किया है। स्पष्ट है कि "छेदसुत्त" शब्द का प्रयोग "मूलसुत्त" से पहले हुआ है।

अमुक आगमों को "छेदसूत्र" यह अभिधा क्यों दी गई? इस प्रश्न का उत्तर प्राचीन ग्रन्थों में सीधा और स्पष्ट प्राप्त नहीं है। हाँ यह स्पष्ट है कि जिन सूत्रों को "छेदसुत्त" कहा गया है वे प्रायश्चित्तसूत्र हैं।

स्थानाङ्ग में श्रमणों के लिए पांच चारित्रों का उल्लेख है—

(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापनीय, (३) परिहारविशुद्धि, (४) सूक्ष्मसंपराय, (५) यथाख्यात।[२२] इनमें से वर्तमान में तीन अन्तिम चारित्र विच्छिन्न हो गये हैं। सामायिक चारित्र स्वल्पकालीन होता है, छेदोपस्थापनिक चारित्र ही जीवन पर्यन्त रहता है। प्रायश्चित्त का सम्बन्ध भी इसी चारित्र से है। संभवतः इसी चारित्र को लक्ष्य में रखकर प्रायश्चित्तसूत्रों को छेदसूत्र की संज्ञा दी गई हो।

मलयगिरि की आवश्यकवृत्ति[२३] में छेदसूत्रों के लिए पद-विभाग, समाचारी शब्द का प्रयोग हुआ है। पद-विभाग और छेद ये दोनों शब्द रखे गये हों। क्योंकि छेदसूत्रों में एक सूत्र का दूसरे सूत्र से सम्बन्ध नहीं है। सभी सूत्र स्वतंत्र हैं। उनकी व्याख्या भी छेद-दृष्टि से या विभाग-दृष्टि से की जाती है।

दशाश्रुतस्कन्ध, निशीथ, व्यवहार और बृहत्कल्प ये सूत्र नौवें प्रत्याख्यान पूर्व से उद्धृत किये गये हैं,[२४] उससे छिन्न अर्थात् पृथक् करने से उन्हें छेदसूत्र की संज्ञा दी गई हो, यह भी सम्भव है।[२५]

छेदसूत्रों को उत्तम श्रुत माना गया है। भाष्यकार भी इस कथन का समर्थन करते हैं।[२६] चूर्णिकार जिनदास महत्तर स्वयं यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि छेदसूत्र उत्तम क्यों है? फिर स्वयं ही उसका समाधान देते हैं कि छेदसूत्र में प्रायश्चित्तविधि का निरूपण है, उससे चारित्र की विशुद्धि होती है; एतदर्थ यह श्रुत उत्तम माना

---

१८. जं च महाकप्पसुयं, जाणि असेसाणि छेअसुत्ताणि। चरणकरणाणुओगो त्ति कालियत्थे उवगयाणि॥
—आवश्यकनिर्युक्ति ७७७

१९. वही —विशेषावश्यकभाष्य २२९५

२०. (क) छेदसुत्तणिसीहादी, अत्थो य गतो य छेदसुत्तादी।
मंतनिमित्तोसहिपाहुडे, य गाहेंति अण्णात्थ॥ —निशीथभाष्य ५९४७
(ख) कैनोनिकल लिटरेचर पृ. ३६ भी देखिए।

२१. जैनागमधर और प्राकृत वाङ्मय —लेखक पुण्यविजयजी, —मुनि हजारीमल स्मृतिग्रन्थ, पृ. ७१८

२२. (क) स्थानांगसूत्र ५, उद्देशक २, सूत्र ४२८
(ख) विशेषावश्यकभाष्य गा. १२६०-१२७०

२३. पदविभाग, समाचारी छेदसूत्राणि। —आवश्यकनिर्युक्ति ६६५, मलयगिरिवृत्ति

२४. कतरं सुत्तं? दसाउकप्पो ववहारो य। कतरातो उद्धृतं? उच्यते पच्चक्खाण-पुव्वाओ।
—दशाश्रुतस्कंधचूर्णि, पत्र २

२५. निशीथ १९।१७

२६. छेयसुयमुत्तमसुयं। —निशीथभाष्य, ६१४८

गया है।[1] श्रमण-जीवन की साधना का सर्वाङ्गीण विवेचन छेदसूत्रों में ही उपलब्ध होता है। साधक की क्या मर्यादा है, उसका क्या कर्त्तव्य है? इत्यादि प्रश्नों पर उनमें चिन्तन किया गया है। जीवन में से असंयम के अंश को काटकर पृथक् करना, साधना में से दोषजन्य मलिनता को निकालकर साफ करना, भूलों से बचने के लिए पूर्ण सावधान रहना, भूल हो जाने पर प्रायश्चित्त ग्रहण कर उसका परिमार्जन करना, यह सब छेदसूत्रों का कार्य है।

समाचारीशतक में समयसुन्दरगणी ने छेदसूत्रों की संख्या छह बतलाई है[2]—

(१) महानिशीथ, (२) दशाश्रुतस्कंध, (३) व्यवहार, (४) बृहत्कल्प, (५) निशीथ, (६) जीतकल्प।

जीतकल्प को छोड़कर शेष पाच सूत्रों के नाम नन्दीसूत्र में भी आये हैं।[3] जीतकल्प जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की कृति है, एतदर्थं उसे आगम की कोटि में स्थान नही दिया जा सकता। महानिशीथ का जो वर्तमान संस्करण है, वह आचार्य हरिभद्र (वि. ८ वीं शताब्दी) के द्वारा पुनरुद्धार किया हुआ है। उसका मूल सस्करण तो उसके पूर्व ही दीमकों ने उदरस्थ कर लिया गया था। अतः वर्तमान में उपलब्ध महानिशीथ भी आगम की कोटि में नही आता। इस प्रकार मौलिक छेदसूत्र चार ही हैं—(१) दशाश्रुतस्कन्ध, (२) व्यवहार, (३) बृहत्कल्प और (४) निशीथ।

निर्यूहित आगम

जैन आगमों की रचनाएं दो प्रकार से हुई हैं—(१) कृत, (२) निर्यूहित। जिन आगमों का निर्माण स्वतंत्र रूप से हुआ है वे आगम कृत कहलाते हैं। जैसे गणधरों के द्वारा द्वादशांगी की रचना की गई है और भिन्न-भिन्न स्थविरों के द्वारा उपांग साहित्य का निर्माण किया गया है, वे सब कृत आगम हैं। निर्यूहित आगम ये माने गये हैं[4]—

(१) आचारचूला (२) दशवैकालिक
(३) निशीथ (४) दशाश्रुतस्कन्ध
(५) बृहत्कल्प (६) व्यवहार
(७) उत्तराध्ययन का परीषह अध्ययन।

आचारचूला यह चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु के द्वारा निर्यूहण की गई है, यह बात आज अन्वेषणा के द्वारा स्पष्ट हो चुकी है। आचाराग से आचारचूला की रचना-शैली सर्वथा पृथक् है। उसकी रचना आचारांग के बाद हुई है। आचारांग-निर्युक्तिकार ने उसको स्थविरकृत माना है।[5] स्थविर का अर्थ चूर्णिकार ने गणधर किया है[6]

---

१. छेयसुयं कम्हा उत्तमसुत्तं? भण्णति—जम्हा एत्थं सपायच्छित्तो विधी भण्णति, जम्हा एतेणच्चरणविसुद्धं करेति, तम्हा तं उत्तमसुत्तं। —निशीथभाष्य ६१८४ की चूर्णि

२. समाचारीशतक, आगम—स्थापनाधिकार।

३. कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा—दसाओ, कप्पो, ववहारो, निसीह, महानिसीह। —नन्दीसूत्र ७७

४. आगमयुग का जैनदर्शन, पृ० २१-२२, पं० दलसुखभाई मालवणिया —प्रकाशक सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

५. थेरेहिऽणुग्गहट्ठा, सीसहिअं होउ पागडत्थं च।
आयाराओ अत्थो, आयारंगेसु पविभत्तो॥ —आचारागनिर्युक्ति गा० २८७

६. थेरे गणधरा। —आचारांगचूर्णि, पृ० ३२६

और वृत्तिकार ने चतुर्दशपूर्वी किया है[1] किन्तु उनमें स्थविर का नाम नहीं आया है। विज्ञों का अभिमत है कि यहाँ पर स्थविर शब्द का प्रयोग चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु के लिए ही हुआ है।

आचारांग के गम्भीर अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए "आचारचूला" का निर्माण हुआ है। निर्युक्तिकार ने पांचों चूलाओं के निर्यूहणस्थलों का संकेत किया है।[2]

दशवैकालिक चतुर्दशपूर्वी शय्यंभव के द्वारा विभिन्न पूर्वों से निर्यूहण किया गया है। जैसे—चतुर्थ अध्ययन आत्मप्रवाद पूर्व से, पंचम अध्ययन कर्मप्रवाद पूर्व से, सप्तम अध्ययन सत्यप्रवाद पूर्व से और शेष अध्ययन प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु से उद्धृत किये गये हैं।[3]

द्वितीय अभिमतानुसार दशवैकालिक गणिपिटक द्वादशांगी से उद्धृत है।[4]

निशीथ का निर्यूहण प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व से हुआ है। प्रत्याख्यान पूर्व के बीस वस्तु अर्थात् अर्थाधिकार हैं। तृतीय वस्तु का नाम आचार है। उसके भी बीस प्राभृतच्छेद अर्थात् उपविभाग हैं। बीसवें प्राभृतच्छेद से निशीथ का निर्यूहण किया गया है।[5]

पंचकल्पचूर्णि के अनुसार निशीथ के निर्यूहक भद्रबाहुस्वामी हैं।[6] इस मत का समर्थन आगमप्रभावक मुनिश्री पुण्यविजयजी ने भी किया है।[7]

---

१. "स्थविरैः" श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्‌भिः।

२. बिइअस्स य पंचमए, अट्ठमगस्स बिइयंमि उद्देसे।
भणिओ पिंडो सिज्जा, वत्थं पाउग्गहो चेव॥
पंचमगस्स चउत्थे इरिया, वण्णिज्जई समासेणं।
छट्ठस्स य पंचमए, भासज्जायं वियाणाहि॥
सत्तिक्कगाणि सत्तवि, निज्जूढाइं महापरिन्नाओ।
सत्थपरिन्ना भावण, निज्जूढाओ धुयविमुत्ती॥
आयारपकप्पो पुण, पच्चक्खाणस्स तइयवत्थूओ।
आयारनामधिज्जा, वीसइमा पाहुडच्छेया॥
—आचारांगनिर्युक्ति गा० २८८-२९१

३. आयप्पवाय पुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नती।
कम्मप्पवाय पुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविधा॥
सच्चप्पवाय पुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ। —दशवैकालिकनिर्युक्ति गा० १६-१७

४. बीओऽवि अ आएसो, गणिपिडगाओ दुवालसंगाओ।
एअं किर णिज्जूढं मणगस्स अणुग्गहट्ठाए॥ —दशवैकालिकनिर्युक्ति गा. १८

५. णिसीहं णवमा पुव्वा पच्चक्खाणस्स ततियवत्थूओ।
आयार नामधेज्जा, वीसतिमा पाहुडच्छेदा॥ —निशीथभाष्य ६५००

६. तेण भगवता आयारपकप्प-दसा-कप्प-ववहारा य नवमपुव्वनीसंदभूता निज्जूढा।
—पंचकल्पचूर्णि, पत्र १ (लिखित)

७. बृहत्कल्पसूत्र, भाग ६, प्रस्तावना पृ. ३

दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार, ये तीनों आगम चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहुस्वामी के द्वारा प्रत्याख्यान-पूर्व से निर्यूढ हैं।[1]

दशाश्रुतस्कन्ध की निर्युक्ति के मन्तव्यानुसार वर्तमान में उपलब्ध दशाश्रुतस्कंध अंगप्रविष्ट आगमों में जो दशाएं प्राप्त हैं, उनसे लघु हैं। इनका निर्यूहण शिष्यों के अनुग्रहार्थ स्थविरों ने किया था। चूर्णि[2] के अनुसार स्थविर का नाम भद्रबाहु है।[3]

उत्तराध्ययन का दूसरा अध्ययन भी अंग-प्रभव माना जाता है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु के मतानुसार वह कर्मप्रवादपूर्व के सत्रहवें प्राभृत से उद्धृत है।[4]

इनके अतिरिक्त आगमेतर साहित्य में विशेषतः कर्मसाहित्य का बहुत-सा भाग पूर्वोद्धृत माना जाता है।

निर्यूहित कृतियों के सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण करना आवश्यक है कि उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर हैं, सूत्र के रचयिता गणधर हैं और जो संक्षेप में उसका वर्तमान रूप उपलब्ध है उसके कर्ता वही हैं जिन पर जिनका नाम अंकित या प्रसिद्ध है। जैसे दशवैकालिक के शय्यंभव; कल्प, व्यवहार, निशीथ और दशाश्रुतस्कंध के रचयिता भद्रबाहु हैं।

जैन अंग-साहित्य की संख्या के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर[5] सभी एकमत हैं। सभी अंगों को बारह स्वीकार करते हैं। परन्तु अंगबाह्य आगमों की संख्या के सम्बन्ध में यह बात नहीं है, उनके विभिन्न मत हैं। यही कारण है कि आगमों की संख्या कितने ही ८४ मानते हैं, कोई-कोई ४५ मानते हैं और कितने ही ३२ मानते हैं।

नन्दीसूत्र में आगमों की जो सूची दी गई है, वे सभी आगम वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज मूल आगमों के साथ कुछ निर्युक्तियों को मिलाकर ४५ आगम मानता है और कोई ८४ मानते हैं। स्थानकवासी और तेरापंथी परम्परा बत्तीस को ही प्रमाणभूत मानती है। दिगम्बर समाज की मान्यता है कि सभी आगम विच्छिन्न हो गये हैं।

---

१. वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरिय सयलसुयणाणिं। सो सुत्तस्स कारगमिसं (णं) दसासु कप्पे य ववहारे।
—दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति गा. १, पत्र १

२. डहरीओ उ इमाओ, अज्झयणेसु महईओ अंगेसु।
छसु नायादीएसुं, वत्थविभूसावसाणमिव॥
डहरीओ उ इमाओ, निज्जूढाओ अणुग्गहट्ठाए।
थरेहिं तु दसाओ, जो दसा जाणओ जीवो॥
—दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति ५-६

३. दशाश्रुतस्कंधचूर्णि।

४. कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुडंमि जं सुत्तं।
सणयं सोदाहरणं तं चेव इहंपि णायव्वं॥
—उत्तराध्ययननिर्युक्ति गा. ६९

५. (क) तत्त्वार्थसूत्र १-२०, श्रुतसागरीय वृत्ति।
(ख) षट्खण्डागम (धवला टीका) खण्ड १, पृ. ६ बारह अंगविज्झा।

दशाश्रुतस्कन्ध

दशाश्रुतस्कंध छेदसूत्र है। छेदसूत्र के दो कार्य हैं—दोषों से बचाना और प्रमादवश लगे हुए दोषों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का विधान करना। इसमें दोषों से बचने का विधान है। ठाणांग में इसका अपरनाम आचारदशा प्राप्त होता है। दशाश्रुतस्कंध में दश अध्ययन हैं, इसलिए इसका नाम दशाश्रुतस्कंध है। दशाश्रुतस्कंध का १८३० अनुष्टुप श्लोक प्रमाण उपलब्ध पाठ है। २१६ गद्यसूत्र है। ५२ पद्यसूत्र हैं।

प्रथम उद्देशक में २० असमाधिस्थानों का वर्णन है। जिस सत्कार्य के करने से चित्त में शांति हो, आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्षमार्ग में रहे, वह समाधि है और जिस कार्य से चित्त में अप्रशस्त एवं अशान्त भाव हों, ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि मोक्षमार्ग से आत्मा भ्रष्ट हो, वह असमाधि है। असमाधि के बीस प्रकार हैं। जैसे—जल्दी-जल्दी चलना, बिना पूंजे रात्रि में चलना, बिना उपयोग सब दैहिक कार्य करना, गुरुजनों का अपमान, निन्दा आदि करना। इन कार्यों के आचरण से स्वयं व अन्य जीवों को असमाधिभाव उत्पन्न होता है। साधक की आत्मा दूषित होती है। उसका पवित्र चारित्र मलिन होता है। अतः उसे असमाधिस्थान कहा है।[1]

द्वितीय उद्देशक में २१ शबल दोषों का वर्णन किया गया है, जिन कार्यों के करने से चारित्र की निर्मलता नष्ट हो जाती है। चारित्र मलविलिप्त होने से वह कर्बुर हो जाता है। इसलिए उन्हें शबलदोष कहते हैं।[2] "शबलं कर्बुरं चित्रम्" शबल का अर्थ चित्रवर्णा है। हस्तमैथुन, स्त्री-स्पर्श आदि, रात्रि में भोजन लेना और करना, आधाकर्मी, औद्देशिक आहार का लेना, प्रत्याख्यानभंग, मायास्थान का सेवन करना आदि-आदि ये शबल दोष हैं। उत्तरगुणों में अतिक्रमादि चार दोषों का एवं मूलगुणों में अनाचार के अतिरिक्त तीन दोषों का सेवन करने से चारित्र शबल होता है।

तीसरे उद्देशक में ३३ प्रकार की आशातनाओं का वर्णन है। जैनाचार्यों ने आशातना शब्द की निरुक्ति अत्यन्त सुन्दर की है। सम्यग्दर्शनादि आध्यात्मिक गुणों की प्राप्ति को आय कहते हैं और शातना का अर्थ खण्डन है। सद्गुरुदेव आदि महान् पुरुषों का अपमान करने से सम्यग्दर्शनादि सद्गुणों की आशातना-खण्डना होती है।[3]

शिष्य का गुरु के आगे, समश्रेणी में, अत्यन्त समीप में गमन करना, खड़ा होना, बैठना आदि, गुरु से पूर्व किसी से सम्भाषण करना, गुरु के वचनों की जानकर अवहेलना करना, भिक्षा से लौटने पर आलोचना न करना, आदि-आदि आशातना के तेतीस प्रकार हैं।

चतुर्थ उद्देशक में ८ प्रकार की गणिसम्पदाओं का वर्णन है। श्रमणों के समुदाय को गण कहते हैं। गण का अधिपति गणी होता है। गणिसम्पदा के आठ प्रकार हैं—आचारसम्पदा, श्रुतसम्पदा, शरीरसम्पदा, वचनसम्पदा, वाचनासम्पदा, मतिसम्पदा, प्रयोगमतिसम्पदा और संग्रहपरिज्ञानसम्पदा।

आचारसम्पदा के संयम में ध्रुवयोगयुक्त होना, अहंकाररहित होना, अनियतवृत्ति होना, वृद्धस्वभावी (अचंचलस्वभावी)—ये चार प्रकार हैं।

---

१. समाधानं समाधिः—चेतसः स्वास्थ्यं, मोक्षमार्गेऽवस्थितिरित्यर्थः न समाधिरसमाधिस्तस्य स्थानानि—आश्रया भेदाः पर्याया असमाधि-स्थानानि। —आचार्य हरिभद्र

२. शबलं—कर्बुरं चारित्रं यैः क्रियाविशेषैर्भवन्ति ते शबलास्तद्योगात्साधवोऽपि। —अभयदेवकृत समवायांगटीका

३. आयः—सम्यग्दर्शनाद्यवाप्तिलक्षणस्तस्य शातना-खण्डना निरुक्तादाशातना। —आचार्य अभयदेवकृत समवायांगटीका

प्रतिमाधारक श्रावक प्रतिमा की पूर्ति के पश्चात् संयम ग्रहण कर लेता है ऐसा कुछ आचार्यों का अभिमत है। कार्तिक सेठ ने १०० बार प्रतिमा ग्रहण की थी ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है।

सातवें उद्देशक में श्रमण की प्रतिमाओं का वर्णन है। ये भिक्षुप्रतिमाएं १२ हैं।

प्रथम प्रतिमाधारी भिक्षु को एक दत्ति अन्न की और एक दत्ति पानी की लेना कल्पता है। श्रमण के पात्र में दाता द्वारा दिये जाने वाले अन्न और जल की धारा जब तक अखण्ड बनी रहती है, उसे दत्ति कहते हैं। जहाँ एक व्यक्ति के लिए भोजन बना हो वहाँ से लेना कल्पता है। जहाँ दो, तीन या अधिक व्यक्तियों के लिए बना हो वहाँ से नहीं ले सकता। इसका समय एक मास का है। दूसरी प्रतिमा भी एक मास की है। उसमें दो दत्ति आहार की और दो दत्ति पानी की ली जाती हैं। इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पांचवी, छठी और सातवी प्रतिमाओं में क्रमशः तीन, चार, पांच, छह और सात दत्ति अन्न की और उतनी ही दत्ति पानी की ग्रहण की जाती हैं। प्रत्येक प्रतिमा का समय एक-एक मास है। केवल दत्तियों की वृद्धि के कारण ही द्विमासिक से सप्तमासिक क्रमशः कहलाती है।

आठवीं प्रतिमा सात दिन-रात की होती है। इसमें एकान्तर चौविहार उपवास करना होता है। गाँव के बाहर आकाश की ओर मुंह करके सीधा देखना, एक करवट से लेटना और निषद्यासन (पैरों को बराबर करके) बैठना, उपसर्ग आने पर शान्तचित्त से सहन करना होता है।

नौवीं प्रतिमा भी सात रात्रि की होती है। इसमें चौविहार बेले-बेले पारणा किया जाता है। गाव के बाहर एकान्त स्थान में दण्डासन, लगुडासन या उत्कटुकासन करके ध्यान किया जाता है।

दसवीं प्रतिमा भी सात रात्रि की होती है। इसमें चौविहार तेले-तेले पारणा किया जाता है। गांव के बाहर गोदोहासन, वीरासन और आम्रकुब्जासन से ध्यान किया जाता है।

ग्यारहवीं प्रतिमा एक अहोरात्रि की होती है। आठ प्रहर तक इसकी साधना की जाती है। चौविहार बेला इसमें किया जाता है। नगर के बाहर दोनों हाथों को घुटनों की ओर लम्बा करके दण्ड की तरह खड़े रहकर कायोत्सर्ग किया जाता है।

बारहवीं प्रतिमा केवल एक रात्रि की है। इसका आराधन तेले से किया जाता है। गाव के बाहर श्मशान में खड़े होकर मस्तक को थोड़ा झुकाकर किसी एक पुद्गल पर दृष्टि रखकर निनिमेष नेत्रों से निश्चलता पूर्वक कायोत्सर्ग किया जाता है। उपसर्ग आने पर समभाव से सहन किया जाता है।

इन प्रतिमाओं में स्थित श्रमण के लिए अनेक विधान भी किये हैं। जैसे—कोई व्यक्ति प्रतिमाधारी निर्ग्रन्थ है तो उसे भिक्षाकाल को तीन विभाग में विभाजित करके भिक्षा लेनी चाहिये—आदि, मध्य और चरम। यदि आदि भाग में भिक्षा के लिए जाने पर मध्य और चरम भाग में नहीं जाना चाहिये। मासिकी प्रतिमा में स्थित श्रमण जहाँ कोई जानता हो वहाँ एक रात रह सकता है। जहाँ उसे कोई भी नहीं जानता वहाँ वह दो रात रह सकता है। इससे अधिक रहने पर उतने ही दिन का छेद अथवा तप प्रायश्चित्त लगता है। इसी प्रकार और भी कठोर अनुशासन का विधान लगाया जा सकता है। जैसे कोई उपाश्रय में आग लगा दे तो भी उसे नहीं जाना चाहिए। यदि कोई पकड़कर उसे बाहर खींचने का प्रयत्न करे तो उसे हठ न करते हुए सावधानीपूर्वक बाहर निकल जाना चाहिए। इसी तरह सामने यदि मदोन्मत्त हाथी, घोड़ा, बैल, कुत्ता, व्याघ्र आदि आ जाएं तो भी उसे उनसे डरकर एक कदम भी पीछे नहीं हटना चाहिये। शीतलता तथा उष्णता के परीषह को धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिये।

आठवें उद्देशक (दशा) में पर्युषणा कल्प का वर्णन है। पर्युषण शब्द "परि" उपसर्ग पूर्वक वस् धातु से

"अन:" प्रत्यय लगकर बना है। इसका अर्थ है, आत्ममज्जन, आत्मरमण या आत्मस्थ होना। पर्युषणकल्प का दूसरा अर्थ है एक स्थान पर निवास करना। वह सालंबन या निरावलंबन रूप दो प्रकार का है। सालंबन का अर्थ है सकारण और निरावलंबन का अर्थ है कारणरहित। निरावलवन के जघन्य और उत्कृष्ट दो भेद हैं।

पर्युषणा के पर्यायवाची शब्द इस प्रकार हैं—(१) परियाय वत्थवणा, (२) पज्जोसमणा, (३) पागइया, (४) परिवसना, (५) पज्जुसणा, (६) वासावास, (७) पढमसमोसरण, (८) ठवणा और (९) जेट्ठोग्गह।

ये सभी नाम एकार्थक हैं, तथापि व्युत्पत्ति-भेद के आधार पर किंचित् अर्थभेद भी है और यह अर्थभेद पर्युषणा से सम्बन्धित विविध परम्पराओं एवं उस नियत काल में की जाने वाली क्रियाओं का महत्वपूर्ण निदर्शन कराता है। इन अर्थों से कुछ ऐतिहासिक तथ्य भी व्यक्त होते हैं। पर्युषणा काल के आधार से कालगणना करके दीक्षापर्याय की ज्येष्ठता व कनिष्ठता गिनी जाती है। पर्युषणाकाल एक प्रकार का वर्षमान गिना जाता है। अत: पर्युषणा को दीक्षापर्याय की अवस्था का कारण माना है। वर्षावास में भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सम्बन्धी कुछ विशेष क्रियाओं का आचरण किया जाता है अतः पर्युषणा का दूसरा नाम पज्जोसमणा है।

तीसरा, गृहस्थ आदि के लिए समानभावेन आराधनीय होने से यह "पागइया" यानि प्राकृतिक कहलाता है।

इस नियत अवधि में साधक आत्मा के अधिक निकट रहने का प्रयत्न करता है अतः वह परिवसना भी कहा जाता है। पर्युषणा का अर्थ सेवा भी है। इस काल में साधक आत्मा के ज्ञानदर्शनादि गुणों की सेवा उपासना करता है अतः उसे पज्जुसणा कहते हैं।

इस कल्प में श्रमण एक स्थान पर चार मास तक निवास करता है अतएव इसे वासावास—वर्षावास कहा गया है।

कोई विशेष कारण न हो तो प्रावृट् (वर्षा) काल में ही चातुर्मास करने योग्य क्षेत्र में प्रवेश किया जाता है अतः इसे प्रथमसमवसरण कहते हैं।

ऋतुबद्धकाल की अपेक्षा से इसकी मर्यादाएं भिन्न-भिन्न होती हैं। अतएव यह ठवणा (स्थापना) है।

ऋतुबद्धकाल में एक-एक मास का क्षेत्रावग्रह होता है किन्तु वर्षाकाल में चार मास का होता है अतएव इसे जेट्ठोग्गह (ज्येष्ठावग्रह) कहा है।

अगर साधु आषाढी पूर्णिमा तक नियत स्थान पर आ पहुंचा हो और वर्षावास की घोषणा कर दी हो तो श्रावण कृष्णा पंचमी से ही वर्षावास प्रारम्भ हो जाता है। उपर्युक्त क्षेत्र न मिलने पर श्रावण कृष्णा दशमी को, फिर भी योग्य क्षेत्र की प्राप्ति न हो तो श्रावण कृष्णा पंचदशमी—अमावस्या को वर्षावास प्रारम्भ करना चाहिए। इतने पर भी योग्य क्षेत्र न मिले तो पांच-पांच दिन बढ़ाते हुए अन्ततः भाद्रपद शुक्ला पंचमी तक तो वर्षावास प्रारम्भ कर देना अनिवार्य माना गया है। इस समय तक भी उपयुक्त क्षेत्र प्राप्त न हो तो वृक्ष के नीचे ही पर्युषणाकल्प करना चाहिए। पर इस तिथि का किसी भी परिस्थिति में उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

वर्तमान में जो पर्युषणा कल्पसूत्र है, वह दशाश्रुतस्कन्ध का ही आठवां अध्ययन है। दशाश्रुतस्कन्ध की प्राचीनतम प्रतिमा, जो चौदहवीं शताब्दी से पूर्व की हैं, उनमें आठवें अध्ययन में पूर्ण कल्पसूत्र आया है। जो यह स्पष्ट प्रमाणित करता है कि कल्पसूत्र स्वतन्त्र रचना नहीं किन्तु दशाश्रुतस्कन्ध का ही आठवां अध्ययन है।

दूसरी बात दशाश्रुतस्कन्ध पर जो द्वितीय भद्रबाहु की निर्युक्ति है, जिनका समय विक्रम की छठी शताब्दी है, उसमें और उस निर्युक्ति के आधार से निर्मित प्रचलित है, उसके पदों की व्याख्या मिलती है। मुनि श्री पुण्यविजयजी का अभिमत है कि दशाश्रुतस्कन्ध की चूर्णि लगभग सोलह सौ वर्ष पुरानी है।

कल्पसूत्र के पहले सूत्र में "तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे..................और अंतिम सूत्र में ....भुज्जो भुज्जो उवदंसेइ" पाठ है। वही पाठ दशाश्रुतस्कन्ध के आठवें उद्देशक [दशा] में है। यहां पर शेष पाठ को "जाव" शब्द के अन्तर्गत संक्षेप कर दिया है। वर्तमान में जो पाठ उपलब्ध है उसमें केवल पंचकल्याणक का ही निरूपण है, जिसका पर्युषणाकल्प के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः स्पष्ट है कि पर्युषणाकल्प इस अध्ययन में पूर्ण कल्पसूत्र था। कल्पसूत्र और दशाश्रुतस्कन्ध इन दोनों के रचयिता भद्रबाहु हैं। इसलिए दोनों एक ही रचनाकार की रचना होने से यह कहा जा सकता है कि कल्पसूत्र दशाश्रुतस्कन्ध का आठवां अध्ययन ही है। वृत्ति, चूर्णि, पृथ्वीचंदटिप्पण और अन्य कल्पसूत्र की टीकाओं में यह स्पष्ट प्रमाणित है।

नौवें उद्देशक में ३० महामोहनीय स्थानों का वर्णन है। आत्मा को आवृत करने वाले पुद्गल कर्म कहलाते हैं। मोहनीयकर्म उन सब में प्रमुख है। मोहनीयकर्मबंध के कारणों की कोई मर्यादा नहीं है, तथापि शास्त्रकार ने मोहनीय कर्मबंध के हेतुभूत कारणों के तीस भेदों का उल्लेख किया है। उनमें दुरध्यवसाय की तीव्रता और क्रूरता इतनी मात्रा में होती है कि कभी कभी महामोहनीयकर्म का बन्ध हो जाता है जिससे आत्मा ७० कोटा-कोटि सागरोपम तक संसार में परिभ्रमण करता है। आचार्य हरिभद्र तथा जिनदासगणी महत्तर केवल मोहनीय शब्द का प्रयोग करते हैं। उत्तराध्ययन, समवायांग और दशाश्रुतस्कन्ध में भी मोहनीयस्थान कहा है।[1] किन्तु भेदों के उल्लेख में "महामोहं पकुव्वइ" शब्द का प्रयोग हुआ है। वे स्थान जैसे कि त्रस जीवों को पानी में डुबाकर मारना, उनको श्वास आदि रोक कर मारना, मस्तक पर गीला चमड़ा आदि बांधकर मारना, गुप्तरीति से अनाचार का सेवन करना, मिथ्या कलंक लगाना, बालब्रह्मचारी न होते हुए भी बालब्रह्मचारी कहलाना, केवलज्ञानी की निन्दा करना, बहुश्रुत न होते हुए भी बहुश्रुत कहलाना, जादू-टोना आदि करना, कामोत्पादक विकथाओं का बार-बार प्रयोग करना आदि हैं।

दसवें उद्देशक [दशा] का नाम "आयातिस्थान" है। इसमें विभिन्न निदानों का वर्णन है। निदान का अर्थ है—मोह के प्रभाव से कामादि इच्छाओं की उत्पत्ति के कारण होने वाला इच्छापूर्तिमूलक संकल्प। जब मानव के अन्तर्मानस में मोह के प्रबल प्रभाव से वासनाएं उद्भूत होती है तब वह उनकी पूर्ति के लिए दृढ़ संकल्प करता है। यह संकल्पविशेष ही निदान है। निदान के कारण मानव की इच्छाएं भविष्य में भी निरन्तर बनी रहती हैं जिससे वह जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त नहीं हो पाता। भविष्यकालीन जन्म-मरण की दृष्टि से प्रस्तुत उद्देशक का नाम आयतिस्थान रखा गया है। आयति का अर्थ जन्म या जाति है। निदान का कारण होने से आयतिस्थान माना गया है। दूसरे शब्दों में कहें तो आयति में से "ति" पृथक् कर देने पर "आय" अवशिष्ट रहता है। आय का अर्थ लाभ है। जिस निदान से जन्म-मरण का लाभ होता है उसका नाम आयति है।

इस दशा में वर्णन है कि भगवान् महावीर राजगृह पधारे। राजा श्रेणिक व महारानी चेलना भगवान् के वन्दन हेतु पहुँचे। राजा श्रेणिक के दिव्य व भव्य रूप और महान् समृद्धि को निहार कर श्रमण सोचने लगे—श्रेणिक तो साक्षात् देवतुल्य प्रतीत हो रहा है। यदि हमारे तप, नियम और संयम आदि का फल हो तो हम भी

1. तीसं मोह-ट्ठाणाइं-अभिक्खणं-अभिक्खणं आयारेमाणे वा समायारेमाणे वा मोहणिज्जत्ताए कम्मं पकरेई।
—दशाश्रुतस्कन्ध, पृ. ३२१—उपा. आत्मारामजी महाराज

इस जैसे बनें। महारानी चेलना के सुन्दर सलौने रूप व ऐश्वर्य को देखकर श्रमणियों के अन्तर्मानस में यह संकल्प हुआ कि हमारी साधना का फल हो तो हम आगामी जन्म में चेलना जैसी बनें। अन्तर्यामी महावीर ने उनके संकल्प को जान लिया और श्रमण-श्रमणियों से पूछा कि क्या तुम्हारे मन में इस प्रकार का संकल्प हुआ है? उन्होंने स्वीकृति सूचक उत्तर दिया—"हां, भगवन्! यह बात सत्य है।" भगवान् ने कहा—"निर्ग्रन्थ-प्रवचन सर्वोत्तम है, परिपूर्ण है, सम्पूर्ण कर्मों को क्षीण करने वाला है। जो श्रमण या श्रमणियां इस प्रकार धर्म से विमुख होकर ऐश्वर्य आदि को देखकर लुभा जाते हैं और निदान करते हैं वे यदि बिना प्रायश्चित्त किए आयु पूर्ण करते हैं तो देवलोक में उत्पन्न होते हैं और वहां से वे मानवलोक में पुनः जन्म लेते हैं। निदान के कारण उन्हें केवली धर्म की प्राप्ति नहीं होती। वे सदा सांसारिक विषयों में ही मुग्ध बने रहते हैं।" शास्त्रकार ने ९ प्रकार के निदानों का वर्णन कर यह बताया कि निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सब कर्मों से मुक्ति दिलाने वाला एकमात्र साधन है। अतः निदान नहीं करना चाहिए और किया हो तो आलोचना—प्रायश्चित्त करके मुक्त हो जाना चाहिए।

उपसंहार

इस प्रकार प्रस्तुत आगम में भगवान् महावीर की जीवनी विस्तार से आठवीं दशा में मिलती है। चित्त-समाधि एवं धर्मचिन्ता का सुन्दर वर्णन है। उपासकप्रतिमाओं व भिक्षुप्रतिमाओं के भेद-प्रभेदों का भी वर्णन है।

बृहत्कल्प

बृहत्कल्प का छेदसूत्रों में गौरवपूर्ण स्थान है। अन्य छेदसूत्रों की तरह इस सूत्र में भी श्रमणों के आचार-विषयक विधि-निषेध, उत्सर्ग-अपवाद, तप, प्रायश्चित्त आदि पर चिन्तन किया गया है। इसमें छह उद्देशक हैं, ८१ अधिकार हैं, ४७३ श्लोकप्रमाण उपलब्ध मूलपाठ है। २०६ सूत्रसंख्या है।

प्रथम उद्देशक में ५० सूत्र है। पहले के पाच सूत्र तालप्रलंब विषयक है। निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के लिए ताल एव प्रलंब ग्रहण करने का निषेध है। इसमें अखण्ड एवं अपक्व तालफल व तालमूल ग्रहण नही करना चाहिए किन्तु विदारित, पक्व ताल प्रलब लेना कल्प्य है, ऐसा प्रतिपादित किया गया है, आदि-आदि।

मासकल्प विषयक नियम में श्रमणों के ऋतुबद्धकाल—हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु के ८ महिनो मे एक स्थान पर रहने के अधिकतम समय का विधान किया है। श्रमणों को सपरिक्षेप अर्थात् सप्राचीर एवं प्राचीर से बाहर निम्नोक्त १६ प्रकार के स्थानों में वर्षाऋतु के अतिरिक्त अन्य समय में एक साथ एक मास से अधिक ठहरना नही कल्पता।

१. ग्राम [जहां राज्य की ओर से १८ प्रकार के कर लिये जाते हों]
२. नगर [जहा १८ प्रकार के कर न लिए जाते हों]
३. खेट [जिसके चारों ओर मिट्टी की दीवार हो]
४. कर्बट [जहां कम लोग रहते हो]
५. मडम्ब [जिसके बाद ढाई कोस तक कोई गांव न हो]

६. पत्तन [जहां सब वस्तुएं उपलब्ध हों]

७. आकर [जहां सब वस्तुएं उपलब्ध हों]

८. द्रोणमुख [जहां जल और स्थल को मिलाने वाला मार्ग हो, जहां समुद्री माल आकर उतरता हो]

९. निगम [जहां व्यापारियों की वसति हो]

१०. राजधानी [जहां राजा के रहने के महल आदि हों]

११. आश्रम [जहां तपस्वी आदि रहते हों]

१२. निवेश सन्निवेश [जहां सार्थवाह आकर उतरते हों]

१३. सम्बाध-संवाह [जहां कृषक रहते हों अथवा अन्य गांव के लोग अपने गांव से धन आदि की रक्षा के निमित्त पर्वत, गुफा आदि में आकर ठहरे हुए हों]

१४. घोष [जहां गाय आदि चराने वाले गूजर लोग-ग्वाले रहते हों]

१५. अंशिका [गांव का अर्ध, तृतीय अथवा चतुर्थ भाग]

१६. पुटभेदन [जहां पर गांव के व्यापारी अपनी चीजें बेचने आते हों]

नगर की प्राचीर के अन्दर और बाहर एक-एक मास तक रह सकते हैं। अन्दर रहते समय भिक्षा अन्दर से लेनी चाहिए और बाहर रहते समय बाहर से। श्रमणियां दो मास अन्दर और दो मास बाहर रह सकती हैं। जिस प्राचीर का एक ही द्वार हो वहां निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को एक साथ रहने का निषेध किया है, पर अनेक द्वार हों तो रह सकते हैं।

जिस उपाश्रय के चारों ओर अनेक दुकानें हों, अनेक द्वार हों वहां साध्वियों को नहीं रहना चाहिए किन्तु साधु यतनापूर्वक रह सकता है। जो स्थान पूर्ण रूप से खुला हो, द्वार न हों वहां पर साध्वियों को रहना नहीं कल्पता। यदि अपवादरूप में उपाश्रय-स्थान न मिले तो परदा लगाकर रह सकती हैं। निर्ग्रन्थों के लिए खुले स्थान पर भी रहना कल्पता है। निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को कपड़े की मच्छरदानी [चिलिमिलिका] रखने व उपयोग करने की अनुमति प्रदान की गई है।

निर्ग्रन्थ व निर्ग्रन्थियों को जलाशय के सन्निकट खड़े रहना, बैठना, लेटना, सोना, खाना-पीना, स्वाध्याय आदि करना नहीं कल्पता।

जहां पर विकारोत्पादक चित्र हों वहां पर श्रमण-श्रमणियों को रहना नहीं कल्पता।

मकान मालिक की बिना अनुमति के रहना नहीं कल्पता। जिस मकान के मध्य में होकर रास्ता हो—जहां गृहस्थ रहते हों, वहां श्रमण-श्रमणियों को नहीं रहना चाहिए।

किसी श्रमण का आचार्य, उपाध्याय, श्रमण या श्रमणी से परस्पर कलह हो गया हो, परस्पर क्षमायाचना करनी चाहिए। जो शांत होता है वह आराधक है। श्रमणधर्म का सार उपशम है—"उवसमसारं सामण्णं"।

वर्षावास में विहार का निषेध है किन्तु हेमन्त व ग्रीष्म ऋतु में विहार का विधान है। जो प्रतिकूल क्षेत्र हो वहां निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को बार-बार विचरना निषिद्ध है। क्योंकि संयम की विराधना होने की सम्भावना है। इसलिए प्रायश्चित्त का विधान है।

गृहस्थ के यहां भिक्षा के लिए या शौचादि के लिए श्रमण बाहर जाय उस समय यदि कोई गृहस्थ वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि देना चाहे तो आचार्य की अनुमति प्राप्त होने पर उसे लेना रखना चाहिए। वैसे ही श्रमणी के लिए प्रवर्तिनी की आज्ञा आवश्यक है।

श्रमण-श्रमणियों के लिए रात्रि के समय या असमय में आहारादि ग्रहण करने का निषेध किया गया है। इसी तरह वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण ग्रहण का निषेध है। अपवादरूप में यदि तस्कर श्रमण-श्रमणियों के वस्त्र चुराकर ले गया हो और वे पुनः प्राप्त हो गये हो तो रात्रि में ले सकते है। यदि वे वस्त्र तस्करों ने पहने हों, स्वच्छ किये हों, रंगे हों या धूपादि सुगन्धित पदार्थों से वासित किये हों तो भी ग्रहण कर सकते हैं।

निर्ग्रन्थ व निर्ग्रन्थियों को रात्रि के समय या विकाल में विहार का निषेध किया गया है। यदि उच्चार-भूमि आदि के लिए अपवाद रूप में जाना ही पड़े तो अकेला न जाय किन्तु साधुओं को साथ लेकर जाय।

निर्ग्रन्थ व निर्ग्रन्थियों के विहार क्षेत्र की मर्यादा पर चिन्तन किया गया है। पूर्व में अंगदेश एवं मगधदेश तक, दक्षिण में कौसाम्बी तक, पश्चिम में स्थूणा तक व उत्तर में कुणाला तक—ये आर्यक्षेत्र हैं। आर्यक्षेत्र में विचरने से ज्ञान-दर्शन की वृद्धि होती है। यदि अनार्यक्षेत्र में जाने पर रत्नत्रय की हानि की सम्भावना न हो तो जा सकते हैं।

द्वितीय उद्देशक में उपाश्रय विषयक १२ सूत्रों में बताया है कि जिस उपाश्रय में शाली, व्रीहि, मूंग, उड़द आदि बिखरे पड़े हों वहां पर श्रमण-श्रमणियों को किंचित् समय भी न रहना चाहिए किन्तु एक स्थान पर ढेर रूप में पड़े हुए हों तो वहां हेमन्त व ग्रीष्म ऋतु में रहना कल्पता है। यदि कोष्ठागार आदि में सुरक्षित रखे हुए हों तो वर्षावास में भी रहना कल्पता है।

जिस स्थान पर सुराविकट, सौवीरविकट आदि रखे हो वहाँ किंचित् समय भी साधु-साध्वियों को नहीं रहना चाहिए।[1] यदि कारणवशात् अन्वेषणा करने पर भी अन्य स्थान उपलब्ध न हो तो श्रमण दो रात्रि रह सकता है, अधिक नहीं। अधिक रहने पर छेद या परिहार का प्रायश्चित्त आता है।[2]

इसी तरह शीतोदकविकटकुंभ, उष्णोदकविकटकुंभ, ज्योति, दीपक आदि से युक्त उपाश्रय में नही रहना चाहिए।

इसी तरह एक या अनेक मकान के अधिपति से आहारादि नहीं लेना चाहिए। यदि एक मुख्य हो तो उसके अतिरिक्त शेष के यहां से ले सकते हैं। यहां पर शय्यातर मुख्य है जिसकी आज्ञा ग्रहण की है। शय्यातर के विविध पहलुओं पर चिन्तन किया गया है।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को जांगिक, भांगिक, सानक, पोतक और तिरिटपट्टक ये पांच[3] प्रकार से वस्त्र लेना

---

१. सुराविकटं पिष्टनिष्पन्नम् सौवीरविकटं तु पिष्टवर्जैर्गुडादिद्रव्यैर्निष्पन्नम्।

—क्षेमकीर्तिकृत वृत्ति, पृष्ठ १०९५२

२. "छेदो वा" पंचरात्रिन्दिवादिः "परिहारो वा" मासलघुकादिस्तपोविशेषो भवतीति सूत्रार्थः। —वही

३. जंगमाः त्रसाः तदवयवनिष्पन्नं जांगमिकम्, भंगा अतसी तन्मयं भांगिकम्, सनसूत्रमयं सानकम्, पोतकं कार्पासिकम् तिरीटः वृक्षविशेषस्तस्य यः पट्टो वल्कल क्षणस्तन्निष्पन्नं तिरीटपट्टकं ना पंचमम्।

—उ० २, सू० २४

कल्पता है और औणिक, औष्ट्रिक, सानक, वच्चकचिप्पक, मुंजचिप्पक ये पांच प्रकार के[1] रजोहरण रखना कल्पता है।

तृतीय उद्देशक में निर्ग्रन्थों को निर्ग्रन्थियों के उपाश्रय में बैठना, सोना, खाना, पीना, स्वाध्याय, ध्यान कायोत्सर्ग करना नहीं कल्पता। इसी प्रकार निर्ग्रन्थियों को निर्ग्रन्थों के उपाश्रय आदि में बैठना, खाना, पीना आदि नहीं कल्पता। आगे के चार सूत्रों में चर्म विषयक, उपभोग आदि के सम्बन्ध में कल्पाकल्प की चर्चा है।

वस्त्र के सम्बन्ध में कहा है कि वे रंगीन न हों, किन्तु श्वेत होने चाहिए। कौनसी-कौनसी वस्तुएं धारण करना या न करना—इसका विधान किया गया है। दीक्षा लेते समय वस्त्रों की मर्यादा का भी वर्णन किया गया है। वर्षावास में वस्त्र लेने का निषेध है किन्तु हेमन्त व ग्रीष्म ऋतु में आवश्यकता होने पर वस्त्र लेने में बाधा नहीं है और वस्त्र के विभाजन का इस सम्बन्ध में भी चिन्तन किया है।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को प्रातिहारिक वस्तुएं उनके मालिक को बिना दिये अन्यत्र विहार करना नहीं कल्पता। यदि किसी वस्तु को कोई चुरा ले तो उसकी अन्वेषणा करनी चाहिये और मिलने पर शय्यातर को दे देनी चाहिए। यदि आवश्यकता हो तो उसकी आज्ञा होने पर उपयोग कर सकता है।

चतुर्थ उद्देशक में अब्रह्मसेवन तथा रात्रि-भोजन आदि व्रतों के सम्बन्ध में दोष लगने पर प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

पंडक, नपुंसक एवं वातिक प्रव्रज्या के लिए अयोग्य है। यहां तक कि उनके साथ संभोग [एक साथ भोजन-पानादि] करना भी निषिद्ध है।

अविनीत, रसलोलुपी व क्रोधी को शास्त्र पढ़ाना अनुचित है। दुष्ट, मूढ़ और दुर्विदग्ध ये तीन प्रव्रज्या और उपदेश के अनधिकारी हैं।

निर्ग्रन्थी रुग्ण अवस्था में या अन्य किसी कारण से अपने पिता, भाई, पुत्र आदि का सहारा लेकर उठती या बैठती हो और साधु के सहारे की इच्छा करे तो चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। इसी तरह [illegible]प माता, पत्नी, पुत्री आदि का सहारा लेते हुए तथा साध्वी के सहारे की इच्छा करे तो उसे भी चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। इसमें चतुर्थ व्रत के खंडन की सम्भावना होने से प्रायश्चित्त का विधान किया है।

निर्ग्रन्थ व निर्ग्रन्थियों को कालातिक्रान्त, क्षेत्रातिक्रान्त अशनादि ग्रहण करना नहीं कल्पता। प्रथम पौरुषी का लाया हुआ आहार चतुर्थ पौरुषी तक रखना नहीं कल्पता। यदि भूल से रह जाय तो परठ देना चाहिए। उपयोग करने पर प्रायश्चित्त का विधान है। यदि भूल से अनेषणीय, स्निग्ध अशनादि भिक्षा में आ गया हो तो अनुपस्थापित श्रमण—जिनमें महाव्रतों की स्थापना नहीं की है उन्हें दे देना चाहिए। यदि वह न हो तो निर्दोष स्थान पर परठ देना चाहिए।

आचेलक्य आदि कल्प में स्थित श्रमणों के लिए निर्मित आहारादि अकल्पस्थित श्रमणों के लिए कल्पनीय है। जो आहारादि अकल्पस्थित श्रमणों के लिए निर्मित हो वह कल्पस्थित श्रमणों के लिए अकल्प्य होता है। यहां पर कल्पस्थित का तात्पर्य है "पंचयामधर्मप्रतिपन्न" और अकल्पस्थित धर्म का अर्थ है "चातुर्यामधर्मप्रतिपन्न"।

---

1. "औणिक" ऊर्णिकानामूर्णाभिर्निर्वृत्तम्, "औष्ट्रिकं" उष्ट्ररोमभिर्निर्वृत्तम्, "सानकं" सनवृक्षवल्कात् जातम् "वच्चकः" तृणविशेषस्तस्य "चिप्पकः" कुट्टितः त्वग्रूपः तेन निष्पन्नं वच्चकचिप्पकम् "मुंजः" शरस्तम्बस्तस्य चिप्पकात् जातं मुंजचिप्पकं नाम पंचममिति। —उ० २, सू० २९

किसी निर्ग्रन्थ को ज्ञान आदि के कारण अन्य गण में उपसम्पदा लेनी हो तो आचार्य की अनुमति आवश्यक है। इसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक आदि को भी यदि अन्य गण में उपसम्पदा लेनी हो तो अपने समुदाय की योग्य व्यवस्था करके ही अन्य गण में सम्मिलित होना चाहिए।

संध्या के समय या रात्रि में कोई श्रमण या श्रमणी कालधर्म को प्राप्त हो जाय तो दूसरे श्रमण-श्रमणियों को उस मृत शरीर को रात्रि भर सावधानी से रखना चाहिए। प्रातः गृहस्थ के घर से बांस आदि लाकर मृतक को उससे बांधकर दूर जंगल में निर्दोष भूमि पर प्रस्थापित कर देना चाहिए और पुनः बांस आदि गृहस्थ को दे देना चाहिए।

श्रमण ने किसी गृहस्थ के साथ यदि कलह किया हो तो उसे शांत किये बिना भिक्षाचर्या करना नहीं कल्पता।

परिहारविशुद्धचारित्र ग्रहण करने की इच्छा वाले श्रमण को विधि समझाने हेतु पारणे के दिन स्वयं आचार्य, उपाध्याय उसके पास जाकर आहार दिलाते हैं और स्वस्थान पर आकर परिहारविशुद्धचारित्र का पालन करने की विधि बतलाते है।

श्रमण-श्रमणियों को गंगा, यमुना, सरयू, कोशिका, मही इन पांच महानदियों में से महीने में एक से अधिक बार एक नदी पार नहीं करनी चाहिए। ऐरावती आदि छिछली नदियां महीने में दो-तीन बार पार की जा सकती हैं।

श्रमण-श्रमणियों को घास की ऐसी निर्दोष झोपडी में, जहां पर अच्छी तरह से खड़ा नहीं रहा जा सके, हेमन्त व ग्रीष्म ऋतु में रहना वर्ज्य है। यदि निर्दोष तृणादि से बनी हुई दो हाथ से कम ऊंची झोपडी है तो वर्षाऋतु में वहां नहीं रह सकते। यदि दो हाथ से अधिक ऊंची है तो वहां वर्षाऋतु में रह सकते हैं।

पंचम उद्देशक में बताया है कि यदि कोई देव स्त्री का रूप बनाकर साधु का हाथ पकड़े और वह साधु उसके कोमल स्पर्श को सुखरूप माने तो उसे मैथुन प्रतिसेवन दोष लगता है और उसे चातुर्मासिक गुरु-प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार साध्वी को भी उसके विपरीत पुरुष स्पर्श का अनुभव होता है और उसे सुखरूप माने तो चातुर्मासिक गुरु-प्रायश्चित्त आता है।

कोई श्रमण बिना क्लेश को शांत किए अन्य गण में जाकर मिल जाय और उस गण के आचार्य को ज्ञात हो जाय कि यह श्रमण वहां से कलह करके आया है तो उसे पांच रातदिन का छेद देना चाहिए और उसे शान्त कर अपने गण में पुनः भेज देना चाहिए।

सशक्त या अशक्त श्रमण सूर्योदय हो चुका है या अभी अस्त नहीं हुआ है ऐसा समझकर यदि आहारादि करता है और फिर यदि उसे यह ज्ञात हो जाय कि अभी तो सूर्योदय हुआ ही नहीं है या अस्त हो गया है तो उसे आहारादि तत्क्षण त्याग देना चाहिए। उसे रात्रिभोजन का दोष नहीं लगता। सूर्योदय और सूर्यास्त के प्रति शंकाशील होकर आहारादि करने वाले को रात्रिभोजन का दोष लगता है। श्रमण-श्रमणियों को रात्रि में डकारादि के द्वारा मुंह में अन्न आदि आ जाय तो उसे बाहर थूक देना चाहिए।

यदि आहारादि में द्वीन्द्रियादि जीव गिर जाय तो यतनापूर्वक निकाल कर आहारादि करना चाहिए। यदि निकलने की स्थिति में न हो तो एकान्त निर्दोष स्थान में परिस्थापन कर दे। आहारादि लेते समय सचित्त पानी की बूंदें आहारादि में गिर जाएं और वह आहार गरम हो तो उसे खाने में किंचित् मात्र भी दोष नहीं है।

क्योंकि उसमें पड़ी हुई बूंदें सचित्त हो जाती हैं। यदि आहार शीतल है तो न स्वयं खाना चाहिए और न दूसरों को खिलाना चाहिए अपितु एकान्त स्थान पर परिस्थापन कर देना चाहिए।

निर्ग्रन्थी को एकाकी रहना, नग्न रहना, पात्ररहित रहना, ग्रामादि के बाहर आतापना लेना, उत्कटुकासन, वीरासन, दण्डासन, लगुडशायी आदि आसन पर बैठकर कायोत्सर्ग करना वर्ज्य है।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को परस्पर मोक (पेशाब या थूक) का आचमन करना अकल्प्य है किन्तु रोगादि कारणों से ग्रहण किया जा सकता है।

परिहारकल्प में स्थित भिक्षु को स्थविर आदि के आदेश से अन्यत्र जाना पड़े तो शीघ्र जाना चाहिए और कार्य करके पुनः लौट आना चाहिए। यदि चारित्र में किसी प्रकार का दोष लगे तो प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध कर लेना चाहिए।

छठे उद्देशक में यह बताया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को अलीक (झूठ) वचन, हीलितवचन, खिंसितवचन, परुषवचन, गार्हस्थिकवचन, व्यवशमितोदीरणवचन (शांत हुए कलह को उभारनेवाला वचन), ये छह प्रकार के वचन नहीं बोलना चाहिए।

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, अविरति-अब्रह्म, नपुंसक, दास आदि का आरोप लगाने वाले को प्रायश्चित्त आता है।

निर्ग्रन्थ के पैर में कांटा लग गया हो और वह निकालने में असमर्थ हो तो उसे अपवादरूप में निर्ग्रन्थी निकाल सकती है। इसी प्रकार नदी आदि में डूबने, गिरने, फिसलने आदि का प्रसंग आये तो साधु साध्वी का हाथ पकड़कर बचाये। इसी प्रकार विक्षिप्तचित्त निर्ग्रन्थी को अपने हाथ से पकड़कर उसके स्थान पर पहुंचा दे, वैसे ही विक्षिप्त साधु को भी साध्वी हाथ पकड़कर पहुंचा सकती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि ये आपवादिक सूत्र हैं। इसमें विकारभावना नहीं किन्तु परस्पर के संयम की सुरक्षा की भावना है।

साधु की मर्यादा का नाम कल्पस्थिति है। यह छह प्रकार की है—सामायिक—संयतकल्पस्थिति, छेदोपस्थापनीय संयतकल्पस्थिति, निर्विशमानकल्पस्थिति, निर्विष्टकायिककल्पस्थिति, जिनकल्पस्थिति और स्थविर-कल्पस्थिति।

इस प्रकार बृहत्कल्प में श्रमण-श्रमणियों के जीवन और व्यवहार से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डाला है। यही इस शास्त्र की विशेषता है।

व्यवहारसूत्र

बृहत्कल्प और व्यवहार ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। व्यवहार भी छेदसूत्र है जो चरणानुयोगमय है। इसमें दश उद्देशक हैं। ३७३ अनुष्टुप श्लोक प्रमाण उपलब्ध मूल पाठ है। २६७ सूत्र संख्या है।

प्रथम उद्देशक में मासिक प्रायश्चित्त के योग्य दोष का सेवन कर उस दोष की आचार्य आदि के पास कपटरहित आलोचना करने वाले श्रमण को एकमासिक प्रायश्चित्त आता है और कपटसहित करने पर द्विमासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है। द्विमासिक [illegible] के योग्य [illegible] साधक निष्कपट आलोचना करता है तो उसे द्विमासिक प्रायश्चित्त आता है और [illegible] तीन, चार, पांच और छह मास के

प्रायश्चित्त का विधान है। अधिक से अधिक छह मास के प्रायश्चित्त का विधान है। जिसने अनेक दोषों का सेवन किया हो उसे क्रमशः आलोचना करनी चाहिए और फिर सभी का साथ में प्रायश्चित्त लेना चाहिए। प्रायश्चित्त करते हुए भी यदि पुनः दोष लग जाय तो उसका पुनः प्रायश्चित्त करना चाहिए।

प्रायश्चित्त का सेवन करने वाले श्रमण को स्थविर आदि की अनुज्ञा लेकर ही अन्य साधुओं के साथ उठना-बैठना चाहिए। आज्ञा की अवहेलना कर किसी के साथ यदि वह बैठता है तो उतने दिन की उसकी दीक्षापर्याय कम होती है जिसे आगमिक भाषा में छेद कहा गया है। परिहारकल्प का परित्याग कर स्थविर आदि की सेवा के लिए दूसरे स्थान पर जा सकता है।

कोई श्रमण गण का परित्याग कर एकाकी विचरण करता है और यदि वह अपने को शुद्ध आचार के पालन करने में असमर्थ अनुभव करता है तो उसे आलोचना कर छेद या नवीन दीक्षा ग्रहण करवानी चाहिए। जो नियम सामान्य रूप से एकलविहारी श्रमण के लिए है वही नियम एकलविहारी गणावच्छेदक, आचार्य व शिथिलाचारी श्रमण के लिए है।

आलोचना आचार्य, उपाध्याय के समक्ष कर प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होना चाहिए। यदि वे अनुपस्थित हों तो अपने संभोगी, साधर्मिक, बहुश्रुत आदि के समक्ष आलोचना करनी चाहिए। यदि वे पास में न हों तो अन्य समुदाय के संभोगी, बहुश्रुत आदि श्रमण जहाँ हो वहाँ जाकर आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए। यदि वह भी न हो तो सारूपिक (सदोषी) किन्तु बहुश्रुत साधु हो तो वहाँ जाकर प्रायश्चित्त लेना चाहिए। यदि वह भी न हो तो बहुश्रुत श्रमणोपासक के पास और उसका भी अभाव हो तो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के पास जाकर प्रायश्चित्त करना चाहिए। इन सबके अभाव में गाँव या नगर के बाहर जाकर पूर्व या उत्तर दिशा के सम्मुख खडे होकर दोनों हाथ जोड़कर अपने अपराध की आलोचना करे।

द्वितीय उद्देशक में कहा है कि एक समान समाचारी वाले दो साधर्मिक साथ में हों और उनमें से किसी एक ने दोष का सेवन किया हो तो दूसरे के सन्मुख प्रायश्चित्त लेना चाहिए। प्रायश्चित्त करने वाले की सेवा आदि का भार दूसरे श्रमण पर रहता है। यदि दोनों ने दोषस्थान का सेवन किया हो तो परस्पर आलोचना कर प्रायश्चित्त लेकर सेवा करनी चाहिए। अनेक श्रमणों में से किसी एक श्रमण ने अपराध किया हो तो एक को ही प्रायश्चित्त दे। यदि सभी ने अपराध किया है तो एक के अतिरिक्त शेष सभी प्रायश्चित्त लेकर शुद्धिकरण करें और उनका प्रायश्चित्त पूर्ण होने पर उसे भी प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करें।

परिहारकल्पस्थित श्रमण कदाचित् रुग्ण हो जाय तो उसे गच्छ से बाहर निकालना नहीं कल्पता। जब तक वह स्वस्थ न हो जाय तब तक वैयावृत्य करवाना गणावच्छेदक का कर्तव्य है और स्वस्थ होने पर उसने सदोषावस्था में सेवा करवाई अतः उसे प्रायश्चित्त लेना चाहिए। इसी तरह अनवस्थाप्य एवं पारांचिक प्रायश्चित्त करने वाले को भी रुग्णावस्था में गच्छ से बाहर नहीं करना चाहिए।

विक्षिप्तचित्त को भी गच्छ से बाहर निकालना नहीं कल्पता और जब तक उसका चित्त स्थिर न हो जाय तब तक उसकी पूर्ण सेवा करनी चाहिए तथा स्वस्थ होने पर नाममात्र का प्रायश्चित्त देना चाहिए। इसी प्रकार दीप्तचित्त (जिसका चित्त अभिमान से उद्दीप्त हो गया है), उन्मादप्राप्त, उपसर्गप्राप्त, साधिकरण, सप्रायश्चित्त आदि को गच्छ से बाहर निकालना नहीं कल्पता।

नौवां अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त करने वाले साधु को गृहस्थलिंग धारण कराये बिना संयम में पुनः स्थापित

नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसका अपराध इतना महान् होता है कि बिना वैसा किये उसका पूरा प्रायश्चित्त नहीं हो पाता और न अन्य श्रमणों के अन्तर्मानस में उस प्रकार के अपराध के प्रति भय ही उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार दसवें पारंचिक प्रायश्चित्त वाले श्रमण को भी गृहस्थ का वेष पहनाने के पश्चात् पुनः संयम में स्थापित करना चाहिए। यह अधिकार प्रायश्चित्तदाता के हाथ में है कि उसे गृहस्थ का वेष न पहनाकर अन्य प्रकार का वेष भी पहना सकता है।

पारिहारिक और अपारिहारिक श्रमण एक साथ आहार करें, यह उचित नहीं है। पारिहारिक श्रमणों के साथ बिना तप पूर्ण हुए अपारिहारिक श्रमणों को आहारादि नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो तपस्वी हैं उनका तप पूर्ण होने के पश्चात् एक मास के तप पर पांच दिन और छह महीने के तप पर एक महीना व्यतीत हो जाने के पूर्व उनके साथ कोई आहार नहीं कर सकता, क्योंकि उन दिनों में उनके लिए विशेष प्रकार के आहार की आवश्यकता होती है जो दूसरों के लिए आवश्यक नहीं।

तृतीय उद्देशक में बताया है कि किसी श्रमण के मानस में अपना स्वतंत्र गच्छ बनाकर परिभ्रमण करने की इच्छा हो पर वह आचारांग आदि का परिज्ञाता नहीं हो तो शिष्य आदि परिवारसहित होने पर भी पृथक् गच्छ बनाकर स्वच्छन्दी होना योग्य नहीं। यदि वह आचारांग आदि का ज्ञाता है तो स्थविर से अनुमति लेकर विचर सकता है। स्थविर की बिना अनुमति के विचरने वाले को जितने दिन इस प्रकार विचरा हो उतने ही दिन का छेद या पारिहारिक प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ता है।

उपाध्याय वही बन सकता है जो कम से कम तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाला है, निर्ग्रन्थ के आचार में निष्णात है, संयम में प्रवीण है, आचारांग आदि प्रवचनशास्त्रों में पारंगत है, प्रायश्चित्त देने में पूर्ण समर्थ है, संघ के लिए क्षेत्र आदि का निर्णय करने में दक्ष है, चारित्रवान है, बहुश्रुत है आदि।

आचार्य वह बन सकता है जो श्रमण के आचार में कुशल, प्रवचन में पटु, दशाश्रुतस्कन्ध-कल्प-बृहत्कल्प-व्यवहार का ज्ञाता है और कम से कम पांच वर्ष का दीक्षित है।

आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तिनी, स्थविर, गणी, गणावच्छेदक पद उसे दिया जा सकता है जो श्रमण के आचार में कुशल, प्रवचनदक्ष, धर्मसिद्धान्तमना व स्थानांग-समवायांग का ज्ञाता है।

अपवाद में एक दिन की दीक्षापर्याय वाले साधु को भी आचार्य, उपाध्याय के पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। उस प्रकार का साधु प्रतीतिकारी, धैर्यशील, विश्वसनीय, समभावी, प्रमोदकारी, अनुमत, बहुमत व उच्च कुलीन एवं गुणसम्पन्न होना आवश्यक है।

आचार्य अथवा उपाध्याय की आज्ञा से ही संयम का पालन करना चाहिए। अब्रह्म का सेवन करने वाला आचार्य आदि पदवी के अयोग्य है। यदि गच्छ का परित्याग कर उसने वैसा कार्य किया है तो पुनः दीक्षा धारण कर तीन वर्ष बीतने पर यदि उसका मन स्थिर हो, विकार शान्त हो, कषाय आदि का अभाव हो तो आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

चतुर्थ उद्देशक में कहा है कि आचार्य अथवा उपाध्याय के साथ हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में कम से कम एक अन्य साधु होना चाहिए और गणावच्छेदक के साथ दो। वर्षाऋतु में आचार्य और उपाध्याय के साथ दो व गणावच्छेदक के साथ तीन साधुओं का होना आवश्यक है।

आचार्य की महत्ता पर प्रकाश डालकर यह बताया गया है कि उनके अभाव में किस प्रकार रहना चाहिए ?

आचार्य, उपाध्याय यदि अधिक रुग्ण हो और जीवन की आशा कम हो तो अन्य सभी श्रमणों को बुलाकर आचार्य कहे कि मेरी आयु पूर्ण होने पर अमुक साधु को अमुक पदवी प्रदान करना। उनकी मृत्यु के पश्चात् यदि वह साधु योग्य प्रतीत न हो तो अन्य को भी प्रतिष्ठित किया जा सकता है और योग्य हो तो उसे ही प्रतिष्ठित करना चाहिए। अन्य योग्य श्रमण आचारांग आदि पढकर दक्ष न हो जाय तब तक आचार्य आदि की सम्मति से अस्थायी रूप से साधु को किसी भी पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है और योग्य पदाधिकारी प्राप्त होने पर पूर्वव्यक्ति को अपने पद से पृथक् हो जाना चाहिए। यदि वह वैसा नहीं करता है तो प्रायश्चित्त का भागी होता है।

दो श्रमण साथ में विचरण करते हो तो उन्हें योग्यतानुसार छोटा और बड़ा होकर रहना चाहिए और एक-दूसरे का सम्मान करना चाहिए। इसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय को भी।

पाचवें उद्देशक में प्रवर्तिनी को कम से कम दो अन्य साध्वियों के साथ शीतोष्णकाल में ग्रामानुग्राम विचरण करना चाहिए और गणावच्छेदिका के साथ तीन अन्य साध्वियां होनी चाहिए। वर्षाऋतु में प्रवर्तिनी के साथ तीन और गणावच्छेदिका के साथ चार साध्वियां होनी चाहिए।

प्रवर्तिनी आदि की मृत्यु और पदाधिकारी की नियुक्ति के सम्बन्ध में जैसा श्रमणों के लिए कहा गया है वैसा ही श्रमणियों के लिए भी समझना चाहिए।

वैयावृत्य के लिए सामान्य विधान यह है कि श्रमण, श्रमणी से और श्रमणी, श्रमण से वैयावृत्य न करावे किन्तु अपवादरूप में परस्पर सेवा-शुश्रूषा कर सकते हैं।

सर्पदंश आदि कोई विशिष्ट परिस्थिति पैदा हो जाय तो अपवादरूप मे गृहस्थ से भी सेवा करवाई जा सकती है। यह विधान स्थविरकल्पियो के लिए है। जिनकल्पियो के लिए सेवा का विधान नहीं है। यदि वे सेवा करवाते हैं तो पारिहारिक तपरूप प्रायश्चित्त करना पड़ता है।

छठे उद्देशक में बताया है कि अपने स्वजनो के यहां बिना स्थविरों की अनुमति प्राप्त किए नही जाना चाहिए। जो श्रमण-श्रमणी अल्पश्रुत व अल्प-आगमी हैं उन्हे एकाकी अपने सम्बन्धियों के यहा नही जाना चाहिए। यदि जाना है तो बहुश्रुत व बहुआगमधारी श्रमण-श्रमणी के साथ जाना चाहिए। श्रमण के पहुंचने के पूर्व जो वस्तु पक कर तैयार हो चुकी है वह ग्राह्य है और जो तैयार नही हुई है वह अग्राह्य है।

आचार्य, उपाध्याय यदि बाहर से उपाश्रय मे आवें तो उनके पाव पोंछकर साफ करना चाहिए। उनके लघुनीत आदि को यतनापूर्वक भूमि पर परठना चाहिए। यथाशक्ति उनकी वैयावृत्य करनी चाहिए। उपाश्रय मे उनके साथ रहना चाहिए। उपाश्रय के बाहर जावें तब उनके साथ जाना चाहिए। गणावच्छेदक उपाश्रय मे रहें तब साथ रहना चाहिए और उपाश्रय से बाहर जाएं तो साथ जाना चाहिए।

श्रमण-श्रमणियों को आचाराग आदि आगमों के ज्ञाता श्रमण-श्रमणियो के साथ रहना कल्पता है और बिना ज्ञाता के साथ रहने पर प्रायश्चित्त का भागी बनना पड़ता है।

किसी विशेष कारण से अन्य गच्छ से निकलकर आने वाले श्रमण-श्रमणी यदि निर्दोष हैं, आचारनिष्ठ हैं, सबलदोष से रहित हैं, क्रोधादि से असंसृष्ट हैं, अपने दोषो की आलोचना कर शुद्धि करते हैं, तो उनके साथ समानता का व्यवहार करना कल्पता है, नही तो नहीं।

सातवें उद्देशक में यह विधान है कि साधु स्त्री को और साध्वी पुरुष को दीक्षा न दे। यदि किसी ऐसे स्थान में किसी स्त्री की वैराग्य भावना जाग्रत हुई हो जहां सन्निकट में साध्वी न हो तो वह इस शर्त पर दीक्षा देता है कि वह यथाशीघ्र किसी साध्वी को सुपुर्द कर देगा। इसी तरह साध्वी भी पुरुष को दीक्षा दे सकती है।

जहां पर तस्कर, बदमाश या दुष्ट व्यक्तियों का प्राधान्य हो वहां श्रमणियों को विचरना नहीं कल्पता, क्योंकि वहां पर वस्त्रादि के अपहरण व व्रतभंग आदि का भय रहता है। श्रमणों के लिए कोई बाधा नहीं है।

किसी श्रमण का किसी ऐसे श्रमण से वैर-विरोध हो गया है जो विकट दिशा (चोरादि का निवास हो ऐसा स्थान) में है तो वहां जाकर उससे क्षमायाचना करनी चाहिए, किन्तु स्वस्थान पर रहकर नहीं। किन्तु श्रमणी अपने स्थान से भी क्षमायाचना कर सकती है।

साधु-साध्वियों को आचार्य, उपाध्याय के नियन्त्रण के बिना स्वच्छन्द रूप से परिभ्रमण करना नहीं कल्पता।

आठवें उद्देशक में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि साधु एक हाथ से उठाने योग्य छोटे-मोटे शय्या संस्तारक, तीन दिन में जितना मार्ग तय कर सके उतनी दूर से लाना कल्पता है। किसी वृद्ध निर्ग्रन्थ के लिए आवश्यकता पड़ने पर पांच दिन में जितना चल सके उतनी दूरी से लाना कल्पता है। स्थविर के लिए निम्न उपकरण कल्पनीय हैं—दण्ड, भाण्ड, छत्र, मात्रिका, लाष्ठिक (पीठ के पीछे रखने के लिए तकिया या पाटा), भिसी (स्वाध्यायादि के लिए बैठने का पाटा), चेल (वस्त्र), चेल-चिलिमिलिका (वस्त्र का पर्दा), चर्म, चर्मकोश (चमड़े की थैली), चर्म-पलिच्छ (लपेटने के लिए चमड़े का टुकड़ा)। इन उपकरणों में से जो साथ में रखने के योग्य न हों उन्हें उपाश्रय के समीप किसी गृहस्थ के यहां रखकर समय-समय पर उनका उपयोग किया जा सकता है।

किसी स्थान पर अनेक श्रमण रहते हों, उनमें से कोई श्रमण किसी गृहस्थ के यहां पर कोई उपकरण भूल गया हो और अन्य श्रमण वहां पर गया हो तो गृहस्थ श्रमण से कहे कि यह उपकरण आपके समुदाय में सन्त का है तो संत उस उपकरण को लेकर स्वस्थान पर आवे और जिसका उपकरण हो उसे दे दे। यदि वह उपकरण किसी सन्त का न हो तो न स्वयं उसका उपयोग करे और न दूसरों को उपयोग के लिए दे किन्तु निर्दोष स्थान पर उसका परित्याग कर दे। यदि श्रमण वहां से विहार कर गया हो तो उसकी अन्वेषणा कर स्वयं उसे उसके पास पहुंचावे। यदि उसका सही पता न लगे तो एकान्त स्थान पर प्रस्थापित कर दे।

आहार की चर्चा करते हुए बताया है कि आठ ग्रास का आहार करने वाला अल्प-आहारी, बारह ग्रास का आहार करने वाला अपार्धअवमौदरिक, सोलह ग्रास का आहार करने वाला द्विभागप्राप्त, चौबीस ग्रास का आहार करने वाला प्राप्तावमौदरिक, बत्तीस ग्रास का आहार करने वाला प्रमाणोपेताहारी एवं बत्तीस ग्रास से एक ही ग्रास कम खाने वाला अवमौदरिक कहलाता है।

नौवें उद्देशक में बताया है कि शय्यातर का आहारादि पर स्वामित्व हो या उसका कुछ अधिकार हो तो वह आहार श्रमण-श्रमणियों के लिए ग्राह्य नहीं है। इसमें भिक्षुप्रतिमाओं का भी उल्लेख है जिसकी चर्चा हम चुके हैं।

श्रमण एक मास पर्यन्त अपने शरीर के ममत्व को त्याग कर देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करता है और शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को एक दत्ति आहार की और एक दत्ति पानी की, द्वितीया को दो दत्ति आहार की और दो दत्ति पानी की ग्रहण करता है। इस प्रकार क्रमशः एक-एक दत्ति बढाता हुआ पूर्णिमा को १५ दत्ति आहार की और १५ दत्ति पानी की ग्रहण करता है। कृष्णपक्ष में क्रमशः एक दत्ति कम करता जाता है और अमावस्या के दिन उपवास करता है। इसे यवमध्यचन्द्रप्रतिमा कहते हैं।

वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा में कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को १५ दत्ति आहार की और १५ दत्ति पानी की ग्रहण की जाती है। उसे प्रतिदिन कम करते हुए यावत् अमावस्या को एक दत्ति आहार की और एक दत्ति पानी की ग्रहण की जाती है। शुक्लपक्ष में क्रमशः एक-एक दत्ति बढ़ाते हुए पूर्णिमा को उपवास किया जाता है। इस प्रकार ३० दिन की प्रत्येक प्रतिमा के प्रारम्भ के २९ दिन दत्ति के अनुसार आहार और अन्तिम दिन उपवास किया जाता है।

व्यवहार के आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीतव्यवहार, ये पांच प्रकार हैं। इनमें आगम का स्थान प्रथम है और फिर क्रमश. इनकी चर्चा विस्तार से भाष्य में है।

स्थविर के जातिस्थविर, सूत्रस्थविर और प्रव्रज्यास्थविर, ये तीन भेद हैं। ६० वर्ष की आयु वाला श्रमण जातिस्थविर या वय.स्थविर कहलाता है। ठाणांग, समवायांग का ज्ञाता सूत्रस्थविर और दीक्षा धारण करने के २० वर्ष पश्चात् की दीक्षा वाले निर्ग्रन्थ प्रव्रज्यास्थविर कहलाते हैं।

शैक्ष भूमिया तीन प्रकार की है—सप्त-रात्रिंदिनी चातुर्मासिकी और षण्मासिकी। आठ वर्ष से कम उम्र वाले बालक-बालिकाओं को दीक्षा देना नहीं कल्पता। जिनकी उम्र लघु है वे आचारांगसूत्र के पढ़ने के अधिकारी नहीं हैं। कम से कम तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाले साधु को आचारांग पढ़ाना कल्प्य है। चार वर्ष की दीक्षापर्याय वाले को सूत्रकृतांग, पांच वर्ष की दीक्षापर्याय वाले को दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प (बृहत्कल्प) और व्यवहार, आठ वर्ष की दीक्षा वाले को स्थानांग और समवायांग, दस वर्ष की दीक्षा वाले को व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती), ग्यारह वर्ष की दीक्षा वाले को लघुविमान-प्रविभक्ति, महाविमान-प्रविभक्ति, अंगचूलिका, बगचूलिका और विवाह-चूलिका, बारह वर्ष की दीक्षा वाले को अणोरुपपातिक, गरुलोप-पातिक, धरणोपपातिक, वैश्रमणोपपातिक और वैलंधरोपपातिक, तेरह वर्ष की दीक्षा वाले को उपस्थानश्रुत, देवेन्द्रोपपात और नागपरियापनिका (नागपरियावणिआ), चौदह वर्ष की दीक्षा वाले को स्वप्नभावना, पन्द्रह वर्ष की दीक्षा वाले को चारणभावना, सोलह वर्ष की दीक्षा वाले को वेदनीशतक, सत्रह वर्ष की दीक्षा वाले को आशीविषभावना, अठारह वर्ष की दीक्षा वाले को दृष्टिविषभावना, उन्नीस वर्ष की दीक्षा वाले वाले को दृष्टिवाद और बीस वर्ष की दीक्षा वाले को सब प्रकार के शास्त्र पढाना कल्प्य है।

वैयावृत्य (सेवा) दस प्रकार की कही गई है—१. आचार्य की वैयावृत्य, २. उपाध्याय की वैयावृत्य, उसी प्रकार, ३. स्थविर की, ४. तपस्वी की, ५ शैक्ष-छात्र की, ६. ग्लान-रुग्ण की, ७. साधर्मिक की, ८. कुल की, ९. गण की और १०. संघ की वैयावृत्य।

उपर्युक्त दस प्रकार की वैयावृत्य से महानिर्जरा होती है।

उपसंहार

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र की अनेक विशेषताएं है। इसमें स्वाध्याय पर विशेष रूप से बल दिया गया है।

सातवें उद्देशक में यह विधान है कि साधु स्त्री को और साध्वी पुरुष को दीक्षा न दे। यदि किसी ऐसे स्थान में किसी स्त्री को वैराग्य भावना जाग्रत हुई हो जहां सन्निकट में साध्वी न हो तो वह इस शर्त पर दीक्षा देता है कि वह यथाशीघ्र किसी साध्वी को सुपुर्द कर देगा। इसी तरह साध्वी भी पुरुष को दीक्षा दे सकती है।

जहां पर तस्कर, बदमाश या दुष्ट व्यक्तियों का प्राधान्य हो वहां श्रमणियों को विचरना नहीं कल्पता, क्योंकि वहां पर वस्त्रादि के अपहरण व व्रतभंग आदि का भय रहता है। श्रमणों के लिए कोई बाधा नहीं है।

किसी श्रमण का किसी ऐसे श्रमण से वैर-विरोध हो गया है जो विकट दिशा (चोरादि का निवास हो ऐसा स्थान) में है तो वहां जाकर उससे क्षमायाचना करनी चाहिए, किन्तु स्वस्थान पर रहकर नहीं। किन्तु श्रमणी अपने स्थान से भी क्षमायाचना कर सकती है।

साधु-साध्वियों को आचार्य, उपाध्याय के नियन्त्रण के बिना स्वच्छन्द रूप से परिभ्रमण करना नहीं कल्पता।

आठवें उद्देशक में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि साधु एक हाथ में उठाने योग्य छोटे-मोटे शय्या संस्तारक, तीन दिन में जितना मार्ग तय कर सके उतनी दूर से लाना कल्पता है। किसी वृद्ध निर्ग्रन्थ के लिए आवश्यकता पड़ने पर पाँच दिन में जितना चल सके उतनी दूरी से लाना कल्पता है। स्थविर के लिए निम्न उपकरण कल्पनीय हैं—दण्ड, भाण्ड, छत्र, मात्रिका, लाष्ठिक (पीठ के पीछे रखने के लिए तकिया या पाटा), भिसी (स्वाध्यायादि के लिए बैठने का पाटा), चेल (वस्त्र), चेल-चिलिमिलिका (वस्त्र का पर्दा), चर्म, चर्मकोश (चमड़े की थैली), चर्म-पलिछ (लपेटने के लिए चमड़े का टुकड़ा)। इन उपकरणों में से जो साथ में रखने के योग्य न हों उन्हें उपाश्रय के समीप किसी गृहस्थ के यहां रखकर समय-समय पर उनका उपयोग किया जा सकता है।

किसी स्थान पर अनेक श्रमण रहते हो, उनमें से कोई श्रमण किसी गृहस्थ के यहां पर कोई उपकरण भूल गया हो और अन्य श्रमण वहां पर गया हो तो गृहस्थ श्रमण से कहे कि यह उपकरण आपके समुदाय के संत का है तो संत उस उपकरण को लेकर स्वस्थान पर आये और जिसका उपकरण हो उसे दे दे। यदि वह उपकरण किसी संत का न हो तो न स्वयं उसका उपयोग करे और न दूसरों को उपयोग के लिए दे किन्तु निर्दोष स्थान पर उसका परित्याग कर दे। यदि श्रमण वहां से विहार कर गया हो तो उसकी अन्वेषणा कर स्वयं उसे उसके पास पहुंचावे। यदि उसका सही पता न लगे तो एकान्त स्थान पर प्रस्थापित कर दे।

आहार की चर्चा करते हुए बताया है कि आठ ग्रास का आहार करने वाला अल्प-आहारी, बारह ग्रास का आहार करने वाला अपार्धावमोदरिक, सोलह ग्रास का आहार करने वाला द्विभागप्राप्त, चौबीस ग्रास का आहार करने वाला प्राप्तावमोदरिक, बत्तीस ग्रास का आहार करने वाला प्रमाणोपेताहारी एवं बत्तीस ग्रास से एक ही ग्रास कम खाने वाला अवमोदरिक कहलाता है।

नौवें उद्देशक में बताया है कि शय्यातर का आहारादि पर स्वामित्व हो या उसका कुछ अधिकार हो तो वह आहार श्रमण-श्रमणियों के लिए ग्राह्य नहीं है। इसमें भिक्षुप्रतिमाओं का भी उल्लेख है जिसकी चर्चा हम दशाश्रुतस्कन्ध के वर्णन में कर चुके हैं।

दसवें उद्देशक में यवमध्यचन्द्रप्रतिमा या वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि जो यव (जौ) के कण समान मध्य में मोटी और दोनों ओर पतली हो वह यवमध्यचन्द्रप्रतिमा है। जो वज्र के समान मध्य में पतली और दोनों ओर मोटी हो वह वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा है। यवमध्यचन्द्रप्रतिमा का धारक

श्रमण एक मास पर्यन्त अपने शरीर के ममत्व को त्याग कर देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करता है और शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को एक दत्ति आहार की और एक दत्ति पानी की, द्वितीया को दो दत्ति आहार की और दो दत्ति पानी की ग्रहण करता है। इस प्रकार क्रमशः एक-एक दत्ति बढ़ाता हुआ पूर्णिमा को १५ दत्ति आहार की और १५ दत्ति पानी की ग्रहण करता है। कृष्णपक्ष मे क्रमशः एक दत्ति कम करता जाता है और अमावस्या के दिन उपवास करता है। इसे यवमध्यचन्द्रप्रतिमा कहते है।

वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा में कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को १५ दत्ति आहार की और १५ दत्ति पानी की ग्रहण की जाती है। उसे प्रतिदिन कम करते हुए यावत् अमावस्या को एक दत्ति आहार की और एक दत्ति पानी की ग्रहण की जाती है। शुक्लपक्ष मे क्रमशः एक-एक दत्ति बढ़ाते हुए पूर्णिमा को उपवास किया जाता है। इस प्रकार ३० दिन की प्रत्येक प्रतिमा के प्रारम्भ के २९ दिन दत्ति के अनुसार आहार और अन्तिम दिन उपवास किया जाता है।

व्यवहार के आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीतव्यवहार, ये पाच प्रकार हैं। इनमें आगम का स्थान प्रथम है और फिर क्रमशः इनकी चर्चा विस्तार से भाष्य में है।

स्थविर के जातिस्थविर, सूत्रस्थविर और प्रव्रज्यास्थविर, ये तीन भेद है। ६० वर्ष की आयु वाला श्रमण जातिस्थविर या वयःस्थविर कहलाता है। ठाणाग, समवायांग का ज्ञाता सूत्रस्थविर और दीक्षा धारण करने के २० वर्ष पश्चात् की दीक्षा वाले निर्ग्रन्थ प्रव्रज्यास्थविर कहलाते हैं।

शैक्ष भूमिया तीन प्रकार की हैं—सप्त-रात्रिदिनी चातुर्मासिकी और षण्मासिकी। आठ वर्ष से कम उम्र वाले बालक-बालिकाओं को दीक्षा देना नही कल्पता। जिनकी उम्र लघु है वे आचारागसूत्र के पढ़ने के अधिकारी नही हैं। कम से कम तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाले साधु को आचाराग पढ़ाना कल्प्य है। चार वर्ष की दीक्षापर्याय वाले को सूत्रकृताग, पांच वर्ष की दीक्षापर्याय वाले को दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प (बृहत्कल्प) और व्यवहार, आठ वर्ष की दीक्षा वाले को स्थानांग और समवायांग, दस वर्ष की दीक्षा वाले को व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती), ग्यारह वर्ष की दीक्षा वाले को लघुविमान-प्रविभक्ति, महाविमान-प्रविभक्ति, अगचूलिका, वंगचूलिका और विवाह-चूलिका, बारह वर्ष की दीक्षा वाले को अणोरुपपातिक, गरुलोपपातिक, धरणोपपातिक, वैश्रमणोपपातिक और वेलंधरोपपातिक, तेरह वर्ष की दीक्षा वाले को उपस्थानश्रुत, देवेन्द्रोपपात और नागपरियापनिका (नागपरियावणिआ), चौदह वर्ष की दीक्षा वाले को स्वप्नभावना, पन्द्रह वर्ष की दीक्षा वाले को चारणभावना, सोलह वर्ष की दीक्षा वाले को वेदनीशतक, सत्रह वर्ष की दीक्षा वाले को आशीविषभावना, अठारह वर्ष की दीक्षा वाले को दृष्टिविषभावना, उन्नीस वर्ष की दीक्षा वाले वाले को दृष्टिवाद और बीस वर्ष की दीक्षा वाले को सब प्रकार के शास्त्र पढाना कल्प्य है।

वैयावृत्य (सेवा) दस प्रकार की कही गई है-—१. आचार्य की वैयावृत्य, २. उपाध्याय की वैयावृत्य, उसी प्रकार, ३. स्थविर की, ४. तपस्वी की, ५ शैक्ष-छात्र की, ६ ग्लान-रुग्ण की, ७ साधर्मिक की, ८. कुल की, ९. गण की और १०. संघ की वैयावृत्य।

उपर्युक्त दस प्रकार की वैयावृत्य से महानिर्जरा होती है।

उपसंहार

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र की अनेक विशेषताएं हैं। इसमें स्वाध्याय पर विशेष रूप से बल दिया गया है।

साथ ही अयोग्यकाल में स्वाध्याय करने का निषेध किया गया है। अनध्यायकाल की विवेचना की गई है। श्रमण-श्रमणियों के बीच अध्ययन की सीमाएं निर्धारित की गई हैं। आहार का कवलाहारी, अल्पाहारी और ऊनोदरी का वर्णन है। आचार्य, उपाध्याय के लिए विहार के नियम प्रतिपादित किये गये हैं। आलोचना और प्रायश्चित्त की विधियों का इसमें विस्तृत विवेचन है। साध्वियों के निवास, अध्ययन, वैयावृत्य तथा मघ-व्यवस्था के नियमोपनियम का विवेचन है। इसके रचयिता श्रुतकेवली भद्रबाहु माने जाते हैं।

व्याख्यासाहित्य

आगम साहित्य के गुरु गम्भीर रहस्यों के उद्घाटन के लिये विविधव्याख्यासाहित्य का निर्माण हुआ है। उस विराट आगम व्याख्यासाहित्य को हम पांच भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) निर्युक्तियां (निज्जुत्ति)।
(२) भाष्य (भास)।
(३) चूर्णिया (चुण्णि)।
(४) संस्कृत टीकाएं।
(५) लोकभाषा मे लिखित व्याख्यासाहित्य।

सर्वप्रथम प्राकृत भाषा मे जो पद्यबद्ध टीकाए लिखी गई वे निर्युक्तियों के नाम से विश्रुत हैं। निर्युक्तियों में मूल ग्रन्थ के प्रत्येक पद पर व्याख्या न कर मुख्य रूप से पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या की गई है। उसकी शैली निक्षेपपद्धति की है। जो न्यायशास्त्र में अत्यधिक प्रिय रही। निक्षेपपद्धति में किसी एक पद के सम्भावित अनेक अर्थ करने के पश्चात् उनमें से अप्रस्तुत अर्थों का निषेध कर प्रस्तुत अर्थ ग्रहण किया जाता है। सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् शारपेन्टियर ने निर्युक्ति की परिभाषा इस प्रकार की है—"निर्युक्तियां अपने प्रधान भाग के केवल इण्डेक्स का काम करती है। वे सभी विस्तार युक्त घटनावलियों का संक्षेप में उल्लेख करती है।"

निर्युक्तिकार भद्रबाहु माने जाते हैं। वे कौन थे इस सम्बन्ध में हमने अन्य प्रस्तावनाओं में विस्तार से लिखा है। भद्रबाहु की दस निर्युक्तियां प्राप्त हैं। उसमें दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति भी एक है।

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति

प्रथम श्रुतकेवली भद्रबाहु को नमस्कार किया गया है फिर दश अध्ययनों के अधिकारों का वर्णन है। प्रथम असमाधिस्थान में द्रव्य और भाव समाधि के सम्बन्ध में चिन्तन कर स्थान के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, अद्धा, ऊर्ध्व, चर्या, वसति, संयम, प्रग्रह, योध, अचल, गणन, संस्थान (संधान) और भाव इन पन्द्रह निक्षेपों का वर्णन है।

द्वितीय अध्ययन में शबल का नाम आदि चार निक्षेप से विचार किया है। तृतीय अध्ययन में आशातना का विश्लेषण है। चतुर्थ अध्ययन में "गणि" और "सम्पदा" पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन करते हुए कहा गया है कि गणि और गुणी ये दोनों एकार्थक हैं। आचार ही प्रथम गणिस्थान है। सम्पदा के द्रव्य और भाव ये दो भेद है। शरीर द्रव्यसम्पदा है और आचार भावसम्पदा है। पंचम अध्ययन में चित्तसमाधि का निक्षेप की दृष्टि से विचार किया गया है। समाधि के चार प्रकार हैं। जब चित्त राग-द्वेष से मुक्त होता है, प्रशस्तध्यान में तल्लीन होता है तब भावसमाधि होती है। षष्ठ अध्ययन में उपासक और प्रतिमा पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया गया है। उपासक के द्रव्योपासक, तदर्थोपासक, मोहोपासक और भावोपासक ये चार प्रकार है। भावोपासक वही हो सकता है जिसका जीवन सम्यग्दर्शन के आलोक से जगमगा रहा हो। यहां पर श्रमणोपासक की एकादश

प्रतिमाओं का निरूपण है। सप्तम अध्ययन में श्रमणप्रतिमाओं पर चिन्तन करते हुए भावश्रमणप्रतिमा के समाधि-प्रतिमा, उपधानप्रतिमा, विवेकप्रतिमा, प्रतिसंलीनप्रतिमा और विवेकप्रतिमा ये पाँच प्रकार बताये हैं। अष्टम अध्ययन में पर्युषणाकल्प पर चिन्तन कर परिवसना, पर्युषणा, पर्युपशमना, वर्षावास, प्रथम-समवसरण, स्थापना और ज्येष्ठ ग्रह को पर्यायवाची बताया है। श्रमण वर्षावास में एक स्थान पर स्थित रहता है और आठ माह तक यह परिभ्रमण करता है। नवम अध्ययन में मोहनीयस्थान पर विचार कर उसके पाप, वर्ज्य, वैर, पंक, पनक, क्षोभ, असात, संग, शल्य, अतर, निरति, धूर्त्य ये मोह के पर्यायवाची बताए गये हैं। दशम अध्ययन में जन्म-मरण के मूल कारणों पर चिन्तन कर उससे मुक्त होने का उपाय बताया गया है।

निर्युक्तिसाहित्य के पश्चात् भाष्यसाहित्य का निर्माण हुआ, किन्तु दशाश्रुतस्कन्ध पर कोई भी भाष्य नहीं लिखा गया। भाष्यसाहित्य के पश्चात् चूर्णिसाहित्य का निर्माण हुआ। यह गद्यात्मक व्याख्यासाहित्य है। इसमें शुद्ध प्राकृत और संस्कृत मिश्रित प्राकृत में व्याख्या लिखी गई है। चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर का नाम चूर्णिसाहित्य में विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि का मूल आधार दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति है। इस चूर्णि में प्रथम मंगलाचरण किया गया है। उसके पश्चात् दस अध्ययनों के अधिकारों का विवेचन किया गया है। जो सरल और सुगम है। मूलपाठ में और चूर्णिसम्मत पाठ में कुछ अन्तर है। यह चूर्णि मुख्य रूप से प्राकृत भाषा में है। यत्र-तत्र संस्कृत शब्दों व वाक्यों के प्रयोग भी दिखाई देते हैं।

चूर्णि के पश्चात् संस्कृत टीकाओं का युग आया। उस युग में अनेक आगमों पर संस्कृत भाषा में टीकाएं लिखी गईं। ब्रह्ममुनि (ब्रह्मर्षि) ने दशाश्रुतस्कन्ध पर एक टीका लिखी है तथा आचार्य घासीलालजी म. ने दशा-श्रुतस्कन्ध पर संस्कृत में व्याख्या लिखी और आचार्य सम्राट आत्मारामजी म. ने दशाश्रुतस्कन्ध पर हिन्दी में टीका लिखी। और आचार्य अमोलकऋषिजी म. ने सर्वप्रथम हिन्दी अनुवाद लिखा।

मणिविजयजी गणि ग्रन्थमाला भावनगर से दशाश्रुतस्कन्ध मूल निर्युक्ति चूर्णि सहित वि. सं. २०११ में प्रकाशित हुआ।

सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद हैदराबाद से वीर स. २४४५ को अमोलकऋषिजी कृत हिन्दी अनुवाद दशाश्रुतस्कन्ध का प्रकाशित हुआ।

जैन शास्त्रमाला कार्यालय सैदमिट्ठा बाजार लाहौर से आचार्य आत्मारामजी म. कृत सन् १९३६ में हिन्दी टीका प्रकाशित हुई।

संस्कृत व्याख्या व हिन्दी अनुवाद के साथ जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट से सन् १९६० में घासीलालजी म. का दशाश्रुतस्कन्ध प्रकाशित हुआ।

आगम अनुयोग प्रकाशन साण्डेराव से आयार-दशा के नाम से मूलस्पर्शी अनुवाद सन् १९८१ में प्रकाशित हुआ। यत्र-तत्र उसमें विशेषार्थ भी दिया गया है।

प्रस्तुत सम्पादन—आगम साहित्य के मर्मज्ञ महामनीषी मुनि श्री कन्हैयालालजी म. "कमल" ने किया है। यह सम्पादन सुन्दर ही नहीं, अति सुन्दर है। आगम के रहस्य का तथा श्रमणाचार के विविध उलझे हुए प्रश्नों का उन्होंने प्राचीन व्याख्या साहित्य के आधार से तटस्थ चिन्तनपरक समाधान प्रस्तुत किया है। स्वल्प शब्दों में

विषय को स्पष्ट करना सम्पादक मुनिजी की विशेषता है। इस सम्पादन में उनका गम्भीर पाण्डित्य यत्र-तत्र मुखरित हुआ है।

बृहत्कल्प का व्याख्यासाहित्य

बृहत्कल्पनिर्युक्ति—दशाश्रुतस्कन्ध की तरह बृहत्कल्पनिर्युक्ति लिखी गई है। उसमें सर्वप्रथम तीर्थंकरों को नमस्कार कर ज्ञान के विविध भेदों पर चिन्तन कर इस बात पर प्रकाश डाला है कि ज्ञान और मंगल में कथंचित् अभेद है। अनुयोग पर नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, वचन और भाव इन सात निक्षेपों से चिन्तन किया है। जो पश्चाद्भूत योग है वह अनुयोग है अथवा जो स्तोक रूप योग है वह अनुयोग है। कल्प के उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय ये चार अनुयोगद्वार हैं। कल्प और व्यवहार का अध्ययन चिन्तन करने वाला मेधावी तथा बहुश्रुत, चिरप्रव्रजित, कल्पिक, अचंचल, अवस्थित, अपरिश्रावी, विज्ञ प्राप्तानुज्ञात और भावपरिणामक होता है।

इसमें ताल-प्रलम्ब का विस्तार से वर्णन है, और उसके ग्रहण करने पर प्रायश्चित्त का भी विधान है। ग्राम, नगर, खेड़, कर्वटक, मडम्ब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवेश, संबाध, घोष, अंशिका, आदि पदों पर भी निक्षेपदृष्टि से चिन्तन किया है। जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक पर भी प्रकाश डाला है। आर्य पद पर विचार करते हुए नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, जाति, कुल, कर्म, भाषा, शिल्प, ज्ञान, दर्शन, चारित्र इन बारह निक्षेपों से चिन्तन किया है। आर्यक्षेत्र में विचरण करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र की अभिवृद्धि होती है। अनार्य क्षेत्रों में विचरण करने से अनेक दोषों के लगने की सम्भावना रहती है। स्कन्दकाचार्य के दृष्टान्त को देकर इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है। साथ ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि हेतु अनार्य क्षेत्र में विचरण करने का आदेश दिया है और उसके लिए राजा सम्प्रति का दृष्टान्त भी दिया गया है।

श्रमण और श्रमणियों के आचार, विचार, आहार, विहार का संक्षेप में बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है। सर्वत्र निक्षेपपद्धति से व्याख्यान किया गया है। यह निर्युक्ति स्वतन्त्र न रहकर बृहत्कल्पभाष्य में मिश्रित हो गई है।

बृहत्कल्प-लघुभाष्य—बृहत्कल्प लघुभाष्य संघदासगणी की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें बृहत्कल्पसूत्र के पदों का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। लघुभाष्य होने पर भी इसकी गाथा संख्या ६४९० है। यह छह उद्देश्यों में विभक्त है। भाष्य के प्रारम्भ में एक सविस्तृत पीठिका दी गई है। जिसकी गाथा संख्या ८०५ है। इस भाष्य में भारत की महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक सामग्री का संकलन-आकलन हुआ है। इस सांस्कृतिक सामग्री के कुछ अंश को लेकर डॉ. मोतीचन्द ने अपनी पुस्तक "सार्थवाह" में "यात्री और सार्थवाह" का सुन्दर आकलन किया है। प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता का अध्ययन करने के लिए इसकी सामग्री विशेष उपयोगी है। जैन श्रमणों के आचार का हृदयग्राही, सूक्ष्म, तार्किक विवेचन इस भाष्य की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

पीठिका में मंगलवाद, ज्ञानपंचक में श्रुतज्ञान के प्रसंग पर विचार करते हुए सम्यक्त्वप्राप्ति का क्रम और औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक, वेदक और क्षायिक सम्यक्त्व के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। अनुयोग का स्वरूप बताकर निक्षेप आदि बारह प्रक[illegible] से उस पर चिन्तन किया है। कल्पव्यवहार पर विविध दृष्टियों से चिन्तन करते हुए यत्र-तत्र [illegible] के [illegible] का भी उपयोग हुआ है।

पहले उद्देशक की व्याख्या में [illegible] दोष और प्रायश्चित्त, ताल-प्रलम्ब के ग्रहण सम्बन्धी [illegible]-श्रमणियों [illegible] विधि, श्रमणों की अस्वस्थता के विधि-विधान, [illegible] [illegible]-श्रमणियों के एक दूसरे

के अवगृहीत क्षेत्र में रहने की विधि, उसके १४४ भंग और तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त आदि का वर्णन है। ग्राम, नगर, खेड, कर्बटक, मडम्ब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवेश, संबाध, अंशिका, पुटभेदन, शंकर प्रभृति पदों पर विवेचन किया है। नक्षत्रमास, चन्द्रमास, ऋतुमास, आदित्यमास और अभिवर्धितमास का वर्णन है। जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक की क्रियाएं, समवसरण, तीर्थंकर, गणधर, आहारकशरीरी, अनुत्तरदेव, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि की शुभ और अशुभ कर्मप्रकृतियां, तीर्थंकर की भाषा का विभिन्न भाषाओं में परिणमन, आपणगृह, रथ्यामुख, शृङ्गाटक, चतुष्क, चत्वर, अन्तरापण आदि पदों पर प्रकाश डाला गया है और उन स्थानों पर बने हुए उपाश्रयों में रहने वाली श्रमणियों को जिन दोषों के लगने की सम्भावना है उनकी चर्चा की गई है।

भाष्यकार ने द्रव्य ग्राम के बारह प्रकार बताये हैं—

(१) *उत्तानकमल्लक*, (२) *अवाङ्मुखमल्लक*, (३) *सम्पुटमल्लक*, (४) *उत्तानकखण्डमल्लक*, (५) *अवाङ्मुखखण्डमल्लक*, (६) सम्पुटखण्डमल्लक, (७) भित्ति, (८) पडालि, (९) वलभि, (१०) अक्षाटक, (११) रुचक, (१२) काश्यपक।

तीर्थंकर, गणधर और केवली के समय ही जिनकल्पिक मुनि होते हैं। जिनकल्पिक मुनि की समाचारी का वर्णन सत्ताईस द्वारों से किया है— (१) श्रुत, (२) संहनन, (३) उपसर्ग, (४) आतंक, (५) वेदना, (६) कतिजन, (७) स्थंडिल, (८) वसति, (९) कियाच्चिर, (१०) उच्चार, (११) प्रस्रवण, (१२) अवकाश, (१३) तृणफलक, (१४) संरक्षणता, (१५) संस्थापनता, (१६) प्राभृतिका, (१७) अग्नि, (१८) दीप, (१९) अवधान, (२०) वत्स्यथ, (२१) भिक्षाचर्या, (२२) पानक, (२३) लेपालेप, (२४) लेप, (२५) आचाम्ल (२६) प्रतिमा, (२७) मासकल्प। जिनकल्पिक की स्थिति पर चिन्तन करते हुए—क्षेत्र, काल, चारित्र, तीर्थ, पर्याय, आगम, वेद, कल्प, लिंग, लेश्या, ध्यान, गणना, अभिग्रह, प्रव्राजना, मुण्डापना, प्रायश्चित्त, कारण, निष्प्रतिकर्म और भक्त इन द्वारों से प्रकाश डाला है। इसके पश्चात् परिहारविशुद्धिक और यथालन्दिक कल्प का स्वरूप बताया है।

स्थविरकल्पिक की प्रव्रज्या, शिक्षा, अर्थग्रहण, अनियतवास और निष्पत्ति ये सभी जिनकल्पिक के समान हैं।

श्रमणों के विहार पर प्रकाश डालते हुए विहार का समय, विहार करने से पहले गच्छ के निवास एवं निर्वाह योग्य या अयोग्य क्षेत्र, प्रत्युपेक्षकों का निर्वाचन, क्षेत्र की प्रतिलेखना के लिए किस प्रकार गमनागमन करना चाहिए, विहार मार्ग एवं स्थंडिल भूमि, जल, विश्रामस्थान, भिक्षा, वसति, उपद्रव आदि की परीक्षा, प्रतिलेखनीय क्षेत्र में प्रवेश करने की विधि, भिक्षा से वहां के मानवों के अन्तर्मानस की परीक्षा, भिक्षा, औषध आदि की प्राप्ति में सरलता व कठिनता का परिज्ञान, विहार करने से पूर्व वसति के अधिपति की अनुमति, विहार करने से पूर्व शुभ शकुन देखना आदि का वर्णन है।

स्थविरकल्पिकों की समाचारी में इन बातों पर प्रकाश डाला है—

१. प्रतिलेखना—वस्त्र आदि की प्रतिलेखना का समय, प्रतिलेखना के दोष और उनका प्रायश्चित्।
२. निष्क्रमण—उपाश्रय से बाहर निकलने का समय।
३. प्राभृतिका—गृहस्थ के लिए जो मकान तैयार किया है, उसमें रहना चाहिए या नहीं रहना चाहिए। तत्सम्बन्धी विधि व प्रायश्चित्त।

४. भिक्षा—भिक्षा के लेने का समय और भिक्षा सम्बन्धी आवश्यक वस्तुएं।

५. कल्पकरण—पात्र को स्वच्छ करने की विधि, लेपकृत और अलेपकृत पात्र, पात्र-लेप से लाभ।

६. गच्छशतिकादि—आधाकर्मिक, स्वगृहयतिमिश्र, स्वगृहपाषण्डमिश्र, यावदर्थिकमिश्र, क्रीतकृत, पूतिकार्मिक और आत्मार्थकृत तथा उनके अवान्तर भेद।

७. अनुयान—रथयात्रा का वर्णन और उस सम्बन्धी दोष।

८. पुरःकर्म—भिक्षा लेने से पूर्व सचित्त जल से हाथ आदि साफ करने से लगने वाले दोष।

९. ग्लान—ग्लान-रुग्ण श्रमण की सेवा से होने वाली निर्जरा, उसके लिए पथ्य की गवेषणा, चिकित्सा के लिए वैद्य के पास ले जाने की विधि, वैद्य से वार्तालाप करने का तरीका, रुग्ण श्रमण को उपाश्रय, गली आदि में छोड़कर चले जाने वाले आचार्य को लगने वाले दोष और उनके प्रायश्चित्त का विधान।

१०. गच्छप्रतिबद्ध यथालंदिक—वाचना आदि कारणों से गच्छ से सम्बन्ध रखने वाले यथालंदिक कल्पधारियों के साथ वन्दन आदि व्यवहार तथा मासकल्प की मर्यादा।

११. उपरिदोष—वर्षाऋतु के अतिरिक्त समय में एक क्षेत्र में एक मास से अधिक रहने से लगने वाले दोष।

१२. अपवाद—एक क्षेत्र में एक मास से अधिक रहने के आपवादिक कारण, श्रमण-श्रमणियों की भिक्षाचर्या की विधि पर भी प्रकाश डाला है। साथ ही यह भी बताया है कि यदि ग्राम, नगर आदि दुर्ग के अन्दर और बाहर दो भागों में विभक्त हो तो अन्दर और बाहर मिलाकर दो मास तक रह सकते हैं।

श्रमणियों के आचारसम्बन्धी विधि-विधानों पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि निर्ग्रन्थी के मासकल्प की मर्यादा, विहार-विधि, समुदाय का प्रमुख और उसके गुण, उसके द्वारा क्षेत्र की प्रतिलेखना, बौद्ध श्रावकों द्वारा भड़ौच में श्रमणियों का अपहरण, श्रमणियों के योग्य क्षेत्र, वसति, विधर्मी से उपद्रव की रक्षा, भिक्षाहेतु जाने वाली श्रमणियों की संख्या, वर्षावास के अतिरिक्त श्रमणी को एक स्थान पर अधिक से अधिक कितना रहना, उसका विधान है।

स्थविरकल्प और जिनकल्प इन दोनों अवस्थाओं में कौनसी अवस्था प्रमुख है, इस पर चिन्तन करते हुए भाष्यकार ने निष्पादक और निष्पन्न इन दोनों दृष्टियों से दोनों की प्रमुखता स्वीकार की है। सूत्र अर्थ आदि दृष्टियों से स्थविरकल्प जिनकल्प का निष्पादक है। जिनकल्प ज्ञान-दर्शन-चारित्र प्रभृति दृष्टियों से निष्पन्न है। विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से गुहासिंह, दो महिलाएँ और दो वर्गों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

एक प्राचीर और एक द्वार वाले ग्राम-नगर आदि में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को नहीं रहना चाहिए, इस सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन किया है। श्रमण-श्रमणियों को किस स्थान में रहना चाहिए, इस पर विविध दृष्टियों से चिन्तन किया गया है।

व्यवशमन प्रकृत सूत्र में इस बात पर चिन्तन किया है कि श्रमणों में परस्पर वैमनस्य हो जाये तो उपशमन धारण करके क्लेश को शान्त करना चाहिए। जो उपशमन धारण करता है वह आराधक है, जो नहीं करता है वह विराधक है। आचार्य को श्रमण-श्रमणियों में क्लेश होने पर उसकी उपशान्ति हेतु उपेक्षा करने पर प्रायश्चित्त का विधान है। परस्पर के झगड़े को शान्त करने की विधि प्रतिपादित की गई है।

धार प्रकृत सूत्र में बताया है कि श्रमण-श्रमणियों को वर्षाऋतु में एक गांव से दूसरे गांव नहीं जाना चाहिए। यदि गमन करता है तो उसे प्रायश्चित्त आता है। यदि आपवादिक कारणों से विहार करने का प्रसंग उपस्थित हो तो उसे यतना से गमन करना चाहिए।

अवग्रहसूत्र में बताया है कि भिक्षा या शौचादि भूमि के लिए जाते हुए श्रमण को गृहपति वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि ग्रहण करने की प्रार्थना करे तो उसे लेकर आचार्य आदि को प्रदान करे और उनकी आज्ञा प्राप्त होने पर उसका उपयोग करे।

रात्रिभक्त प्रकृत सूत्र में बताया है कि रात्रि या विकाल में अशन पान आदि ग्रहण करना नहीं चाहिए और न वस्त्र आदि को ग्रहण करना चाहिए। रात्रि और विकाल में अध्वगमन का भी निषेध किया गया है। अध्व के दो भेद हैं—पन्थ और मार्ग। जिसके बीच में ग्राम, नगर आदि कुछ भी न आए वह पन्थ है और जिसके बीच ग्राम नगर आये वह मार्ग है। सार्थ के भंडी, बहिलक, भारवह, औदरिक, कार्पटिक ये पांच प्रकार है। आठ प्रकार के सार्थवाह और आठ प्रकार के सार्थ-व्यवस्थापकों का उल्लेख है। विहार के लिए आर्यक्षेत्र ही विशेष रूप से उपयुक्त है। आर्य पद पर नाम आदि बारह निक्षेपों से विचार किया है। आर्य जातियां अम्बष्ठ, कलिन्द, वैदेह, विदक, हरित, तन्तुण ये छह हैं और आर्य कुल भी उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रिय, ज्ञात-कौरव और इक्ष्वाकु यह छह प्रकार के हैं। आगे उपाश्रय सम्बन्धी विवेचन में उपाश्रय के व्याघातों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। जिसमें शालि व्रीहि आदि सचित्त धान्य कण बिखरे हुए हों उस बीजाकीर्ण स्थान पर श्रमण को नहीं रहना चाहिए और न सुराविकट कुम्भ, शीतोदकविकटकुम्भ, ज्योति, दीपक, पिण्ड, दुग्ध, दही, नवनीत आदि पदार्थों से युक्त स्थान पर ही रहना चाहिए। सागारिक के आहारादि के त्याग की विधि, अन्य स्थान से आई हुई भोजनसामग्री के दान की विधि, सागारिक का पिण्डग्रहण, विशिष्ट व्यक्तियों के निमित्त बनाये हुए भक्त, उपकरण आदि का ग्रहण, रजोहरण ग्रहण करने की विधि बताई है। पांच प्रकार के वस्त्र—(१) जांगिक, (२) भांगिक, (३) सानक, (४) पोतक, (५) तिरीटपट्टक, पांच प्रकार के रजोहरण—(१) औणिक, (२) औष्ट्रिक, (३) सानक, (४) वच्चकचिप्पक, (५) मुंजचिप्पक—इनके स्वरूप और ग्रहण करने की विधि बताई गई है।

तृतीय उद्देशक में निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के परस्पर उपाश्रय में प्रवेश करने की विधि बताई है। कृत्स्न और अकृत्स्न, भिन्न और अभिन्न वस्त्रादि ग्रहण, नवदीक्षित श्रमण-श्रमणियों की उपधि पर चिन्तन किया है। उपधिग्रहण की विधि, वन्दन आदि का विधान किया है। वस्त्र फाड़ने में होने वाली हिंसा-अहिंसा पर चिन्तन करते हुए द्रव्यहिंसा और भावहिंसा पर विचार किया है। हिंसा में जितनी अधिक राग आदि की तीव्रता होगी उतना ही तीव्र कर्मबन्धन होगा। हिंसक में ज्ञान और अज्ञान के कारण कर्मबंध, अधिकरण की विविधता से कर्मबंध में वैविध्य आदि पर चिन्तन किया गया है।

चतुर्थ उद्देशक में हस्तकर्म आदि के प्रायश्चित्त का विधान है। मैथुनभाव रागादि से कभी भी रहित नहीं हो सकता। अतः उसका अपवाद नहीं है। पण्डक आदि को प्रव्रज्या देने का निषेध किया है।

पंचम उद्देशक में गच्छ सम्बन्धी, शास्त्र स्मरण और तद्विषयक व्याघात, क्लेशयुक्त मन से गच्छ में रहने से अथवा स्वगच्छ का परित्याग कर अन्य गच्छ में चले जाने से लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, निःशंक और सशंक रात्रिभोजन, उद्गार-वमन आदि विषयक दोष और उसका प्रायश्चित्त, आहार आदि के लिए प्रयत्न आदि पर प्रकाश डाला गया है। श्रमणियों के लिए विशेष रूप से विधि-विधान बताये गये हैं।

षष्ठ उद्देशक में निर्दोष वचनों का प्रयोग और मिथ्या वचनों का अप्रयोग, प्राणातिपात आदि के प्रायश्चित्त, कण्टक के उद्धरण, विपर्यासजन्य दोष, प्रायश्चित्त अपवाद का वर्णन है। श्रमण-श्रमणियों को विषम

मार्ग से नहीं जाना चाहिए। जो निर्ग्रन्थी विक्षिप्तचित्त हो गई है उसके कारणों को समझकर उसके देख-रेख की व्यवस्था और चिकित्सा आदि के विधि-निषेधों का विवेचन किया गया है। श्रमणों के लिए छह प्रकार के परिमन्थु व्याघात माने गये हैं—(१) कौत्कुचित (२) मौखरिक (३) चक्षुर्लोल (४) तितिणिक (५) इच्छालोभ (६) भिज्जानिदानकरण—इनका स्वरूप, दोष और अपवाद आदि पर चिन्तन किया है।

कल्पस्थिति प्रकृत में छह प्रकार की कल्पस्थितियों पर विचार किया है—(१) सामायिककल्पस्थिति, (२) छेदोपस्थानीयकल्पस्थिति, (३) निर्विशमानकल्पस्थिति, (४) निर्विष्टकायिककल्पस्थिति, (५) जिनकल्पस्थिति, (६) स्थविरकल्पस्थिति। छेदोपस्थापनीयकल्पस्थिति के आचेलक्य, औद्देशिक आदि दस कल्प हैं। उनके अधिकारी और अनधिकारी पर भी चिन्तन किया गया है।

प्रस्तुत भाष्य में यत्र-तत्र सुभाषित बिखरे पड़े हैं, यथा—हे मानवो! सदा-सर्वदा जागृत रहो, जागृत मानव की बुद्धि का विकास होता है, जो जागता है वह सदा धन्य है।

"जागरह नरा णिच्चं,
जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धि।
सो सुवति ण सो धण्णं,
जो जग्गति सो सया धण्णो॥

शील और लज्जा ही नारी का भूषण है। हार आदि आभूषणों से नारी का शरीर विभूषित नहीं हो सकता। उसका भूषण तो शील और लज्जा ही है। सभा में संस्कार रहित असाधुवादिनी वाणी प्रशस्त नहीं कही जा सकती।

इस प्रकार प्रस्तुत भाष्य में श्रमणों के आचार-विचार का तार्किक दृष्टि से बहुत ही सूक्ष्म विवेचन किया गया है। उस युग की सामाजिक सांस्कृतिक धार्मिक राजनीतिक स्थितियों पर भी खासा अच्छा प्रकाश पड़ता है। अनेक स्थलों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सुन्दर विश्लेषण हुआ है। जैन साहित्य के इतिहास में ही नहीं, अपितु भारतीय साहित्य में इस ग्रन्थरत्न का अपूर्व और अनूठा स्थान है।

बृहत्कल्पचूर्णि

इस चूर्णि का आधार मूलसूत्र व लघुभाष्य है। दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि का और बृहत्कल्पचूर्णि का प्रारम्भिक अंश प्रायः मिलता-जुलता है। भाषाविज्ञों का मन्तव्य है कि बृहत्कल्पचूर्णि से दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि प्राचीन है। यह सम्भव है कि ये दोनों ही चूर्णियां एक ही आचार्य की हों।

प्रस्तुत चूर्णि में पीठिका और छह उद्देशक हैं। प्रारम्भ में ज्ञान के स्वरूप पर चिन्तन किया गया है। अभिधान और अभिधेय को कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न बताते हुए वृक्ष शब्द के छह भाषाओं में पर्याय दिये हैं। जिसे संस्कृत में वृक्ष कहते हैं वही प्राकृत में रुक्ख, मगध में ओदण, लाट में कूर, दमिल-तमिल में चोर और आन्ध्र में इडाकु कहा जाता है।

चूर्णि में तत्त्वार्थाधिगम, विशेषावश्यकभाष्य, कर्मप्रकृति, महाकल्प, गोविन्दनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों का उल्लेख किया है। भाषा संस्कृतमिश्रित प्राकृत है। चूर्णि में प्रारम्भ से अन्त तक लेखक के नाम का निर्देश नहीं हुआ है।

प्रस्तुत वृत्ति भद्रबाहु स्वामी विरचित बृहत्कल्पनिर्युक्ति एवं संघदासगणी विरचित लघुभाष्य पर है। आचार्य मलयगिरि पीठिका की भाष्य गाथा ६०६ पर्यन्त ही अपनी वृत्ति लिख सके। आगे उन्होंने वृत्ति नही लिखी है। आगे की वृत्ति आचार्य क्षेमकीर्ति ने पूर्ण की है। जैसा कि स्वयं क्षेमकीर्ति ने भी स्वीकार किया है।[1]

वृत्ति के प्रारम्भ में वृत्तिकार ने जिनेश्वर देव को प्रणाम कर सद्गुरुदेव का स्मरण किया है तथा भाष्यकार और चूर्णिकार के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त की है। वृत्तिकार ने बृहत्कल्प एवं व्यवहारसूत्र के निर्माताओं के सम्बन्ध में लिखा है कि चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु स्वामी ने श्रमणों के अनुग्रहार्थ कल्प और व्यवहार की रचना की जिससे कि प्रायश्चित्त का व्यवच्छेद न हो। उन्होंने सूत्र के गम्भीर रहस्यों को स्पष्ट करने के लिये निर्युक्ति की ही रचना की है और जिनमें प्रतिभा की तेजस्विता का अभाव है उन अल्पबुद्धि वाले व्यक्तियो के लिए भाष्यकार ने भाष्य का निर्माण किया है। यह निर्युक्ति और भाष्य सूत्र के अर्थ को प्रकट करने वाले होने से दोनों एक ग्रन्थ रूप हो गये। वृत्ति मे प्राकृत गाथाओं का उद्धरण के रूप में प्रयोग हुआ है और विषय को सुबोध बनाने की दृष्टि से प्राकृत कथाएँ उद्धृत की गई हैं। प्रस्तुत मलयगिरि वृत्ति का ग्रन्थमान ४६०० श्लोक प्रमाण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य मलयगिरि शास्त्रों के गम्भीर ज्ञाता थे। विभिन्न दर्शनशास्त्रों का जैसा और जितना गम्भीर विवेचन एवं विश्लेषण उनकी टीकाओ में उपलब्ध है, वैसा अन्यत्र कहीं पर भी उपलब्ध नहीं है। वे अपने युग के महान् तत्त्वचिन्तक, प्रसिद्ध टीकाकार और महान् व्याख्याता थे। आगमों के गुरुगम्भीर रहस्यों को तर्कपूर्ण शैली में प्रस्तुत करने की उनकी क्षमता अद्भुत थी, अनूठी थी।

सौभाग्यसागर ने बृहत्कल्प पर संस्कृत भाषा में एक टीका लिखी।

बृहत्कल्पनिर्युक्ति, लघुभाष्य तथा मलयगिरि, क्षेमकीर्ति कृत टीका सहित सन् १९३३ से १९४१ तक श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगर सौराष्ट्र से प्रकाशित हुई। प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन चतुरविजयजी और पुण्यविजयजी ने किया। सम्पादन कला की दृष्टि से यह सम्पादन उत्कृष्ट कहा जा सकता है।

बृहत्कल्प एक अज्ञात टीकाकार की टीका सहित सम्यक्ज्ञान प्रचारक मण्डल जोधपुर से प्रकाशित हुआ। सन् १९२३ में जर्मन टिप्पणी आदि के साथ W. Schubring Lepizig 1905 : मूल मात्र नागरीलिपि में—पूना, १९२३।

सन् १९१५ मे डॉ. जीवराज घेलाभाई दोशी ने गुजराती अनुवाद सहित अहमदाबाद से प्रकाशित किया, और आचार्य अमोलकऋषिजी म. ने हिन्दी अनुवाद सहित सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद जौहरी हैदराबाद से प्रकाशित किया। ई. सन् १९७७ मे आगम अनुयोग प्रकाशन साण्डेराव से "कप्पसुत्तं" के नाम से मूलानुस्पर्शी अनुवाद और विशेष अर्थ के साथ प्रकाशित हुआ।

प्रस्तुत सम्पादन—प्रस्तुत आगम के सम्पादक आगम अनुयोग प्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी म. 'कमल' हैं। जिनका शब्दानुलक्षी अनुवाद और सम्पादन मन को लुभाने वाला है। प्राचीन व्याख्या साहित्य के आधार पर अनेक निगूढ़ रहस्यों को सम्पादक मुनिवर ने स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

व्यवहारसूत्र व्याख्यासाहित्य

व्यवहार श्रमण जीवन की साधना का एक जीवन्त भाष्य है। व्यवहारनिर्युक्ति में उत्सर्ग और अपवाद

१. श्री मलयगिरी प्रभवो, यां कर्त्तुमुपाक्रमन्त मतिमन्तः।
सा कल्पशास्त्र टीका मयाऽनुसन्धीयतेऽल्पधिया॥ —बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति, पृ. १७७

का विवेचन है। इस निर्युक्ति पर भाष्य भी है। जो अधिक विस्तृत है। बृहत्कल्प और व्यवहार की निर्युक्ति परस्पर शैली भाव-भाषा की दृष्टि से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। दोनों में साधना के तथ्य व सिद्धान्त प्रायः समान हैं। यह निर्युक्ति भाष्य में विलीन हो गई है।

व्यवहारभाष्य

हम पूर्व में ही बता चुके हैं कि व्यवहारभाष्य के रचयिता का नाम अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। बृहत्कल्पभाष्य के समान ही इस भाष्य में भी निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के आचार-विचार पर प्रकाश डाला है।

सर्वप्रथम पीठिका में व्यवहार, व्यवहारी एवं व्यवहर्तव्य के स्वरूप की चर्चा की गई है। व्यवहार में दोष लगने की दृष्टि से प्रायश्चित्त का अर्थ, भेद, निमित्त, अध्ययन विशेष, तदर्हपर्षद आदि का विवेचन किया गया है और विषय को स्पष्ट करने के लिये अनेक दृष्टान्त भी दिये गये हैं। इसके पश्चात् भिक्षु, मासपरिहार, स्थानप्रतिसेवना, आलोचना आदि पदों पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया है। आधाकर्म से सम्बन्धित अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार के लिए पृथक्-पृथक् प्रायश्चित्त का विधान है। मूलगुण और उत्तरगुण इन दोनों की विशुद्धि प्रायश्चित्त से होती है। अतिक्रम के लिए मासगुरु और काललघु, अतिचार के लिए तपोगुरु और कालगुरु और अनाचार के लिये चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का विधान है।

पिण्डविशुद्धि समिति भावना तप प्रतिमा और अभिग्रह ये सभी उत्तरगुण में हैं। इनके क्रमशः बयालीस, आठ, पच्चीस, बारह, बारह और चार भेद होते हैं। प्रायश्चित्त करने वाले पुरुष के निर्गत और वर्तमान ये दो प्रकार हैं। जो तपोर्ह प्रायश्चित्त से अतिक्रान्त हो गये हैं वे निर्गत हैं और जो विद्यमान हैं वे वर्तमान हैं। उनके भी भेद-प्रभेद किये गये हैं।

प्रायश्चित्त के योग्य पुरुष चार प्रकार के होते हैं—

१. उभयतर—जो संयम तप की साधना करता हुआ भी दूसरों की सेवा कर सकता है।
२. आत्मतर—जो केवल तप ही कर सकता है।
३. परतर—जो केवल सेवा ही कर सकता है।
४. अन्यतर—जो तप और सेवा दोनों में से किसी एक समय में एक का ही सेवन कर सकता है।

आलोचना आलोचनार्ह और आलोचक के बिना नहीं होती। आलोचनार्ह स्वयं आचारवान, आधारवान, व्यवहारवान, अपव्रीडक, प्रकुर्वी, निर्यापक, अपायदर्शी और अपरिस्रावी, इन गुणों से युक्त होता है। आलोचक भी जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न, विनयसम्पन्न, ज्ञानसम्पन्न, दर्शनसम्पन्न, चरणसम्पन्न, क्षान्त, दान्त, अमायी और अपश्चात्तापी इन दस गुणों से युक्त होता है। साथ ही आलोचना के दोष, तद्विषयभूत द्रव्य आदि, प्रायश्चित्त देने की विधि आदि पर भी भाष्यकार ने चिन्तन किया है।

परिहारतप के वर्णन में सेवा का विश्लेषण किया गया है और गुप्तर और गुणाकर के उदाहरण भी दिये गये है। आरोपणा के प्रस्थापनिका, स्थापिता, कृत्स्ना, अकृत्स्ना और हाडहडा ये पांच प्रकार बताये हैं तथा इन पर विस्तार से चर्चा की है।

शिथिलता के कारण गच्छ का परित्याग कर पुनः गच्छ में सम्मिलित होने के लिए विविध प्रकार के प्रायश्चित्तों का वर्णन है। पार्श्वस्थ, यथाच्छन्द, कुशील, अवसन्न और संसक्त के स्वरूप पर प्रकाश डाला

श्रमणों के विहार की चर्चा करते हुए एकाकी विहार का निषेध किया है और उनको लगने वाले दोषो का निरूपण किया है।

विविध प्रकार के तपस्वी व व्याधियों से संसक्त श्रमण की सेवा का विधान करते हुए क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त की सेवा करने की मनोवैज्ञानिक पद्धति पर प्रकाश डाला है। क्षिप्तचित्त के राग, भय और अपमान तीन कारण है। दीप्तचित्त का कारण सम्मान है। सम्मान होने पर उसमें मद पैदा होता है। शत्रुओ को पराजित करने के कारण वह मद से उन्मत्त होकर दीप्तचित्त हो जाता है। क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त मे मुख्य अन्तर यह है कि क्षिप्तचित्त प्राय: मौन रहता है और दीप्तचित्त बिना प्रयोजन के भी बोलता रहता है।

भाष्यकार ने गणावच्छेदक, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, प्रवर्तिनी आदि पदवियों को धारण करने वाले की योग्यताओं पर विचार किया है। जो ग्यारह अंगो के ज्ञाता हैं, नवम पूर्व के ज्ञाता हैं, कृतयोगी है, बहुश्रुत हैं, बहुत आगमो के परिज्ञाता हैं, सूत्रार्थ विशारद हैं, धीर हैं, श्रुतनिघर्ष है, महाजन है वे विशिष्ट व्यक्ति ही आचार्य आदि विशिष्ट पदवियो को धारण कर सकते हैं।

श्रमणों के विहार सम्बन्धी नियमोपनियमों पर विचार करते हुए कहा है कि आचार्य, उपाध्याय आदि पदवीदारों को कम से कम कितने सन्तो के साथ रहना चाहिए, आदि विविध विधि—विधानों का निरूपण है। आचार्य, उपाध्याय के पाच अतिशय होते हैं, जिनका श्रमणो को विशेष लक्ष्य रखना चाहिए—

१. उनके बाहर जाने पर पैरो को साफ करना।
२. उनके उच्चार-प्रस्रवण को निर्दोष स्थान पर परठना।
३. उनकी इच्छानुसार वैयावृत्य करना।
४. उनके साथ उपाश्रय के भीतर रहना।
५. उनके साथ उपाश्रय के बाहर जाना।

श्रमण किसी महिला को दीक्षा दे सकता है और दीक्षा के बाद उसे साध्वी को सौंप देना चाहिए। साध्वी किसी भी पुरुष को दीक्षा नही दे सकती। उसे योग्य श्रमण के पास दीक्षा के लिए प्रेषित करना चाहिए। श्रमणी एक संघ में दीक्षा ग्रहण कर दूसरे संघ में शिष्या बनना चाहे तो उसे दीक्षा नही देनी चाहिए। उसे जहाँ पर रहना हो वही पर दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए, किन्तु श्रमण के लिए ऐसा नियम नहीं है। तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाला उपाध्याय और ५ वर्ष की दीक्षापर्याय वाला आचार्य बन सकता है।

वर्षावास के लिए ऐसा स्थान श्रेष्ठ बताया है,: जहाँ पर अधिक कीचड़ न हो, द्वीन्द्रियादि जीवों की बहुलता न हो, प्रासुक भूमि हो, रहने योग्य दो तीन बस्तियां हों, गोरस की प्रचुरता हो, बहुत लोग रहते हों, कोई वैद्य हो, औषधियां सरलता से प्राप्त होती हो, धान्य की प्रचुरता हो, राजा सम्यक् प्रकार से प्रजा का पालन करता हो, पाखण्डी साधु कम रहते हों, भिक्षा सुगम हो और स्वाध्याय में किसी भी प्रकार का विघ्न न हो। जहाँ पर कुत्ते अधिक हो वहाँ पर श्रमण को विहार नही करना चाहिए।

भाष्य में दीक्षा ग्रहण करने वाले के गुण-दोष पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि कुछ व्यक्ति अपने देश-स्वभाव से ही दोषयुक्त होते हैं। आंध्र में उत्पन्न व्यक्ति क्रूर होता है। महाराष्ट्र मे उत्पन्न हुआ व्यक्ति वाचाल होता है और कोशल मे उत्पन्न हुआ व्यक्ति स्वभाव से ही दुष्ट होता है। इस प्रकार का न होना बहुत ही कम व्यक्तियों मे सम्भव है।

आगे भाष्य में शयनादि के निमित्त सामग्री एकत्रित करने और पुनः लौटाने की विधि बतलाई है। आहार की मर्यादा पर प्रकाश डालते हुए कहा है—आठ कौर खाने वाला श्रमण अल्पाहारी, बारह, सोलह, चौबीस, इकतीस और बत्तीस ग्रास ग्रहण करने वाला श्रमण क्रमशः अपार्धाहारी, अर्धाहारी, प्राप्तावमोदर्य और प्रमाणाहारी है।

नवम उद्देशक में शय्यातर के ज्ञातिक, स्वजन, मित्र प्रभृति आगन्तुक व्यक्तियों से सम्बन्धित आहार को लेने और न लेने के सम्बन्ध में विचार कर श्रमणों की विविध प्रतिमाओं पर प्रकाश डाला है।

दशम उद्देशक में यवमध्यप्रतिमा और वज्रमध्यप्रतिमा पर विशेष रूप से चिन्तन किया है। साथ ही पांच प्रकार के व्यवहार, बालदीक्षा की विधि, दस प्रकार की वैयावृत्य आदि विषयों की व्याख्या की गई है।

आर्य रक्षित, आर्य कालक, राजा सातवाहन, प्रद्योत, मुरुण्ड, चाणक्य, चिलातपुत्र, अवन्ति, सुकुमाल, रोहिणेय, आर्य समुद्र, आर्य मंगु आदि की कथाएं आई हैं। प्रस्तुत भाष्य अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

व्यवहार पर एक चूर्णि भी लिखी गई थी। चूर्णि के पश्चात् व्यवहार पर आचार्य मलयगिरि ने वृत्ति लिखी। वृत्ति में आचार्य मलयगिरि का गम्भीर पाण्डित्य स्पष्ट रूप से झलकता है। विषय की गहनता, भाषा की प्रांजलता, शैली का लालित्य और विश्लेषण की स्पष्टता प्रेक्षणीय है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्राक्कथन के रूप में पीठिका है। जिसमें कल्प, व्यवहार, दोष, प्रायश्चित्त प्रभृति विषयों पर चिन्तन किया है। वृत्तिकार ने प्रारम्भ में अर्हत् अरिष्टनेमि को, अपने सद्गुरुवर्य तथा व्यवहारसूत्र के चूर्णिकार आदि को भक्तिभावना से विभोर होकर नमन किया है।

वृत्तिकार ने बृहत्कल्प और व्यवहार इन दोनों आगमों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा कि कल्पाध्ययन में प्रायश्चित्त का निरूपण है किन्तु उसमें प्रायश्चित्त देने की विधि नहीं है, जबकि व्यवहार में प्रायश्चित्त देने की और आलोचना करने की ये दोनों प्रकार की विधियां हैं। यह बृहत्कल्प से व्यवहार की विशेषता है। व्यवहार, व्यवहारी और व्यवहर्तव्य तीनों का विश्लेषण करते हुए लिखा है—व्यवहारी कर्तारूप है, व्यवहार कारणरूप है और व्यवहर्तव्य कार्यरूप है। कारणरूपी व्यवहार आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत रूप से पांच प्रकार का है। चूर्णिकार ने पांचों प्रकार के व्यवहार को करण कहा है। भाष्यकार ने सूत्र, अर्थ, जीतकल्प, मार्ग, न्याय, एप्सितव्य, आचरित और व्यवहार इनको एकार्थक माना है।

जो स्वयं व्यवहार के मर्म को जानता हो, अन्य व्यक्तियों को व्यवहार के स्वरूप को समझाने की क्षमता रखता हो वह गीतार्थ है। जो गीतार्थ है उसके लिए व्यवहार का उपयोग है। प्रायश्चित्त प्रदाता और प्रायश्चित्त संग्रहण करने वाला दोनों गीतार्थ होने चाहिए। प्रायश्चित्त के प्रतिसेवना, संयोजना, आरोपणा और परिकुंचना, ये चार अर्थ हैं। प्रतिसेवना रूप प्रायश्चित्त के दस भेद हैं।

(१) आलोचना, (२) प्रतिक्रमणा, (३) तदुभय, (४) विवेक (५) उत्सर्ग, (६) तप, (७) छेद, (८) मूल, (९) अनवस्थाप्य और (१०) पारांचिक।

इन दसों प्रायश्चित्तों के सम्बन्ध में विशेष रूप से विवेचन किया गया है। यदि हम इन प्रायश्चित्त के प्रकारों की तुलना विनयपिटक[1] में आयी हुई प्रायश्चित्तविधि के साथ करें तो आश्चर्यजनक समानता मिलेगी। प्रायश्चित्त प्रदान करने वाला अधिकारी या आचार्य बहुश्रुत व गम्भीर हो, यह आवश्यक है। प्रत्येक के सामने

१. विनयपिटक निदान

आलोचना का निषेध किया गया है। आलोचना और प्रायश्चित्त दोनों ही योग्य व्यक्ति के समक्ष होने चाहिए, जिससे कि वह गोपनीय रह सके।

बौद्धपरम्परा में साधुसमुदाय के सामने प्रायश्चित्त ग्रहण का विधान है। विनयपिटक में लिखा है— प्रत्येक महीने की कृष्ण चतुर्दशी और पूर्णमासी को सभी भिक्षु उपोसथागार में एकत्रित हों तथागत बुद्ध ने अपना उत्तराधिकारी संघ को बताया है। अतः किसी प्राज्ञ भिक्षु को सभा के प्रमुख पद पर नियुक्त कर पातिमोक्ख का वाचन किया जाता है और प्रत्येक प्रकरण के उपसंहार में यह जिज्ञासा व्यक्त की जाती है कि उपस्थित सभी भिक्षु उक्त बातों में शुद्ध हैं? यदि कोई भिक्षु तत्सम्बन्धी अपने दोष की आलोचना करना चाहता है तो संघ उस पर चिन्तन करता है और उसकी शुद्धि करवाता है। द्वितीय और तृतीय बार भी उसी प्रश्न को दुहराया जाता है। सभी की स्वीकृति होने पर एक-एक प्रकरण आगे पढ़े जाते हैं। इसी तरह भिक्षुणियां भिक्खुनी पातिमोक्ख का वाचन करती हैं। यह सत्य है कि दोनों ही परम्पराओं की प्रायश्चित्त विधियां पृथक्-पृथक् हैं। पर दोनों में मनोवैज्ञानिकता है। दोनों ही परम्पराओं में प्रायश्चित्त करने वाले साधक के हृदय की पवित्रता, विचारों की सरलता अपेक्षित मानी है।

प्रथम उद्देशक में प्रतिसेवना के मूलप्रतिसेवना और उत्तरप्रतिसेवना ये दो प्रकार बताये हैं। मूलगुण-अतिचारप्रतिसेवना प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह रूप पांच प्रकार की है। उत्तरगुणातिचार प्रतिसेवना दस प्रकार की है। उत्तरगुण अनागत, अतिक्रान्त, कोटिसहित, नियन्त्रित, साकार, अनाकार, परिमाणकृत, निरवशेष, सांकेतिक और अद्धा प्रत्याख्यान के रूप में है। ऊपर शब्दों में उत्तरगुणों के पिण्डविशुद्धि, पांच समिति, बाह्य तप, आभ्यान्तर तप, भिक्षुप्रतिमा और अभिग्रह इस तरह दस प्रकार है। मूलगुणातिचार-प्रतिसेवना और उत्तरगुणातिचारप्रतिसेवना इनके भी दर्प्य और कल्प्य ये दो प्रकार हैं। बिना कारण प्रतिसेवना दर्पिका है और कारण युक्त प्रतिसेवना कल्पिका है। वृत्तिकार ने विषय को स्पष्ट करने के लिए स्थान-स्थान पर विवेचन प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत वृत्ति का ग्रन्थमान ३४६२५ श्लोक प्रमाण है।

वृत्ति के पश्चात् जनभाषा में सरल और सुबोध शैली में आगमों के शब्दार्थ करने वाली संक्षिप्त टीकाएं लिखी गई हैं, जिनकी भाषा प्राचीन गुजराती-राजस्थानी मिश्रित है। यह बालावबोध व टब्बा के नाम से विश्रुत हैं। स्थानकवासी परम्परा के धर्मसिंह मुनि ने व्यवहारसूत्र पर भी टब्बा लिखा है, पर अभी तक वह अप्रकाशित ही है। आचार्य अमोलकऋषिजी महाराज द्वारा कृत हिन्दी अनुवाद सहित व्यवहारसूत्र प्रकाशित हुआ है। जीवराज घेलाभाई दोशी ने गुजराती में अनुवाद भी प्रकाशित किया है। शुब्रिंग लिपजिग ने जर्मन टिप्पणी के साथ सन् १९१८ में लिखा। जिसको जैन साहित्य समिति पूना से १९२३ में प्रकाशित किया है।

पूज्य घासीलालजी म. ने छेदसूत्रों का प्रकाशन केवल संस्कृत टीका के साथ करवाया है।

आगम अनुयोग प्रकाशन साण्डेराव से सन् १९८० में व्यवहारसूत्र प्रकाशित हुआ। जिसका सम्पादन आगम-मर्मज्ञ मुनि श्री कन्हैयालालजी म. "कमल" ने किया।

प्रस्तुत सम्पादन—मुनि श्री कन्हैयालालजी म. "कमल" ने पहले आयार-दसा, कप्पसुत्त और वहारसुत्त इन तीनों छेदसूत्रों का सम्पादन और प्रकाशन किया था। उसी पर और अधिक विस्तार से प्रस्तुत तीन आगमों का सम्पादन कर प्रकाशन हो रहा है। इसके पूर्व निशीथ का प्रकाशन हो चुका है। चारों छेदसूत्रों पर मूल, अर्थ और विवेचन युक्त यह प्रकाशन अपने आप में गौरवपूर्ण है। इन तीन आगमों के प्रकाशन के साथ ही

प्रस्तुत आगममाला से स्थानकवासी परम्परा मान्य बत्तीस आगमों का प्रकाशन कार्य भी सम्पन्न हो रहा है। स्वर्गीय श्रद्धेय युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी म. की कमनीय कल्पना को अनेक सम्पादक मुनियों, महासतियों और विद्वानों के कारण मूर्त रूप मिल गया है। यह परम आह्लाद का विषय है। छेदसूत्रों में श्रमणों की आचार-संहिता का विस्तार से निरूपण हुआ है। छेदसूत्रों में उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का निरूपण है। मैं बहुत ही विस्तार से इन पर लिखने का सोच रहा था, पर श्रमणसंघीय व्यवस्था का दायित्व आ जाने से उस कार्य में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण और अत्यधिक भीड़ भरा वातावरण होने के कारण नहीं लिख सका। इसका मुझे स्वयं को विचार है। बहुत ही संक्षिप्त में परिचयात्मक प्रस्तावना लिखी है। आशा है, सुज्ञ पाठक आगम में रहे हुए मर्म को समझेंगे। महामहिम राष्ट्रसन्त आचार्यसम्राट श्री आनन्दऋषिजी म. और परमश्रद्धेय पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी म. की असीम कृपा के फलस्वरूप ही मैं साहित्य के क्षेत्र में कुछ कार्य कर सका हूँ और स्वर्गीय युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी म. की प्रेरणा से आगम साहित्य पर प्रस्तावनाएं लिखकर उनकी प्रेरणा को मूर्तरूप दे सका हूँ, इसका मन में सन्तोष है। आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि सुज्ञ पाठकगण आगमों की स्वाध्याय कर अपने जीवन को धन्य बनायेंगे।

कोट, पीपाड़सिटी
दिनांक २२-१०-९१

—उपाचार्य देवेन्द्रमुनि

विषय सूची

दशाश्रुतस्कन्ध [१–१२४]

आठवीं दशा

नवमी दशा

दसवीं दशा

बृहत्कल्पसूत्र [१२५–२५८]

प्रथम उद्देशक

द्वितीय उद्देशक

तृतीय उद्देशक

चौथा उद्देशक

पांचवा उद्देशक

छठा उद्देशक

व्यवहारसूत्र [२५९–४५८]

प्रथम उद्देशक

दूसरा उद्देशक

तीसरा उद्देशक

चौथा उद्देशक

पांचवां उद्देशक

छट्ठा उद्देशक

सातवां उद्देशक

आठवां उद्देशक

नवम उद्देशक

दसवां उद्देशक

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

(कार्यकारिणी समिति)

दसासुयक्खंधो

दशाश्रुतस्कन्ध

दशाश्रुतस्कन्ध

प्रथम दशा

बीस असमाधिस्थान

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—
इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहिट्ठाणा पण्णत्ता ।

प०—कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहिट्ठाणा पण्णत्ता ?

उ०—इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहिट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—

(१) दवदवचारी यावि भवइ, (२) अप्पमज्जियचारी यावि भवइ, (३) दुप्पमज्जियचारी यावि भवइ, (४) अतिरित्त—सेज्जासणिए यावि भवइ, (५) राइणिअ-परिभासी यावि भवइ, (६) थेरोवघाइए यावि भवइ, (७) भूओवघाइए यावि भवइ, (८) संजलणे यावि भवइ, (९) कोहणे यावि भवइ, (१०) पिट्ठिमंसिए यावि भवइ, (११) अभिक्खणं-अभिक्खणं ओहारइत्ता भवइ, (१२) णवाणं अहिगरणाणं अणुप्पण्णाणं उप्पाइत्ता भवइ, (१३) पोराणाणं अहिगरणाणं खामिअ-विउसवियाणं पुणो उदीरेत्ता भवइ, (१४) अकाले सज्झायकारए यावि भवइ, (१५) ससरक्खपाणि-पाए यावि भवइ, (१६) सद्दकरे यावि भवइ, (१७) झंझकरे यावि भवइ, (१८) कलहकरे यावि भवइ, (१९) सूरप्पमाण-भोई यावि भवइ, (२०) एसणाए असमिए यावि भवइ ।[1] एते खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहिट्ठाणा पण्णत्ता—त्ति बेमि ॥

हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है—उन निर्वाणप्राप्त भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है—इस आर्हत् प्रवचन में निश्चय से स्थविर भगवन्तों ने बीस असमाधिस्थान कहे हैं ।

प्रश्न—स्थविर भगवन्तों ने वे कौन से बीस असमाधिस्थान कहे हैं ?

उत्तर—स्थविर भगवन्तों ने बीस असमाधिस्थान इस प्रकार कहे हैं । यथा—

(१) अतिशीघ्र चलना । (२) प्रमार्जन करे बिना (अंधकार में) चलना । (३) उपेक्षाभाव से प्रमार्जन करना । (४) अतिरिक्त शय्या—आसन रखना । (५) रत्नाधिक के सामने परिभाषण करना । (६) स्थविरों का उपघात करना । (७) पृथ्वी आदि का घात करना । (८) क्रोध भाव में जलना । (९) क्रोध करना । (१०) पीठ पीछे निन्दा करना । (११) बार-बार निश्चयात्मक भाषा बोलना । (१२) नवीन अनुत्पन्न कलहों को उत्पन्न करना । (१३) क्षमापना द्वारा उपशान्त पुराने क्लेश को फिर से उभारना । (१४) अकाल में स्वाध्याय करना । (१५) सचित्त रज से युक्त हाथ-

---

१. सम. सम. २० सु. १

पांव आदि का प्रमार्जन न करना। (१६) अनावश्यक बोलना या वाक्-युद्ध करना (जोर-जोर से बोलना)। (१७) संघ में भेद उत्पन्न करने वाला वचन बोलना। (१८) कलह करना—झगड़ा करना। (१९) सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक कुछ न कुछ खाते रहना। (२०) एषणासमिति से असमित होना अर्थात् अनेषणीय भक्त-पानादि ग्रहण करना।

स्थविर भगवन्तों ने ये बीस असमाधिस्थान कहे हैं। —ऐसा मैं कहता हूं।

विवेचन—श्रमण-समाचारी कथित विधि-निषेधों के अनुसार संयम का आचरण न करना अथवा जिन-जिन प्रवृत्तियों से आत्मविराधना तथा संयमविराधना होती है, वे सभी प्रवृत्तियां करना संयमी जीवन में असमाधि-स्थान कहलाती हैं।

इस व्याख्या के अनुसार असमाधि-स्थानों की संख्या निर्धारित करना यद्यपि कठिन है, फिर भी सामान्य जानकारी के लिए स्थविर भगवन्तों ने इस पहली दशा में बीस असमाधि-स्थान कहे हैं।

(१) शीघ्र चलना—उद्विग्नमन (अशान्त-चित्त) वाला भिक्षु यदि शीघ्र गति से गमन करता है तो उसका किसी से टकराना, पत्थर आदि से ठोकर लगना, पैर में कांटा, कांच आदि का चुभना आदि अनेक प्रकार की शारीरिक क्षतियां होना संभव है। इसके अतिरिक्त कीड़ी आदि अनेक प्रकार के छोटे-मोटे जीवों का पैरों तले दब जाना संभव है।

दशवै. अ. ५, उ. १ में भी कहा गया है कि "चरेमंदमणुव्विग्गो" अर्थात् किसी भी प्रकार की उतावल न करते हुए भिक्षु मंदगति से गमन करे तथा दशवै. अ. ५, उ. २ में भी कहा है—"दवदवस्स न गच्छेज्जा" अर्थात् भिक्षु दबादब—शीघ्र न चले। अतः अतिशीघ्र गति से बिना देखे चलना पहला असमाधिस्थान है।

(२) अप्रमार्जन—जहां अंधेरा हो तथा मार्ग में कीड़ियां आदि छोटे-मोटे जीव अधिक संख्या में हों, वहां दिन में भी बिना प्रमार्जन किये चलने से जीवों की हिंसा (विराधना) होती है। जिससे भिक्षु के संयम की हानि होती है।

परन्तु आवश्यक कार्यों से रात्रि में गमनागमन करना चाहे तो बिना प्रमार्जन किए चलने से त्रसजीवों की विराधना होती है, क्योंकि कई कीड़े-मकोड़े रात्रि में इधर-उधर चलते-फिरते रहते हैं और अंधकार के कारण दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। अतः बिना प्रमार्जन किये चलना दूसरा असमाधि-स्थान है।

(३) दुष्प्रमार्जन करना—जितनी भूमि का प्रमार्जन किया है, उसके अतिरिक्त भूमि पर बिना विवेक के इधर-उधर पैर रखने से जीवों की हिंसा होना संभव है। अतः प्रमार्जन की हुई भूमि पर ही पैर रखकर चलना उचित है।

प्रमार्जन विवेक से करना आवश्यक है, उपेक्षाभाव से प्रमार्जन करना दुष्प्रमार्जन कहा जाता है। यह तीसरा असमाधिस्थान है।

(४) आवश्यकता से अधिक शय्या-संस्तारक रखना—श्रमणसमाचारी में शय्या-पाट आदि उपकरण सीमित रखने का विधान है। फिर भी भिक्षु आवश्यकता से अधिक शय्या-संस्तारकादि रखता है तो उनका प्रतिदिन उपयोग न करने पर और प्रतिलेखन, प्रमार्जन न करने पर उनमें

जीवोत्पत्ति होने की संभावना रहती है। उन जीवों के संघर्षण, संमर्दन से संयम की क्षति होती है अतः आवश्यकता से अधिक शय्या-संस्तारक रखना चौथा असमाधिस्थान है।

(५) रत्नाधिक के सामने बोलना—दीक्षापर्याय में ज्येष्ठ भिक्षुओं के समक्ष अविनयपूर्वक बोलना अनुचित है। दशवै. अ. ८ तथा अ. ९ में रत्नाधिक भिक्षु के विनय करने का विधान है तथा नि. उ. १० में रत्नाधिक भिक्षु की किसी प्रकार से आशातना करने पर गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान है। अतः रत्नाधिक के समक्ष भाषण करना पांचवां असमाधिस्थान है।

(६) स्थविरों का उपघात करना—वृद्ध (स्थविर) भिक्षु दीक्षा-पर्याय में चाहे छोटे हों या बड़े हों, उनकी चित्तसमाधि का पूर्ण ध्यान रखना अत्यावश्यक है। उनका हृदय से सम्मान करना और सेवा की समुचित व्यवस्था करना सभी श्रमणों का परम कर्तव्य है। उनका मन अशान्त रहे, इस प्रकार का व्यवहार करना छठा असमाधिस्थान है।

(७) छह काय के जीवों का हनन करना—श्रमण के लिए किसी भी त्रस-स्थावर प्राणी को त्रस्त करने की प्रवृत्ति करना सर्वथा निषिद्ध है, क्योंकि वह छह काय का प्रतिपालक होता है। अतः पृथ्वीकाय आदि स्थावर और त्रस प्राणियों की हिंसा करना सातवां असमाधिस्थान है।

(८-९) क्रोध से जलना और कटु वचन बोलना—किसी के प्रति क्रोध से संतप्त रहना तथा कठोर वचन बोलकर क्रोध प्रकट करना, ये दोनों ही समाधि भंग करने वाले हैं। अतः मन में क्रोध करना और कटु वचन कहकर क्रोध व्यक्त करना आठवां एवं नौवां असमाधिस्थान है।

(१०) पीठ पीछे किसी की निन्दा करना—यह अठारह पापों में से पन्द्रहवां पापस्थान है। सूयगडांग श्रु. १, अ. २, उ. २ में परनिन्दा को पाप कार्य बताते हुए कहा है कि "जो दूसरों की निन्दा करता है या अपकीर्ति करता है, वह संसार में परिभ्रमण करता है।"

एक कवि ने कहा है—

निंदक एक हु मत मिलो, पापी मिलो हजार।
इक निंदक के शीश पर, लख पापी को भार॥

निन्दा करने वाला स्वयं भी कर्मबंध करता है तथा दूसरों को भी असमाधि उत्पन्न करके कर्मबंध करने का निमित्त बनता है। दशवै. अ. १० में कहा है—

'न परं वइज्जासि अयं कुसीले, जेणं च कुप्पिज्ज न तं वइज्जा।'

अर्थात्—यह कुशील (दुराचारी) है, इत्यादि वचन बोलना तथा दूसरे को क्रोध की उत्पत्ति हो, ऐसे वचन बोलना भिक्षु को उचित नहीं है। यह दसवां असमाधिस्थान है।

११. बार-बार निश्चयात्मक भाषा बोलना—भिक्षु को जब तक किसी विषय की पूर्ण जानकारी नहीं हो, तब तक निश्चयात्मक भाषा बोलने का दशवै. अ. ७ में निषेध किया है तथा जिस विषय में पूर्ण निश्चय हो जाए, उसका निश्चित शब्दों में कथन किया जा सकता है।

निश्चयात्मक भाषा के अनुसार परिस्थिति न होने पर जिनशासन की निन्दा होती है, बोलने वाले का अवर्णवाद होता है, कई बार संघ में विकट परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, अनेक प्रकार के अनर्थ होने की संभावना रहती है। अतः भिक्षु का निश्चयात्मक भाषा बोलना ग्यारहवां असमाधि-स्थान है।

१२. नया कलह उत्पन्न करना—बिना विवेक के बोलने से कलह उत्पन्न हो जाते हैं। द्रौपदी के एक अविवेक भरे वचन से महाभारत का घोर संग्राम हुआ। अतः कलह उत्पन्न होने वाली भाषा का प्रयोग करना बारहवां असमाधिस्थान है।

१३. पुराने कलह को पुनः उभारना—बिना विवेक के कई बार ऐसी भाषा का प्रयोग हो जाता है जिससे उपशांत कलह पुनः उत्तेजित हो जाता है। भिक्षु को ऐसी भाषा का प्रयोग करना उचित नहीं है। उपशान्त कलह को पुनः उत्तेजित करना तेरहवां असमाधिस्थान है।

१४. अकाल में स्वाध्याय करना—सूर्योदय और सूर्यास्त का समय तथा मध्याह्न और मध्य-रात्रि का एक-एक मुहूर्त का समय स्वाध्याय के लिए अकाल कहा गया है। कालिक सूत्रों के स्वाध्याय के लिए दूसरा और तीसरा प्रहर अस्वाध्याय काल कहा गया है। इनके सिवाय औदारिक संबंधी १०, आकाश संबंधी १० और महोत्सव संबंधी १० अस्वाध्याय भी अकाल हैं। भगवदाज्ञा का उल्लंघन तथा अन्य दैवी उपद्रव होने की संभावना रहने से अकाल में स्वाध्याय करना चौदहवां असमाधि-स्थान है।

१५. सचित्त रज-युक्त हाथ-पैर आदि का प्रमार्जन न करना—भिक्षु भिक्षा के लिए जाए या विहार करे, उस समय उसके हाथ-पैर आदि पर यदि कभी सचित्त रज लग जाए तो उसका प्रमार्जन किए बिना बैठना, शयन करना, आहारादि करना असमाधि का हेतु है। क्योंकि अयतना असमाधि का और यतना समाधि का हेतु है।

जिनकल्पी अपनी चर्या के अनुसार जब तक हाथ-पैर आदि पर सचित्त रज रहती है, तब तक बैठना, शयन करना, आहार करना आदि नहीं करते हैं।

एक वैकल्पिक अर्थ यह भी है—जिस गृहस्थ के हाथ-पैर आदि सचित्त रज से लिप्त हों तो उसके हाथ से आहारादि लेना यह पन्द्रहवां असमाधिस्थान है।

१६. बहुभाषी होना—बहुत ज्यादा बोलना कलह-उत्पत्ति का कारण हो सकता है। वैसे तो मौन रहना सबसे अच्छा है, मौन भी एक प्रकार का तप है, किन्तु मौन न रह सकें तो अनावश्यक भाषण करना तो सर्वथा अनुचित है। यह सोलहवां असमाधिस्थान है।

१७. संघ में मतभेद उत्पन्न करना—समाज में मतभेद उत्पन्न करने वाली युक्तियों का प्रयोग करना, यह सत्रहवां असमाधिस्थान है।

१८. कलह करना—प्रायः असत्य भाषण से कलह उत्प- [illegible] कभी-कभी सत्य भाषण से भी कलह हो जाता है। सत्य एवं मृदु भाषा कल्याण- [illegible] ..., कटुक, कठोर, कलहकारी भाषा का प्रयोग करना उचित नहीं है। य- [illegible]

१९. सूर्योदय से सूर्यास्त तक कुछ न कुछ खाते रहना [illegible] और बाद में भी सारा दिन कुछ न कुछ खाते रहने से [illegible] रसास्वादन की आसक्ति बढ़ जाती है। इस प्रकार भी [illegible] पाप-श्रमण कहा है।

संयमनिर्वाह के लिए श्रमण सीमित पदार्थों का ही सेवन करे। शास्त्रों में छह कारण आहार करने के कहे है और सामान्य नियम तो यह है कि दिन में एक बार ही भिक्षु आहार ग्रहण करे। बार-बार कुछ न कुछ खाते रहना उन्नीसवा असमाधिस्थान है।

२०. **अनेषणीय भक्त-पान आदि ग्रहण करना**—आहार-वस्त्रादि आवश्यक पदार्थ ग्रहण करते समय उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोषो को टालकर गवेषणा न करने से संयम दूषित होता है। निर्युक्ति आदि व्याख्याग्रन्थों में एषणा के ४५ दोष कहे है। उनके अतिरिक्त आगमों में अनेक दोष वर्णित हैं। ठाणांग के चौथे ठाणे में शुद्ध गवेषणा करने वाले को अनुत्पन्न अतिशय ज्ञान की उपलब्धि होना कहा गया है। भक्त-पान ग्रहण करते समय गवेषणा न करने से सयम में शिथिलता आती है। यह बीसवां असमाधिस्थान है।

इन २० असमाधिस्थानों का त्याग करके भिक्षु को समाधिस्थानों का ही सेवन करना चाहिये, जिससे संयम में समाधि-प्राप्ति हो सके।

॥ प्रथम दशा समाप्त ॥

---

१२. नया कलह उत्पन्न करना—बिना विवेक के बोलने से कलह उत्पन्न हो जाते हैं। द्रौपदी के एक अविवेक भरे वचन से महाभारत का घोर संग्राम हुआ। अतः कलह उत्पन्न होने वाली भाषा का प्रयोग करना बारहवां असमाधिस्थान है।

१३. पुराने कलह को पुनः उभारना—बिना विवेक के कई बार ऐसी भाषा का प्रयोग हो जाता है जिससे उपशांत कलह पुनः उत्तेजित हो जाता है। भिक्षु को ऐसी भाषा का प्रयोग करना उचित नहीं है। उपशान्त कलह को पुनः उत्तेजित करना तेरहवां असमाधिस्थान है।

१४. अकाल में स्वाध्याय करना—सूर्योदय और सूर्यास्त का समय तथा मध्याह्न और मध्य-रात्रि का एक-एक मुहूर्त का समय स्वाध्याय के लिए अकाल कहा गया है। कालिक सूत्रों के स्वाध्याय के लिए दूसरा और तीसरा प्रहर अस्वाध्याय काल कहा गया है। इसके सिवाय औदारिक संबंधी १०, आकाश संबंधी १० और महोत्सव संबंधी १० अस्वाध्याय भी अकाल हैं। भगवदाज्ञा का उल्लंघन तथा अन्य दैवी उपद्रव होने की संभावना रहने से अकाल में स्वाध्याय करना चौदहवां असमाधि-स्थान है।

१५. सचित्त रज-युक्त हाथ-पैर आदि का प्रमार्जन न करना—भिक्षु भिक्षा के लिए जाए या विहार करे, उस समय उसके हाथ-पैर आदि पर यदि कभी सचित्त रज लग जाए तो उसका प्रमार्जन किए बिना बैठना, शयन करना, आहारादि करना असमाधि का हेतु है। क्योंकि अयतना असमाधि का और यतना समाधि का हेतु है।

जिनकल्पी अपनी चर्या के अनुसार जब तक हाथ-पैर आदि पर सचित्त रज रहती है, तब तक बैठना, शयन करना, आहार करना आदि नहीं करते हैं।

एक वैकल्पिक अर्थ यह भी है—जिस गृहस्थ के हाथ-पैर आदि सचित्त रज से लिप्त हों तो उसके हाथ से आहारादि लेना यह पन्द्रहवां असमाधिस्थान है।

१६. बहुभाषी होना—बहुत ज्यादा बोलना कलह-उत्पत्ति का कारण हो सकता है। वैसे तो मौन रहना सबसे अच्छा है, मौन भी एक प्रकार का तप है, किन्तु मौन न रह सकें तो अनावश्यक भाषण करना तो सर्वथा अनुचित है। यह सोलहवां असमाधिस्थान है।

१७. संघ में मतभेद उत्पन्न करना—समाज में मतभेद उत्पन्न करने वाली युक्तियों का प्रयोग करना, यह सत्रहवां असमाधिस्थान है।

१८. कलह करना—प्रायः असत्य भाषण से कलह उत्पन्न होता है, किन्तु कभी-कभी सत्य भाषण से भी कलह हो जाता है। सत्य एवं मृदु भाषा कल्याणकारी होती है। अतः अप्रिय, कटुक, कठोर, कलहकारी भाषा का प्रयोग करना उचित नहीं है। यह अठारहवां असमाधिस्थान है।

१९. सूर्योदय से सूर्यास्त तक कुछ न कुछ खाते रहना—भोजन के समय भोजन कर लेना और बाद में भी सारा दिन कुछ न कुछ खाते रहने से शरीर तो अस्वस्थ होता ही है, साथ ही रसास्वादन की आसक्ति बढ़ जाती है। इस प्रकार की प्रवृत्ति करने वाले भिक्षु को उत्तरा. अ. १७ में पाप-श्रमण कहा है।

संयमनिर्वाह के लिए श्रमण सीमित पदार्थों का ही सेवन करे। शास्त्रों में छह कारण आहार करने के कहे है और सामान्य नियम तो यह है कि दिन में एक बार ही भिक्षु आहार ग्रहण करे। बार-बार कुछ न कुछ खाते रहना उन्नीसवा असमाधिस्थान है।

२०. **अनेषणीय भक्त-पान आदि ग्रहण करना**—आहार-वस्त्रादि आवश्यक पदार्थ ग्रहण करते समय उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोषों को टालकर गवेषणा न करने से संयम दूषित होता है। निर्युक्ति आदि व्याख्याग्रन्थों में एषणा के ४५ दोष कहे है। उनके अतिरिक्त आगमों में अनेक दोष वर्णित हैं। ठाणांग के चौथे ठाणे में शुद्ध गवेषणा करने वाले को अनुत्पन्न अतिशय ज्ञान की उपलब्धि होना कहा गया है। भक्त-पान ग्रहण करते समय गवेषणा न करने से संयम में शिथिलता आती है। यह बीसवां असमाधिस्थान है।

इन २० असमाधिस्थानों का त्याग करके भिक्षु को समाधिस्थानों का ही सेवन करना चाहिये, जिससे संयम में समाधि-प्राप्ति हो सके।

॥ प्रथम दशा समाप्त ॥

दूसरी दशा

इक्कीस शबल दोष

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—

इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं एगवीसं सबला पण्णत्ता ।

प०—कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं एगवीसं सबला पण्णत्ता ?

उ०—इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं एगवीसं सबला पण्णत्ता, तं जहा—

१. हत्थकम्मं करेमाणे सबले, २. मेहुणं पडिसेवमाणे सबले, ३. राइ-भोअणं भुंजमाणे सबले, ४. आहाकम्मं भुंजमाणे सबले, ५. रायपिंडं भुंजमाणे सबले, ६. उद्देसियं वा, कीयं वा, पामिच्चं वा, अच्छिज्जं वा, अणिसिट्ठं वा, अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं वा भुंजमाणे सबले, ७. अभिक्खणं-अभिक्खणं पडियाइक्खित्ताणं भुंजमाणे सबले, ८. अंतो छण्हं मासाणं गणाओ गणं संकममाणे सबले, ९. अंतो मासस्स तओ दगलेवे करेमाणे सबले, १०. अंतो मासस्स तओ माइट्ठाणे करेमाणे सबले, ११. सागारियपिंडं भुंजमाणे सबले, १२. आउट्टियाए पाणाइवायं करेमाणे सबले, १३. आउट्टियाए मुसावायं वयमाणे सबले, १४. आउट्टियाए अदिण्णादाणं गिण्हमाणे सबले, १५. आउट्टियाए अणंतरहियाए पुढवीए ठाणं वा, सेज्जं वा, निसीहियं वा चेएमाणे सबले, १६. आउट्टियाए ससणिद्धाए पुढवीए, ससरक्खाए पुढवीए ठाणं वा, सेज्जं वा, निसीहियं वा चेएमाणे सबले, १७. आउट्टियाए चित्तमंताए सिलाए, चित्तमंताए लेलुए, कोलावासंसि वा दारुए जीवपइट्ठिए, स-अंडे, स-पाणे, स-बीए, स-हरिए, स-उस्से, स-उदगे, स-उत्तिंगे पणग-दग मट्टीए, मक्कडा-संताणए ठाणं वा, सिज्जं वा, निसीहियं वा चेएमाणे सबले, १८. आउट्टियाए मूलभोयणं वा, कंद-भोयणं वा, खंध-भोयणं वा, तया-भोयणं वा, पवाल-भोयणं वा, पत्त-भोयणं वा, पुप्फ-भोयणं वा, फल-भोयणं वा, बीय-भोयणं वा, हरिय-भोयणं वा भुंजमाणे सबले, १९. अंतो संवच्छरस्स दस दग-लेवे करेमाणे सबले, २०. अंतो संवच्छरस्स दस माइ-ट्ठाणाइं करेमाणे सबले, २१. आउट्टियाए सीओदग [illegible] वा पत्तेण वा [illegible] भायणेण वा असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिगा[illegible] सबले ।

एते खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं एगवीसं सबला [illegible] बेमि ॥

उत्तर—स्थविर भगवन्तों ने वे इक्कीस शबल दोष इस प्रकार कहे हैं, जैसे—

१. हस्तकर्म करने वाला शबल दोषयुक्त है। २. मैथुन प्रतिसेवन करने वाला शबल दोषयुक्त है। ३. रात्रिभोजन करने वाला शबल दोषयुक्त है। ४. आधाकर्मिक आहार खाने वाला शबल दोषयुक्त है। ५. राजपिंड को खाने वाला शबल दोषयुक्त है। ६. साधु के उद्देश्य से निर्मित, साधु के लिए मूल्य से खरीदा हुआ, उधार लाया हुआ, निर्बल से छीनकर लाया हुआ, विना आज्ञा के लाया हुआ अथवा साधु के स्थान पर लाकर के दिया हुआ आहार खाने वाला शबल दोषयुक्त है। ७. पुनः-पुनः प्रत्याख्यान करके आहार खाने वाला शबल दोषयुक्त है। ८. छह माह के भीतर ही एक गण से दूसरे गण में जाने वाला शबल दोषयुक्त है। ९. एक मास के भीतर तीन बार (नदी आदि को पार करते हुए) उदक-लेप (जल संस्पर्श) लगाने वाला शबल दोषयुक्त है। १०. एक मास के भीतर तीन बार माया करने वाला शबल दोषयुक्त है। ११. शय्यातर के आहारादि को खाने वाला शबल दोषयुक्त है। १२. जान-बूझ कर जीव हिंसा करने वाला शबल दोषयुक्त है। १३. जान-बूझ कर असत्य बोलने वाला शबल दोषयुक्त है। १४. जान-बूझकर अदत्त वस्तु को ग्रहण करने वाला शबल दोषयुक्त है। १५. जान-बूझ कर सचित्त पृथ्वी के निकट की भूमि पर कायोत्सर्ग, शयन या आसन करने वाला शबल दोषयुक्त है। १६. जान-बूझ कर सचित्त जल से स्निग्ध पृथ्वी पर और सचित्त रज से युक्त पृथ्वी पर स्थान, शयन या आसन करने वाला शबल दोषयुक्त है। १७. जान-बूझ कर सचित्त शिला पर, सचित्त पत्थर के ढेले पर, दीमक लगे हुए जीवयुक्त काष्ठ पर तथा अण्डों युक्त, द्वीन्द्रियादि जीवयुक्त, बीजयुक्त, हरित तृणादि से युक्त, ओसयुक्त, जलयुक्त, पिपीलिका (कीड़ी) नगरयुक्त, पनक (शेवाल) युक्त, गीली मिट्टी पर तथा मकड़ी के जालेयुक्त स्थान पर स्थान, शयन और आसन करने वाला शबल दोष-युक्त है। १८. जान-बूझ करके १. मूल २. कन्द ३. स्कन्ध ४. छाल ५. कोंपल ६. पत्र ७. पुष्प ८. फल ९. बीज और १०. हरी वनस्पति का भोजन करने वाला शबल दोषयुक्त है। १९. एक वर्ष के भीतर दस वार उदक-लेप लगाने वाला शबल दोषयुक्त है। २०. एक वर्ष के भीतर दस वार मायास्थान सेवन करने वाला शबल दोषयुक्त है। २१. जान-बूझ करके शीतल-सचित्त जल से गीले हाथ, पात्र, चम्मच या भाजन से अशन, पान, खादिम या स्वादिम को ग्रहण कर खाने वाला शबल दोषयुक्त है।

स्थविर भगवन्तों ने ये इक्कीस शबल दोष कहे हैं। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—पहली दशा में संयम के सामान्य दोष—बीस असमाधिस्थानों का कथन है। इस दूसरी दशा में इक्कीस प्रबल दोषों का कथन है। ये 'शबल' दोष संयम के मूल महाव्रतों को क्षति पहुँचाने वाले है, अतः इनके सेवन से आत्मा कर्मबद्ध होकर दुर्गति को प्राप्त करती है। इन दोषों के प्रायश्चित्त भी प्रायः अनुद्घातिक (गुरु) मासिक या चौमासिक होते हैं।

१. हस्तकर्म—मोहनीयकर्म के प्रबल उदय से अनेक अज्ञानी प्राणी इस कुटेव से कलंकित हो जाते हैं। विरक्त साधक भी किसी अज्ञान के कारण इस कुटेव की कुटिलता से ग्रस्त न हो जाए, इसलिए इसको शबल दोष कहा है और निशीथसूत्र प्रथम उद्देशक के प्रथम सूत्र में ही इस दोष का प्रायश्चित्त कहा है।

इस दुष्कर्म को बृहत्कल्प सूत्र उद्देशक चार में गुरु प्रायश्चित्त का स्थान और ठाणांग सूत्र के पांचवें ठाणे में भी गुरु प्रायश्चित्त का स्थान कहा है। अतः प्रत्येक साधु का यह कर्तव्य है कि वे इस ब्रह्मचर्यघातक प्रवृत्ति से स्वयं बचे और अन्य संयमियों को भी इस कुकर्म से बचाए। क्योंकि शारीरिक शक्ति के मूलाधार वीर्य का इस कुटेव से नाश होता है। हस्तमैथुन से सभी सद्गुण शनैः-शनैः समाप्त होकर व्यक्ति दुर्गुणी बन जाता है और उसका शरीर अनेक असाध्य रोगों से ग्रस्त हो जाता है। अतः मुमुक्षु साधक इस शबल दोष का सेवन न करे।

२. मैथुनसेवन—संयमी साधक मैथुन त्याग करके आजीवन ब्रह्मचर्य पालन के लिये उद्यत हो जाता है। क्योंकि वह यह जानता है कि "मूलमेयं अहम्मस्स, महादोससमुस्सयं"—यह मैथुन अधर्म का मूल है एवं महादोषों का समूह है तथा "खाणी अणत्थाण उ कामभोगा"—कामभोग अनर्थों की खान है। इस प्रकार विवेकपूर्वक संयमसाधना करते हुए भी कभी-कभी आहार-विहार की असावधानियों से या नववाड़ का यथार्थ पालन न करने से वेदमोह का तीव्र उदय होने पर साधक संयमसाधना से विचलित हो सकता है। इसलिए आगमों में अनेक स्थलों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से ब्रह्मचर्य पालन के लिये प्रेरित किया गया है। मैथुनसेवन की प्रवृत्ति स्त्रीसंसर्ग से होती है और हस्तकर्म की प्रवृत्ति स्वतः होती है। अतः हस्तकर्म करने वाला तो स्वयं ही भीतर ही भीतर दुःखी होता है किन्तु मैथुनसेवन करने वाला स्वयं को, समाज को एवं संघ को कलंकित करके अपना सर्वस्व समाप्त कर देता है। मैथुन सेवन करने वाले को गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है, साथ ही उसके तीन वर्ष के लिए या जीवन भर के लिये धर्मशासन के सभी उच्च पदों को प्राप्त करने के अधिकार समाप्त कर दिये जाते हैं। वह महाकर्मों का बंध करके विराधक हो जाता है और परभव में निरंतर दुःखी रहता है। अतः भिक्षु इस शबल दोष का सेवन न करे।

३. रात्रिभोजन—भिक्षु आजीवन रात्रिभोजन का त्यागी होता है। वह सूर्यास्त के बाद अपने पास आहार-पानी आदि रख भी नहीं सकता है। रात्रिभोजन का त्याग करना यह साधु का मूल गुण है। इसके लिये दशवैकालिक, बृहत्कल्प, निशीथ, ठाणांग आदि सूत्रों में विभिन्न प्रकार के निषेध और प्रायश्चित्त का विधान है।

निशीथसूत्र में दिन में ग्रहण किये हुए गोबर आदि विलेपन योग्य पदार्थों का रात्रि में उपयोग करना भी रात्रिभोजन ही माना है और उसका प्रायश्चित्त भी कहा गया है। रात्रिभोजन से प्रथम महाव्रत भी दूषित होता है। दिन में भी अंधकारयुक्त स्थान में भिक्षु को आहार करना निषिद्ध है। अतः भिक्षु इस शबल दोष को संयम में क्षति पहुँचाने वाला और कर्मबंध कराने वाला जानकर इसका कदापि सेवन न करे।

४. आधाकर्म—यह एषणासमिति में उद्गम दोष है। जो आहारादि साधु, साध्वी के निमित्त तैयार किया हो, अग्नि, पानी आदि का आरंभ किया गया हो, वह आहारादि आधाकर्म दोषयुक्त कहलाता है। अनेक आगमों में आधाकर्म आहार खाने का निषेध किया गया है। सूत्रकृतांग सूत्र श्रु. १ अ. १० में आधाकर्म आहार की चाहना करने का भी निषेध है और उसकी प्रशंसा करने का भी निषेध है। आचारांग सूत्र श्रु. १ अ. ८ उ. २ में कहा गया है—"कोई गृहस्थ आधाकर्म दोषयुक्त

आहार देने के आग्रह में छेदन-भेदन, मार-पीट आदि कर दे तो भी वहाँ भिक्षु को आधाकर्म आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए।

सूयगडांग सूत्र श्रु. २ अ. १ उ. ३ में आधाकर्म के अंश से युक्त अन्य शुद्ध आहार को ग्रहण कर भोगने वाले को दो पक्ष (गृहपक्ष और साधुपक्ष) का सेवन करने वाला कहा है। भूल से आधाकर्म आहार ले लिया गया हो तो जानकारी होने के बाद उसे खाना नहीं कल्पता है, किन्तु परठना कल्पता है।

आधाकर्मी आहारादि के सेवन से उसके बनने में हुए आरम्भ का अनुमोदन होता है, जिससे प्रथम महाव्रत दूषित होता है तथा कर्मबंध भी होता है। इन कारणों से ही आधाकर्म आहार के सेवन को यहाँ शबल दोष कहा है। इसके सेवन से संयम और ज्ञान मलिन होता है। अतः भिक्षु कभी आधाकर्म आहार का सेवन न करे।

५. राजपिंड—जिनका राज्याभिषेक हुआ हो, जो राज्यचिह्नों से युक्त हो, ऐसे राजा के घर का आहारादि राजपिंड कहा जाता है। ऐसे आहारादि के सेवन करने को दशवैकालिक सूत्र अ. ३ में अनाचार कहा गया है।

पहले और अंतिम तीर्थंकरों के शासनकाल में ही राजपिंड ग्रहण करने का निषेध है। बीच के तीर्थंकरों के शासनकाल में साधु ग्रहण कर सकते थे। राजाओं के यहाँ गोचरी जाने से अनेक दोष लगना संभव है—

यथा—१. राजाओं के यहाँ भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं होता है।
२. पौष्टिक भोजन काम-वासनावर्धक होने से साधुओं के योग्य नहीं होता है।
३. राजकुल में बार-बार जाने से जनता अनेक प्रकार की आशंकाएं करती है।
४. साधु के आगमन को अमंगल समझकर कोई कष्ट दे या पात्र फोड़ दे।
५. साधु को चोर या गुप्तचर समझकर पकड़े, बांधे या मारपीट भी कर दे।

इत्यादि कारणों से साधु की और जिनशासन की अवहेलना होती है। अतः भिक्षु ऐसे मूर्द्धाभिषिक्त राजाओं के यहाँ भिक्षा के लिए न जावे और ऐसे राजपिंड को संयम का शबल दोष मानकर न खावे।

निशीथसूत्र के आठवें, नववें उद्देशक में अनेक प्रकार के राजपिंडों का और राजाओं के यहाँ भिक्षा के लिए जाने का गुरुचौमासी प्रायश्चित्त कहा है।

६. क्रीतादि—साधु के निमित्त खरीद कर लाये हुए पदार्थ, उधार लाये गये पदार्थ, किसी से छीनकर दिए जाने वाले पदार्थ, बिना आज्ञा के दिए जाने वाले भागीदारी के पदार्थ तथा अन्य ग्रामादि से सम्मुख लाकर दिए जाने वाले पदार्थों को ग्रहण करना और उनका सेवन करना यहाँ शबल दोष कहा गया है। ये सभी उद्गम के दोष हैं। इन दोषों वाले पदार्थों के सेवन से संयम दूषित होता है। दोषपरम्परा की वृद्धि होती है। इनके सेवन से गृहस्थकृत आरम्भ की अनुमोदना होती है, जिससे

करता है। फिर एक गांव में मासकल्प (२९ दिन) से ज्यादा नहीं ठहर सकता है। इस कारण यदि उसे प्रथम विहार के दिन ऐसी नदी पार करना पड़े तथा फिर २९ रात्रि वहां रहने के बाद तीसवें दिन विहार करने पर भी ऐसा ही प्रसंग उपस्थित हो जाये तो परिस्थितिवश (अपवाद रूप में) उसे एक मास में दो बार नदी पार करना कल्प-मर्यादानिर्वाह के लिये आवश्यक हो शकता है। इससे अधिक तीन चार बार "उदक-लेप" लगाने में अन्य अनावश्यक कारण होने से वह शबल दोष कहा जाता है। सेवा आदि कार्यों के निमित्त यदि अधिक उदक-लेप लगे तो भी उसे शबल दोष नही कहा जाता है। अतः भिक्षु शीत और ग्रीष्म काल में मार्ग की पहले से ही पूर्ण जानकारी करके विवेकपूर्वक विचरण करे। जल में चलने से अनेक त्रस प्राणी तथा फूलण आदि के अनंत जीवों की विराधना हो सकती है। अतः छह काया का रक्षक भिक्षु इस शबल दोष का सेवन न करे।

१०. माया-सेवन—माया एक ऐसा भयंकर कषाय है कि इसके सेवन में संयम और सम्यक्त्व दोनों का नाश हो जाता है। ज्ञातासूत्र में कहा है कि मल्लिनाथ तीर्थंकर के जीव ने पूर्वभव में संयम तप की महान् साधना के काल में माया का सेवन करते हुए अधिक तप किया। उस तप की उग्र साधना मे भी माया के सेवन से मिथ्यात्व की प्राप्ति और स्त्रीवेद का निकाचित बंध हुआ। अतः भिक्षुओं को तप- संयम की साधना में भी कभी माया का सेवन नही करना चाहिये।

उत्तराध्ययनसूत्र अ. ३ में कहा है कि सरल आत्मा की शुद्धि होती है और ऐसी शुद्ध आत्मा में ही धर्म ठहरता है। अतः संयम की आराधना के इच्छुक भिक्षु को माया का सेवन नही करना चाहिये।

इस सूत्र में एक मास में तीन बार मायासेवन करने को शबल दोष कहा है किन्तु एक या दो बार मायासेवन करने पर शबल दोष नहीं कहा है, इसमें उदक-लेप के समान विशेष परिस्थिति ही प्रमुख कारण होती है, वह इस प्रकार है—

व्यवहारसूत्र के आठवें उद्देशक में विधान है कि निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थनियों को पहले आज्ञा लेकर मकान में ठहरना कल्पता है, किन्तु पहले ठहर कर फिर आज्ञा लेना नही कल्पता है। यदि भिक्षु को यह ज्ञात हो कि इस क्षेत्र में मकान मिलना दुर्लभ है तो वहां ठहरने योग्य स्थान में ठहर कर फिर आज्ञा ले सकता है। जिसमें कुछ माया का भी सेवन होता है। विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखें व्यव. उ. ८। क्योंकि साध्वियों को तो मकान प्राप्त करना अवश्यक ही होता है और भिक्षुओं के लिये भी बाल, ग्लान, वृद्ध आदि की दृष्टि से कभी आवश्यक हो जाता है। महीने में दो बार ऐसी परिस्थिति आ जाये तो मायासेवन कर मकान प्राप्त करना शबल दोष नहीं कहा गया है। किन्तु सामान्य कारणों से एक बार मायासेवन करना भी शबल दोष समझना चाहिए। अतः सूत्रोक्त कारण के अतिरिक्त भिक्षु कदापि माया का सेवन न करे।

११. शय्यातर-पिंड—जिस मकान में भिक्षु ठहरा हुआ हो, उस शय्या (मकान) का दाता शय्यातर कहा जाता है। उसके घर का आहारादि शय्यातर-पिंड या सागारिय-पिंड कहा जाता है। क्योंकि मकान मिलना दुर्लभ ही होता है और मकान देने वाले के घर से आहारादि अन्य पदार्थ ग्रहण करे तो मकान की दुर्लभता और भी बढ़ जाती है। सामान्य गृहस्थ यही सोचते हैं कि जो अपने

प्रथम महाव्रत दूषित होता है और जिनाज्ञा का उल्लंघन होने से तीसरे महाव्रत में भी दोष लगता है। अन्य आगमों में भी क्रीतादि दोषयुक्त पदार्थों के सेवन का निषेध है और निशीथ सूत्र में प्रायश्चित्त का कथन है। यहाँ इसे शबल दोष कहा है। अतः भिक्षु कर्मबंध का कारण जानकर इन दोषों का सेवन न करे।

७. प्रत्याख्यान-भंग—किसी प्रत्याख्यान को एक बार भंग करना भी दोष ही है किन्तु अनेक बार प्रत्याख्यानों को भंग करना शबल दोष कहा गया है। एक या दो बार हुई भूलें क्षम्य होती हैं किन्तु वही व्यक्ति अनेक बार भूल करे तो वह अक्षम्य होती है। इसी प्रकार प्रत्याख्यान बारम्बार भंग करने से सामान्य दोष भी शबल दोष कहा जाता है। ऐसा करने से साधु की प्रतीति (विश्वास) नहीं रहती है। जन साधारण के जानने पर साधु समाज की अवहेलना होती है। दूसरा महाव्रत और तीसरा महाव्रत दूषित हो जाता है। प्रत्याख्यानों को शुद्ध पालन करने की लगन (चेष्टा) अल्प हो जाती है। अन्य प्रत्याख्यानों के प्रति भी उपेक्षा वृत्ति बढ़ जाती है, जिससे संयम की आराधना नहीं हो सकती है। अन्य साधारण साधकों के अनुसरण करने पर उनके प्रत्याख्यान भी दूषित हो जाते हैं। अतः बार-बार प्रत्याख्यान भंग करना शबल दोष है। यह जानकर भिक्षु प्रत्याख्यान का दृढ़ता पूर्वक पालन करे।

८. गणसंक्रमण—जिस आचार्य या गुरु की निश्रा में जो साधु-साध्वी रहते हैं, उनका अन्य आचार्य या गुरु के नेतृत्व में जाकर रहना गणसंक्रमण—गच्छपरिवर्तन कहलाता है। गणसंक्रमण के प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों कारण होते हैं। ज्ञानवृद्धि या संयमवृद्धि के लिए अथवा परोपकार की भावना से गणसंक्रमण करना प्रशस्त कारण है। गुस्से में आकर या घमंड से अथवा किसी प्रलोभन के कारण गणसंक्रमण करना अप्रशस्त कारण है।

बृहत्कल्प उद्देशक ४ में गणसंक्रमण करने का विधान करते हुए कहा गया है कि आचार्यादि की आज्ञा लेकर संयमधर्म की जहाँ उन्नति हो, वैसे गच्छ में जाना कल्पता है अन्यथा आचार्यादि की आज्ञा मिलने पर भी जाना नहीं कल्पता है।

वैसे अन्य गच्छ में जाने का निशीथसूत्र उद्देशक १६ में प्रायश्चित्त कथन है। प्रशस्त कारणों से गणसंक्रमण करना कल्पनीय होते हुए भी बारंबार या छह मास के भीतर करने पर यह चंचलवृत्ति का प्रतीक होने से उसे यहाँ शबल दोष कहा है। ऐसा करने से संयम की क्षति और अपयश होता है। अतः भिक्षु को बार-बार गणसंक्रमण नहीं करना ही श्रेयस्कर है।

९. उदक-लेप—अर्द्ध जंघा [पिंडिए और घुटने के बीच के जितने] प्रमाण के जल पानी में चलना "दगसंघट्ट" कहा जाता है और अर्द्ध जंघा प्रमाण से अधिक पानी में चलना "उदक-लेप" कहा जाता है। सचित्त जल की असंख्य विराधना करने पर भिक्षु को निशीथसूत्र उद्देशक १२ के अनुसार लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है। अतः उसे एक बार भी पानी में चलकर नदी आदि पार करना नहीं कल्पता है। प्रस्तुत सूत्र में एक मास में तीन बार जल-युक्त नदी पार करने पर शबल दोष होना बताया गया है, अतः एक या दो बार पार करने पर प्रायश्चित्त होते हुए भी वह शबल दोष नहीं कहा जाता है। इसका कारण यह है कि चातुर्मास समाप्त होने के बाद भिक्षु ग्रामानुग्राम विहार

करता है। फिर एक गांव में मासकल्प (२९ दिन) से ज्यादा नही ठहर सकता है। इस कारण यदि उसे प्रथम विहार के दिन ऐसी नदी पार करना पड़े तथा फिर २९ रात्रि वहाँ रहने के बाद तीसवें दिन विहार करने पर भी ऐसा ही प्रसंग उपस्थित हो जाये तो परिस्थितिवश (अपवाद रूप में) उसे एक मास में दो बार नदी पार करना कल्प-मर्यादानिर्वाह के लिये आवश्यक हो शकता है। इससे अधिक तीन चार वार "उदक-लेप" लगाने में अन्य अनावश्यक कारण होने से वह शवल दोष कहा जाता है। सेवा आदि कार्यों के निमित्त यदि अधिक उदक-लेप लगे तो भी उसे शबल दोष नहीं कहा जाता है। अतः भिक्षु शीत और ग्रीष्म काल में मार्ग की पहले से ही पूर्ण जानकारी करके विवेकपूर्वक विचरण करे। जल में चलने से अनेक त्रस प्राणी तथा फूलण आदि के अनंत जीवों की विराधना हो सकती है। अतः छह काया का रक्षक भिक्षु इस शवल दोष का सेवन न करे।

१०. **माया-सेवन**—माया एक ऐसा भयंकर कपाय है कि इसके सेवन में संयम और सम्यक्त्व दोनों का नाश हो जाता है। ज्ञातासूत्र में कहा है कि मल्लिनाथ तीर्थंकर के जीव ने पूर्वभव में संयम तप की महान् साधना के काल में माया का सेवन करते हुए अधिक तप किया। उस तप की उग्र साधना मे भी माया के सेवन से मिथ्यात्व की प्राप्ति और स्त्रीवेद का निकाचित बंध हुआ। अतः भिक्षुओ को तप- सयम की साधना में भी कभी माया का सेवन नहीं करना चाहिये।

उत्तराध्ययनसूत्र अ. ३ में कहा है कि सरल आत्मा की शुद्धि होती है और ऐसी शुद्ध आत्मा मे ही धर्म ठहरता है। अतः संयम की आराधना के इच्छुक भिक्षु को माया का सेवन नहीं करना चाहिये।

इस सूत्र में एक मास में तीन बार मायासेवन करने को शबल दोप कहा है किन्तु एक या दो बार मायासेवन करने पर शबल दोष नहीं कहा है, इसमें उदक-लेप के समान विशेप परिस्थिति ही प्रमुख कारण होती है, वह इस प्रकार है—

व्यवहारसूत्र के आठवें उद्देशक में विधान है कि निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थनियों को पहले आज्ञा लेकर मकान में ठहरना कल्पता है, किन्तु पहले ठहर कर फिर आज्ञा लेना नहीं कल्पता है। यदि भिक्षु को यह ज्ञात हो कि इस क्षेत्र मे मकान मिलना दुर्लभ है तो वहां ठहरने योग्य स्थान में ठहर कर फिर आज्ञा ले सकता है। जिसमें कुछ माया का भी सेवन होता है। विशेप स्पष्टीकरण के लिए देखें व्यव. उ. ८। क्योंकि साध्वियों को तो मकान प्राप्त करना अवश्यक ही होता है और भिक्षुओं के लिये भी बाल, ग्लान, वृद्ध आदि की दृष्टि से कभी आवश्यक हो जाता है। महीने में दो बार ऐसी परिस्थिति आ जाये तो मायासेवन कर मकान प्राप्त करना शवल दोष नहीं कहा गया है। किन्तु सामान्य कारणों से एक वार मायासेवन करना भी शबल दोष समझना चाहिए। अतः सूत्रोक्त कारण के अतिरिक्त भिक्षु कदापि माया का सेवन न करे।

११. **शय्यातर-पिंड**—जिस मकान में भिक्षु ठहरा हुआ हो, उस शय्या (मकान) का दाता शय्यातर कहा जाता है। उसके घर का आहारादि शय्यातर-पिंड या सागारिय-पिंड कहा जाता है। क्योंकि मकान मिलना दुर्लभ ही होता है और मकान देने वाले के घर से आहारादि अन्य पदार्थ ग्रहण करे तो मकान की दुर्लभता और भी बढ़ जाती है। सामान्य गृहस्थ यही सोचते हैं कि जो अपने

प्रथम महाव्रत दूषित होता है और जिनाज्ञा का उल्लंघन होने से तीसरे महाव्रत में भी दोष लगता है। अन्य आगमों में भी क्रीतादि दोषयुक्त पदार्थों के सेवन का निषेध है और निशीथ सूत्र में प्रायश्चित्त का कथन है। यहाँ इसे शबल दोष कहा है। अतः भिक्षु कर्मबंध का कारण जानकर इन दोषों का सेवन न करे।

७. प्रत्याख्यान-भंग—किसी प्रत्याख्यान को एक बार भंग करना भी दोष ही है किन्तु अनेक बार प्रत्याख्यानों को भंग करना शबल दोष कहा गया है। एक या दो बार हुई भूलें क्षम्य होती हैं किन्तु वही व्यक्ति अनेक बार भूल करे तो वह अक्षम्य होती है। इसी प्रकार प्रत्याख्यान बारम्बार भंग करने से सामान्य दोष भी शबल दोष कहा जाता है। ऐसा करने से साधु की प्रतीति (विश्वास) नहीं रहती है। जन साधारण के जानने पर साधु समाज की अवहेलना होती है। दूसरा महाव्रत और तीसरा महाव्रत दूषित हो जाता है। प्रत्याख्यानों को शुद्ध पालन करने की लगन (चेष्टा) नष्ट हो जाती है। अन्य प्रत्याख्यानों के प्रति भी उपेक्षा वृत्ति बढ़ जाती है, जिससे संयम की आराधना नहीं हो सकती है। अन्य साधारण साधकों के अनुसरण करने पर उनके प्रत्याख्यान भी दूषित हो जाते हैं। अतः बार-बार प्रत्याख्यान भंग करना शबल दोष है। यह जानकर भिक्षु प्रत्याख्यान का दृढ़ता पूर्वक पालन करे।

८. गणसंक्रमण—जिस आचार्य या गुरु की निश्रा में जो साधु-साध्वी रहते हैं, उनका अन्य आचार्य या गुरु के नेतृत्व में जाकर रहना गणसंक्रमण—गच्छपरिवर्तन कहलाता है। गणसंक्रमण के प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों कारण होते हैं। ज्ञानवृद्धि या संयमवृद्धि के लिए अथवा परोपकार की भावना से गणसंक्रमण करना प्रशस्त कारण है। गुस्से में आकर या घमंड से अथवा किसी प्रलोभन के कारण गणसंक्रमण करना अप्रशस्त कारण है।

बृहत्कल्प उद्देशक ४ में गणसंक्रमण करने का विधान करते हुए कहा गया है कि आचार्यादि की आज्ञा लेकर संयमधर्म की जहाँ उन्नति हो, वैसे गच्छ में जाना कल्पता है अन्यथा आचार्यादि की आज्ञा मिलने पर भी जाना नहीं कल्पता है।

वैसे अन्य गच्छ में जाने का निशीथसूत्र उद्देशक १६ में प्रायश्चित्त कथन है। प्रशस्त कारणों से गणसंक्रमण करना कल्पनीय होते हुए भी बारंबार या छह मास के भीतर करने पर वह चंचलवृत्ति का प्रतीक होने से उसे यहाँ शबल दोष कहा है। ऐसा करने से संयम की हानि और अपयश होता है। अतः भिक्षु को बार-बार गणसंक्रमण नहीं करना ही श्रेयस्कर है।

९. उदक-लेप—अर्द्ध जंघा [पिंडलि और घुटने के बीच के हिस्से] प्रमाण के जल पानी में चलना "दगसंघट्ट" कहा जाता है और अर्द्ध जंघा प्रमाण से अधिक पानी में चलना "उदक-लेप" कहा जाता है। सचित्त जल की अत्यन्त विराधना करने पर भिक्षु को निशीथसूत्र उद्देशक १२ के अनुसार लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है। अतः उसे एक बार भी पानी में चलकर नदी आदि पार करना नहीं कल्पता है। प्रस्तुत सूत्र में एक मास में तीन बार जल-युक्त नदी पार करने पर शबल दोष होना बताया गया है, अतः एक या दो बार पार करने पर प्रायश्चित्त होते हुए भी वह शबल दोष नहीं कहा जाता है। इसका कारण यह है कि चातुर्मास समाप्त होने के बाद भिक्षु ग्रामानुग्राम विहार

१८. कंद, मूल आदि भक्षण—वनस्पति के दस विभागों को खाने पर भिक्षु को शबल दोष लगता है। गृहस्थ के लिए बने वनस्पति के अचित्त खाद्य पदार्थ साधु ग्रहण करके क्षुधा शान्त कर सकता है। किन्तु अचित्त खाद्य न मिलने पर सचित्त फल, फूल, बीज या कंद, मूल आदि खाना साधु को नहीं कल्पता है। क्योंकि वह जीवनपर्यन्त सचित्त का त्यागी होता है।

उत्तराध्ययन अ. २ में प्रथम परीषह का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "क्षुधा से व्याकुल भिक्षु का शरीर इतना कृश हो जाए कि शरीर की नसें दिखने लग जाएँ, तो भी वह वनस्पति का छेदन न स्वयं करे, न दूसरों से करावे तथा खाद्य पदार्थ न स्वयं पकावे, न अन्य से पकवावे।" उदरपूर्ति के लिये वनस्पति का छेदन-भेदन करके खाना भिक्षु के लिये सर्वथा निषिद्ध है, क्योंकि छेदन-भेदन करने से वनस्पतिकाय के जीवों के प्रति अनुकम्पा नहीं रहती है। अतः प्रथम महाव्रत भंग होता है। अनजाने भी सचित्त बीज आदि खाने में आ जाय तो उसका निशीथसूत्र उद्देशक ४, १० तथा १२ में प्रायश्चित्त कहा गया है। यहाँ जानबूझ कर खाने को शबल दोष कहा गया है। अतः भिक्षु को सचित्त पदार्थ खाने का संकल्प भी नहीं करना चाहिये।

१९-२०. उदकलेप-मायासेवन—९वें, १०वें शबल दोष में एक मास में तीन बार उदकलेप और मायासेवन को शबल दोष कहा है, यहाँ एक वर्ष में दस बार सेवन को सबल दोष कहा है। ९ बार तक सेवन को शबल दोष नहीं कहने का कारण यह है कि विचरण के प्रथम मास में दो बार जो परिस्थिति बन सकती है, वैसी परिस्थिति आठ महीनों मे विहार करते समय नव बार भी हो सकती है। २९ दिन के कल्प से रहने पर सात महीनों में सात बार और प्रथम महीने में दो बार विहार करना आवश्यक होने से एक वर्ष में नौ विहार आवश्यक होते हैं। अतः नव बार से अधिक उदकलेप और मायास्थानसेवन को यहाँ शबल दोष कहा है। शेष विवेचन पूर्ववत् है।

२१. सचित्त जल से लिप्त पात्रादि से भिक्षा ग्रहण करना—भिक्षा के लिये प्रविष्ट भिक्षु यदि यह जाने कि दाता का हाथ अथवा चम्मच, वर्तन आदि सचित्त जल से भीगे हुए है तो उससे उसे भिक्षा ग्रहण करना नहीं कल्पता है। ऐसा निषेध दशवै. अ. ५ तथा आचारांग श्रु. २ अ. १ उ. ६ मे है। ऐसे लिप्त हाथ आदि से भिक्षा ग्रहण करने पर अप्काय के जीवों की विराधना होती है। खाद्य पदार्थों में सचित्त जल मिल जाने पर सचित्त खाने-पीने का दोष लगना और जीवविराधना होना ये दोनों ही संभव हैं। यह एषणा का "लिप्त" नामक नौवां दोष है। एषणा के दोष बीसवें असमाधिस्थान मे भी कहे गये हैं, किन्तु यहाँ जीवविराधना की अपेक्षा से इसे शबल दोष कहा गया है। निशीथसूत्र के १२वें उद्देशक में इनका लघु चौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है।

समवायांग सूत्र के २१वें समवाय में भी इन्हीं २१ शबल दोषों का वर्णन है, किन्तु यहाँ कहे गये पांचवें और ग्यारहवें शबल दोष को वहाँ क्रमशः ग्यारहवां और पांचवां शबल दोष कहा गया है। इन सब विशिष्ट शबल दोषों को संयम का विघातक जानकर तथा कर्मबंध का कारण जानकर भिक्षु त्याग करे और शुद्ध संयम की आराधना करे।

घर में अतिथि रूप से ठहरते हैं तो उनकी सभी व्यवस्था उसे ही करनी होती है। भिक्षु का भी ऐसा आचार हो तो वह शय्यादाता के लिये भार रूप माना जाता है। इत्यादि कारणों से सभी तीर्थंकरों के शासन में साधुओं के लिये यह आवश्यक नियम है कि वह शय्यादाता के घर से आहारादि ग्रहण न करे, क्योंकि शय्यादाता अत्यधिक श्रद्धा-भक्ति वाला हो तो अनेक दोषों की संभावना हो सकती है। यदि किसी क्षेत्र में या किसी काल में ऐसे दोषों की संभावना न हो तो भी नियम सर्व-काल सर्व-क्षेत्र की बहुलता के विचार से होता है। अतः भिक्षु भगवदाज्ञा को शिरोधार्य कर और सबल दोष समझकर कभी भी शय्यादाता से आहारादि ग्रहण न करे।

१२-१३-१४. जानकर हिंसा, मृषा और अदत्त का सेवन—भिक्षु पंच महाव्रतधारी होता है। उसके जीवन भर तीन करण, तीन योग से हिंसा, असत्य और अदत्त का त्याग होता है। यदि अनजाने इनका सेवन हो जाये तो निशीथसूत्र उद्देशक २ में उसका लघुमासिक प्रायश्चित्त कहा है। भिक्षु संकल्प करके कोई हिंसा आदि करता है तो उसके ये कृत्य सबल दोष कहे जाते हैं और इन कृत्यों से मूल गुणों की विराधना होती है और उसका संयम भी शिथिल हो जाता है। अतः भिक्षु कभी हिंसा आदि का संकल्प न करे और असावधानी से भी ये कृत्य न हों, ऐसी सतत सावधानी रखे।

१५-१६-१७. जानबूझ कर पृथ्वी, पानी, वनस्पतिकाय की विराधना करना—छहों काय के जीवों की विराधना न हो, यह विवेक भिक्षु प्रत्येक कार्य करते समय अभिधान रखे। प्रस्तुत सूत्र में भिक्षु को विवेक रखने की सूचना दी गई है। आचारांग आदि में जो विषय आठ सूत्रों से कहा गया है, वही विषय यहां तीन सूत्रों में कहा गया है—

यथा—१. सचित्त पृथ्वी के निकट की भूमि पर,
२. नमीयुक्त भूमि पर,
३. सचित्त रज से युक्त भूमि पर,
४. सचित्त मिट्टी बिखरी हुई भूमि पर
५. सचित्त भूमि पर,
६. सचित्त शिला पर,
७. सचित्त पत्थर आदि पर,
८. दीमकयुक्त काष्ठ पर तथा अन्य किसी भी त्रस स्थावर जीव से युक्त स्थान पर

बैठना, सोना, खड़े रहना भिक्षु को नहीं कल्पता है। निशीथसूत्र उद्देशक १३ में इन कृत्यों का लघु चौमासी प्रायश्चित्त विधान इन आठ सूत्रों में है। यहां इस सूत्र में संकल्पपूर्वक किये गये के सभी कार्य सबल दोष कहे गये हैं। अतः भिक्षु इन सबल दोषों का कदापि सेवन न करे, किन्तु प्रत्येक प्रवृत्ति यतनापूर्वक करे। दशवै. अ. ४ में कहा भी है—

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ ॥८॥

भिक्षु चलना, खड़े रहना, बैठना, सोना, खाना, बोलना आदि सभी प्रवृत्तियां यतनापूर्वक करे, जिससे उसके पापकर्मों का बंध न हो।

तज्जाएणं पडिहणित्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। २५. सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स 'इति एवं' वत्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। २६. सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स 'नो सुमरसी' ति वत्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। २७. सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स णो सुमणसे, भवइ आसायणा सेहस्स। २८. सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स परिसं भेत्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। २९. सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स कहं आच्छिदित्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। ३०. सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स तीसे परिसाए अणुट्ठियाए अभिन्नाए अवुच्छिन्नाए अव्वोगडाए दोच्चंपि तच्चंपि तमेव कहं कहित्ता भवइ आसायणा सेहस्स। ३१. सेहे रायणियस्स सिज्जा-संथारगं पाएणं संघट्टित्ता हत्थेण अणणुण्णवित्ता गच्छइ, भवइ आसायणा सेहस्स। ३२. सेहे रायणियस्स सिज्जा-संथारए चिट्ठित्ता वा, निसीइत्ता वा, तुयट्टित्ता वा, भवइ आसायणा सेहस्स। ३३. सेहे रायणियस्स उच्चासणंसि वा, समासणंसि वा चिट्ठित्ता वा, निसीइत्ता वा, तुयट्टित्ता वा, भवइ आसायणा सेहस्स।

एयाओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं तेत्तीसं आसायणाओ पण्णत्ताओ, त्ति बेमि।

अर्थ—हे आयुष्मन्! मैंने सुना है उन निर्वाणप्राप्त भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है—इस आर्हतप्रवचन में निश्चय से स्थविर भगवन्तों ने तेतीस आशातनाएँ कही हैं।

प्र०—उन स्थविर भगवन्तों ने तेतीस आशातनाएँ कौन सी कही हैं?

उ०—उन स्थविर भगवन्तों ने ये तेतीस आशातनाएँ कही हैं, जैसे—

१. शैक्ष (अल्प दीक्षापर्यायवाला), रात्निक साधु के आगे चले तो उसे आशातना दोष लगता है। २. शैक्ष, रात्निक साधु के समश्रेणी-बराबरी में चले तो उसे आशातना दोष लगता है। ३. शैक्ष, रात्निक साधु के अति समीप होकर चले तो उसे आशातना दोष लगता है। ४. शैक्ष, रात्निक साधु के आगे खड़ा हो तो उसे आशातना दोष लगता है। ५. शैक्ष, रात्निक साधु के समश्रेणी में खड़ा हो तो उसे आशातना दोष लगता है। ६. शैक्ष, रात्निक साधु के अति समीप खड़ा हो तो आशातना दोष लगता है। ७. शैक्ष, रात्निक साधु के आगे बैठे तो उसे आशातना दोष लगता है। ८. शैक्ष, रात्निक साधु के समश्रेणी में बैठे तो उसे आशातना दोष लगता है। ९. शैक्ष, रात्निक साधु के अतिसमीप बैठे तो उसे आशातना दोष लगता है। १०. शैक्ष, रात्निक साधु के साथ बाहर मलोत्सर्ग-स्थान पर गया हुआ हो, वहाँ शैक्ष रात्निक से पहले आचमन (शौच-शुद्धि) करे तो आशातना दोष लगता है। ११. शैक्ष, रात्निक के साथ बाहर विचारभूमि या विहारभूमि (स्वाध्यायस्थान) में जावे तब शैक्ष रात्निक से पहले गमनागमन की आलोचना करे तो उसे आशातना दोष लगता है। १२. कोई व्यक्ति रात्निक के पास वार्तालाप के लिए आये, यदि शैक्ष उससे पहले ही वार्तालाप करने लगे तो उसे आशातना दोष लगता है। १३. रात्रि में या विकाल (सन्ध्यासमय) में रात्निक साधु शिष्य को सम्बोधन करके कहे—"हे आर्य! कौन-कौन सो रहे हैं और कौन-कौन जाग रहे हैं?" उस समय जागता हुआ भी शैक्ष यदि रात्निक के वचनों को अनसुना करके उत्तर न दे तो उसे आशातना दोष लगता है। १४. शैक्ष, यदि अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार को लेकर उसकी आलोचना पहले किसी अन्य शैक्ष के पास करे और पीछे रात्निक के समीप करे तो उसे आशातना दोष लगता है। १५. शैक्ष, यदि अशन, पान, खादिम और स्वादिम

तीसरी दशा

तेतीस आशातनाएँ

सूत्र—सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं तेत्तीसं आसायणाओ पण्णत्ताओ ।

प्र०—कयराओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं तेत्तीसं आसायणाओ पण्णत्ताओ ?

उ०—इमाओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं तेत्तीसं आसायणाओ पण्णत्ताओ,

तं जहा—१. सेहे रायणियस्स पुरओ गंता, भवइ आसायणा सेहस्स । २. सेहे रायणियस्स सपक्खं गंता, भवइ आसायणा सेहस्स । ३. सेहे रायणियस्स आसन्नं गंता, भवइ आसायणा सेहस्स । ४. सेहे रायणियस्स पुरओ चिट्ठित्ता, भवइ आसायणा सेहस्स । ५. सेहे रायणियस्स सपक्खं चिट्ठित्ता, भवइ आसायणा सेहस्स । ६. सेहे रायणियस्स आसन्नं चिट्ठित्ता, भवइ आसायणा सेहस्स । ७. सेहे रायणियस्स पुरओ निसीइत्ता, भवइ आसायणा सेहस्स । ८. सेहे रायणियस्स सपक्खं निसीइत्ता, भवइ आसायणा सेहस्स । ९. सेहे रायणियस्स आसन्नं निसीइत्ता, भवइ आसायणा सेहस्स । १०. सेहे रायणिएणं सद्धिं बहिया वियारभूमिं निक्खंते समाणे तत्थ सेहे पुव्वतरागं आयमइ, पच्छा रायणिए, भवइ आसायणा सेहस्स । ११. सेहे रायणिएणं सद्धिं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खंते समाणे तत्थ सेहे पुव्वतरागं आलोएइ पच्छा रायणिए, भवइ आसायणा सेहस्स । १२. केइ रायणियस्स पुव्व-संलवित्तए सिया, तं सेहे पुव्वतरागं आलवइ, पच्छा रायणिए, भवइ आसायणा सेहस्स । १३. सेहे रायणियस्स राओ वा वियाले वा वाहरमाणस्स 'अज्जो ! के सुत्ता ? के जागरा ?' तत्थ सेहे जागरमाणे रायणियस्स अपडिसुणेत्ता, भवइ आसायणा सेहस्स । १४. सेहे असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहित्ता तं पुव्वमेव सेहतरागस्स आलोएइ, पच्छा रायणियस्स, भवइ आसायणा सेहस्स । १५. सेहे असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहित्ता तं पुव्वमेव सेहतरागस्स उवदंसेइ, पच्छा रायणियस्स, भवइ आसायणा सेहस्स । १६. सेहे असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहित्ता तं पुव्वमेव सेहतरागं उवणिमंतेइ, पच्छा रायणिए, भवइ आसायणा सेहस्स । १७. सेहे रायणिएणं सद्धिं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहित्ता तं रायणियं अणापुच्छित्ता जस्स जस्स इच्छइ तस्स तस्स खद्धं-खद्धं दलयति, भवइ आसायणा सेहस्स । १८. सेहे असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहित्ता रायणिएणं सद्धिं आहारेमाणे तत्थ सेहे खद्धं-खद्धं डागं-डागं ऊसढं-ऊसढं रसियं-रसियं मणुन्नं-मणुन्नं मणामं-मणामं निद्धं-निद्धं लुक्खं-लुक्खं आहारित्ता, भवइ आसायणा सेहस्स । १९. सेहे रायणियस्स वाहरमाणस्स, अपडिसुणित्ता, भवइ आसायणा सेहस्स । २०. सेहे रायणियस्स वाहरमाणस्स तत्थगए चेव पडिसुणित्ता, भवइ आसायणा सेहस्स । २१. सेहे रायणियं 'किं' ति वत्ता, भवइ आसायणा सेहस्स । २२. सेहे रायणियं 'तुमं' ति वत्ता, भवइ आसायणा सेहस्स । २३. सेहे रायणियं खद्धं-खद्धं वत्ता, भवइ आसायणा सेहस्स । २४. सेहे रायणियं तज्जाएणं-

तज्जाएणं पडिहणित्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। २५. सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स 'इति एवं' वत्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। २६. सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स 'नो सुमरसी' ति वत्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। २७. सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स णो सुमणसे, भवइ आसायणा सेहस्स। २८. सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स परिसं भेत्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। २९. सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स कहं आच्छिदित्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। ३०. सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स तीसे परिसाए अणुट्ठियाए अभिन्नाए अवुच्छिन्नाए अव्वोगडाए दोच्चंपि तच्चंपि तमेव कहं कहित्ता भवइ आसायणा सेहस्स। ३१. सेहे रायणियस्स सिज्जा-संथारगं पाएणं संघट्टित्ता हत्थेण अणणुण्णवित्ता गच्छइ, भवइ आसायणा सेहस्स। ३२. सेहे रायणियस्स सिज्जा-संथारए चिट्ठित्ता वा, निसीइत्ता वा, तुयट्टित्ता वा, भवइ आसायणा सेहस्स। ३३. सेहे रायणियस्स उच्चासणंसि वा, समासणंसि वा चिट्ठित्ता वा, निसीइत्ता वा, तुयट्टित्ता वा, भवइ आसायणा सेहस्स।

एयाओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं तेत्तीसं आसायणाओ पण्णत्ताओ, त्ति बेमि।

अर्थ—हे आयुष्मन्! मैंने सुना है उन निर्वाणप्राप्त भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है—इस आर्हतप्रवचन में निश्चय से स्थविर भगवन्तों ने तेतीस आशातनाएँ कही हैं।

प्र०—उन स्थविर भगवन्तों ने तेतीस आशातनाएँ कौन सी कही हैं?

उ०—उन स्थविर भगवन्तों ने ये तेतीस आशातनाएँ कही है, जैसे—

१. शैक्ष (अल्प दीक्षापर्यायवाला), रात्निक साधु के आगे चले तो उसे आशातना दोष लगता है। २. शैक्ष, रात्निक साधु के समश्रेणी-बराबरी में चले तो उसे आशातना दोष लगता है। ३. शैक्ष, रात्निक साधु के अति समीप होकर चले तो उसे आशातना दोष लगता है। ४. शैक्ष, रात्निक साधु के आगे खड़ा हो तो उसे आशातना दोष लगता है। ५. शैक्ष, रात्निक साधु के समश्रेणी में खड़ा हो तो उसे आशातना दोष लगता है। ६. शैक्ष, रात्निक साधु के अति समीप खड़ा हो तो आशातना दोष लगता है। ७. शैक्ष, रात्निक साधु के आगे बैठे तो उसे आशातना दोष लगता है। ८. शैक्ष, रात्निक साधु के समश्रेणी में बैठे तो उसे आशातना दोष लगता है। ९. शैक्ष, रात्निक साधु के अतिसमीप बैठे तो उसे आशातना दोष लगता है। १०. शैक्ष, रात्निक साधु के साथ बाहर मलोत्सर्ग-स्थान पर गया हुआ हो, वहाँ शैक्ष रात्निक से पहले आचमन (शौच-शुद्धि) करे तो आशातना दोष लगता है। ११. शैक्ष, रात्निक के साथ बाहर विचारभूमि या विहारभूमि (स्वाध्यायस्थान) में जावे तब शैक्ष रात्निक से पहले गमनागमन की आलोचना करे तो उसे आशातना दोष लगता है। १२. कोई व्यक्ति रात्निक के पास वार्तालाप के लिए आये, यदि शैक्ष उससे पहले ही वार्तालाप करने लगे तो उसे आशातना दोष लगता है। १३. रात्रि में या विकाल (सन्ध्यासमय) में रात्निक साधु शिष्य को सम्बोधन करके कहे—"हे आर्य! कौन-कौन सो रहे हैं और कौन-कौन जाग रहे हैं?" उस समय जागता हुआ भी शैक्ष यदि रात्निक के वचनों को अनसुना करके उत्तर न दे तो उसे आशातना दोष लगता है। १४. शैक्ष, यदि अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार को लेकर उसकी आलोचना पहले किसी अन्य शैक्ष के पास करे और पीछे रात्निक के समीप करे तो उसे आशातना दोष लगता है। १५. शैक्ष, यदि अशन, पान, खादिम और स्वादिम

आहार को लाकर पहले किसी अन्य शैक्ष को दिखावे और पीछे रात्निक को दिखावे तो उसे आशातना दोष लगता है। १६. शैक्ष, यदि अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार को उपाश्रय में लाकर पहले अन्य शैक्ष को (भोजनार्थ) आमन्त्रित करे और पीछे रात्निक को आमंत्रित करे तो उसे आशातना दोष लगता है। १७. शैक्ष, यदि साधु के साथ अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार को (उपाश्रय में) लाकर रात्निक से बिना पूछे जिस-जिस साधु को देना चाहता है, उसे जल्दी-जल्दी अधिक-अधिक मात्रा में दे तो उसे आशातना दोष लगता है। १८. शैक्ष, अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार को लाकर रात्निक साधु के साथ आहार करता हुआ यदि वहाँ वह शैक्ष प्रचुर मात्रा में विविध प्रकार के शाक, श्रेष्ठ, ताजे, रसदार मनोज्ञ मनोभिलषित स्निग्ध और रूक्ष आहार शीघ्रता से करे तो उसे आशातना दोष लगता है। १९. रात्निक के बुलाने पर यदि शैक्ष अनसुनी कर चुप रह जाता है तो उसे आशातना दोष लगता है। २०. रात्निक के बुलाने पर यदि शैक्ष अपने स्थान पर ही बैठा हुआ उनकी बात को सुने और सन्मुख उपस्थित न हो तो आशातना दोष लगता है। २१. रात्निक के बुलाने पर यदि शैक्ष 'क्या कहते हो' ऐसा कहता है तो उसे आशातना दोष लगता है। २२. शैक्ष, रात्निक को "तू" या "तुम" कहे तो उसे आशातना दोष लगता है। २३. शैक्ष, रात्निक के सन्मुख अनर्गल प्रलाप करे तो उसे आशातना दोष लगता है। २४. शैक्ष, रात्निक को उन्हीं के द्वारा कहे गये वचनों से प्रतिभाषण करे [तिरस्कार करे] तो उसे आशातना दोष लगता है। २५. शैक्ष, रात्निक के कथा कहते समय कहे कि 'यह ऐसा कहिये' तो उसे आशातना दोष लगता है। २६. शैक्ष, रात्निक के कथा कहते हुए "आप भूलते हैं" इस प्रकार कहता है तो उसे आशातना दोष लगता है। २७. शैक्ष, रात्निक के कथा कहते हुए यदि प्रसन्न न रहे किन्तु अप्रसन्न रहे तो उसे आशातना दोष लगता है। २८. शैक्ष, रात्निक के कहते हुए यदि (किसी बहाने से) परिषद् को विसर्जन करे तो उसे आशातना दोष लगता है। २९. शैक्ष, रात्निक के कथा कहते हुए यदि कथा में बाधा उपस्थित करे तो उसे आशातना दोष लगता है। ३०. शैक्ष, रात्निक के कथा करते हुए परिषद् के उठने से, भिन्न होने से, छिन्न होने से और बिखरने से पूर्व यदि उसी कथा को दूसरी बार और तीसरी बार भी कहता है तो उसे आशातना दोष लगता है। ३१. शैक्ष, यदि रात्निक साधु के शय्या-संस्तारक का (असावधानी से) पैर से स्पर्श हो जाने पर हाथ जोड़कर बिना क्षमायाचना किये चला जाय तो उसे आशातना दोष लगता है। ३२. शैक्ष, रात्निक के शय्या-संस्तारक पर खड़ा हो, बैठे या सोवे तो उसे आशातना दोष लगता है। ३३ शैक्ष, रात्निक से ऊँचे या समान आसन पर खड़ा हो, बैठे या सोवे तो उसे आशातना दोष लगता है।

स्थविर भगवन्तों ने ये तेतीस आशातनाएँ कही हैं। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—भगवतीसूत्र में वीतराग धर्म का मूल विनय कहा गया है। दशवै. अ. ९ में वृक्ष की उपमा देकर कहा गया है—"जैसे वृक्ष के मूल से ही स्कंध आदि सभी विभागों का विकास होता है, उसी प्रकार धर्म का मूल विनय है और उसका अंतिम फल मोक्ष है, विनय से ही कीर्ति, श्रुत-श्लाघा और संपूर्ण गुणों की प्राप्ति होती है।" विनय सभी गुणों का प्राण है। जिस प्रकार निष्प्राण शरीर निरुपयोगी हो जाता है, उसी प्रकार विनय के अभाव में सभी गुण-समूह व्यर्थ हो जाते हैं अर्थात् वे कुछ भी प्रगति नहीं कर पाते हैं।

अविनीत शिष्य को बृहत्कल्पसूत्र उ. ४ में आगम की वाचना के अयोग्य बताया गया है।

गुरु का विनय नहीं करना या अविनय करना, ये दोनों ही आशातना के प्रकार हैं। आशातना देव एवं गुरु की तथा संसार के किसी भी प्राणी की हो सकती है। धर्म-सिद्धान्तों की भी आशातना होती है। अतः आशातना की विस्तृत परिभाषा इस प्रकार होती है—देव, गुरु की विनय भक्ति न करना, अविनय अभक्ति करना, उनकी आज्ञा भंग करना या निंदा करना, धर्मसिद्धान्तों की अवहेलना करना, विपरीत प्ररूपणा करना और किसी भी प्राणी के साथ अप्रिय व्यवहार करना, उसकी निन्दा या तिरस्कार करना 'आशातना' है। लौकिक भाषा में इसे असभ्य व्यवहार कहा जाता है।

आवश्यकसूत्र के चौथे अध्याय में तेतीस आशातनाओं में ऐसी आशातनाओं का कथन है। किन्तु इस तीसरी दशा में केवल गुरु और रत्नाधिक (अधिक संयमपर्याय वाले) की आशातना का ही कथन किया गया है।

निशीथसूत्र के दसवे उद्देशक में गुरु व रत्नाधिक की आशातना का गुरुचौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है और तेरहवें और पन्द्रहवें उद्देशक में क्रमशः गृहस्थ तथा सामान्य साधु की आशातना का प्रायश्चित्त विधान है। गुरु व रत्नाधिक की तेतीस आशातनाएँ इसप्रकार हैं—

चलना, खड़े रहना और बैठना, तीन क्रियाओं की अपेक्षा नव आशातनाएँ कही गई हैं। गुरु या रत्नाधिक के आगे या समश्रेणी में और पीछे अत्यन्त निकट चलने से उनकी आशातना होती है।

आगे चलना अविनय आशातना है, समकक्ष चलना विनयाभाव आशातना है, पीछे अत्यन्त निकट चलना अविवेक आशातना है। इसी तरह खड़े रहने और बैठने के विषय में भी समझ लेना चाहिए। इन आशातनाओं से शिष्य के गुणों का ह्रास होता है, लोगों में अपयश होता है और वह गुरुकृपा प्राप्त नही कर सकता है। अतः गुरु या रत्नाधिक के साथ बैठना, चलना, खड़े रहना हो तो उनसे कुछ पीछे या कुछ दूर रहना चाहिए। कभी उनके सन्मुख बैठना आदि हो तो भी उचित दूरी पर विवेकपूर्वक बैठना चाहिए। यदि गुरु से कुछ दूरी पर चलना हो तो विवेकपूर्वक आगे भी चला जा सकता है। गुरु या रत्नाधिक की आज्ञा होने पर आगे पार्श्वभाग में या निकट कहीं भी बैठने आदि से आशातना नही होती है।

शेष आशातनाओं का भाव सूत्र के अर्थ से ही स्पष्ट हो जाता है। उनका सारांश यह है कि गुरु या रत्नाधिक के साथ आना-जाना, आलोचनात्मक प्रत्येक प्रवृत्ति में शिष्य यही ध्यान रखे कि ये प्रवृत्तियाँ उनके करने के बाद करे। उनके वचनों को शान्त मन से सुनकर स्वीकार करे। अशनादि पहले उनको दिखावे। उन्हें बिना पूछे कोई कार्य न करे। उनके साथ आहार करते समय आसक्ति से मनोज्ञ आहार न खावे। उनके साथ वार्तालाप करते समय या विनय-भक्ति करने में और प्रत्येक व्यवहार करने में उनका पूर्ण सन्मान रखे। उनके शरीर की तथा उपकरणों की भी किसी प्रकार से अवज्ञा न करे।

गुरु या रत्नाधिक की आज्ञा से यदि कोई प्रवृत्ति करे और उसमें आशातना दिखे तो भी आशातना नहीं कही जाती है। प्रत्येक शिष्य को चाहिये कि वह अनाशातनाओं को समझकर अपने जीवन को विनयशील बनावे और आशातनाओं से बचे। क्योंकि गुरु या रत्नाधिक की आशातनाओं से इस भव और परभव में आत्मा का अहित होता है। इस विषय का स्पष्ट दृष्टान्त सहित वर्णन दशवै. अ. ९ में है। प्रत्येक साधक को उस अध्ययन का मनन एवं परिपालन करना चाहिये।

□□

चौथी दशा

आठ प्रकार की गणि-सम्पदा

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं अट्ठविहा गणिसंपया पण्णत्ता।

प०—कयरा खलु सा थेरेहिं भगवंतेहिं अट्ठविहा गणिसंपया पण्णत्ता ?

उ०—इमा खलु सा थेरेहिं भगवंतेहिं अट्ठविहा गणिसंपया पण्णत्ता, तं जहा—

१. आयारसंपया, २. सुयसंपया, ३. सरीरसंपया, ४. वयणसंपया, ५. वायणासंपया, ६. मइसंपया, ७. पओगमइसंपया, ८. संगह-परिण्णा णामं अट्ठमा संपया।

१. प०—से किं तं आयारसंपया ?

उ०—आयारसंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. संजम-धुव-जोग-जुत्ते यावि भवइ, २. असंपग्गहिय-अप्पा, ३. अणियत-वित्ती, ४. वुड्ढसीले यावि भवइ। से तं आयारसंपया।

२. प०—से किं तं सुयसंपया ?

उ०—सुयसंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. बहुस्सुए यावि भवइ, २. परिचियसुए यावि भवइ, ३. विचित्तसुए यावि भवइ, ४. घोसविसुद्धिकारए यावि भवइ। से तं सुयसंपया।

३. प०—से किं तं सरीरसंपया ?

उ०—सरीरसंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. आरोहपरिणाहसंपन्ने यावि भवइ, २. अणोतप्पसरीरे यावि भवइ, ३. थिरसंघयणे यावि भवइ, ४. बहुपडिपुण्णिंदिए यावि भवइ। से तं सरीरसंपया।

४. प०—से किं तं वयणसंपया ?

उ०—वयणसंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. आदेयवयणे यावि भवइ, २. महुरवयणे यावि भवइ, ३. अणिस्सियवयणे यावि भवइ, ४. असंदिद्धवयणे यावि भवइ। से तं वयणसंपया।

५. प०—से किं तं वायणासंपया ?

उ०—वायणासंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. विजयं उद्दिसइ, २. विजयं वाएइ, ३. परिनिव्वावियं वाएइ, ४. अत्थनिज्जवए यावि भवइ। से तं वायणासंपया।

६. प०—से किं तं मइसंपया ?

उ०—मइसंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. उग्गहमइसंपया, २. ईहामइसंपया, ३. अवायमइसंपया, ४. धारणामइसंपया।

(१) प०—से किं तं उग्गहमइसंपया ?

उ०—उग्गहमइसंपया छव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. खिप्पं उगिण्हेइ, २. बहुं उगिण्हेइ, ३. बहुविहं उगिण्हेइ,
४. धुवं उगिण्हेइ, ५. अणिस्सियं उगिण्हेइ, ६. असंदिद्धं उगिण्हेइ।

से तं उग्गहमइसंपया।

(२) एवं ईहामई वि।

(३) एवं अवायमई वि।

(४) प०—से किं तं धारणामइसंपया ?

उ०—धारणामइसंपया छव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. बहुं धरेइ, २. बहुविहं धरेइ, ३. पोराणं धरेइ, ४. दुद्धरं धरेइ,
५. अणिस्सियं धरेइ, ६. असंदिद्धं धरेइ। से तं धारणामइसंपया। से तं मइसंपया।

७. प०—से किं तं पओगमइसंपया ?

उ०—पओगमइसंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. आयं विदाय वायं पउंज्जित्ता भवइ, २. परिसं विदाय वायं पउंज्जित्ता भवइ,
३. खेत्तं विदाय वायं पउंज्जित्ता भवइ, ४. वत्थुं विदाय वायं पउंज्जित्ता भवइ।

से तं पओगमइसंपया।

८. प०—से किं तं संगहपरिण्णा णामं संपया ?

उ०—संगहपरिण्णा णामं संपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. बहुजणपाउग्गयाए वासावासेसु खेत्तं पडिलेहित्ता भवइ,
२. बहुजणपाउग्गयाए पाडिहारिय-पीढ-फलग-सेज्जा-संथारयं उगिण्हित्ता भवइ,
३. कालेणं कालं समाणइत्ता भवइ, ४. अहागुरु संपूएत्ता भवइ।

से तं संगहपरिण्णासंपया।

अर्थ—हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है उन निर्वाणप्राप्त भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है—इस आर्हतप्रवचन में स्थविर भगवन्तों ने आठ प्रकार की गणिसम्पदा कही है।

प्र०—हे भगवन् ! वह आठ प्रकार की गणिसम्पदा कौन-सी कही गई हैं ?

उ०—आठ प्रकार की गणिसम्पदा ये कही गई हैं। जैसे—

१. आचारसम्पदा, २. श्रुतसम्पदा, ३. शरीरसम्पदा, ४. वचनसम्पदा, ५. वाचनासम्पदा, ६. मतिसम्पदा; ७. प्रयोगमतिसम्पदा, ८. आठवीं संग्रहपरिज्ञासम्पदा।

१. प्र०—भगवन् ! वह आचारसम्पदा क्या है ?

उ०—आचारसम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

१. संयमक्रियाओं में सदा उपयुक्त रहना। २. अहंकाररहित होना।

३. एक स्थान पर स्थिर होकर नहीं रहना। ४. वृद्धों के समान गम्भीर स्वभाव वाला होना।

यह चार प्रकार की आचारसम्पदा है।

२. प्र०—भगवन् ! श्रुतसम्पदा क्या है ?

उ०—श्रुतसम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

१. अनेकशास्त्रों का ज्ञाता होना। २. सूत्रार्थ से भलीभांति परिचित होना।

३. स्वसमय और परसमय का ज्ञाता होना। ४. शुद्ध उच्चारण करने वाला होना।

यह चार प्रकार की श्रुतसम्पदा है।

३. प्र०—भगवन् ! शरीरसम्पदा क्या है ?

उ०—शरीरसम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

१. शरीर की लम्बाई-चौड़ाई का उचित प्रमाण होना। २. लज्जास्पद शरीर वाला न होना।

३. शरीर-संहनन सुदृढ़ होना। ४. सर्व इन्द्रियों का परिपूर्ण होना।

यह चार प्रकार की शरीरसम्पदा है।

४. प्र०—भगवन् ! वचनसम्पदा क्या है ?

उ०—वचनसम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

१. आदेयवचन वाला होना। २. मधुरवचन वाला होना।

३. राग-द्वेषरहित वचन वाला होना। ४. सन्देहरहित वचन वाला होना।

यह चार प्रकार की वचनसम्पदा है।

५. प्र०—भगवन् ! वाचनासम्पदा क्या है ?

उ०—वाचनासम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

१. शिष्य की योग्यता का निश्चय करके मूल पाठ की वाचना देने वाला होना।

२. शिष्य की योग्यता का विचार करके सूत्रार्थ की वाचना देने वाला होना।

३. पूर्व में पढ़ाये गये सूत्रार्थ को धारण कर लेने पर आगे पढ़ाने वाला होना।

४. अर्थ-संगतिपूर्वक नय-प्रमाण से अध्ययन कराने वाला होना।

यह चार प्रकार की वाचनासम्पदा है।

६. प्र०—भगवन् ! मतिसम्पदा क्या है ?

उ०—मतिसम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

१. अवग्रहमतिसम्पदा—सामान्य रूप से अर्थ को जानना।

२. ईहामतिसम्पदा—सामान्य रूप से जाने हुए अर्थ को विशेष रूप से जानने की इच्छा होना।

३. अवायमति[illegible] रूप से निश्चय करना।

४. धारणामति[illegible] से स्मरण रखना।

(१) प्र०—भगवन् ! अवग्रहमतिसम्पदा क्या है ?
उ०—अवग्रहमतिसम्पदा छह प्रकार की कही गई है। जैसे—
१. प्रश्न आदि को शीघ्र ग्रहण करना। २. बहुत अर्थ को ग्रहण करना।
३. अनेक प्रकार के अर्थों को ग्रहण करना।
४. निश्चित रूप से अर्थ को ग्रहण करना।
५. अनुक्त अर्थ को अपनी प्रतिभा से ग्रहण करना।
६. सन्देहरहित होकर अर्थ को ग्रहण करना।

(२) इसी प्रकार ईहामतिसम्पदा भी छह प्रकार की कही गई है।

(३) इसी प्रकार अवायमतिसम्पदा भी छह प्रकार की कही गई है।

(४) प्र०—भगवन् ! धारणामतिसम्पदा क्या है ?
उ०—धारणामतिसम्पदा छह प्रकार की कही गई है। जैसे—
१. बहुत अर्थ को धारण करना। २. अनेक प्रकार के अर्थों को धारण करना।
३. पुरानी धारणा को धारण करना। ४. कठिन से कठिन अर्थ को धारण करना।
५. किसी के अधीन न रहकर अनुकूल अर्थ को निश्चित रूप से अपनी प्रतिभा द्वारा धारण करना।
६. ज्ञात अर्थ को सन्देहरहित होकर धारण करना। यह धारणामतिसम्पदा है।

७. प्र०—भगवन् ! प्रयोगमतिसम्पदा क्या है ?
उ०—प्रयोगमतिसम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—
१. अपनी शक्ति को जानकर वादविवाद (शास्त्रार्थ) का प्रयोग करना।
२. परिषद् के भावों को जानकर वादविवाद का प्रयोग करना।
३. क्षेत्र को जानकर वादविवाद का प्रयोग करना।
४. वस्तु के विषय को जानकर वादविवाद का प्रयोग करना।
यह प्रयोगमतिसम्पदा है।

८. प्र०—भगवन् ! संग्रहपरिज्ञा नामक सम्पदा क्या है ?
उ०—संग्रहपरिज्ञा नामक सम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—
१. वर्षावास में अनेक मुनिजनों के रहने योग्य क्षेत्र का प्रतिलेखन करना।
२. अनेक मुनिजनों के लिए प्रातिहारिक पीठ फलक शय्या और संस्तारक ग्रहण करना।
३. यथाकाल यथोचित कार्य को करना और कराना।
४. गुरुजनों का यथायोग्य पूजा-सत्कार करना।
यह संग्रहपरिज्ञा नामक सम्पदा है।

विवेचन—इस दशा में आचार्य को 'गणी' कहा गया है। साधुसमुदाय को "गण" या "गच्छ" कहा जाता है, उस गण के जो अधिपति (स्वामी) होते हैं, उन्हें गणि या गच्छाधिपति कहा जाता है। उनके गुणों के समूह को सम्पदा कहते हैं। गणि को उन गुणों से पूर्ण होना ही चाहिए, क्योंकि विना गुणों के वह गण की रक्षा नही कर सकता है और गण की रक्षा करना ही उसका प्रमुख कर्तव्य है।

शिष्य-समुदाय द्रव्य-संपदा है और ज्ञानादि गुण का समूह भाव-संपदा है। दोनों संपदाओं

१. प्र०—भगवन् ! वह आचारसम्पदा क्या है ?

उ०—आचारसम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

१. संयमक्रियाओं में सदा उपयुक्त रहना। २. अहंकाररहित होना।
३. एक स्थान पर स्थिर होकर नहीं रहना। ४. वृद्धों के समान गम्भीर स्वभाव वाला होना।
यह चार प्रकार की आचारसम्पदा है।

२. प्र०—भगवन् ! श्रुतसम्पदा क्या है ?

उ०—श्रुतसम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

१. अनेकशास्त्रों का ज्ञाता होना। २. सूत्रार्थ से भलीभांति परिचित होना।
३. स्वसमय और परसमय का ज्ञाता होना। ४. शुद्ध उच्चारण करने वाला होना।
यह चार प्रकार की श्रुतसम्पदा है।

३. प्र०—भगवन् ! शरीरसम्पदा क्या है ?

उ०—शरीरसम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

१. शरीर की लम्बाई-चौड़ाई का उचित प्रमाण होना। २. लज्जास्पद शरीर वाला न होना।
३. शरीर-संहनन सुदृढ़ होना। ४. सर्व इन्द्रियों का परिपूर्ण होना।
यह चार प्रकार की शरीरसम्पदा है।

४. प्र०—भगवन् ! वचनसम्पदा क्या है ?

उ०—वचनसम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

१. आदेयवचन वाला होना। २. मधुरवचन वाला होना।
३. राग-द्वेषरहित वचन वाला होना। ४. सन्देहरहित वचन वाला होना।
यह चार प्रकार की वचनसम्पदा है।

५. प्र०—भगवन् ! वाचनासम्पदा क्या है ?

उ०—वाचनासम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

१. शिष्य की योग्यता का निश्चय करके मूल पाठ की वाचना देने वाला होना।
२. शिष्य की योग्यता का विचार करके सूत्रार्थ की वाचना देने वाला होना।
३. पूर्व में पढ़ाये गये सूत्रार्थ को धारण कर लेने पर आगे पढ़ाने वाला होना।
४. अर्थ-संगतिपूर्वक नय-प्रमाण से अध्यापन कराने वाला होना।
यह चार प्रकार की वाचनासम्पदा है।

६. प्र०—भगवन् ! मतिसम्पदा क्या है ?

उ०—मतिसम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

१. अवग्रहमतिसम्पदा—सामान्य रूप से अर्थ को जानना।
२. ईहामतिसम्पदा—सामान्य रूप से जाने हुए अर्थ को विशेष रूप से जानने की इच्छा होना।
३. अवायमतिसम्पदा—ईहित वस्तु का विशेष रूप से निश्चय करना।
४. धारणामतिसम्पदा—ज्ञात वस्तु का कालान्तर में स्मरण रखना।

(१) प्र०—भगवन् ! अवग्रहमतिसम्पदा क्या है ?
उ०—अवग्रहमतिसम्पदा छह प्रकार की कही गई है। जैसे—
१. प्रश्न आदि को शीघ्र ग्रहण करना। २. बहुत अर्थ को ग्रहण करना।
३. अनेक प्रकार के अर्थो को ग्रहण करना।
४. निश्चित रूप से अर्थ को ग्रहण करना।
५. अनुक्त अर्थ को अपनी प्रतिभा से ग्रहण करना।
६. सन्देहरहित होकर अर्थ को ग्रहण करना।

(२) इसी प्रकार ईहामतिसम्पदा भी छह प्रकार की कही गई है।

(३) इसी प्रकार अवायमतिसम्पदा भी छह प्रकार की कही गई है।

(४) प्र०—भगवन् ! धारणामतिसम्पदा क्या है ?
उ०—धारणामतिसम्पदा छह प्रकार की कही गई है। जैसे—
१. बहुत अर्थ को धारण करना। २. अनेक प्रकार के अर्थों को धारण करना।
३. पुरानी धारणा को धारण करना। ४. कठिन से कठिन अर्थ को धारण करना।
५. किसी के अधीन न रहकर अनुकूल अर्थ को निश्चित रूप से अपनी प्रतिभा द्वारा धारण करना।
६. ज्ञात अर्थ को सन्देहरहित होकर धारण करना। यह धारणामतिसम्पदा है।

७. प्र०—भगवन् ! प्रयोगमतिसम्पदा क्या है ?
उ०—प्रयोगमतिसम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—
१. अपनी शक्ति को जानकर वादविवाद (शास्त्रार्थ) का प्रयोग करना।
२. परिषद् के भावों को जानकर वादविवाद का प्रयोग करना।
३. क्षेत्र को जानकर वादविवाद का प्रयोग करना।
४. वस्तु के विषय को जानकर वादविवाद का प्रयोग करना।
यह प्रयोगमतिसम्पदा है।

८. प्र०—भगवन् ! संग्रहपरिज्ञा नामक सम्पदा क्या है ?
उ०—संग्रहपरिज्ञा नामक सम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—
१. वर्षावास में अनेक मुनिजनों के रहने योग्य क्षेत्र का प्रतिलेखन करना।
२. अनेक मुनिजनों के लिए प्रातिहारिक पीठ फलक शय्या और संस्तारक ग्रहण करना।
३. यथाकाल यथोचित कार्य को करना और कराना।
४. गुरुजनों का यथायोग्य पूजा-सत्कार करना।
यह संग्रहपरिज्ञा नामक सम्पदा है।

विवेचन—इस दशा मे आचार्य को 'गणी' कहा गया है। साधुसमुदाय को "गण" या "गच्छ" कहा जाता है, उस गण के जो अधिपति (स्वामी) होते हैं, उन्हें गणि या गच्छाधिपति कहा जाता है। उनके गुणों के समूह को सम्पदा कहते हैं। गणि को उन गुणों से पूर्ण होना ही चाहिए, क्योंकि विना गुणों के वह गण की रक्षा नही कर सकता है और गण की रक्षा करना ही उसका प्रमुख कर्तव्य है।

शिष्य-समुदाय द्रव्य-संपदा है और ज्ञानादि गुण का समूह भाव-संपदा है। दोनों संपदाओं

से युक्त व्यक्ति ही वास्तव में गणि पद को सुशोभित करता है। प्रस्तुत दशा में द्रव्य और भाव सम्पद को ही विस्तार से आठ प्रकार की सम्पदाओं द्वारा कहा गया है।

आचारसम्पदा—१. संयम की सभी क्रियाओं में योगों का स्थिर होना आवश्यक है, क्योंकि उन क्रियाओं का उचित रीति से पालन तभी हो सकता है।

२. आचार्य-पद-प्राप्ति का अभिमान न करते हुए सदा विनीतभाव से रहना, क्योंकि विनय से ही अन्य सभी गुणों का विकास होता है।

३. अप्रतिबद्ध होकर विचरण करना, क्योंकि आचार्य के विचरण करने से ही धर्म-प्रभावना अधिक होती है तथा विचरण से ही वह आचार-धर्म पर दृढ़ रह सकता है।

४. लघुवय में भी आचार्य पद प्राप्त हो सकता है किन्तु शान्त स्वभाव एवं गांभीर्य होना अर्थात् बचपन न रखकर प्रौढ़ता धारण करना अत्यावश्यक है।

इन गुणों से सम्पन्न आचार्य "आचारसम्पदा" युक्त होता है।

(२) श्रुतसम्पदा—१. उपलब्ध विशाल श्रुत में से प्रमुख सूत्रग्रन्थों का चिन्तन-मननपूर्वक अध्ययन होना और उनमें आये विषयों से तात्त्विक निर्णय करने की क्षमता होना।

२. श्रुत के विषयों का हृदयंगम होना, उसका परमार्थ समझना तथा विस्मृत न होना।

३. नय-निक्षेप, भेद-प्रभेद सहित अध्ययन होना तथा मत-मतांतर आदि की चर्चा-वार्ता करने के लिए श्रुत का समुचित अभ्यास होना।

४. ह्रस्व-दीर्घ, संयुक्ताक्षर, गद्य-पद्यमय सूत्रपाठों का पूर्ण शुद्ध उच्चारण होना।

इन गुणों से सम्पन्न आचार्य "श्रुत (ज्ञान) संपदा" युक्त होता है।

(३) शरीरसम्पदा—१. ऊँचाई और मोटाई में प्रमाणयुक्त शरीर अर्थात् अति लम्बा या अति ठिगना तथा अति दुर्बल या अति स्थूल न होना।

२. शरीर के सभी अंगोपांगों का सुव्यवस्थित होना अर्थात् दूसरों को हास्यास्पद और स्वयं को लज्जाजनक लगे, ऐसा शरीर न होना।

३. सुदृढ़ संहनन होना अर्थात् शरीर शक्ति से सम्पन्न होना।

४. सभी इन्द्रियां परिपूर्ण होना, पूर्ण शरीर सुगठित होना, आंख-कान आदि की विफलता न होना अर्थात् शरीर सुन्दर, सुडौल, कांतिमान और प्रभावशाली होना।

इन गुणों से युक्त आचार्य 'शरीरसम्पदा' युक्त होता है।

(४) वचनसम्पदा—१. आदेश और शिक्षा के वचन शिष्यादि सहर्ष स्वीकार कर लें और जनता भी उनके वचनों को प्रमाण मान ले, ऐसे आदेयवचन वाला होना।

२. सारगर्भित तथा मधुरभाषी होना और आगमसम्मत वचन होना। किन्तु निरर्थक या मोक्षमार्गनिरपेक्ष वचन न होना।

३. अनुबन्धयुक्त वचन न होना अर्थात् "उसने भी ऐसा कहा था या उससे पूछकर कहूँगा" इत्यादि अथवा राग-द्वेष से युक्त वचन न बोलना, किन्तु शान्त स्वभाव से निष्पक्ष वचन बोलना।

४. संदेह रहित स्पष्ट वचन बोलना। अभीष्ट अर्थ को व्यक्त करने वाला वचन बोलना। सत्यवचन बोलना। असत्य, मिश्र या संदिग्ध वचन न बोलना।

इन गुणों से युक्त आचार्य **"वचनसम्पदा"** से युक्त होता है।

(५) वाचनासम्पदा १-२. यहाँ "विजय"—"विचय" शब्द के अनुप्रेक्षा, विचार-चिन्तन आदि अर्थ हैं। मूल पाठ की तथा अर्थ की वाचना के साथ इस शब्द का प्रयोग यही सूचित करता है कि शिष्य विनय, उपशान्ति, जितेन्द्रियता आदि श्रुत ग्रहण योग्य प्रमुख गुणों से युक्त है या नहीं तथा किस सूत्र का कितना पाठ या कितना अर्थ देने योग्य है, इस प्रकार की अनुप्रेक्षा करके मूल पाठ व अर्थ की वाचना देने वाला होना।

३. कंठस्थ करने की शक्ति और उसे स्मृति में रखने की शक्ति का क्रमशः विकास हो, इसका ध्यान रखना तथा पूर्व में वाचना दिये गये मूल पाठ का और अर्थ की स्मृति का निरीक्षण-परीक्षण करके जितना उपयुक्त हो उतना आगे पढ़ाना।

४. संक्षिप्त वाचना पद्धति से दिये गए मूल और अर्थ का परिणमन कर लेने पर शब्दार्थों के विकल्प, नय-प्रमाण, प्रश्न-उत्तर और अन्यत्र आये उन विषयों के उद्धरणों के संबंधों को समझाते हुए तथा उत्सर्ग-अपवाद की स्थितियों में उसी सूत्राधार से किस तरह उचित निर्णय लेना आदि विस्तृत व्याख्या समझाना। इन गुणों से युक्त आचार्य **"वाचनासम्पदा"** से युक्त होता है।

(६) मतिसम्पदा—मति का अर्थ है बुद्धि। १. औत्पत्तिकी, २. वैनयिकी, ३. कार्मिकी और ४. पारिणामिकी, इन चारों प्रकार की बुद्धियों से सम्पन्न होना।

प्रत्येक पदार्थ के सामान्य और विशेष गुणों को समझकर सही निर्णय करना। एक बार निर्णय करके समझे हुए विषय को लम्बे समय तक स्मृति में रखना। किसी भी विषय को स्पष्ट समझना, किसी के द्वारा किये गये प्रश्न का समाधान करना, गूढ वचन के आशय को शीघ्र और निःसंदेह स्वतः समझ जाना।

ऐसी बुद्धि और धारणाशक्ति से सम्पन्न आचार्य **"मतिसम्पदा"** युक्त होता है।

(७) प्रयोगमतिसम्पदा—पक्ष प्रतिपक्ष युक्त शास्त्रार्थ के समय श्रुत तथा बुद्धि के प्रयोग करने की कुशलता होना प्रयोगमतिसंपदा है।

१. प्रतिपक्ष की योग्यता को देखकर तथा अपने सामर्थ्य को देखकर ही वाद का प्रयोग करना।

२. स्वयं के और प्रतिवादी के सामर्थ्य का विचार करने के साथ उस समय उपस्थित परिषद् की योग्यता, रुचि, क्षमता का भी ध्यान रखकर वाद का प्रयोग करना अर्थात् तदनुरूप चर्चा का विषय और उसका विस्तार करना।

३. उपस्थित परिषद् के सिवाय चर्चा-स्थल के क्षेत्रीय वातावरण और प्रमुख पुरुषों का विचार कर वाद का प्रयोग करना।

४. साथ में रहने वाले बाल, ग्लान, वृद्ध, नवदीक्षित, तपस्वी आदि की समाधि का ध्यान

रखकर अति परिणामी, अपरिणामी, अगीतार्थ शिष्यों के हिताहित का विचार रखते हुए तथा वाद के परिणाम में लाभालाभ की तुलना करके वाद का प्रयोग करना।

इन कुशलताओं से सम्पन्न आचार्य "प्रयोगमतिसम्पदा" युक्त होता है।

(८) **संग्रहपरिज्ञासम्पदा**—१. उपरोक्त सम्पदाओं से युक्त आचार्य में यह उत्साह होना कि जनपद में ग्रामानुग्राम विचरण करके वीतरागप्रज्ञप्त धर्म पर सर्वसाधारण की श्रद्धा सुदृढ़ करना और उन्हें धर्मानुरागी बनाना, जिससे चातुर्मास योग्य क्षेत्र सुलभ रहे।

२. वहाँ के लोगों की आतिथ्य [सुपात्रदान] की भावना बढ़ाना, जिससे बाल, ग्लान, वृद्ध, तपस्वी और अध्ययनशील साधु-साध्वियों का तथा आचार्य, उपाध्याय का निर्वाह एवं सेवा शुश्रूषा सहज संपन्न हो सके अर्थात् पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक तथा आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, औषध वगैरह सर्वथा सुलभ हों।

३. स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, उपधि-आहारादि की गवेषणा, अध्ययन-अध्यापन और यथाविधि संयम का पालन कराना तथा संयम का सम्यक् पालन करना।

४. दीक्षापर्याय में जो ज्येष्ठ हो तथा संयमदाता, वाचनादाता या गुरु हो, उनके आदर-सत्कार आदि व्यवहारों का स्वयं पूर्ण पालन करना। ऐसा करने से शिष्यों में और समाज में विनय गुण का अनुपम प्रभाव होता है।

इन गुणों से सम्पन्न आचार्य "संग्रहपरिज्ञासम्पदा" युक्त होता है।

आचार्य सम्पूर्ण संघ की धर्म-नौका के नाविक होते हैं। अतः संघहित के लिए सभी का यह कर्तव्य है कि वे उपरोक्त आठ सम्पदा रूप सर्वोच्च गुणों से सम्पन्न गीतार्थ भिक्षु को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करें।

संघनायक आचार्य में आठों ही सम्पदा होना आवश्यक है। तभी वे सम्पूर्ण संघ के सदस्यों की सुरक्षा और विकास कर सकते हैं तथा जिनशासन की प्रचुर प्रभावना कर सकते हैं।

१. सर्वप्रथम आचार्य का आचार-सम्पन्न होना आवश्यक है, क्योंकि आचार की शुद्धि से ही व्यवहार शुद्ध होता है।

२. अनेक साधकों का मार्गदर्शक होने से श्रुतज्ञान से सम्पन्न होना भी आवश्यक है। बहुश्रुत ही सर्वत्र निर्भय विचरण कर सकता है।

३. ज्ञान और क्रिया भी शारीरिक सौष्ठव होने पर ही प्रभावक हो सकते हैं, रुग्ण या अशोभनीय शरीर धर्म-प्रभावना में सहायक नहीं होता है।

४. धर्म के प्रचार-प्रसार में प्रमुख साधन वाणी भी है। अतः तीन संपदाओं के साथ-साथ वचनसंपदा भी आचार्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

५. बाह्य प्रभाव के साथ-साथ योग्य शिष्यों की संपदा भी आवश्यक है, क्योंकि सर्वगुणसंपन्न अकेला व्यक्ति भी विशाल कार्यक्षेत्र में अधिक सफल नहीं हो सकता। अतः वाचनाओं के द्वारा अनेक उज्ज्वल गीतार्थ प्रतिभासंपन्न शिष्यों को तैयार करना।

६. शिष्य भी विभिन्न तर्क, बुद्धि, रुचि, आचार वाले होते है। अतः आचार्य का सभी के संरक्षण तथा संवर्धन के योग्य बहुमुखी बुद्धिसंपन्न होना आवश्यक है।

७. विशाल समुदाय में अनेक परिस्थितियां तथा उलझनें उपस्थित होती रहती हैं। उनका यथासमय शीघ्र समुचित समाधान करने के लिये मतिसंपदा और प्रयोगमतिसंपदा का होना भी आवश्यक है। अन्य अनेक मत-मतान्तरों के सैद्धान्तिक विवाद या शास्त्रार्थ के प्रसंग उपस्थित होने पर योग्य रीति से उनका प्रतीकार करना भी आवश्यक है। ऐसे समय में तर्क, बुद्धि और श्रुत का प्रयोग बहुत धर्मप्रभावना करने वाला होता है।

८. उपरोक्त गुणों से धर्म की प्रभावना होने पर सर्वत्र यश की वृद्धि होने से शिष्य-परिवार की वृद्धि होना स्वाभाविक है। विशाल शिष्यसमुदाय के संयम की यथाविधि आराधना हो इसके लिये विचरण क्षेत्र, उपधि, आहारादि की सुलभता तथा अध्ययन, सेवा, विनय-व्यवहार की समुचित व्यवस्था और संयम समाचारी के पालन को देख-रेख, सारणा-वारणा सुव्यवस्थित होना भी अत्यावश्यक है।

इस प्रकार आठों ही संपदाएँ परस्पर एक-दूसरे की पूरक तथा स्वतः महत्त्वशील हैं। ऐसे गुणों से संपन्न आचार्य का होना प्रत्येक गण (गच्छ-समुदाय) के लिये अनिवार्य है। जैसे कुशल नाविक के बिना नौका के यात्रियों की समुद्र में पूर्ण सुरक्षा की आशा रखना अनुचित है वैसे ही आठ संपदाओं से संपन्न आचार्य के अभाव में संयमसाधकों की साधना और आराधना सदा विराधना रहित रहे, यह भी संभव नहीं है।

प्रत्येक साधक का भी यह कर्तव्य है कि वह जब तक पूर्ण योग्य और गीतार्थ न बन जाय तब तक उपरोक्त योग्यता से संपन्न आचार्य के नेतृत्व में ही अपना संयमी जीवन सुरक्षित बनाये रखे।

शिष्य के प्रति आचार्य के कर्तव्य

आयरिओ अंतेवासिं इमाए चउव्विहाए विणयपडिवत्तीए विणइत्ता भवइ निरिणत्तं गच्छइ, तं जहा—

१. आयार-विणएणं, २. सुय-विणएणं, ३. विक्खेवणा-विणएणं, ४. दोसनिग्घायण-विणएणं।

१. प०—से किं तं आयार-विणए ?

उ०—आयार-विणए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—

१. संयमसामायारी यावि भवइ, २. तवसामायारी यावि भवइ,
३. गणसामायारी यावि भवइ, ४. एकल्लविहारसामायारी यावि भवइ।

से तं आयार-विणए।

२. प०—से किं तं सुय-विणए ?

उ०—सुय-विणए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—

१. सुत्तं वाएइ, २. अत्थं वाएइ, ३. हियं वाएइ, ४. निस्सेसं वाएइ। से तं सुय-विणए।

३. प०—से किं तं विक्खेवणा-विणए ?

उ०—विक्खेवणा-विणए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—

१. अदिट्ठधम्मं दिट्ठ-पुव्वगत्ताए विणयइत्ता भवइ,

२. दिट्ठपुव्वगं साहम्मियत्ताए विणयइत्ता भवइ,

३. चुयधम्माओ धम्मे ठावइत्ता भवइ,

४. तस्सेव धम्मस्स हियाए, सुहाए, खमाए, निस्सेयसाए, अणुगामियत्ताए अब्भुट्ठेत्ता भवइ

से तं विक्खेवणा-विणए ।

४. प०—से किं तं दोसनिग्घायणा-विणए ?

उ०—दोसनिग्घायणा-विणए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—

१. कुद्धस्स कोहं विणएत्ता भवइ,　　२. दुट्ठस्स दोसं णिगिण्हित्ता भवइ,

३. कंखियस्स कंखं छिंदित्ता भवइ,　　४. आया-सुपणिहिए यावि भवइ ।

से तं दोसनिग्घायणा-विणए ।

आचार्य अपने शिष्यों को यह चार प्रकार की विनय-प्रतिपत्ति सिखाकर के अपने ऋण से उऋण हो जाता है । जैसे—

१. आचार-विनय, २. श्रुत-विनय, ३. विक्षेपणा-विनय, ४. दोषनिर्घातना-विनय ।

१. प्र०—भगवन् ! वह आचार-विनय क्या है ?

उ०—आचार-विनय चार प्रकार का कहा गया है, जैसे—

१. संयम की समाचारी सिखाना ।　　२. तप की समाचारी सिखाना ।

३. गण की समाचारी सिखाना ।　　४. एकाकीविहार की समाचारी सिखाना ।

यह आचार-विनय है ।

२. प्र०—भगवन् ! श्रुत-विनय क्या है ?

उ०—श्रुत-विनय चार प्रकार का कहा गया है, जैसे—

१. मूल सूत्रों को पढ़ाना ।　　२. सूत्रों के अर्थ को पढ़ाना ।

३. शिष्य के हित का उपदेश देना ।　　४. सूत्रार्थ का यथाविधि समग्र अध्यापन कराना ।

यह श्रुत-विनय है ।

३. प्र०—भगवन् ! विक्षेपणा-विनय क्या है ?

उ०—विक्षेपणा-विनय चार प्रकार का कहा गया है, जैसे—

१. जिसने संयमधर्म को पूर्ण रूप से नहीं समझा है उसे समझाना ।

२. संयमधर्म के ज्ञाता को ज्ञानादि गुणों से अपने समान बनाना ।

३. धर्म से च्युत होने वाले शिष्य को पुनः धर्म में स्थिर करना ।

४. संयमधर्म में स्थित शिष्य के हित के लिये, सुख के लिए, सामर्थ्य के लिए, मोक्ष के लिए और भवान्तर में भी धर्म की प्राप्ति हो, इसके लिए प्रवृत्त रहना ।

यह विक्षेपणा-विनय है ।

४. प्र०—भगवन् ! दोषनिर्घातना-विनय क्या है ?

उ०—दोषनिर्घातना-विनय चार प्रकार का कहा गया है, जैसे—

१. क्रुद्ध व्यक्ति के क्रोध को दूर करना। २. दुष्ट व्यक्ति के द्वेष को दूर करना।

३. आकांक्षा वाले व्यक्ति की आकांक्षा का निवारण करना।

४. अपनी आत्मा को संयम में लगाये रखना। यह दोषनिर्घातना-विनय है।

विवेचन—आठ संपदाओं से संपन्न भिक्षु को जब आचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है तब वह संपूर्ण संघ का धर्मशास्ता हो जाता है। तब उसे भी संघ संरक्षण एवं संवर्धन के अनेक कर्तव्यों के उत्तरदायित्व निभाने होते हैं। उनके प्रमुख उत्तरदायित्व चार प्रकार के हैं—

१. आचारविनय, २. श्रुतविनय, ३. विक्षेपणाविनय, ४. दोषनिर्घातनाविनय।

१. आचारविनय—गणी (आचार्य) का मुख्य कर्तव्य है कि सबसे पहले शिष्यों को आचार सम्बन्धी शिक्षाओं से सुशिक्षित करे। वह आचार संबंधी शिक्षा चार प्रकार की है—

१. संयम की प्रत्येक प्रवृत्ति के विधि-निषेधों का ज्ञान कराना, काल-अकाल का ज्ञान कराना। महाव्रत, समिति, गुप्ति, यतिधर्म, परीषहजय आदि का यथार्थ बोध देना।

२. अनेक प्रकार की तपश्चर्याओं के भेद-प्रभेदों का ज्ञान कराना। तप करने की शक्ति और उत्साह बढ़ाना। निरन्तर तपश्चर्या करने की शक्ति प्राप्त करने के लिए आगमोक्त क्रम से तपश्चर्या की एवं पारणा में परिमित पथ्य आहारादि के सेवन की विधि का ज्ञान कराना।

३. गीतार्थ अगीतार्थ भद्रिक परिणामी आदि सभी की संयमसाधना निर्विघ्न सम्पन्न होने के लिए आचारशास्त्रों तथा छेदसूत्रों के आधार से बनाये गये गच्छ सम्बन्धी नियमों उपनियमों (समाचारी) का सम्यक् ज्ञान कराना।

४. गण की सामूहिकचर्या को त्यागकर एकाकीविहारचर्या करने की योग्यता का, वय का तथा विचरणकाल में सावधानियाँ रखने का ज्ञान कराना एवं एकाकीविहार करने की क्षमता प्राप्त करने के उपायों का ज्ञान कराना। क्योंकि भिक्षु का द्वितीय मनोरथ यह है कि "कब मैं गच्छ के सामूहिक कर्तव्यों से मुक्त होकर एकाकीविहारचर्या धारण करूँ।" अतः एकाकीविहारचर्या की विधि का ज्ञान कराना आचार्य का चौथा आचारविनय है।

आचारांगसूत्र श्रु. १, अ. ५ और ६ में प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार की एकाकीविहार-चर्या के लक्षण बताये गये हैं। उनमें से अप्रशस्त एकलविहारचर्या के वर्णन को लक्ष्य में रखकर एकल-विहारचर्या के निषेध की परम्परा प्रचलित है। किन्तु प्रस्तुत सूत्र, द्वितीय मनोरथ तथा गणव्युत्सर्ग तप वर्णन के अनुसार एकलविहारचर्या का सर्वथा विरोध करना आगमसम्मत नहीं कहा जा सकता। इस पाठ की व्याख्या में भी स्पष्ट उल्लेख है कि आचार्य एकाकीविहारचर्या धारण करने के लिये दूसरों को उत्साहित करे तथा स्वयं भी अनुकूल अवसर पर निवृत्त होकर इस चर्या को धारण करे। इस सूत्र की निर्युक्ति, चूर्णि के सम्पादक मुनिराज भी यही सूचित करते हैं कि एकान्त निषेध उचित नहीं है।

यह आचार्य का चार प्रकार का "आचार-विनय" है।

२. श्रुतविनय—१-२. आचारधर्म का प्रशिक्षण देने के साथ-साथ आचार्य का दूसरा कर्त्तव्य है—आज्ञाधीन शिष्यों को सूत्र व अर्थ की समुचित वाचना देकर श्रुतसम्पन्न बनाना।

३. उस सूत्रार्थ के ज्ञान से तप संयम की वृद्धि के उपायों का ज्ञान कराना अर्थात् शास्त्रज्ञान को जीवन में क्रियान्वित करवाना अथवा समय-समय पर उन्हें हितशिक्षा देना।

४. सूत्ररुचि वाले शिष्यों को प्रमाणनय की चर्चा द्वारा अर्थ परमार्थ समझाना। छेदसूत्र आदि सभी आगमों की क्रमशः वाचना के समय आने वाले विघ्नों का शमन कर श्रुतवाचना पूर्ण कराना।

यह आचार्य का चार प्रकार का "श्रुतविनय" है।

३. विक्षेपणाविनय—१. जो धर्म के स्वरूप से अनभिज्ञ हैं, उन्हें धर्म का स्वरूप समझाना।

२. जो अनगारधर्म के प्रति उत्सुक नहीं हैं, उन्हें अनगारधर्म स्वीकार करने के लिये उत्साहित करना।

अथवा १. यथार्थ संयमधर्म समझाना, २. संयमधर्म के यथार्थ ज्ञाता को ज्ञानादि में अपने समान बनाना।

३. किसी अप्रिय प्रसंग से किसी भिक्षु की संयमधर्म से अरुचि हो जाय तो उसे विवेकपूर्वक पुनः स्थिर करना।

४. श्रद्धालु शिष्यों को संयमधर्म की पूर्ण आराधना कराने में सदैव तत्पर रहना।

यह आचार्य का चार प्रकार का "विक्षेपणा-विनय" है।

४. दोषनिर्घातनाविनय—शिष्यों की समुचित व्यवस्था करते हुए भी विशाल समूह में साधना करते हुए कभी कोई साधक छद्मस्थ अवस्था के कारण कषायों के वशीभूत होकर किसी दोष-विशेष के पात्र हो सकते हैं।

१. उनके क्रोधादि अवस्थाओं का सम्यक् प्रकार से छेदन करना।

२. राग-द्वेषात्मक परिणति का तटस्थतापूर्वक निवारण करना।

३. अनेक प्रकार की आकांक्षाओं के अधीन शिष्यों की आकांक्षाओं को उचित उपायों से दूर करना।

४. इन विभिन्न दोषों का निवारण कर संयम में सुदृढ़ करना अथवा शिष्यों के उक्त दोषों का निवारण करते हुए भी अपनी आत्मा को संयमगुणों से परिपूर्ण बनाये रखना।

शिष्य-समुदाय में उत्पन्न दोषों को दूर करना। यह आचार्य का चार प्रकार का "दोषनिर्घातनाविनय" है।

सम्पूर्ण ऐश्वर्य-सम्पन्न जो राजा प्रजा का प्रतिपालक होता है वही यशकीर्ति को प्राप्त कर सुखी होता है, वैसे ही जो आचार्य शिष्यसमुदाय की विवेकपूर्वक परिपालना करता हुआ संयम की आराधना कराता है, वह शीघ्र ही मोक्ष गति को प्राप्त करता है। भगवतीसूत्र श. ५ उ. ६ में कहा है कि सम्यक् प्रकार से गण का परिपालन करने वाले आचार्य, उपाध्याय उसी भव में या दूसरे भव में अथवा तीसरे भव में अवश्य मुक्ति प्राप्त करते हैं।

आचार्य और गण के प्रति शिष्य के कर्तव्य

तस्स णं एवं गुणजाइयस्स अंतेवासिस्स इमा चउव्विहा विणयपडिवत्ती भवइ, तं जहा—

१. उवगरणउप्पायणया, २. साहिल्लणया, ३. वण्णसंजलणया, ४. भारपच्चोरुहणया।

१. प०—से किं तं उवगरणउप्पायणया ?

उ०—उवगरणउप्पायणया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. अणुप्पण्णाणं उवगरणाणं उप्पाइत्ता भवइ,

२. पोराणाणं उवगरणाणं सारक्खित्ता संगोवित्ता भवइ,

३. परित्तं जाणित्ता पच्चुद्धरित्ता भवइ, ४. अहाविहिं संविभइत्ता भवइ।

से तं उवगरणउप्पायणया।

२. प०—से किं तं साहिल्लणया ?

उ०—साहिल्लणया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. अणुलोमवइसहिते यावि भवइ, २. अणुलोमकायकिरियता यावि भवइ,

३. पडिरूवकायसंफासणया यावि भवइ, ४. सव्वत्थेसु अपडिलोमया यावि भवइ।

से तं साहिल्लणया।

३. प०—से किं तं वण्णसंजलणया ?

उ०—वण्णसंजलणया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. अहातच्चाणं वण्णवाई भवइ, २. अवण्णवाई पडिहणित्ता भवइ,

३. वण्णवाइं अणुवूहइत्ता भवइ, ४. आय वुड्ढसेवी यावि भवइ।

से तं वण्णसंजलणया।

४. प०—से किं तं भारपच्चोरुहणया ?

उ०—भारपच्चोरुहणया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. असंगहिय-परिजणसंगहित्ता भवइ,

२. सेहं आयारगोयरसंगहित्ता भवइ,

३. साहम्मियस्स गिलायमाणस्स अहाथामं वेयावच्चे अब्भुट्ठित्ता भवइ,

४. साहम्मियाणं अहिगरणंसि उप्पण्णंसि तत्थ अणिस्सितोवस्सिए अपक्खग्गहिय-मज्झत्थ-भावभूए सम्मं ववहरमाणे तस्स अधिगरणस्स खमावणाए विउसमणयाए सया समियं अब्भुट्ठित्ता भवइ।

कहं णु साहम्मिया अप्पसद्दा, अप्पझंझा, अप्पकलहा, अप्पकसाया, अप्पतुमंतुमा, संजमबहुला, संवरबहुला, समाहिबहुला, अप्पमत्ता, संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा—एवं च णं विहरेज्जा।

से तं भारपच्चोरुहणया।

एसा खलु थेरेहिं भगवंतेहिं अट्ठविहा गणिसंपया पण्णत्ता।

—त्ति बेमि।

ऐसे गुणवान् आचार्य के अन्तेवासी शिष्य की यह चार प्रकार की विनयप्रतिपत्ति है। जैसे—

१. उपकरणोत्पादनता—संयम के उपयोगी वस्त्र-पात्रादि का प्राप्त करना।

२. सहायकता—अशक्त साधुओं की सहायता करना।

३. वर्णसंज्वलनता—गण और गणी के गुण प्रकट करना।

४. भारप्रत्यारोहणता—गण के भार का निर्वाह करना।

१. प्र०—भगवन् ! उपकरणोत्पादनता क्या है ?

उ०—उपकरणोत्पादनता चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

१. नवीन उपकरणों को प्राप्त करना। २. प्राप्त उपकरणों का संरक्षण और संगोपन करना।

३. जिस मुनि के पास अल्प उपधि हो, उसकी पूर्ति करना।

४. शिष्यों के लिए यथायोग्य उपकरणों का विभाग करके देना। यह उपकरणोत्पादनता है।

२. प्र—भगवन् ! सहायकताविनय क्या है ?

उ०—सहायकताविनय चार प्रकार का कहा गया है। जैसे—

१. गुरु के अनुकूल वचन बोलने वाला होना अर्थात् जो गुरु कहे उसे विनयपूर्वक स्वीकार करना। २. जैसा गुरु कहे वैसी प्रवृत्ति करने वाला होना।

३. गुरु की यथोचित सेवा-शुश्रूषा करना।

४. सर्व कार्यों में गुरु की इच्छा के अनुकूल व्यवहार करना। यह सहायकताविनय है।

३. प्र०—भगवन् ! वर्णसंज्वलनताविनय क्या है ?

उ०—वर्णसंज्वलनताविनय चार प्रकार का कहा गया है। जैसे—

१. यथातथ्य गुणों की प्रशंसा करने वाला होना।

२. अयथार्थ दोषों के कहने वाले को निरुत्तर करना।

३. वर्णवादी के गुणों का संवर्धन करना। ४. स्वयं वृद्धों की सेवा करने वाला होना।

यह वर्णसंज्वलनताविनय है।

४. प्र०—भगवन् ! भारप्रत्यारोहणताविनय क्या है ?

उ०—भारप्रत्यारोहणताविनय चार प्रकार का कहा गया है। जैसे—

१. नवीन शिष्यों का संग्रह करना।

२. नवीन दीक्षित शिष्यों को आचार-गोचर अर्थात् संयम की विधि सिखाना।

३. साधर्मिक रोगी साधुओं की यथाशक्ति वैयावृत्य के लिए तत्पर रहना।

४. साधर्मिकों में परस्पर कलह उत्पन्न हो जाने पर राग-द्वेष का परित्याग करते हुए, किसी पक्षविशेष को ग्रहण न करके मध्यस्थभाव रखना और सम्यक् व्यवहार का पालन करते हुए उस कलह के क्षमापन और उपशमन के लिए सदा तत्पर रहना और यह विचार करना कि किस तरह साधर्मिक परस्पर अनर्गल प्रलाप नहीं करेंगे, उनमें झंझट नहीं होगी, कलह, कषाय और तू-तू-मैं-मैं नहीं होगी तथा साधर्मिक जन संयमबहुल, संवरबहुल, समाधिबहुल और अप्रमत्त होकर संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करेंगे। यह भारप्रत्यारोहणताविनय है।

यह स्थविर भगवन्तों ने आठ प्रकार की गणिसम्पदा कही है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—गण और गणी के प्रति योग्य शिष्य के चार प्रमुख कर्तव्य हैं—

१. उपकरण-उत्पादन—१. गवेषणा करके वस्त्र-पात्र आदि उपकरण प्राप्त करना।

२. प्राप्त हुए उपकरणों को सुरक्षित रखना।

३. जिसको जिस उपधि की आवश्यकता है उसे वह उपधि देना।

४. यथायोग्य विभाग करके उपधि देना अथवा जिसके योग्य जो उपधि हो उसे वही देना।

यह शिष्य का उपकरण सम्बन्धी कर्तव्य पालन है।

२. सहायक होना—१. गुरुजनों के अनुकूल और हितकारी वचन बोलना, उनके आदेश-निर्देश को "तहत्ति" कहते हुए सविनय स्वीकार करना।

२. गुरुजनों के समीप बैठना, बोलना, खड़े रहना, हाथ और पैर आदि अंगोपांगों का संचालन करना इत्यादि सभी काया की प्रवृत्तियाँ इस प्रकार करना कि जो उन्हें अनुकूल लगें अर्थात् कोई भी प्रवृत्ति गुरुजनों के प्रतिकूल न हो यह विवेक रखना।

३. गुरुजनों के शरीर का संवाहन (मर्दन) आदि सेवाकार्य भी विवेकपूर्वक करना।

४. गुरुजनों के सभी कार्य उनके आदेशानुसार करना तथा भाव, भाषा, प्रवृत्ति, प्ररूपणा आदि किसी में भी उनकी रुचि से कुछ भी विपरीत नहीं करना।

यह शिष्य का 'सहायकता' कर्तव्य-पालन है।

३. गुणानुवाद—१. आचार्य आदि के गुणों का कीर्तन करना।

२. अवर्णवाद, निन्दा या असत्य आक्षेप करने वाले को उचित प्रत्युत्तर देकर निरुत्तर करना तथा प्रबल युक्तियों से प्रतिपक्षी को इस प्रकार हतप्रभ करना कि भविष्य में वह ऐसा दुःसाहस न कर सके।

३. आचार्य आदि का गुणकीर्तन करने वालों को धन्यवाद कहकर उत्साहित करना। उसका जनता को परिचय देना।

४. अपने से बड़ों की सेवा-भक्ति करना एवं यथोचित आदर देना।

यह शिष्य का 'गुणानुवाद' कर्तव्य पालन है।

४. भार-प्रत्यारोहण—आचार्य के कार्यभार को सम्भालना योग्य शिष्य का कर्तव्य होता है।

यथा—१. धर्मप्रचार आदि के द्वारा नये-नये शिष्यों की वृद्धि हो, इस तरह प्रयत्न करना।

२. गण में विद्यमान शिष्यो को आचारविधि का ज्ञान कराने में और शुद्ध आचार का अभ्यास कराने में प्रवृत्त रहना।

३. जहाँ जब जिसको सेवा की आवश्यकता हो स्वयं तन-मन से लगे रहना।

४. श्रमणों में परस्पर कलह या विवाद हो जाय तो उसका निष्पक्षभाव से निराकरण कर देना तथा इस तरह की व्यवस्था या उपाय करना कि जिससे साधर्मिक साधुओं मे कलह आदि होने का अवसर ही उपस्थित न हो और गच्छ के साधु-साध्वियों के संयम, समाधि आदि की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहे।

यह शिष्य का भार-प्रत्यारोहण कर्तव्य पालन है।

इस प्रकार गच्छ-हित के कार्य करने वाला तथा आचार्य के आदेशों का पालन करने वाला शिष्य महान् कर्मनिर्जरा करता हुआ गच्छ का संरक्षक हो जाता है। वह जिनशासन की सेवा तथा संयमाराधना करके सुगति को प्राप्त होता है। □□

पांचवीं दशा

चित्तसमाधि के दस स्थान

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—

इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं दस चित्तसमाहिठाणा पण्णत्ता।

प०—कयरा खलु ताइं थेरेहिं भगवंतेहिं दस चित्तसमाहिठाणा पण्णत्ता ?

उ०—इमाइं खलु ताइं थेरेहिं भगवंतेहिं दस चित्तसमाहिठाणा पण्णत्ता, तं जहा—

तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियग्गामे नगरे होत्था। एत्थ नगरवण्णओ भाणियव्वो।

तस्स णं वाणियग्गामस्स नगरस्स बहिया उत्तर-पुरच्छिमे दिसीभाए दूतिपलासए णामं चेइए होत्था। चेइयवण्णओ भाणियव्वो।

जियसत्तू राया। तस्स धारणी नामं देवी। एवं समोसरणं भाणियव्वं जावपुढविसिलापट्टए। सामी समोसढे। परिसा निग्गया। धम्मो कहिओ। परिसा पडिगया।

अज्जो ! इति समणे भगवं महावीरे समणा निग्गंथा य निग्गंथीओ य आमंतित्ता एवं वयासी—

इह खलु अज्जो ! निग्गंथाणं वा निग्गंथीनं वा इरियासमियाणं, भासासमियाणं, एसणासमियाणं, आयाण-भंड-मत्त-निक्खेवणा-समियाणं, उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्लपारिट्ठवणियासमियाणं, मणसमियाणं, वयसमियाणं, कायसमियाणं, मणगुत्तीणं, वयगुत्तीणं, कायगुत्तीणं गुत्तिंदियाणं, गुत्तबंभयारीणं, आयट्ठीणं, आयहियाणं, आयजोईणं, आयपरक्कमाणं, पक्खियपोसहिएसु समाहिपत्ताणं झियायमाणाणं इमाइं दस चित्तसमाहिठाणाइं असमुप्पण्णपुव्वाइं समुप्पज्जेज्जा, तं जहा—

१. धम्मचिंता वा से असमुप्पण्णपुव्वा समुप्पज्जेज्जा, सव्वं धम्मं जाणित्तए।
२. सण्णिजाइसरणेणं सण्णिणाणं वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा, अप्पणो पोराणियं जाइं सुमरित्तए।
३. सुमिणदंसणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा अहातच्चं सुमिणं पासित्तए।
४. देवदंसणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा, दिव्वं देवड्ढिं दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं पासित्तए।
५. ओहिणाणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा, ओहिणा लोगं जाणित्तए।
६. ओहिदंसणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा, ओहिणा लोयं पासित्तए।
७. मणपज्जवनाणे वा असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा अंतो मणुस्सखित्तेसु अड्ढाइज्जेसु दीव-समुद्देसु सण्णीणं पंचिंदियाणं [illegible] भावे जाणित्तए।

८. केवलणाणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा, केवलकप्पं लोयालोयं जाणित्तए।

९. केवलदंसणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा, केवलकप्पं लोयालोयं पासित्तए।

१०. केवलमरणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा सव्वदुक्खपहीणाए।

गाहाओ

ओयं चित्तं समादाय, झाणं समणुपस्सइ।
धम्मे ठिओ अविमणो, निव्वाणमभिगच्छइ ॥१॥

ण इमं चित्तं समादाय, भुज्जो लोयंसि जायइ।
अप्पणो उत्तमं ठाणं, सण्णीणाणेण जाणइ ॥२॥

अहातच्चं तु सुमिणं, खिप्पं पासेइ संवुडे।
सव्वं वा ओहं तरति, दुक्खाओ य विमुच्चइ ॥३॥

पंताइं भयमाणस्स, विवित्तं सयणासणं।
अप्पाहारस्स दंतस्स, देवा दंसेंति ताइणो ॥४॥

सव्वकाम-विरत्तस्स, खमतो भय-भेरवं।
तओ से ओहि भवइ, संजयस्स तवस्सिणो ॥५॥

तवसा अवहड-लेस्सस्स, दंसणं परिसुज्झइ।
उड्ढं अहे तिरियं च, सव्वं समणुपस्सति ॥६॥

सुसमाहियलेस्सस्स, अवितक्कस्स भिक्खुणो।
सव्वतो विप्पमुक्कस्स, आया जाणाइ पज्जवे ॥७॥

जया से णाणावरणं, सव्वं होइ खयं गयं।
तया लोगमलोगं च, जिणो जाणति केवली ॥८॥

जया से दंसणावरणं, सव्वं होइ खयं गयं।
तया लोगमलोगं च, जिणो पासति केवली ॥९॥

पडिमाए विसुद्धाए, मोहणिज्जे खयं गए।
असेसं लोगमलोगं च, पासेति सुसमाहिए ॥१०॥

जहा मत्थए सूइए हताए हम्मइ तले।
एवं कम्माणि हम्मंति, मोहणिज्जे खयं गए ॥११॥

सेणावइम्मि निहए, जहा सेणा पणस्सति।
एवं कम्माणि णस्संति मोहणिज्जे खयं गए ॥१२॥

धूमहीणो जहा अग्गी, खीयति से निरिंधणे ।
एवं कम्माणि खीयंति, मोहणिज्जे खयं गए ॥१३॥

सुक्क-मूले जहा रुक्खे, सिंचमाणे ण रोहति ।
एवं कम्मा ण रोहंति, मोहणिज्जे खयं गए ॥१४॥

जहा दड्ढाणं बीयाणं, न जायंति पुणंकुरा ।
कम्म-बीएसु दड्ढेसु, न जायंति भवंकुरा ॥१५॥

चिच्चा ओरालियं बोंदि, नाम-गोयं च केवली ।
आउयं वेयणिज्जं च, छित्ता भवति नीरए ॥१६॥

एवं अभिसमागम्म, चित्तमादाय आउसो ।
सेणि-सुद्धिमुवागम्म, आया सोधिमुवेहइ ॥१७॥

—त्ति बेमि ।

हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है—उन निर्वाणप्राप्त भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है—
इस आर्हत प्रवचन में स्थविर भगवन्तों ने दस चित्तसमाधिस्थान कहे हैं ।

प्र०—भगवन् ! वे कौन से दस चित्तसमाधिस्थान स्थविर भगवन्तों ने कहे हैं ?

उ०—ये दस चित्तसमाधिस्थान स्थविर भगवन्तों ने कहे हैं । जैसे—

उस काल और उस समय में वाणिज्यग्राम नगर था । यहाँ पर नगर का वर्णन कहना चाहिए ।

उस वाणिज्यग्राम नगर के बाहर उत्तर-पूर्व दिग्भाग (ईशानकोण) में दूतिपलाशक नाम का चैत्य था । यहाँ पर चैत्यवर्णन कहना चाहिये ।

वहाँ का राजा जितशत्रु था । उसकी धारणी नाम की देवी थी । इस प्रकार सर्व समवसरण-वर्णन कहना चाहिए । यावत् पृथ्वी-शिलापट्टक पर वर्धमान स्वामी विराजमान हुए । धर्मोपदेश सुनने के लिए परिषद् निकली । भगवान् ने धर्म का निरूपण किया । परिषद् वापिस चली गई ।

हे आर्यो ! इस प्रकार सम्बोधन कर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थिनियों से कहने लगे—

हे आर्यो ! निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों को, जो कि ईर्यासमिति वाले, भाषासमिति वाले, एषणा-समिति वाले, आदान-भाण्ड-मात्रनिक्षेपणासमिति वाले, उच्चार-प्रस्रवण-खेल-सिंघाणक-जल्ल-मल की परिष्ठापनासमिति वाले, मनःसमिति वाले, वचनसमिति वाले, कायसमिति वाले, मनोगुप्ति वाले, वचनगुप्ति वाले, कायगुप्ति वाले तथा गुप्तेन्द्रिय, गुप्तब्रह्मचारी, आत्मार्थी, आत्मा का हित करने वाले, आत्मयोगी, आत्मपराक्रमी, पाक्षिकपौषधों में समाधि को प्राप्त और शुभ ध्यान करने वाले हैं । उन मुनियों को ये पूर्व अनुत्पन्न चित्तसमाधि के दस स्थान उत्पन्न हो जाते हैं । वे इस प्रकार हैं—

१. पूर्व असमुत्पन्न (पहले कभी उत्पन्न नहीं हुई) ऐसी धर्म-भावना यदि साधु के मन में उत्पन्न हो जाय तो वह सर्व धर्म को जान सकता है, इससे चित्त को समाधि प्राप्त हो जाती है ।

२. पूर्व असमुत्पन्न संज्ञि जातिस्मरण द्वारा संज्ञि-ज्ञान यदि उसे उत्पन्न हो जाय और अपने पूर्व जन्मों का स्मरण कर ले तो चित्तसमाधि प्राप्त हो जाती है।
३. पूर्व अदृष्ट यथार्थ स्वप्न यदि दिख जाय तो चित्तसमाधि प्राप्त हो जाती है।
४. पूर्व अदृष्ट देवदर्शन यदि हो जाय और दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति और दिव्य देवानुभाव दिख जाय तो चित्तसमाधि प्राप्त हो जाती है।
५. पूर्व असमुत्पन्न अवधिज्ञान यदि उसे उत्पन्न हो जाय और अवधिज्ञान के द्वारा वह लोक को जान लेवे तो चित्तसमाधि प्राप्त हो जाती है।
६. पूर्व असमुत्पन्न अवधिदर्शन यदि उसे उत्पन्न हो जाय और अवधि-दर्शन के द्वारा वह लोक को देख लेवे तो चित्तसमाधि प्राप्त हो जाती है।
७. पूर्व असमुत्पन्न मनःपर्यवज्ञान यदि उसे उत्पन्न हो जाय और मनुष्य क्षेत्र के भीतर अढ़ाई द्वीप-समुद्रों में संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के मनोगत भावों को जान लेवे तो चित्त-समाधि प्राप्त हो जाती है।
८. पूर्व असमुत्पन्न केवलज्ञान यदि उसे उत्पन्न हो जाय और केवल-कल्प लोक-अलोक को जान लेवे तो चित्तसमाधि प्राप्त हो जाती है।
९. पूर्व असमुत्पन्न केवलदर्शन यदि उसे उत्पन्न हो जाय और केवल-कल्प लोक-अलोक को देख लेवे तो चित्तसमाधि प्राप्त हो जाती है।
१०. पूर्व असमुत्पन्न केवलमरण यदि उसे प्राप्त हो जाय तो वह सर्व दुःखों के सर्वथा अभाव से पूर्ण शान्तिरूप समाधि को प्राप्त हो जाता है।

गाथार्थ—

१. राग-द्वेष-रहित निर्मल चित्त को धारण करने पर एकाग्रतारूप ध्यान उत्पन्न होता है और शंका-रहित धर्म में स्थित आत्मा निर्वाण को प्राप्त करता है।
२. इस प्रकार चित्तसमाधि को धारण कर आत्मा पुनः पुनः लोक में उत्पन्न नहीं होता और अपने उत्तम स्थान को संज्ञि-ज्ञान से जान लेता है।
३. संवृत-आत्मा यथातथ्य स्वप्न को देखकर शीघ्र ही सर्व संसार रूपी समुद्र से पार हो जाता है तथा शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के दुःखों से छूट जाता है।
४. अल्प आहार करने वाले, अन्त-प्रान्तभोजी, विविक्त शयन-आसनसेवी, इन्द्रियों का निग्रह करने वाले और षट्कायिक जीवों के रक्षक संयत साधु को देवदर्शन होता है।
५. सर्व कामभोगों से विरक्त, भीम-भैरव परीषह-उपसर्गों के सहन करने वाले तपस्वी संयत को अवधिज्ञान उत्पन्न होता है।
६. जिसने तप के द्वारा अशुभ लेश्याओं को दूर कर दिया है, उसे अति विशुद्ध अवधिदर्शन हो जाता है और उसके द्वारा वह ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और सर्व तिर्यक्लोक को देखने लगता है।

७. सुसमाधियुक्त प्रशस्त लेश्या वाले, विकल्प से रहित, भिक्षावृत्ति से निर्वाह करने वाले और सर्व प्रकार के बन्धनों से मुक्त आत्मा मन के पर्यवों को जानता है।

८. जब जीव का समस्त ज्ञानावरणकर्म क्षय को प्राप्त हो जाता है, तब वह केवली जिन होकर समस्त लोक और अलोक को जानता है।

९. जब जीव का समस्त दर्शनावरणकर्म क्षय को प्राप्त हो जाता है, तब वह केवली जिन समस्त लोक और अलोक को देखता है।

१०. प्रतिमा के विशुद्धरूप से आराधन करने पर और मोहनीयकर्म के क्षय हो जाने पर सुसमाहित आत्मा सम्पूर्ण लोक और अलोक को देखता है।

११. जैसे मस्तक स्थान में सूई से छेदन किये जाने पर तालवृक्ष नीचे गिर जाता है, इसी प्रकार मोहनीयकर्म के क्षय हो जाने पर शेष कर्म विनष्ट हो जाते हैं।

१२. जैसे सेनापति के मारे जाने पर सारी सेना अस्त-व्यस्त हो जाती है, इसी प्रकार मोहनीयकर्म के क्षय हो जाने पर शेष सर्व कर्म विनष्ट हो जाते हैं।

१३. जैसे धूमरहित अग्नि ईन्धन के अभाव से क्षय को प्राप्त हो जाती है, इसी प्रकार मोहनीयकर्म के क्षय हो जाने पर सर्व कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं।

१४. जैसे शुष्क जड़वाला वृक्ष जल-सिंचन किये जाने पर भी पुनः अंकुरित नहीं होता है, इसी प्रकार मोहनीयकर्म के क्षय हो जाने पर शेष कर्म भी पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं।

१५. जैसे जले हुए बीजों से पुनः अंकुर उत्पन्न नहीं होते हैं, इसी प्रकार कर्मबीजों के जल जाने पर भवरूप अंकुर उत्पन्न नहीं होते हैं।

१६. औदारिक शरीर का त्याग कर तथा नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय कर्म का छेदन कर केवली भगवान् कर्म-रज से सर्वथा रहित हो जाते हैं।

१७. हे आयुष्मन् शिष्य! इस प्रकार (समाधि के भेदों को) जान कर, राग और द्वेष से रहित चित्त को धारण कर, शुद्ध श्रेणी (क्षपक-श्रेणी) को प्राप्त कर आत्मा शुद्धि को प्राप्त करता है, अर्थात् मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—व्यापार में पुरुषार्थ करने वाले व्यक्ति को जब इच्छित धन-राशि की प्राप्ति होती है तब उसे अत्यन्त प्रसन्नता होती है, वैसे ही संयम-साधना में लीन मोक्षार्थी साधक को जब पूर्वोक्त दस आत्मगुणों में से किसी गुण की प्राप्ति होती है तब उसे भी अनुपम आत्मानन्द की प्राप्ति होती है। उस अनुपम आनन्द को ही प्रस्तुत दशा में चित्तसमाधि कहा गया है। सूत्र में दसों ही स्थान गद्यपाठ व गाथा रूप में कहे गये हैं। गद्यपाठ में उन दस चित्तसमाधिस्थानों का कथन है और गाथाओं में उन समाधिस्थानों की प्राप्ति किस प्रकार की साधना करने वाले भिक्षु को होती है, यह कहा है और उन समाधिस्थान का क्या परिणाम होता है, यह भी बताया गया है। दस चित्तसमाधि-स्थान इस प्रकार हैं—

१. श्रमण निर्ग्रन्थ को धर्मजागरणा करते हुए अनुत्पन्न धर्मभावना का उत्पन्न होना अर्थात् अनुपम धर्मध्यान की प्राप्ति। २. जातिस्मरण ज्ञान की प्राप्ति। ३. जिन स्वप्नों को देखकर जागृत होने से उसी भव में या १-२ भव में जीव को मुक्ति प्राप्त होती है, ऐसे स्वप्न को देखना। भगवतीसूत्र श. १६ उ. ६ में ऐसे स्वप्नों का वर्णन है। ४. देवदर्शन होना—अर्थात् श्रमण की सेवा में देव का उपस्थित होना। ५. अवधिज्ञान की प्राप्ति। ६. अवधिदर्शन की प्राप्ति। ७. मनः-पर्यवज्ञान की प्राप्ति। ८. केवलज्ञान की प्राप्ति। ९. केवलदर्शन की प्राप्ति। १०. मुक्तिगमन-मोक्ष की प्राप्ति।

दस चित्तसमाधि (आत्म-आनन्द के) स्थानों का दस गाथाओं में वर्णन करने के बाद मोहनीय-कर्म के क्षय का महत्त्व चार उपमाओं के द्वारा बताया गया है—१. तालवृक्ष के शीर्षस्थान पर सूई से छेद करना, २. सेनापति का युद्ध में मारा जाना, ३. अग्नि को ईंधन का अभाव, ४. वृक्ष का मूल सूख जाना।

सभी कर्म भवपरम्परा के बीज हैं। इन कर्म-बीजों के जल जाने अर्थात् पूर्ण क्षय हो जाने पर जीव शाश्वत मोक्ष को प्राप्त होता है। वह पुनः संसार में परिभ्रमण नहीं करता है।

प्रस्तुत दशा में दस चित्तसमाधिस्थान श्रमण निर्ग्रन्थों को प्राप्त होने का प्रासंगिक कथन है अतः अन्य श्रमणोपासक आदि को होने का निषेध नहीं समझना चाहिये। कई स्थान श्रमणोपासक को भी प्राप्त हो सकते हैं और कोई-कोई शुभ परिणामी अन्य संज्ञी जीवों को भी प्राप्त हो सकते हैं।

चित्तसमाधि प्राप्त करने वाले श्रमण के विशेषणों में "पक्खियपोसहिएसु समाहिपत्ताणं झियायमाणाणं" ऐसा पाठ है, इसका अर्थ पर्व तिथियों के दिन धर्मजागरणा करने वाले श्रमणों की तपश्चर्या समझना चाहिए, क्योंकि शेष सावद्ययोगों का त्याग आदि तो भिक्षु के आजीवन होते ही हैं।

□□

छठी दशा

ग्यारह उपासक-प्रतिमाएँ

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ।

प०—कयराओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ ?

उ०—इमाओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ तं जहा—

१. दंसण-पडिमा, २. वय-पडिमा, ३. सामाइय-पडिमा, ४. पोसह-पडिमा, ५. काउस्सग्ग-पडिमा, ६. बंभचेर-पडिमा, ७. सचित्तपरिण्णाय-पडिमा, ८. आरंभपरिण्णाय-पडिमा, ९. पेस-परिण्णाय-पडिमा, १०. उद्दिट्ठभत्तपरिण्णाय-पडिमा, ११. समणभूय-पडिमा।

तत्थ खलु इमा पढमा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवति। तस्स णं बहूइं सीलवयगुणवयवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं नो सम्मं पट्ठवियाइं भवंति, पढमा उवासगपडिमा।

अहावरा दोच्चा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवइ, तस्स णं बहूइं सीलवयगुणवय-वेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं सम्मं पट्ठवियाइं भवंति, से णं सामाइयं देसावगासियं नो सम्मं अणुपालित्ता भवइ, दोच्चा उवासगपडिमा।

अहावरा तच्चा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवइ, तस्स णं बहूइं सीलवयगुणवय-वेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं सम्मं पट्ठवियाइं भवंति। से णं सामाइयं देसावगासियं सम्मं अणुपालित्ता भवइ, से णं चउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहोववासं नो सम्मं अणु-पालित्ता भवइ, तच्चा उवासगपडिमा।

अहावरा चउत्था उवासग पडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवइ, तस्स णं बहूइं सीलवयगुणवयवेर-मणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं सम्मं पट्ठवियाइं भवंति। से णं सामाइयं देसावगासियं सम्मं अणुपालित्ता भवइ। से णं चउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहोववासं सम्मं अणुपालित्ता भवइ। से णं एगराइयं काउस्सग्गपडिमं नो सम्मं अणुपालित्ता भवइ। चउत्था उवासगपडिमा।

अहावरा पंचमा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवइ। तस्स णं बहूइं सीलवयगुणवय-वेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं सम्मं पट्ठवियाइं भवंति। से णं सामाइयं देसावगासियं सम्मं अणुपालित्ता भवइ। से णं चउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहोववासं सम्मं अणु-पालित्ता भवइ।

से णं एगराइयं काउस्सग्गपडिमं सम्मं अणुपालित्ता भवइ। से णं असिणाणए, वियडभोई, मउलिकडे, बंभयारी य नो भवइ।

से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा, दुयाहं वा, तियाहं वा, जाव उक्कोसेणं पंच मासं विहरइ, पंचमा उवासगपडिमा।

अहावरा छट्ठा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवइ जाव से णं एगराइयं काउस्सग्गपडिमं सम्मं अणुपालित्ता भवइ। से णं असिणाणए, वियडभोई, मउलिकडे, बंभयारी यावि भवइ।

सचित्ताहारे से अपरिण्णाए भवइ। से णं एयारूवेण विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा, दुआहं वा, तिआहं वा जाव उक्कोसेणं छम्मासे विहरेज्जा, छट्ठा उवासगपडिमा।

अहावरा सत्तमा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवइ जाव बंभयारी यावि भवइ।

सचित्ताहारे से परिण्णाए भवति। आरंभे से अपरिण्णाए भवति। से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा, दुआहं वा, तिआहं वा जाव उक्कोसेणं सत्तमासे विहरेज्जा, सत्तमा उवासगपडिमा।

अहावरा अट्ठमा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवइ जाव बंभयारी यावि भवइ। सचित्ताहारे से परिण्णाए भवइ। आरम्भे से परिण्णाए भवइ। पेसारंभे से अपरिण्णाए भवइ। से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा, दुआहं वा, तिआहं वा जाव उक्कोसेणं अट्ठमासे विहरेज्जा, अट्ठमा उवासगपडिमा।

अहावरा नवमा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवइ जाव बंभयारी यावि भवइ।

सचित्ताहारे से परिण्णाए भवइ। आरंभे से परिण्णाए भवइ। पेसारंभे से परिण्णाए भवइ। उद्दिट्ठभत्ते से अपरिण्णाए भवइ। से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा, दुआहं वा, तिआहं वा जाव उक्कोसेणं नवमासे विहरेज्जा, नवमा उवासगपडिमा।

अहावरा दसमा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवइ जाव उद्दिट्ठभत्ते से परिण्णाए भवइ। से णं खुरमुंडए वा, सिहाधारए वा, तस्स णं आभट्ठस्स वा समाभट्ठस्स वा कप्पंति दुवे भासाओ भासित्तए, तं जहा—

१. जाणं वा जाणं,

२. अजाणं वा णो जाणं।

से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा, दुआहं वा, तिआहं वा जाव उक्कोसेणं दस मासे विहरेज्जा, दसमा उवासगपडिमा।

अहावरा एकादसमा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवइ जाव उद्दिट्ठभत्ते से परिण्णाए भवइ।

से णं खुरमुंडए वा, लुंचसिरए वा, गहियायारभंडगनेवत्थे, जारिसे समणाणं निग्गंथाणं धम्मे पण्णत्ते तं सम्मं काएणं फासेमाणे, पालेमाणे, पुरओ जुगमायाए पेहमाणे, दट्ठूण तसे पाणे, उद्धट्टु पाए रीएज्जा, साहट्टु पाए रीएज्जा, तिरिच्छं वा पायं कट्टु रीएज्जा, सति परक्कमे संजयामेव परिक्कमेज्जा, नो उज्जुयं गच्छेज्जा।

केवलं से नायए पेज्जबंधणे अवोच्छिन्ने भवइ, एवं से कप्पति नायविहिं एत्तए।

तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते चाउलोदणे पच्छाउत्ते भिलिंगसूवे, कप्पइ से चाउलोदणे पडिगाहित्तए, नो से कप्पइ भिलिंगसूवे पडिगाहित्तए।

तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते भिलिंगसूवे, पच्छाउत्ते चाउलोदणे, कप्पइ से भिलिंगसूवे पडिगाहित्तए, नो से कप्पइ चाउलोदणे पडिगाहित्तए।

तत्थ से पुव्वागमणेणं दो वि पुव्वाउत्ताइं, कप्पंति से दोऽवि पडिगाहित्तए।
तत्थ से पुव्वागमणेणं दो वि पच्छाउत्ताइं नो कप्पंति दोऽवि पडिगाहित्तए।
जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते से कप्पइ पडिगाहित्तए।
जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पच्छाउत्ते नो से कप्पइ पडिगाहित्तए।
तस्स णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स कप्पति एवं वदित्तए—
"समणोवासगस्स पडिमापडिवन्नस्स भिक्खं दलयह।"
तं च एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणं केइ पासित्ता वदिज्जा—
प०—केइ आउसो ! "तुमं वत्तव्वं सिया" ?
उ०—"समणोवासए पडिमापडिवण्णए अहमंसी" ति वत्तव्वं सिया।

से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा, दुयाहं वा, तियाहं वा जाव उक्कोसेणं एक्कारसमासे विहरेज्जा।

से तं एकादसमा उवासगपडिमा।

एयाओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ।

हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है उन निर्वाणप्राप्त भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है—इस जैन प्रवचन में स्थविर भगवन्तों ने ग्यारह उपासक-प्रतिमाएँ कही हैं।

प्र०—भगवन् ! वे कौन-सी ग्यारह उपासक-प्रतिमाएँ स्थविर भगवन्तों ने कही हैं ?
उ०—वे ग्यारह उपासक-प्रतिमाएँ स्थविर भगवन्तों ने इस प्रकार कही हैं, जैसे—
१. दर्शनप्रतिमा, २. व्रतप्रतिमा, ३. सामायिकप्रतिमा, ४. पौषधप्रतिमा, ५. कायोत्सर्ग-प्रतिमा, ६. ब्रह्मचर्यप्रतिमा, ७. सचित्तत्यागप्रतिमा, ८. आरम्भत्यागप्रतिमा, ९. प्रेष्यत्याग-प्रतिमा, १०. उद्दिष्टभक्तत्यागप्रतिमा, ११. श्रमणभूतप्रतिमा।

इनमें प्रथम उपासकप्रतिमा का वर्णन यह है—

वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है अर्थात् श्रुतधर्म और चारित्रधर्म में श्रद्धा रखता है। किन्तु वह अनेक शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातादि-विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास आदि का सम्यक् प्रकार से धारक नहीं होता है। यह प्रथम उपासकप्रतिमा है।

दूसरी उपासकप्रतिमा—वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है। उसके बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातादि-विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास आदि सम्यक् प्रकार से धारण किये हुए होते हैं। किन्तु वह सामायिक और देशावकाशिक व्रत का सम्यक् प्रतिपालक नहीं होता है। यह दूसरी उपासकप्रतिमा है।

तीसरी उपासकप्रतिमा—वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है। उसके बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातादि विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास आदि सम्यक् प्रकार से धारण किये हुए होते हैं। वह सामायिक और देशावकाशिक शिक्षाव्रत का भी सम्यक् परिपालक होता है। किन्तु चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी तिथियों में परिपूर्ण पौषधोपवास का सम्यक् परिपालक नहीं होता। यह तीसरी उपासकप्रतिमा है।

चौथी उपासकप्रतिमा—वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है, उसके बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातादि-विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास आदि सम्यक् धारण किए हुए होते हैं। वह सामायिक और देशावकाशिक शिक्षाव्रतों को भी सम्यक् प्रकार से पालन करता है। वह चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी तिथियों में परिपूर्ण पौषधोपवास का सम्यक् परिपालन करता है। किन्तु एकरात्रिक कायोत्सर्गप्रतिमा का सम्यक् परिपालन नहीं करता है। यह चौथी उपासकप्रतिमा है।

पांचवीं उपासकप्रतिमा—वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है, उसके बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातादि-विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास आदि सम्यक् धारण किये हुए होते हैं। वह सामायिक और देशावकाशिक व्रत का सम्यक् प्रकार से परिपालन करता है। वह चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी तिथियों में परिपूर्ण पौषधोपवास का सम्यक् परिपालन करता है। वह एकरात्रिक कायोत्सर्गप्रतिमा का सम्यक् परिपालन करता है। किन्तु अस्नान, दिवस भोजन, मुकुलीकरण, पूर्ण ब्रह्मचर्य का सम्यक् परिपालन नहीं करता है। वह इस प्रकार के आचरण से विचरता हुआ जघन्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट पांच मास तक इस प्रतिमा का पालन करता है। यह पांचवीं उपासकप्रतिमा है।

छठी उपासकप्रतिमा—वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है यावत् वह एकरात्रिक कायोत्सर्गप्रतिमा का सम्यक् प्रकार से पालन करता है। वह स्नान नहीं करता, दिन में भोजन करता है, धोती की लांग नहीं लगाता और पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है। किन्तु वह सचित्त आहार का परित्यागी नहीं होता है। इस प्रकार का आचरण करते हुए विचरता हुआ वह जघन्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट छह मास तक इस प्रतिमा का पालन करता है। यह छठी उपासकप्रतिमा है।

सातवीं उपासकप्रतिमा—वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है यावत् वह पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है। वह सचित्ताहार का परित्यागी होता है। किन्तु वह आरम्भ करने का

परित्यागी नहीं होता है। इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ वह जघन्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट सात मास तक इस प्रतिमा का पालन करता है। यह सातवीं उपासकप्रतिमा है।

आठवीं उपासकप्रतिमा—वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है यावत् वह पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है। वह सचित्ताहार का परित्यागी होता है, वह सर्व आरम्भों का परित्यागी होता है, किन्तु वह दूसरों से आरम्भ कराने का परित्यागी नहीं होता है। इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ वह जघन्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट आठ मास तक इस प्रतिमा का पालन करता है। यह आठवीं उपासकप्रतिमा है।

नवमी उपासकप्रतिमा—वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है यावत् वह पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है। वह सचित्ताहार का परित्यागी होता है। वह आरम्भ का परित्यागी होता है। वह दूसरों के द्वारा आरम्भ कराने का भी परित्यागी होता है। किन्तु उद्दिष्टभक्त का परित्यागी नहीं होता है। इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ वह जघन्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट नौ मास तक इस प्रतिमा का पालन करता है। यह नवमी उपासकप्रतिमा है।

दसवीं उपासकप्रतिमा—वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है यावत् वह उद्दिष्टभक्त का परित्यागी होता है। वह सिर के बालों का क्षुरमुंडन करा देता है अथवा शिखा (बालों) को धारण करता है। किसी के द्वारा एक बार या अनेक बार पूछे जाने पर उसे दो भाषाएँ बोलना कल्पता है। यथा—

१. यदि जानता हो तो कहे—"मैं जानता हूँ।"
२. यदि नहीं जानता हो तो कहे—"मैं नहीं जानता हूँ।"

इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ वह जघन्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट दस मास तक इस प्रतिमा का पालन करता है। यह दसवीं उपासकप्रतिमा है।

ग्यारहवीं उपासकप्रतिमा—वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है यावत् वह उद्दिष्टभक्त का परित्यागी होता है।

वह क्षुरा से सिर का मुंडन करता है अथवा केशों का लुंचन करता है, वह साधु का आचार, भण्डोपकरण और वेशभूषा ग्रहण करता है।

जो श्रमण निर्ग्रन्थों का धर्म होता है, उसका सम्यक्तया काया से स्पर्श करता हुआ, पालन करता हुआ, चलते समय आगे चार हाथ भूमि को देखता हुआ त्रसप्राणियों को देखकर उनकी रक्षा के लिए अपने पैर उठाता हुआ, पैर संकुचित करता हुआ अथवा तिरछे पैर रखकर सावधानी से चलता है।

यदि दूसरा जीवरहित मार्ग हो तो उसी मार्ग पर यतना के साथ चलता है किन्तु जीवसहित सीधे मार्ग से नहीं चलता।

केवल ज्ञाति-वर्ग से उसके प्रेम-बन्धन का विच्छेद नहीं होता है, इसलिए उसे ज्ञातिजनों के घरों में भिक्षावृत्ति के लिए जाना कल्पता है।

गृहस्थ के घर में प्रतिमाधारी के आगमन से पूर्व चावल रंधे हुए हों और दाल पीछे से रंधे तो चावल लेना कल्पता है, किन्तु दाल लेना नहीं कल्पता है।

आगमन से पूर्व दाल रंधी हुई हो और चावल पीछे से रंधे हों तो दाल लेना कल्पता है, किन्तु चावल लेना नहीं कल्पता है।

आगमन से पूर्व दाल और चावल दोनों रंधे हुए हों तो दोनों लेने कल्पते हैं, किन्तु बाद में रंधे हों तो दोनों लेने नहीं कल्पते हैं।

(तात्पर्य यह है कि) आगमन से पूर्व जो आहार अग्नि आदि से दूर रखा हुआ हो वह लेना कल्पता है और जो आगमन के बाद में अग्नि आदि से दूर रखा गया हो वह लेना नहीं कल्पता है।

जब वह गृहस्थ के घर में भक्त-पान की प्रतिज्ञा से प्रविष्ट होवे तब उसे इस प्रकार बोलना कल्पता है—

"प्रतिमाधारी श्रमणोपासक को भिक्षा दो।"

इस प्रकार की चर्या से उसे विचरते हुए देखकर यदि कोई पूछे—

प्र०—हे आयुष्मन् ! तुम कौन हो ? तुम्हें क्या कहा जाये ?

उ०—मैं प्रतिमाधारी श्रमणोपासक हूँ। इस प्रकार उसे कहना चाहिये।

इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ वह जघन्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट ग्यारह मास तक विचरण करे।

यह ग्यारहवीं उपासकप्रतिमा है।

स्थविर भगवन्तों ने ये ग्यारह उपासकप्रतिमाएं कही है।

विवेचन—सामान्य रूप से कोई भी सम्यग्दृष्टि आत्मा व्रत धारण करने पर व्रतधारी श्रावक कहा जाता है। वह एक व्रतधारी भी हो सकता है या बारह व्रतधारी भी हो सकता है। प्रतिमाओं में भी अनेक प्रकार के व्रत, प्रत्याख्यान ही धारण किये जाते हैं, किन्तु विशेषता यह है कि इसमें जो भी प्रतिज्ञा की जाती है उसमें कोई आगार नहीं रखा जाता है और नियत समय में अतिचाररहित नियम का दृढ़ता के साथ पालन किया जाता है।

जिस प्रकार भिक्षुप्रतिमा धारण करने वाले को विशुद्ध संयमपर्याय और विशिष्ट श्रुत का ज्ञान होना आवश्यक है, उसी प्रकार उपासकप्रतिमा धारण करने वाले को भी बारह व्रतों के पालन का अभ्यास होना और कुछ श्रुतज्ञान होना भी आवश्यक है, किन्तु इसका कुछ स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है।

प्रतिमा धारण करने वाले श्रावक को सांसारिक जिम्मेदारियों से निवृत्त होना तो आवश्यक है ही किन्तु सातवी प्रतिमा तक गृहकार्यों का त्याग आवश्यक नहीं होता है, तथापि प्रतिमा के नियमों का शुद्ध पालन करना अत्यावश्यक होता है। आठवीं प्रतिमा से अनेक गृहकार्यों का त्याग करते हुए ग्यारहवी प्रतिमा में सम्पूर्ण गृहकार्यों का त्याग करके श्रमण के समान आचार का पालन करता है।

ग्यारह प्रतिमाओं में से किसी भी प्रतिमा को धारण करने वाले को आगे की प्रतिमा के नियमों का पालन करना आवश्यक नहीं होता है। स्वेच्छा से पालन कर सकता है अर्थात् पहली प्रतिमा में सचित्त का त्याग या श्रमणभूत जीवन धारण कर सकता है।

किन्तु आगे की प्रतिमा धारण करने वाले को उसके पूर्व की सभी प्रतिमाओं के सभी नियमों का पालन करना आवश्यक होता है अर्थात् सातवीं प्रतिमा धारण करने वाले को सचित्त का त्याग करने के साथ ही सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य, पौषध, कायोत्सर्ग आदि प्रतिमाओं का भी यथार्थ रूप से पालन करना आवश्यक होता है।

१. पहली दर्शनप्रतिमा धारण करने वाला श्रावक १२ व्रतों का पालन करता है किन्तु वह दृढप्रतिज्ञ सम्यक्त्वी होता है। मन वचन काय से वह सम्यक्त्व में किसी प्रकार का अतिचार नहीं लगाता है तथा देवता या राजा आदि किसी भी शक्ति से किंचित् मात्र भी सम्यक्त्व से विचलित नहीं होता है अर्थात् किसी भी आगार के बिना तीन करण तीन योग से एक महीना तक शुद्ध सम्यक्त्व की आराधना करता है। इस प्रकार वह प्रथम दर्शनप्रतिमा वाला व्रतधारी श्रावक कहलाता है।

कुछ प्रतियों में "से दंसणसावए भवइ" ऐसा पाठ भी मिलता है। उसका तात्पर्य भी यही है कि वह दर्शनप्रतिमाधारी व्रती श्रावक है क्योंकि जो एक व्रतधारी भी नहीं होता है उसे दर्शनश्रावक कहा जाता है किन्तु प्रतिमा धारण करने वाला श्रावक पहले १२ व्रतों का पालक तो होता ही है। अतः उसे केवल "दर्शनश्रावक" ऐसा नहीं कहा जा सकता।

२. दूसरी व्रतप्रतिमा धारण करने वाला यथेच्छ एक या अनेक छोटे या बड़े कोई भी नियम प्रतिमा के रूप में धारण करता है, जिनका उसे अतिचार रहित पालन करना आवश्यक होता है।

३. तीसरी सामायिकप्रतिमाधारी श्रावक सुबह दुपहर शाम को नियत समय पर ही सदा निरतिचार सामायिक एवं देशावकाशिक (१४ नियम धारण) व्रत का आराधन करता है तथा पहली दूसरी प्रतिमा के नियमों का भी पूर्ण पालन करता है।

४. चौथी पौषधप्रतिमाधारी श्रावक पूर्व की तीनों प्रतिमाओं के नियमों का पालन करते हुए महीने में पर्व-तिथियों के छह प्रतिपूर्ण पौषध का सम्यक् प्रकार से आराधन करता है। इस प्रतिमा के धारण करने से पहले श्रावक पौषध व्रत का पालन तो करता ही है किन्तु प्रतिमा के रूप में नहीं।

५. पांचवीं कायोत्सर्गप्रतिमाधारी श्रावक पहले की चारों प्रतिमाओं का सम्यक् पालन करते हुए पौषध के दिन सम्पूर्ण रात्रि या नियत समय तक कायोत्सर्ग करता है।

६. छट्ठी ब्रह्मचर्यप्रतिमा का धारक पूर्व प्रतिमाओं का पालन करता हुआ सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है। स्नान का और रात्रिभोजन का त्याग करता है तथा धोती की एक लांग खुली रखता है।

पांचवीं छट्ठी प्रतिमा के मूल पाठ में लिपि-दोष से कुछ पाठ विकृत हुआ है, जो ध्यान देने पर स्पष्ट समझ में आ सकता है—प्रत्येक प्रतिमा के वर्णन में आगे की प्रतिमा के नियमों के पालन का निषेध किया जाता है। पांचवीं प्रतिमा में छट्ठी प्रतिमा के विषय का निषेध-पाठ विधि रूप में जुड़ जाने से और प्रतिकार द्वारा सम्यक् निर्णय न किये जाने के कारण प्रतियों में और भी पाठ विकृत हो गया है। प्रस्तुत प्रकाशन में उसे शुद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन करने वाले का ही स्नानत्याग उचित है। क्योंकि पांचवीं प्रतिमा में एक-एक मास में केवल ५ दिन ही स्नान का त्याग और दिन में कुशील सेवन का त्याग किया जाय तो सम्पूर्ण स्नान का त्याग कब होगा? तथा केवल ५ दिन ही स्नान का त्याग और दिन में ब्रह्मचर्य-

पालन का कथन प्रतिमाधारी के लिये महत्त्व नहीं रखता है। यदि पांचवीं प्रतिमा के पूरे पांच महीने स्नान का त्याग करने का अर्थ किया जाय तो भी असंगत है। क्योंकि पांच मास तक रात्रि में ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करे और स्नान का पूर्ण त्याग रखे, इन दोनों नियमों का सम्बन्ध अव्यावहारिक होता है। अतः स्वीकृत पाठ ही उचित ध्यान में आता है।

उपरोक्त लिपिप्रमादादि के कारणों से ही इन दोनों प्रतिमाओं के नाम समवायांगसूत्र में भिन्न हैं तथा ग्रन्थों में भी अनेक भिन्नताएँ मिलती है।

७. सातवीं सचित्तत्यागप्रतिमा का आराधक श्रावक पानी, नमक, फल, मेवे आदि सभी सचित्त पदार्थों के उपभोग का त्याग करता है, किन्तु उन पदार्थों को अचित्त बनाने का त्याग नहीं करता है।

८. आठवीं आरम्भत्यागप्रतिमाधारी श्रावक स्वयं आरम्भ करने का सम्पूर्ण त्याग करता है, किन्तु दूसरों को आदेश देकर सावद्य कार्य कराने का उसके त्याग नहीं होता है।

९. नौवीं प्रेष्यत्यागप्रतिमा में श्रावक आरम्भ करने व कराने का त्यागी होता है, किन्तु स्वतः ही कोई उसके लिये आहारादि बना दे या आरम्भ कर दे तो उस पदार्थ का वह उपयोग कर सकता है।

१०. दसवीं उद्दिष्टभक्तत्यागप्रतिमाधारी श्रावक दूसरे के निमित्त बने आहारादि का उपयोग कर सकता है, स्वयं के निमित्त बने हुए आहारादि का उपयोग नहीं कर सकता है। उसका व्यावहारिक जीवन श्रमण जैसा नहीं होता है। इसलिए उसे किसी के पूछने पर—"मैं जानता हूँ या मैं नहीं जानता हूँ" इतना ही उत्तर देना कल्पता है। इससे अधिक उत्तर देना नहीं कल्पता है। किसी वस्तु के यथास्थान न मिलने पर इतना उत्तर देने से भी पारिवारिक लोगों को सन्तोष हो सकता है। इस प्रतिमा में श्रावक क्षुरमुंडन कराता है अथवा बाल रखता है।

११. ग्यारहवीं श्रमणभूतप्रतिमाधारी श्रावक यथाशक्य संयमी जीवन स्वीकार करता है। किन्तु यदि लोच न कर सके तो मुण्डन करवा सकता है। वह भिक्षु के समान गवेषणा के सभी नियमों का पालन करता है।

इस प्रतिमा की अवधि समाप्त होने के बाद वह प्रतिमाधारी सामान्य श्रावक जैसा जीवन बिताता है। इस कारण इस प्रतिमा-आराधनकाल में स्वयं को भिक्षु न कहकर "मैं प्रतिमाधारी श्रावक हूँ" इस प्रकार कहता है।

पारिवारिक लोगों से प्रेमसम्बन्ध का आजीवन त्याग न होने के कारण वह ज्ञात कुलों में ही गोचरी के लिए जाता है। यहाँ ज्ञात कुल से पारिवारिक और अपारिवारिक ज्ञातिजन सूचित किये गये हैं। भिक्षा के लिये घर में प्रवेश करने पर वह इस प्रकार करे कि "प्रतिमाधारी श्रावक को भिक्षा दो।"

समवायांगसूत्र सम. ११ में भी इन ग्यारह प्रतिमाओं का कथन है। वहाँ पांचवीं प्रतिमा का नाम भिन्न है। इसमें लिपि-प्रमाद ही एकमात्र कारण है।

इन ग्यारह प्रतिमाओं में से प्रत्येक प्रतिमा का आराधनकाल और सभी प्रतिमाओं का एक

मास आराधनाकाल गिनना है? इस प्रकार की कालमर्यादा का स्पष्ट कथन इस आगम में नहीं है और चार प्रतिमा तक की कालमर्यादा का कथन इस सूत्र में नहीं है।

पांचवीं से ग्यारहवीं तक क्रमशः पांच मास से ग्यारह मास तक का काल कहा गया है। तदनुसार पहली से चौथी तक क्रमशः एक मास से चार मास तक का काल परम्परा से माना जाता है। इसमें कोई मतभेद नहीं है।

पांचवीं प्रतिमा से आगे जो काल-मान बताया गया है, उसमें जघन्य काल एक, दो और तीन दिन का जो कहा है, यह भ्रान्तिजनक प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसा विकल्प भिक्षुप्रतिमा में भी नहीं है तथा अर्थसंगति भी सन्तोषप्रद नहीं है। पूर्वाचार्य तीन तरह से अर्थ की संगति करते हैं—

१. एक-दो दिन के लिये ही धारण कर बाद में स्वतः छोड़ दे।
२. एक-दो दिन के बाद काल कर जाये।
३. एक-दो दिन के बाद संयम स्वीकार कर ले।

प्रतिमाएँ दृढता और वीरता की सूचक हैं और पांच-छह मास की प्रतिमा को एक-दो दिन के लिये धारण करना तो दृढता नहीं।

मरने का विकल्प तो भिक्षुप्रतिमा में भी हो सकता है। किन्तु वहां जघन्यकाल नहीं कहा है।

एक दिन के बाद संयम स्वीकार कर ले, ऐसे संयम विचार की कल्पना करना प्रतिमाधारी के लिए ठीक नहीं है। अतः जघन्यस्थिति का पाठ विचारणीय है।

ग्यारह प्रतिमाओं का कुल समय एक मास से लेकर ग्यारह मास तक का होता है। इनका योग करने पर पांच वर्ष और छह मास होते हैं—यह परम्परा सर्वसम्मत है।

ग्यारह प्रतिमाओं की आराधना पूर्ण होने के बाद ग्यारहवीं प्रतिमा जैसा श्रमणभूत रहना ही श्रेयस्कर है। यही दृढता एवं वीरता का सूचक है। किन्तु आगम में इस विषय का उल्लेख नहीं मिलता है।

इन प्रतिमाओं की आराधना क्रमशः करना या बिना क्रम के करना, ऐसा स्पष्ट विधान उपलब्ध नहीं है। किन्तु कार्तिक सेठ के समान एक प्रतिमा को अनेक बार धारण किया जा सकता है।

श्रावकप्रतिमा के सम्बन्ध में यह भी एक प्रचलित कल्पना है कि "प्रथम प्रतिमा में एकान्तर उपवास, दूसरी प्रतिमा में निरन्तर बेले, तीसरी में तेले यावत् ग्यारहवीं प्रतिमा में ग्यारह की तपश्चर्या निरन्तर की जा सकती है।" किन्तु इस विषय में कोई आगमप्रमाण उपलब्ध नहीं है तथा ऐसा मानना संगत भी नहीं है, क्योंकि इतनी तपस्या तो भिक्षुप्रतिमा में भी नहीं की जाती है। श्रावक की चौथी प्रतिमा में महीने के छह पौषध करने का विधान है। यदि उपरोक्त कथन के अनुसार तपस्या की जाए तो चार मास में २४ चौले की तपस्या करनी आवश्यक होती है। प्रतिमाधारी के द्वारा तपस्या तिविहार या बिना पौषध के करना भी उचित नहीं है। अतः २४ चौले पौषधयुक्त करना [illegible] जाता है। जब कि तीसरी

प्रकार के तप का वर्णन नहीं है। अपनी इच्छा से साधक कभी भी कोई विशिष्ट तप कर सकता है। आनन्दादि ने भी कोई विशिष्ट तपश्चर्या साधनाकाल में की होगी, किन्तु ऐसा वर्णन नहीं है। यदि उन्होंने तप किया हो तो भी सब के लिये विधान मानना प्रतिमावर्णन से असंगत है।

दशाश्रुतस्कन्ध की पहली दशा से पांचवीं दशा तक की जो रचनापद्धति है और निर्युक्तिकार ने पांचवीं गाथा में छोटी-छोटी दशाएँ होने का सूचन किया है। तदनुसार प्रस्तुत संस्करण में इस दशा का स्वीकृत पाठ ही उचित प्रतीत होता है। अतः यहाँ अक्रियावादी और क्रियावादी का वर्णन अप्रासंगिक है, अति विस्तृत है और छेदसूत्र का विषय न होने से अनुपयुक्त भी है। सूयगडांग-सूत्र श्रु. २, अ. २ का पाठ यहाँ कभी जोड़ दिया गया है। कब जुड़ा है, यह तो अज्ञात है।

इस दशा की उत्थानिका सातवीं दशा के समान है। यथा—

"ये ग्यारह उपासक-प्रतिमाएँ स्थविर भगवन्तों ने कही हैं, वे इस प्रकार हैं—इस उत्थानिका के बाद ग्यारह प्रतिमाओं के नाम तथा प्रतिमाओं का क्रमशः वर्णन ही उचित प्रतीत होता है, किन्तु इस विस्तृत पाठ के कारण मूलपाठ में नाम भी नहीं रहे हैं, जबकि सातवीं दशा में भिक्षुप्रतिमा के नाम विद्यमान हैं।

प्रतिमा धारण करने वाला तो व्रतधारी श्रावक होता ही है। अतः उत्थानिका के बाद अक्रियावादी का यह विस्तृत वर्णन सर्वथा असंगत है। इसलिए यहाँ उपरोक्त संक्षिप्त पाठ ही स्वीकार किया गया है। विस्तृत पाठ के जिज्ञासु सूयगडांगसूत्र से अध्ययन कर सकते है।

इस दशाश्रुतस्कन्ध की उत्थानिकाएं विचित्र ही हैं, अतः ये चौदहपूर्वी भद्रबाहुस्वामी के द्वारा निर्यूढ हैं, ऐसा नहीं कह सकते। न ही गणधर सुधर्मास्वामी द्वारा ग्रथित कह सकते हैं और न एक पूर्वधारी देवर्द्धिगणि द्वारा सम्पादित कह सकते हैं। क्योंकि इन उत्थानिकाओं में भगवान् से कहलवाया गया है कि "इस प्रथम दशा में स्थविर भगवंतों ने बीस असमाधिस्थान कहे हैं इत्यादि।" जबकि तीर्थंकर या केवली किसी छद्मस्थविहित विधि-निषेधों का कथन नहीं करते।

पांचवीं दशा की उत्थानिका तो और भी विचारणीय है। इस उत्थानिका के प्रारम्भ में कहा है कि स्थविर भगवंतों ने ये दस चित्तसमाधिस्थान कहे है। बाद में कहा—भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थनियों को आमन्त्रित करके दस चित्तसमाधिस्थान कहे। इस प्रकार एक ही उत्थानिका दो प्रकार के कथन पाठक स्वयं पढें और सोचें कि वास्तविकता क्या है।

आठवीं दशा के पाठों में भी जो परिवर्तन के प्रयत्न हुए हैं, वे उसी दशा के विवेचन में देखें तथा आठवी दशा का और दसवीं दशा का (उपसंहार पाठ) भी विचारणीय है। इन विचित्रताओं को देखकर यह अनुमान किया गया है कि तीन छेदसूत्रों के समान इस सूत्र की पूर्ण मौलिकता वर्तमान में नहीं रही है। अतः मूलपाठ में कुछ संशोधन करने का प्रयत्न किया है।

□□

गाथ आराधनकाल कितना है ? इस प्रकार की कालमर्यादा का स्पष्ट कथन इस आगम में नहीं है और चार प्रतिमा तक की कालमर्यादा का कथन इस सूत्र में नहीं है।

पांचवीं से ग्यारहवीं तक क्रमशः पांच मास से ग्यारह मास तक का काल कहा गया है। तदनुसार पहली से चौथी तक क्रमशः एक मास से चार मास तक का काल परम्परा से माना जाता है। इसमें कोई मतभेद नहीं है।

पांचवीं प्रतिमा से आगे जो काल-मान बताया गया है, उसमें जघन्य काल एक, दो और तीन दिन का जो कहा है, वह भ्रान्तिजनक प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसा विकल्प भिक्षुप्रतिमा में भी नहीं है तथा अर्थसंगति भी सन्तोषप्रद नहीं है। पूर्वाचार्य तीन तरह से अर्थ की संगति करते हैं—

१. एक-दो दिन के लिये ही धारण कर बाद में स्वतः छोड़ दे।
२. एक-दो दिन के बाद काल कर जाये।
३. एक-दो दिन के बाद संयम स्वीकार कर ले।

प्रतिमाएँ दृढ़ता और वीरता की सूचक हैं और पांच-छह मास की प्रतिमा को एक-दो दिन के लिये धारण करना तो दृढ़ता नहीं।

मरने का विकल्प तो भिक्षुप्रतिमा में भी हो सकता है। किन्तु वहां जघन्यकाल नहीं कहा है।

एक दिन के बाद संयम स्वीकार कर ले, ऐसे चंचल विचार की कल्पना करना प्रतिमाधारी के लिए ठीक नहीं है। अतः जघन्यस्थिति का पाठ विचारणीय है।

ग्यारह प्रतिमाओं का कुल समय एक मास से लेकर ग्यारह मास तक का होता है। इनका योग करने पर पांच वर्ष और छह मास होते हैं—यह परम्परा सर्वसम्मत है।

ग्यारह प्रतिमाओं की आराधना पूर्ण होने के बाद ग्यारहवीं प्रतिमा जैसा जीवनपर्यन्त रहना ही श्रेयस्कर है। यही दृढ़ता एवं वीरता का सूचक है। किन्तु आगम में इस विषय का उल्लेख नहीं मिलता है।

इन प्रतिमाओं की आराधना क्रमशः करना या बिना क्रम के करना, ऐसा स्पष्ट विधान उपलब्ध नहीं है। किन्तु कार्तिक सेठ के समान एक प्रतिमा को अनेक बार धारण किया जा सकता है।

श्रावकप्रतिमा के सम्बन्ध में यह भी एक प्रचलित कल्पना है कि "प्रथम प्रतिमा में एकान्तर उपवास, दूसरी प्रतिमा में निरन्तर बेले, तीसरी में तेले यावत् ग्यारहवी प्रतिमा में ग्यारह की तपश्चर्या निरन्तर की जा सकती है।" किन्तु इस विषय में कोई आगमप्रमाण उपलब्ध नहीं है तथा ऐसा मानना संगत भी नहीं है, क्योंकि इतनी तपस्या तो भिक्षुप्रतिमा में भी नहीं की जाती है। श्रावक की चौथी प्रतिमा में महीने के छह पौषध करने का विधान है। यदि उपरोक्त कथन के अनुसार तपस्या की जाए तो चार मास में २४ चौले की तपस्या करनी आवश्यक होती है। प्रतिमाधारी के द्वारा तपस्या तिविहार या बिना पौषध के करना भी उचित नहीं है। अतः २४ चौले पौषधयुक्त करना आवश्यक नियम होने पर महीने के छह पौषध का विधान निरर्थक हो जाता है। जब कि तीसरी प्रतिमा से चौथी प्रतिमा की विशेषता भी यही है कि महीने के छह पौषध किये जावें। अतः कल्पित तपस्या का क्रम सूत्रसम्मत नहीं है। आनन्द आदि श्रावकों के अन्तिम साधनाकाल में तथा प्रतिमा-आराधन के बाद शरीर की कृशता का जो वर्णन है वह व्यक्तिगत जीवन का वर्णन है। उसमें भी इस

प्रकार के तप का वर्णन नहीं है। अपनी इच्छा से साधक कभी भी कोई वि
आनन्दादि ने भी कोई विशिष्ट तपश्चर्या साधनाकाल में की होगी, किन्तु
उन्होंने तप किया हो तो भी सब के लिये विधान मानना प्रतिमावर्णन से अस

दशाश्रुतस्कन्ध की पहली दशा से पांचवी दशा तक की जो रचनापद
ने पांचवीं गाथा में छोटी-छोटी दशाएँ होने का सूचन किया है। तदनुसार
दशा का स्वीकृत पाठ ही उचित प्रतीत होता है। अतः यहाँ अक्रियावा
वर्णन अप्रासंगिक है, अति विस्तृत है और छेदसूत्र का विषय न होने से अनु
सूत्र श्रु. २, अ. २ का पाठ यहाँ कभी जोड़ दिया गया है। कब जुड़ा है, यह

इस दशा की उत्थानिका सातवीं दशा के समान है। यथा—

"ये ग्यारह उपासक-प्रतिमाएँ स्थविर भगवन्तों ने कही हैं, वे इस प्र
के बाद ग्यारह प्रतिमाओं के नाम तथा प्रतिमाओं का क्रमशः वर्णन ही उचि
इस विस्तृत पाठ के कारण मूलपाठ में नाम भी नहीं रहे हैं, जबकि सातवं
नाम विद्यमान हैं।

प्रतिमा धारण करने वाला तो व्रतधारी श्रावक होता ही है। अ
अक्रियावादी का यह विस्तृत वर्णन सर्वथा असंगत है। इसलिए यहाँ उपरोक्त
किया गया है। विस्तृत पाठ के जिज्ञासु सूयगडांगसूत्र से अध्ययन कर सकते हैं

इस दशाश्रुतस्कन्ध की उत्थानिकाएं विचित्र ही हैं, अतः ये चौद
द्वारा निर्यूढ हैं, ऐसा नहीं कह सकते। न ही गणधर सुधर्मास्वामी द्वारा
न एक पूर्वधारी देवर्द्धिगणि द्वारा सम्पादित कह सकते हैं। क्योंकि इन उत्थ
कहलवाया गया है कि "इस प्रथम दशा में स्थविर भगवंतों ने बीस असमाधि
जबकि तीर्थंकर या केवली किसी छद्मस्थविहित विधि-निषेधों का कथन नहीं

पांचवीं दशा की उत्थानिका तो और भी विचारणीय है। इस उत्था
है कि स्थविर भगवंतों ने ये दस चित्तसमाधिस्थान कहे हैं। बाद में कह
निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को आमन्त्रित करके दस चित्तसमाधिस्थान कहे। इस प्र
दो प्रकार के कथन पाठक स्वयं पढ़ें और सोचें कि वास्तविकता क्या है।

आठवीं दशा के पाठों में भी जो परिवर्तन के प्रयत्न हुए हैं, वे उसी
तथा आठवीं दशा का और दसवीं दशा का (उपसंहार पाठ) भी विचारणीय ह
देखकर यह अनुमान किया गया है कि तीन छेदसूत्रों के समान इस सूत्र की पू
नहीं रही है। अतः मूलपाठ में कुछ संशोधन करने का प्रयत्न किया है।

सातवीं दशा

बारह भिक्षुप्रतिमाएँ

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं बारस भिक्खुपडिमाओ पण्णत्ताओ ।

प०—कयराओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं बारस भिक्खुपडिमाओ पण्णत्ताओ ?

उ०—इमाओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं बारस भिक्खुपडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

१. मासिया भिक्खुपडिमा, २. दोमासिया भिक्खुपडिमा, ३. तिमासिया भिक्खुपडिमा, ४. चउमासिया भिक्खुपडिमा, ५. पंचमासिया भिक्खुपडिमा, ६. छमासिया भिक्खुपडिमा, ७. सत्तमासिया भिक्खुपडिमा, ८. पढमा सत्तराइंदिया भिक्खुपडिमा, ९. दोच्चा सत्तराइंदिया भिक्खुपडिमा, १०. तच्चा सत्तराइंदिया भिक्खुपडिमा, ११. अहोराइया भिक्खुपडिमा, १२. एगराइया भिक्खुपडिमा ।

हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है—उन निर्वाणप्राप्त भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है—इस जिनप्रवचन में स्थविर भगवन्तों ने बारह भिक्षुप्रतिमाएँ कही हैं ।

प्र०—भगवन् ! स्थविर भगवन्तों ने बारह भिक्षुप्रतिमाएँ कौन-सी कही हैं ?

उ०—स्थविर भगवन्तों ने बारह भिक्षुप्रतिमाएँ ये कही हैं, यथा—

१. मासिकी भिक्षुप्रतिमा, २. द्विमासिक भिक्षुप्रतिमा, ३. त्रिमासिकी भिक्षुप्रतिमा, ४. चातुर्मासिकी भिक्षुप्रतिमा, ५. पंचमासिकी भिक्षुप्रतिमा, ६. षण्मासिकी भिक्षुप्रतिमा, ७. सप्तमासिकी भिक्षुप्रतिमा, ८. प्रथमा सप्तरात्रिंदिवा भिक्षुप्रतिमा, ९. द्वितीया सप्तरात्रिंदिवा भिक्षुप्रतिमा, १०. तृतीया सप्तरात्रिंदिवा भिक्षुप्रतिमा, ११. अहोरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा, १२. एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा ।

प्रतिमा आराधनकाल में उपसर्ग

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ उवसग्गा उववज्जेज्जा, तं जहा—

दिव्वा वा, माणुसा वा, तिरिक्खजोणिया वा, ते उप्पण्णे सम्मं सहेज्जा, खमेज्जा, तितिक्खेज्जा, अहियासेज्जा ।

नित्य शरीर की परिचर्या एवं ममत्वभाव से रहित एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार को जो कोई उपसर्ग आवें, जैसे—

देवसम्बन्धी, मनुष्यसम्बन्धी या तिर्यंचसम्बन्धी, उन्हें वह सम्यक् प्रकार से सहन करे, क्षमा करे, दैन्यभाव नहीं रखे, वीरतापूर्वक सहन करे ।

मासिकी भिक्षुप्रतिमा

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स पडिगाहित्तए, एगा पाणस्स ।

अण्णायउञ्छं, सुद्धोवहडं,

निज्जूहित्ता बहवे दुप्पय-चउप्पय-समण-माहण-अतिहि-किविणं वणीमगे,

कप्पइ से एगस्स भुंजमाणस्स पडिगाहित्तए ।

णो दुण्हं, णो तिण्हं, णो चउण्हं, णो पंचण्हं, णो गुव्विणीए, णो बालवच्छाए, णो दारगं पेज्जमाणीए ।

णो से कप्पइ अंतो एलुयस्स दो वि पाए साहट्टु दलमाणीए, णो बाहिं एलुयस्स दो वि पाए साहट्टु दलमाणीए ।

अह पुण एवं जाणेज्जा, एगं पायं अंतो किच्चा, एगं पायं बाहिं किच्चा एलुयं विक्खंभइत्ता एवं से दलयति, कप्पति से पडिगाहित्तए,

एवं से नो दलयति, नो से कप्पति पडिगाहित्तए ।

मासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार को एक दत्ति भोजन की और एक दत्ति पानी की लेना कल्पता है ।

वह भी अज्ञात स्थान से, अल्पमात्रा में और दूसरों के लिए बना हुआ हो तथा अनेक द्विपद, चतुष्पद, श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और भिखारी आदि भोजन लेकर चले गए हों, उसके बाद ग्रहण करना कल्पता है ।

जहां एक व्यक्ति भोजन कर रहा हो, वहा से आहार-पानी की दत्ति लेना कल्पता है ।

किन्तु दो, तीन, चार या पांच व्यक्ति एक साथ बैठकर भोजन करते हों, वहां से लेना नहीं कल्पता है ।

गर्भिणी, बालवत्सा और बच्चे को दूध पिलाती हुई स्त्री से लेना नहीं कल्पता है ।

जिसके दोनों पैर देहली के अन्दर या दोनों पैर देहली के बाहर हों, ऐसी स्त्री से लेना नहीं कल्पता है ।

किन्तु यह ज्ञात हो जाए कि एक पैर देहली के अन्दर है और एक पैर बाहर है, इस प्रकार देहली को पांवों के मध्य में किये हुए हो और वह देना चाहे तो उससे लेना कल्पता है ।

इस प्रकार न दे तो लेना नहीं कल्पता है ।

प्रतिमाधारी के भिक्षाकाल

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स तओ गोयरकाला पण्णत्ता, तं जहा—

१. आइमे, २. मज्झे, ३. चरिमे ।

१. जइ आइमे चरेज्जा; नो मज्झे चरेज्जा, णो चरिमे चरेज्जा ।

२. जइ मज्झे चरिज्जा; नो आइमे चरिज्जा, नो चरिमे चरेज्जा।

३. जइ चरिमे चरेज्जा; नो आइमे चरेज्जा, नो मज्झिमे चरेज्जा।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार के भिक्षाचर्या करने के तीन काल कहे हैं, यथा—

१. दिन का प्रथम भाग, २. दिन का मध्य भाग, ३. दिन का अन्तिम भाग।

१. यदि दिन के प्रथमभाग में भिक्षाचर्या के लिए जाए तो मध्य और अन्तिम भाग में न जाए।

२. यदि दिन के मध्यभाग में भिक्षाचर्या के लिए जाए तो प्रथम और अन्तिम भाग में न जाए।

३. यदि दिन के अन्तिमभाग में भिक्षाचर्या के लिए तो प्रथम और मध्यम भाग में न जाए।

प्रतिमाधारी की गोचरचर्या

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स छव्विहा गोयरचरिया पण्णत्ता, तं जहा—

१. पेडा, २. अद्धपेडा, ३. गोमुत्तिया, ४. पंतगवीहिया, ५. संबुक्कावट्टा, ६. गंतुपच्चागया।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार के छः प्रकार की गोचरी कही गई है, यथा—

१. चौकोर पेटी के आकार से भिक्षाचर्या करना। २. अर्धपेटी के आकार से भिक्षाचर्या करना। ३. बैल के मूत्रोत्सर्ग के आकार से भिक्षाचर्या करना। ४. पतंगिये के गमन के आकार से भिक्षाचर्या करना। ५. शंखावर्त के आकार से भिक्षाचर्या करना। ६. जाते या पुनः आते भिक्षाचर्या करना।

प्रतिमाधारी का वसतिवास-काल

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जत्थ णं केइ जाणइ, कप्पइ से तत्थ एगराइयं वसित्तए।

जत्थ णं केइ न जाणइ, कप्पइ से तत्थ एगरायं वा, दुरायं वा वसित्तए। नो से कप्पइ एगरायाओ वा, दुरायाओ वा परं वत्थए।

जे तत्थ एगरायाओ वा, दुरायाओ वा परं वसति, से संतरा छेए वा परिहारे वा।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार को जहां कोई जानता हो, वहां एक रात रहना कल्पता है।

जहां कोई नहीं जानता हो, वहां उसे एक या दो रात रहना कल्पता है। किन्तु एक या दो रात से अधिक रहना नहीं कल्पता है।

यदि एक या दो रात से अधिक रहता है तो वह इस कारण से दीक्षाछेद या परिहार तप का पात्र होता है।

प्रतिमाधारी की कल्पनीय भाषाएँ

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पति चत्तारि भासाओ भासित्तए, तं जहा—
१. जायणी, २. पुच्छणी, ३. अणुण्णवणी ४. पुट्ठस्स वागरणी।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार को चार भाषाएँ बोलना कल्पता है, यथा—

१. याचनी—आहारादि की याचना करने के लिए। २. पृच्छनी—मार्ग आदि पूछने के लिए। ३. अनुज्ञापनी—आज्ञा लेने के लिए। ४. पृष्ठव्याकरणी—प्रश्न का उत्तर देने के लिए।

प्रतिमाधारी के कल्पनीय उपाश्रय

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ तओ उवस्सया पडिलेहित्तए, तं जहा—
१. अहे आरामगिहंसि वा, २. अहे वियडगिहंसि वा, ३. अहे रुक्खमूलगिहंसि वा, एवं तओ उवस्सया अणुण्णवेत्तए, उवाइणित्तए य।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार को तीन प्रकार के उपाश्रयों का प्रतिलेखन करना कल्पता है, यथा—

१. उद्यान में बने हुए गृह में, २. चारों ओर से खुले हुए गृह में, ३. वृक्ष के नीचे या वहां बने हुए गृह में। इसी प्रकार तीन उपाश्रय की आज्ञा लेना और ठहरना कल्पता है।

प्रतिमाधारी के कल्पनीय संस्तारक

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ तओ संथारगा पडिलेहित्तए, तं जहा—
१. पुढविसिलं वा, २. कट्ठसिलं वा, ३. अहासंथडमेव वा संथारगं। एवं तओ संथारगा अणुण्णवेत्तए, उवाइणित्तए य।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार को तीन प्रकार के संस्तारकों का प्रतिलेखन करना कल्पता है, यथा—

१. पत्थर की शिला, २. लकड़ी का पाट, ३. पहले से बिछा हुआ संस्तारक। इसी प्रकार तीन संस्तारक की आज्ञा लेना और ग्रहण करना कल्पता है।

प्रतिमाधारी को स्त्री-पुरुष का उपसर्ग

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स इत्थी वा पुरिसे वा उवस्सयं उवागच्छेज्जा, णो से कप्पति तं पडुच्च निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार के उपाश्रय में यदि कोई स्त्री या पुरुष आ जावे तो उनके कारण उपाश्रय से बाहर जाना या बाहर हो तो अन्दर आना नहीं कल्पता है।

प्रतिमाधारी को अग्नि का उपसर्ग

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स केई उवस्सयं अगणिकाएणं झामेज्जा, णो से कप्पति तं पडुच्च निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा।

तत्थ णं केइ बाहाए गहाय आगसेज्जा, नो से कप्पति तं अवलंबित्तए वा पलंबित्तए वा, कप्पति अहारियं रीइत्तए।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार के उपाश्रय में कोई अग्नि लगा दे तो उसे उपाश्रय से बाहर जाना या बाहर हो तो अन्दर आना नहीं कल्पता है।

यदि कोई उसे भुजा पकड़कर बलपूर्वक बाहर निकालना चाहे तो उसका अवलंबन-प्रलंबन करना नहीं कल्पता है, किन्तु ईर्यासमितिपूर्वक बाहर निकलना कल्पता है।

प्रतिमाधारी को ठूंठा आदि निकालने का निषेध

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स पायंसि खाणू वा, कंटए वा, हीरए वा, सक्कराए वा अणुपवेसेज्जा, नो से कप्पइ नीहरित्तए वा, विसोहित्तए वा, कप्पति से अहारियं रीइत्तए।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार के पैर में यदि तीक्ष्ण ठूंठ (लकड़ी का तिनका आदि), कांटा, कांच या कंकर लग जावे तो उसे निकालना या उसकी विशुद्धि करना नहीं कल्पता है, किन्तु उसे सावधानी से ईर्यासमितिपूर्वक चलते रहना कल्पता है।

प्रतिमाधारी को प्राणी आदि निकालने का निषेध

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स अच्छिंसि पाणाणि वा, बीयाणि वा, रए वा परियावज्जेज्जा, नो से कप्पति नीहरित्तए वा, विसोहित्तए वा, कप्पति से अहारियं रीइत्तए।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार की आंख में सूक्ष्म प्राणी, बीज, रज आदि गिर जावे तो उसे निकालना या विशुद्ध करना नहीं कल्पता है, किन्तु उसे सावधानी से ईर्यासमितिपूर्वक चलते रहना कल्पता है।

सूर्यास्त होने पर विहार का निषेध

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जत्थेव सूरिए अत्थमेज्जा—जलंसि वा, थलंसि वा, दुग्गंसि वा, निन्नंसि वा, पव्वयंसि वा, विसमंसि वा, गड्डाए वा, दरीए वा, कप्पति से तं रयणी तत्थेव उवाइणावित्तए, नो से कप्पति पयमवि गमित्तए।

कप्पति से कल्लं पाउप्पभाए रयणीए जाव जलंते पाईणाभिमुहस्स वा, दाहिणाभिमुहस्स वा, पडीणाभिमुहस्स वा, उत्तराभिमुहस्स वा, अहारियं रीइत्तए।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार को विहार करते हुए जहां सूर्यास्त हो जाय, वहां

चाहे जल हो या स्थल हो, दुर्गमस्थान हो या निम्नस्थान हो, पर्वत हो या विषमस्थान हो, गर्त हो या गुफा हो, तो भी उसे पूरी रात वहीं रहना कल्पता है, किन्तु एक कदम भी आगे बढ़ना नहीं कल्पता है।

रात्रि समाप्त होने पर प्रातःकाल में यावत् जाज्वल्यमान सूर्योदय होने पर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम या उत्तर दिशा की ओर अभिमुख होकर उसे ईर्यासमितिपूर्वक गमन करना कल्पता है।

सचित्त पृथ्वी के निकट निद्रा लेने का निषेध

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स णो से कप्पइ अणंतरहियाए पुढवीए निद्दाइत्तए वा, पयलाइत्तए वा।

केवली बूया—"आयाणमेयं"।

से तत्थ निद्दायमाणे वा, पयलायमाणे वा हत्थेहिं भूमिं परामुसेज्जा। [तम्हा] अहाविहिमेव ठाणं ठाइत्तए।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार सूर्यास्त हो जाने के कारण यदि सचित्त पृथ्वी के निकट ठहरा हो तो उसे वहां निद्रा लेना या ऊंघना नहीं कल्पता है।

केवली भगवान् ने कहा है—'यह कर्मबन्ध का कारण है'।

क्योंकि वहां पर नींद लेता हुआ या ऊंघता हुआ वह अपने हाथ आदि से सचित्त पृथ्वी का स्पर्श करेगा, जिससे पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा होगी।

अतः उसे सावधानीपूर्वक वहां स्थिर रहना या कायोत्सर्ग करना कल्पता है।

मलावरोध का निषेध

उच्चारपासवणेणं उब्बाहिज्जा, नो से कप्पति उगिण्हित्तए वा, णिगिण्हित्तए वा।

कप्पति से पुव्वपडिलेहिए थंडिले उच्चार-पासवणं परिट्ठावित्तए, तमेव उवस्सयं आगम्म अहाविहिमेव ठाणं ठाइत्तए।

यदि वहां उसे मल-मूत्र की बाधा हो जाए तो धारण करना या रोकना नहीं कल्पता है।

किन्तु पूर्वप्रतिलेखित भूमि पर मल-मूत्र का त्याग करना कल्पता है और पुनः उसी स्थान पर आकर सावधानी पूर्वक स्थिर रहना या कायोत्सर्ग करना कल्पता है।

सचित्त रजयुक्त शरीर से गोचरी जाने का निषेध

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स नो कप्पति ससरक्खेणं काएणं गाहावइकुलं भत्ताए वा, पाणाए वा निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा।

अह पुण एवं जाणेज्जा ससरक्खे सेयत्ताए वा, जल्लत्ताए वा, मल्लत्ताए वा, पंकत्ताए वा परिणते, एवं से कप्पति गाहावइकुलं भत्ताए वा, पाणाए वा निक्ख[illegible] वा पविसित्तए वा।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार को सचित्त रजयुक्त काय से गृहस्थों के घरों में आहार-पानी के लिए जाना या आना नहीं कल्पता है।

यदि यह ज्ञात हो जाये कि शरीर पर लगा हुआ सचित्त रज—पसीना, सूखा पसीना, मैल या पंक रूप में परिणत हो गया हो तो उसे गृहस्थों के घरों में आहार-पानी के लिए जाना-आना कल्पता है।

हस्तादि धोने का निषेध

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स नो कप्पति सीओदगवियडेण वा, उसिणोदग-वियडेण वा, हत्थाणि वा, पायाणि वा, दंताणि वा, अच्छीणि वा, मुहं वा उच्छोलित्तए वा, पधोइत्तए वा।

णन्नत्थ लेवालेवेण वा भत्तमासेण वा।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार को अचित्त शीतल या उष्ण जल से हाथ, पैर, दांत, नेत्र या मुख एक बार धोना अथवा बार-बार धोना नहीं कल्पता है।

किन्तु किसी प्रकार के लेप युक्त अवयव को और आहार से लिप्त हाथ आदि को धोकर शुद्ध कर सकता है।

दुष्ट अश्वादि का उपद्रव होने पर भयभीत होने का निषेध

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स नो कप्पति आसस्स वा, हत्थिस्स वा, गोणस्स वा, महिसस्स वा, सीहस्स वा, वग्घस्स वा, विगस्स वा, दीवियस्स वा, अच्छस्स वा, तरच्छस्स वा, परासरस्स वा, सीयालस्स वा, विरालस्स वा, कोकंतियस्स वा, ससगस्स वा, चित्ताचिल्लडयस्स वा, सुणगस्स वा, कोलसुणगस्स वा, दुट्ठस्स आवयमाणस्स पयमवि पच्चोसक्कित्तए।

अदुट्ठस्स आवयमाणस्स कप्पइ जुगमित्तं पच्चोसक्कित्तए।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार के सामने अश्व, हाथी, वृषभ, महिष, सिंह, व्याघ्र, भेड़िया, चीता, रीछ, तेंदुआ, अष्टापद, शृगाल, बिल्ला, लोमड़ी, खरगोश, चिल्लटक, श्वान, जंगली शूकर आदि दुष्ट प्राणी आ जाये तो उनसे भयभीत होकर एक पैर भी पीछे हटना नहीं कल्पता है।

यदि कोई दुष्टता रहित पशु स्वाभाविक ही मार्ग में सामने आ जाए तो उसे मार्ग देने के लिए, युगमात्र अर्थात् कुछ अलग हटना कल्पता है।

एक मासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार को—'यहां शीत अधिक है' ऐसा सोचकर छाया से धूप में तथा 'यहां गर्मी अधिक है' ऐसा सोचकर धूप से छाया में जाना नहीं कल्पता है।

किन्तु जब जहां जैसा हो वहां उसे सहन करे।

भिक्षुप्रतिमाओं का सम्यग् आराधन

एवं खलु एसा मासिया भिक्खुपडिमा अहासुत्तं, अहाकप्पं, अहामग्गं, अहातच्चं, सम्मं काएणं फासित्ता, पालित्ता, सोहित्ता, तीरित्ता, किट्टइत्ता, आराहित्ता, आणाए अणुपालित्ता भवइ।

इस प्रकार यह एक मासिकी भिक्षुप्रतिमा सूत्र, कल्प और मार्ग के अनुसार यथातथ्य सम्यक् प्रकार काया से स्पर्श कर, पालन कर, शोधन कर, पूर्ण कर, कीर्तन कर और आराधन कर जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है।

द्विमासिकी भिक्षुप्रतिमा

दो-मासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ।

नवरं दो दत्तिओ भोयणस्स पडिगाहित्तए दो पाणस्स।

द्विमासिकी भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्न अनगार के द्वारा यावत् वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन दो दत्तियां आहार की और दो दत्तियां पानी की ग्रहण करना कल्पता है।

त्रैमासिकी भिक्षुप्रतिमा

ति-मासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ।

णवरं तओ दत्तिओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तओ पाणस्स।

तीन मास की भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्न अनगार के द्वारा यावत् वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन तीन दत्तियां भोजन की और तीन दत्तियां पानी की ग्रहण करना कल्पता है।

चातुर्मासिकी भिक्षुप्रतिमा

चउमासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ।

णवरं चत्तारि दत्तिओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चत्तारि पाणस्स।

चार मास की भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्न अनगार के द्वारा यावत् वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन चार दत्तियां आहार की और चार दत्तियां पानी की ग्रहण करना कल्पता है।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार को सचित्त रजयुक्त काय से गृहस्थों के घरों में आहार-पानी के लिए जाना या आना नहीं कल्पता है।

यदि यह ज्ञात हो जाये कि शरीर पर लगा हुआ सचित्त रज—पसीना, सूखा पसीना, मैल या पंक रूप में परिणत हो गया हो तो उसे गृहस्थों के घरों में आहार-पानी के लिए जाना-आना कल्पता है।

हस्तादि धोने का निषेध

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स नो कप्पति सीओदगवियडेण वा, उसिणोदग-वियडेण वा, हत्थाणि वा, पायाणि वा, दंताणि वा, अच्छीणि वा, मुहं वा उच्छोलित्तए वा, पधोइत्तए वा।

नन्नत्थ लेवालेवेण वा भत्तमासेण वा।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार को अचित्त शीतल या उष्ण जल से हाथ, पैर, दांत, नेत्र या मुख एक बार धोना अथवा बार-बार धोना नहीं कल्पता है।

किन्तु किसी प्रकार के लेप युक्त अवयव को और आहार से लिप्त हाथ आदि को धोकर शुद्ध कर सकता है।

दुष्ट अश्वादि का उपद्रव होने पर भयभीत होने का निषेध

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स नो कप्पति आसस्स वा, हत्थिस्स वा, गोणस्स वा, महिसस्स वा, सीहस्स वा, वग्घस्स वा, विगस्स वा, दीवियस्स वा, अच्छस्स वा, तरच्छस्स वा, परासरस्स वा, सीयालस्स वा, विरालस्स वा, कोकंतियस्स वा, ससगस्स वा, चित्ताचिल्लडयस्स वा, सुणगस्स वा, कोलसुणगस्स वा, दुट्ठस्स आवयमाणस्स पयमवि पच्चोसक्कित्तए।

अदुट्ठस्स आवयमाणस्स कप्पइ जुगमित्तं पच्चोसक्कित्तए।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार के सामने अश्व, हस्ती, वृषभ, महिष, सिंह, व्याघ्र, भेड़िया, चीता, रीछ, तेंदुआ, अष्टापद, शृगाल, बिल्ला, लोमड़ा, खरगोश, चिल्लडक, श्वान, जंगली सूअर आदि दुष्ट प्राणी आ जाये तो उससे भयभीत होकर एक पैर भी पीछे हटना नहीं कल्पता है।

यदि कोई दुष्टता रहित पशु स्वाभाविक ही मार्ग में सामने आ जाए तो उसे मार्ग देने के लिए युगमात्र अर्थात् कुछ अलग हटना कल्पता है।

सर्दी और गर्मी सहन करने का विधान

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स नो कप्पति छायाओ "सीयं ति" नो उण्हं एत्तए, उण्हाओ "उण्हं ति" छायं एत्तए।

जं जत्थ जया सिया तं तत्थ अहियासए।

एक मासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार को—'यहां शीत अधिक है' ऐसा सोचकर छाया से धूप में तथा 'यहां गर्मी अधिक है' ऐसा सोचकर धूप से छाया में जाना नहीं कल्पता है।

किन्तु जब जहां जैसा हो वहां उसे सहन करे।

भिक्षुप्रतिमाओं का सम्यग् आराधन

एवं खलु एसा मासिया भिक्खुपडिमा अहासुत्तं, अहाकप्पं, अहामग्गं, अहातच्चं, सम्मं काएणं फासित्ता, पालित्ता, सोहित्ता, तीरित्ता, किट्टइत्ता, आराहित्ता, आणाए अणुपालित्ता भवइ।

इस प्रकार यह एक मासिकी भिक्षुप्रतिमा सूत्र, कल्प और मार्ग के अनुसार यथातथ्य सम्यक् प्रकार काया से स्पर्श कर, पालन कर, शोधन कर, पूर्ण कर, कीर्तन कर और आराधन कर जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है।

द्विमासिकी भिक्षुप्रतिमा

दो-मासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ।

नवरं दो दत्तिओ भोयणस्स पडिगाहित्तए दो पाणस्स।

द्विमासिकी भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्न अनगार के द्वारा यावत् वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन दो दत्तियां आहार की और दो दत्तियां पानी की ग्रहण करना कल्पता है।

त्रैमासिकी भिक्षुप्रतिमा

ति-मासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ।

णवरं तओ दत्तिओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तओ पाणस्स।

तीन मास की भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्न अनगार के द्वारा यावत् वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन तीन दत्तियां भोजन की और तीन दत्तियां पानी की ग्रहण करना कल्पता है।

चातुर्मासिकी भिक्षुप्रतिमा

चउमासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ।

णवरं चत्तारि दत्तिओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चत्तारि पाणस्स।

चार मास की भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्न अनगार के द्वारा यावत् वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन चार दत्तियां आहार की और चार दत्तियां पानी की ग्रहण करना कल्पता है।

पंचमासिकी भिक्षुप्रतिमा

पंचमासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

णवरं पंच दत्तिओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पंच पाणस्स ।

पांच मास की भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्न अनगार के द्वारा यावत् वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है ।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन भोजन की पांच दत्तियां और पानी की पांच दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है ।

षाण्मासिकी भिक्षुप्रतिमा

छमासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

णवरं छ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, छ पाणस्स ।

छह मास की भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्न अनगार के द्वारा यावत् वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है ।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन भोजन की छह दत्तियां और पानी की छह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है ।

सप्तमासिकी भिक्षुप्रतिमा

सत्तमासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

णवरं सत्त दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, सत्त पाणस्स ।

सात मास की भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्न अनगार के द्वारा यावत् वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है ।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन भोजन की सात दत्तियां और पानी की सात दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है ।

प्रथम सप्तअहोरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा

पढमं सत्तराइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जाव अहियासेज्जा ।

कप्पइ से चउत्थेणं भत्तेणं अपाणएणं बहिया गामस्स वा जाव रायहाणीए वा उत्ताणस्स वा, पासिल्लगस्स वा, नेसिज्जयस्स वा ठाणं ठाइत्तए ।

तत्थ से दिव्वमाणुस्सतिरिक्खजोणिया उवसग्गा समुप्पज्जेज्जा, ते णं उवसग्गा पयलेज्ज वा, पवडेज्ज वा, णो से कप्पइ पयलित्तए वा पवडित्तए वा ।

तत्थ णं उच्चारपासवणेणं उब्बाहिज्जा, णो से कप्पइ उच्चारपासवणं उगिण्हित्तए वा, णिगिण्हित्तए वा कप्पइ से पुव्वपडिलेहियंसि थंडिलंसि उच्चारपासवणं परिट्ठवित्तए, अहाविहिमेव ठाणं ठाइत्तए ।

एवं खलु एसा पढमा सत्तराइंदिया भिक्खुपडिमा अहासुत्तं जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

प्रथम सात दिन-रात की भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार यावत् शारीरिक सामर्थ्य से सहन करे।

उसे निर्जल उपवास करके ग्राम यावत् राजधानी के बाहर उत्तानासन, पार्श्वासन या निषद्यासन से कायोत्सर्ग करके स्थित रहना चाहिए।

वहां यदि देव, मनुष्य या तिर्यंच सम्बन्धी उपसर्ग हों और वे उपसर्ग उस अनगार को ध्यान से विचलित करें या पतित करें तो उसे विचलित होना या पतित होना नहीं कल्पता है।

यदि मल-मूत्र की बाधा हो जाय तो उसे धारण करना या रोकना नही कल्पता है, किन्तु पूर्व प्रतिलेखित भूमि पर मल-मूत्र त्यागना कल्पता है। पुनः यथाविधि अपने स्थान पर आकर उसे कायोत्सर्ग करना कल्पता है।

इस प्रकार यह प्रथम सात दिन-रात की भिक्षुप्रतिमा यथासूत्र यावत् जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है।

द्वितीय सप्तअहोरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा

एवं दोच्चा सत्तराइंदिया वि।

नवरं—दंडाइयस्स वा, लगडसाइस्स वा, उक्कुडुयस्स वा ठाणं ठाइत्तए। सेसं तं चेव जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ।

इसी प्रकार दूसरी सात दिन-रात की भिक्षुप्रतिमा का भी वर्णन है।

विशेष यह है कि इस प्रतिमा के आराधनकाल में दण्डासन, लकुटासन अथवा उत्कुटुकासन से स्थित रहना चाहिए। शेष पूर्ववत् यावत् जिनाज्ञा के अनुसार (यह प्रतिमा) पालन की जाती है।

तृतीय सप्तअहोरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा

एवं तच्चा सत्तराइंदिया वि।

नवरं—गोदोहियाए वा, वीरासणीयस्स वा, अंबखुज्जस्स वा ठाणं ठाइत्तए। सेसं तं चेव जाव अणुपालित्ता भवइ।

इसी प्रकार तीसरी सात दिन-रात की भिक्षुप्रतिमा का भी वर्णन है।

विशेष यह है कि इस प्रतिमा के आराधनकाल में गोदोहनिकासन, वीरासन या आम्र-कुब्जासन से स्थित रहना चाहिए। शेष पूर्ववत् यावत् यह प्रतिमा जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है।

अहोरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा

एवं अहोराइयावि।

नवरं—छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं बहिया गामस्स वा जाव रायहाणिस्स वा ईसिं पब्भारगएणं काएणं दो वि पाए साहट्टु वग्घारियपाणिस्स ठाणं ठाइत्तए। सेसं तं चेव जाव अणुपालित्ता भवइ।

अर्थ—इसी प्रकार अहोरात्रिकी प्रतिमा का भी वर्णन है।

विशेष यह है कि निर्जल षष्ठभक्त करके ग्राम यावत् राजधानी के बाहर शरीर को थोड़ा-सा झुकाकर दोनों पैरों को संकुचित कर और दोनों भुजाओं को जानुपर्यन्त लम्बी करके कायोत्सर्ग करना चाहिए। शेष पूर्ववत् यावत् यह प्रतिमा जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है।

एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा

एगराइयं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जाव अहियासेज्जा।

कप्पइ से अट्ठमेणं भत्तेणं अपाणएणं बहिया गामस्स वा जाव -रायहाणिस्स वा ईसिं पब्भारगएणं काएणं एगपोग्गलट्ठिताए दिट्ठीए अणिमिसनयणेहिं अहापणिहितेहिं गत्तेहिं सव्विदिएहिं गुत्तेहिं दो वि पाए साहट्टु वग्घारियपाणिस्स ठाणं ठाइत्तए।

तत्थ से दिव्वमाणुस्सतिरिक्खजोणिया उवसग्गा समुप्पज्जेज्जा, ते णं उवसग्गा पयलेज्ज वा, पवडेज्ज वा, नो से कप्पइ पयलित्तए वा, पवडित्तए वा।

तत्थ णं उच्चारपासवणेणं उब्बाहिज्जा, नो से कप्पइ उच्चारपासवणं उगिण्हित्तए वा, णिगिण्हित्तए वा। कप्पइ से पुव्वपडिलेहियंसि थंडिलंसि उच्चारपासवणं परिट्ठवित्तए, अहाविहिमेव ठाणं ठाइत्तए।

एगराइयं भिक्खुपडिमं सम्मं अणणुपालेमाणस्स अणगारस्स इमे तओ ठाणा अहियाए, असुभाए, अक्खमाए अणिस्सेयसाए, अणणुगामियत्ताए भवंति, तं जहा—

१. उम्मायं वा लभेज्जा, २. दीहकालियं वा रोगायंकं पाउणिज्जा, ३. केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसिज्जा।

एगराइयं भिक्खुपडिमं सम्मं अणुपालेमाणस्स अणगारस्स इमे तओ ठाणा हियाए, सुहाए, खमाए, निस्सेयसाए, अणुगामियत्ताए भवंति। तं जहा—

१. ओहिनाणे वा से समुप्पज्जेज्जा, २. मणपज्जवनाणे वा से समुप्पज्जेज्जा, ३. केवलनाणे वा से असमुप्पन्नपुव्वे समुप्पज्जेज्जा।

एवं खलु एगराइयं भिक्खुपडिमं अहासुत्तं, अहाकप्पं, अहामग्गं, अहातच्चं, सम्मं काएणं फासित्ता, पालित्ता, सोहित्ता, तीरित्ता, किट्टित्ता, आराहित्ता, आणाए अणुपालित्ता या वि भवति।

एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार यावत् शारीरिक क्षमता से उसे सहन करे।

उसे निर्जल अष्टमभक्त करके ग्राम यावत् राजधानी के बाहर शरीर को थोड़ा-सा आगे की ओर झुकाकर, एक पदार्थ पर दृष्टि स्थिर रखते हुए अनिमेष नेत्रों से और निश्चल अंगों से सर्व इन्द्रियों को गुप्त रखते हुए दोनों पैरों को संकुचित कर एवं दोनों भुजाओं को जानुपर्यन्त लम्बी करके कायोत्सर्ग में स्थित रहना चाहिये।

वहां यदि देव, मनुष्य या तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्ग हों और वे उपसर्ग उस अनगार को ध्यान से विचलित करें या पतित करें तो उसे विचलित होना या पतित होना नहीं कल्पता है।

यदि मल-मूत्र की बाधा हो जाय तो उसे धारण करना या रोकना नहीं कल्पता है, किन्तु पूर्व प्रतिलेखित भूमि पर मल-मूत्र त्यागना कल्पता है। पुनः यथाविधि अपने स्थान पर आकर उसे कायोत्सर्ग करना कल्पता है।

एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा का सम्यक् प्रकार से पालन न करने पर अनगार के लिए ये तीन स्थान अहितकर, अशुभ, असामर्थ्यंकर, अकल्याणकर एवं दुःखद भविष्य वाले होते हैं, यथा—

१. उन्माद की प्राप्ति, २. चिरकालिक रोग एवं आतंक की प्राप्ति, ३. केवलीप्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट होना।

एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा का सम्यक् प्रकार से पालन करने वाले वाले अनगार के लिए ये तीन स्थान हितकर, शुभ, सामर्थ्यंकर, कल्याणकर एवं सुखद भविष्य वाले होते हैं, यथा— १. अवधिज्ञान की उत्पत्ति, २. मनःपर्यवज्ञान की उत्पत्ति, ३. अनुत्पन्न केवलज्ञान की उत्पत्ति।

इस प्रकार यह एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा यथासूत्र, यथाकल्प, यथामार्ग और यथातथ्य रूप से सम्यक् प्रकार काया से स्पर्श कर, पालन कर, शोधन कर, पूर्ण कर, कीर्तन कर और आराधन कर जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है।

विवेचन—संयम की उत्कृष्ट आराधना करते हुए योग्यताप्राप्त गीतार्थ भिक्षु कर्मों की विशेष निर्जरा करने के लिये बारह भिक्षुप्रतिमायें स्वीकार करता है।

इस दशा मे बारह प्रतिमाओं के नाम दिये गये हैं। टीकाकार ने इनकी व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया है कि "दो मासिया, ति मासिया" इस पाठ से "द्वितीया एकमासिकी, तृतीया एक-मासिकी" इस प्रकार अर्थ करना चाहिये। क्योंकि इन प्रतिमाओं का पालन निरन्तर शीत और ग्रीष्म काल के आठ मासों में ही किया जाता है। चातुर्मास में इन प्रतिमाओं का पालन नहीं किया जाता। पूर्व की प्रतिमाओं के एक, दो मास भी आगे की प्रतिमाओं में जुड़ जाते हैं, अतः "द्वि-मासिकी, त्रिमासिकी" कहना भी असंगत नही है। यदि ऐसा अर्थ न करें तो प्रथम वर्ष में तीन प्रतिमा पालन करके छोड़ना होगा, दूसरे वर्ष में चौथी प्रतिमा पालन करके छोड़ना होगा, इस प्रकार बीच में छोड़ते हुए पांच वर्ष में प्रतिमाओं का आराधन करना उचित नहीं कहा जा सकता। टीकानुसार उपरोक्त अर्थ करना ही संगत प्रतीत होता है। अतः दूसरी प्रतिमा से सातवीं प्रतिमा तक के नाम इस प्रकार समझना—

१. एकमासिकी दूसरी भिक्षुप्रतिमा, २. एकमासिकी तीसरी भिक्षुप्रतिमा, ३. एक-मासिकी चौथी भिक्षुप्रतिमा, ४. एकमासिकी पांचवी भिक्षुप्रतिमा, ५. एकमासिकी छट्ठी भिक्षु-प्रतिमा, ६. एकमासिकी सातवी भिक्षुप्रतिमा।

पू० आचार्य श्री आत्माराम जी म० संपादित दशाश्रुतस्कंध में ऐसा ही छाया, अर्थ एवं विवेचन किया है।

पहली प्रतिमा से सातवीं प्रतिमा तक भिक्षु की एक-एक दत्ति बढ़ती है। आठवीं से बारहवीं प्रतिमा तक दत्ति का कोई परिमाण नहीं कहा गया है। अतः उन प्रतिमाओं में पारणे के दिन

आवश्यकतानुसार आहार-पानी की दत्ति ग्रहण की जा सकती है। इसके सिवाय सभी प्रतिमाधारी के पालन योग्य सोलह सामान्य नियम हैं, जो प्रथम प्रतिमा के वर्णन में कहे गये हैं—

१. भिक्षादाता का एक पैर देहली के अन्दर हो और एक पैर देहली के बाहर हो; पात्र में एक व्यक्ति का ही भोजन हो, गर्भवती, छोटे बच्चे वाली या स्तनपान कराती हुई स्त्री न हो तथा उस समय अन्य कोई भिक्षाचर भ्रमण न कर रहे हों तो भिक्षा ग्रहण करना कल्पता है।

२. यदि १२ घण्टों का दिन हो तो ४-४ घण्टों के तीन विभाग करें। प्रथम विभाग—सुबह ६ बजे से १० बजे तक, दूसरा विभाग—दोपहर १० बजे से २ बजे तक, तीसरा विभाग—२ बजे से ६ बजे तक। इन तीन विभागों में से किसी एक विभाग में ही भिक्षाचरी ग्रहण करना तथा खाना कल्पता है, शेष दो विभागों में नहीं कल्पता है।

३. गोचरी के लिए भ्रमण करने के छह प्रकारों में से किसी एक प्रकार से गोचरी करने का निश्चय कर लेने पर ही गोचरी जाना कल्पता है।

४. प्रतिमा आराधनकाल में भिक्षु एक या दो दिन से अधिक किसी ग्रामादि में नहीं ठहर सकता है, निरन्तर आठ मास तक विचरण करता ही रहता है। इस मर्यादा का उल्लंघन करने पर उसे तप या छेद का प्रायश्चित्त आता है। इस कारण से ही ये प्रतिमाएँ चातुर्मासकाल के सिवाय आठ मास में ही प्रारम्भ करके पूर्ण कर ली जाती हैं।

५. प्रतिमाधारी भिक्षु आठ मास तक सूत्रोक्त चार कारणों के अतिरिक्त मौन रह कर ही व्यतीत करता है। जब कभी बोलता है तो सीमित बोलता है। चलते समय बोलना आवश्यक हो तो रुककर बोल सकता है। प्रतिमाराधनकाल में विचरण करते हुए वह धर्मोपदेश नहीं देता है। क्योंकि प्रत्येक विशिष्ट साधना में मौन को ही ध्यान व आत्मशान्ति का मुख्य साधन माना गया है। इसलिए प्रतिमाधारी भिक्षु निवृत्त होकर अकेला ही साधना करता है।

६. प्रतिमाधारी भिक्षु ग्रामादि के बाहर—१. बगीचे में, २. चौतरफ से खुले मकान में अथवा ३. वृक्ष के नीचे ठहर सकता है। इन तीन स्थानों के सिवाय उसे कहीं भी ठहरना नहीं कल्पता है। सूत्र में "अहे" शब्द है, इसका यहां यह अर्थ है कि ठहरने का स्थान यदि चौतरफ से खुला भी हो किन्तु ऊपर से पूर्ण आच्छादित होवे, ऐसे स्थान में ही भिक्षु निवास करे। वृक्ष कहीं सघन छाया वाला होता है और कहीं विरल छाया वाला होता है। अतः विवेकपूर्वक आच्छादित स्थान में रहे।

७. प्रतिमाधारी भिक्षु भूमि पर या काष्ठ के पाट आदि पर अपना आसन आदि बिछाकर बैठ सकता है या सो सकता है। तृणादि के संस्तारक यदि बिछाये हुए मिल जाएं तो आज्ञा लेकर पहले उसकी प्रतिलेखना करे और बाद में उसको उपयोग में ले। अन्य स्थान से याचना करके लाना उसे नहीं कल्पता है।

८. प्रतिमाधारी भिक्षु ग्रामादि से बाहर बगीचे में, खुले मकान में या वृक्ष के नीचे एकान्त स्थान देखकर ठहरा हो और बाद में वहां कोई भी स्त्री या पुरुष आकर ठहर जाय तथा बातचीत या

कोई भी प्रवृत्ति करे तो उनके निमित्त से स्थान परिवर्तन करना उसे नहीं कल्पता है। किन्तु संकल्प-विकल्पों का त्याग करके एकाग्रचित्त से ध्यान में तल्लीन होकर समय व्यतीत करना कल्पता है तथा निर्धारित समय पर वहां से विहार करना कल्पता है।

९. प्रतिमाधारी भिक्षु जहां ठहरा हो वहां यदि कोई आग लगा दे तो उसे स्वतः या किसी के कहने से स्थान परिवर्तन करना नहीं कल्पता है, किन्तु संकल्प-विकल्पों का त्याग कर धैर्य के साथ आत्मध्यान में तल्लीन रहना कल्पता है।

यदि कोई व्यक्ति दयाभाव से उसे पकड़ कर बलात् निकाले तो वह निकालने वाले का किसी प्रकार से विरोध न करे किन्तु स्वतः ईर्यासमिति पूर्वक निकल जावे।

१०-११. प्रतिमाधारी भिक्षु के पांव में कांटा आदि लग जाय या आंख में रज आदि पड़ जाय तो उसे निकालने के लिये कुछ भी प्रयास करना नही कल्पता है। यदि कोई निकालने का प्रयत्न करे तो उसका प्रतीकार करना भी नहीं कल्पता है। माध्यस्थ भाव धारण करके विचरना कल्पता है।

ग्यारहवे नियम में प्रतिमाधारी भिक्षु को आंख में से त्रस प्राणी निकालने का निषेध किया गया है, इस नियम में भी शरीर के प्रति निरपेक्षता एवं सहनशीलता का ही लक्ष्य है। भिक्षु उस प्राणी के जीवित रहने तक आंखों की पलकें भी नहीं पड़ने देता है, जिससे वह स्वयं निकल जाता है। यदि वह नहीं निकल पा रहा हो तो उसकी अनुकम्पादृष्टि से प्रतिमाधारी भिक्षु निकाल सकता है। यथा—मार्ग में पशु भयभीत हो तो मार्ग छोड़ सकता है। इस प्रकार इन नियमों में प्रतिमाधारी के दृढमनोबली और कष्टसहिष्णु होते हुए शरीर के ममत्व व शुश्रूषा का त्याग करना सूचित किया गया है। इनमें जीवरक्षा का अपवाद स्वतः समझ लेना चाहिए।

१२. तीन प्रकार के ठहरने का स्थान न मिले और सूर्यास्त का समय हो जाय तो सूर्यास्त के पूर्व ही योग्य स्थान देखकर रुक जाना कल्पता है। वह स्थान आच्छादित हो या खुला आकाश वाला हो तो भी सूर्यास्त के बाद एक कदम भी चलना नही कल्पता है।

ऐसी स्थिति में यदि भिक्षु के ठहरने के आस-पास की भूमि सचित्त हो तो उसे निद्रा या ऊँघ लेना नहीं कल्पता है। सतत सावधानीपूर्वक जागृत रहते हुए स्थिर आसन से रात्रि व्यतीत करना कल्पता है। मल-मूत्र की बाधा हो तो यतनापूर्वक पूर्व प्रतिलेखित भूमि में जा सकता है और परठ कर पुनः उसी स्थान पर आकर उसे स्थित होना कल्पता है।

सूत्र में खुले आकाश वाले स्थान के लिये ही "जलंसि" शब्द का प्रयोग किया गया है क्योंकि खुले स्थान में निरन्तर सूक्ष्म जलवृष्टि होना भगवतीसूत्र श. १, उ. ६ में कहा है। अतः उस शब्द से नदी तालाब आदि जलाशय नहीं समझना चाहिये। बृहत्कल्पसूत्र उ. २ में ऐसे स्थान के लिए "अब्भावगासियंसि" शब्द का प्रयोग है।

१३. प्रतिमाधारी भिक्षु के कभी कहीं हाथ पैर आदि पर सचित्त रज लग जाए तो उसका प्रमार्जन करना नहीं कल्पता है और स्वतः पसीने आदि से रज अचित्त न हो जाय तब तक गोचरी जाना नहीं कल्पता है किन्तु स्थिरकाय होकर खड़े रहना कल्पता है।

१४. प्रतिमाधारी भिक्षु को हाथ पैर मुंह आदि को अचित्त जल से धोना भी नहीं कल्पता है। किन्तु अशुचि के लेप को दूर कर सकता है तथा भोजन के बाद हाथ मुंह को धो सकता है।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सामान्य भिक्षु को भी उक्त दो कारणों के बिना हाथ पैर आदि धोना नहीं कल्पता है तो प्रतिमाधारी के लिये इस नियम में क्या विशेषता है ?

इसका समाधान यह है कि सामान्य भिक्षु अपवाद सेवन कर सकता है किन्तु प्रतिमाधारी अपवाद सेवन नहीं कर सकता है। सामान्य भिक्षु आपवादिक स्थिति में रोगोपशांति के लिये औषध सेवन और अंगोपांग पर जलसिंचन या उनका प्रक्षालन भी कर सकता है।

१५. प्रतिमाधारी भिक्षु के सामने यदि कोई उन्मत्त पशु आवे तो भयभीत होकर मार्ग छोड़ना नहीं कल्पता है। अपितु धैर्य के साथ चलते रहना कल्पता है तथा किसी शांत पशु को मार्ग देने के लिये उसे एक तरफ होकर चलना कल्पता है।

१६. प्रतिमाधारी भिक्षु को चलते समय या बैठे हुए गर्मी या सर्दी से बचने के लिये किसी प्रकार का संकल्प या प्रयत्न करना नहीं कल्पता है किन्तु जहां जिस अवस्था में है, वहां वैसी ही स्थिति में समभाव पूर्वक स्थिरचित्त से सहनशील होकर रहना कल्पता है।

यद्यपि संयमसाधना के लिये उद्यत प्रत्येक भिक्षु को धैर्य रखना तथा निस्पृह होकर शरीर की शुश्रूषा न करना आवश्यक है, किन्तु प्रतिमाधारी के लिये तो उक्त दोनों अनिवार्य नियम है।

उपरोक्त सोलह नियमों में कई नियम तो मानो धैर्य की परीक्षा के लिये ही हैं, यथा—

अग्नि में जलते समय बाहर निकलने का संकल्प भी नहीं करना, सिंह आदि के सामने आने पर भी मार्ग न छोड़ना, आंखों में गिरी हुई रज आदि का शोधन नहीं करना, पांव में लगे कांच आदि को नहीं निकालते हुए ईर्यासमिति पूर्वक आठ मास तक विहार करते रहना इत्यादि।

प्रतिमा-आराधनाकाल में उक्त उपसर्ग आवे या न भी आवे, किन्तु भिक्षाप्राप्ति का कठोरतम नियम निरन्तर आठ महिनों के लिये अत्यन्त दुष्कर है। लम्बी तपश्चर्या करना फिर भी सरल हो सकता है किन्तु एक पांव देहली के अंदर और एक पांव बाहर तथा एक व्यक्ति के खाने लायक भोजन में से ही लेना इत्यादि विधि से आहार का या अचित्त पानी का मिलना अत्यन्त दुर्लभ ही होता है। ऐसी भूख-प्यास सहन करते हुए भी सदा भिक्षा के लिये घूमना तथा एक या दो रात्रि रुकते हुए आठ मास तक विहार करते रहना अत्यन्त कठिन है।

इसीलिये भिक्षुप्रतिमा-आराधन के लिये प्रारम्भ के तीन संहनन, २० वर्ष की संयमपर्याय, २९ वर्ष की उम्र तथा जघन्य ९वें पूर्व की तीसरी आचारवस्तु का ज्ञान होना आवश्यक है। अनेक प्रकार की साधनाएं व अभ्यास भी प्रतिमा धारण के पूर्व किये जाते हैं। उनमें उत्तीर्ण होने पर प्रतिमा धारण के लिये आज्ञा मिलती है। अतः वर्तमान में इन भिक्षुप्रतिमाओं का आराधन नहीं किया जा सकता है अर्थात् इनका विच्छेद माना गया है।

इन भिक्षुप्रतिमाओं में पहली से सातवीं प्रतिमा तक उपवास आदि तपस्या का कोई आवश्यक नियम नहीं है, फिर भी इच्छानुसार तप करने का निषेध भी नहीं समझना चाहिये।

आठवीं नवमी और दसवीं प्रतिमा के एक-एक सप्ताह मिलाकर तीन सप्ताह तक एकांतर उपवास करना आवश्यक होता है तथा पारणे में आयम्बिल किया जाता है। दत्ति संख्या की मर्यादा को छोड़कर भिक्षा के व अन्य सभी नियम पूर्व प्रतिमा के समान पालन करने होते हैं। उपवास के दिन चारों आहार का त्याग करके सूत्रोक्त किसी एक आसन से ग्रामादि के बाहर पूर्ण दिन-रात स्थिर रहना होता है। तीनों प्रतिमाओं में केवल आसन का अंतर होता है।

आठवीं और नवमी प्रतिमा का प्रथम आसन "उत्तानासन" और "दंडासन" है। ये दोनों आकाश की तरफ मुख करके सोने के हैं, किंतु इनमें अंतर यह है कि उत्तानासन में हाथ पांव आदि फैलाये हुए या अन्य किसी भी अवस्था में रह सकते हैं और दंडासन में मस्तक से पांव तक पूरा शरीर दंड के समान सीधा लम्बा रहता है और हाथ पैर अंतर रहित रहते हैं।

इसी प्रकार उक्त दोनों प्रतिमाओं का द्वितीय आसन "एक पार्श्वासन" और 'लकुटासन' है। ये दोनों एक पसवाडे (करवट) से सोने के है किंतु इनमें अंतर यह है कि "एक पार्श्वासन" में भूमि पर एक पार्श्व भाग से सोना होता है और लकुटासन में करवट से सोकर मस्तक एक हथेली पर टिकाकर-और पांव पर पांव चढ़ाकर लेटे रहना होता है। इस प्रकार इसमें मस्तक और एक पांव भूमि से ऊपर रहता है।

दोनों प्रतिमाओं का तृतीय आसन "निषद्यासन" और "उत्कुटुकासन" है। ये दोनों बैठने के आसन हैं। निषद्यासन में पलथी लगाकर पर्यंकासन से सुखपूर्वक बैठा जाता है और "उत्कुटुक-आसन" में दोनों पांवों को समतल रख कर उन पर पूरे शरीर को रखते हुए बैठना होता है। यह उत्कृष्ट गुरुवंदन का आसन है।

दसवी प्रतिमा के तीनों आसनों की यह विशेषता है कि वे न बैठने के, न सोने के और न सीधे खड़े रहने के हैं किन्तु बैठने तथा खड़े रहने के मध्य की अवस्था के हैं।

प्रथम गोदुहासन में पूरे शरीर को दोनों पांवों के पंजों पर रखना पड़ता है। इसमें जंघा उरु आपस में मिले हुए रहते हैं और दोनों नितम्ब एडी पर टिके हुए रहते हैं।

दूसरे वीरासन में पूरा शरीर दोनों पंजों के आधार पर तो रखना पड़ता है किन्तु इसमें नितम्ब एडी से कुछ ऊपर उठे हुए रखने पड़ते हैं तथा जंघा और उरु में भी कुछ दूरी रखनी पड़ती है। इस प्रकार कुर्सी पर बैठे व्यक्ति के नीचे से कुर्सी निकाल देने पर जो आकार अवस्था उसकी होती है वैसा ही लगभग इस आसन का आकार समझना चाहिये।

तीसरा आसन आम्रकुब्जासन है तथा विकल्प से इसका अंतकुब्जासन नाम और व्याख्या भी उपलब्ध है। इस आसन में भी पूरा शरीर तो पैरों के पंजों पर रखना पड़ता है, घुटने कुछ टेढ़े रखने होते हैं, शेष शरीर का सम्पूर्ण भाग सीधा रखना पड़ता है। जिस प्रकार आम ऊपर से गोल और नीचे से कुछ टेढ़ा होता है इसी प्रकार यह आसन किया जाता है।

किसी भी एक आसन से २४ घंटे रहना यद्यपि कठिन है, फिर भी दसवीं प्रतिमा के तीनों आसन तो अत्यन्त कठिन हैं। सामान्य व्यक्ति के लिये तो इन आसनों में एक घंटा रहना भी अशक्य होता है।

आठवें महिने के बावीसवें दिन, पूर्व प्रतिमा के उपवास का पारणा कर, तेवीसवें दिन उपवास करके, चौवीसवें दिन बेला करके ग्यारहवीं प्रतिमा का पालन किया जाता है। बेले में दिन रात सीधे खड़े रहकर कायोत्सर्ग किया जाता है। कायोत्सर्ग में हाथों को शरीर से सटाकर जानु पर्यंत सीधे रखना, दोनों पांवों को संकुचित करना, वक्षस्थल और मुख कुछ आगे झुकाकर सीधे खड़े रहना होता है। इस प्रकार अहोरात्रि के कायोत्सर्ग से इस प्रतिमा का आराधन किया जाता है, शेष सभी वर्णन पूर्व प्रतिमाओं के समान है।

पच्चीसवें दिन बेले का पारणा करके, छब्बीसवें, सत्तावीसवें और अट्ठावीसवें इन तीन दिनों में तेला किया जाता है। तेले के दिन अर्थात् तीसरे दिन सम्पूर्ण रात्रि का कायोत्सर्ग करके बारहवीं प्रतिमा का पालन किया जाता है। कायोत्सर्ग की विधि ग्यारहवीं प्रतिमा के समान है किन्तु इस प्रतिमा में सारी रात एक पुद्गल पर दृष्टि स्थिर रखना, आंखों की पलकें भी नहीं झपकाना अंगोपांगों को सर्वथा स्थिर रखना, सभी इन्द्रियों को अपने विषय से निवृत्त रखना तथा किसी प्रकार का उपसर्ग होने पर किंचित् भी कायोत्सर्ग मुद्रा से विचलित न होना, यह इस बारहवीं प्रतिमा की विशेषता है।

आठवीं से बारहवीं भिक्षुप्रतिमा तक के कायोत्सर्गों में मल-मूत्र की बाधा होने पर भिक्षु कायोत्सर्ग अवस्था छोड़कर पूर्व प्रतिलेखित भूमि में जाकर मल-मूत्र का त्याग करके पुनः उसी स्थान पर आकर उसी आसन या मुद्रा में स्थित हो सकता है। ऐसी उग्रतम साधना में भी शरीर के स्वाभाविक वेग को नहीं रोकना यह वीतराग मार्ग का स्वस्थ विवेक है। यह शरीर के प्राकृतिक नियमों से विपरीत नहीं चलने का निर्देश है। ऐसे प्रसंगों में छः मास तक मल-मूत्र रोकने की शक्ति का कथन भी किया जाता है जो आगमों के विधान के अनुकूल नहीं है।

एक पुद्गल पर दृष्टि रखने का तात्पर्य यह है कि सब ओर से दृष्टि हटाकर नासिका या पैरों के नखों पर दृष्टि को स्थिर करना।

इस बारहवीं प्रतिमा में उपसर्ग अवश्य होते हैं, ऐसा भी कहा जाता है, किन्तु सूत्र में इतना ही कथन है कि सम्यग् आराधना का यह सुफल है और असम्यग् आराधना का यह कुफल है।

आठवें महिने के २९वें दिन तेले का पारणा करके बारह ही प्रतिमा पूर्ण कर दी जाती हैं। इस प्रकार मिगसर की एकम से प्रतिमायें प्रारम्भ की जाएँ तो आषाढ़ी पूनम के पूर्व १२ भिक्षु प्रतिमाओं की आराधना पूर्ण हो जाती है।

बारह भिक्षुप्रतिमा की उग्र साधना करने वाले श्रमण कर्मों की महान् निर्जरा करके आराधक होकर शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त करते हैं। □□

आठवीं दशा

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पंचहत्थुत्तरे यावि होत्था, तं जहा—१. हत्थुत्तराहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते, २. हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए, ३. हत्थुत्तराहिं जाए, ४. हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइए, ५. हत्थुत्तराहिं अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरनाणदंसणे समुप्पण्णे, ६. साइणा परिणिव्वुए भगवं जाव भुज्जो भुज्जो उवदंसेइ।

अर्थ—उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के पांच हस्तोत्तर (उत्तराफाल्गुनी) हुए थे अर्थात् भगवान् उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में देवलोक से च्यव कर गर्भ में आए। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में भगवान् का एक गर्भ से दूसरे गर्भ में संहरण हुआ। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में जन्मे। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में मुंडित होकर आगार धर्म से अणगार धर्म में प्रव्रजित हुए। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में भगवान् को अनन्त अनुत्तर निर्व्याघात निरावरण कृत्स्न परिपूर्ण श्रेष्ठ केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न हुआ एवं स्वाति नक्षत्र में भगवान् परम निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त हुए यावत् भगवान् ने बारम्बार स्पष्ट रूप से समझाया।

विवेचन—इस दशा का नाम "पर्युषणाकल्प" है। इसका उल्लेख ठाणांगसूत्र के दसवें ठाणे मे है तथा दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति गाथा ७ में "कप्पो" ऐसा नाम भी उपलब्ध है।

दशाश्रुतस्कन्धसूत्र की सभी दशाओं में एक-एक विषय का ही निरूपण किया गया है। तदनुसार इस दशा में भी "पर्युषणाकल्प" सम्बन्धी एक विषय का ही प्रतिपादन स्थविर भगवन्त श्री भद्रबाहुस्वामी ने किया है। निर्युक्तिकार के समय तक उसका वही रूप रहा है।

निर्युक्तिकार ने इस दशा में संयम-समाचारी के कुछ विषयों का विवेचन किया है और प्रारम्भ में "पर्युषण" शब्द की व्याख्या की है। सम्पूर्ण सूत्र की निर्युक्ति गाथा ६७ हैं। जिनमें प्रारम्भ की २३ गाथाओं में केवल 'पर्युषण' का विस्तृत विवेचन है।

वर्तमान में उपलब्ध संक्षिप्त पाठ की रचना में सम्पूर्ण कल्पसूत्र (पर्युषणाकल्प-सूत्र) का समावेश किया गया है। उस कल्पसूत्र मे २४ तीर्थंकरों के जीवन का वर्णन है। उनमें भगवान् महावीर के पांच कल्याणकों का विस्तृत वर्णन है और शेष तीर्थंकरों के कल्याणकों का संक्षिप्त वर्णन है। बाद में यह भी सूचित किया है कि भगवान् महावीर स्वामी को निर्वाण प्राप्त हुए ९८० वर्ष बीत गये हैं और पार्श्वनाथ भगवान् को मोक्ष गये १२३० वर्ष बीत गये हैं। तदनन्तर संवत्सर सम्बन्धी मतभेद का भी कथन है। वीरनिर्वाण के बाद एक हजार वर्ष की अवधि में हुए आचार्यों की स्थविरावली है। उनमें भी मतभेद और संक्षिप्त-विस्तृत वाचनाभेद है। अन्त में चातुर्मास समाचारी है। चिन्तन करने पर इन विभिन्न विषयों के बारह सौ श्लोक प्रमाण जितनी बड़ी आठवीं दशा का होना उचित प्रतीत नही होता है।

दशाश्रुतस्कन्ध छेदसूत्र है। छेदसूत्रों का विषय और उनकी रचना-पद्धति कुछ भिन्न ही है। बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथसूत्र छेदसूत्र हैं। इनमें छोटे-छोटे उद्देशक हैं और केवल आचार का विषय है। दशाश्रुतस्कन्धसूत्र के निर्युक्तिकार भी पांचवीं गाथा में इस सूत्र की छोटी दशाएँ होने का ही निर्देश करते हैं और बड़ी दशाएँ अन्य अंगसूत्रों में हैं, ऐसा कथन करते हैं। अतः वर्तमान में उपलब्ध कल्पसूत्र को समाविष्ट करने वाला संक्षिप्त पाठ प्राचीन प्रतीत नहीं होता है तथा निर्युक्ति व्याख्या से भी ऐसा ही सिद्ध होता है। क्योंकि निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन में पर्युषणासूत्र की सर्वप्रथम व्याख्या की है। जबकि कल्पसूत्र में सर्वप्रथम नमस्कार मन्त्र तथा तीर्थंकर वर्णन है और पर्युषणा का सूत्र ९०० श्लोक प्रमाण वर्णन के बाद में है।

कुछ चिन्तकों का यह मत है कि "आठवीं दशा को अलग करके कल्पसूत्र नाम अंकित कर दिया गया है, अतः सम्पूर्ण कल्पसूत्र भद्रबाहुस्वामी रचित आठवीं दशा ही है।" यह भी एक कल्पना है और इसे बिना सोचे-विचारे कईयों ने सत्य मान लिया है।

नंदीसूत्र में तीन कल्पसूत्रों के नाम हैं—१. कप्पसुत्तं (बृहत्कल्पसूत्र) २. चुल्लकप्पसुत्तं ३. महाकप्पसुत्तं। किन्तु इस पर्युषणाकल्पसूत्र का कहीं नाम नहीं है। नंदीसूत्र का संकलनकाल वीरनिर्वाण की दसवीं शताब्दी का माना जाता है। तब तक इस कल्पसूत्र का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं था, यह स्पष्ट और सुनिश्चित है।

आर्य भद्रबाहुस्वामी ने दशाश्रुतस्कन्धसूत्र, कल्पसूत्र (बृहत्कल्पसूत्र) और व्यवहारसूत्र इन तीन छेदसूत्रों की रचना की है, इनमें से एक सूत्र का नाम कल्पसूत्र है ही तो उन्हीं के दशाश्रुतस्कन्ध की एक दशा को अलग करके नया कल्पसूत्र का संकलन करना किसी भी विद्वान् द्वारा कैसे आवश्यक या उचित माना जा सकता है ?

दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्तिकार ने प्रथम गाथा में भद्रबाहुस्वामी को १४ पूर्वी कहकर वंदन किया है और तीन छेदसूत्रों का कर्ता कहा है—

वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरिम सगलसुयणाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासुकप्पे य ववहारे ॥ निर्युक्ति गाथा ॥ १ ॥

चूर्णिकार ने भी इस गाथा की व्याख्या करते हुए कहा है कि निर्युक्तिकार इस प्रथम गाथा में सूत्रकार को आदि मंगल के रूप में प्रणाम करते हैं। अतः यह सहज सिद्ध है कि चूर्णिकार के समय तक स्वोपज्ञ निर्युक्ति कहने की भ्रान्त धारणा भी नहीं थी और इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सूत्रकार भद्रबाहुस्वामी से निर्युक्तिकार भिन्न हुए हैं। क्योंकि निर्युक्तिकार स्वयं सूत्रकर्ता भद्रबाहु स्वामी को वंदन करते हैं। अतः स्वोपज्ञ निर्युक्ति मानना भी सर्वथा असंगत है। दशाश्रुतस्कन्ध के निर्युक्तिकार ने निर्युक्ति करते हुए आठवीं दशा की निर्युक्ति भी की है। उसमें न तो इस संक्षिप्त पाठ की सूचना की है और न ही अलग संकलित किए गये कल्पसूत्र की कोई चर्चा की है।

निर्युक्तिकार ने आठ आचार-प्रधान आगमों की निर्युक्ति की है। यदि पर्युषणाकल्पसूत्र आठवीं दशा से अलग होता तो उसका निर्देश या उसकी व्याख्या अवश्य करते। अतः यह निश्चित है कि निर्युक्तिकार के समय तक भी इस बारसा कल्पसूत्र अर्थात् पर्युषणाकल्पसूत्र का अस्तित्व नहीं

था। साथ ही एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिए कि इसका परिचायक यह नाम विक्रम की बारहवीं शताब्दी पूर्व के किसी भी आगम या ग्रन्थ में देखने को नही मिलता है।

आचार्य मलयगिरि के समय तक प्रायः सभी आगमों की निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका आदि व्याख्याएँ रची गई थीं किन्तु इस कल्पसूत्र की व्याख्या करने का किसी भी विद्वान् ने संकल्प नहीं किया और कहीं किसी ने इसका नाम-निर्देश भी नही किया।

एक प्रचलित धारणा यह भी है कि "ध्रुवसेन राजा के पुत्रशोक को दूर करने के लिये कालकाचार्य ने आठवीं दशा का सभा मे वाचन किया और उस समय से ही यह अलग सूत्र के रूप में प्रचलित हुआ। उसका आज तक पर्युषण के दिनों में सभा के बीच वांचन किया जाता है।" यह भी एक कल्पना कल्पित करके फिट कर दी गई है, इसमें मौलिकता तनिक भी नहीं है।

इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कालकाचार्य अनेक हुए हैं, उनमें अन्तिम कालकाचार्य देवर्द्धिगणि के समय वीरनिर्वाण की दसवी सदी में और विक्रम की छट्ठी सदी के प्रारम्भ में हुए हैं।

ध्रुवसेन राजा भी तीन हुए हैं, जिनमें प्रथम ध्रुवसेन वीरनिर्वाण के ११वी शताब्दी के मध्यकाल में, दूसरे १२वी शताब्दी के मध्यकाल में और तीसरे १२वीं शताब्दी के अन्तिम काल में हुए हैं। प्रथम ध्रुवसेन राजा के पुत्रशोक की घटना वीरनिर्वाण के बाद ग्यारहवीं शताब्दी के ५४वें वर्ष में घटी है। उस समय में आनन्दपुर में कालकाचार्य के चातुर्मास करने का कोई भी उल्लेख इतिहास से सिद्ध नही हो सकता है।

सामान्य साधुओं को और साध्वियों को भी छेदसूत्र नहीं पढ़ाये जाने की धारणा और परम्परा के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। ऐसे इस छेदसूत्र के अध्ययन को पुत्रशोक दूर करने के लिये राजसभा में वांचन करने का कथन किंचित् भी उचित नहीं कहा जा सकता है।

इस प्रकार उपलब्ध कल्पसूत्र का यह स्वतन्त्र स्वरूप प्राचीन सिद्ध नही होता है। अतः दशाश्रुतस्कन्ध की आठवीं दशा में उसके सम्पूर्ण अस्तित्व का अथवा उसके संक्षिप्त पाठ का बाद में संकलित होना या प्रक्षिप्त करना स्वतःसिद्ध है।

अनुप्रेक्षा फलित ज्ञातव्य यह है कि विक्रम की १२वीं, १३वीं शताब्दी में चुल्लकल्पसूत्र, महाकल्पसूत्र या पट्टावलियां आदि के संग्रह से यह सूत्र संकलित किया गया और इसके साथ पर्युषणाकल्प नामक आठवी दशा रूप समाचारी को परिवर्धित या परिवर्तित करके अन्त में जोड़ा गया है तथा उस समूचे संग्रहसूत्र को चौदह पूर्वी भद्रबाहु की रचना कहकर प्रसिद्ध किया गया और प्राचीनता दिखाने के लिए सभा में वांचन का नाम भी कल्पित असंगत कथा द्वारा कालकाचार्य से जोड़ दिया गया। यहां तक कि दशाश्रुतस्कन्ध की आठवीं दशा में भी पूरा पर्युषणाकल्पसूत्र लिख दिये जाने का दुस्साहस होने लगा। इस प्रकार २१०० श्लोक-प्रमाण पूर्ण दशाश्रुतस्कन्ध कल्पित कर उसको चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु की रचना कहकर उसका महत्त्व बढ़ाया गया है।

इससे अच्छी तरह निर्णय हो जाता है कि "आठवीं" दशा में उपलब्ध सम्पूर्ण पर्युषणाकल्प-सूत्र रूप संक्षिप्त पाठ मौलिक नहीं है।

पर्युषणाकल्पसूत्र में स्थविरावली के बाद समाचारी के प्रारम्भ का सूत्र भी मौलिक और शुद्ध नहीं है, उस सूत्र का भावार्थ देखने से यह अच्छी तरह समझ में आ सकता है।

समाचारी-प्रकरण के प्रथम सूत्र में यह कहा गया है कि "श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने वर्षावास के एक महीना बीस दिन बीतने पर वर्षावास किया। उसी प्रकार गणधरों ने किया, उसी प्रकार उनके शिष्यों ने एवं स्थविरों ने किया है और उसी प्रकार आजकल विचरने वाले श्रमण निर्ग्रन्थ करते हैं तथा हमारे आचार्य उपाध्याय भी उसी प्रकार वर्षावास करते हैं और हम भी वर्षावास का एक मास और बीस दिन बीतने पर (भादवासुदी पंचमी को) चातुर्मास करते हैं। उसके पहले भी अर्थात् चतुर्थी को करना कल्पता है किन्तु उसके बाद में करना नहीं कल्पता है।"

दशाश्रुतस्कन्ध से हटाये गये पर्युषणाकल्प अध्ययन को साधु-समाचारी वर्णन के पाठ का यह प्रथम सूत्र है। चौदहपूर्वी भद्रबाहु द्वारा निर्यूढ बृहत्कल्प और व्यवहारसूत्र भी हैं। इनके सूत्रों से मिलान करने पर समाचारी का यह सूत्र उनकी रचनाशैली के समकक्ष प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि इस सूत्र के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उद्भूत होते हैं। यथा—

१. भगवान् ने कौनसा वर्षावास किस ग्राम या नगर में एक मास और बीस दिन बाद किया? क्योंकि भगवान् ने तो सभी चातुर्मास आषाढ़ी चौमासी के पूर्व ही स्थिर किये, ऐसे उल्लेख आगमों और ग्रन्थों में उपलब्ध हैं।

वर्षावास के लिए ठहरने के स्थान की चार मास पर्यन्त आज्ञा लेकर ही संत-सतियों के रहने की परम्परा प्राचीनकाल से आज तक अविच्छिन्नरूप से प्रचलित है। इतिहास में एक भी उल्लेख ऐसा उपलब्ध नहीं है कि किसी भी अमुक साधु ने एक मास और बीस दिन बाद भादवा की शुक्ला पंचमी को चौमासा बिठाया हो।

भगवान् के नाम से किसी प्रकार का विधान करना, यह भी छेदसूत्र की पद्धति नहीं है। निर्युक्तिकार ने भी प्रथम सूत्र की व्याख्या २३ गाथाओं में की है, उनमें कहीं भगवान् महावीरस्वामी के वर्षावास के निर्णय का कथन नहीं है।

२. "भगवान् ने किया वैसा गणधरों ने किया, वैसा ही उनके शिष्यों ने एवं स्थविरों ने किया, वैसे ही आजकल के श्रमण तथा हमारे आचार्य और हम करते हैं। पहले दिन पर्युषण कर सकते हैं किन्तु बाद में नहीं कर सकते हैं।" ऐसी क्रमबद्ध रचना को चौदहपूर्वी भद्रबाहुस्वामी की रचना कहना भी असंगत है।

३. उक्त सूत्र में "हम" शब्द का प्रयोग करने वाला कौन है? भद्रबाहु जैसे महान् श्रुतधर इस प्रकार कहें, यह कल्पना करना भी उचित प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार पूर्वापर के तथ्यों पर चिन्तन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान में उपलब्ध पर्युषणाकल्पसूत्र के समाचारी प्रकरण का यह प्रथम सूत्र और अन्य अनेक सूत्र परिवर्तित और परिवर्धित हैं, अतः यह समाचारी भी भद्रबाहु की रचना प्रतीत नहीं होती है।

इस दशा का जो स्वरूप निर्युक्तिकार के सामने था वह उपलब्ध कल्पसूत्र में दिखाई नहीं देता है। अतः इस आठवीं दशा को संक्षिप्त पाठ वाली कहने की अपेक्षा आचारांग के सातवें अध्ययन के समान विलुप्त कहना ही उचित प्रतीत होता है।

यहाँ प्रस्तुत संस्करण में जो संक्षिप्त मूल पाठ है वह पर्युषणाकल्पसूत्र का प्रथम सूत्र और अन्तिम सूत्र लेकर संकलित किया हुआ है। यह परम्परा का पालन मात्र है।

आगमों के सूत्रपाठ का एक अक्षर भी आगे-पीछे, कम-ज्यादा, इधर-उधर करना बहुत बड़ा दोष—ज्ञानातिचार माना गया है। फिर भी समय-समय पर अनेक ऐसे प्रक्षेप आगमों में हुए हैं। उनमें का यह भी एक उदाहरण है। यहां जो कुछ लिखा है वह अपनी अल्प जानकारी एवं सामान्य अनुभवों के अनुसार लिखा है, विद्वान् विशेषज्ञों को इसमें जो यथार्थ लगे उसे ही समझने का एवं धारण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

उपलब्ध कल्पसूत्र का २९१ वां अन्तिम उपसंहार सूत्र जो है, उसका भावार्थ यह है—

"यह सम्पूर्ण (१२०० श्लोकप्रमाण का पर्युषणाकल्पसूत्र) अध्ययन (आठवी दशा) भगवान् महावीर स्वामी ने राजगृह नगर मे देवयुक्त परिषद् में बारम्बार कहा।" इस उपसंहार सूत्र को मनीषी पाठक पढ़कर आश्चर्य करेंगे कि भगवान् के जीवन का सारा वर्णन उनके ही मुख से परिषद मे कहलाना और निर्वाण के ९८० वर्ष या ९९३ वर्ष बीतने का कथन, स्थविरों की वंदना के पाठ सहित स्थविरावली तथा असंगत पाठों से युक्त समाचारी को महावीर के श्रीमुख से कहलवाना और उसी आठवी दशा को १४ पूर्वी भद्रबाहुरचित कहना कितना बेतुका प्रयास है। जिसे कि किसी भी तरह सत्य सिद्ध नही किया जा सकता है।

यह कल्पसूत्र भगवान् महावीर ने राजगृही नगरी के गुणशील उद्यान में बारम्बार कहा था, तो किस दिन कहा? क्या एक ही दिन में कहा या अलग-अलग दिनों में कहा? और बारम्बार क्यों कहा?—इत्यादि प्रश्नों का सही समाधान कुछ नहीं मिल सकता है।

निर्युक्तिकार ने इस दशा के जिन-जिन विषयों की व्याख्या की है उनसे भी उक्त प्रश्नों का यथार्थ निर्णय नही हो पाता। निर्युक्ति की ६१वी उपसंहार-गाथा है उसके बाद उपलब्ध ६ गाथाओं को भी मौलिक नही कहा जा सकता।

६१ गाथाओं में आये विषयों का सारांश इस प्रकार है—

१. साधु-साध्वी को वर्षावास के एक महीना बीस दिन बीतने पर अर्थात् भादवा सुदी पंचमी को पर्युषणा (संवत्सरी) करनी चाहिए।

२. साधु-साध्वी जिस मकान में चातुर्मास निवास करें, वहाँ से उन्हें प्रत्येक दिशा में आधा कोस सहित आधा योजन से आगे नही जाना चाहिए।

३. चातुर्मास में साधु-साध्वी को विगय का सेवन नहीं करना चाहिए। रोगादि कारण से विगय सेवन करना हो तो आचार्यादि की आज्ञा लेकर ही करना चाहिए।

४. वर्षावास में साधु-साध्वी को शय्या, संस्तारक ग्रहण करना कल्पता है। अर्थात् जीवरक्षा हेतु आवश्यक समझना चाहिए।

५. वर्षावास में साधु-साध्वी को तीन मात्रक ग्रहण करना कल्पता है, यथा—१. उच्चार (बड़ी नीत का) मात्रक, २. प्रश्रवणमात्रक, ३. खेल-कफमात्रक।

६. साधु-साध्वी को पर्युषणा के बाद गाय के रोम जितने बाल रखना नहीं कल्पता है। अर्थात गाय के रोम जितने बाल हों तो भी लोच करना आवश्यक होता है।

७. साधु-साध्वी को चातुर्मास में पूर्वभावित श्रद्धावान् के अतिरिक्त किसी को दीक्षा देना नहीं कल्पता है।

८. चातुर्मास में साधु-साध्वी को समिति गुप्ति की विशेष रूप से सावधानी रखनी चाहिए।

९. साधु-साध्वी को पर्युषणा के बाद किसी भी पूर्व क्लेश (कषाय) को अनुपशान्त रखना नहीं कल्पता है।

१०. साधु-साध्वी को वर्ष भर के सभी प्रायश्चित्त तपों को चातुर्मास में वहन कर लेना चाहिए।

आगे ६२वीं गाथा में कहा है "तीर्थंकर और गणधरों की स्थविरावली २४वें तीर्थंकर के शासन में कही जाती है" और शेष (६३-६७) ५ गाथाओं में अल्पवर्षा में गोचरी जाने का विधान किया गया है।

उपलब्ध पर्युषणा कल्पसूत्र में तो तीर्थंकर, गणधर और स्थविरों के वर्णन पहले हैं और उस के बाद समाचारी का वर्णन है। किन्तु निर्युक्ति में समाचारी के प्रायश्चित्तों का विधान करने वाली उपसंहार गाथा के बाद में उसका कथन है अतः उसका कोई महत्त्व नहीं है, अपितु ऐसा कथन अनेक आशंकाओं का जनक है। अर्थात् अपने आग्रह की सिद्धि के लिए यह गाथा रचकर जोड़ दी गई है।

स्थविरावली के कथन के बाद वर्षा में गोचरी जाने का विधान ५ निर्युक्ति गाथाओं में है। वह भी दशवैकालिकसूत्र तथा आचारांगसूत्र से विपरीत विधान है, अतः संदेहास्पद है। अर्थात् उपसंहार के बाद होने से और आगम-विपरीत कथन करने वाली होने से ये पांच गाथाएं भी प्रक्षिप्त ही प्रतीत होती हैं। इस प्रकार निर्युक्ति की अंतिम छः गाथाएं प्रक्षिप्त ज्ञात होती है। जब मूल पाठों में इतना परिवर्तन किया जा सकता है तो निर्युक्ति में होना क्या आश्चर्य है।

उक्त सभी विचारणाओं का तात्पर्य यह है कि पर्युषणाकल्पसूत्र स्वतंत्र संकलित सूत्र है। न कि दशाश्रुतस्कंधसूत्र की आठवीं दशा है। अतः आठवीं दशा का संक्षिप्त पाठ जो समूचे पर्युषणा कल्पसूत्र को समाविष्ट करता हुआ दिखाया जाता है वह अशुद्ध है, अर्थात् कल्पित है। जो निर्युक्ति आदि व्याख्याओं से स्पष्ट सिद्ध है।

पर्युषणाकल्पसूत्र को आठवीं दशा एवं भद्रबाहुस्वामी रचित तथा भगवद्भाषित मानने में अनेक विरोध एवं विकल्प उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार व्यविच्छिन्न हुई वर्तमान में इस आठवीं दशा के आदि, मध्य और अन्तिम मूल पाठ का सही निर्णय निर्युक्ति व्याख्या के आधार से किया जाना भी कठिन है।

अतः उपलब्ध संक्षिप्त सूत्र को स्वीकार करने की अपेक्षा तो इस दशा को व्यवच्छिन्न मानकर सन्तोष करना ही श्रेयस्कर है। □□

नवमी दशा

महामोहनीय कर्म-बंध के तीस स्थान

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था। वण्णओ। पुण्णभद्दे नामं चेइए। वण्णओ। कोणिय राया। धारिणी देवी। सामी समोसढे। परिसा निग्गया। धम्मो कहिओ। परिसा पडिगया।

"अज्जो!" त्ति समणे भगवं महावीरे बहवे निग्गंथा य निग्गंथीओ य आमंतेत्ता एवं वयासी—

"एवं खलु अज्जो! तीसं मोहणिज्जठाणाइं जाइं इमाइं इत्थी वा पुरिसो वा अभिक्खणं-अभिक्खणं आयारेमाणे वा, समायारेमाणे वा मोहणिज्जत्ताए कम्मं पकरेइ", तं जहा—

१. जे केइ तसे पाणे, वारिमज्झे विगाहिआ।
उदएणाऽक्कम्म मारेइ, महामोहं पकुव्वइ॥

२. पाणिणा संपिहित्ताणं, सोयमावरिय पाणिणं।
अंतो नदंतं मारेइ, महामोहं पकुव्वइ॥

३. जायतेयं समारब्भ, बहुं ओरुंभिया जणं।
अंतो धूमेण मारेइ, महामोहं पकुव्वइ॥

४. सीसम्मि जो पहणइ, उत्तमंगम्मि चेयसा।
विभज्ज मत्थयं फाले, महामोहं पकुव्वइ॥

५. सीसं वेढेण जे केइ, आवेढेइ अभिक्खणं।
तिव्वासुभ-समायारे, महामोहं पकुव्वइ॥

६. पुणो-पुणो पणिहीए, हणित्ता उवहसे जणं।
फलेण अदुव दंडेणं, महामोहं पकुव्वइ॥

७. गूढायारी निगूहिज्जा, मायं मायाए छायए।
असच्चवाई णिण्हाइ, महामोहं पकुव्वइ॥

८. धंसेइ जो अभूएणं, अकम्मं अत्तकम्मुणा।
अदुवा तुमकासित्ति, महामोहं पकुव्वइ॥

९. जाणमाणो परिसाए, सच्चामोसाणि भासए।
अक्खीण-झंझे पुरिसे, महामोहं पकुव्वइ॥

१०. अणायगस्स नयवं, दारे तस्सेव धंसिया।
विउलं विक्खोभइत्ताणं, किच्चा णं पडिबाहिरं ॥

उवगसंतंपि झंपित्ता, पडिलोमाहिं वग्गुहिं।
भोग-भोगे वियारेइ, महामोहं पकुव्वइ ॥

११. अकुमारभूए जे केई, "कुमार-भूए-त्ति हं" वए।
इत्थी-विसय सेवी य, महामोहं पकुव्वइ ॥

१२. अबंभयारी जे केई, 'बभंयारी त्ति हं' वए।
गद्दहेव्व गवां मज्झे, विस्सरं नयइ नदं ॥

अप्पणो अहिए बाले, मायामोसं बहुं भसे।
इत्थी-विसय-गेहिय, महामोहं पकुव्वइ ॥

१३. जं निस्सिए उव्वहइ, जस्साहिगमेण वा।
तस्स लुब्भइ वित्तंसि, महामोहं पकुव्वइ ॥

१४. ईसरेण अदुवा गामेणं, अणीसरे ईसरीकए।
तस्स संपय-हीणस्स, सिरी अतुलमागया ॥

इस्सा-दोसेण आविट्ठे, कलुसाविल-चेयसे।
जे अंतरायं चेएइ, महामोहं पकुव्वइ ॥

१५. सप्पी जहा अंडउडं, भत्तारं जो विहिंसइ।
सेनावइं पसत्थारं, महामोहं पकुव्वइ ॥

१६. जे नायगं च रट्ठस्स, नेयारं निगमस्स वा।
सेट्ठिं बहुरवं हंता, महामोहं पकुव्वइ ॥

१७. बहुजणस्स [illegible] दीवं ताणं च [illegible]
एयारिसं [illegible] महामोहं पकुव्[illegible]

२०. नेयाउअस्स मग्गस्स, दुट्ठे अवयरइ बहुं ।
तं तिप्पयन्तो भावेइ, महामोहं पकुव्वइ ॥

२१. आयरिय-उवज्झाएहिं, सुयं विणयं च गाहिए ।
ते चेव खिंसइ बाले, महामोहं पकुव्वइ ॥

२२. आयरिय-उवज्झायाणं, सम्मं नो पडितप्पइ ।
अप्पडिपूयए थद्धे, महामोहं पकुव्वइ ॥

२३. अबहुस्सुए य जे केई, सुएणं पविकत्थइ ।
सज्झाय-वायं वयइ, महामोहं पकुव्वइ ॥

२४. अतवस्सिए जे केई, तवेण पविकत्थइ ।
सव्वलोयपरे तेणे, महामोहं पकुव्वइ ॥

२५. साहारणट्ठा जे केइ, गिलाणम्मि उवट्ठिए ।
पभू न कुणइ किच्चं, मज्झंपि से न कुव्वइ ॥

सढे नियडी-पण्णाणे, कलुसाउलचेयसे ।
अप्पणो य अबोहीए, महामोहं पकुव्वइ ॥

२६. जे कहाहिगरणाइं, संपउंजे पुणो-पुणो ।
सव्व तित्थाण-भेयाए, महामोहं पकुव्वइ ॥

२७. जे य आहम्मिए जोए, संपउंजे पुणो पुणो ।
सहा-हेउं सही-हेउं, महामोहं पकुव्वइ ॥

२८. जे य माणुस्सए भोए, अदुवा पारलोइए ।
तेऽतिप्पयंतो आसयइ, महामोहं पकुव्वइ ॥

२९. इड्ढी जुई जसो वण्णो, देवाणं बलवीरियं ।
तेसिं अवण्णवं बाले, महामोहं पकुव्वइ ॥

३०. अपस्समाणो पस्सामि, देवे जक्खे य गुज्झगे ।
अण्णाणी जिणपूयट्ठी, महामोहं पकुव्वइ ॥

एते मोहगुणा वुत्ता, कम्मंता चित्तवद्धणा ।
जे उ भिक्खू विवज्जेज्जा, चरेज्जत्तगवेसए ॥

जं पि जाणे इतो पुव्वं, किच्चाकिच्चं बहुं जढं ।
तं वंता ताणि सेविज्जा, जेहिं, आयारवं सिया ।।

आयार-गुत्तो सुद्धप्पा, धम्मे ठिच्चा अणुत्तरे ।
ततो वमे सए दोसे, विसमासीविसो जहा ।।

सुचत्तदोसे सुद्धप्पा, धम्मट्ठी विवितायरे ।
इहेव लभते कित्ति, पेच्चा य सुगति वरं ।।

एवं अभिसमागम्म, सूरा दढपरक्कमा ।
सव्वमोहविणिमुक्का, जाइमरणमतिच्छिया[1] ।।

उस काल और उस समय में चम्पा नामक नगरी थी । नगरी का विस्तृत वर्णन (उववाईसूत्र से) जानना चाहिए ।

पूर्णभद्र नाम का चैत्य (उद्यान) था । उद्यान का विस्तृत वर्णन (उववाईसूत्र से) जानना चाहिये ।

वहा कोणिक राजा राज्य करता था, उसके धारणी देवी पटरानी थी । श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ग्रामानुग्राम विचरते हुए वहां पधारे । परिषद् चम्पा नगरी से निकलकर धर्मश्रवण के लिये पूर्णभद्र चैत्य में आई । भगवान् ने धर्म का स्वरूप कहा । धर्म श्रवण कर परिषद् चली गई ।

श्रमण भगवान् महावीर ने सभी निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थनियों को आमन्त्रित कर इस प्रकार कहा—

"हे आर्यो ! जो स्त्री या पुरुष इन तीस मोहनीय-स्थानों का सामान्य या विशेष रूप से पुनः-पुनः आचरण करते हैं, वे महामोहनीय कर्म का बन्ध करते हैं ।" वे इस प्रकार हैं—

१. जो कोई त्रस प्राणियों को जल मे डुबोकर या प्रचण्ड वेग वाली तीव्र जलधारा में डालकर मारता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

२. जो प्राणियों के मुंह, नाक आदि श्वास लेने के द्वारों को हाथ आदि से अवरुद्ध कर अव्यक्त शब्द करते हुए प्राणियों को मारता है, वह महामोहनीय कर्म बांधता है ।

३. जो अनेक प्राणियों को एक घर में घेर कर अग्नि के धुंए मे [illegible] मारता है, वह महा-मोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

४. जो किसी प्राणी के [illegible] शस्त्र से प्रहा[illegible] भेदन करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

५. जो तीव्र अशुभ परिणामों [illegible] के सिर [illegible] के अ[illegible] [illegible] है, वह महामोहनीय कर्म [illegible] ।

१. सम.

६. जो किसी प्राणी को धोखा देकर के भाले से या डंडे से मारकर हँसता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

७. जो गूढ़ आचरणों से अपने मायाचार को छिपाता है, असत्य बोलता है और सूत्रों के यथार्थ अर्थों को छिपाता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

८. जो निर्दोष व्यक्ति पर मिथ्या आक्षेप करता है, अपने दुष्कर्मों का उस पर आरोपण करता है अथवा 'तूने ही ऐसा कार्य किया है' इस प्रकार दोषारोपण करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

९. जो कलहशील रहता है और भरी सभा में जान-बूझकर मिश्र भाषा बोलता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१०. जो कूटनीतिज्ञ मंत्री राजा के हितचिन्तकों को भरमाकर या अन्य किसी बहाने से राजा को राज्य से बाहर भेजकर राज्य-लक्ष्मी का उपभोग करता है, रानियों का शील खंडित करता है और विरोध करने वाले सामन्तों का तिरस्कार करके उनके भोग्य पदार्थों का विनाश करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

११. जो बालब्रह्मचारी नहीं होते हुए भी अपने आपको बालब्रह्मचारी कहता है और स्त्रियों का सेवन करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१२. जो ब्रह्मचारी नहीं होते हुए भी—"मैं ब्रह्मचारी हूँ" इस प्रकार कहता है, वह मानो गायों के बीच गधे के समान बेसुरा बकता है और अपनी आत्मा का अहित करने वाला वह मूर्ख मायायुक्त झूठ बोलकर स्त्रियों में आसक्त रहता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१३. जो जिसका आश्रय पाकर आजीविका कर रहा है और जिसकी सेवा करके समृद्ध हुआ है, उसी के धन का अपहरण करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१४. जो किसी स्वामी का या ग्रामवासियों का आश्रय पाकर उच्च स्थान को प्राप्त करता है और जिनकी सहायता से सर्वसाधनसम्पन्न बना है, यदि ईर्ष्यायुक्त एवं कलुषितचित्त होकर उन आश्रमदाताओं के लाभ में अन्तराय उत्पन्न करता है तो वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१५. सर्पिणी जिस प्रकार अपने ही अण्डों को खा जाती है, उसी प्रकार जो पालनकर्ता, सेनापति तथा कलाचार्य या धर्माचार्य को मार डालता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१६. जो राष्ट्रनायक को, निगम के नेता को तथा लोकप्रिय श्रेष्ठी को मार डालता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१७. जो अनेकजनों के नेता को तथा समुद्र में द्वीप के समान अनाथजनों के रक्षक का घात करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१८. जो पापों से विरत दीक्षार्थी को और तपस्वी साधु को धर्म से भ्रष्ट करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१९. जो अज्ञानी अनन्त ज्ञानदर्शनसम्पन्न जिनेन्द्र देव का अवर्णवाद—निन्दा करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

२०. जो दुष्टात्मा अनेक भव्य जीवों को न्यायमार्ग से भ्रष्ट करता है और न्यायमार्ग की द्वेषपूर्वक निन्दा करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

२१. जिन आचार्य या उपाध्यायों से श्रुत और आचार ग्रहण किया है, उनकी ही जो अवहेलना करता है, वह महामोहनीय कर्म का वन्ध करता है।

२२. जो व्यक्ति आचार्य उपाध्याय की सम्यक् प्रकार से सेवा नहीं करता है तथा उनका आदर-सत्कार नहीं करता है और अभिमान करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

२३. जो बहुश्रुत नहीं होते हुए भी अपने आपको बहुश्रुत, स्वाध्यायी और शास्त्रों के रहस्य का ज्ञाता कहता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

२४. जो तपस्वी नहीं होते हुए भी अपने आपको तपस्वी कहता है, वह इस विश्व में सबसे बड़ा चोर है, अतः वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

२५. जो समर्थ होते हुए भी रोगी की सेवा का महान् कार्य नहीं करता है अपितु 'मेरी इसने सेवा नहीं की है अतः मैं भी इसकी सेवा क्यों करूँ' इस प्रकार कहता है, वह महामूर्ख मायावी एवं मिथ्यात्वी कलुषितचित्त होकर अपनी आत्मा का अहित करता है, ऐसा व्यक्ति महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

२६. चतुर्विध संघ में मतभेद पैदा करने के लिए जो कलह के अनेक प्रसंग उपस्थित करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

२७. जो श्लाघा या मित्रगण के लिए अधार्मिक योग करके वशीकरणादि का बार-बार प्रयोग करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

२८. जो मानुषिक और दैवी भोगों की अतृप्ति से उनकी बार-बार अभिलाषा करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

२९. जो व्यक्ति देवों की ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण और बल-वीर्य का अवर्णवाद बोलता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

३०. जो अज्ञानी जिन देव की पूजा के समान अपनी पूजा का इच्छुक होकर देव, यक्ष और असुरों को नहीं देखता हुआ भी कहता है कि "मैं इन सबको देखता हूँ," वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

ये मोह से उत्पन्न होने वाले, अशुभ कर्म का फल देने वाले, चित्त की मलीनता को बढ़ाने वाले दोष कहे गये हैं। अतः भिक्षु इनका आचरण न करे, किन्तु आत्मगवेषी होकर विचरें।

भिक्षु पूर्व में किये हुए अपने कृत्याकृत्यों को जानकर उनका पूर्ण रूप से परित्याग करे और उन संयमस्थानों का सेवन करे, जिनसे कि वह आचारवान् बने।

जो भिक्षु पंचाचार के पालन से सुरक्षित है, शुद्धात्मा है और अनुत्तर धर्म में स्थित है, वह अपने दोषों को त्याग दे। जिस प्रकार 'आशिविष-सर्प', विष का वमन कर देता है।

इस प्रकार दोषों को त्यागकर शुद्धात्मा, धर्मार्थी, भिक्षु मोक्ष के स्वरूप को जानकर इस लोक में कीर्ति प्राप्त करता है, और परलोक में सुगति को प्राप्त होता है।

जो दृढ पराक्रमी, शूरवीर भिक्षु इन सभी स्थानों को जानकर उन मोहबन्ध के कारणों का त्याग कर देता है, वह जन्म-मरण का अतिक्रमण करता है, अर्थात् संसार से मुक्त हो जाता है।

विवेचन—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने साधु-साध्वियों को सम्बोधित कर महामोहनीय कर्मबंध के तीस स्थान कहे हैं। यद्यपि यतनापूर्वक व्यवहार करने वाला भिक्षु सामान्य पापकर्म का भी बंध नहीं करता है तथापि उसे महामोहनीय कर्मबंध के स्थानों का कथन किया गया है, जिसका प्रयोजन यह है कि साधना-पथ पर चलते हुए भी कभी कोई भिक्षु कषायों के वशीभूत होकर क्लेश, ममत्व, अभिमान और दुर्व्यवहार आदि दोषों से दूषित हो सकता है। अतः शासन के समस्त साधु-साध्वियों को लक्ष्य में रखकर भगवान् ने इन तीस महामोहनीय कर्मबंध-स्थानों का कथन किया है—

एक से छह स्थानों में क्रूरता युक्त हिंसक वृत्ति को,

सातवें स्थान में माया (कपट) को,

आठवें स्थान में असत्य आक्षेप लगाने को,

नवमें स्थान में न्याय के प्रसंग पर मिश्रभाषा के प्रयोग से कलहवृद्धि कराने को,

दसवें, पन्द्रहवे स्थान में विश्वासघात करने को,

ग्यारहवें, बारहवें, तेवीसवें, चौवीसवे और तीसवें स्थान में अपनी असत्य प्रशंसा करके दूसरों को धोखा देने की प्रवृत्ति को,

तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें स्थान में कृतघ्नता को,

सोलहवें, सत्रहवें स्थान में अनेकों के आधारभूत उपकारी पुरुष का घात करने को,

अठारहवें स्थान में धर्म से भ्रष्ट करने को,

उन्नीसवें स्थान में ज्ञानी (सर्वज्ञ) का अवर्णवाद (निन्दा) करने को,

बीसवें स्थान में न्यायमार्ग से विपरीत प्ररूपणा करने को,

इकवीसवें-बावीसवें स्थान में आचार्यादि की अविनय आशातना करने को,

पच्चीसवें स्थान में शक्ति होते हुए कषायवश निर्दय बनकर रोगी की सेवा न करने को,

छब्बीसवें स्थान में बुद्धि के दुरुपयोग से संघ में मतभेद पैदा करने को,

सत्तावीसवें स्थान में वशीकरण योग से किसी को परवश करके दुःखी करने को,

अट्ठावीसवें स्थान में अत्यधिक कामवासना को,

उनतीसवें स्थान में देवों का अवर्णवाद बोलने को महामोहनीय कर्मबंध का कारण कहा गया है।

मुमुक्षु साधक ऐसे कुकृत्यों को जानकर उनका त्याग करे। यदि पूर्व में इनका सेवन किया हो तो उनकी आलोचना आदि करके शुद्धि कर ले।

महामोहनीय कर्मबन्ध के इन स्थानों से विरत रहने वाला इस भव में यशस्वी होता है और परभव में सुगति प्राप्त करता है। □□

दसवीं दशा

भगवान् महावीर का राजगृह में आगमन

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था। वण्णओ। गुणसिलए चेइए। वण्णओ। रायगिहे नयरे सेणिए राया होत्था। रायवण्णओ जाव[1] चेलणाए सद्धि भोगे भुंजमाणे विहरइ। तए णं से सेणिए राया अण्णया कयाइ ण्हाए जाव[2] कप्परुक्खए चेव सुअलंकियविभूसिए णरिंदे। सकोरंट-मल्ल-दामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं जाव[3] ससिव्व पियदंसणे नरवई जेणेव बाहिरिया उवट्ठाण-साला, जेणेव सिंहासणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सिंहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहे निसीयइ, निसीइत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—

"गच्छह णं तुम्हे देवाणुप्पिया!" जाइं इमाइं रायगिहस्स णयरस्स बहिया आरामाणि य, उज्जाणाणि य, आएसणाणि य जाव[4] दब्भकम्मंताणि जे तत्थ महत्तरगा आणत्ता चिट्ठंति ते एवं वदह—

"एवं खलु देवाणुप्पिया! सेणिए राया भंभसारे आणवेइ—जया णं समणे भगवं महावीरे, आदिगरे, तित्थयरे जाव[5] संपाविउकामे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे, गामाणुगामं दूइज्जमाणे, सुहं सुहेणं विहरमाणे, संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे इहमागच्छेज्जा, तया णं तुम्हे भगवओ महावीरस्स अहापडिरूवं उग्गहं अणुजाणह, अहापडिरूवं उग्गहं अणुजाणेत्ता सेणियस्स रण्णो भंभसारस्स एयमट्ठं पियं णिवेदह।"

तए णं ते कोडुंबियपुरिसे सेणिएणं रन्ना भंभसारेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठ-तुट्ठ-चित्तमाणंदिया पीइमणा परमसोमणस्सिया हरिसवसविसप्पमाणहियया करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु—"एवं सामी! तह त्ति" आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेंति।

पडिसुणित्ता सेणियस्स रन्नो अंतियाओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमित्ता रायगिहं नयरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छंति, निग्गच्छित्ता जाइं इमाइं रायगिहस्स बहिया आरामाणि वा जाव जे तत्थ

---

१. उववाईसूत्र सु. ११
२. ज्ञाता. अ. १, सु. ४६, पृ. ९४ अंगसुत्ताणि
३. उववाईसूत्र सु. ४८
४. आचा. श्रु. २, अ. २, उ. २
५. उववाईसूत्र सु. १६

महत्तरगा आणत्ता चिट्ठंति, ते एवं वयंति जाव "सेणियस्स रन्नो एयमट्ठं पियं निवेदेज्जा, पियं भे भवतु" दोच्चंपि तच्चंपि एवं वदंति, वइत्ता जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे आइगरे तित्थयरे जाव गामाणुगामं दूइज्जमाणे जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

तए णं रायगिहे नयरे सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु महया जणसद्दे जाव[1] विणएणं पंजलिउडा पज्जुवासइ। तए णं महत्तरगा जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता नाम-गोयं पुच्छंति, नाम-गोयं पुच्छित्ता नाम-गोयं पधारेंति, पधारित्ता एगओ मिलंति एगओ मिलित्ता एगंतमवक्कमंति एगंतमवक्कमित्ता एवं वयासी—

"जस्स णं देवाणुप्पिया! सेणिए राया भंभसारे दंसणं कंखति, जस्स णं देवाणुप्पिया! सेणिए राया दंसणं पीहेति, जस्स णं देवाणुप्पिया! सेणिए राया दंसणं पत्थेति, जस्स णं देवाणुप्पिया! सेणिए राया दंसणं अभिलसति, जस्स णं देवाणुप्पिया! सेणिए राया नामगोत्तस्सवि सवणयाए जाव विसप्पमाणहियए भवति।

से णं समणे भगवं महावीरे आदिगरे तित्थयरे जाव सव्वण्णू सव्वदंसी पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे, गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहंसुहेणं विहरमाणे इह आगए, इह संपत्ते, इह समोसढे, इहेव रायगिहे नगरे बहिया गुणसिलए चेइए अहापडिरूवं ओग्गहं ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति।

तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया! सेणियस्स रण्णो एयमट्ठं निवेदेमो—"पियं भे भवतु" त्ति कट्टु अण्णमन्नस्स वयणं पडिसुणंति, पडिसुणित्ता जेणेव रायगिहे नयरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता रायगिह-नगरं मज्झंमज्झेणं जेणेव सेणियस्स रन्नो गिहे, जेणेव सेणिए राया, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सेणियं रायं करयलं परिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति, वद्धावित्ता एवं वयासी—

"जस्स णं सामी! दंसणं कंखति, जाव से णं समणे भगवं महावीरे गुणसिलए चेइए जाव विहरति। एयण्णं देवाणुप्पियाणं पियं निवेदेमो। पियं भे भवतु।"

उस काल और उस समय में राजगृह नाम का नगर था। नगर का विस्तृत वर्णन (उववाई-सूत्र से) जानना। उस नगर के बाहर गुणशील नाम का चैत्य (उद्यान) था। उद्यान का विस्तृत वर्णन (उववाईसूत्र से) जानना। उस राजगृह नगर में श्रेणिक नाम का राजा था। राजा का विस्तृत वर्णन (उववाईसूत्र से) जानना यावत् वह चेलणा महारानी के साथ परम सुखमय जीवन बिता रहा था। एक दिन श्रेणिक राजा ने स्नान किया यावत् कल्पवृक्ष के समान वह नरेन्द्र अलंकृत एवं

---

१. उववाईसूत्र सु. ३८

विभूषित होकर कोरण्टक पुष्पों की माला-युक्त छत्र धारण करके यावत् शशिसम प्रियदर्शी नरपति श्रेणिक जहां बाह्य उपस्थानशाला में सिंहासन था, वहां आया। पूर्वाभिमुख हो उस पर बैठा। बाद में अपने प्रमुख अधिकारियों को बुलाकर उसने इस प्रकार कहा—

"हे देवानुप्रियो! तुम जाओ। जो ये राजगृह नगर के बाहर आराम (लताओं से सुशोभित), उद्यान (पत्र-पुष्प-फलों से सुशोभित), शिल्पशालाएँ यावत् दर्भ के कारखाने हैं, इनमें जो मेरे आज्ञाकारी अधिकारी हैं—उन्हें इस प्रकार कहो—

"हे देवानुप्रियो! श्रेणिक राजा भंभसार ने यह आज्ञा दी है—'जब पंचयाम धर्म के प्रवर्तक अन्तिम तीर्थंकर यावत् सिद्धगति नाम वाले स्थान के इच्छुक श्रमण भगवान् महावीर क्रमशः चलते हुए, गांव-गांव घूमते हुए, सुखपूर्वक विहार करते हुए तथा संयम एवं तप से अपनी आत्म-साधना करते हुए आएँ, तब तुम भगवान् महावीर को उनकी साधना के उपयुक्त स्थान बताना और उन्हें उसमें ठहरने की आज्ञा देकर (भगवान् महावीर के यहां पधारने का) प्रिय संवाद मेरे पास पहुँचाना।"

तब वे प्रमुख राज्य-अधिकारी पुरुष श्रेणिक राजा भंभसार का उक्त कथन सुनकर हर्षित एवं परितुष्ट होते हैं, मन में आनन्द तथा प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, सौम्य मनोभाव व हर्षातिरेक से उनका हृदय खिल उठता है। उन्होंने हाथ जोड़कर सिर के आवर्तन कर अंजलि को मस्तक से लगाया और विनयपूर्वक राजा के आदेश को स्वीकार करते हुए निवेदन किया—

'हे स्वामिन्! आपके आदेशानुसार ही सब कुछ होगा।'

इस प्रकार श्रेणिक राजा की आज्ञा (उन्होंने) विनयपूर्वक सुनी, तदनन्तर वे राजप्रासाद से निकले। राजगृह के मध्य भाग से होते हुए वे नगर के बाहर गये। आराम यावत् घास के कारखानों में राजा श्रेणिक के आज्ञाधीन जो प्रमुख अधिकारी थे, उन्हें इस प्रकार कहा यावत् श्रेणिक राजा को यह (भगवान् महावीर के पधारने का) प्रिय संवाद कहें। (और कहें कि) आपके लिए यह संवाद प्रिय हो। दो-तीन बार इस प्रकार कहकर जिस दिशा से वे आये थे, उसी दिशा में चले गए।

उस काल और उस समय में पंचयामधर्म के प्रवर्तक तीर्थंकर भगवान् महावीर यावत् ग्रामानुग्राम विचरते हुए यावत् आत्म-साधना करते हुए गुणशील उद्यान में विचरने (रहने) लगे।

उस समय राजगृह नगर के त्रिकोण=तिराहे, चौराहे और चौक में चतुर्मुखी स्थानों में राजमार्गों में गलियों में कोलाहल होने लगा यावत् वे लोग हाथ जोड़कर विनयपूर्वक पर्युपासना करने लगे।

उस समय राजा श्रेणिक के प्रमुख अधिकारी जहां श्रमण भगवान् महावीर थे, वहां आये। उन्होंने श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार वन्दन-नमस्कार किया। नाम-गोत्र पूछकर स्मृति में धारण किया और एकत्रित होकर एकान्त स्थान में गए। वहां उन्होंने आपस में इस प्रकार बातचीत की—

"हे देवानुप्रियो! श्रेणिक राजा भंभसार जिनके दर्शन करना चाहता है, जिनके दर्शनों की इच्छा करता है, जिनके दर्शनों की प्रार्थना करता है, जिनके दर्शनों की अभिलाषा करता है, जिनके नाम-गोत्र-श्रवण करके भी यावत् हर्षित हृदय वाला होता है, ये पंचयामधर्म के प्रवर्तक तीर्थंकर

श्रमण भगवान् महावीर यावत् सर्वज्ञ सर्वदर्शी है। वे अनुक्रमशः सुखपूर्वक गांव-गांव घूमते हुए यह पधारे हैं, यहां विद्यमान हैं, यहां ठहरे हैं, यहां राजगृह नगर के बाहर गुणशील बगीचे में यथायोग अवग्रह ग्रहण कर संयम, तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विराजमान हैं।

"हे देवानुप्रियो ! चलें, श्रेणिक राजा को यह संवाद सुनाएँ और उन्हें कहें कि आपके लि यह संवाद प्रिय हो", इस प्रकार एक दूसरे ने ये वचन सुने। वहां से वे राजगृह नगर में आए। नग के बीच में होते हुए जहां श्रेणिक राजा का राजप्रासाद था और जहां श्रेणिक राजा था वहां वे आये श्रेणिक राजा को हाथ जोड़कर सिर के आवर्तन करके अंजलि को मस्तक से लगाकर जय-विज बोलते हुए बधाया और इस प्रकार कहा—

"हे स्वामिन् ! जिनके दर्शनों की आप इच्छा करते हैं यावत् वे श्रमण भगवान् महावी स्वामी गुणशील बगीचे में यावत् विराजित हैं—इसलिए हे देवानुप्रिय ! यह प्रिय संवाद आपक निवेदन कर रहे हैं। यह संवाद आपके लिये प्रिय हो।"

श्रेणिक का दर्शनार्थ गमन

तए णं से सेणिए राया तेसिं पुरिसाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म जाव विसप्पमाणहियए सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता ते पुरिसे सक्कारेइ सम्माणेइ, सक्कारित्ता सम्माणित्ता विउलं जीवियारिहं पीइदाणं दलयइ, दलइत्ता पडिविसज्जेति, पडिविसज्जित्ता नगरगुत्तियं सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—

"खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! रायगिहं नगरं सब्भितर-बाहिरियं आसिय-संमज्जियोवलित्तं" जाव कारयित्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि जाव पच्चप्पिणंति। तए णं से सेणिए राया बलवाउयं सद्दावेइ,[1] सद्दावेत्ता एवं वयासी—

"खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! हय-गय-रह-जोहकलियं चाउरंगिणिं सेणं सण्णाहेह।" जाव[2] से वि पच्चप्पिणइ।

तए णं से सेणिए राया जाण-सालियं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—

"भो देवाणुप्पिया ! खिप्पामेव धम्मियं जाणपवरं जुत्तामेव उवट्ठवेह, उवट्ठवित्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि।"

तए णं से जाणसालिए सेणियरन्ना एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ, जाव विसप्पमाणहियए जेणेव जाणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जाणसालं अणुप्पविसइ; अणुप्पविसित्ता जाणगं

१. यहां से इस वर्णन में श्रेणिक राजा सेनापति, यानशालिक, नगररक्षक आदि को अलग-अलग बुलाकर आदेश देता है किन्तु औपपातिकसूत्र के भगवान् महावीर के दर्शन की तैयारी के वर्णन में कोणिक राजा केवल सेनापति को बुलाकर आदेश देता है, वही सम्पूर्ण तैयारी करवाता है। यह दोनों सूत्रों के वर्णन संयोजन में अन्तर है।

२. उववाईसूत्र सु. ४०

पच्चुवेक्खइ, पच्चुवेक्खित्ता जाणं पच्चोरुभति, पच्चोरुभित्ता जाणगं संपमज्जति, संपमज्जित्ता जाणगं णीणेइ, णीणेत्ता जाणगं संवट्टेति, संवट्टेत्ता दूसं पवीणेति, पवीणेत्ता जाणगं समलंकरेइ, जाणगं समलंकरित्ता जाणगं वरमंडियं करेइ, करित्ता जेणेव वाहणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता वाहणसालं अणुप्पविसित्ता वाहणाइं पच्चुवेक्खइ, पच्चुवेक्खित्ता वाहणाइं संपमज्जइ, संपमज्जित्ता वाहणाइं अप्फालेइ, अप्फालेत्ता वाहणाइं णीणेइ, णीणेत्ता दूसे पवीणेइ, पवीणेत्ता वाहणाइं समलंकरेइ, समलंकरित्ता वराभरणमंडियाइं करेइ, करेत्ता वाहणाइं जाणगं जोएइ, जोएत्ता वट्टमग्गं गाहेइ, गाहित्ता पओद-लट्ठि पओद-धरे य सम्मं आरोहइ, आरोहइत्ता जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जाव एवं वयासी—

"जुत्ते ते सामी ! धम्मिए जाण-पवरे आदिट्ठे, भद्दं तव, आरुहाहि।"

तए णं सेणिए राया भंभसारे जाणसालियस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठे जाव मज्जणघरं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता जाव कप्परुक्खे चेव अलंकिए विभूसिए णरिंदे जाव मज्जणघराओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता जेणेव चेल्लणादेवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता चेल्लणादेविं एवं वयासी—

एवं खलु देवाणुप्पिए ! समणे भगवं महावीरे आइगरे तित्थयरे जाव पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे जाव संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

तं महप्फलं देवाणुप्पिए ! तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं णामगोयस्स वि सवणयाए, किमंग पुण अभिगमण वंदण णमंसण पडिपुच्छण पज्जुवासणयाए ? एगस्स वि आरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए, किमंग पुण विउलस्स अट्ठस्स गहणयाए। तं गच्छामो देवाणुप्पिए ! समणं भगवं महावीरं वंदामो, नमंसामो, सक्कारेमो, सम्माणेमो, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं पज्जुवासामो।

एतं णं इहभवे य परभवे य हियाए, सुहाए, खमाए, निस्सेयसाए, अणुगामियत्ताए भविस्सति।

तए णं सा चेल्लणादेवी सेणियस्स रन्नो अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठा जाव सेणियस्स रन्नो एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता मज्जणघरं अणुपविसइ जाव[1] महत्तरगविंद-परिक्खित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाण-साला, जेणेव सेणियराया, तेणेव उवागच्छइ।

तए णं से सेणियराया चेल्लणादेवीए सद्धिं धम्मियं जाणपवरं दुरुढे जाव[2] जेणेव गुणसीलए चेइए तेणेव उवागच्छइ जाव[3] पज्जुवासइ।

एवं चेल्लणा वि जाव[4] पज्जुवासइ।

---

१. उववाईसूत्र सु ४८
२-४. उववाईसूत्र सु. ४८-५४

तए णं समणे भगवं महावीरे सेणियस्स रन्नो भंभसारस्स, चेल्लणादेवीए, तीसे य महइ-महालयाए परिसाए, इसि-परिसाए, जइ-परिसाए, मुणि-परिसाए, मणुस्स-परिसाए, देव-परिसाए, अणेग-सयाए जाव धम्मो कहिओ। परिसा पडिगया। सेणियराया पडिगओ।

उस समय श्रेणिक राजा उन पुरुषों से यह संवाद सुनकर एवं अवधारण कर यावत् हर्षित हृदयवाला होकर सिंहासन से उठा।

श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन नमस्कार किया। तदनन्तर उन पुरुषों का सत्कार और सन्मान किया। फिर उन्हें प्रीतिपूर्वक आजीविका योग्य विपुल दान देकर विसर्जित किया। बाद में नगररक्षक को बुलाकर इस प्रकार कहा—

"हे देवानुप्रिय! राजगृह नगर को अन्दर और बाहर से परिमार्जित कर जल से सिञ्चित करो यावत् सिञ्चित कराकर मुझे सूचित करो यावत् वे सूचित करते हैं। उसके बाद राजा श्रेणिक ने सेनापति को बुलाकर इस प्रकार कहा—

"हे देवानुप्रिय! हाथी, घोड़े, रथ और पदाति योधागण—इन चार प्रकार की सेनाओं को सुसज्जित करो" यावत् वे सूचित करते हैं।

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा ने यानशाला के अधिकारी को बुलाकर इस प्रकार कहा—

"हे देवानुप्रिय! श्रेष्ठ धार्मिक रथ को तैयार कर यहां उपस्थित करो और मेरी आज्ञानुसार हुए कार्य की मुझे सूचना दो।"

उस समय यानशाला का प्रबन्धक श्रेणिक राजा के इस प्रकार कहने पर यावत् हर्षित हृदय वाला होकर जहां यानशाला थी वहां आया। उसने यानशाला में प्रवेश किया। यान (रथ) को देखा। यान को नीचे उतारा, प्रमार्जन किया। बाहर निकाला। एक स्थान पर स्थित किया और उस पर ढँके हुए वस्त्र को दूर कर यान को अलंकृत किया एवं सुशोभित किया। बाद में जहां वाहनशाला थी वहां आया। वाहनशाला में प्रवेश किया, वाहनों (बैलों) को देखा। उनका प्रमार्जन किया। उन पर बार-बार हाथ फेरे। उन्हें बाहर लाया। उन पर ढँके वस्त्र को दूर कर उन्हें अलंकृत किया एवं आभूषणों से मण्डित किया। उन्हें यान से जोड़ कर रथ को राजमार्ग पर लाया। चाबुक हाथ में लिए हुए सारथी के साथ यान पर बैठा। वहां से वह जहां श्रेणिक राजा था, वहां आया। हाथ जोड़कर यावत् इस प्रकार कहा—

"स्वामिन्! श्रेष्ठ धार्मिक यान तैयार करने के लिए आपने आदेश दिया था—वह यान (रथ) तैयार है। यह यान आपके लिए कल्याणकर हो। आप इस पर बैठें।"

उस समय श्रेणिक राजा भंभसार यानशाला के अधिकारी से श्रेष्ठ धार्मिक रथ ले आने का संवाद सुनकर एवं अवधारण कर हृदय में हर्षित एवं संतुष्ट हुआ यावत् (उसने) स्नानघर में प्रवेश किया। यावत् कल्पवृक्ष के समान अलंकृत एवं विभूषित वह श्रेणिक नरेन्द्र यावत् स्नानघर से निकला। जहां चेलणादेवी (महारानी) थी—वहां आया। उसने चेलणादेवी को इस प्रकार कहा—

"हे देवानुप्रिये! पंचयामधर्म के प्रवर्तक तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर यावत् अनुक्रम से चलते हुए यावत् संयम और तप से आत्म-साधना करते हुए (गुणशीलचैत्य में) विराजित हैं।"

हे देवानुप्रिये ! संयम और तप के मूर्तरूप अरहंतों के नाम-गोत्र श्रवण करने का ही महाफल होता है तो उनके दर्शन करने के लिए जाना, वन्दन-नमस्कार करना, सुख-साता पूछना, पर्युपासना करना, एक भी धार्मिक वचन सुनना और विपुल अर्थ ग्रहण करने के फल का तो कहना ही क्या है अर्थात् महाफलदायी होता है।

इसलिए हे देवानुप्रिये ! चलें, श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करें, उनका सत्कार-सम्मान करें, वे कल्याणरूप हैं, मंगलरूप हैं, देवाधिदेव है, ज्ञान के मूर्तरूप हैं, उनकी पर्युपासना करें।

उनकी यह पर्युपासना इहभव और परभव में हितकर, सुखकर, क्षेमकर, मोक्षप्रद और भव-भव में मार्गदर्शक रहेगी।

उस समय वह चेलणादेवी श्रेणिक राजा से यह संवाद सुनकर एवं धारण कर हर्षित एवं संतुष्ट हो यावत् उसने श्रेणिक राजा के उन वचनों को विनयपूर्वक स्वीकार किया। फिर जहां स्नानगृह था वहां आकर स्नानगृह में प्रवेश किया यावत् महत्तरावृंद (दासियों) से वेष्टित होकर बाह्य उपस्थानशाला में श्रेणिक राजा के समीप आई।

उस समय श्रेणिक राजा चेलणादेवी के साथ श्रेष्ठ धार्मिक रथ में बैठा यावत् गुणशील बगीचे में आया यावत् पर्युपासना करने लगा।

इसी प्रकार चेलणादेवी भी यावत् पर्युपासना करने लगी।

उस समय श्रमण भगवान् महावीर ने ऋषि, यति, मुनि, मनुष्य और देवों की महापरिषद् में श्रेणिक राजा भंभसार एवं चेलणादेवी को यावत् धर्म कहा। परिषद् गई और राजा श्रेणिक भी गया।

साधु-साध्वियों का निदान-संकल्प

तत्थ णं एगइयाणं निग्गंथाणं निग्गंथीण य सेणियं रायं चेल्लणं च देविं पासित्ताणं इमेयारूवे अज्झत्थिए, चिंतिए, पत्थिए, मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—अहो णं सेणिए राया महिड्ढिए जाव महासुक्खे, जे णं ण्हाए जाव सव्वालंकार-विभूसिए, चेल्लणा देवीए सद्धिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगाइं भुंजमाणे विहरति। न मे दिट्ठा देवलोगंसि, सक्खं खलु अयं देवे। जइ इमस्स सुचरियस्स तव-नियम-बंभचेरवासस्स कल्लाणे फल-वित्तिविसेसे अत्थि, तं वयमवि आगमेस्साइं इमाइं एयारूवाइं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगाइं भुंजमाणा विहरामो, से तं साहू।

"अहो णं चेल्लणादेवी महिड्ढिया जाव महासुक्खा जा णं ण्हाया जाव सव्वालंकारविभूसिया सेणिएणं रण्णा सद्धिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगाइं भुंजमाणी विहरइ। न मे दिट्ठाओ देवीओ देवलोगंसि, सक्खा खलु इमा देवी। जइ इमस्स सुचरियस्स तव-नियम-बंभचेरवासस्स कल्लाणे फल-वित्तिविसेसे अत्थि।

तं वयमवि आगमिस्साइं इमाइं एयारूवाइं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगाइं भुंजमाणीओ विहरामो, से तं साहू।

"अज्जो" त्ति समणे भगवं महावीरे ते बहवे निग्गंथा निग्गंथीओ य आमंतेत्ता एवं वयासी—

प्र०—"सेणियं रायं, चेल्लणादेविं पासित्ता इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—अहो णं सेणिए राया महिड्ढिए जाव से तं साहू; अहो णं चेल्लणा देवी महिड्ढिया जाव से तं साहू। से णूणं अज्जो! अत्थे समट्ठे ?"

उ०—हंता, अत्थि।

यहां (गुणशीलचैत्य में) श्रेणिक राजा और चेलणादेवी को देखकर कुछ निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के मन में इस प्रकार का अध्यवसाय, चिंतन, चाहना और मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ—

"अहो! यह श्रेणिक राजा महान् ऋद्धि वाला यावत् बहुत सुखी है। यह स्नान करके यावत् सर्वालंकारों से विभूषित होकर चेलणादेवी के साथ मानुषिक भोग भोग रहा है। हमने देवलोक के देव देखे नहीं हैं। हमारे सामने तो यही साक्षात् देव है। यदि चारित्र, तप, नियम, ब्रह्मचर्य-पालन एवं त्रिगुप्ति की सम्यक् प्रकार से की गई आराधना का कोई कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो हम भी भविष्य में इस प्रकार के अभिलषित मानुषिक भोग भोगें तो श्रेष्ठ होगा।"

"अहो! यह चेलणादेवी महान् ऋद्धिवाली है यावत् बहुत सुखी है। यह स्नान करके यावत् सभी अलंकारों से विभूषित होकर श्रेणिक राजा के साथ मानुषिक भोग भोग रही है। हमने देवलोक की देवियां नहीं देखी हैं। हमारे सामने तो यही साक्षात् देवी है। यदि चारित्र, तप, नियम एवं ब्रह्मचर्य-पालन का कुछ विशिष्ट फल हो तो हम भी भविष्य में ऐसे ही मानुषिक भोग भोगें तो श्रेष्ठ होगा।"

श्रमण भगवान् महावीर ने बहुत से निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को आमन्त्रित कर इस प्रकार कहा—

प्र०—"आर्यो! श्रेणिक राजा और चेलणादेवी को देखकर इस प्रकार के अध्यवसाय यावत् विचार उत्पन्न हुए—'अहो! श्रेणिक राजा महर्द्धिक है यावत् तो यह श्रेष्ठ होगा।' अहो चेलणादेवी महर्द्धिक है यावत् तो यह श्रेष्ठ होगा।' हे आर्यो! यह वृत्तान्त यथार्थ है ?

उ०—हां भगवन्! यह वृत्तान्त यथार्थ है।

निर्ग्रन्थ का मनुष्यसम्बन्धी भोगों के लिए निदान करना

एवं खलु समणाउसो! मए धम्मे पण्णत्ते, इणमेव निग्गंथे पावयणे सच्चे, अणुत्तरे, पडिपुण्णे, केवले, संसुद्धे, णेआउए, सल्लकत्तणे, सिद्धिमग्गे, मुत्तिमग्गे, निज्जाणमग्गे, निव्वाणमग्गे, अवितहमविसंधी, सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे।

इत्थं ठिया जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

जस्स णं धम्मस्स निग्गंथे सिक्खाए उवट्ठिए विहरमाणे, पुरा दिगिंछाए, पुरा पिवासाए, पुरा सीतातवेहिं, पुरा पुट्ठेहिं विरूवरूवेहिं परीसहोवसग्गेहिं उदिण्णकामजाए यावि विहरेज्जा से य परक्कमेज्जा, से य परक्कममाणे पासेज्जा—जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया भोगपुत्ता महामाउया।

पावुदान जी महावीर कुमार बोथरा

तेसिं णं अण्णयरस्स अतिजायमाणस्स वा निज्जायमाणस्स वा पुरओ महं दासी-दास-किंकर-कम्मकर-पुरिसा छत्तं भिंगारं गहाय निग्गच्छंति।

तयाणंतरं च णं पुरओ महाआसा आसवरा, उभओ तेसिं नागा नागवरा, पिट्ठओ रहा रहवरा, रहसंगेल्लिपुरिस पदाति परिक्खित्तं।

से य उद्धरिय-सेय-छत्ते, अब्भुग्गये भिंगारे, पग्गहिय तालियंटे, पवीयमाण-सेय-चामर-बालवीयणीए।

अभिक्खणं-अभिक्खणं अतिजाइ य निज्जाइ य सप्पभा।

सपुव्वावरं च णं ण्हाए जाव[1] सव्वालंकारविभूसिए, महति महालियाए कूडागारसालाए, महति महालयंसि सयणिज्जंसि दुहओ उण्णते मज्झे णतगंभीरे वण्णओ सव्वरातिणिएणं जोइणा झियायमाणेणं, इत्थिगुम्मपरिवुडे महयाहत-नट्ट-गीय-वाइय-तंती-तल-ताल-तुडिय-घण-मुइंग-मुद्दल-पडुप्पवाइयरवेणं उरालाइं माणुस्सगाइं कामभोगाइं भुंजमाणे विहरति।

तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति—

"भण देवाणुप्पिया! किं करेमो? किं उवणेमो? किं आहरेमो? किं आचिट्ठामो? किं भे हियइच्छियं? किं ते आसगस्स सदति?"

जं पासित्ता णिग्गंथे णिदाणं करेइ—

"जइ इमस्स सुचरियतवनियमबंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, तं अहमवि आगमिस्साए इमाइं एयारूवाइं उरालाइं माणुस्सगाइं कामभोगाइं भुंजमाणे विहरामि—से तं साहू।"

एवं खलु समणाउसो! निग्गंथे णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय-अप्पडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति महड्ढिएसु महज्जुइएसु महब्बलेसु महायसेसु महासुक्खेसु महाणुभागेसु दूरगईसु चिरट्ठितिएसु।

से णं तत्थ देवे भवइ महड्ढिए जाव[2] दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणे विहरइ जाव[3] से णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं, भवक्खएणं, ठिइक्खएणं, अणंतरं चयं चइत्ता से जे इमे भवंति उग्गपुत्ता महामाउया भोगपुत्ता महामाउया, तेसिं णं अन्नयरंसि कुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाति।

से णं तत्थ दारए भवइ, सुकुमालपाणिपाए, अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरे, लक्खण-वंजण-गुणोववेए, ससिसोमागारे, कंते, पियदंसणे, सुरूवे।

तए णं से दारए उम्मुक्कबालभावे, विण्णाणपरिणयमित्ते, जोव्वणगमणुप्पत्ते सयमेव पेइयं दायं पडिवज्जति।

---

१. ज्ञाता. अ. १, सु. ४७, पृ. २० (अंगसुत्ताणि)
२. ठाणं. अ. ८, सु. १०
३. ठाणं. अ. ८, सु. १०

तस्स णं अतिजायमाणस्स वा, णिज्जायमाणस्स वा, पुरओ महं दासीदासकिंकरकम्मकर-पुरिसा छत्तं भिंगारं गहाय निगच्छंति जाव[1] तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति—'भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो जाव[2] किं ते आसगस्स सदति ?'

प०—तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहारूवे समणे वा माहणे वा उभओ कालं केवलिपण्णत्तं धम्ममाइक्खेज्जा ?

उ०—हंता ! आइक्खेज्जा।

प०—से णं पडिसुणेज्जा।

उ०—णो इणट्ठे समट्ठे। अभविए णं से तस्स धम्मस्स सवणयाए।

से य भवइ महिच्छे जाव दाहिणगामी नेरइए कण्हपक्खिए, आगमिस्साए दुल्लहबोहिए यावि भवइ।

तं एवं खलु समणाउसो ! तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे जं णो संचाएइ केवलिपण्णत्तं धम्मं पडिसुणित्तए।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैंने धर्म का निरूपण किया है। यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है, श्रेष्ठ है, प्रतिपूर्ण है, अद्वितीय है, शुद्ध है, न्यायसंगत है, शल्यों का संहार करने वाला है, सिद्धि, मुक्ति, निर्याण एवं निर्वाण का यही मार्ग है, यही यथार्थ है, सदा शाश्वत है और सब दुःखों से मुक्त होने का यही मार्ग है।

इस सर्वज्ञप्रज्ञप्त धर्म के आराधक सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त होते हैं और सब दुःखों का अन्त करते हैं।

इस धर्म की आराधना के लिए उपस्थित होकर आराधना करते हुए निर्ग्रन्थ के भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि अनेक परीषह-उपसर्गों से पीड़ित होने पर कामवासना का प्रबल उदय हो जाए और साथ ही संयमसाधना में विचरण करते हुए वह विशुद्ध मातृ-पितृ पक्ष वाले उग्रवंशीय या भोगवंशीय राजकुमार को देखे।

उनमें से किसी के घर में प्रवेश करते या निकलते समय छत्र, झारी आदि ग्रहण किये हुए अनेक दास-दासी किंकर और कर्मकर पुरुष आगे-आगे चलते हैं।

उसके बाद उस राजकुमार के आगे उत्तम अश्व, दोनों ओर गजराज और पीछे-पीछे श्रेष्ठ सुसज्जित रथ चलते हैं और वह अनेक पैदल चलने वाले पुरुषों से घिरा रहता है। जो कि श्वेत छत्र ऊँचा उठाये हुए, झारी लिये हुए, ताडपत्र का पंखा लिए, श्वेत चामर डुलाते हुए चलते हैं। इस प्रकार के वैभव से वह बारम्बार गमनागमन करता है।

वह राजकुमार यथासमय स्नान कर यावत् सब अलंकारों से विभूषित होकर विशाल कूटागारशाला (राजप्रासाद) में दोनों किनारों से उन्नत और मध्य में अवनत एवं गम्भीर (इत्यादि शय्यावर्णन जानना चाहिये।) ऐसे सर्वोच्च शयनीय में सारी रात दीपज्योति जगमगाते हुए

1. इसी निदान में।
2. इसी निदान में।

वनितावृन्द से घिरा हुआ कुशल नर्तकों का नृत्य देखता है, गायकों का गीत सुनता है और वाद्यंत्र, तंत्री, तल-ताल, त्रुटित, घन, मृदंग, मादल आदि महान् शब्द करने वाले वाद्यों की मधुर ध्वनियां सुनता है। इस प्रकार वह उत्तम मानुषिक कामभोगों को भोगता हुआ रहता है।

उसके द्वारा किसी एक को बुलाये जाने पर चार-पांच सेवक बिना बुलाये ही उपस्थित हो जाते हैं और वे पूछते हैं कि

'हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करें ? क्या लावें ? क्या अर्पण करें और क्या आचरण करें ? आपकी हार्दिक अभिलाषा क्या है ? आपके मुख को कौन-से पदार्थ स्वादिष्ट लगते हैं ?'

उसे देखकर निर्ग्रन्थ निदान करता है कि

'यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे तप, नियम एवं ब्रह्मचर्यपालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी आगामी काल में इस प्रकार से उत्तम मनुष्य सम्बन्धी काम-भोगों को भोगते हुए विचरण करूं तो अच्छा होगा।'

हे आयुष्मन् श्रमणो ! वह निर्ग्रन्थ निदान करके उस निदान सम्बन्धी संकल्पों की आलोचना एवं प्रतिक्रमण किये बिना जीवन के अन्तिम क्षणों में देह छोड़कर महान् ऋद्धि वाले, महाद्युति वाले, महाबल वाले, महायश वाले, महासुख वाले, महाप्रभा वाले, दूर जाने की शक्ति वाले, लम्बी स्थिति वाले किसी देवलोक में देव रूप में उत्पन्न होता है।

वह वहां महर्धिक देव होता है यावत् देव सम्बन्धी भोगों को भोगता हुआ विचरता है यावत् वह आयु, भव और स्थिति के क्षय होने से उस देवलोक से च्यव कर शुद्ध मातृ-पितृपक्ष वाले उग्रकुल या भोगकुल में से किसी एक कुल में पुत्र रूप में उत्पन्न होता है।

वहां वह बालक सुकुमार हाथ-पैर वाला, शरीर तथा पांचों इन्द्रियों से प्रतिपूर्ण, शुभ लक्षण-व्यंजन-गुणों से युक्त, चन्द्रमा के समान सौम्य, कांतिप्रिय दर्शन वाला और सुन्दर रूप वाला होता है।

बाल्यकाल बीतने पर तथा विज्ञान की वृद्धि होने पर वह बालक यौवन को प्राप्त होता है। उस समय वह स्वयं पैतृक सम्पत्ति को प्राप्त कर लेता है।

उसके कहीं जाते समय या आते समय आगे छत्र, झारी आदि लेकर अनेक दासी-दास-नौकर-चाकर चलते हैं यावत् एक को बुलाने पर उसके सामने चार पांच बिना बुलाये ही आकर खड़े हो जाते हैं और पूछते हैं कि—'हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करें यावत् आपके मुख को कौन से पदार्थ अच्छे लगते हैं ?'

प्र०—इस प्रकार की ऋद्धि से युक्त उस पुरुष को तप-संयम के मूर्तरूप श्रमण माहण उभयकाल केवलिप्ररूपित धर्म कहते हैं ?

उ०—हां कहते हैं।

प्र०—क्या वह सुनता है ?

उ०—यह सम्भव नहीं है, क्योंकि वह उस धर्मश्रवण के योग्य नहीं है।

वह महाइच्छाओं वाला यावत् दक्षिणदिशावर्ती नरक में कृष्णपाक्षिक नैरयिक रूप में उत्पन्न होता है तथा भविष्य में उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति भी दुर्लभ होती है।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! उस निदानशल्य का यह पापकारी परिणाम है कि वह केवलिप्रज्ञप्त धर्म का श्रवण भी नहीं कर सकता है।

निर्ग्रन्थी का मनुष्यसम्बन्धी भोगों के लिये निदान करना

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते, इणमेव निग्गंथे पावयणे सच्चे जाव[1] सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति।

जस्स णं धम्मस्स निग्गंथी सिक्खाए उवट्ठिया विहरमाणी जाव[2] पासेज्जा से जा इमा इत्थिया भवइ—एगा, एगजाया, एगाभरणपिहाणा, तेल्ल-पेला इव सुसंगोपिता, चेल-पेला इव सुसंपरिग्गहिया, रयणकरंडकसमाणी।

तीसे णं अतिजायमाणीए वा, निज्जायमाणीए वा, पुरओ महं दासी-दास-किंकर-कम्मकर-पुरिसा छत्तं भिंगारं गहाय निग्गच्छंति जाव[3] तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव[4] चत्तारि पंच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति, "भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो जाव[5] किं ते आसगस्स सदति ?"

जं पासित्ता निग्गंथी णिदाणं करेति—

"जइ इमस्स सुचरियतवनियमबंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, तं अहमवि आगमिस्साए इमाइं एयारूवाइं उरालाइं माणुस्सगाइं कामभोगाइं भुंजमाणी विहरामि—से तं साहू।"

एवं खलु समणाउसो ! निग्गंथी णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय अप्पडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारा भवइ जाव[6] दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणी विहरति जाव[7] सा णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं, भवक्खएणं, ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता जे इमे भवंति उग्गपुत्ता महामाउया भोगपुत्ता महामाउया एतेसिं णं अण्णयरंसि कुलंसि दारियत्ताए पच्चायाति।

सा णं तत्थ दारिया भवइ सुकुमाला जाव[8] सुरूवा।

तए णं तं दारियं अम्मापियरो उम्मुक्कबालभावं, विण्णायपरिणयमित्तं, जोव्वणगमणुप्पत्तं, पडिरूवेणं सुक्केणं पडिरूवस्स भत्तारस्स भारियत्ताए दलयंति।

सा णं तस्स भारिया भवइ एगा, एगजाया, इट्ठा, कंता, पिया, मणुण्णा, मणामा, धेज्जा, वेसासिया, सम्मया, बहुमया, अणुमया रयणकरंडगसमाणा।

तीसे णं अतिजायमाणीए वा, निज्जायमाणीए वा पुरतो महं दासी-दास-किंकर-कम्मकर पुरिसा छत्तं, भिंगारं गहाय निग्गच्छंति जाव[9] तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति—"भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो जाव[10] किं ते आसगस्स सदति ?"

---

१. सूत्र. श्रु. २. अ. २, सूत्र ६८-६९ (अनुसार)

२-१०. प्रथम निदान में देखें।

प०—तीसे णं तहप्पगाराए इत्थियाए तहारूवे समणे वा माहणे वा उभयकालं केवलिपण्णत्तं धम्मं आइक्खेज्जा ?

उ०—हंता ! आइक्खेज्जा।

प०—सा णं पडिसुणेज्जा ?

उ०—णो इणट्ठे समट्ठे। अभविया णं सा तस्स धम्मस्स सवणयाए।

सा य भवति महिच्छा जाव[1] दाहिणगामिए णेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साए दुल्लभबोहिया यावि भवइ।

एवं खलु समणाउसो ! तस्स नियाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे जं णो संचाएति केवलिपण्णत्तं धम्मं पडिसुणित्तए।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैंने धर्म का प्रतिपादन किया है। यही निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है यावत् सब दुःखों का अन्त करते हैं।

इस धर्म की आराधना के लिए उपस्थित होकर आराधना करती हुई निर्ग्रन्थी यावत् एक ऐसी स्त्री को देखती है जो अपने पति की केवल एकमात्र प्राणप्रिया है। वह एक सरीखे (स्वर्ण के या रत्नों के) आभरण एवं वस्त्र पहने हुई है तथा तेल की कुप्पी, वस्त्रों की पेटी एवं रत्नों के करंडिये के समान संरक्षणीय है और संग्रहणीय है।

प्रासाद में आते-जाते हुए उसके आगे छत्र, झारी लेकर अनेक दासी-दास-नौकर-चाकर चलते हैं यावत् एक को बुलाने पर उसके सामने चार-पांच बिना बुलाये ही आकर खड़े हो जाते हैं और पूछते हैं—"हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करें ? यावत् आपके मुख को कौनसे पदार्थ अच्छे लगते हैं ?

उसे देखकर निर्ग्रन्थी निदान करती है कि

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे तप, नियम एवं ब्रह्मचर्यपालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी आगामी काल में इस प्रकार के उत्तम मनुष्य सम्बन्धी कामभोगों को भोगते हुए विचरण करूं तो यह श्रेष्ठ होगा।"

हे आयुष्मन् श्रमणो ! वह निर्ग्रन्थी निदान करके उस निदान की आलोचना एवं प्रतिक्रमण किये बिना जीवन के अन्तिम क्षणों में देह त्याग कर किसी एक देवलोक में देव रूप में उत्पन्न होती है यावत् दिव्य भोग भोगती हुई रहती है यावत् आयु, भव और स्थिति का क्षय होने पर वह उस देवलोक से च्यव कर विशुद्ध मातृ-पितृपक्ष वाले उग्रवंशी या भोगवंशी कुल में से किसी एक कुल में बालिका रूप में उत्पन्न होती है।

वहां वह बालिका सुकुमार यावत् सुरूप होती है।

उसके बाल्यभाव से मुक्त होने पर तथा विज्ञानपरिणत एवं यौवनवय प्राप्त होने पर उसे उसके माता-पिता उस जैसे सुन्दर एवं योग्य पति को अनुरूप दहेज के साथ पत्नी रूप में देते हैं।

1. प्रथम निदान में देखें।

वह उस पति की इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, अतीव मनोहर, धैर्य का स्थान, विश्वासपात्र, सम्मत, बहुमत, अनुमत (अतीव मान्य) रत्नकरण्डक के समान केवल एक भार्या होती है।

आते-जाते उसके आगे छत्र, झारी लेकर अनेक दासी-दास, नौकर-चाकर चलते हैं यावत् एक को बुलाने पर उसके सामने चार-पांच बिना बुलाये ही आकर खड़े हो जाते हैं और पूछते हैं कि 'हे देवानुप्रिये ! कहो हम क्या करें ? यावत् आपके मुख को कौन-से पदार्थ अच्छे लगते हैं ?"

प्र०—क्या उस ऋद्धिसम्पन्न स्त्री को तप-संयम के मूर्तरूप श्रमण-माहण उभयकाल केवलि-प्रज्ञप्त धर्म कहते हैं ?

उ०—हां कहते है।

प्र०—क्या वह (श्रद्धापूर्वक) सुनती है ?

उ०—यह सम्भव नहीं है, क्योंकि वह उस धर्मश्रवण के लिये अयोग्य है।

वह उत्कृष्ट अभिलाषाओं वाली यावत् दक्षिणदिशावर्ती नरक में कृष्णपाक्षिक नैरयिक रूप में उत्पन्न होती है तथा भविष्य में उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति भी दुर्लभ होती है।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! उस निदानशल्य का यह पापकारी परिणाम है कि वह केवलिप्रज्ञप्त धर्म का श्रवण भी नहीं कर सकती है।

निर्ग्रन्थ का स्त्रीत्व के लिये निदान करना

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते, इणमेव निग्गंथे पावयणे सच्चे जाव[1] सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति।

जस्स णं धम्मस्स सिक्खाए निग्गंथे उवट्ठिए विहरमाणे जाव[2] पासेज्जा—से जा इमा इत्थिया भवति—एगा, एगजाया जाव[3] जं पासित्ता निग्गंथे निदाणं करेंति—

दुक्खं खलु पुमत्तणए,

जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया, भोगपुत्ता महामाउया, एतेसिं णं अण्णतरेसु उच्चावएसु महासमर-संगामेसु उच्चावयाइं सत्थाइं उरंसि चेव पडिसंवेदेंति। तं दुक्खं खलु पुमत्तणए, इत्थित्तणयं साहु।

"जइ इमस्स सुचरियतवनियमबंभचेरवासस्स फलवित्तिविसेसे अत्थि, तं अहमवि आगमेस्साए इमाइं एयारूवाइं उरालाइं इत्थिभोगाइं भुंजमाणे विहरामि—से तं साहु।"

एवं खलु समणाउसो ! निग्गंथे णियाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय-अपडिक्कंते जाव[4] आगमेस्साए दुल्लहबोहिए यावि भवइ।

एवं खलु समणाउसो ! तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे जं णो संचाएइ केवलिपण्णत्तं धम्मं पडिसुणित्तए।

१-३. प्रथम निदान में देखें।

४. द्वितीय निदान में देखें।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैंने धर्म का निरूपण किया है। यही निर्ग्रन्थ-प्रवचन सत्य है यावत् सब दुःखों का अन्त करते हैं।

कोई निर्ग्रन्थ केवलिप्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए उपस्थित हो विचरते हुए यावत् एक स्त्री को देखता है—जो अपने पति की केवल एकमात्र प्राणप्रिया है यावत् निर्ग्रन्थ उस स्त्री को देखकर निदान करता है—

"पुरुष का जीवन दुःखमय है,

क्योंकि जो ये विशुद्ध मातृ-पितृपक्ष वाले उग्रवंशी या भोगवंशी पुरुष हैं, वे किसी छोटे-बड़े युद्ध में जाते हैं और छोटे-बड़े शस्त्रों का प्रहार वक्षस्थल में लगने पर वेदना से व्यथित होते हैं। अतः पुरुष का जीवन दुःखमय है और स्त्री का जीवन सुखमय है।

यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप-नियम एवं ब्रह्मचर्यपालन का विशिष्ट फल हो तो मैं भी भविष्य में स्त्री सम्बन्धी इन उत्तम भोगों को भोगता हुआ विचरण करूं तो यह श्रेष्ठ होगा।"

हे आयुष्मन् श्रमणो ! वह निर्ग्रन्थ निदान करके उसकी आलोचना प्रतिक्रमण किये बिना यावत् उसे आगामी काल में सम्यक्त्व की प्राप्ति भी दुर्लभ होती है।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! उस निदान का यह पापकारी परिणाम है कि वह केवलिप्ररूपित धर्म को नहीं सुन सकता है।

निर्ग्रन्थी का पुरुषत्व के लिये निदान करना

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते, इणमेव णिग्गंथे पावयणे सच्चे जाव[1] सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति।

जस्स णं धम्मस्स निग्गंथी सिक्खाए उवट्ठिया विहरमाणी जाव[2] पासेज्जा जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया भोगपुत्ता महामाउया जाव[3] जं पासित्ता निग्गंथी णिदाणं करेंति—

"दुक्खं खलु इत्थित्तणए,

दुस्संचराइं गामंतराइं जाव[4] सन्निवेसंतराइं।

से जहानामए अंबपेसियाइ वा, मातुलिंगपेसियाइ वा, अंबाडगपेसियाइ वा, उच्छुखंडियाइ वा, संबलिफालियाइ वा बहुजणस्स आसायणिज्जा, पत्थणिज्जा, पीहणिज्जा, अभिलसणिज्जा।

एवामेव इत्थिया वि बहुजणस्स आसायणिज्जा जाव[5] अभिलसणिज्जा तं दुक्खं खलु इत्थित्तणए, पुमत्तणए णं साहू।"

---

१. प्रथम निदान में देखें।
२. प्रथम निदान में देखें।
३. आ. श्रु. २, अ. १, उ. २, सु. ३३८
४. इसी निदान में देखें।
५. प्रथम निदान में देखें।

"जइ इमस्स सुचरियतवनियमबंभचेरवासस्स फलवित्तिविसेसे अत्थि, तं अहमवि आगमेस्साए इमाइं एयारूवाइं उरालाइं पुरिसभोगाइं भुंजमाणी विहरामि—से तं साहु।"

एवं खलु समणाउसो! णिग्गंथी णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइयअप्पडिक्कंता जाव[1] दुल्लहबोहिया यावि भवइ।

एवं खलु समणाउसो! तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे, जं नो संचाएइ केवलिपण्णत्तं धम्मं पडिसुणित्तए।

हे आयुष्मन् श्रमणो! मैंने धर्म का प्रतिपादन किया है। यही निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है यावत् सब दुःखों का अन्त करते हैं।

उस केवलिप्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए कोई निर्ग्रन्थी उपस्थित होकर विचरती हुई यावत् एक पुरुष को देखती है जो कि विशुद्ध मातृ-पितृपक्ष वाला उग्रवंशी या भोगवंशी है यावत् उसे देखकर निर्ग्रन्थी निदान करती है कि—

"स्त्री का जीवन दुःखमय है, वह क्योंकि किसी अन्य गांव को यावत् अन्य सन्निवेश को अकेली स्त्री नहीं जा सकती है।

जिस प्रकार आम, बिजोरा या आम्रातक की फांकें, इक्षु-खण्ड और शाल्मलि की फलियां अनेक मनुष्यों के लिए आस्वादनीय, प्रार्थनीय, इच्छनीय और अभिलषणीय होती हैं, इसी प्रकार स्त्री का शरीर भी अनेक मनुष्यों के लिए आस्वादनीय यावत् अभिलषणीय होता है। इसलिए स्त्री का जीवन दुःखमय है और पुरुष का जीवन सुखमय है।"

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे तप, नियम एवं ब्रह्मचर्यपालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी आगामी काल में इस प्रकार के उत्तम पुरुष सम्बन्धी कामभोगों को भोगते हुए विचरण करूं तो यह श्रेष्ठ होगा।"

इस प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो! वह निर्ग्रन्थी निदान करके उसकी आलोचना, प्रतिक्रमण किये बिना यावत् उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति भी दुर्लभ होती है।

हे आयुष्मन् श्रमणो! उस निदान का यह पापकारी परिणाम है कि वह केवलिप्रज्ञप्त धर्म का श्रवण भी नहीं कर सकता है।

५. निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी द्वारा परदेवी-परिचारणा का निदान करना

एवं खलु समणाउसो! मए धम्मे पण्णत्ते, इणमेव निग्गंथे पावयणे सच्चे जाव[1] सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

जस्स णं धम्मस्स निग्गंथो वा निग्गंथी वा सिक्खाए उवट्ठिए विहरमाणे जाव[2] से य परक्कममाणे माणुस्सेहिं कामभोगेहिं निव्वेयं गच्छेज्जा—

माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा, अणितिया, असासया, सडणपडणविद्धंसणधम्मा।

१-२. प्रथम निदान में देखें

'उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणगवंतपित्तसुक्कसोणियसमुब्भवा ।

दुरूवउस्सासनिस्सासा, दुरंतमुत्तपुरीसपुण्णा, वंतासवा, पित्तासवा, खेलासवा, पच
अवस्सं विप्पजहणिज्जा ।

संति उड्ढं देवा देवलोयंसि ।

ते णं तत्थ अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेंति अप्पणो
विउव्विय विउव्विय परियारेंति, अप्पणिज्जयाओ देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परिया

'जइ इमस्स सुचरियतवनियमबंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि
आगमेस्साए इमाइं एयारूवाइं दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणे विहरामि—से तं साहु ।'

एवं खलु समणाउसो ! निग्गंथो वा निग्गंथी वा णियाणं किच्चा जाव[1] देवे भ
जाव[2] दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणे विहरइ ।

से णं तत्थ अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ, अप्पणो
विउव्विय विउव्विय परियारेइ, अप्पणिज्जयाओ देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारे

से णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव[3] पुमत्ताए पच्चायाति जाव[4] तस्स
आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति—"भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो
आसगस्स सयइ ?"

प०—तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहारूवे समणे वा माहणे वा उभओ
पण्णत्तं धम्ममाइक्खेज्जा ?

उ०—हंता ! आइक्खेज्जा ।

प०—से णं पडिसुणिज्जा ?

उ०—हंता ! पडिसुणिज्जा ।

प०—से णं सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा ?

उ०—णो तिणट्ठे समट्ठे । अभविए णं से तस्स धम्मस्स सद्दहणयाए ।

से य भवति महिच्छे जाव[5] दाहिणगामिए णेरइए कण्हपक्खिए आगमेस्साए दु
यावि भवति ।

एवं खलु समणाउसो ! तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे—जं णो संचा
पण्णत्तं धम्मं सद्दहित्तए वा, पत्तियत्तिए वा, रोइत्तए वा ।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैंने धर्म का प्रतिपादन किया है । यही निर्ग्रन्थ-प्रवचन सत
सब दुःखों का अन्त करते हैं ।

१–६. प्रथम निदान में देखें ।

कोई निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी केवलिप्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए उपस्थित हो विचरण करते हुए यावत् संयम में पराक्रम करते हुए मानुषिक कामभोगों से विरक्त हो जायें और वह यह सोचे—

"मानव सम्बन्धी कामभोग अध्रुव है, अनित्य हैं, अशाश्वत हैं, सड़ने-गलने वाले एवं नश्वर हैं। मल-मूत्र-श्लेष्म-मैल-वात-पित्त-कफ-शुक्र एवं शोणित से उद्भूत हैं। दुर्गन्धयुक्त श्वासोच्छ्वास तथा मल-मूत्र से परिपूर्ण हैं। वात-पित्त और कफ के द्वार हैं। पहले या पीछे अवश्य त्याज्य हैं।"

जो ऊपर देवलोक में देव रहते हैं—

वे वहां अन्य देवों की देवियों को अपने अधीन करके उनके साथ विषय सेवन करते हैं, स्वयं ही अपनी विकुर्वित देवियों के साथ विषय सेवन करते हैं और अपनी देवियों के साथ भी विषय सेवन करते हैं।"

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप, नियम एवं ब्रह्मचर्यपालन का विशिष्ट फल हो तो मैं भी भविष्य में इन उपर्युक्त दिव्यभोगों को भोगते हुए विचरण करूं तो यह श्रेष्ठ होगा।"

हे आयुष्मन् श्रमणो ! इस प्रकार निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थनी (कोई भी) निदान करके यावत् देव रूप में उत्पन्न होता है। वह वहां महाऋद्धि वाला देव होता है यावत् दिव्यभोगों को भोगता हुआ विचरता है।

वह देव वहां अन्य देवों की देवियों के साथ विषय सेवन करता है।

स्वयं ही अपनी विकुर्वित देवियों के साथ विषय सेवन करता है।

और अपनी देवियों के साथ भी विषय सेवन करता है।

वह देव उस देवलोक से आयु के क्षय होने पर यावत् पुरुष रूप में उत्पन्न होता है यावत् उनके द्वारा एक को बुलाने पर चार-पांच बिना बुलाये ही उठकर खड़े हो जाते हैं और पूछते हैं कि "हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करें ? यावत् आपके मुख को कौन-से पदार्थ अच्छे लगते हैं ?"

प्र०—इस प्रकार की ऋद्धि से युक्त उस पुरुष को तप-संयम के मूर्त रूप श्रमण माहण उभय काल केवलिप्रज्ञप्त धर्म कहते हैं ?

उ०—हां, कहते हैं।

प्र०—क्या वह सुनता है ?

उ०—हां, सुनता है।

प्र०—क्या वह केवलिप्ररूपित धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति या रुचि करता है ?

उ०—यह सम्भव नहीं है, क्योंकि वह सर्वज्ञप्ररूपित धर्म पर श्रद्धा करने के अयोग्य है।

किन्तु वह उत्कट अभिलाषाएं रखता हुआ यावत् दक्षिणदिशावर्ती नरक में कृष्णपाक्षिक नैरयिक रूप में उत्पन्न हो [illegible] भविष्य [illegible] सम्यक्त्व की प्राप्ति भी दुर्लभ होती है।

हे आयुष्मन् [illegible] [illegible] परिणाम है कि वह केवलिप्रज्ञप्त धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति [illegible]

निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी के द्वारा स्वदेवी-परिचारणा का निदान करना

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते जाव[1] से य परक्कममाणे माणुस्सएसु कामभोगेसु निव्वेयं गच्छेज्जा,

"माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा जाव[2] विप्पजहणिज्जा ।

संति उड्ढं देवा देवलोयंसि ते णं तत्थ णो अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेंति, अप्पणो चेव अप्पाणं विउव्वित्ता परियारेंति, अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेंति ।"

"जइ इमस्स सुचरियतवनियमबंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, अहमवि आगमेस्साए इमाइं एयारूवाइं दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणे विहरामि—से तं साहु ।"

एवं खलु समणाउसो ! णिग्गंथो वा णिग्गंथी वा णियाणं किच्चा जाव[3] देवे भवइ, महिड्ढिए जाव[4] दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणे विहरइ ।

से णं तत्थ णो अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेइ, अप्पणो चेव अप्पाणं विउव्विय-विउव्विय परियारेइ, अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेइ ।

से णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव[5] पुमत्ताए पच्चायाति जाव[6] तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच अवुत्ता चेव अभुट्ठेंति "भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो ? जाव[7] किं ते आसगस्स सयइ ?"

प०—तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहारूवे समणे वा माहणे वा उभओ कालं केवलिपण्णत्तं धम्ममाइक्खेज्जा ?

उ०—हंता ! आइक्खेज्जा ।

प०—से णं पडिसुणेज्जा ?

उ०—हंता ! पडिसुणेज्जा ।

प०—से णं सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा ?

उ०—णो तिणट्ठे समट्ठे, अण्णत्यरुई यावि भवति ।

अण्णरुइमायाए से भवति—

जे इमे आरण्णिया, आवसहिया, गामंतिया, कण्हुइरहस्सिया । णो बहु-संजया, णो बहु-पडिविरया सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्तेसु, अप्पणो सच्चामोसाइं एवं विपडिवदंति—

अहं णं हंतव्वो, अण्णे हंतव्वा,

अहं णं अज्जावेयव्वो, अण्णे अज्जावेयव्वा,

अहं णं परियावेयव्वो, अण्णे परियावेयव्वा,

१-७. प्रथम निदान में देखें ।

कोई निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी केवलिप्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए उपस्थित हो विचरण करते हुए यावत् संयम में पराक्रम करते हुए मानुषिक कामभोगों से विरक्त हो जाये और वह यह सोचे—

"मानव सम्बन्धी कामभोग अध्रुव है, अनित्य हैं, अशाश्वत हैं, सड़ने-गलने वाले एवं नश्वर हैं। मल-मूत्र-श्लेष्म-मैल-वात-पित्त-कफ-शुक्र एवं शोणित से उद्भूत हैं। दुर्गन्धयुक्त श्वासोच्छ्वास तथा मल-मूत्र से परिपूर्ण हैं। वात-पित्त और कफ के द्वार हैं। पहले या पीछे अवश्य त्याज्य हैं।"

जो ऊपर देवलोक में देव रहते हैं—

वे वहां अन्य देवों की देवियों को अपने अधीन करके उनके साथ विषय सेवन करते हैं, स्वयं ही अपनी विकुर्वित देवियों के साथ विषय सेवन करते हैं और अपनी देवियों के साथ भी विषय सेवन करते हैं।"

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप, नियम एवं ब्रह्मचर्यपालन का विशिष्ट फल हो तो मैं भी भविष्य में इन उपर्युक्त दिव्यभोगों को भोगते हुए विचरण करूं तो यह श्रेष्ठ होगा।"

हे आयुष्मन् श्रमणो ! इस प्रकार निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थनी (कोई भी) निदान करके यावत् देव रूप में उत्पन्न होता है। वह वहां महाऋद्धि वाला देव होता है यावत् दिव्यभोगों को भोगता हुआ विचरता है।

वह देव वहां अन्य देवो की देवियों के साथ विषय सेवन करता है।

स्वयं ही अपनी विकुर्वित देवियों के साथ विषय सेवन करता है।

और अपनी देवियों के साथ भी विषय सेवन करता है।

वह देव उस देवलोक से आयु के क्षय होने पर यावत् पुरुष रूप में उत्पन्न होता है यावत् उसके द्वारा एक को बुलाने पर चार-पांच विना बुलाये ही उठकर खड़े हो जाते हैं और पूछते हैं कि "हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करें ? यावत् आपके मुख को कौन-से पदार्थ अच्छे लगते हैं?"

प्र०—इस प्रकार की ऋद्धि से युक्त उस पुरुष को तप-संयम के मूर्त रूप श्रमण माहण उभय काल केवलिप्रज्ञप्त धर्म कहते हैं ?

उ०—हां, कहते हैं।

प्र०—क्या वह सुनता है ?

उ०—हां, सुनता है।

प्र०—क्या वह केवलिप्ररूपित धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति या रुचि करता है ?

उ०—यह सम्भव नहीं है, क्योंकि वह सर्वज्ञप्ररूपित धर्म पर श्रद्धा करने के अयोग्य है।

किन्तु वह उत्कट अभिलाषाएं रखता हुआ यावत् दक्षिणदिशावर्ती नरक में कृष्णपाक्षिक नैरयिक रूप में उत्पन्न होता है तथा भविष्य में उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति भी दुर्लभ होती है।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! निदान शल्य का यह पापकारी परिणाम है कि वह केवलिप्रज्ञप्त धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि नहीं रखता है।

निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी के द्वारा स्वदेवी-परिचारणा का निदान करना

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते जाव[1] से य परक्कममाणे माणुस्सएसु कामभोगेसु निव्वेयं गच्छेज्जा,

"माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा जाव[2] विप्पजहणिज्जा।

संति उड्ढं देवा देवलोयंसि ते णं तत्थ णो अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेंति, अप्पणो चेव अप्पाणं विउव्वित्ता परियारेंति, अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेंति।"

"जइ इमस्स सुचरियतवनियमबंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, अहमवि आगमेस्साए इमाइं एयारूवाइं दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणे विहरामि—से तं साहु।"

एवं खलु समणाउसो ! णिग्गंथो वा णिग्गंथी वा णियाणं किच्चा जाव[3] देवे भवइ, महिड्ढिए जाव[4] दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणे विहरइ।

से णं तत्थ णो अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेइ, अप्पणो चेव अप्पाणं विउव्विय-विउव्विय परियारेइ, अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेइ।

से णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव[5] पुमत्ताए पच्चायाति जाव[6] तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच अवुत्ता चेव अभुट्ठेंति "भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो ? जाव[7] किं ते आसगस्स सयइ ?"

प०—तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहारूवे समणे वा माहणे वा उभओ कालं केवलिपण्णत्तं धम्ममाइक्खेज्जा ?

उ०—हंता ! आइक्खेज्जा।

प०—से णं पडिसुणेज्जा ?

उ०—हंता ! पडिसुणेज्जा।

प०—से णं सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा ?

उ०—णो तिणट्ठे समट्ठे, अण्णत्थरुई यावि भवति।

अण्णरुइमायाए से भवति—

जे इमे आरण्णिया, आवसहिया, गामंतिया, कण्हुइरहस्सिया। णो बहु-संजया, णो बहु-पडिविरया सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्तेसु, अप्पणो सच्चामोसाइं एवं विपडिवदंति—

अहं णं हंतव्वो, अण्णे हंतव्वा,

अहं णं अज्जावेयव्वो, अण्णे अज्जावेयव्वा,

अहं णं परियावेयव्वो, अण्णे परियावेयव्वा,

१-७. प्रथम निदान में देखें।

अहं णं परिघेतव्वो, अण्णे परिघेतव्वा,

अहं णं उवद्दवेयव्वो, अण्णे उवद्दवेयव्वा,

एवामेव इत्थिकामेहिं मुच्छिया गढिया गिद्धा अज्झोववण्णा जाव[1] कालमासे कालं किच्चा अण्णयेरसु आसुरिएसु किब्बिसिएसु ठाणेसु उववत्तारो भवंति ।

ततो विमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए पच्चायंति ।

एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागेणं णो संचाएति केवलि-पण्णत्तं धम्मं सद्दहित्तए वा, पत्तिइत्तए वा, रोइत्तए वा ।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैंने धर्म का निरूपण किया है यावत् संयम की साधना में पराक्रम करते हुए निर्ग्रन्थ मानवसम्बन्धी कामभोगों से विरक्त हो जाए और यह सोचे कि

"मानव सम्बन्धी कामभोग अध्रुव हैं यावत् त्याज्य हैं ।

जो ऊपर देवलोक में देव हैं वे वहां अन्य देवों की देवियों के साथ विषय सेवन नहीं करते हैं, किन्तु स्वयं की विकुर्वित देवियों के साथ विषय सेवन करते हैं तथा अपनी देवियों के साथ भी विषय सेवन करते हैं ।"

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप-नियम एवं ब्रह्मचर्यपालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी आगामी काल में इस प्रकार के दिव्यभोगों को भोगते हुए विचरण करूं— तो यह श्रेष्ठ होगा ।"

हे आयुष्मन् श्रमणो ! इस प्रकार निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी (कोई भी) निदान करके यावत् देव रूप में उत्पन्न होता है । वह वहां महाऋद्धि वाला देव होता है यावत् दिव्यभोगों को भोगता हुआ विचरता है ।

वह देव वहां अन्य देवों की देवियों के साथ विषय सेवन नहीं करता है, स्वयं ही अपनी विकुर्वित देवियों के साथ विषय सेवन करता है और अपनी देवियों के साथ भी विषय सेवन करता है ।

वह देव उस देवलोक से आयु के क्षय होने पर यावत् पुरुष रूप में उत्पन्न होता है यावत् उसके द्वारा एक को बुलाने पर चार-पांच बिना बुलाये ही उठकर खड़े हो जाते हैं और पूछते हैं कि—हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करें यावत् आपके मुख को कौन-से पदार्थ अच्छे लगते हैं ?

प्र०—इस प्रकार की ऋद्धि से युक्त उस पुरुष को तप-संयम के मूर्त रूप श्रमण माहण उभय काल केवलिप्रज्ञप्त धर्म कहते हैं ?

उ०—हां, कहते हैं ।

प्र०—क्या वह सुनता है ?

उ०—हां, सुनता है ।

---

१. सूय. श्रु. २, अ. २, सु. ३९ (अंग सुत्ताणि)

प्र०—क्या वह श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि करता है ?
उ०—यह सम्भव नहीं है, किन्तु वह अन्य दर्शन में रुचि रखता है।

अन्य दर्शन को स्वीकार कर वह इस प्रकार के आचरण वाला होता है—

जैसे कि ये पर्णकुटियों में रहने वाले अरण्यवासी तापस और ग्राम के समीप की वाटिकाओं में रहने वाले तापस तथा अदृष्ट होकर रहने वाले जो तांत्रिक हैं, असंयत हैं, वे प्राण, भूत, जीव और सत्व की हिंसा से विरत नहीं हैं। वे सत्य-मृषा (मिश्रभाषा) का इस प्रकार प्रयोग करते हैं कि—

"मुझे मत मारो, दूसरों को मारो,
मुझे आदेश मत करो, दूसरों को आदेश करो,
मुझ को पीडित मत करो, दूसरों को पीडित करो,
मुझ को मत पकड़ो, दूसरों को पकड़ो,
मुझे भयभीत मत करो, दूसरों को भयभीत करो,

इसी प्रकार वे स्त्री सम्बंधी कामभोगों में भी मूर्च्छित—ग्रथित, गृद्ध एवं आसक्त होकर यावत् जीवन के अन्तिम क्षणों में देह त्याग कर किसी असुरलोक में किल्विषिक देवस्थान में उत्पन्न होते हैं।

वहां से वे देह छोड़ कर पुनः भेड़-बकरे के समान मनुष्यों में मूक रूप में उत्पन्न होते हैं।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! उस निदान का यह पापकारी परिणाम है कि—वह केवलिप्रज्ञप्त धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि नहीं रखता है।

७. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के द्वारा सहज दिव्यभोग का निदान करना

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते जाव[1] से य परक्कममाणे माणुस्सएसु काम-भोगेसु निव्वेदं गच्छेज्जा—

"माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा जाव[2] विप्पजहियव्वा।

संति उड्ढं देवा देवलोगंसि। ते णं तत्थ णो अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेइ, णो अप्पणो चेव अप्पाणं वेउव्विय-वेउव्विय परियारेइ, अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेइ।"

"जइ इमस्स सुचरियतवनियमबंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, अहमवि आगमेस्साए इमाइं एयारूवाइं दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणे विहरामि—से तं साहु।"

एवं खलु समणाउसो ! णिग्गंथो वा णिग्गंथी वा णियाणं किच्चा जाव[3] देवे भवइ महिड्ढिए जाव[4] दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणे विहरइ।

१-४. प्रथम निदान में देखें।

से णं तत्थ णो अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेइ, णो अप्पणो चेव अप्पाणं विउव्विय-विउव्विय परियारेइ, अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेइ।

से णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव[1] पुमत्ताए पच्चायाति जाव[2] तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि-पंच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति "भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो जाव[3] किं ते आसगस्स सयइ।"

प०—तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहारूवे समणे वा माहणे वा उभओ कालं केवलि-पण्णत्तं धम्ममाइक्खेज्जा।

उ०—हंता ! आइक्खेज्जा।

प०—से णं पडिसुणेज्जा ?

उ०—हंता ! पडिसुणेज्जा।

प०—से णं सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा ?

उ०—हंता ! सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा।

प०—से णं सीलव्वयगुणवयवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं पडिवज्जेज्जा ?

उ०—णो तिणट्ठे समट्ठे, से णं दंसणसावए भवति।

अभिगयजीवाजीवे जाव[4] अट्ठिमिज्जापेमाणुरागरत्ते—

"अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, एस परमट्ठे, सेसे अणट्ठे।"

से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे बहूइं वासाइं समणोवासगपरियायं पाउणइ, पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवति।

एवं खलु समणाउसो ! तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे—जं णो संचाएति सीलव्वयगुणव्वयवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं पडिवज्जित्तए।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैंने धर्म का प्ररूपण किया है यावत् संयम की साधना में पराक्रम करते हुए निर्ग्रन्थ मानव सम्बन्धी कामभोगों से विरक्त हो जाय और वह यह सोचे कि—

"मानव सम्बन्धी कामभोग अध्रुव हैं यावत् त्याज्य हैं।

जो ऊपर देवलोक में देव हैं, वे वहां अन्य देवों की देवियों के साथ विषय सेवन नहीं करते हैं तथा स्वयं की विकुर्वित देवियों के साथ भी विषय सेवन नहीं करते हैं, किन्तु अपनी देवियों के साथ कामक्रीडा करते है।"

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप-नियम एवं ब्रह्मचर्य-पालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी आगामी काल में इस प्रकार के दिव्यभोग भोगता हुआ विचरण करूं—तो यह श्रेष्ठ होगा।"

हे आयुष्मन् श्रमणो ! इस प्रकार निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी (कोई भी) निदान करके यावत् देव

१-८. प्रथम निदान में देखें।

रूप में उत्पन्न होता है। वह वहां महाऋद्धि वाला देव होता है यावत् दिव्यभोगों को भोगता हुआ विचरता है।

वह देव वहां अन्य देवों की देवियों के साथ विषय सेवन नहीं करता है, स्वयं ही अपनी विकुर्वित देवियों के साथ भी विषय सेवन नही करता है, किन्तु अपनी देवियों के साथ विषय सेवन करता है।

वह देव उस देवलोक से आयु के क्षय होने पर यावत् पुरुष रूप में उत्पन्न होता है यावत् उसके द्वारा किसी एक को बुलाने पर चार-पांच बिना बुलाये ही उठकर खड़े हो जाते हैं और पूछते हैं कि "हे देवानुप्रिय! कहो हम क्या करें यावत् आपके मुख को कौन-से पदार्थ अच्छे लगते हैं?"

प्र०—इस प्रकार की ऋद्धि युक्त उस पुरुष को तप-संयम के मूर्त रूप श्रमण माहण उभय काल केवलिप्रज्ञप्त धर्म कहते हैं?

उ०—हां, कहते है।

प्र०—क्या वह सुनता है?

उ०—हां, सुनता है।

प्र०—क्या वह केवलिप्रज्ञप्त धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि रखता है?

उ०—हां वह केवलिप्रज्ञप्त धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि रखता है।

प्र०—क्या वह शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास करता है?

उ०—यह सम्भव नहीं है। यह केवल दर्शन-श्रावक होता है।

वह जीव अजीव के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता होता है यावत् उसके अस्थि एवं मज्जा में धर्म के प्रति अनुराग होता है। यथा—"हे आयुष्मन्! यह निर्ग्रन्थप्रवचन ही जीवन में इष्ट है। यही परमार्थ है। अन्य सब निरर्थक है।"

वह इस प्रकार अनेक वर्षों तक अगारधर्म की आराधना करता है और आराधना करके जीवन के अन्तिम क्षणों में किसी एक देवलोक में देव रूप में उत्पन्न होता है।

इस प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो! उस निदान का यह पाप रूप परिणाम है कि वह शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास नहीं कर सकता है।

८. श्रमणोपासक होने के लिये निदान करना

एवं खलु समणाउसो! मए धम्मे पण्णत्ते जाव[२] से य परक्कममाणे दिव्वमाणुस्सएहिं काम-भोगेहिं णिव्वेदं गच्छेज्जा—

"माणुस्सगा कामभोगा अधुवा जाव[३] विप्पजहणिज्जा,

दिव्वा वि खलु कामभोगा अधुवा, अणितिया, असासया, चलाचलण-धम्मा, पुणरागमणिज्जा पच्छा पुव्वं च णं अवस्सं विप्पजहणिज्जा।"

---

१. भगवती श. २, उ. ५, सु. ११

२-३. सातवें निदान में देखें।

जइ इमस्स सुचरियतवनियमबंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, अहमवि आगमेस्साए, जे इमे भवंति उग्गपुत्ता महामाउया, भोगपुत्ता महामाउया तेसि णं अन्नयरंसि कुलंसि पुमत्ताए पच्चायामि, तत्थ णं समणोवासए भविस्सामि—

अभिगयजीवाजीवे जाव[1] अहापरिग्गहिएणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरिस्सामि-से तं साहू ।

एवं खलु समणाउसो ! निग्गंथो वा निग्गंथी वा णिदाणं किच्चा जाव[2] देवे भवइ महिड्ढिए जाव[3] दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणे विहरइ जाव[4] से णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव[5] पुमत्ताए पच्चायाति जाव[6] तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि-पंच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति "भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो जाव[7] किं ते आसगस्स सयइ ?"

प०—तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहारूवे समणे वा माहणे वा उभओ कालं केवलि-पण्णत्तं धम्ममाइक्खेज्जा ?

उ—हंता ! आइक्खेज्जा ।

प०—से णं पडिसुणेज्जा ?

उ०—हंता ! पडिसुणेज्जा ।

प०—से णं सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा ?

उ०—हंता ! सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा ।

प०—से णं सीलव्वय जाव[8] पोसहोववासाइं पडिवज्जेज्जा ?

उ०—हंता ! पडिवज्जेज्जा ।

प०—से णं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा ?

उ०—णो तिणट्ठे समट्ठे ।

से णं समणोवासए भवति अभिगयजीवाजीवे जाव[9] पडिलाभेमाणे विहरइ ।

से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे बहूणि वासाणि समणोवासगपरियागं पाउणइ पाउणित्ता आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा भत्तं पच्चक्खाएइ, भत्तं पच्चक्खाइत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाइं छेदेइ, बहूइं भत्ताइं अणसणाइं छेदित्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति ।

एवं खलु समणाउसो ! तस्स नियाणस्स इमेयारूवे पावफलविवागे—जं नो संचाएति सव्वाओ सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ।

---

१. भगवती श. २, उ. ५, सू. ११
२-८. पाठ निदान में देखें ।
९. भगवती श. २, उ. ५, सू. ११

हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैंने धर्म का प्रतिपादन किया है यावत् संयम-साधना में पराक्रम करते हुए निर्ग्रन्थ दिव्य और मानुषिक कामभोगों से विरक्त हो जाने पर यों सोचे कि—

"मानुषिक कामभोग अध्रुव हैं यावत् त्याज्य हैं।

देव सम्बन्धी कामभोग भी अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशाश्वत हैं, चलाचलस्वभाव वाले हैं, जन्म-मरण बढ़ाने वाले है, आगे-पीछे अवश्य त्याज्य हैं।"

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप-नियम एवं ब्रह्मचर्य-पालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी भविष्य में जो ये विशुद्ध मातृ-पितृपक्ष वाले उग्रवंशी या भोगवंशी कुल हैं, वहां पुरुष रूप में उत्पन्न होऊँ और श्रमणोपासक बनूं।"

जीवाजीव के स्वरूप को जानूं यावत् ग्रहण किये हुए तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरण करूं तो यह श्रेष्ठ होगा।"

हे आयुष्मन् श्रमणो ! इस प्रकार निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी (कोई भी) निदान करके यावत् देवरूप में उत्पन्न होता है। वह वहां महाऋद्धि वाला देव होता है यावत् दिव्य भोगों को भोगता हुआ विचरता है यावत् वह देव उस लोक से आयुक्षय होने पर यावत् पुरुष रूप में उत्पन्न होता है यावत् उसके द्वारा किसी एक को बुलाने पर चार-पांच बिना बुलाये ही उठकर खड़े हो जाते हैं और पूछते हैं—"हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करें यावत् आपके मुख को कौन-से पदार्थ अच्छे लगते हैं ?"

प्र०—इस प्रकार की ऋद्धि से युक्त उस पुरुष को तप-संयम के मूर्तरूप श्रमण माहण उभय-काल केवलिप्रज्ञप्त धर्म कहते है ?

उ०—हां, कहते हैं।

प्र०—क्या वह सुनता है ?

उ०—हां, सुनता है।

प्र०—क्या वह श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि करता है ?

उ०—हां, वह श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि करता है ?

प्र०—क्या वह शीलव्रत यावत् पौषधोपवास स्वीकार करता है ?

उ०—हां, वह स्वीकार करता है।

प्र०—क्या वह गृहवास को छोड़कर मुण्डित होता है एवं अनगार प्रव्रज्या स्वीकार करता है ?

उ०—यह सम्भव नहीं।

वह श्रमणोपासक होता है, जीवाजीव का ज्ञाता यावत् प्रतिलाभित करता हुआ विचरता है।

इस प्रकार के आचरण से वह अनेक वर्षों तक श्रमणोपासक पर्याय का पालन करता है, पालन करके रोग उत्पन्न होने या न होने पर भक्त-प्रत्याख्यान (भोजनत्याग) करता है, भक्तप्रत्याख्यान करके अनेक भक्तों का अनशन से छेदन करता है, छेदन करके आलोचना एवं प्रतिक्रमण द्वारा समाधि को प्राप्त होता है। जीवन के अन्तिम क्षणों में देह छोड़कर किसी देवलोक में देव होता है।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! उस निदानशल्य का यह पाप रूप परिणाम है कि—वह गृहवास को छोड़कर एवं सर्वथा मुण्डित होकर अनगार प्रव्रज्या स्वीकार नहीं कर सकता है।

९. श्रमण होने के लिए निदान करना

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते जाव[१] से य परक्कममाणे दिव्वमाणुस्सएहिं काम भोगेहिं निव्वेयं गच्छेज्जा—

"माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा जाव[२] विप्पजहणिज्जा। दिव्वा वि खलु कामभोग अधुवा जाव[३] पुणरागमणिज्जा, पच्छापुव्वं च णं अवस्सं विप्पजहणिज्जा।

"जइ इमस्स सुचरियतवनियमबंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, अहमवि आगमेस्साए जाइं इमाइं भवंति अंतकुलाणि वा, पंतकुलाणि वा, तुच्छकुलाणि वा, दरिद्दकुलाणि वा किवणकुलाणि वा, भिक्खागकुलाणि वा एएसि णं अण्णतरंसि कुलंसि पुमत्ताए पच्चायामि एस मे आय परियाए सुणीहडे भविस्सति, से तं साहु।"

एवं खलु समणाउसो ! णिग्गंथो वा णिग्गंथी वा णियाणं किच्चा जाव[४] देवे भवइ, महिड्ढिए जाव[५] दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणे विहरइ जाव[६] से णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव[७] पुमत्ताए पच्चायाति जाव[८] तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि-पंच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति "भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो जाव[९] किं ते आसगस्स सयइ ?"

प०—तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहारूवे समणे वा माहणे वा उभओ कालं केवलि- पण्णत्तं धम्ममाइक्खेज्जा ?

उ०—हंता, आइक्खेज्जा।

प०—से णं पडिसुणेज्जा ?

उ०—हंता, पडिसुणेज्जा।

प०—से णं सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा ?

उ०—हंता, सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा।

प०—से णं सीलव्वयगुणव्वयवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं पडिवज्जेज्जा ?

उ०—हंता, पडिवज्जेज्जा।

प०—से णं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइज्जा ?

उ०—हंता, पव्वइज्जा।

प०—से णं तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झेज्जा जाव[१०] सव्वदुक्खाणं अंतं करेज्जा ?

उ०—णो इणट्ठे समट्ठे।

से णं भवइ—से जे अणगारा भगवंतो इरियासमिया जाव[११] बंभयारी।

१–९. पहले या सातवें निदान में देखें।

१०. पहले निदान में देखें।

११. दशा० द० ५. सु० ६।

से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणइ, बहूइं वासाइं सामण्ण-परियागं पाउणित्ता आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा भत्तं पच्चक्खाएइ, भत्तं पच्चक्खाइत्ता, बहूइं भत्ताइं अणसणाइं छेदेइ, बहूइं भत्ताइं अणसणाइं छेदेत्ता आलोइय-पडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति ।

एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे पावए फल-विवागे जं नो संचाएइ तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झित्तए जाव[1] सव्वदुक्खाणं अंतं करेत्तए ।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैंने धर्म का निरूपण किया है यावत् संयम की साधना में प्रयत्न करता हुआ निर्ग्रन्थ दिव्य मानुषिक कामभोगों से विरक्त हो जाए और वह यह सोचे कि—

"मानुषिक कामभोग अध्रुव यावत् त्याज्य है ।

दिव्य कामभोग भी अध्रुव यावत् भवपरम्परा बढ़ाने वाले हैं तथा पहले या पीछे अवश्य त्याज्य हैं ।"

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप-नियम एवं ब्रह्मचर्य-पालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी भविष्य में जो ये अंतकुल, प्रान्तकुल, तुच्छकुल, दरिद्रकुल, कृपणकुल या भिक्षुकुल हैं, इनमें से किसी एक कुल में पुरुष बनूं जिससे मैं प्रव्रजित होने के लिए सुविधापूर्वक गृहवास छोड़ सकूं तो यह श्रेष्ठ होगा ।"

हे आयुष्मन् श्रमणो ! इस प्रकार निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी (कोई भी) निदान करके यावत् देवरूप में उत्पन्न होता है । यह वहां महाऋद्धि वाला देव होता है । यावत् दिव्य भोग भोगता हुआ विचरता है, यावत् वह देव उस देवलोक से आयु क्षय होने पर यावत् पुरुष रूप में उत्पन्न होता है, यावत् उसके द्वारा किसी एक को बुलाने पर चार-पांच बिना बुलाये ही उठकर खड़े हो जाते हैं और पूछते हैं कि "हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करें यावत् आपके मुख को कौन-से पदार्थ अच्छे लगते हैं ?"

प्र०—क्या इस प्रकार की ऋद्धि से युक्त उस पुरुष को तप-संयम के मूर्तरूप श्रमण माहण उभय काल केवलिप्रज्ञप्त धर्म कहते हैं ?

उ०—हां, कहते हैं ।

प्र०—क्या वह सुनता है ?

उ०—हां, सुनता है ।

प्र०—क्या वह श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि करता है ?

उ०—हां, वह श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि करता है ।

प्र०—क्या वह गृहवास को छोड़कर मुण्डित होता है एवं अनगारप्रव्रज्या स्वीकार करता है ?

उ०—हां, वह अनगारप्रव्रज्या स्वीकार करता है ।

प्र०—क्या वह उसी भव में सिद्ध हो सकता है यावत् सब दुःखों का अंत कर सकता है ?

उ०—यह सम्भव नहीं है ।

---

१. पहले निदान में देखें ।

यह अनगार भगवंत ईर्या-समिति का पालन करने वाला यावत् ब्रह्मचर्य का पालन कर वाला होता है।

इस प्रकार के आचरण से वह अनेक वर्षों तक संयमपर्याय का पालन करता है, अनेक व तक संयमपर्याय का पालन करके रोग उत्पन्न होने या न होने पर भी भक्त-प्रत्याख्यान करता है भक्त-प्रत्याख्यान करके अनेक भक्तों का अनशन से छेदन करता है, अनेक भक्तों का अनशन से छेद करके आलोचना एवं प्रतिक्रमण द्वारा समाधि को प्राप्त होता है और जीवन के अन्तिम क्षणों में दे त्याग कर किसी देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होता है।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! उस निदानशल्य का यह पाप रूप परिणाम है कि—वह उस भव सिद्ध नहीं होता है यावत् सब दुःखों का अन्त नहीं कर पाता है।

निदानरहित को मुक्ति

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते—इणमेव निग्गंथे पावयणे सच्चे जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

जस्स णं धम्मस्स सिक्खाए निग्गंथे उवट्ठिए विहरमाणे से य परक्कमेज्जा से य परक्कममा सव्वकामविरत्ते, सव्वरागविरत्ते, सव्वसंगातीते, सव्वहा सव्वसिणेहातिक्कंते सव्वचरित्तपरिवुडे।

तस्स णं भगवंतस्स अणुत्तरेणं णाणेणं, अणुत्तरेणं दंसणेणं जाव[1] अणुत्तरेणं परिनिव्वाणमग्गे अप्पाणं भावेमाणस्स अणंते, अणुत्तरे, निव्वाघाए, निरावरणे, कसिणे, पडिपुण्णे केवलवरनाणदंस समुप्पज्जेज्जा।

तए णं से भगवं अरहा भवइ, जिणे, केवली, सव्वण्णू, सव्वभावदरिसी, सदेवमणुयासुर लोगस्स पज्जाए जाणइ, तं जहा—

आगई, गई, ठिई, चवणं, उववायं, भुत्तं, पीयं, कडं, पडिसेवियं, आवीकम्मं, रहोकम्मं, लवि कहियं, मणोमाणसियं।

सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावाइं जाणमाणे पासमाणे विहरइ।

से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे बहूइं वासाइं केवलिपरियागं पाउणइ, पाउणित्ता अप्प आउसेसं आभोएइ, आभोएत्ता भत्तं पच्चक्खाएइ, पच्चक्खाइत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेइ, त पच्छा चरमेहिं ऊसासनीसासेहिं सिज्झइ जाव[2] सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।

एवं खलु समणाउसो ! तस्स अणिदाणस्स इमेयारूवे कल्लाणे फलविवागे जं तेणेव भवग्गहणे सिज्झति जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेइ।

---

१. प्रथम निदान में देखें।
२. दशा. द. १०, सु. ३३ मनमुताबिक
३. प्रथम निदान में देखें।

तए णं ते बहवे निग्गंथा य निग्गंथीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता तस्स ठाणस्स आलोयंति पडिक्कमंति जाव अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जंति।

हे आयुष्मन् श्रमणो! मैंने धर्म का प्रतिपादन किया है। यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन सत्य है यावत् सब दुःखों का अंत करते हैं।

इस धर्म की आराधना के लिए उपस्थित होकर विचरता हुआ वह निर्ग्रन्थ तप-संयम में पराक्रम करता हुआ तप-सयम की उग्र साधना करते समय काम-राग से सर्वथा विरक्त हो जाता है। संगस्नेह से सर्वथा रहित हो जाता है और सम्पूर्ण चारित्र की आराधना करता है।

उत्कृष्ट ज्ञान, दर्शन और चारित्र यावत् मोक्षमार्ग से अपनी आत्मा को भावित करते हुए उस अनगार भगवंत को अनन्त, सर्वप्रधान, बाधा एवं आवरण से रहित, सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

उस समय वह अरहन्त भगवंत जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो जाता है, वह देव, मनुष्य, असुर आदि लोक के पर्यायों को जानता है, यथा—

जीवों की आगति, गति, स्थिति, च्यवन, उत्पत्ति तथा उनके द्वारा खाये-पीये गये पदार्थों एवं उनके द्वारा सेवित प्रकट एवं गुप्त सभी क्रियाओं को तथा वार्तालाप, गुप्त वार्ता और मानसिक चिन्तन को प्रत्यक्ष रूप से जानते-देखते हैं।

वह सम्पूर्ण लोक में स्थित सर्व जीवों के सर्व भावों को जानते देखते हुए विचरण करता है।

वह इस प्रकार केवली रूप में विचरण करता हुआ अनेक वर्षों की केवलिपर्याय को प्राप्त होता है और अपनी आयु का अन्तिम भाग जानकर वह भक्तप्रत्याख्यान करता है, भक्तप्रत्याख्यान करके अनेक भक्तों को अनशन से छेदन करता है। उसके बाद वह अन्तिम श्वासोच्छ्वास के द्वारा सिद्ध होता है यावत् सब दुःखों का अन्त करता है।

हे आयुष्मन् श्रमणो! उस निदान रहित साधनामय जीवन का यह कल्याणकारक परिणाम है कि वह उसी भव से सिद्ध होता है यावत् सब दुःखों का अन्त करता है।

उस समय उन अनेक निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों ने श्रमण भगवान् महावीर से इन निदानों का वर्णन सुनकर श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन, नमस्कार किया और उस पूर्वकृत निदानशल्यों की आलोचना-प्रतिक्रमण करके यावत् यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तप स्वीकार किया।

विवेचन—इस दशा में निदानों का वर्णन है। इसका नाम 'आयतिट्ठाणअज्झयणं' भी कहा गया है। "आयति" शब्द का अर्थ "संसार" या "कर्मबंध" है। संसारभ्रमण या कर्मबंध के प्रमुख स्थान को 'आयतिट्ठाण' कहा गया है।

निदान शब्द का अर्थ है—छेदन करना या काटना। जिससे ज्ञान दर्शन चारित्र की आराधना का छेदन होता है वह निदान कहा जाता है।

निदान का सामान्य अर्थ यह भी है कि तप संयम के महाफल के बदले में अल्पफल की कामना करना।

आवश्यकादि आगमों में निदान को आत्मा का आभ्यंतर शल्य अर्थात् हृदय का कंटक कहा है। जैसे पांव में लगा कंटक शारीरिक समाधि भंग करता है और जब तक निकल न जाय या नष्ट न हो जाय तब तक खटकता रहता है, उसी प्रकार आलोचना प्रायश्चित्त के द्वारा निदानशल्य निकल न जाये या उदय में आकर नष्ट न हो जाये तब तक बोधि (सम्यक्त्व), चारित्र और मुक्ति के लाभ में बाधक बन कर खटकता रहता है। अतः आत्मशांति के इच्छुक मुमुक्षु को किसी भी प्रकार का निदान (संकल्प) नहीं करना चाहिये।

निदान कितने प्रकार के होते हैं ? उसकी कोई निश्चित संख्या इस दशा में नहीं कही गई है। जिन निदानों का वर्णन किया है उनकी संख्या नव है और एक अनिदान अवस्था का वर्णन है।

समवायांगसूत्र में बताया गया है कि वासुदेव पद को प्राप्त करने वाले सभी पूर्वभव में निदान करते हैं। सभी प्रतिवासुदेव पद वाले जीव भी पूर्वभव में निदान करने वाले होते हैं। कोई-कोई चक्रवर्ती भी पूर्वभव में निदान करने वाले होते हैं। अन्य भी कई जीव कोणिक आदि की तरह निदानकृत हो सकते हैं।

निदान भी मंद या तीव्र परिणामों से विभिन्न प्रकार के होते हैं। तीव्र परिणामों से निदान करने वाले जीव निदानफल को प्राप्त करके नरकगति को प्राप्त करते हैं और मंद परिणामों से निदान करने वाले फल की प्राप्ति के बाद धर्माचरण करके सद्गति प्राप्त कर सकते हैं किन्तु मुक्त नहीं हो सकते। धर्मप्राप्ति का निदान करने वाले भी उस निदान का फल प्राप्त कर लेते हैं किन्तु मुक्त नहीं हो सकते हैं।

निदानवर्णन के पूर्व इस दशा में श्रेणिक और चेलना से सम्बन्धित घटित घटना का वर्णन किया गया है। इस वर्णन में पूर्व दशाओं की उत्थानिकापद्धति से भिन्न प्रकार की उत्थानिका है, छोटी दशाएं होने का निर्युक्तिकार का कथन होते हुए भी यह दशा विस्तृत वर्णन वाली है, अन्य छेदसूत्रों के विषयों से इस दशा का वर्णन भी भिन्न प्रकार का है। इसका कारण अज्ञात है, जो विद्वानों के लिए चिन्तनयोग्य है।

विस्तृत पाठ प्रायः उववाईसूत्र से मिलता-जुलता है। अतः संक्षिप्त पाठों का संकलन और "जाव" शब्द का प्रयोग अत्यधिक हुआ है। ये संक्षिप्त पाठ अनेक लिपिदोषों से युक्त हैं। जिससे संक्षिप्त पाठ अनावश्यक और अशुद्ध भी हो गये हैं। इस दशा के संक्षिप्त पाठों को यथामति सुधार कर व्यवस्थित करने की कोशिश की गई है।

प्रारम्भ के चार निदानों में कहा गया है कि संयमसाधना करते हुए भिक्षु या भिक्षुणी के चित्त में यदा-कदा भोगाकांक्षा उत्पन्न हो जाती है और वे मानुषिक भोगों की प्राप्ति के लिये निदान (संकल्प) करते हैं। संयम तप के प्रभाव से संकल्प के अनुसार फल प्राप्त भी हो जाता है किन्तु उसका परिणाम यह होता है कि वह जीवन भर धर्मश्रवण के भी अयोग्य रहता है और काल करके नरक में जाता है।

१. प्रथम निदान में निर्ग्रन्थ का पुरुष होना कहा है।
२. दूसरे निदान में निर्ग्रन्थी का स्त्री होना कहा है।
३. तीसरे निदान में निर्ग्रन्थ का स्त्री होना कहा है।
४. चौथे निदान में निर्ग्रन्थी का पुरुष होना कहा है।

पांचवें, छट्ठे और सातवें निदान में देव सम्बन्धी भोगों की प्राप्ति के लिये निदान करने का कथन है। संकल्पानुसार भिक्षु या भिक्षुणी को देवगति की प्राप्ति हो जाती है तथा उसके बाद प्राप्त होने वाले मनुष्यजीवन में भी उसे भोग-ऋद्धि की प्राप्ति होती है।

५. पांचवें निदान वाला देवलोक में स्वयं की देवियों के साथ, स्वयं को विकुर्वित देवियों के साथ और दूसरों की देवियों के साथ दिव्यभोग भोगता है किन्तु उसके बाद वह मनुष्यभव पाकर भी धर्मश्रवण के अयोग्य होता है तथा काल करके नरक में जाता है।

६. छट्ठे निदान वाला देवलोक में स्वयं की देवियों के साथ तथा स्वयं की विकुर्वित देवियों के साथ दिव्यभोग भोगता है। बाद में वह मनुष्य बनकर भी तापस-संन्यासी बनता है तथा काल करके असुरकुमारनिकाय में किल्विषिक देवरूप में उत्पन्न होकर बाद में वह तिर्यंच्योनि में भ्रमण करता है।

७. सातवें निदान वाला देवलोक में केवल स्वयं की देवियों के साथ दिव्यभोग भोगता है, किन्तु विकुर्वित देवियों के साथ भोग नहीं भोगता और बाद में वह मनुष्य बनकर सम्यग्दृष्टि होता है, किन्तु निदान के कारण व्रत धारण नही कर सकता है।

आठवां और नवमा निदान श्रावक-अवस्था या साधु-अवस्था प्राप्त करने का कहा गया है।

८. आठवें निदान वाला देवलोक में जाकर फिर मनुष्य होता है और बारहव्रतधारी श्रावक बनता है किन्तु निदान के कारण संयम ग्रहण नहीं कर सकता।

९. नवमें निदान वाला भी देवभव के पश्चात् इच्छित (तुच्छ) कुल में मनुष्य बनता है। संयम स्वीकार करता है, किन्तु तप संयम की उग्र साधना नहीं कर सकता और निदान के प्रभाव से उस भव में मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता है।

इस प्रकार नव निदानों के वर्णन के बाद अनिदान-अवस्था का वर्णन किया गया है। निदान-रहित साधना करने वाला सर्वसंगातीत होकर उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध बुद्ध मुक्त होता है।

इस प्रकार इस दशा में निदान के कटु फल कहकर अनिदान संयमसाधना के लिए प्रेरणा दी गई है।

बृहत्कल्पसूत्र उ. ६ में भी कहा है—'निदान करने वाला स्वयं के लिये मोक्ष के मार्ग का नाश करता है अतः भगवान् ने सर्वत्र निदान न करना ही प्रशस्त कहा है।' भगवदाज्ञा को जानकर मोक्ष-मार्ग की साधना करने वालों को कदापि निदान नही करना चाहिए।

इस दशा में श्रेणिक राजा व चेलना रानी के निमित्त से निदान करने वाले श्रमण-श्रमणियों के मानुषिक भोगों के निदान का वर्णन प्रारम्भ किया गया, फिर क्रमशः दिव्यभोग तथा श्रावक एवं साधु-अवस्था के निदान का कथन किया गया है। इनके सिवाय अन्य भी कई प्रकार के निदान होते हैं, यथा—किसी को दुःख देने वाला बनूं, या इसका बदला लेने वाला बनूं, मारने वाला बनूं इत्यादि। उदाहरण के रूप में श्रेणिक के लिये कोणिक का दुःखदाई होना, वासुदेव का प्रतिवासुदेव को मारना, द्वीपायनऋषि का द्वारिका को विनष्ट करना, द्रौपदी के पाँच पति होना व संयमधारण भी करना, ब्रह्मदत्त का चक्रवर्ती होना और सम्यक्त्व की प्राप्ति भी होना इत्यादि।

निदान के विषय में यह सहज प्रश्न उत्पन्न होता है कि किसी के संकल्प करने मात्र से उस ऋद्धि की प्राप्ति कैसे हो जाती है ?

समाधान यह है कि किसी के पास रत्न या सोने-चांदी का भंडार है, उसे रोटी-कपड़े आदि सामान्य पदार्थों के लिये दे दिया जाए तो वे सहज ही प्राप्त हो सकते हैं। वैसे ही शाश्वत मोक्ष-सुख देने वाली तप-संयम की विशाल साधना के फल से मानुषिक या दैविक तुच्छ भोगों का प्राप्त होना कोई महत्त्व की बात नहीं है। इसे समझने के लिये एक दृष्टान्त भी दिया जाता है—

एक किसान के खेत के पास किसी धनिक राहगीर ने दाल-बाटी-चूरमा बनाया। किसान का मन चूरमा आदि खाने के लिए ललचाया, किसान के मांगने पर भी धनिक ने कहा कि यह तेरा खेत बदले में दे तो भोजन मिले। किसान ने स्वीकार किया। भोजन कर बड़ा आनंदित हुआ।

जैसे खेत के बदले एक बार मनचाहा भोजन का मिलना कोई महत्त्व नहीं रखता, वैसे ही तप-संयम की मोक्षदायक साधना से एक दो भव के भोग मिलना महत्त्व नहीं रखता।

किन्तु जैसे खेत के बदले भोजन खा लेने के बाद दूसरे दिन से वर्ष भर तक किसान पश्चात्ताप से दुःखी होता है, वैसे ही तप-संयम के फल से एक भव का सुख प्राप्त हो भी जाय किन्तु मोक्षदायक साधना खोकर नरकादि के दुःखों का प्राप्त होना निदान का ही फल है।

जिस प्रकार खेत के बदले एक दिन का मिष्ठान्न भोजन प्राप्त करने वाला किसान मूर्ख गिना जाता है, वैसे ही मोक्षमार्ग की साधना का साधक निदान करे तो महामूर्ख ही कहलायेगा। अतः भिक्षु को किसी प्रकार का निदान न करना और संयम-तप की निष्काम साधना करना ही श्रेयस्कर है।

□□

परिशिष्ट

इस प्रकाशन में जिन पाठों को अनुपयुक्त प्रविष्ट समझकर अलग कर दिया गया है उनको तथा लिपिदोष से जिन विकृत पाठों को विकृत बने समझकर सुधारा गया है, वे सब पाठ इस परिशिष्ट में दिए गए हैं।

१. सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ।

२. कयरा खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ ?

३. इमाओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा— अकिरियावादी यावि भवति—नाहियवादी नाहियपण्णे नाहियदिट्ठी, नो सम्मावादी, नो नितियावादी नसंति-परलोगवादी।

णत्थि इहलोए, णत्थि परलोए, णत्थि माता, णत्थि पिता, णत्थि अरहंता, णत्थि चक्कवट्टी, णत्थि बलदेवा, णत्थि वासुदेवा, णत्थि सुक्कडदुक्कडाणं फलवित्तिविसेसो।

णो सुच्चिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति।

णो दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णफला भवंति, अफले कल्लाणपावए, णो पच्चायंति जीवा, णत्थि णिरयादि ह्व णत्थि सिद्धी।

से एवंवादी एवंपण्णे एवंदिट्ठी एवं छंदरागमभिनिविट्ठे यावि भवति।

से य भवति महिच्छे महारंभे महापरिग्गहे अहम्मिए अहम्माणुए अहम्मसेवी अहम्मिट्ठे अधम्मक्खाई अधम्मरागी अधम्मपलोई अधम्मजीवी अधम्मपलज्जणे अधम्मसीलसमुदाचारे अधम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणे विहरइ।

"हण, छिंद, भिंद" वेकत्तए लोहियपाणी पावो चंडो रुद्दो खुद्दो साहस्सिओ उक्कंचण-वंचण-माया-नियडी-कवड-कूड-साति-संपयोगबहुले दुस्सीले दुपरिचए दुरणुणेए दुव्वए दुप्पडियाणंदे निस्सीले निग्गुणे निम्मेरे निपच्चक्खाणपोसहोववासे असाहू।

सव्वाओ पाणाइवायाओ अप्पडिविरए जावज्जीवाए।

एवं जाव सव्वाओ कोहाओ, सव्वाओ माणाओ, सव्वाओ मायाओ, सव्वाओ लोभाओ, पेज्जाओ दोसाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुण्णपरपरिवादाओ अरतिरतिमायामोसाओ मिच्छादंसणसल्लाओ अपडिविरए जावज्जीवाए।

सव्वाओ ण्हाणुम्मद्दणा-अब्भंगण-वण्णगविलेवण-सद्द-फरिस-रस-रूव-गंध-मल्लालंकाराओअपडिविरए जावज्जीवाए।

सव्वाओ सगड-रह-जाण-जुग्ग-गिल्लि-थिल्लि-सीया-संदमाणिय-सयणासणजाण-वाहण-भोयण-पवित्थरविधीओ अपडिविरए जावज्जीवाए।

सव्वाओ आस-हत्थि-गो-महिस-गवेलय-दासी-दास-कम्मकरपोरुसाओ अपडिविरए जावज्जीवाए।

सव्वाओ कय-विक्कय-मासद्धमास-रूवगसंववहाराओ अपडिविरए जावज्जीवाए, हिरण्ण-

सुवण्ण-धण-धन्न-मणि-मोत्तिय-संख-सिलप्पवालाओ अपडिविरए जावज्जीवाए ।

सव्वाओ कूडतुल-कूडमाणाओ अपडिविरए जावज्जीवाए ।

सव्वाओ आरम्भ-समारंभाओ अपडिविरए जावज्जीवाए ।

सव्वाओ करण-कारावणाओ अपडिविरए जावज्जीवाए ।

सव्वाओ पयण-पयावणाओ अपडिविरए जावज्जीवाए ।

सव्वाओ कुट्टण-पिट्टण-तज्जण-तालण-वह-बंध-परिकिलेसाओ अपडिविरए जावज्जीवाए ।

जे यावण्णे तहप्पगारा सावज्जा अबोहिआ कम्मंता परपाणपरिता वणकडा कज्जंति (ततो वि अ णं अपडिविरए जावज्जीवाए ।

से जहानामए केइ पुरिसे कल-मसूर-तिल-मुग्ग-मास-निप्फाव-कुलत्थ-आलिसंद-सईणा-पलिमंथ एमादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउंजइ ।

एवामेव तहप्पगारे पुरिसज्जाते तित्तिर-वट्टा-लावय-कपोत-कपिंजल-मिय-महिस-वराह-गाह-गोध-कुम्म-सिरीसवादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउंजइ ।

जावि य से बाहिरिया परिसा भवति, तं जहा—दासेति वा, पेसेति वा भतएति वा भाइल्लेति वा कम्मारएति वा भोगपुरिसेति वा ।

तेसिंपि य णं अण्णयरगंसि अहालघुयंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं वत्तेति, तं जहा—इमं दंडेह, इमं मुंडेह, इमं वज्झेह, इमं तालेह, इमं अदुबंधणं करेह, इमं नियलबंधणं करेह, इमं हडिबंधणं करेह, इमं चारगबंधणं करेह, इमं नियलजुयलसंकोडियमोडितं करेह, इमं हत्थच्छिन्नं करेह, इमं पायच्छिन्नं करेह, इमं कन्नच्छिन्नं करेह, इमं नक्कच्छिन्नं करेह, इमं ओट्ठच्छिन्नं करेह, इमं सीसच्छिन्नं करेह, इमं मुखच्छिन्नं करेह, इमं मज्झच्छिन्नं करेह, इमं वेयच्छिन्नं करेह, इमं हियउप्पाडियं करेह, एवं नयण-दसण-वसण-जिब्भुप्पाडियं करेह ।

इमं ओलंबितं करेह, इमं उल्लंबितं करेह, इमं घंसियं करेह, इमं घोलितयं करेह, इमं सूलाइतयं करेह, इमं सूलाभिन्नं करेह, इमं खारवत्तियं करेह, इमं वज्झवत्तियं करेह, इमं सीहपुच्छितयं करेह, इमं वसभपुच्छितयं करेह, इमं कडग्गिदड्ढयं करेह, इमं काकिणिमंसखावितं करेह, इमं भत्तपाणनिरुद्धयं करेह, इमं जावज्जीवबंधणं करेह, इमं अण्णतरेणं असुभेणं कुमारेणं मारेह ।

जावि य से अब्भिंतरिया परिसा भवति, तं जहा—मायाति वा, पियाति वा, भायाति वा भगिणिति वा, भज्जाति वा, धूयाति वा, सुण्हाति वा, तेसिं पि य णं अण्णयरंसि अहालहुसगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं वत्तेति, तं जहा—सीतोदगंसि कायं ओबोलित्ता भवति ।

उसिणोदगवियडेण कायं ओसिंचित्ता भवति, अगणिकाएणं कायं ओडहित्ता भवति, जोत्तेण वा, वेत्तेण वा, नेत्तेण वा, कसेण वा, छिवाए वा, लताए वा, पासाइं उद्दालित्ता भवति, दंडेण वा, अट्ठीण वा, मुट्ठीण वा, लेलुना वा, कवालेण वा, कायं आउट्टेत्ता भवति ।

तहप्पगारे पुरिसज्जाते संवसमाणे दुमणा भवति ।

तहप्पगारे पुरिसज्जाते विप्पवसमाणे सुमणा भवंति ।

तहप्पगारे पुरिसज्जाते दंडमासी दंडगरुए दंडपुरक्खडे अहिते अंसि लोयंसि अहिते परंसि लोयंसि।

से दुक्खेति से सोयति एवं जूरेति तिप्पेति पिट्टेति परितप्पति।

से दुक्खण-सोयण-जूरण-तिप्पण-पिट्टण-परितप्पण-वह-बंध-परिकिलेसाओ अप्पडिविरते भवति।

४. एवामेव से इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिते गिद्धे गढिते अज्झोववन्ने जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाणि वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भुंजित्ता भोगभोगाइं पसवित्ता वेरायतणाइं संचिणित्ता 'बहूइं कूराइं' कम्माइं ओसन्नं संभारकडेण कम्मुणा—

से जहानामए अयगोलेति वा, सेलगोलेति वा, उदयंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमतिवतित्ता अहे धरणितलपतिट्ठाणे भवति।

एवामेव तहप्पगारे पुरिसज्जाते वज्जबहुले, धुतबहुले पंकबहुले, वेरबहुले, दंभ-नियडि-साइबहुले, अयसबहुले, अप्पत्तियबहुले, उस्सण्णं तसपाणघाती कालमासे कालं किच्चा धरणितलमतिवतित्ता अहे णरगतलपतिट्ठाणे भवति।

५. ते णं णरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया निच्चंधकारतमसा ववगय-गह-चंद-सूर-नक्खत्त-जोइसपहा।

मेद-वसा-मंस-रुहिर-पूयपडल-चिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काउ अगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा। असुभा नरयस्स वेदणाओ।

नो चेव णं नरएसु नेरइया निद्दायंति वा पयलायंति वा सुतिं वा रतिं वा धितिं वा मतिं वा उवलभंति। ते णं तत्थ उज्जलं विउलं पगाढं कक्कसं कडुयं चंडं रुक्खं दुग्गं तिव्वं दुरहियासं नरएसु नेरइया निरयवेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति।

६. से जहानामए रुक्खे सिया पव्वतग्गे जाते मूलच्छिन्ने अग्गे गुरुए जतो निन्नं, जतो दुग्गं, जतो विसमं, ततो पवडति।

एवामेव तहप्पगारे पुरिसज्जाते गब्भातो गब्भं जम्मातो जम्मं मारातो मारं दुक्खातो दुक्खं दाहिणगामिए नेरइए किण्हपक्खिते आगमेस्साणं दुल्लभबोधिते यावि भवति।

७. किरियावादी यावि भवति, तं जहा—आहियवादी आहियपण्णे आहियदिट्ठी सम्मावादी नीयावादी संति परलोगवादी अत्थि इहलोगे, अत्थि परलोगे, अत्थि माता, अत्थि पिता, अत्थि अरहंता, अत्थि चक्कवट्टी, अत्थि बलदेवा, अत्थि वासुदेवा, अत्थि सुकडदुक्कडाणं फलवित्तिविसेसे।

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति।

दुच्चिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति, सफले कल्लाणपावए, पच्चायंति जीवा, अत्थि निरयादि हु अत्थि सिद्धी।

से एवंवादी एवंपण्णे एवंदिट्ठीच्छंदरागमभिनिविट्ठे आवि भवति।

से य भवति महिच्छे जाव उत्तरगामिए नेरइए सुक्कपक्खिते आगमेस्साणं सुलभबोधिते यावि भवति।

८. सव्वधम्मरुई यावि भवति। तस्स णं बहूइं सील-व्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहो-ववासाइं नो सम्मं पट्ठविताइं भवंति।

एवं दंसणसावगोत्ति पढमा उवासगपडिमा। —दसा. द. ६, सु. १-८ नवसुत्ताणि

१२. अहावरा पंचमा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवति। तस्स णं बहूइं सील-व्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं सम्मं पट्ठविताइं भवंति।

से णं सामाइयं देसावगासियं सम्मं अणुपालित्ता भवति।

से णं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहोववासं सम्मं अणुपालित्ता भवति।

से णं एगराइयं उवासगपडिमं सम्मं अणुपालेत्ता भवति।

से णं असिणाणए वियडभोई मउलिकडे दियाबंभचारी रत्तिं परिमाणकडे।

से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा, उक्कोसेणं पंचमासे विहरेज्जा। पंचमा उवासगपडिमा।

१३. अहावरा छट्ठा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवति। तस्स णं बहूइं सील-व्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं सम्मं पट्ठविताइं भवंति।

से णं सामाइयं देसावगासियं सम्मं अणुपालित्ता भवति।

से णं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहोववासं सम्मं अणुपालित्ता भवति।

से णं एगराइयं उवासगपडिमं सम्मं अणुपालेत्ता भवति।

से णं असिणाणए वियडभोई मउलिकडे रातोवरातं बंभचारी।

सचित्ताहारे से अपरिण्णाते भवति।

से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा, उक्कोसेणं छम्मासे विहरेज्जा छट्ठा उवासगपडिमा। —दसा. द. ६, सु. १२-१३

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पंच हत्थुत्तरे होत्था, तं जहा—

१. हत्थुत्तराहिं चुए, चइत्ता गब्भं वक्कंते। २. हत्थुत्तराहिं गब्भातो गब्भं साहरिते।

३. हत्थुत्तराहिं जाते। ४. हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता आगारातो अणगारितं पव्वइए।

५. हत्थुत्तराहिं अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने। सातिणा परिनिव्वुए भयवं जाव भुज्जो-भुज्जो उवदंसेइ। —त्ति बेमि॥

—दसा. द. ८, सु. १

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे रायगिहे नगरे गुणसिलए चेइए बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावगाणं बहूणं सावियाणं बहूणं देवाणं बहूणं देवीणं सदेवमणुयासुराए परिसाए मज्झगते एवं आइक्खइ एवं भासति एवं पण्णवेइ एवं परूवेइ आयातिट्ठाणे णामं अज्जो! अज्झयणे, सअट्ठं सहेउयं सकारणं सुत्तं च अत्थं च तदुभयं च भुज्जो-भुज्जो उवदंसेति। —त्ति बेमि॥

—दसा. द. १०, सु. ३५

इनके अतिरिक्त अनेक संक्षिप्त, विस्तृत, संशोधित एवं परिवर्धित पाठों की सूची नहीं दी है। आशा है सुज्ञ पाठक स्वयं समझ लेंगे।

□□

सारांश

इस सूत्र के नाम आगम में दो प्रकार से है—१. दसा, २. आचारदशा, किन्तु इसी के आधार से इसका पूरा नाम दशाश्रुतस्कन्ध कहा जाता है। यह पूरा नाम प्राचीन व्याख्या ग्रन्थों आदि में उपलब्ध नहीं है अतः यह अर्वाचीन प्रनीत होता है। इस सूत्र के दस अध्ययन हैं, जिनको पहली दशा यावत् दसवी दशा कहा जाता है।

पहली दशा में २० असमाधिस्थान हैं। दूसरी दशा में २१ सबलदोष हैं। तीसरी दशा में ३३ आशातना हैं। चौथी दशा में आचार्य की आठ सम्पदा हैं और चार कर्तव्य कहे गए हैं तथा चार कर्तव्य शिष्य के कहे गए हैं। पांचवी दशा मे चित्त की समाधि होने के १० बोल कहे हैं। छट्ठी दशा में श्रावक की ११ प्रतिमाएं हैं। सातवी दशा में भिक्षु की १२ पडिमाएं हैं। आठवीं दशा का सही स्वरूप व्यवच्छिन्न हो गया या विकृत हो गया है। इसमें साधुओं की समाचारी का वर्णन था। नौवीं दशा में ३० महामोहनीय कर्मबन्ध के कारण है। दसवीं दशा में ९ नियाणों का निषेध एवं वर्णन है तथा उनसे होने वाले अहित का कथन है।

प्रथम दशा का सारांश

साध्वाचार (संयम) के सामान्य दोषों को या अतिचारों को यहां असमाधिस्थान कहा है। जिस प्रकार शरीर की समाधि में बाधक सामान्य पीड़ाएं भी होती हैं और विशेष बड़े-बड़े रोग भी होते हैं यथा—१. सामान्य चोट लगना, कांटा गड़ना, फोड़ा होना, हाथ पांव अंगुली आदि अवयव दुखना, दांत दुखना और इनका अल्प समय में ठीक हो जाना, २. अत्यन्त व्याकुल एवं अशक्त कर देने वाले बड़े-बड़े रोग होना।

उसी प्रकार सामान्य दोष अर्थात् संयम के अतिचारों (अविधियों) को इस दशा में असमाधि-स्थान कहा गया है। इनके सेवन से संयम निरतिचार नही रहता है और उसकी शुद्ध आराधना भी नहीं होती है।

बीस असमाधिस्थान

१. उतावल से (जल्दी जल्दी) चलना, २. अंधकार मे चलते वक्त प्रमार्जन न करना,
३. सही तरीके से प्रमार्जन न करना, ४. अनावश्यक पाट आदि लाना या रखना,
५. बड़ों के सामने बोलना, ६. वृद्धों को असमाधि पहुंचाना,
७. पांच स्थावर कायों की बराबर यतना नहीं करना अर्थात् उनकी विराधना करना करवाना,
८. क्रोध से जलना अर्थात् मन में क्रोध रखना,
९. क्रोध करना अर्थात् वचन या व्यवहार द्वारा क्रोध को प्रकट करना,
१०. पीठ पीछे निन्दा करना,

११. कषाय या अविवेक से निश्चयकारी भाषा बोलना, १२. नया कलह करना,
१३. पुराने शान्त कलह को पुनः उभारना,
१४. अकाल (चौंतीस प्रकार के अस्वाध्यायों) में सूत्रोच्चारण करना,
१५. सचित्त रज या अचित्त रज से युक्त हाथ पांव का प्रमार्जन नहीं करना अर्थात् प्रमार्जन किए बिना बैठ जाना या अन्य कार्य में लग जाना,
१६. अनावश्यक बोलना, वाक्युद्ध करना एवं जोर-जोर से आवेश युक्त बोलना,
१७ संघ में या संगठन में अथवा प्रेम सम्बन्ध में भेद उत्पन्न हो ऐसा भाषण करना,
१८. कलह करना, झगड़ना, तुच्छता पूर्ण व्यवहार करना,
१९. मर्यादित समय के अतिरिक्त दिन भर कुछ न कुछ खाते ही रहना,
२०. अनेषणीय आहार-पानी आदि ग्रहण करना अर्थात् एषणा के छोटे दोषों की उपेक्षा करना।

दूसरी दशा का सारांश

सबल, प्रबल, ठोस, भारी, वजनदार, विशेष बलवान आदि लगभग एकार्थक शब्द हैं।

संयम के सबल दोषों का अर्थ है कि सामान्य दोषों की अपेक्षा बड़े दोष या विशेष दोष। इस दशा में ऐसे बड़े दोषों को "सबल दोष" कहा गया है। ये दोष संयम के अनाचार रूप होते हैं। इनका प्रायश्चित्त भी गुरुतर होता है तथा ये संयम में विशेष असमाधि उत्पन्न करने वाले हैं। प्रकारान्तर से कहें तो ये शबल दोष संयम में बड़े अपराध हैं और असमाधिस्थान संयम में छोटे अपराध हैं।

इक्कीस सबल दोष

१. हस्तकर्म करना, २. मैथुन सेवन करना, ३. रात्रिभोजन करना, ४. साधु के अर्थात् अपने निमित्त बने आधाकर्मी आहारपानी आदि को लेना, ५. राजा के घर गोचरी जाना, ६. सामान्य साधु-साध्वियों के निमित्त बने उद्देशक आहार आदि लेना या साधु के लिए खरीदना आदि क्रिया की हो ऐसे आहारादि पदार्थ लेना, ७. बारम्बार तप त्याग आदि का भंग करना, ८. बारम्बार गण का त्याग करना और स्वीकार करना, ९, १९. घुटने (जानु) जल में डूबे इतने पानी में एक मास में तीन बार या वर्ष में १० बार चलना। अर्थात् आठ महीने के आठ और एक अधिक कुल ९ बार उतरने पर सबल दोष नहीं है। १०, २०. एक मास में तीन बार और वर्ष में १० बार (उपाश्रय के लिए) माया कपट करना। अर्थात् उपाश्रय दुर्लभ होने पर ९ बार वर्ष में माया करना पड़े यह सबल दोष नहीं है। ११. शय्यातर पिंड ग्रहण करना, १२-१४. जानकर संकल्प पूर्वक हिंसा करना, झूठ बोलना, अदत्तग्रहण करना। १५-१७. त्रस स्थावर जीव युक्त अथवा सचित्त स्थान पर या उसके अत्यधिक निकट बैठना, सोना, खड़े रहना। १८. जानकर सचित्त हरी वनस्पति (१. मूल, २. कंद, ३. स्कन्ध, ४. छाल, ५. कोंपल, ६. पत्र, ७. पुष्प, ८. फल, ९. बीज और १० हरी वनस्पति) खाना। २१. जानकर सचित्त जल के लेप युक्त हाथ या बर्तन से गोचरी लेना।

यद्यपि अतिचार-अनाचार अन्य अनेक हो सकते हैं, फिर भी यहां अपेक्षा से २० असमाधिस्थान और २१ सबल दोष कहे गए हैं। अन्य दोषों को यथा योग्य विवेक से इन्हीं में अंतर्भावित कर लेना चाहिए।

तीसरी दशा का सारांश : तेतीस आशातना

संयम के मूलगुण एव उत्तरगुण के दोषो के अतिरिक्त अविवेक और अभक्ति के संयोग से गुरु रत्नाधिक आदि के साथ की जाने वाली प्रवृत्ति को आशातना कहते हैं। इससे संयम दूषित होता है एवं गुणों का नाश होता है। क्योंकि विनय और विवेक के सद्भाव में ही गुणों की वृद्धि होती है और पापकर्म का बन्ध नहीं होता है। दशवैकालिकसूत्र में कहा भी है—

एवं धम्मस्स विणओ मूलं परमो से मोक्खो।
जेण कित्तिं सुयं सिग्घं निस्सेसं चाभिगच्छई॥

—दश. अ. ९, उ. २, गा. २

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधइ॥

—दश. अ. ४, गा. ८

बड़ों का विनय नही करना एवं अविनय करना ये दोनो ही आशातना हैं। आशातना देव गुरु की एव संसार के किसी भी प्राणी की हो सकती है।

धर्म सिद्धान्तों की भी आशातना हो सकती है। अतः आशातना की विस्तृत परिभाषा इस प्रकार है—देव गुरु की विनय भक्ति न करना, अविनय अभक्ति करना, उनकी आज्ञा भंग करना या निन्दा करना, धर्म सिद्धान्तों की अवहेलना करना या विपरीत प्ररूपणा करना और किसी भी प्राणी के प्रति अप्रिय व्यवहार करना, उसकी निन्दा तिरस्कार करना "आशातना" है। लौकिक भाषा में इसे असभ्य व्यवहार कहा जाता है। इन सभी अपेक्षाओं से आवश्यकसूत्र में ३३ आशातनाएं कही हैं। प्रस्तुत दशा मे केवल गुरु रत्नाधिक (बड़े) की आशातना के विषयों का ही कथन किया गया है।

बड़ों के साथ चलने बैठने खड़े रहने में, आहार, विहार, निहार सम्बन्धी समाचारी के कर्तव्यों में, बोलने मे, शिष्टाचार में, भावों में, आज्ञापालन मे अविवेक अभक्ति से प्रवर्तन करना "आशातना" है।

तात्पर्य यह है कि बड़ों के साथ प्रत्येक प्रवृत्ति मे सभ्यता शिष्टता दिखे और जिस व्यवहार प्रवर्तन से बड़ों का चित्त प्रसन्न रहे, उस तरह रहते हुए ही प्रत्येक प्रवृत्ति करनी चाहिए।

चौथी दशा का सारांश : आठ सम्पदा

साधु साध्वियों के समुदाय की समुचित व्यवस्था के लिए आचार्य का होना नितान्त आवश्यक होता है। व्यवहारसूत्र उद्देशक तीन में नवदीक्षित (तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय तक), बालक (१६ वर्ष की उम्र तक), तरुण (४० वर्ष की वय तक के) साधु-साध्वियों को आचार्य एवं उपाध्याय की निश्रा के बिना रहने का स्पष्ट निषेध है। साथ ही शीघ्र ही अपने आचार्य उपाध्याय के निश्चय करने का ध्रुव विधान है। साध्वी के लिए "प्रवर्तिनी" की निश्रा सहित तीन पदवीधरों की निश्रा होना आवश्यक कहा है। ये पदवीधर शिष्य-शिष्याओं के व्यवस्थापक एवं अनुशासक होते हैं, अतः इनमें विशिष्ट गुणो की योग्यता होना आवश्यक है। व्यवहारसूत्र के तीसरे उद्देशक में इनकी आवश्यक एवं जघन्य योग्यता के गुण कहे गए हैं।

प्रस्तुत दशा में आचार्य के आठ मुख्य गुण कहे हैं, यथा—

१. आचारसम्पन्न— सम्पूर्ण संयम सम्बन्धी जिनाज्ञा का पालन करने वाला, क्रोध मानादि कषायों से रहित, शान्त स्वभाव वाला।

२. श्रुतसम्पन्न— आगमोक्त क्रम से शास्त्रों को कंठस्थ करने वाला एवं उनके अर्थ परमार्थ को धारण करने वाला।

३. शरीरसम्पन्न— समुचित संहनन संस्थान वाला एवं सशक्त और स्वस्थ शरीर वाला।

४. वचनसम्पन्न— आदेय वचन वाला, मधुर वचन वाला, राग-द्वेष रहित एवं भाषा सम्बन्धी दोषों से रहित वचन बोलने वाला।

५. वाचनासम्पन्न— सूत्रों के पाठों का उच्चारण करने कराने में, अर्थ परमार्थ को समझाने में तथा शिष्य की क्षमता योग्यता का निर्णय करके शास्त्र ज्ञान देने में निपुण। योग्य शिष्यों को राग द्वेष या कषाय रहित होकर अध्ययन कराने के स्वभाव वाला।

६. मतिसम्पन्न— स्मरणशक्ति एवं चारों प्रकार की बुद्धि से युक्त बुद्धिमान हो अर्थात् भोला भद्रिक न हो।

७. प्रयोगमतिसम्पन्न— वाद-विवाद (शास्त्रार्थ) में, प्रश्नों (जिज्ञासाओं) के समाधान करने में परिषद् का विचार कर योग्य विषय का विश्लेषण करने में एवं सेवा-व्यवस्था में समय पर उचित बुद्धि की स्फुरणा हो, समय पर सही (लाभदायक) निर्णय एवं प्रवर्तन कर सके।

८. संग्रहपरिज्ञासम्पदा— साधु-साध्वी की व्यवस्था एवं सेवा के द्वारा एवं श्रावक-श्राविकाओं की विचरण तथा धर्म प्रभावना के द्वारा भक्ति निष्ठा ज्ञान विवेक की वृद्धि करने वाला। जिससे कि संयम के अनुकूल विचरण क्षेत्र, आवश्यक उपधि, आहार की प्रचुर उपलब्धि होती रहे एवं सभी निराबाध संयम आराधना करते रहें।

शिष्यों के प्रति आचार्य के कर्तव्य

१. संयम सम्बन्धी और त्याग-तप सम्बन्धी समाचारी का ज्ञान कराना एवं उसके पालन में अभ्यस्त करना। समूह में रहने की या अकेले रहने की विधियों एवं आत्मसमाधि के तरीकों का ज्ञान एवं अभ्यास कराना।

२. आगमों का क्रम से अध्ययन करवाना, अर्थ ज्ञान करवाकर उनसे किस तरह हिताहित होता है, यह समझाना एवं उनसे पूर्ण आत्मकल्याण साधने का बोध देते हुए परिपूर्ण वाचना देना।

३. शिष्यों की श्रद्धा को पूर्ण रूप से दृढ़ बनाना और ज्ञान में एवं अन्य गुणों में अपने समान बनाने का प्रयत्न करना।

४. शिष्यों में उत्पन्न क्रोध, कषाय, कपट, आकांक्षाओं का उचित उपायों द्वारा शमन करना। ऐसा करते हुए भी अपने संयम गुणों की एवं आत्मसमाधि की पूर्णरूपेण सुरक्षा एवं वृद्धि करना।

गण एवं आचार्य के प्रति शिष्यों का कर्तव्य

१. आवश्यक उपकरणों की प्राप्ति, सुरक्षा एवं विभाजन में चतुर होना ।
२. आचार्य गुरुजनों के अनुकूल ही सदा प्रवर्तन करना ।
३. गण के यश की वृद्धि, अपयश का निवारण एवं रत्नाधिक को यथायोग्य आदरभाव देना और सेवा करने में सिद्धहस्त होना ।
४. शिष्यवृद्धि, उनके संरक्षण, शिक्षण में सहयोगी होना । रोगी साधुओं की यथायोग्य सार-सम्भाल करना एवं मध्यस्थ भाव से साधुओं की शान्ति बनाए रखने में निपुण होना ।

पांचवी दशा का सारांश : चित्तसमाधि के दस बोल

सांसारिक आत्मा को धन-वैभव भौतिक सामग्री की प्राप्ति होने पर आनन्द का अनुभव होता है, उसी प्रकार आत्मगुणों की अनुपम उपलब्धि में आत्मार्थी मुमुक्षुओं को अनुपम आनन्दरूप चित्त-समाधि की प्राप्ति होती है—

१. अनुपम धर्मभावों की प्राप्ति या वृद्धि होने पर,
२. जातिस्मरणज्ञान होने पर,
३. अत्यन्त शुभ स्वप्न देखने पर, ४. देवदर्शन होने पर, ५. अवधिज्ञान,
६. अवधिदर्शन, ७. मन:पर्यवज्ञान, ८. केवलज्ञान
९. केवलदर्शन उत्पन्न होने पर, १०. कर्मों से मुक्त हो जाने पर ।

छट्ठी दशा का सारांश : श्रावकप्रतिमा

श्रावक का प्रथम मनोरथ आरम्भ परिग्रह की निवृत्तिमय साधना करने का है । उस निवृत्ति-साधना के समय वह विशिष्ट साधना के लिए श्रावक की प्रतिमाओं को अर्थात् विशिष्ट प्रतिज्ञाओं को धारण कर सकता है । अनिवृत्त साधना के समय भी श्रावक समकित की प्रतिज्ञा सहित सामायिक पौषध आदि बारह व्रतों का आराधन करता है किन्तु उस समय वह अनेक परिस्थितियों एवं जिम्मेदारियों के कारण अनेकों आगार के साथ उन व्रतों को धारण करता है किन्तु निवृत्तिमय अवस्था में आगारों से रहित उपासक प्रतिमाओं का पालन दृढ़ता के साथ कर सकता है ।

११ प्रतिमाएं

१. आगाररहित निरतिचार सम्यक्त्व की प्रतिमा का पालन । इसमें पूर्व के धारण किए अनेक नियम एवं बारह व्रतों का पूर्व प्रतिज्ञा एवं आगार अनुसार पालन किया जाता है, उन नियमों को छोड़ा नही जाता ।
२. अनेक छोटे बड़े नियम प्रत्याख्यान अतिचाररहित और आगाररहित पालन करने की प्रतिज्ञा करना और यथावत पालन करना ।
३. प्रातः, मध्याह्न, सायं नियत समय पर ही निरतिचार शुद्ध सामायिक करना एवं १४ नियम भी नियमित पूर्ण शुद्ध रूप से आगाररहित धारण करके यथावत पालन करना ।

४. उपवास युक्त छः पौषध (दो अष्टमी, दो चतुर्दशी, अमावस, पूर्णिमा के दिन) आगार रहित निरतिचार पालन करना।
५. पौषध के दिन पूर्ण रात्रि या नियत समय तक कायोत्सर्ग करना।
६. प्रतिपूर्ण ब्रह्मचर्य का आगार रहित पालन करना। साथ ही ये नियम रखना—
   १. स्नानत्याग, २. रात्रिभोजनत्याग, ३. धोती की एक लांग खुली रखना।
७. आगाररहित सचित्त वस्तु खाने का त्याग।
८. आगाररहित स्वयं हिंसा करने का त्याग करना।
९. दूसरों से सावद्य कार्य कराने का त्याग अर्थात् धर्मकार्य की प्रेरणा कर सकता है, उसके अतिरिक्त किसी कार्य की प्रेरणा या आदेश नहीं कर सकता है।
१०. सावद्य कार्य के अनुमोदन का भी त्याग करना अर्थात् अपने लिए बनाए गए आहारादि किसी भी पदार्थ को न लेना।
११. श्रमण के समान वेष एवं चर्या धारण करना।

मौन करना, विहार करना, सामुदायिक गोचरी करना या आजीवन संयमचर्या धारण करना इत्यादि का इसमें प्रतिबंध नहीं है। अतः वह भिक्षा आदि के समय स्वयं को प्रतिमाधारी श्रावक ही कहता है और ज्ञातिजनों के घरों में गोचरी जाता है। आगे-आगे की प्रतिमाओं में पहले-पहले की प्रतिमाओं का पालन करना आवश्यक होता है।

सातवीं दशा का सारांश : बारह भिक्षुप्रतिमा

भिक्षु का दूसरा मनोरथ है कि "मैं एकलविहारप्रतिमा धारण करके विचरण करूं।" भिक्षुप्रतिमा भी आठ मास की एकलविहारप्रतिमा युक्त होती है। विशिष्ट साधना के लिए एवं कर्मों की अत्यधिक निर्जरा के लिए आवश्यक योग्यता से सम्पन्न गीतार्थ (बहुश्रुत) भिक्षु इन बारह प्रतिमाओं को धारण करता है। इनके धारण करने के लिए प्रारम्भ के तीन संहनन, ९ पूर्वों का ज्ञान, २० वर्ष की दीक्षापर्याय एवं २९ वर्ष की उम्र होना आवश्यक है। अनेक प्रकार की साधनाओं के एवं परीक्षाओं के बाद ही भिक्षुप्रतिमा धारण करने की आज्ञा मिलती है।

प्रतिमाधारी के विशिष्ट नियम

१. दाता का एक पैर देहली के अन्दर और एक पैर बाहर हो। स्त्री गर्भवती आदि न हो, एक व्यक्ति का ही भोजन हो, उसमें से ही विवेक के साथ लेना।
२. दिन के तीन भाग कल्पित कर किसी एक भाग में से गोचरी लाना, खाना।
३. छः प्रकार की भ्रमण विधि के अभिग्रह से गोचरी लेने जाना।
४. अज्ञात क्षेत्र में दो दिन और ज्ञात—परिचित क्षेत्रों में एक दिन से अधिक नहीं ठहरना।
५. चार कारणों के अतिरिक्त मौन ही रखना। धर्मोपदेश भी नहीं देना।
६-७. तीन प्रकार की शय्या और तीन प्रकार के संस्तारक का ही उपयोग करना।
८-९. मकान में ठहरने के बाद उस स्थान पर कोई स्त्री-पुरुष आवें, ठहरें या अग्नि लग जाय तो भी बाहर नहीं निकलना।
१०-११. पांव से कांटा या आंख में से रज आदि नहीं निकालना।

१२. सूर्यास्त के बाद एक कदम भी नहीं चलना । रात्रि में मल-मूत्र की बाधा होने पर जा-
आ सकता है ।
१३. हाथ पांव के सचित्त रज लग जाए तो प्रमार्जन नहीं करना और स्वतः अचित्त न हो
जाए तब तक गोचरी आदि भी नहीं जाना ।
१४. अचित्त जल से भी सुखशान्ति के लिए हाथ पांव नहीं धोना ।
१५. उन्मत्त पशु भी चलते समय सामने आ जाए तो मार्ग नहीं छोड़ना ।
१६. धूप से छाया में और छाया से धूप में नहीं जाना ।

ये नियम सभी प्रतिमाओं में यथायोग्य समझ लेना ।

प्रथम सात प्रतिमाएँ एक-एक महिने की हैं । उनमें दत्ति की संख्या १ से ७ तक वृद्धि होती है । आठवीं नवमी दसवीं प्रतिमाएँ सात-सात दिन की एकान्तर तप युक्त की जाती हैं । सूत्रोक्त तीन-तीन आसन में से रात्रि भर कोई भी एक आसन किया जाता है ।

ग्यारहवीं प्रतिमा में छट्ठ के तप के साथ एक अहोरात्र का कायोत्सर्ग किया जाता है ।

बारहवीं भिक्षुप्रतिमा में अट्ठमतप के साथ श्मशान आदि में एक रात्रि का कायोत्सर्ग किया जाता है ।

आठवीं दशा

इस दशा का नाम पर्यूषणाकल्प है । विक्रम की तेरहवीं चौदहवी शताब्दि में अर्थात् वीर निर्वाण की अठारहवीं उन्नीसवी शताब्दी में इस दशा के अवलम्बन से कल्पसूत्र की रचना करके उसे प्रामाणिक प्रसिद्ध करके प्रचारित किया गया है । अन्य किसी विस्तृत सूत्र के पाठों के साथ इस दशा को जोड़कर और स्वच्छंदतापूर्वक अनगिनत परिवर्तन करके इस दशा को पूर्ण विकृत करके व्यवच्छिन्न कर दिया गया है । अतः यह दशा अनुपलब्ध व्यवच्छिन्न समझनी चाहिए । इसमें भिक्षुओं के चातुर्मास एवं पर्यूषणा सम्बन्धी समाचारी के विषयों का कथन था ।

नवमी दशा का सारांश

आठ कर्मों में मोहनीयकर्म प्रबल है, महामोहनीय कर्म उससे भी तीव्र होता है । उसके बंध सम्बन्धी ३० कारण यहां कहे गए हैं ।

तीस महामोह के स्थान

१-३. त्रस जीवों को जल में डुबाकर, श्वास रूंधकर, धुआं करके, मारना,
४-५. शस्त्रप्रहार से शिर फोड़कर. शिर पर गीला चमड़ा बांधकर मारना,
६. धोखा देकर भाला आदि से मारकर हंसना,
७. मायाचार करके उसे छिपाना या शास्त्रार्थ छिपाना, ८. मिथ्या आक्षेप लगाना,
९. भरी सभा में मिश्र भाषा का प्रयोग करके कलह करना,
१०. विश्वस्त मंत्री द्वारा राजा को राज्यभ्रष्ट कर देना,
११-१२. अपने को ब्रह्मचारी या बालब्रह्मचारी न होते हुए भी प्रसिद्ध करना,
१३-१४. उपकारी पर अपकार करना, १५. रक्षक होकर भक्षक का कार्य करना,
१६-१७. अनेकों के रक्षक नेता या स्वामी आदि को मारना,

१८. दीक्षार्थी या दीक्षित को संयम से च्युत करना, १९. तीर्थंकरों की निन्दा करना,

२०. मोक्षमार्ग की द्वेषपूर्वक निन्दा करके भव्य जीवों को मार्ग भ्रष्ट करना,

२१-२२. उपकारी आचार्य, उपाध्याय की अवहेलना करना, उनका आदर, सेवा, भक्ति न करना।

२३-२४. बहुश्रुत या तपस्वी न होते हुए भी बहुश्रुत या तपस्वी कहना,

२५. कलुषित भावों के कारण समर्थ होते हुए भी सेवा नहीं करना,

२६. संघ में भेद उत्पन्न करना, २७. जादू-टोना आदि करना,

२८. कामभोगों में अत्यधिक आसक्ति एवं अभिलाषा रखना,

२९. देवों की शक्ति का अपलाप करना, उनकी निन्दा करना,

३०. देवों देवता के नाम से झूठा ढोंग करना।

अध्यवसायों की तीव्रता या क्रूरता के होने से इन प्रवृत्तियों द्वारा महामोहनीय कर्म का बन्ध होता है।

दसवीं दशा का सारांश

संयम तप की साधना रूप सम्पत्ति को भौतिक लालसाओं की उत्कटता के कारण आगे के भव में ऐच्छिक सुख या अवस्था प्राप्त करने के लिए दाव पर लगा देना "निदान" (नियाण करना) कहा जाता है। ऐसा करने से यदि संयम तप की पूंजी अधिक हो तो निदान करना फलीभूत हो जाता है किन्तु उसका परिणाम हानिकर होता है अर्थात् राग-द्वेषात्मक निदानों के कारण निदान फल के साथ मिथ्यात्व एवं नरकादि दुर्गति की प्राप्ति होती है और धर्मभाव के निदानों से मोक्षप्राप्ति में दूरी पड़ती है। अतः निदान कर्म त्याज्य है।

नव निदान

१. निर्ग्रन्थ द्वारा पुरुष के भोगों का निदान।

२. निर्ग्रन्थी द्वारा स्त्री के भोगों का निदान।

३. निर्ग्रन्थ द्वारा स्त्री के भोगों का निदान।

४. निर्ग्रन्थी द्वारा पुरुष के भोगों का निदान।

५-६-७. संकल्पानुसार दैविक सुख का निदान।

८. श्रावक अवस्था प्राप्ति का निदान।

९. साधु जीवन प्राप्ति का निदान।

इन निदानों का दुष्फल जानकर निदान रहित संयम तप की आराधना करनी चाहिए।

॥ दशाश्रुतस्कन्ध का सारांश समाप्त ॥

बृहत्कल्पसूत्र

बृहत्कल्पसूत्र

प्रथम उद्देशक

साधु-साध्वी के प्रलंब-ग्रहण करने का विधि-निषेध

१. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा आमे ताल-पलम्बे अभिन्ने पडिग्गाहित्तए।

२. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा आमे ताल-पलम्बे भिन्ने पडिग्गाहित्तए।

३. कप्पइ निग्गंथाणं पक्के ताल-पलम्बे भिन्ने वा अभिन्ने वा पडिग्गाहित्तए।

४. नो कप्पइ निग्गंथीणं पक्के ताल-पलम्बे अभिन्ने पडिग्गाहित्तए।

५. कप्पइ निग्गंथीणं पक्के ताल-पलम्बे भिन्ने पडिग्गाहित्तए; से वि य विहिभिन्ने, नो चेव णं अविहिभिन्ने।

१. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को अभिन्न शस्त्र-अपरिणत कच्चे ताल-प्रलम्ब ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

२. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को भिन्न-शस्त्रपरिणत कच्चा ताल-प्रलम्ब ग्रहण करना कल्पता है।

३. निर्ग्रन्थों को खण्ड-खण्ड किया हुआ या अखण्ड-पक्व (शस्त्रपरिणत) ताल-प्रलम्ब ग्रहण करना कल्पता है।

४. निर्ग्रन्थियों को अखण्ड पक्व (शस्त्रपरिणत) ताल-प्रलम्ब ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

५. निर्ग्रन्थियों को खण्ड-खण्ड किया हुआ पक्व (शस्त्रपरिणत) ताल-प्रलम्ब ग्रहण करना कल्पता है। वह भी विधिपूर्वक भिन्न (अत्यन्त छोटे-छोटे खण्डकृत) हो तो ग्रहण करना कल्पता है, अविधि-भिन्न हो तो ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

विवेचन—सूत्रपठित 'ताल-प्रलम्ब' पद सभी फलों का सूचक है। "एक के ग्रहण करने पर सभी सजातीय ग्रहण कर लिए जाते हैं"—इस न्याय के अनुसार 'ताल-प्रलम्ब' पद से 'ताल-फल' के अतिरिक्त केला, आम, अनार आदि फल भी ग्रहण करना अभीष्ट है।

इसी प्रकार 'प्रलम्ब' पद को अन्त:दीपक (अन्त के ग्रहण से आदि एवं मध्य का ग्रहण) मानकर मूल, कन्द, स्कन्ध आदि भी ग्रहण किये गये हैं।

प्रथम, द्वितीय सूत्र में 'आम' पद का अपक्व अर्थ और 'अभिन्न' पद का शस्त्र-अपरिणत अर्थ एवं 'भिन्न' पद का शस्त्र-परिणत अर्थ अभीष्ट है।

तीसरे, चौथे और पांचवें सूत्र में 'अभिन्न' पद का अखण्ड अर्थ एवं 'पक्व' पद का शस्त्र-परिणत अर्थ अभीष्ट है।

भाष्य में 'तालप्रलम्ब' पद से वृक्ष के दस विभागों को ग्रहण किया गया है, यथा—

मूले कंदे खंधे, तया य साले पवाल पत्ते य।
पुप्फे फले य बीए, पलंब सुत्तम्मि दस भेया॥

—बृहत्कल्प उद्दे. १, भाष्य गा. ८५४

इन सूत्रों का संयुक्त अर्थ यह है कि साधु और साध्वी पक्व या अपक्व और शस्त्र-अपरिणत १. मूल, २. कन्द, ३. स्कन्ध, ४. त्वक्, ५. शाल, ६. प्रवाल, ७. पत्र, ८. पुष्प, ९. फल और १०. बीज को ग्रहण नहीं कर सकते हैं। किन्तु ये ही यदि शस्त्र-परिणत हो जाएँ तो साधु और साध्वी ग्रहण कर सकते हैं।

इन सूत्रों में प्रयुक्त 'आम, पक्व, भिन्न एवं अभिन्न' इन चारों पदों की भाष्य में द्रव्य एवं भाव से चौभंगियां करके भी यही बताया गया है कि भाव से पक्व या भाव से भिन्न अर्थात् शस्त्रपरिणत तालप्रलम्ब हो तो भिक्षु को ग्रहण करना कल्पता है।

प्रथम सूत्र में कच्चे तालप्रलम्ब शस्त्रपरिणत न हों तो अग्राह्य कहे हैं एवं दूसरे सूत्र में उन्हीं को शस्त्रपरिणत (भिन्न) होने पर ग्राह्य कहा है।

जिस प्रकार दूसरे सूत्र में द्रव्य और भाव से भिन्न होने पर कच्चे तालप्रलम्ब ग्राह्य कहे हैं उसी प्रकार तीसरे सूत्र में द्रव्य और भाव से पक्व तालप्रलम्ब भिन्न या अभिन्न हो तो भिक्षु के लिये ग्राह्य कहे हैं। चौथे सूत्र में द्रव्य और भाव से पक्व तालप्रलम्ब भी अभिन्न हो तो साध्वी को ग्रहण करने का निषेध किया गया है। पांचवें सूत्र में द्रव्य और भाव से पक्व तालप्रलम्ब के बड़े-बड़े लम्बे टुकड़े लेने का साध्वी के लिये निषेध करके छोटे-छोटे टुकड़े हों तो ग्राह्य कहे हैं।

अचित्त होते हुए भी अखण्ड या लम्बे खण्ड साध्वी को लेने के निषेध का कारण इस प्रकार है—

अभिन्न—अखण्ड केला आदि फल या लम्बा शकरकंद, मूला आदि कन्द-मूल का लम्बा आकार देखकर किसी निर्ग्रन्थी के मन में विकार भाव जागृत हो सकता है और वह उससे अनंगक्रीडा भी कर सकती है, जिससे उसके संयम और स्वास्थ्य की हानि होना सुनिश्चित है। अतः निर्ग्रन्थी को अभिन्न फल या कन्द आदि लेने का निषेध किया गया है। साथ ही अविधिपूर्वक भिन्न ककड़ी आदि फलों के, मूला आदि कन्दों के, ऐसे लम्बे खण्ड जिन्हें देखकर कामवासना का जागृत होना सम्भव हो, उन्हें लेने का भी निषेध किया गया है। किन्तु विधिपूर्वक भिन्न अर्थात् इतने छोटे-छोटे खण्ड किए हुए हों कि जिन्हें देखकर पूर्वोक्त विकारभाव जागृत न हो तो ऐसा फल या कन्द आदि साध्वी ग्रहण कर सकती है।

जो फल पककर वृक्ष से स्वयं नीचे गिर पड़ता है अथवा पक जाने पर वृक्ष से तोड़ लिया जाता है, उसे द्रव्यपक्व कहते हैं। वह द्रव्यपक्व फल भी सचित्त-अचित्त बीज, गुठली आदि से संयुक्त होता है। अतः उसे जब शस्त्र से विदारित कर, गुठली आदि को दूर कर या जिसमें अनेक बीज हैं

उसे अग्नि आदि में पकाकर उबालकर या भूनकर सर्वथा असंदिग्ध रूप से अचित्त-निर्जीव कर लिया गया हो, तब वह भावपक्व—शस्त्र-परिणत कहा जाता है एवं ग्राह्य होता है।

इससे विपरीत—अर्थात् छेदन-भेदन किये जाने पर या अग्नि आदि में पकाने पर भी अर्द्धपक्व होने की दशा में उसके सचित्त रहने की सम्भावना हो तो वह भाव से अपक्व—शस्त्र-अपरिणत कहा जाता है एवं अग्राह्य होता है। विस्तृत विवेचन एवं चौभंगियों के लिये भाष्य एवं वृत्ति का अवलोकन करना चाहिए।

ग्रामादि में साधु-साध्वी के रहने की कल्पमर्यादा

६. से १. गामंसि वा, २. नगरंसि वा, ३. खेडंसि वा, ४. कब्बडंसि वा, ५. मडंबंसि वा, ६. पट्टणंसि वा, ७. आगरंसि वा, ८. दोणमुहंसि वा, ९. निगमंसि वा, १०. आसमंसि वा, ११. सन्निवेसंसि वा, १२. संवाहंसि वा, १३. घोसंसि वा, १४. अंसियंसि वा, १५. पुडभेयणंसि वा, १६. रायहाणिंसि वा, सपरिक्खेवंसि अबाहिरियंसि, कप्पइ निग्गंथाणं हेमन्त-गिम्हासु एगं मासं वत्थए।

७. से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा, सपरिक्खेवंसि सबाहिरियंसि, कप्पइ निग्गंथाणं हेमन्त-गिम्हासु दो मासे वत्थए। अन्तो एगं मासं, बाहिं एगं मासं। अन्तो वसमाणाणं अन्तो भिक्खायरिया, बाहिं वसमाणाणं बाहिं भिक्खायरिया।

८. से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा, सपरिक्खेवंसि अबाहिरियंसि, कप्पइ निग्गंथीणं हेमन्त-गिम्हासु दो मासे वत्थए।

९. से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा सपरिक्खेवंसि सबाहिरियंसि, कप्पइ निग्गंथीणं हेमन्त-गिम्हासु चत्तारि मासे वत्थए। अन्तो दो मासे, बाहिं दो मासे। अन्तो वसमाणीणं अन्तो भिक्खायरिया, बाहिं वसमाणीणं बाहिं भिक्खायरिया।

६. निर्ग्रन्थों को सपरिक्षेप और अबाहिरिक १. ग्राम, २. नगर, ३. खेट, ४. कर्बट, ५. मडंब, ६. पत्तन, ७. आकर, ८. द्रोणमुख, ९. निगम, १०. आश्रम, ११. सन्निवेश, १२. सम्बाध, १३. घोष, १४. अंशिका, १५. पुटभेदन और १६. राजधानी में हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में एक मास तक रहना कल्पता है।

७. निर्ग्रन्थों को सपरिक्षेप (प्राकार या बाड-युक्त) और सबाहिरिक (प्राकार के बाहर की बस्ती युक्त) ग्राम यावत् राजधानी में हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में दो मास तक रहना कल्पता है। एक मास ग्राम आदि के अन्दर और एक मास ग्रामादि के बाहर। ग्राम आदि के अन्दर रहते हुए अन्दर ही भिक्षाचर्या करना कल्पता है। ग्राम आदि के बाहर रहते हुए बाहर ही भिक्षाचर्या करना कल्पता है।

८. निर्ग्रन्थियों को सपरिक्षेप और अबाहिरिक ग्राम यावत् राजधानी में हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में दो मास तक रहना कल्पता है।

९. निर्ग्रन्थियों को सपरिक्षेप और सबाहिरिक ग्राम यावत् राजधानी में हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में चार मास तक रहना कल्पता है। दो मास ग्राम आदि के अन्दर और दो मास ग्राम आदि के बाहर। ग्राम आदि के अन्दर रहते हुए अन्दर ही भिक्षाचर्या करना कल्पता है। ग्राम आदि के बाहर रहते हुए बाहर ही भिक्षाचर्या करना कल्पता है।

विवेचन—प्रत्येक जनपद में ग्राम आदि सूत्रोक्त अनेक बस्तियां होती हैं। ये बस्तियां दो प्रकार की होती हैं—

१. जिस ग्राम आदि के चारों ओर पाषाण, ईंट, मिट्टी, काष्ठ, बांस या कांटों आदि का अथवा खाई, तालाब, नदी, गर्त, पर्वत का प्राकार हो और उस प्राकार के अन्दर ही घर बसे हुए हों, बाहर न हों तो उस ग्राम आदि को 'सपरिक्षेप' और 'अबाहिरिक' कहा जाता है।

२. जिस ग्राम आदि के चारों ओर पूर्वोक्त प्रकार के प्राकारों में से किसी प्रकार का प्राकार हो और उस प्राकार के बाहर भी घर बसे हुए हों, उस ग्राम आदि को 'सपरिक्षेप' और 'सबाहिरिक' कहा जाता है।

साधु-साध्वियां उक्त दोनों प्रकार की बस्तियों में ठहरते हैं।

वर्षाकाल में उनके लिए सर्वत्र चार मास तक रहने का विधान है किन्तु वर्षाकाल के अतिरिक्त आठ मास तक वे कहां कितने ठहरें ? इसका विधान उल्लिखित चार सूत्रों में है।

सूत्र में सपरिक्षेप सबाहिरिक ग्रामादि में दुगुने कल्प तक रहने के लिये भिक्षाचर्या सम्बन्धी जो कथन है, उसका तात्पर्य यह है कि भिक्षु ग्रामादि के जिस विभाग में रहे उसी विभाग में गोचरी करे तो उसे प्रत्येक विभाग में अलग-अलग कल्प काल तक रहना कल्पता है। किन्तु एक विभाग में रहते हुए अन्य विभागों में भी गोचरी करे तो उन विभागों में अलग मासकल्प काल रहना नहीं कल्पता है।

सूत्र में प्रयुक्त ग्रामादि शब्दों की व्याख्या—

नत्थेत्थ करो नगरं, खेडं पुण होई धूलिपागारं।
कब्बडगं तु कुनगरं, मडंबगं सव्वतो छिन्नं॥

जलपट्टणं च थलपट्टणं च, इति पट्टणं भवे दुविहं।
अयमाइ आगरा खलु, दोणमुहं जल-थलपहेणं॥

निगमं नेगमवग्गो, वसइ रायहाणि जहिं राया।
तावसमाई आसम, निवेसो सत्थाइजत्ता वा॥

संवाहो संवोढुं, वसति जहिं पव्वयाइविसमेसु।
घोसो उ गोउलं, अंसिया उ गामद्धमाईया॥

णाणाविहदेसीणं, भिज्जंति पुडा उ जम्म भंडाणं।
पुडभेदणं तगं संकरो य, केसिंचि कायव्वो॥

—बृह. भाष्य गाथा १०८९-१०९३

१. ग्राम—जहां अठारह प्रकार का कर लिया जाता है अथवा जहां रहने वालों की बुद्धि मंद होती है उसे 'ग्राम' कहा जाता है।

२. नगर—जहां अठारह प्रकार के कर नहीं लिए जाते हैं वह 'नगर' कहा जाता है।

३. खेड—जहां मिट्टी का प्राकार हो वह खेड या 'खेडा' कहा जाता है।

४. कर्वट—जहां अनेक प्रकार के कर लिये जाते हैं ऐसा छोटा नगर कर्वट (कस्वा) कहा जाता है।

५. मडंब—जिस ग्राम के चारों ओर अढ़ाई कोश तक अन्य कोई ग्राम न हो—वह मडम्ब कहा जाता है।

६. पट्टण—दो प्रकार के हैं—जहां जल मार्ग पार करके माल आता हो वह 'जलपत्तन' कहा जाता है। जहां स्थल मार्ग से माल आता हो वह 'स्थलपत्तन' कहा जाता है।

७. आकर—लोहा आदि धातुओं की खानों में काम करने वालों के लिये वहीं पर बसा हुवा ग्राम आकर कहा जाता है।

८. द्रोणमुख—जहां जलमार्ग और स्थलमार्ग से माल आता हो ऐसा नगर दो मुंह वाला होने से द्रोणमुख कहा जाता है।

९. निगम—जहां व्यापारियों का समूह रहता हो वह निगम कहा जाता है।

१०. आश्रम—जहां संन्यासी तपश्चर्या करते हों वह आश्रम कहा जाता है एवं उसके आस-पास बसा हुआ ग्राम भी आश्रम कहा जाता है।

११. निवेश—व्यापार हेतु विदेश जाने के लिए यात्रा करता हुआ सार्थवाह (अनेक व्यापारियों का समूह) जहां पड़ाव डाले वह स्थान निवेश कहा जाता है। अथवा एक ग्राम के निवासी कुछ समय के लिए दूसरी जगह ग्राम बसावें—वह ग्राम भी निवेश कहा जाता है। अथवा सभी प्रकार के यात्री जहां-जहां विश्राम लें वे सब स्थान निवेश कहे जाते हैं। इसे ही आगम में अनेक जगह सन्निवेश कहा है।

१२. सम्बाध—खेती करने वाले कृषक दूसरी जगह खेती करके पर्वत आदि विषम स्थानों पर रहते हों वह ग्राम सम्बाध कहा जाता है। अथवा व्यापारी दूसरी जगह व्यापार करके पर्वत आदि विषम स्थानों पर रहते हों, वह ग्राम सम्बाध कहा जाता है। अथवा जहां धान्य आदि के कोठार हों वहां बसे हुए ग्राम को भी सम्बाध कहा जाता है।

१३. घोष—जहां गायों का यूथ रहता हो वहां बसे हुए ग्राम को घोष (गोकुल) कहा जाता है।

१४. अंशिका—ग्राम का आधा भाग, तीसरा भाग या चौथा भाग जहां आकर बसे वह बसति 'अंशिका' कही जाती है।

१५. पुटभेदन—अनेक दिशाओं से आए हुए माल की पेटियों का जहां भेदन (खोलना) होता है वह 'पुटभेदन' कहा जाता है।

९. निर्ग्रन्थियों को सपरिक्षेप और सबाहिरिक ग्राम यावत् राजधानी में हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में चार मास तक रहना कल्पता है। दो मास ग्राम आदि के अन्दर और दो मास ग्राम आदि के बाहर। ग्राम आदि के अन्दर रहते हुए अन्दर ही भिक्षाचर्या करना कल्पता है। ग्राम आदि के बाहर रहते हुए बाहर ही भिक्षाचर्या करना कल्पता है।

विवेचन—प्रत्येक जनपद में ग्राम आदि सूत्रोक्त अनेक बस्तियां होती हैं। ये बस्तियां दो प्रकार की होती हैं—

१. जिस ग्राम आदि के चारों ओर पाषाण, ईंट, मिट्टी, काष्ठ, बांस या कांटों आदि का तथा खाई, तालाब, नदी, गर्त, पर्वत का प्राकार हो और उस प्राकार के अन्दर ही घर बसे हुए हों, बाहर न हों तो उस ग्राम आदि को 'सपरिक्षेप' और 'अबाहिरिक' कहा जाता है।

२. जिस ग्राम आदि के चारों ओर पूर्वोक्त प्रकार के प्राकारों में से किसी प्रकार का प्राकार हो और उस प्राकार के बाहर भी घर बसे हुए हों, उस ग्राम आदि को 'सपरिक्षेप' और 'सबाहिरिक' कहा जाता है।

साधु-साध्वियां उक्त दोनों प्रकार की बस्तियों में ठहरते हैं।

वर्षाकाल में उनके लिए सर्वत्र चार मास तक रहने का विधान है किन्तु वर्षाकाल के अतिरिक्त आठ मास तक वे कहां कितने ठहरें? इसका विधान उल्लिखित चार सूत्रों में है।

सूत्र में सपरिक्षेप सबाहिरिक ग्रामादि में दुगुने कल्प तक रहने के लिये भिक्षाचर्या सम्बन्धी जो कथन है, उसका तात्पर्य यह है कि भिक्षु ग्रामादि के जिस विभाग में रहे उसी विभाग में गोचरी करे तो उसे प्रत्येक विभाग में अलग-अलग कल्प काल तक रहना कल्पता है। किन्तु एक विभाग में रहते हुए अन्य विभागों में भी गोचरी करे तो उन विभागों में अलग मासकल्प काल रहना नहीं कल्पता है।

सूत्र में प्रयुक्त ग्रामादि शब्दों की व्याख्या—

नत्थेत्य करो नगरं, खेडं पुण होई धूलिपागारं।
कब्बडगं तु कुनगरं, मडंबगं सव्वतो छिन्नं॥

जलपट्टणं च थलपट्टणं च, इति पट्टणं भवे दुविहं।
अयमाइ आगरा खलु, दोणमुहं जल-थलपहेणं॥

निगमं नेगमवग्गो, वसइ रायहाणि जहिं राया।
तावसमाई आसम, निवेसो सत्थाइजत्ता वा॥

संवाहो संवोढुं, वसति जहिं पव्वयाइविसमेसु।
घोसो उ गोउलं, अंसिया उ गामद्धमाईया॥

णाणादिसागयाणं, भिज्जंति पुडा उ जत्य भंडाणं।
पुडभेयणं तगं संकरो य, केसिंचि कायव्वो॥

—बृह. भाष्य गाथा १०८९-१०९३

१. ग्राम—जहां अठारह प्रकार का कर लिया जाता है अथवा जहां रहने वालों की बुद्धि मंद होती है उसे 'ग्राम' कहा जाता है।

२. नगर—जहां अठारह प्रकार के कर नहीं लिए जाते हैं वह 'नगर' कहा जाता है।

३. खेड—जहां मिट्टी का प्राकार हो वह खेड या 'खेडा' कहा जाता है।

४. कर्बट—जहां अनेक प्रकार के कर लिये जाते हैं ऐसा छोटा नगर कर्बट (कस्बा) कहा जाता है।

५. मडंब—जिस ग्राम के चारो ओर अढ़ाई कोश तक अन्य कोई ग्राम न हो—वह मडम्ब कहा जाता है।

६. पट्टण—दो प्रकार के हैं—जहां जल मार्ग पार करके माल आता हो वह 'जलपत्तन' कहा जाता है। जहां स्थल मार्ग से माल आता हो वह 'स्थलपत्तन' कहा जाता है।

७. आकर—लोहा आदि धातुओं की खानों में काम करने वालों के लिये वहीं पर बसा हुवा ग्राम आकर कहा जाता है।

८. द्रोणमुख—जहां जलमार्ग और स्थलमार्ग से माल आता हो ऐसा नगर दो मुंह वाला होने से द्रोणमुख कहा जाता है।

९. निगम—जहां व्यापारियों का समूह रहता हो वह निगम कहा जाता है।

१०. आश्रम—जहां संन्यासी तपश्चर्या करते हों वह आश्रम कहा जाता है एवं उसके आस-पास बसा हुआ ग्राम भी आश्रम कहा जाता है।

११. निवेश—व्यापार हेतु विदेश जाने के लिए यात्रा करता हुआ सार्थवाह (अनेक व्यापारियों का समूह) जहां पड़ाव डाले वह स्थान निवेश कहा जाता है। अथवा एक ग्राम के निवासी कुछ समय के लिए दूसरी जगह ग्राम बसावें—वह ग्राम भी निवेश कहा जाता है। अथवा सभी प्रकार के यात्री जहां-जहां विश्राम लें वे सब स्थान निवेश कहे जाते हैं। इसे ही आगम में अनेक जगह सन्निवेश कहा है।

१२. सम्बाध—खेती करने वाले कृषक दूसरी जगह खेती करके पर्वत आदि विषम स्थानों पर रहते हों वह ग्राम सम्बाध कहा जाता है। अथवा व्यापारी दूसरी जगह व्यापार करके पर्वत आदि विषम स्थानों पर रहते हों, वह ग्राम सम्बाध कहा जाता है। अथवा जहां धान्य आदि के कोठार हों वहां बसे हुए ग्राम को भी सम्बाध कहा जाता है।

१३. घोष—जहां गायों का यूथ रहता हो वहां बसे हुए ग्राम को घोष (गोकुल) कहा जाता है।

१४. अंशिका—ग्राम का आधा भाग, तीसरा भाग या चौथा भाग जहां आकर बसे वह बसति 'अंशिका' कही जाती है।

१५. पुटभेदन—अनेक दिशाओं से आए हुए माल की पेटियों का जहां भेदन (खोलना) होता है वह 'पुटभेदन' कहा जाता है।

१६. राजधानी—जहां रहकर राजा शासन करता हो वह राजधानी कही जाती है।

१७. संकर—जो ग्राम भी हो, खेड भी हो, आश्रम भी हो ऐसा मिश्रित लक्षण वाला स्थान 'संकर' कहा जाता है। यह शब्द मूल में नहीं है भाष्य में है।

ग्रामादि में साधु-साध्वी को एक साथ रहने का विधि-निषेध

१०. से गामंसि वा जाव रायहाणिसि वा, एगवगडाए, एगदुवाराए, एग-निक्खमण-पवेसाए, नो कप्पइ निग्गंथाण य निग्गंथीण य एगयओ वत्थए।

११. से गामंसि वा जाव रायहाणिसि वा, अभिनिव्वगडाए, अभिनिव्वुवाराए अभिनिक्खमण-पवेसाए, कप्पइ निग्गंथाण य निग्गंथीण य एगयओ वत्थए।

१०. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को एक वगड़ा, एक द्वार और एक निष्क्रमण-प्रवेश वाले ग्राम यावत् राजधानी में (भिन्न-भिन्न उपाश्रयों में भी) समकाल वसना नहीं कल्पता है।

११. निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को अनेक वगड़ा, अनेक द्वार और अनेक निष्क्रमण-प्रवेश वाले ग्राम यावत् राजधानी में समकाल वसना कल्पता है।

विवेचन—ग्रामादि की रचना अनेक प्रकार की होती है, यथा—

१. एक विभाग वाले
२. अनेक विभाग वाले
३. एक द्वार वाले
४. अनेक द्वार वाले
५. एक मार्ग वाले
६. अनेक मार्ग वाले।

द्वार एवं मार्ग में यह अन्तर समझना चाहिये कि 'द्वार' समय-समय पर बन्द किये जा सकते हैं एवं खोले जा सकते हैं। किन्तु 'मार्ग' सदा खुले ही रहते हैं और उन पर कोई द्वार बने हुए नहीं होते हैं।

जो ग्राम केवल एक ही विभाग वाला हो और उसमें जाने आने का मार्ग भी केवल एक ही हो और ऐसे ग्रामादि में पहले भिक्षु ठहर चुके हों तो वहां साध्वियों को नहीं ठहरना चाहिये अथवा साध्वियां ठहरी हुई हों तो वहां साधुओं को नहीं ठहरना चाहिये।

जिस ग्रामादि में अनेक विभाग हों एवं अनेक मार्ग हों तो वहां साधु-साध्वी दोनों एक साथ अलग-अलग उपाश्रयों में रह सकते हैं। कदाचित् एक विभाग या एक मार्ग वाले ग्रामादि में साधु-साध्वी दोनों विहार करते हुए पहुँच जाएं तो वहां पर आहारादि करके विहार कर देना चाहिये अर्थात् अधिक समय वहां दोनों को निवास नहीं करना चाहिये।

ऐसे ग्राम यावत् राजधानी में दोनों के ठहरने पर जिन दोषों के लगने की सम्भावना रहती है उनका वर्णन भाष्यकार ने विस्तारपूर्वक किया है। वह संक्षेप में इस प्रकार है—

१. उच्चार-प्रस्रवणभूमि में और स्वाध्यायभूमि में आते-जाते समय तथा भिक्षा के समय गलियों में या ग्राम के द्वार पर निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों का बार-बार मिलन होने से एक-दूसरे के साथ संसर्ग बढ़ता है और उससे रागभाव की वृद्धि होती है। अथवा उन्हें एक ही दिशा में एक ही मार्ग से जाते-आते देखकर जनसाधारण को अनेक आशंकाएं उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है।

"संसर्गजा दोष-गुणा भवन्ति" इस सूक्ति के अनुसार संयम की हानि सुनिश्चित है।
एक वगडा में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के उपाश्रयों के द्वार एक-दूसरे के आमने-सामने हों।
एक उपाश्रय के द्वार के पार्श्वभाग में दूसरे उपाश्रय का द्वार हो।
एक उपाश्रय के पृष्ठभाग में दूसरे उपाश्रय का द्वार हो।
एक उपाश्रय का द्वार ऊपर हो और दूसरे उपाश्रय का द्वार नीचे हो।

तथा निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के उपाश्रय समपंक्ति में हों तो भी जन-साधारण में अनेक आशंकाएं उत्पन्न होती हैं तथा उनके संयम की हानि होने की सम्भावना रहती है।

सूत्रांक ११ में अनेक वगडा अनेक द्वार और अनेक आने-जाने के मार्ग वाले ग्राम आदि के विभिन्न उपाश्रयों में निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों के समकाल में रहने का विधान है। क्योंकि अनेक आने-जाने के मार्ग वाले ग्राम आदि में निर्ग्रन्थों तथा निर्ग्रन्थियों का बार-बार मिलन न होने से न सम्पर्क बढेगा और न रागभाव बढ़ेगा, न जन-साधारण को किसी प्रकार की आशंका उत्पन्न होगी। अतः ऐसे ग्रामादि में यथावसर साधु-साध्वी का समकाल में रहना दोषरहित समझना चाहिये।

आपणगृह आदि में साधु-साध्वियों के रहने का विधि-निषेध

१२. नो कप्पइ निग्गंथीणं १. आवणगिहंसि वा, २. रत्थामुहंसि वा, ३. सिंघाडगंसि वा, ४. तियंसि वा, ५. चउक्कंसि वा, ६. चच्चरंसि वा, ७. अन्तरावणंसि वा वत्थए।

१३. कप्पइ निग्गंथाणं आवणगिहंसि वा जाव अन्तरावणंसि वा वत्थए।

१२. निर्ग्रन्थियों को १. आपणगृह, २. रथ्यामुख, ३. शृंगाटक, ४. त्रिक, ५. चतुष्क, ६. चत्वर अथवा ७. अन्तरापण में रहना नहीं कल्पता है।

१३. निर्ग्रन्थों को आपणगृह यावत् अन्तरापण में रहना कल्पता है।

विवेचन—१. हाट-बाजार को 'आपण' कहते हैं, उसके बीच में विद्यमान गृह या उपाश्रय 'आपणगृह' कहा जाता है।

२. रथ्या का अर्थ गली या मोहल्ला है, जिस उपाश्रय या घर का मुख (द्वार) गली या मोहल्ले की ओर हो, वह 'रथ्यामुख' कहलाता है अथवा जिस घर के आगे से गली प्रारम्भ होती हो, उसे भी 'रथ्यामुख' कहते हैं।

३. सिंघाड़े के समान त्रिकोण स्थान को 'शृंगाटक' कहते हैं।
४. तीन गली या तीन रास्तों के मिलने के स्थान को 'त्रिक' कहते हैं।

५. चार मार्गों के समागम को (चौराहे को) 'चतुष्क' कहते हैं।

६. जहां पर छह या अनेक रास्ते आकर मिलें, अथवा जहां से छह या अनेक ओर रास्ते जाते हों, ऐसे स्थान को 'चत्वर' कहते हैं।

७. अन्तरापण का अर्थ हाट-बाजार का मार्ग है। जिस उपाश्रय के एक ओर अथवा दोनों ओर बाजार का मार्ग हो, उसे 'अन्तरापण' कहते हैं। अथवा जिस घर के एक तरफ दुकान हो और दूसरी तरफ निवास हो उसे भी 'अन्तरापण' कहते हैं।

ऐसे उपाश्रयों या घरों में साध्वियों को नहीं रहना चाहिये। क्योंकि इन स्थानों में अनेक मनुष्यों का आवागमन रहता है। सहज ही उनकी दृष्टि साध्वियों पर पड़ती रहती है जिससे उनकी शीलरक्षा में कई बाधायें उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। अतः राजमार्ग या चौराहे आदि सूत्रोक्त स्थानों को छोड़कर गली के अन्दर या सुरक्षित स्थानों में साध्वियों का रहना निरापद होता है। साधु को ऐसे स्थानों में रहने में आपत्ति न होने से सूत्र में विधान किया गया है। स्वाध्याय ध्यान आदि संयम योगों में रुकावट आती हो तो साधु को भी ऐसे स्थानों में नहीं ठहरना चाहिये।

बिना द्वार वाले स्थान में साधु-साध्वी के रहने का विधि-निषेध

१४. नो कप्पइ निग्गंथीणं अवंगुयदुवारिए उवस्सए वत्थए।

एगं पत्थारं अन्तो किच्चा, एगं पत्थारं बाहिं किच्चा, ओहाडिय चिलिमिलियागंसि एवं णं कप्पइ वत्थए।

१५. कप्पइ निग्गंथाणं अवंगुयदुवारिए उवस्सए वत्थए।

१४. निर्ग्रन्थियों को अपावृत (खुले) द्वार वाले उपाश्रय में रहना नहीं कल्पता है।

किन्तु निर्ग्रन्थियों को अपावृतद्वार वाले उपाश्रय में द्वार पर एक प्रस्तार (पर्दा) भीतर करके और एक प्रस्तार बाहर करके इस प्रकार चिलिमिलिका (जिसके बीच में मार्ग रहे) बांधकर उसमें रहना कल्पता है।

१५. निर्ग्रन्थों को अपावृत्त द्वार वाले उपाश्रय में रहना कल्पता है।

विवेचन—जिस उपाश्रय या गृह आदि का द्वार कपाट-युक्त न हो, ऐसे स्थान पर साध्वियों को ठहरने का जो निषेध किया है, उसका कारण यह है कि खुला द्वार देखकर रात्रि के समय चोर आदि आकर साध्वियों के वस्त्र-पात्रादि को ले जा सकते हैं। कामी पुरुष भी आ सकते हैं, वे अनेक प्रकार से साध्वियों को परेशान कर सकते हैं एवं उनके साथ बलात्कार भी कर सकते हैं। कुत्ते आदि भी घुस सकते हैं, इत्यादि कारणों से कपाट-रहित द्वार वाले उपाश्रय या घर में साध्वियों को ठहरने का निषेध किया गया है। किन्तु यदि अन्वेषण करने पर भी किसी ग्रामादि में किवाड़ों वाला घर ठहरने को नहीं मिले और खुले द्वार वाले घर में ठहरने का अवसर आवे तो उनके लिए प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि अन्दर बाहर इस तरह वस्त्र का पर्दा कर दें कि सहज किसी की दृष्टि न पड़े और जाने-आने का मार्ग भी रहे।

भाष्य में द्वार को ढंकने की विधि इस तरह बताई गई है कि बांस या खजूर की छिद्ररहित चटाई या सन-टाट आदि के परदे से द्वार को बाहरी ओर से और भीतरी ओर से भी बन्द करके ठहरना चाहिए। रात्रि के समय उन दोनों परदों को किसी खूंटी आदि से ऊपर, बीच में और नीचे इस प्रकार बांधे कि बाहर से कोई पुरुष प्रवेश न कर सके। फिर भी सुरक्षा के लिए बताया गया है कि उस द्वार पर सशक्त साध्वी बारी-बारी से रात भर पहरा देवे तथा रूपवती युवती साध्वियों को गीतार्थ और वृद्ध साध्वियों के मध्य-मध्य में चक्रवाल रूप से स्थान देकर सोने की व्यवस्था गणिनी या प्रवर्तिनी को करनी चाहिए। गणिनी को सबके मध्य में सोना चाहिए और बीच-बीच में सबकी संभाल करते रहना चाहिए।

खुले द्वार वाले स्थान में साधुओं को ठहरने का जो विधान किया गया है उसका कारण स्पष्ट है कि उनके उक्त प्रकार की आशंका की सम्भावना नहीं है। यदि कहीं कुत्ते या चोर आदि की आशंका हो तो साधु को भी यथायोग्य सुरक्षा कर लेनी चाहिये।

साधु-साध्वी को घटीमात्रक ग्रहण करने का विधि-निषेध

१६. कप्पइ निग्गंथीणं अन्तोलित्तं घडिमत्तयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा।

१७. नो कप्पइ निग्गंथाणं अन्तोलित्तं घडिमत्तयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा।

१६. निर्ग्रन्थियों को अन्दर की ओर लेपयुक्त घटीमात्रक रखना और उसका उपयोग करना कल्पता है।

१७. निर्ग्रन्थों को अन्दर की ओर लेपयुक्त घटीमात्रक रखना और उसका उपयोग करना नहीं कल्पता है।

विवेचन—आगम में तीन प्रकार के मात्रक रखने की आज्ञा है, यथा—

१. उच्चारमात्रक, २. प्रश्रवणमात्रक, ३. खेलमात्रक।

यहां भी एक प्रकार के मात्रक का वर्णन है। पूर्व के अनेक सूत्रों में साध्वी के शीलरक्षा हेतु निषेध किये गये हैं और यहां भिक्षु के ब्रह्मचर्यरक्षा हेतु निषेध है।

घटीमात्रक एक प्रकार का प्रश्रवणमात्रक ही है। यद्यपि प्रश्रवणमात्रक तो साधु-साध्वी दोनों को रखना कल्पता है तथापि इस मात्रक का कुछ विशेष आकार होता है, उस आकार को बताने वाला "घटी" शब्द है जिसका टीकाकार ने इस प्रकार अर्थ किया है—

"घटीमात्रकं"—घटीसंस्थानं मृन्मयभाजन विशेषं,

घटिका (घडिगा) के आकार वाला एक प्रकार का मिट्टी का पात्र, घटीमात्रक का अर्थ है।

जिस प्रकार तालप्रलम्ब के लम्बे टुकड़ों में पुरुष चिह्न का आभास होने के कारण साध्वी को उनका निषेध किया गया है, उसी प्रकार घटी आकार वाले मात्रक के मुख से स्त्री-चिह्न का आभास

होने के कारण साधु के लिये इसका निषेध किया गया है और साध्वी के लिये बाधक न होने से विधान किया गया है।

"घट" शब्द का अर्थ "मिट्टी का घड़ा" होता है और "घटी" या "घटिका" शब्द से छोटा घड़ा या छोटी सुराही अर्थ होता है। यथा—

"घडिगा"—घटिका—मृन्मयकुल्लडिका। —सूय. पत्र ११८

—अल्पपरिचित सैद्धांतिक शब्दकोष, पृ. ३८१

भाष्य तथा टीका में कपड़े से मुख बंधा होने का तथा मिट्टी के होने का जो कथन है उससे भी सुराही जैसा होना सम्भव है क्योंकि सुराही जैसे छोटे मुख वाले पात्र के ही कपड़ा बांधा जाता है। अन्यथा तो पात्र या मात्रक कपड़े से ढंक कर ही रखे जाते हैं।

मिट्टी का होने से खुरदरा हो सकता है जो जल्दी न सूखने के कारण प्रस्रवण के उपयोगी नहीं होता है अतः अन्दर चिकना बना करके ही साध्वी को रखना कल्पता है। यहाँ पात्र अन्दर चिकना होने के कारण साधु के लिये आकार और स्पर्श दोनों से विकारजन्य हो जाता है। ऐसे ही मात्रक का यह विधि-निषेध समझना चाहिये।

भाष्य-टीका में इसे सामान्य प्रस्रवणमात्रक बताकर साधु को रखना अनावश्यक ही कहा है। किन्तु सामान्य प्रस्रवणमात्रक के ग्रहण करने का आगम में अनेक जगह उल्लेख है। अतः यहाँ ब्रह्मचर्यबाधक आकृतिविशेष वाला प्रस्रवणमात्रक ही समझना प्रसंगसंगत है।

चिलमिलिका (मच्छरदानी) ग्रहण करने का विधान

१८. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चेलचिलिमिलियं धारित्तए वा परिहरित्तए वा।

१८. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को चेल-चिलिमिलिका रखना और उसका उपयोग करना कल्पता है।

विवेचन—चिलमिलिका यह देशी शब्द है, यह छोलदारी के आकार वाली एक प्रकार की वस्त्र-कुटी है। यह पांच प्रकार की होती है—

१. **सूत्रमयी**—कपास आदि के धागों से बनी हुई,
२. **रज्जुमयी**—ऊन आदि के मोटे धागों से बनी हुई,
३. **वल्कलमयी**—सन-पटसन आदि की छाल से बनी हुई,
४. **दण्डकमयी**—बांस-बेंत से बनी हुई,
५. **कटमयी**—चटाई से बनी हुई।

प्रस्तुत सूत्र में वस्त्र से बनी चिलमिली को रखने का विधान किया गया है, अन्य का नहीं। क्योंकि उनके भारी होने से विहार के समय साथ में ले जाना सम्भव नहीं होता है या बहुश्रम-साध्य होता है। चिलमिलिका का प्रमाण पांच हाथ लम्बी, तीन हाथ चौड़ी और तीन हाथ ऊंची बताया गया है। इसके भीतर एक साधु या साध्वी का संरक्षण भलीभांति हो सकता है।

निशीथसूत्र उ. १ में सूत्र (धागों) से स्वयं चिलमिलिका बनाने का प्रायश्चित्त कहा है और यहां पर वस्त्र की चिलमिलिका रखना कल्पनीय कहा है अतः तैयार मिलने वाले वस्त्र से भिक्षु चिलमिलिका बनाकर रख सकता है अथवा वस्त्र की तैयार चिलमिलिका मिले तो भी भिक्षु ग्रहण करके रख सकता है। इस सूत्र में धारण करने के लिये कही गई चिलमिलिका से मच्छरदानी का कथन किया गया है और सूत्र १४ मे एक प्रस्तार (चद्दर या पर्दा) द्वार के अन्दर एवं एक बाहर बांधकर बीच में मार्ग रखने रूप चिलमिलिका बनाना कहा गया है। वह दो पर्दों (चद्दरों) से बनाई गई चिलमिलिका प्रस्तुत सूत्र की चिलमिलिका (मच्छरदानी) से भिन्न है।

भाष्यकार ने प्रत्येक साधु और साध्वी को एक-एक चिलिमिलिका रखने का निर्देश किया है, जिसका अभिप्राय यह है कि वर्षा आदि ऋतुओं में जबकि डांस, मच्छर, मक्खी, पतंगे आदि क्षुद्र जन्तु आदि उत्पन्न होते हैं, तब रात्रि के समय चिलिमिलिका के अन्दर सोने से उनकी रक्षा होती है। इसी प्रकार पानी के बरसने पर अनेक प्रकार के जीवों से या विहार काल में वनादि प्रदेशों में ठहरने पर जंगली जानवरों से आत्मरक्षा भी होती है। रोगी साधु की परिचर्या भी उसके लगाने से सहज में होती है। मक्खी, मच्छर आदि के अधिक हो जाने पर आहार-पानी भी चिलमिलिका लगाकर करने से उन जीवों की रक्षा होती है।

पानी के किनारे खड़े रहने आदि का निषेध

१९. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा दगतीरंसि, १. चिट्ठित्तए वा, २. निसीइत्तए वा, ३. तुयट्टित्तए वा, ४. निद्दाइत्तए वा, ५. पयलाइत्तए वा, ६. असणं वा, ७. पाणं वा, ८. खाइमं वा, ९. साइमं वा आहारित्तए, १०. उच्चारं वा, ११. पासवणं वा, १२. खेलं वा, १३. सिंघाणं वा परिट्ठवेत्तए, १४. सज्झायं वा करित्तए, १५. धम्मजागरियं वा जागरित्तए, १६. काउसग्गं वा ठाइत्तए।

१९. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को दकतीर (जल के किनारे) पर १. खड़ा होना, २. बैठना, ३. शयन करना, ४. निद्रा लेना, ५. ऊंघना, ६. अशन, ७. पान, ८. खादिम और ९. स्वादिम आहार का खाना-पीना, १०.-११. मल-मूत्र, १२. श्लेष्म, १३. नासामल आदि का परित्याग करना, १४. स्वाध्याय करना, १५. धर्मजागरिका (धर्मध्यान) करना तथा १६. कायोत्सर्ग कर स्थित होना नहीं कल्पता है।

विवेचन—नदी या सरोवर आदि जलाशय के जिस स्थान से ग्रामवासी या वनवासी लोग पानी भर के ले जाते हैं और जहां पर गाय भैंसें आदि पशु या जंगली जानवर पानी पीने को आते हैं, ऐसे स्थान को 'दकतीर' कहते हैं। अथवा किसी भी जलयुक्त जलाशय के किनारे को 'दकतीर' कहते हैं।

ऐसे स्थान पर साधु या साध्वी का उठना-बैठना, खाना-पीना, मल-मूत्रादि करना, धर्मजागरण करना और ध्यानावस्थित होकर कायोत्सर्ग आदि करने का जो निषेध किया गया है, उसके अनेक कारण निर्युक्तिकार, भाष्यकार और टीकाकार ने बताये हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

१. जल भरने को आने वाली स्त्रियों को साधु के चरित्र में शंका हो सकती है।

होने के कारण साधु के लिये इसका निषेध किया गया है और साध्वी के लिये बाधक न होने से विधान किया गया है।

"घट" शब्द का अर्थ "मिट्टी का घड़ा" होता है और "घटी" या "घटिका" शब्द से छोटा घड़ा या छोटी सुराही अर्थ होता है। यथा—

"घडिगा"—घटिका—मृन्मयकुल्लडिका। —सूय. पत्र ११९

—अल्पपरिचित सैद्धांतिक शब्दकोष, पृ. ३८१

भाष्य तथा टीका में कपड़े से मुख बंधा होने का तथा मिट्टी के होने का जो कथन है उससे भी सुराही जैसा होना सम्भव है क्योंकि सुराही जैसे छोटे मुख वाले पात्र के ही कपड़ा बांधा जाता है। अन्यथा तो पात्र या मात्रक कपड़े से ढंक कर ही रखे जाते हैं।

मिट्टी का होने से खुरदरा हो सकता है जो जल्दी न सूखने के कारण प्रश्रवण के उपयोगी नहीं होता है अतः अन्दर चिकना बना करके ही साध्वी को रखना कल्पता है। वही पात्र अन्दर चिकना होने के कारण साधु के लिये आकार और स्पर्श दोनों से विकारजन्य हो जाता है। ऐसे ही मात्रक का यह विधि-निषेध समझना चाहिये।

भाष्य-टीका में इसे सामान्य प्रश्रवणमात्रक बताकर साधु को रखना अनावश्यक ही कहा है। किन्तु सामान्य प्रश्रवणमात्रक के ग्रहण करने का आगम में अनेक जगह उल्लेख है। अतः यहां ब्रह्मचर्यबाधक आकृतिविशेष वाला प्रश्रवणमात्रक ही समझना प्रसंगसंगत है।

चिलमिलिका (मच्छरदानी) ग्रहण करने का विधान

१८. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चेलचिलिमिलियं धारित्तए वा परिहरित्तए वा।

१८. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को चेल-चिलिमिलिका रखना और उसका उपयोग करना कल्पता है।

विवेचन—चिलमिलिका यह देशी शब्द है, यह छोलदारी के आकार वाली एक प्रकार की वस्त्र-कुटी है। यह पांच प्रकार की होती है—

१. सूत्रमयी—कपास आदि के धागों से बनी हुई,
२. रज्जुमयी—ऊन आदि के मोटे धागों से बनी हुई,
३. वल्कलमयी—सन-पटसन आदि की छाल से बनी हुई,
४. दण्डकमयी—बांस-बेंत से बनी हुई,
५. कटमयी—चटाई से बनी हुई।

प्रकृत सूत्र में वस्त्र से बनी चिलमिली को रखने का विधान किया गया है, अन्य का नहीं। क्योंकि उनके भारी होने से विहार के समय साथ में ले जाना सम्भव नहीं होता है या बहुमूल्य-भार होता है। चिलमिलिका का प्रमाण पांच हाथ लम्बी, तीन हाथ चौड़ी और तीन हाथ ऊँची बताया गया है। इसके भीतर एक साधु या साध्वी का संरक्षण भलीभांति हो सकता है।

निशीथसूत्र उ. १ में सूत्र (धागों) से स्वयं चिलमिलिका बनाने का प्रायश्चित्त कहा है और यहा पर वस्त्र की चिलमिलिका रखना कल्पनीय कहा है अतः तैयार मिलने वाले वस्त्र से भिक्षु चिलमिलिका बनाकर रख सकता है अथवा वस्त्र की तैयार चिलमिलिका मिले तो भी भिक्षु ग्रहण करके रख सकता है। इस सूत्र में धारण करने के लिये कही गई चिलमिलिका से मच्छरदानी का कथन किया गया है और सूत्र १४ मे एक प्रस्तार (चद्दर या पर्दा) द्वार के अन्दर एवं एक बाहर बांध-कर बीच में मार्ग रखने रूप चिलमिलिका बनाना कहा गया है। वह दो पर्दों (चद्दरों) से बनाई गई चिलमिलिका प्रस्तुत सूत्र की चिलमिलिका (मच्छरदानी) से भिन्न है।

भाष्यकार ने प्रत्येक साधु और साध्वी को एक-एक चिलिमिलिका रखने का निर्देश किया है, जिसका अभिप्राय यह है कि वर्षा आदि ऋतुओं मे जबकि डांस, मच्छर, मक्खी, पतगे आदि क्षुद्र जन्तु आदि उत्पन्न होते है, तब रात्रि के समय चिलिमिलिका के अन्दर सोने से उनकी रक्षा होती है। इसी प्रकार पानी के बरसने पर अनेक प्रकार के जीवों से या विहार काल में वनादि प्रदेशो में ठहरने पर जगली जानवरों से आत्मरक्षा भी होती है। रोगी साधु की परिचर्या भी उसके लगाने से सहज में होती है। मक्खी, मच्छर आदि के अधिक हो जाने पर आहार-पानी भी चिलमिलिका लगाकर करने से उन जीवों की रक्षा होती है।

पानी के किनारे खड़े रहने आदि का निषेध

१९. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा दगतीरंसि, १. चिट्ठित्तए वा, २. निसीइत्तए वा, ३. तुयट्टित्तए वा, ४. निद्दाइत्तए वा, ५. पयलाइत्तए वा, ६. असणं वा, ७. पाणं वा, ८. खाइमं वा, ९. साइमं वा आहरित्तए, १०. उच्चारं वा, ११. पासवणं वा, १२. खेलं वा, १३. सिंघाणं वा परिट्ठवेत्तए, १४. सज्झायं वा करित्तए, १५. धम्मजागरियं वा जागरित्तए, १६. काउसग्गं वा ठाइत्तए।

१९. निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियों को दकतीर (जल के किनारे) पर १. खड़ा होना, २. बैठना, ३. शयन करना, ४. निद्रा लेना, ५. ऊंघना, ६. अशन, ७. पान, ८. खादिम और ९. स्वादिम आहार का खाना-पीना, १०.-११. मल-मूत्र, १२. श्लेष्म, १३. नासामल आदि का परित्याग करना, १४. स्वाध्याय करना, १५. धर्मजागरिका (धर्मध्यान) करना तथा १६. कायोत्सर्ग कर स्थित होना नहीं कल्पता है।

विवेचन—नदी या सरोवर आदि जलाशय के जिस स्थान से ग्रामवासी या वनवासी लोग पानी भर के ले जाते हैं और जहां पर गाय भैंस आदि पशु या जंगली जानवर पानी पीने को आते हैं, ऐसे स्थान को 'दकतीर' कहते हैं। अथवा किसी भी जलयुक्त जलाशय के किनारे को 'दकतीर' कहते हैं।

ऐसे स्थान पर साधु या साध्वी का उठना-बैठना, खाना-पीना, मल-मूत्रादि करना, धर्म-जागरण करना और ध्यानावस्थित होकर कायोत्सर्ग आदि करने का जो निषेध किया गया है, उसके अनेक कारण निर्युक्तिकार, भाष्यकार और टीकाकार ने बताये है, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

१. जल भरने को आने वाली स्त्रियों को साधु के चरित्र में शंका हो सकती है।

२. पानी पीने को आने वाले जानवर डरकर बिना पानी पिये ही वापस लौट सकते हैं, उनके पानी पीने में अन्तराय होती है।

३. इधर-उधर भागने से 'जीवघात' की भी सम्भावना रहती है।

४. दुष्ट जानवर साधु को मार सकते हैं।

५. जल में रहे जलचर जीव साधु को देखकर त्रस्त होते है।

६. वे जल में इधर-उधर दौड़ते हैं, जिससे पानी के जीवों की विराधना होती है।

७. जल के किनारे पृथ्वी सचित्त होती है अतः पृथ्वीकाय के जीवों की विराधना होती है।

८. साधु के कच्चा पानी पीने की या ग्रहण करने की लोगों को आशंका होती है। इत्यादि कारणों से सूत्र में जलस्थान के किनारे ठहरने का निषेध किया गया है।

सचित्र उपाश्रय में ठहरने का निषेध

२०. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सचित्तकम्मे उवस्सए वत्थए।

२१. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अचित्तकम्मे उवस्सए वत्थए।

२०. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को सचित्र उपाश्रय में रहना नही कल्पता है।

२१. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को चित्र-रहित उपाश्रय में रहना कल्पता है।

विवेचन—जिन उपाश्रयों की भित्तियों पर देव-देवियों, स्त्री-पुरुषों और पशु-पक्षियों के जोड़ों के अनेक प्रकार से क्रीड़ा करते हुए चित्र हों अथवा अन्य भी मनोरंजक चित्र चित्रित हों, वहां साधु या साध्वी को नहीं ठहरना चाहिये, क्योंकि उन्हें देखकर उनके मन में विकारभाव जागृत हो सकता है तथा बारंबार उधर दृष्टि जाने से स्वाध्याय, ध्यान, प्रतिलेखन आदि संयमक्रियाओं में एकाग्रता नहीं रहती है। अतः सचित्र उपाश्रयों में ठहरने का साधु-साध्वियों को निषेध किया गया है।

सागारिक की निश्रा लेने का विधान

२२. नो कप्पइ निग्गंथीणं सागारिय-अनिस्साए वत्थए।

२३. कप्पइ निग्गंथीणं सागारिय-निस्साए वत्थए।

२४. कप्पइ निग्गंथाणं सागारिय-निस्साए वा अनिस्साए वा वत्थए।

२२. निर्ग्रन्थियों को सागारिक की अनिश्रा से रहना नही कल्पता है।

२३. निर्ग्रन्थियों को सागारिक की निश्रा से रहना कल्पता है।

२४. निर्ग्रन्थों को सागारिक की निश्रा या अनिश्रा से रहना कल्पता है।

विवेचन—जैसे वृक्षादि के आश्रय के बिना लता पवन से प्रेरित होकर कम्पित और अस्थिर हो जाती है, उसी प्रकार शय्यातर की निश्रा अर्थात् सुरक्षा का उत्तरदायित्व लिये बिना श्रमणी भी

क्षुभित एवं भयभीत हो सकती है, उसके शील की रक्षा पुरुष की निश्रा से भलीभांति हो सकती है। क्योंकि क्षुद्र पुरुषों के द्वारा बलात्कार करने की आशंका बनी रहती है। अतः गुरुणी-प्रवर्तिनी से रक्षित होने पर भी श्रमणी को शय्यातर की निश्रा में रहना आवश्यक बताया गया है।

किन्तु साधुवर्ग प्रायः सशक्त, दृढचित्त एवं निर्भय मनोवृत्ति वाला होता है तथा उसके ब्रह्मचर्य भंग के विषय में बलात्कार होना भी सम्भव नहीं रहता है। अतः वह शय्यातर की निश्रा के बिना भी उपाश्रय में रह सकता है। यदि चोर या हिंसक जीवों का या अन्य कोई उपद्रव हो तो साधु भी कभी शय्यातर से सुरक्षा का आश्वासन प्राप्त करके ठहर सकता है।

गृहस्थ-युक्त उपाश्रय में रहने का विधि-निषेध

२५. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारिए उवस्सए वत्थए।

२६. नो कप्पइ निग्गंथाणं इत्थि-सागारिए उवस्सए वत्थए।

२७. कप्पइ निग्गंथाणं पुरिस-सागारिए उवस्सए वत्थए।

२८. नो कप्पइ निग्गंथीणं पुरिस-सागारिए उवस्सए वत्थए।

२९. कप्पइ निग्गंथीणं इत्थि-सागारिए उवस्सए वत्थए।

२५. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को सागारिक (गृहस्थ के निवास वाले) उपाश्रय में रहना नहीं कल्पता है।

२६. निर्ग्रन्थों को स्त्री-सागारिक (केवल स्त्रियों के निवास वाले) उपाश्रय में रहना नहीं कल्पता है।

२७. निर्ग्रन्थों को पुरुष-सागारिक (केवल पुरुषों के निवास वाले) उपाश्रय में रहना कल्पता है।

२८. निर्ग्रन्थियों को पुरुष-सागारिक (केवल पुरुषों के निवास वाले) उपाश्रय में रहना नहीं कल्पता है।

२९. निर्ग्रन्थियों को स्त्री-सागारिक (केवल स्त्रियों के निवास वाले) उपाश्रय में रहना कल्पता है।

विवेचन—सागारिक उपाश्रय दो प्रकार के होते है—द्रव्य-सागारिक और भाव-सागारिक।

जिस उपाश्रय में स्त्री पुरुष रहते हों अथवा स्त्री-पुरुषों के रूप भित्ति आदि पर चित्रित हों, काष्ठ, पाषाणादिकी मूर्तियां स्त्री-पुरुषादि की हों, उनके शृंगार के साधन वस्त्र, आभूषण, गन्ध, माला, अलंकार आदि रखे हों, जहां पर भोजन-पान की सामग्री रखी हुई हो, गीत, नृत्य, नाटक आदि होते हों, या वीणा, बांसुरी, मृदंगादि वाजे बजते हों, वह उपाश्रय स्वस्थान में द्रव्य-सागारिक है और परस्थान में भाव-सागारिक है।

स्वस्थान और परस्थान का अर्थ यह है कि यदि उस उपाश्रय में पुरुषों के चित्र, मूर्तियां हों और पुरुषों के ही गीत, नृत्य, नाटकादि होते हों तो वह साधुओं के लिए द्रव्य-सागारिक है और साध्वियों के लिए भाव-सागारिक है।

इसी प्रकार जिस उपाश्रय में स्त्रियों के चित्र, मूर्ति आदि हों और उनके गीत, नृत्य, नाटकादि होते हों तो वह उपाश्रय पुरुषों के लिए भाव-सागारिक है और स्त्रियों के लिए द्रव्य-सागारिक है। साधु और साध्वियों को इन दोनों ही प्रकार के (द्रव्य-सागारिक और भाव-सागारिक) उपाश्रयों में रहना योग्य नहीं है।

यद्यपि प्रथम सूत्र में द्रव्य और भावसागारिक उपाश्रयों में रहने का जो स्पष्ट निषेध किया है वह उत्सर्गमार्ग है, किन्तु विचरते हुए साधु-साध्वियों को उक्त दोष-रहित निर्दोष उपाश्रय ठहरने को न मिले तो ऐसी दशा में द्रव्य-सागारिक उपाश्रय में साधु या साध्वी ठहर सकते हैं। किन्तु भाव-सागारिक उपाश्रय में नहीं ठहर सकते, यह सूत्रचतुष्क में बताया गया है।

सारांश यह है कि उत्सर्गमार्ग में साधु-साध्वी को द्रव्य एवं भावसागारिक उपाश्रय में नहीं ठहरना चाहिये किन्तु अपवादमार्ग में द्रव्य-सागारिक उपाश्रय में ठहर सकते हैं।

प्रतिबद्धशय्या में ठहरने का विधि-निषेध

३०. नो कप्पइ निग्गंथाणं पडिबद्ध-सेज्जाए वत्थए।

३१. कप्पइ निग्गंथीणं पडिबद्ध-सेज्जाए वत्थए।

३०. निर्ग्रन्थों को प्रतिबद्धशय्या में रहना नहीं कल्पता है।

३१. निर्ग्रन्थियों को प्रतिबद्धशय्या में रहना कल्पता है।

विवेचन—प्रतिबद्ध उपाश्रय दो प्रकार का होता है—१. द्रव्य-प्रतिबद्ध, २. भाव-प्रतिबद्ध।

१. जिस उपाश्रय में छत के बलधारण अर्थात् छत के पाट गृहस्थ के घर से सम्बद्ध हों, उसे द्रव्यप्रतिबद्ध उपाश्रय कहा गया है।

२. भावप्रतिबद्ध उपाश्रय चार प्रकार का होता है—
   १. जहां पर स्त्री और साधुओं के मूत्रादि करने का स्थान एक ही हो।
   २. जहां स्त्री एवं साधुओं के बैठने का स्थान एक ही हो।
   ३. जहां पर सहज ही स्त्री का रूप दिखाई देता हो।
   ४. जहां पर बैठने से स्त्री के भाषा, आभूषण एवं मैथुन सम्बन्धी शब्द सुनाई देते हों।

द्रव्य-प्रतिबद्ध उपाश्रय में स्वाध्याय आदि की ध्वनि गृहस्थ को एवं गृहस्थ के कार्यों की ध्वनि साधु को बाधक हो सकती है तथा एक दूसरे के कार्यों में व्याघात भी हो सकता है।

भाव-प्रतिबद्ध उपाश्रय संयम एवं ब्रह्मचर्य के भावों में बाधक बन सकता है। अतः द्रव्य-भाव-प्रतिबद्धशय्या में ठहरना योग्य नहीं है।

यद्यपि उक्त दोष साधु-साध्वी दोनो के लिये समान हैं, फिर भी साध्वी के लिये सूत्र में जो विधान किया है वह अपवाद स्वरूप है। क्योंकि उन्हें गृहस्थ की निश्रायुक्त उपाश्रय में ही ठहरना होता है। निश्रायुक्त उपाश्रय कभी अप्रतिवद्ध न मिले तो प्रतिवद्ध स्थान में ठहरना उनको आवश्यक हो जाता है। ऐसे समय में उन्हें किस विवेक से रहना चाहिए, इसकी विस्तृत जानकारी भाष्य से करनी चाहिये। विशेष परिस्थिति में कदाचित् साधु को भी ऐसे स्थान मे ठहरना पड़ जाए तो उसकी विधि भी भाष्य में बताई गई है। उत्सर्ग विधि से तो साधु-साध्वी को अप्रतिवद्ध शय्या में ही ठहरना चाहिये।

प्रतिवद्ध मार्ग वाले उपाश्रय में ठहरने का विधि-निषेध

३२. नो कप्पइ निग्गंथाणं गाहावइ-कुलस्स मज्झंमज्झेणं गंतुं वत्थए।

३३. कप्पइ निग्गंथीणं गाहावइ-कुलस्स मज्झंमज्झेणं गंतुं वत्थए।

३२. गृह के मध्य में होकर जिस उपाश्रय मे जाने-आने का मार्ग हो उस उपाश्रय में निर्ग्रन्थों को रहना नही कल्पता है।

३३. गृह के मध्य में होकर जिस उपाश्रय में जाने-आने का मार्ग हो उस उपाश्रय में निर्ग्रन्थियों को रहना कल्पता है।

विवेचन—यदि कोई उपाश्रय ऐसे स्थान पर हो जहां कि गृहस्थ के घर के बीचोबीच होकर जाना-आना पड़े और अन्य मार्ग नही हो, ऐसे उपाश्रय में साधुओं को नहीं ठहरना चाहिए, क्योंकि गृहस्थ के घर के बीच में होकर जाने-आने पर उसकी स्त्री, बहिन आदि के रूप देखने, शब्द सुनने एवं गृहस्थी के अनेक प्रकार के कार्यकलापों के देखने से साधुओं का चित्त विक्षोभ को प्राप्त हो सकता है। अथवा घर में रहने वाली स्त्रियां क्षोभ को प्राप्त हो सकती है। फिर भी साध्वियों को ठहरने का जो विधान सूत्र में है, उसका अभिप्राय यह है कि निर्दोष निश्रा युक्त उपाश्रय न मिले तो ऐसे उपाश्रय में साध्विया ठहर सकती हैं।

पूर्व सूत्रद्वय में प्रतिवद्ध स्थान का कथन किया है। प्रस्तुत सूत्रद्वय में स्थान अप्रतिवद्ध होते हुए भी उसका मार्ग प्रतिवद्ध हो सकता है यह बताया गया है। साधु को ऐसे प्रतिवद्ध स्थानों का वर्जन करना अत्यन्त आवश्यक है और साध्वी को इतना आवश्यक नही है। इन सभी सूत्रों के विधि-निषेधों में ब्रह्मचर्य की रक्षा का हेतु ही प्रमुख है।

स्वयं को उपशान्त करने का विधान

३४. भिक्खु य अहिगरणं कट्टु, तं अहिगरणं विओसवित्ता, विओसवियपाहुडे—

१. इच्छाए परो आढाएज्जा, इच्छाए परो णो आढाएज्जा।
२. इच्छाए परो अब्भुट्ठेज्जा, इच्छाए परो णो अब्भुट्ठेज्जा।
३. इच्छाए परो वन्देज्जा, इच्छाए परो नो वन्देज्जा।
४. इच्छाए परो संभुंजेज्जा, इच्छाए परो नो संभुंजेज्जा।

५. इच्छाए परो संवसेज्जा, इच्छाए परो नो संवसेज्जा।

६. इच्छाए परो उवसमेज्जा, इच्छाए परो नो उवसमेज्जा।

जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा, जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा; तम्हा अप्पणा चेव उवसमियव्वं।

प०—से किमाहु भंते!

उ०—"उवसमसारं खु सामण्णं।"

३४. भिक्षु किसी के साथ कलह हो जाने पर उस कलह को उपशान्त करके स्वयं सर्वथा कलहरहित हो जाए। जिसके साथ कलह हुआ है—

१. वह भिक्षु इच्छा हो तो आदर करे, इच्छा न हो तो आदर न करे।
२. वह इच्छा हो तो उसके सन्मान में उठे, इच्छा न हो तो न उठे।
३. वह इच्छा हो तो वन्दना करे, इच्छा न हो तो वन्दना न करे।
४. वह इच्छा हो तो उसके साथ भोजन करे, इच्छा न हो तो न करे।
५. वह इच्छा हो तो उसके साथ रहे, इच्छा न हो तो न रहे।
६. वह इच्छा हो तो उपशान्त हो, इच्छा न हो तो उपशान्त न हो।

जो उपशान्त होता है उसके संयम की आराधना होती है। जो उपशान्त नहीं होता है उसके संयम की आराधना नहीं होती है। इसलिए अपने आपको तो उपशान्त कर ही लेना चाहिए।

प्र०—भन्ते! ऐसा क्यों कहा?

उ०—(हे शिष्य) उपशम ही श्रमण-जीवन का सार है।

विवेचन—यद्यपि भिक्षु आत्मसाधना के लिये संयम स्वीकार कर प्रतिक्षण स्वाध्याय, ध्यान आदि संयम-क्रियाओं में अप्रमत्त भाव से विचरण करता है तथापि शरीर, आहार, शिष्य, गुरु, पात्र, स्थान, शय्या-संस्तारक आदि कई प्रमाद एवं कषाय के निमित्त संयमी जीवन में रहते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव, क्षयोपशम, विवेक भी भिन्न-भिन्न होता है।

क्रोध मान आदि कषायों की उपशान्ति भी सभी की भिन्न-भिन्न होती है।

परिग्रहत्यागी होते हुए भी द्रव्यों एवं क्षेत्रों के प्रति ममत्व के अभाव में (अममत्व भाव में) भिन्नता रहती है।

विनय, सरलता, क्षमा, शान्ति आदि गुणों के विकास में सभी को एक समान सफलता नहीं मिल पाती है।

अनुशासन करने में एवं अनुशासन पालने में भी सभी की शान्ति बराबर नहीं रहती है।

भाषा-प्रयोग का विवेक भी प्रत्येक का भिन्न-भिन्न होता है।

इत्यादि कारणों से साधना की अपूर्ण अवस्था में प्रमादवश उदयभाव से भिक्षुओं के आपस में कभी कषाय या क्लेश उत्पन्न हो सकता है।

भाष्यकार ने कलह उत्पत्ति के कुछ निमित्तकारण इस प्रकार बताये हैं—

१. शिष्यों के लिये, २. उपकरणों के लिये, ३. कटु वचन के उच्चारण से, ४. भूल सुधारने की प्रेरणा करने के निमित्त से, ५. परस्पर संयमनिरपेक्ष चर्चा—वार्ता एवं विकथाओं के निमित्त से, ६. श्रद्धासम्पन्न विशिष्ट स्थापना कुलों में गोचरी करने या नहीं करने के निमित्त से।

कलह उत्पन्न होने के बाद भी संयमशील मुनि के संज्वलन कषाय के कारण अशान्त अवस्था अधिक समय नहीं रहती है। वह सम्भल कर आलोचना प्रायश्चित्त कर शुद्ध हो जाता है।

किन्तु प्रस्तुत सूत्र में एक विशिष्ट सम्भावना बताकर उसका समाधान किया गया है कि—कभी कोई भिक्षु तीव्र कषायोदय में आकर स्वेच्छावश उपशान्त न होना चाहे तब दूसरे उपशान्त होने वाले भिक्षु को यह सोचना चाहिये कि क्षमापणा, शान्ति, उपशान्ति आत्मनिर्भर है, परवश नहीं। यदि योग्य उपाय करने पर भी दूसरा उपशान्त न हो और व्यवहार में शान्ति भी न लावे तो उसके किसी भी प्रकार के व्यवहार से पुनः अशान्त नहीं होना चाहिये। क्योंकि स्वयं के पूर्ण उपशान्त एवं कषायरहित हो जाने से स्वयं की आराधना हो सकती है और दूसरे के अनुपशान्त रहने पर उसकी ही विराधना होती है, दोनों की नहीं। अतः भिक्षु के लिए यही जिनाज्ञा है कि वह स्वयं पूर्ण उपशान्त हो जाए।

इस विषय में प्रश्न उपस्थित किया गया है कि यदि अन्य भिक्षु उपशान्त न होवे और उक्त व्यवहार भी शुद्ध न करे तो अकेले को उपशान्त होना क्यों आवश्यक है? इसके उत्तर में समझाया गया है कि कषायों की उपशान्ति करना यही संयम का मुख्य लक्ष्य है। इससे ही वीतरागभाव की प्राप्ति हो सकती है। प्रत्येक स्थिति में शान्त रहना यही संयमधारण करने का एवं पालन करने का सार है। अतः अपने सयम की आराधना के लिये स्वयं को सर्वथा उपशांत होना अत्यंत आवश्यक समझना चाहिए।

विहार सम्बन्धी विधि-निषेध

३५. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वासावासासु चारए।

३६. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा हेमन्त-गिम्हासु चारए।

३५. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को वर्षावास में विहार करना नहीं कल्पता है।

३६. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में विहार करना कल्पता है।

विवेचन—वर्षाकाल में पानी बरसने से भूमि सर्वत्र हरित तृणांकुरादि से व्याप्त हो जाती है। घास में रहने वाले छोटे जन्तु एवं भूमि में रहनेवाले केंचुआ, गिजाई आदि जीवों से एवं अन्य भी छोटे-बड़े त्रसजीवों से पृथ्वी व्याप्त हो जाती है, अतः सावधानीपूर्वक विहार करने पर भी उनकी विराधना सम्भव है। इसके अतिरिक्त पानी के बरसने से मार्ग मे पड़ने वाले नदी-नाले भी जल-पूर से प्रवाहित रहते हैं, अतः साधु-साध्वियों को उनके पार करने में बाधा हो सकती है। विहारकाल में पानी बरसने से उनके वस्त्र एवं अन्य उपधि के भीगने की भी सम्भावना रहती है, जिससे अप्काय की

विराधना सुनिश्चित है, अतः वर्षाकाल में चार मास तक एक स्थान पर ही साधु-साध्वियों के रहने का विधान प्रथम सूत्र में किया गया है।

द्वितीय सूत्र में चातुर्मास पश्चात् आठ मास तक विचरण करने का कथन है। विचरण करने से संयम की उन्नति, धर्मप्रभावना, ब्रह्मचर्यसमाधि एवं स्वास्थ्यलाभ होता है तथा जिनाज्ञा का पालन होता है।

जिस क्षेत्र में चातुर्मास या मासकल्प व्यतीत किया हो, वहां उसके बाद स्वस्थ अवस्था में भी रहना या दुगुना समय अन्यत्र विचरण किये बिना आकर रहना निषिद्ध है और उसका प्रायश्चित्त-विधान भी है। अतः ग्रीष्म एवं हेमन्त ऋतु में शक्ति के अनुसार विचरण करना आवश्यक है।

वैराज्य-विरुद्धराज्य में वारंवार गमनागमन का निषेध

३७. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वेरज्ज-विरुद्धरज्जंसि सज्जं गमणं, सज्जं आगमणं, सज्जं गमणागमणं करित्तए।

जो खलु निग्गंथो वा निग्गंथी वा वेरज्ज-विरुद्धरज्जंसि सज्जं गमणं, सज्जं आगमणं सज्जं गमणागमणं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ, से दुहओ वि अइक्कममाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

३७. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को वैराज्य और विरोधी राज्य में शीघ्र जाना, शीघ्र आना, और शीघ्र जाना-आना नहीं कल्पता है।

जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी वैराज्य और विरोधी राज्य में शीघ्र जाना, शीघ्र आना और शीघ्र जाना-आना करते हैं तथा शीघ्र जाना-आना करने वालों का अनुमोदन करते हैं, वे दोनों (तीर्थंकर और राजा) की आज्ञा का अतिक्रमण करते हुए अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्तस्थान के पात्र होते हैं।

विवेचन—निर्युक्तिकार ने और तदनुसार टीकाकार ने वैराज्य के अनेक व्युत्पत्तिपरक अर्थ किये हैं—

१. जिस राज्य में रहने वाले लोगों में पूर्व-पुरुष-परम्परागत वैर चल रहा हो।

२. जिन दो राज्यों में वैर उत्पन्न हो गया हो।

३. दूसरे राज्य के ग्राम-नगरादि को जलाने वाले जहां के राजा लोग हों।

४. जहां के मंत्री सेनापति आदि प्रधान पुरुष राजा से विरक्त हो रहे हों, उसे पदच्युत करने के षड्यन्त्र में संलग्न हों।

५. जहां का राजा मर गया हो या हटा दिया गया हो ऐसे अराजक राज्य को 'वैराज्य' कहते हैं।

जहां पर दो राजाओं के राज्य में परस्पर गमनागमन प्रतिषिद्ध हो, ऐसे राज्यों को 'विरुद्धराज्य' कहते हैं।

इस प्रकार के वैराज्य और विरुद्धराज्य में साधु-साध्वियों को विचरने का एवं कार्यवशात् जाने-आने का निषेध किया है, क्योंकि ऐसे राज्यों में जल्दी-जल्दी आने-जाने से अधिकारी लोग साधु को चोर, गुप्तचर या षड्यन्त्रकारी जानकर वध, बन्धन आदि नाना प्रकार के दुःख दे सकते हैं। अतः ऐसे 'वैराज्य' और 'विरुद्धराज्य' में गमनागमन करने वाला साधु राजा की मर्यादा का उल्लंघन तो करता ही है, साथ ही वह जिनेश्वर की आज्ञा का भी उल्लंघन करता है और इसी कारण वह चातुर्मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

निर्युक्तिकार सूत्र के 'गमन', 'आगमन' और 'गमनागमन' इन अंशों की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि विशेष कारणों से उक्त प्रकार के 'वैराज्य' 'विरुद्ध राज्य' में जाना-आना भी पड़े तो पहले सीमावर्ती 'आरक्षक' से पूछे कि हम अमुक कार्य से आपके राज्य के भीतर जाना चाहते हैं, अतः जाने की स्वीकृति दीजिए। यदि वह स्वीकृति देने में अपनी असमर्थता बतलावे तो उस राज्य के नगर-सेठ के पास संदेश भेजकर स्वीकृति मंगावे। उसके भी असमर्थता प्रकट करने पर सेनापति से, उसके भी असामर्थ्य प्रकट करने पर मंत्री से, उसके भी असामर्थ्य बताने पर राजा के पास संदेश भेजे कि—"हम अमुक कारण-विशेष से आपके राज्य में प्रवेश करना चाहते हैं, अतः जाने की स्वीकृति दीजिए और 'आरक्षक जनों' को आज्ञा दीजिए कि वे हमें राज्य में प्रवेश करने दें।"

इसी प्रकार आते समय भी उक्त क्रम से ही स्वीकृति लेकर वापस आना चाहिए। निर्युक्तिकार ने गमनागमन के विशेष कारण इस प्रकार बताये हैं—

१. यदि किसी साधु के माता-पिता दीक्षा के लिए उद्यत हों तो उनको दीक्षा देने के लिए।

२. यदि शोक से विह्वल हों तो उनको सान्त्वना देने के लिए।

३. भक्तपान प्रत्याख्यान (समाधिमरण) का इच्छुक साधु अपने गुरु या गीतार्थ के पास आलोचना के लिए।

४. रोगी साधु की वैयावृत्य के लिए,

५. अपने पर क्रुद्ध साधु को उपशान्त करने के लिए,

६. वादियों द्वारा शास्त्रार्थ के लिए आह्वान करने पर शासन-प्रभावना के लिए,

७. आचार्य का अपहरण कर लिए जाने पर उनको मुक्त कराने के लिए तथा इसी प्रकार के अन्य कारण उपस्थित होने पर उक्त प्रकार से स्वीकृति लेकर साधु 'वैराज्य' एवं 'विरुद्धराज्य' में जा आ सकते हैं।

सूत्र में "सज्जं" शब्द के द्वारा जो शीघ्र-शीघ्र जाने का निषेध किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि पुनः-पुनः इस प्रकार आज्ञा लेकर जाने पर राजा या राजकर्मचारी रुष्ट या शंकित हो सकते हैं। क्योंकि आवश्यक कार्य से एक-दो बार जाना तो क्षम्य हो सकता है किन्तु बारम्बार जाना आपत्तिजनक होता है।

ऐसे समय में अनेक कार्य करने आवश्यक हों तो पूर्ण विचार कर एक ही बार में उन सभी कार्यों को सम्पन्न कर लेने का विवेक रखना चाहिये और सम्भव हो तो उस दिशा, राज्य या राजधानी में जाना ही नहीं चाहिये, यही उत्सर्गमार्ग है। अपवाद से जाना पड़े तो बारम्बार नहीं जाना चाहिये, यह इस सूत्र का तात्पर्य है।

गोचरी आदि में निमन्त्रित वस्त्र आदि के ग्रहण करने की विधि

३८. निग्गंथं च णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठं केइ वत्थेण वा, पडिग्गहेण वा, कंबलेण वा, पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय आयरियपायमूले ठवेत्ता, दोच्चंपि उग्गहं अणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए।

३९. निग्गंथं च णं बहिया वियारभूमिं वा, विहारभूमिं वा, निक्खंतं समाणं केइ वत्थेण वा, पडिग्गहेण वा, कंबलेण वा, पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय आयरियपायमूले ठवित्ता दोच्चं पि उग्गहं अणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए।

४०. निग्गंथिं च णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठं केइ वत्थेण वा, पडिग्गहेण वा, कंबलेण वा, पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय पवत्तिणीपायमूले ठवित्ता, दोच्चं पि उग्गहं अणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए।

४१. निग्गंथिं च णं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खंतिं समाणिं केइ वत्थेण वा, पडिग्गहेण वा, कंबलेण वा, पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय पवत्तिणि-पायमूले ठवेत्ता, दोच्चंपि उग्गहमणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए।

३८. गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रविष्ट निर्ग्रन्थ को यदि कोई वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन लेने के लिए कहे तो उन्हें "साकारकृत" ग्रहण कर, आचार्य के चरणों में रखकर पुनः उनकी आज्ञा लेकर उसे अपने पास रखना और उनका उपयोग करना कल्पता है।

३९. विचारभूमि (मल-मूत्र विसर्जन-स्थान) या विहारभूमि (स्वाध्यायभूमि) के लिए (उपाश्रय से) बाहर निकले हुए निर्ग्रन्थ को यदि कोई वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन लेने के लिए कहे तो वस्त्रादि को "साकारकृत" ग्रहण कर उन्हें आचार्य के चरणों में रखकर पुनः उनकी आज्ञा लेकर उसे अपने पास रखना और उनका उपयोग करना कल्पता है।

४०. गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रविष्ट निर्ग्रन्थी को यदि कोई वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन लेने के लिए कहे तो उन्हें "साकारकृत" ग्रहण कर, प्रवर्तिनी के चरणों में रखकर उनकी पुनः आज्ञा लेकर उसे अपने पास रखना और उनका उपयोग करना कल्पता है।

४१. विचारभूमि या स्वाध्याय भूमि के लिए (उपाश्रय से) बाहर जाती हुई निर्ग्रन्थी को यदि कोई वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन लेने के लिए कहे तो उन्हें "साकारकृत" ग्रहण कर, प्रवर्तिनी के चरणों में रखकर पुनः आज्ञा लेकर उसे अपने पास रखना और उनका उपयोग करना कल्पता है।

विवेचन—यदि आचार्य से गोचरी की अनुज्ञा लेकर साधु भिक्षार्थ किसी गृहस्थ के घर में जावे और गृहस्वामिनी भक्त-पान देकर गृहोक्त वस्त्र, पात्रादि लेने के लिए कहे और भिक्षु को उनकी आवश्यकता हो तो यह कहकर लेना चाहिए कि "यदि हमारे आचार्य आज्ञा देंगे तो हम रखेंगे अन्यथा

तुम्हारे ये वस्त्र-पात्रादि तुम्हें वापस लौटा दिए जायेंगे", इस प्रकार से कहकर ग्रहण करने को "साकारकृत" ग्रहण करना कहा जाता है। यदि वह साधु "साकारकृत" न कहकर उसे ग्रहण करता है और अपने उपयोग में लेता है तो गृहस्थ के द्वारा दिये जाने पर भी वह चोरी का भागी होता है और प्रायश्चित्त का पात्र बनता है। इसका कारण यह है कि गोचरी के लिये आचार्यादि से आज्ञा लेकर जाने पर आहार ग्रहण की ही आज्ञा होती है, अतः वस्त्रादि के लिये स्पष्ट कह कर अलग से आज्ञा लेना आवश्यक है।

साधु जिस वस्तु की आज्ञा लेकर जाता है वही वस्तु ग्रहण कर सकता है। अन्य वस्तु लेने के लिए गृहस्थ द्वारा कहने पर या आवश्यकता ज्ञात हो जाने पर आचार्यादि की स्वीकृति के आगार से ही ले सकता है। यदि वस्त्र आदि की आज्ञा लेकर गया हो तो 'साकारकृत' लेना आवश्यक नहीं होता है।

सूत्र-पठित "उवनिमंतेज्जा" पद की निरुक्ति करते हुए कहा गया है कि "उप-समीपे आगत्य निमंत्रयेत्।" अर्थात् भिक्षा के लिये आये हुए साधु को दाता कहे कि "आप इस वस्त्र या पात्रादि को स्वीकार करें।" तब साधु उससे (खासकर गृहस्वामिनी से) पूछे कि—'यह वस्त्रादि किसका है और कैसा है अर्थात् कहां से और क्यों लाया गया है?'

इन दो प्रश्नों का सन्तोषकारक उत्तर मिलने पर पुनः तीसरा प्रश्न करे कि—"मुझे क्यों दिया जा रहा है?"

यदि उत्तर मिले कि—"आपके शरीर पर अति जीर्ण वस्त्र है, या पात्रादि टूटे-फूटे दिख रहे हैं, अतः आपको धर्मभावना या कर्तव्य से प्रेरित होकर दिया जा रहा है।" तब उसे "साकारकृत" (आगार के साथ) ले लेवे। यदि सन्तोषकारक उत्तर न मिले तो न लेवे।

निर्युक्तिकार ने उक्त तीनों बातों को पूछने का अभिप्राय यह बताया है कि पहले दो प्रश्नों से तो उसकी कल्पनीयता ज्ञात हो जाती है और तीसरे प्रश्न से दातार के भाव ज्ञात हो जाते हैं।

यदि साधु बिना पूछे ही उस दिये जाने वाले वस्त्रादि को ग्रहण करता है और घर का पति, देवर या अन्य दासी-दास आदि चुपचाप दिये और लिये जाने को देखता है तो देने और लेने वाले के विषय में वह अनेक प्रकार की आशंकाएं कर सकता है कि—"हमारे घर की इस स्त्री का और साधु का कोई पारस्परिक आकर्षण प्रतीत होता है अथवा इसके सन्तान नहीं है, अतः यह साधु से सन्तानोत्पत्ति के विषय में कोई मन्त्र, तन्त्र या भेषज प्रयोग चाहती है।" इस प्रकार की नाना शंकाओं से आक्रान्त होकर वह स्त्री की, साधु की या दोनों की ही निन्दा, मारपीट आदि कर सकता है।

यदि घर के किसी व्यक्ति ने ऐसी कोई बात नहीं देखी-सुनी है और देने वाली स्त्री सन्तानादि से हीन होने के कारण साधु से किसी विद्या, मन्त्रादि को चाहती है तो उस दी गयी वस्तु को लेकर चले जाने पर वह उपाश्रय में जाकर पूछ सकती है कि—"मुझे अमुक कार्य की सिद्धि का उपाय बताओ।"

अथवा वह स्त्री यदि प्रोषितभर्तृका है या कामातुरा है या उपाश्रय में जाकर अपनी दूषित भावना को पूर्ण करने के लिए भी कह सकती है। उसके ऐसा कहने पर साधु मन्त्रादि के विषय में तो यह उत्तर दे कि—"गृहस्थों के लिए निमित्त (मन्त्रादि) का प्रयोग करना हमें नहीं कल्पता है।"

कामाभिलाषा प्रकट करने पर कुशीलसेवन के दोष बताकर कहे कि—"हम संयमी हैं, ऐसे पापाचरण करके अपने संयम का नाश नहीं करना चाहते हैं।" ऐसा कहने पर वह क्षुब्ध होकर गच्छ की अपकीर्ति भी कर सकती है, अपनी दी गई वस्तु वापस भी मांग सकती है और इसी प्रकार अन्य अनेक उपद्रव भी कर सकती है। इन सब कारणों से साधु को उक्त तीन प्रश्न पूछकर और दिये जाने वाले वस्त्र-पात्रादि के पूर्ण शुद्ध ज्ञात होने पर तथा दातार के विशुद्ध भावों को यथार्थ जानकर ही आगार के साथ लेना उचित है, अन्यथा नहीं।

साध्वी को भी इसी विधि का पालन करना चाहिए किन्तु यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि प्रवर्तिनी उस साध्वी के द्वारा लाये गये वस्त्रादि को सात दिन तक अपने पास रखती है और उसकी यतना से परीक्षा करती है कि—"यह विद्या, संमोहन-चूर्ण, मन्त्र आदि से तो मन्त्रित नहीं है?" यदि उसे वह निर्दोष प्रतीत हो तो वह लाने वाली साध्वी को या उसे आवश्यकता न होने पर अन्य साध्वी को दे देती है। वह यह भी देखती है कि देने वाला व्यक्ति युवा, विधुर, व्यभिचारी या दुराचारी तो नहीं है और जिसे दिया गया है, वह युवती और नवदीक्षिता तो नहीं है। यदि इनमें से कोई भी कारण दृष्टिगोचर हो तो प्रवर्तिनी उसे वापस करा देती है। यदि ऐसा कोई कारण नहीं हो तो उसे अन्य साध्वी को दे देती है। इतनी परीक्षा का कारण निर्युक्तिकार ने यह बताया है कि—"स्त्रियाँ प्रकृति से ही अल्पधैर्यवाली होती हैं और दूसरे के प्रलोभन से शीघ्र क्षुब्ध हो जाती हैं।"

यद्यपि सूत्र में साध्वी को श्रावक से "सागारकृत" वस्त्रादि लेने का विधान है, पर भाष्यकार ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि—"उत्सर्गमार्ग तो यही है कि साध्वी किसी भी गृहस्थ से स्वयं वस्त्रादि नहीं ले। जब भी उसे वस्त्रादि की आवश्यकता हो, वह अपनी प्रवर्तिनी से कहे, प्रवर्तिनी गणधर या आचार्य से कहे। आचार्य गृहस्थ के यहाँ से वस्त्र लावे और सात दिन तक अपने पास रखे। तत्पश्चात् उसे धोकर किसी साधु को ओढ़ावे। इस प्रकार परीक्षा करने पर यदि वह निर्दोष ज्ञात हो तो प्रवर्तिनी को दे और वह उसे लेकर उस साध्वी को दे जिसे उसकी आवश्यकता है। यदि कदाचित् गणधर या आचार्य समीप न हों तो प्रवर्तिनी गृहस्थ के यहाँ से वस्त्र लावे और उक्त विधि से परीक्षा कर साध्वी को देवे। यदि कदाचित् गोचरी, विचारभूमि या विहारभूमि को जाते आते समय कोई गृहस्थ वस्त्र लेने के लिए निमंत्रित करे और साध्वी को वस्त्र लेना आवश्यक हो ही तो, उसे 'सागारकृत' लेकर प्रवर्तिनी को लाकर देना चाहिए और वह परीक्षा करके उस साध्वी को देवे।

यह विधि अपरिचित या अल्पपरिचित दाता की अपेक्षा से समझनी चाहिए। सुपरिचित एवं विश्वस्त श्रावक-श्राविका से वस्त्रादि ग्रहण करने में सूत्रोक्त विधि ही पर्याप्त होती है। भाष्योक्त विधि उसके लिये आवश्यक नहीं है ऐसा समझना चाहिए।

रात्रि में आहारादि की गवेषणा का निषेध एवं अपवाद विधान

४२. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा राओ वा वियाले वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्तए।

नऽन्नत्थ एगेणं पुव्वपडिलेहिएणं सेज्जासंथारएणं।

४३. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा राओ वा वियाले वा वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कम्बलं वा, पायपुंछणं वा पडिग्गाहेत्तए।

नऽन्नत्थ एगाए हरियाहडियाए,

सा वि य परिभुत्ता वा, धोया वा, रत्ता वा, घट्ठा वा, मट्ठा वा, संपधूमिया वा।

४२. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को रात्रि में या विकाल में अशन, पान, खादिम अं स्वादिम लेना नहीं कल्पता है।

केवल एक पूर्वप्रतिलेखित शय्यासंस्तारक को छोड़कर।

४३. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को रात्रि में या विकाल में वस्त्र, पात्र, कम्बल पादप्रोंछन लेना नहीं कल्पता है।

केवल एक 'हृताहृतिका' को छोड़कर।

वह परिभुक्त, धौत, रक्त, घृष्ट, मृष्ट या सम्प्रधूमित भी कर दी गयी हो तो भी रात्रि लेना कल्पता है।

विवेचन—कुछ आचार्य रात्रि का अर्थ सन्ध्याकाल करते हैं और कुछ आचार्य विकाल क अर्थ सन्ध्याकाल करते हैं। टीकाकार ने निरुक्तिकार के दोनों ही अर्थ संगत कहे हैं। अतः पू प्रतिलेखित शय्यासंस्तारक के अतिरिक्त रात्रि में या सन्ध्या के समय भक्त-पान ग्रहण करना नह कल्पता है।

यद्यपि ४२ दोनों में "रात्रिभोजन" का निषेध नहीं है, तथापि दशवैकालिकसूत्र के छज्जीव निकाय नामक अध्ययन में "राइभोयणवेरमण" नामक छठे व्रत का स्पष्ट विधान है। अतएव सा को किसी भी प्रकार का भक्त-पान रात्रि में लेना नहीं कल्पता है। इसके अतिरिक्त दिन के समय भ जिस स्थान पर अन्धकार हो वहां पर भी जब साधु को भोजन ग्रहण करना नहीं कल्पता है तो अन्धका से परिपूर्ण रात्रि में तो उसे ग्रहण करना कैसे कल्प सकता है? कभी नहीं।

शंका—उक्त छट्ठे रात्रि-भक्त व्रत में रात में खाने-पीने का निषेध किया है, पर रात में भक्त पान को लाने में क्या दोष है?

समाधान—रात्रि में गोचरी के लिए गमनागमन करने पर षट्कायिक जीवों की विराधन होती है, उनकी विराधना से संयम की विराधना होती है और संयम की विराधना से आत्म-विराधन होती है। इसके अतिरिक्त रात में आते-जाते हुए को कोई चोर समझकर पकड़ ले, गृहस्थ के घ जाने पर वहां अनेक प्रकार की आशंकाएं हो जाएं, इत्यादि कारणों से रात्रि में गोचरी के लिए गमना गमन करने पर अनेक दोष सम्भव हैं। अतः रात्रि में भक्त-पान लाना भी नहीं चाहिए। दशवै. अ. में रात्रि में आहार ग्रहण करने के दोष बताये हैं एवं निशीथ उ. १० में उनके प्रायश्चित्त भी कहे हैं।

शंका—जब रात्रि में अशनादि ग्रहण करने का सर्वथा निषेध है तो पूर्वप्रतिलेखित शय्या- संस्तारक को छोड़कर ऐसा विधान सूत्र में क्यों किया गया?

समाधान—उत्सर्गमार्ग तो यही है कि—रात में किसी भी पदार्थ को ग्रहण नहीं करना चाहिए। किन्तु यह सूत्र अपवादमार्ग का प्ररूपक है। इसका अभिप्राय यह है कि मार्ग भूलने या मार्ग अधिक लम्बा निकल जाने आदि कारणों से स्थविरकल्पी भिक्षु सूर्यास्त बाद भी योग्य स्थान पर पहुंच

कर ठहरते हैं तब उन्हें ठहरने के लिये मकान एवं जीवरक्षा आदि कारणों से पाट संस्तारक आदि रात्रि एवं विकाल में ग्रहण करना आवश्यक हो जाता है ।

सूर्यास्त-पूर्व मकान मिल जाने पर भी कभी आवश्यक पाट गृहस्थ की दुकान आदि से रात्रि के एक दो घंटे बाद भी मिलना सम्भव हो तो वह भी रात्रि में ग्रहण किया जा सकता है ।

ऐसी परिस्थितियों की अपेक्षा से ही यह विधान समझना चाहिए ।

दूसरे सूत्र से रात्रि में वस्त्रादि ग्रहण करने का निषेध किया गया है किन्तु ग्रामानुग्राम विचरते समय कोई चोर आदि किसी साधु या साध्वी के किसी वस्त्र आदि को छीन ले जाये या उपाश्रय से चुरा ले जाये । कुछ समय बाद ले जाने वाले को यह सद्‌बुद्धि पैदा हो कि—"मुझे साधु या साध्वी का यह वस्त्र आदि चुराना या छीनना नहीं चाहिए था ।" तदनन्तर वह सन्ध्या या रात के समय आकर दे या साधु को दिखाई देने योग्य स्थान पर रख दे तो ऐसे वस्त्र आदि के ग्रहण करने को "हृताहृतिका" कहते हैं । पहले हरी गयी, पीछे आहृत की गयी वस्तु "हृताहृतिका" कही जाती है ।

यह हृताहृतिक वस्त्र आदि कैसा हो, इसका स्पष्टीकरण सूत्र में परिभुक्त आदि पदों से किया गया है, जिनका अर्थ इस प्रकार है—

परिभुक्त— उस वस्त्र आदि को ले जाने वाले ने यदि उसे ओढ़ने आदि के उपयोग में ले लिया हो ।

धौत—जल से धो लिया हो ।

रक्त—पांच प्रकार के रंगों में से किसी रंग में रंग लिया हो ।

घृष्ट—वस्त्र आदि पर के चिह्न-विशेषों को घिसकर मिटा दिया हो ।

मृष्ट—मोटे या खुरदरे कपड़े आदि को द्रव्य-विशेष से युक्त कर कोमल बना दिया हो ।

सम्प्रधूमित—सुगन्धित धूप आदि से सुवासित कर दिया हो ।

इन उक्त प्रकारों में से किसी भी प्रकार का वस्त्र आदि यदि ले जाने वाला व्यक्ति रात में लाकर भी वापस दे तो साधु और साध्वी उसे ग्रहण कर सकते हैं ।

अपने अपहृत वस्त्र आदि के अतिरिक्त यदि कोई नवीन वस्त्र, पात्र, पादप्रोंछन आदि सन्ध्याकाल या रात्रि में लाकर दे तो उसे लेना साधु या साध्वी को नहीं कल्पता है ।

सूत्र में "हरियाहडियाए" ऐसा पाठ है, जिसका निर्युक्तिकार ने "हरिऊण य आहडिया, एआ हरिएसु वाऽऽहडा" इस प्रकार से उसके दो अर्थ किये हैं ।

प्रथम अर्थ के अनुसार वह स्वयं आकर दे और दूसरे अर्थ के अनुसार वह यदि "हरितकाय" (वृक्ष-झाड़ी आदि) पर डाल जाए और जिसका वह वस्त्रादि हो उसे चन्द्र के प्रकाश आदि में दिख जाए तो साधु या साध्वी सन्ध्या या रात के समय जाकर उसे ला सकता है ।

अथवा उसे कोई अन्य पुरुष उठाकर और यह अमुक साधु या साध्वी का है, ऐसा समझ करके लाकर दे तो जिसका यह वस्त्रादि है, वह उसे ग्रहण कर सकता है । "हृताहृतिका" शब्द स्त्रीलिंग है इसलिए सूत्र में "सा वि य परिभुत्ता" आदि स्त्रीलिंग वाची पाठ है । इसका अर्थ है "चोरों से गई हुई वस्तु ।"

कप्पइ से अप्पबिइयस्स वा अप्पतइयस्स वा राओ वा वियाले वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा।

४७. नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए राओ वा वियाले वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा।

कप्पइ से अप्पबिइयाए वा अप्पतइयाए वा अप्पचउत्थीए वा राओ वा वियाले वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा।

४६. अकेले निर्ग्रन्थ को रात्रि में या विकाल में उपाश्रय से बाहर की विचारभूमि या विहारभूमि में जाना-आना नहीं कल्पता है।

उसे एक या दो निर्ग्रन्थों को साथ लेकर रात्रि में या विकाल में उपाश्रय की सीमा से बाहर की विचारभूमि या विहारभूमि में जाना-आना कल्पता है।

४७. अकेली निर्ग्रन्थी को रात्रि में या विकाल में उपाश्रय से बाहर की विचारभूमि या विहारभूमि में जाना-आना नहीं कल्पता है।

एक, दो या तीन निर्ग्रन्थियों को साथ लेकर रात्रि में या विकाल में उपाश्रय से बाहर की विचारभूमि या विहारभूमि में जाना-आना कल्पता है।

विवेचन—मल-मूत्र त्यागने के स्थान को—'विचारभूमि' कहते हैं और स्वाध्याय के स्थान को 'विहारभूमि' कहते हैं।

रात्रि के समय या सन्ध्याकाल में यदि किसी साधु को मल-मूत्र-विसर्जन के लिए जाना आवश्यक हो तो उसे अपने स्थान से बाहर विचारभूमि में अकेला नहीं जाना चाहिए।

इसी प्रकार उक्त काल में यदि स्वाध्यायार्थ विहारभूमि में जाना हो तो उपाश्रय से बाहर अकेले नहीं जाना चाहिए। किन्तु वह एक या दो साधुओं के साथ जा सकता है।

उपाश्रय का भीतरी भाग एवं उपाश्रय के बाहर सौ हाथ का क्षेत्र उपाश्रय की सीमा में गिना गया है, उससे दूर (आगे) जाने की अपेक्षा से सूत्र में 'बहिया' शब्द का प्रयोग किया गया है।

स्वाध्याय के लिये या मल-विसर्जन के लिये दूर जाकर पुनः आने में समय अधिक लगता है। इस कारण से अकेले जाने में अनेक आपत्तियों एवं आशंकाओं की सम्भावना रहती है। यथा—

१. प्रबल मोह के उदय से या स्त्रीउपसर्ग से पराजित होकर अकेला भिक्षु ब्रह्मचर्य खंडित कर सकता है। २. सर्प आदि जानवर के काटने से, मूर्च्छा आने से या कोई ठोकर लगने से कहीं गिरकर पड़ सकता है। ३. चोर, आरक्षक आदि पकड़ सकते हैं एवं मारपीट कर सकते हैं। ४. स्वयं भी कहीं भाग सकता है। ५. अथवा आयु समाप्त हो जाए तो उसके मरने की बहुत समय तक किसी को जानकारी भी नहीं हो पाती है इत्यादि कारणों से रात्रि में अकेले भिक्षु को मल त्यागने एवं स्वाध्याय करने के लिए उपाश्रय की सीमा से बाहर नहीं जाना चाहिये। उपाश्रय की सीमा में जाने पर उक्त

दोषों की सम्भावना प्रायः नहीं रहती है। क्योंकि वहां तो अन्य साधुओं का जाना-आना बना रहता है एवं कोई आवाज होने पर भी सुनी जा सकती है।

साधुओं की संख्या अधिक हो और मकान छोटा हो अथवा उपाश्रय में अस्वाध्याय का कोई कारण हो जाए तो रात्रि में स्वाध्याय के लिये अन्यत्र गमनागमन किया जाता है, अन्यथा रात्रि में ईर्या का काल न होने से गमनागमन करने का निषेध ही है।

उपाश्रय की याचना करते समय ही उसके मल-मूत्र त्यागने की भूमि से सम्पन्न होने का अवश्य ध्यान रखना चाहिए, ऐसा आचा. श्रु. २, अ. २, उ. २ में तथा दशवै. अ. ८, गा. ५२ में विधान है। मल-मूत्र आदि शरीर के स्वाभाविक वेगों को रोका नहीं जा सकता है इसलिए रात्रि में भी किसी साधु को बाहर जाना पड़ता है।

भाष्यकार ने बताया है कि यदि साधु भयभीत होने वाला न हो एवं उपर्युक्त दोषों की सम्भावना न हो तो साथ के साधुओं को सूचित करके सावधानी रखते हुए अकेला भी जा सकता है। दो साधु हैं और एक बीमार है अथवा तीन साधु हैं, एक बीमार है और एक को उसकी सेवा में बैठना आवश्यक है तो उसे सूचित करके सावधानी रखते हुए अकेला भी जा सकता है। अनेक कारणों से अथवा अभिग्रह, पडिमा आदि धारण करने से एकाकी विचरण करने वाले भी कभी रात्रि में बाहर जाना आवश्यक हो तो सावधानी रखकर जा सकते हैं। किन्तु उत्सर्गविधि से सूत्र में कहे अनुसार एक या दो साधुओं को साथ में लेकर ही जाना चाहिए। एक से अधिक साधुओं को साथ ले जाने का कारण यह है कि कहीं अत्यधिक भयजनक स्थान होते हैं।

साध्वी को तो दिन में भी गोचरी आदि कहीं भी अकेले जाने का निषेध ही है। अतः रात्रि में तो इसका ध्यान रखना अधिक आवश्यक है। दो से अधिक साध्वियों के जाने का अर्थात् तीन या चार के जाने का कारण केवल भयजनक स्थिति या भयभीत होने की प्रकृति ही समझना चाहिये। शेष विवेचन भिक्षु सम्बन्धी विवेचन के समान ही समझना चाहिए। किन्तु साध्वियों को किसी प्रकार के अपवाद में भी अकेले जाना उचित नहीं है, अतः कोई विशेष परिस्थिति हो तो श्राविका या श्रावक को साथ में लेकर जाना ही श्रेयस्कर होता है।

अन्य किसी विशेष परिस्थिति में साधु-साध्वी उच्चारमात्रक में मलविसर्जन कर प्रातःकाल भी परठ सकते हैं एवं यथायोग्य प्रायश्चित्त ग्रहण कर सकते हैं।

आर्यक्षेत्र में विचरण करने का विधान

४८. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—पुरत्थिमेणं जाव अंगमगहाओ एत्तए, दक्खिणेणं जाव कोसम्बीओ एत्तए, पच्चत्थिमेणं जाव थूणाविसयाओ एत्तए, उत्तरेणं जाव कुणालाविसयाओ एत्तए। एयावयाव कप्पइ, एयावयाव आरिए खेत्ते। नो से कप्पइ एत्तो बहिं, तेण परं जत्थ नाण-दंसण-चरित्ताइं उस्सप्पन्ति। त्ति बेमि।

४८. निर्ग्रन्थों को और निर्ग्रन्थियों को पूर्व दिशा में अंग-मगध तक, दक्षिण दिशा में कोशाम्बी तक, पश्चिम दिशा में स्थूणा देश तक और उत्तर दिशा में कुणाल देश तक जाना कल्पता है। इतना ही आर्यक्षेत्र है। इससे बाहर जाना नहीं कल्पता है। तदुपरान्त जहां ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की वृद्धि होती हो वहां विचरण करे।

विवेचन—इस भरतक्षेत्र के साढे पच्चीस आर्यदेश प्रज्ञापनासूत्र के प्रथम पद में बताये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं —

१. मगध, २. अंग, ३. बंग, ४. कलिंग, ५. काशी, ६. कोशल, ७. कुरु, ८. सौर्य, ९. पांचाल, १०. जांगल, ११. सौराष्ट्र, १२. विदेह, १३. वत्स, १४. शंडिल्य, १५. मलय, १६. वच्छ, १७. वरणा, १८. दशार्ण, १९. चेदि, २०. सिन्धु-सौवीर, २१. शूरसेन, २२. भंग २३. कुणाल, २४. कोटिवर्ष, २५. लाट और केकय अर्ध।

प्रस्तुत सूत्र में इनकी सीमा रूप से, पूर्व दिशा में—अंगदेश (जिसकी राजधानी चम्पा नगरी रही है) से मगधदेश (जिसकी राजधानी राजगृह रही है) तक।

दक्षिण दिशा में—वत्सदेश (जिसकी राजधानी कौशाम्बी रही है) तक। पश्चिम दिशा में—स्थूणादेश तक। उत्तर दिशा में—कुणाल देश (जिसकी राजधानी श्रावस्ती नगरी रही है) तक जाने का विधान साधु-साध्वियों के लिए किया गया है। इसका कारण यह बतलाया गया है कि इन चारों दिशाओं की सीमा के भीतर ही तीर्थंकरों के जन्म निष्क्रमण आदि की महिमा होती है, यहीं पर केवलज्ञान दर्शन को उत्पन्न करने वाले सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकरादि महापुरुष धर्म का उपदेश देते हैं, यहीं पर भव्यजीव प्रतिबोध को प्राप्त होते हैं और यहीं पर जिनधर्म से धर्मश्रवण कर अपना संशय दूर करते हैं।

इसके अतिरिक्त यहां पर साधु-साध्वियों को भक्त-पान एवं उपधि सुलभता से प्राप्त होती है और यहां के श्रावक जन या अन्य लोग साधु-साध्वियों के आचार-विचार के ज्ञाता होते हैं। अतः उन्हें इन आर्यक्षेत्रों में ही विहार करना चाहिए।

सूत्र में निश्चित शब्दों में कहा गया है कि 'इतना ही आर्य क्षेत्र है और इतना ही विचरना कल्पता है, इसके बाहर विचरना नहीं कल्पता है।' इसका तात्पर्य यह है कि यह शाश्वत आर्यक्षेत्र है।

कदाचित् कोई राजा आदि की सत् प्रेरणा से अनार्यक्षेत्र का जनसमुदाय आर्य स्वभाव से परिणत हो भी जाए तो अल्पकालीन परिवर्तन आ सकता है। उसी तरह आर्यक्षेत्र में भी अल्पकालीन परिवर्तन होकर जनसमुदाय अनार्य स्वभाव से परिणत हो सकता है, इसी कारण से अन्तिम सूत्रांश में यह कहा गया है कि—'क्षेत्रमर्यादा एवं कालमर्यादा इस प्रकार से होते हुए भी जब जहां विचरण करने से संयम गुणों का विकास हो वहीं विचरण करना चाहिए।'

क्योंकि कभी अनार्यक्षेत्र में किसी के संयमगुणों की वृद्धि एवं जिनशासन की प्रभावना हो सकती है और कभी यहीं आर्यक्षेत्र में भी संयमगुणों की हानि हो सकती है। इसलिए सूत्र में क्षेत्र-सीमा का कथन करके संयमवृद्धि का लक्ष्य रखकर विचरने का विशेष विधान किया है।

भाष्य और टीका में बताया गया है कि संप्रति राजा की प्रेरणा एवं प्रयत्नों से अनार्यक्षेत्र में भी साधु-साध्वी विचरने लगे थे।

आर्यक्षेत्र में भी जहां लम्बे मार्ग हों, लम्बी अटवी हो, जिनको पार करने में अनेक दिन लगते हों तो उन क्षेत्रों में विचरण करने का आचा. श्रु. २, अ. ३ में निषेध किया गया है और उनमें विचरण करने से होने वाले दोषों का स्पष्टीकरण भी किया है, अतः आर्यक्षेत्र के भी ऐसे विभागों में साधु-

इस सूत्र से एवं आचारांगसूत्र से यह निर्णय हो जाता है कि संयमोन्नति का मुख्य लक्ष्य रखते हुए एवं अपनी क्षमता का ध्यान रखते हुए किसी भी क्षेत्र में विचरण किया जा सकता है, किन्तु सामान्यतया आर्यक्षेत्र से बाहर विचरण करने का निषेध ही समझना चाहिए।

सूत्र में आर्यक्षेत्र के चारों दिशाओं के किनारे पर आए देशों के नाम कहे गए हैं, किन्तु दक्षिण दिशा में कच्छ देश न कहकर वहां की प्रसिद्ध नगरी 'कोसम्बी' का कथन किया गया है।

थूणा देश का नाम एवं उसकी मुख्य नगरी का नाम उपर्युक्त पच्चीस आर्यक्षेत्रों में नहीं है, इसका कारण नामों की अनेकता या भिन्नता होना ही है।

प्रथम उद्देशक का सारांश

सूत्र १-५ वनस्पति के मूल से लेकर बीज पर्यन्त दस विभागों में जितने खाने योग्य विभाग हैं वे अचित्त होने पर ग्रहण किये जा सकते हैं, किन्तु साध्वी कन्द, मूल, फल आदि के अविधि से किए गए बड़े-बड़े टुकड़े अचित्त होने पर भी ग्रहण नहीं कर सकती है।

६-९ ग्राम, नगर आदि में एक मास रहना कल्पता है। यदि उसके उपनगर आदि हों तो उनमें अलग-अलग अनेक मासकल्प तक ठहरा जा सकता है, किन्तु जहां रहे वहीं भिक्षा के लिये भ्रमण करना चाहिए, अन्य उपनगरों में नहीं।

१०-११ एक परिक्षेप एवं एक गमनागमन के मार्ग वाले ग्रामादि में साधु-साध्वी को एक काल में नही रहना चाहिए, किन्तु उसमें अनेक मार्ग या द्वार हों तो वे एक काल में भी रह सकते हैं।

१२-१३ पुरुषों के अत्यधिक गमनागमन वाले तिराहे, चौराहे या बाजार आदि में बने हुए उपाश्रयों में साध्वियों को नहीं रहना चाहिए, किन्तु साधु उन उपाश्रयों में ठहर सकते हैं।

१४-१५ द्वार-रहित स्थान में साध्वियों को नहीं ठहरना चाहिए, परिस्थितिवश यदि ठहरना पड़े तो पर्दा लगाकर द्वार को बन्द कर लेना चाहिए। किन्तु ऐसे स्थानों पर भिक्षु ठहर सकते हैं।

१६-१७ सुराही के आकार का प्रश्रवण-मात्रक साध्वी रख सकती है, किन्तु साधु नही रख सकता है।

१८ साधु-साध्वी को वस्त्र की चिलमिलिका (मच्छरदानी) रखना कल्पता है।

१९ पानी के किनारे साधु-साध्वी को बैठना आदि क्रियाएं नहीं करनी चाहिए।

२०-२१ चित्रों से युक्त मकान में नहीं ठहरना चाहिए।

२२-२४ साध्वियों को शय्यातर के संरक्षण में ही ठहरना चाहिए, किन्तु भिक्षु बिना संरक्षण के भी ठहर सकता है।

विवेचन—इस भरतक्षेत्र के साढे पच्चीस आर्यदेश प्रज्ञापनासूत्र के प्रथम पद में बताये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. मगध, २. अंग, ३. वंग, ४. कलिंग, ५. काशी, ६. कोशल, ७. कुरु, ८. सोर्य, ९. पांचाल, १०. जांगल, ११. सौराष्ट्र, १२. विदेह, १३. वत्स, १४. संडिब्भ, १५. मलय, १६. वच्छ, १७. वच्छ, १८. दशार्ण, १९. चेदि, २०. सिन्धु-सौवीर, २१. सूरसेन, २२. भृंग २३. कुणाल, २४. कोटिवर्ष, २५. लाढ और केकय अर्ध।

प्रकृत सूत्र में इनकी सीमा रूप से, पूर्व दिशा में—अंगदेश (जिसकी राजधानी चम्पा नगरी रही है) से मगधदेश (जिसकी राजधानी राजगृह रही है) तक।

दक्षिण दिशा में—वत्सदेश (जिसकी राजधानी कोशाम्बी रही है) तक। पश्चिम दिशा में—स्थूणादेश तक। उत्तर दिशा में—कुणाल देश (जिसकी राजधानी श्रावस्ती नगरी रही है) तक जाने का विधान साधु-साध्वियों के लिए किया गया है। इसका कारण यह बतलाया गया है कि इन चारों दिशाओं की सीमा के भीतर ही तीर्थंकरों के जन्म निष्क्रमण आदि की महिमा होती है, यहीं पर केवलज्ञान दर्शन को उत्पन्न करने वाले सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकरादि महापुरुष धर्म का उपदेश देते हैं, यहीं पर भव्यजीव प्रतिबोध को प्राप्त होते हैं और यहीं पर जिनवरों से धर्मश्रवण कर अपना संशय दूर करते हैं।

इसके अतिरिक्त यहां पर साधु-साध्वियों को भक्त-पान एवं उपधि सुलभता से प्राप्त होती है और यहां के श्रावक जन या अन्य लोग साधु-साध्वियों के आचार-विचार के ज्ञाता होते हैं। अतः उन्हें इन आर्यक्षेत्रों में ही विहार करना चाहिए।

सूत्र में निश्चित शब्दों में कहा गया है कि 'इतना ही आर्य क्षेत्र है और इतना ही विचरना कल्पता है, इनके बाहर विचरना नहीं कल्पता है।' इसका तात्पर्य यह है कि यह शाश्वत आर्यक्षेत्र है।

कदाचित् कोई राजा आदि की सत् प्रेरणा से अनार्यक्षेत्र का जनसमुदाय आर्य स्वभाव में परिणत हो भी जाए तो अल्पकालीन परिवर्तन आ सकता है। उसी तरह आर्यक्षेत्र में भी अल्पकालीन परिवर्तन होकर जनसमुदाय अनार्य स्वभाव में परिणत हो सकता है, इसी कारण से अन्तिम सूत्रांश में यह कहा गया है कि—'क्षेत्रमर्यादा एवं कल्पमर्यादा इस प्रकार से होते हुए भी जब जहां विचरण करने से संयम गुणों का विकास हो वहीं विचरण करना चाहिए।'

क्योंकि कभी अनार्यक्षेत्र में किसी के संयमगुणों की वृद्धि एवं जिनशासन की प्रभावना हो सकती है और कभी कहीं आर्यक्षेत्र में भी संयमगुणों की हानि हो सकती है। इसलिए सूत्र में क्षेत्र-सीमा का कथन करके संयमवृद्धि का लक्ष्य रखकर विचरने का विशेष विधान किया है।

भाष्य और टीका में बताया गया है कि संप्रति राजा की प्रेरणा एवं प्रयत्नों से अनार्यक्षेत्र में भी साधु-साध्वी विचरने लगे थे।

आर्यक्षेत्र में भी जहां लम्बे मार्ग हों, लम्बी अटवी हों, जिनको पार करने में अनेक दिन लगते हों तो उन क्षेत्रों में विचरण करने का आचा. श्रु. २, अ. ३ में निषेध किया गया है और उनमें विचरण करने से होने वाले दोषों का स्पष्टीकरण भी किया है, अतः आर्यक्षेत्र के भी ऐसे विभागों में साधु-साध्वी को नहीं जाना चाहिए।

इस सूत्र से एवं आचारांगसूत्र से यह निर्णय हो जाता है कि संयमोन्नति का मुख्य लक्ष्य रखते हुए एवं अपनी क्षमता का ध्यान रखते हुए किसी भी क्षेत्र में विचरण किया जा सकता है, किन्तु सामान्यतया आर्यक्षेत्र से बाहर विचरण करने का निषेध ही समझना चाहिए।

सूत्र में आर्यक्षेत्र के चारों दिशाओं के किनारे पर आए देशों के नाम कहे गए हैं, किन्तु दक्षिण दिशा में कच्छ देश न कहकर वहां की प्रसिद्ध नगरी 'कोशम्बी' का कथन किया गया है।

थूणा देश का नाम एवं उसकी मुख्य नगरी का नाम उपर्युक्त पच्चीस आर्यक्षेत्रों में नही है, इसका कारण नामों की अनेकता या भिन्नता होना ही है।

प्रथम उद्देशक का सारांश

सूत्र १-५ — वनस्पति के मूल से लेकर बीज पर्यन्त दस विभागों में जितने खाने योग्य विभाग हैं वे अचित्त होने पर ग्रहण किये जा सकते हैं, किन्तु साध्वी कन्द, मूल, फल आदि के अविधि से किए गए बड़े-बड़े टुकड़े अचित्त होने पर भी ग्रहण नहीं कर सकती है।

६-९ — ग्राम, नगर आदि में एक मास रहना कल्पता है। यदि उसके उपनगर आदि हों तो उनमें अलग-अलग अनेक मासकल्प तक ठहरा जा सकता है, किन्तु जहां रहे वहीं भिक्षा के लिये भ्रमण करना चाहिए, अन्य उपनगरों में नहीं।

१०-११ — एक परिक्षेप एवं एक गमनागमन के मार्ग वाले ग्रामादि में साधु-साध्वी को एक काल में नहीं रहना चाहिए, किन्तु उसमें अनेक मार्ग या द्वार हों तो वे एक काल में भी रह सकते हैं।

१२-१३ — पुरुषों के अत्यधिक गमनागमन वाले तिराहे, चौराहे या बाजार आदि में बने हुए उपाश्रयों में साध्वियों को नही रहना चाहिए, किन्तु साधु उन उपाश्रयों में ठहर सकते हैं।

१४-१५ — द्वार-रहित स्थान में साध्वियों को नही ठहरना चाहिए, परिस्थितिवश यदि ठहरना पड़े तो पर्दा लगाकर द्वार को बन्द कर लेना चाहिए। किन्तु ऐसे स्थानों पर भिक्षु ठहर सकते हैं।

१६-१७ — सुराही के आकार का प्रश्रवण-मात्रक साध्वी रख सकती है, किन्तु साधु नही रख सकता है।

१८ — साधु-साध्वी को वस्त्र की चिलमिलिका (मच्छरदानी) रखना कल्पता है।

१९ — पानी के किनारे साधु-साध्वी को बैठना आदि क्रियाएं नहीं करनी चाहिए।

२०-२१ — चित्रों से युक्त मकान में नहीं ठहरना चाहिए।

२२-२४ — साध्वियों को शय्यातर के संरक्षण में ही ठहरना चाहिए, किन्तु भिक्षु बिना संरक्षण के भी ठहर सकता है।

सूत्र २५-२९ स्त्री-पुरुषों के निवास से रहित मकान में ही साधु-साध्वियों को ठहरना चाहिए। केवल पुरुषों के निवास वाले मकान में भिक्षु और केवल स्त्रियों के निवास वाले मकान में साध्वियां ठहर सकती हैं।

३०-३१ द्रव्य या भावप्रतिबद्ध उपाश्रय में भिक्षु को रहना नहीं कल्पता है, कदाचित् साध्वियां रह सकती हैं।

३२-३३ प्रतिबद्धमार्ग वाले उपाश्रय में भिक्षु को रहना नहीं कल्पता है, साध्वियां कदाचित् रह सकती हैं।

३४ किसी के साथ क्लेश हो जाए तो उसके उपशान्त न होने पर भी स्वयं को सर्वथा उपशान्त होना अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा संयम की आराधना नहीं होती है।

३५-३६ साधु-साध्वियों को चातुर्मास में एक स्थान पर ही रहना चाहिये तथा हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में शक्ति के अनुसार विचरण करते रहना चाहिए।

३७ जिन राज्यों में परस्पर विरोध चल रहा हो वहां बारम्बार गमनागमन नहीं करना चाहिए।

३८-४१ साधु या साध्वियां गोचरी आदि के लिये गये हों और वहां कोई वस्त्रादि लेने के लिए कहे तो आचार्यादि की स्वीकृति की शर्त रखकर ही ग्रहण करे। यदि वे स्वीकृति दें तो रखें, अन्यथा लौटा देवें।

४२-४३ साधु-साध्वियां रात्रि में आहार, वस्त्र, पात्र, शय्या-संस्तारक ग्रहण न करें। कभी विशेष परिस्थिति में शय्या-संस्तारक ग्रहण किया जा सकता है तथा चुराये गये वस्त्र, पात्रादि कोई पुनः लाकर दे तो उन्हें रात्रि में भी ग्रहण किया जा सकता है।

४४-४५ रात्रि में या विकाल में साधु-साध्वियों को विहार नहीं करना चाहिए तथा दूर क्षेत्र में होने वाला संखडी में आहार ग्रहण करने के लिये भी रात्रि में नहीं जाना चाहिये।

४६-४७ साधु-साध्वियों को रात्रि में उच्चार-प्रश्रवण या स्वाध्याय के लिये उपाश्रय से कुछ दूर अकेले नहीं जाना चाहिए, किन्तु दो या तीन-चार को साथ लेकर जा सकते हैं।

४८ चारों दिशाओं में जो आर्यक्षेत्रों की सीमा सूत्र में बताई गई है, उसके भीतर ही साधु-साध्वियों को विचरना चाहिए। किन्तु संयम की उन्नति के लिए विवेकपूर्वक किसी भी योग्य क्षेत्र में विचरण किया जा सकता है।

उपसंहार

इस उद्देशक में—

सूत्र १-५ वनस्पति विभागों के (ताल-प्रलम्ब के) अनेक खाद्य पदार्थों के कल्प्याकल्प्य का,

६-९ कल्पकाल की मर्यादा का,

१०-११ एक काल में साधु-साध्वियों के रहने के योग्यायोग्य ग्रामादि का,

सूत्र १२-१५, २०,	
२१, २५-३३	अनेक प्रकार के कल्प्याकल्प्य उपाश्रयों का,
१६-१७	घटीमात्रक के (मिट्टी की घटिका की आकृति वाले मात्रक के) कल्प्याकल्प्य का,
१८	चिलमिलिका (मच्छरदानी) रखने का,
१९	जल के किनारे खड़े रहना आदि का,
२२-२४	शय्यातर का संरक्षण ग्रहण करने—न करने का,
३४	क्लेश को पूर्णतः उपशान्त करने का,
३५-३६, ४८	विचरण काल का एवं विचरण के क्षेत्रों की मर्यादा का,
३७	विरोधी राज्यों के बीच गमनागमन न करने का,
३८-४१	गोचरी आदि के लिये गये हुए साधु-साध्वियों को वस्त्रादि लेने की विधि का,
४२-४३	रात्रि में आहारादि ग्रहण न करने का,
४४	रात्रि में विहार न करने का,
४५	रात्रि में दूरवर्ती संखडि (जीमनवार) के लिये न जाने का,
४६-४७	रात्रि में उपाश्रय की सीमा के बाहर अकेले न जाने,
	इत्यादि भिन्न-भिन्न विषयों का वर्णन किया गया है।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

दूसरा उद्देशक

धान्ययुक्त उपाश्रय में रहने के विधि-निषेध

१. उवस्सयस्स अंतोवगडाए १. सालीणि वा, २. वीहीणि वा, ३. मुग्गाणि वा, ४. मासाणि वा, ५. तिलाणि वा, ६. कुलत्थाणि वा, ७. गोधूमाणि वा, ८. जवाणि वा, ९. जवजवाणि वा, उक्खित्ताणि वा, विक्खित्ताणि वा, विइगिण्णाणि वा, विप्पइण्णाणि वा नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए।

२. अह पुण एवं जाणेज्जा—नो उक्खित्ताइं, नो विक्खित्ताइं, नो विइकिण्णाइं, नो विप्पइण्णाइं।
रासिकडाणि वा, पुंजकडाणि वा, भित्तिकडाणि वा, कुलियाकडाणि वा, लंछियाणि वा, मुद्दियाणि वा, पिहियाणि वा।
कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा हेमन्त-गिम्हासु वत्थए।

३. अह पुण एवं जाणेज्जा—नो रासिकडाइं, नो पुंजकडाइं, नो भित्तिकडाइं, नो कुलियाकडाइं।
कोट्ठाउत्ताणि वा, पल्लाउत्ताणि वा, मंचाउत्ताणि वा, मालाउत्ताणि वा, ओलित्ताणि वा, विलित्ताणि वा, पिहियाणि वा, लंछियाणि वा, मुद्दियाणि वा।
कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा वासावासं वत्थए।

१. उपाश्रय के भीतरी भाग (सीमा) में १. शालि, २. व्रीहि, ३. मूंग, ४. उड़द, ५. तिल, ६. कुलथ, ७. गेहूं, ८. जौ या ९. ज्वार अव्यवस्थित रखे हों या जगह-जगह रखे हों, या बिखरे हुए हों या अत्यधिक बिखरे हुए हों तो निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को वहां 'यथालन्दकाल' तक भी रहना नहीं कल्पता है।

२. यदि यह जाने कि (उपाश्रय में शालि यावत् ज्वार) उत्क्षिप्त, विक्षिप्त, व्यतिकीर्ण और विप्रकीर्ण नहीं हैं,
किन्तु राशीकृत, पुंजकृत, भित्तिकृत, कुलिकाकृत, लांछित, मुद्रित या पिहित हैं तो उन्हें हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में वहां रहना कल्पता है।

३. यदि यह जाने कि (उपाश्रय के भीतर शालि यावत् ज्वार) राशिकृत, पुंजीकृत, भित्तिकृत या कुलिकाकृत नहीं हैं,
किन्तु कोठे में या पल्य में भरे हुए हैं, मंच पर या माले पर सुरक्षित हैं, मिट्टी या गोबर से लिपे हुए हैं, ढंके हुए, चिह्न किये हुए या मुहर लगे हुए हैं तो उन्हें वहां वर्षावास में रहना कल्पता है।
विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों में धान्य रखे हुए मकानों की तीन स्थितियों का कथन किया गया है। प्रथम स्थिति है—जिस मकान में सर्वत्र धान्य बिखरा हुआ हो, वह मकान पूर्णतया अकल्पनीय होता

। दूसरी स्थिति है—जिस मकान में धान्य व्यवस्थित रखा हुआ है उसमें हेमन्त या ग्रीष्म ऋतु में चरण करते हुए ठहरा जा सकता है। तीसरी स्थिति है—जिस मकान में धान्य सर्वथा व्यवस्थित खा हुआ हो वहां चातुर्मास किया जा सकता है।

प्रथम सूत्र में प्रयुक्त 'यथालंदकाल' की व्याख्या इस प्रकार है—

गाहा—तिविहं च अहालंदं, जहन्नयं मज्झिमं च उक्कोसं।
उदउल्लं च जहण्णं, पणगं पुण होइ उक्कोसं॥
—बृह. भाष्य ३३०३

यथालन्द नाम कालविशेष का है। वह तीन प्रकार का होता है—१. जघन्य, २. मध्यम, ३. उत्कृष्ट।

गीले हाथ की रेखा के सूखने में जितना समय लगता है, उतने समय को जघन्य यथालन्दकाल कहते हैं।

पांच दिन-रात को उत्कृष्ट यथालन्दकाल कहते हैं। बृहत्कल्प सूत्र उद्दे. ३ में तथा उववाईसूत्र में इससे २९ दिन ग्रहण किये गये है और इन दोनों के मध्यवर्ती काल को मध्यम यथालन्दकाल कहते है।

जिस उपाश्रय में पूर्वोक्त प्रकार से कोई भी धान्य बिखरे हुए पड़े हों वहां पर जघन्य यथालन्द-काल भी रहना नहीं कल्पता है। क्योंकि उनके ऊपर से जाने-आने में सचित्त बीजों की विराधना होती है और धान्यों पर चलते हुए कभी फिसलकर गिरने से आत्म-विराधना भी सम्भव है, अतः साधु-साध्वियों को वहां क्षणभर भी नहीं ठहरना चाहिए।

कदाचित् प्रयत्न करने पर भी अन्य उपाश्रय न मिले तो रजोहरणादि से प्रमार्जन करके यतनापूर्वक वहां पर ठहरा जा सकता है। फिर उसका यथायोग्य प्रायश्चित्त स्वीकार कर लेना चाहिए।

मकान के जिस विभाग में साधु को ठहरना हो या गमनागमन करना हो उसके लिये यहां 'अंतोवगडाए' शब्द का प्रयोग किया गया है।

दूसरे सूत्र में निर्दिष्ट शालि, व्रीहि आदि धान्य मकान में बिखरे हुए नहीं हैं, किन्तु उनकी गोलाकार राशि बनी हुई है, लम्बी राशि बनी हुई है, भित्ति के सहारे रखे हुए हैं, कुलिका—मिट्टी से बने गोल या चौकोर पात्र में रखे हुए हैं, एकत्र करके भस्म (राख) आदि से लांछित (चिह्नित) किये हुए हैं, गोबर आदि से मुद्रित (लिम्पित) है, बांस से बनी चटाई, टोकरी या थाली वस्त्र आदि से पिहित—ढंके हुए हैं तो शीत एवं ग्रीष्मकाल में अपने कल्प के अनुसार वैसे मकान में साधु और साध्वियों को ठहरना कल्पता है, किन्तु वर्षाकाल में वैसे मकान में ठहरना नहीं कल्पता है।

तीसरे सूत्र में निर्दिष्ट शालि, व्रीहि आदि धान्य मकान की सीमा के भीतर राशि रूप में या भित्ति आदि के सहारे नहीं रखे हैं, किन्तु किसी कोठा या कोठी के भीतर अच्छी तरह से सुरक्षित रखे हुए हैं। यथा—

पल्यागुप्त—काठ, वंश-दल आदि से निर्मित और गोबर-मिट्टी आदि से लिपे हुए गोलाकार

बनाये गये धान्य रखने के पात्र-विशेष को पल्य कहते हैं। ऐसे पल्य के भीतर सुरक्षित रखे हुए धान्य को 'पल्यागुप्त' कहते हैं।

मंचागुप्त—तीन या चार खम्भों के ऊपर बनाये गये मचान पर बांस की खपच्चियों से निर्मित गोलाकार और चारों ओर से गोबर-मिट्टी से लिप्त ऐसे मंच में सुरक्षित रखे गये धान्य को 'मंचागुप्त' कहते हैं।

मालागुप्त—मकान के ऊपर की मंजिल के द्वार आदि को अच्छी तरह बन्द करके रखे गये धान्य को 'मालागुप्त' कहते हैं।

इन स्थानों में धान्य को रख कर उसे मिट्टी से छाब दिया गया है, गोबर से लीपा गया है, ढका हुआ है, चिह्नित किया गया है और मूंद दिया गया है, जिसके भीतर रखा गया धान्य स्वयं बाहर नहीं निकल सकता है और वर्षाकाल में जिसके बाहर निकाले जाने की संभावना भी नहीं है, ऐसे मकान में साधु या साध्वियां चौमासे में ठहर सकते हैं; किन्तु भाष्यकार कहते हैं कि उक्त प्रकार के मकानों में ठहरने का विधान केवल गीतार्थ साधु और साध्वियों के लिए ही है, अगीतार्थ साधु-साध्वियों के लिये नहीं है तथा अन्य स्थान न मिलने पर ही ऐसे स्थान में ठहरने का विधान है। अगीतार्थ साधु गीतार्थ साधु के नेतृत्व में रह सकते हैं, ऐसा समझना चाहिए।

सुरायुक्त मकान में रहने का विधि-निषेध व प्रायश्चित्त

४. उवस्सयस्स अंतोवगडाए सुरा-वियड-कुम्भे वा सोवीर-वियड-कुम्भे वा उवनिक्खित्ते सिया, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए।

हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए। नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए।

जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ, से सन्तरा छेए वा परिहारे वा।

४. उपाश्रय के भीतर सुरा और सौवीर से भरे कुम्भ रखे हुए हों तो निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को वहां 'यथालन्दकाल' भी रहना नहीं कल्पता है।

कदाचित् गवेषणा करने पर अन्य उपाश्रय न मिले तो उक्त उपाश्रय में एक या दो रात रहना कल्पता है, किन्तु एक या दो रात्रि से अधिक रहना नहीं कल्पता है।

जो वहां एक या दो रात से अधिक रहता है, वह मर्यादा-उल्लंघन के कारण दीक्षा-छेद या तप रूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विवेचन—चावल आदि की पीठी से जो मदिरा बनायी जाती है वह 'सुरा' कही जाती है और दाख-खजूर आदि से जो मद्य बनाया जाता है वह 'सौवीर मद्य' कहा जाता है। ये दोनों ही प्रकार के मद्य जिस स्थान पर घड़ों में रखे हुए हों, ऐसे स्थान पर अगीतार्थ साधु-साध्वी को यथालन्दकाल भी नहीं रहना चाहिए। यदि रहता है तो वह लघुचौमासी प्रायश्चित्त का पात्र होता है। क्योंकि ऐसे स्थान में ठहरने पर कभी कोई साधु सुरापान कर सकता है, जिससे अनेक दोष होना सम्भव हैं और वहां ठहरने पर जनसाधारण को शंका भी उत्पन्न हो सकती है।

अन्य स्थान के न मिलने पर वहा एक रात विश्राम किया जा सकता है। अधिक आवश्यक तो दो रात्रि भी विश्राम किया जा सकता है। यह आपवादिक विधान गीतार्थों के लिये है अथवा तार्थ के नेतृत्व में अगीतार्थों के लिये भी है।

दो रात्रि से अधिक रहने पर सूत्रोक्त मर्यादा का उल्लंघन होता है और उसका तप या छेद प्रायश्चित्त आता है।

'से संतरा छेए वा परिहारे वा' इस सूत्रांश की टीका इस प्रकार है—

'से'—तस्य संयतस्य, 'स्वांतरात्'—स्वस्वकृतं यदन्तरं-त्रिरात्र—चतुःरात्रादि कालं वस्थानरूपं, तस्मात्, 'छेदो वा'—पंच रात्रि दिवादिः, 'परिहारो वा'—मासलघुकादितपोविशेषो वति इति सूत्रार्थः।

इस टीका का भावार्थ यह है कि उस संयत के द्वारा तीन चार आदि दिनों के अवस्थान रूप ए हुए अपने दोष के कारण उसे तप रूप या छेद रूप यथोचित प्रायश्चित्त आता है।

किन्तु 'से संतरा' शब्द का जितने दिन रहे उतने ही दिन का प्रायश्चित्त आवे ऐसा अर्थ रना उचित नहीं है। क्योंकि टीकाकार ने ऐसा अर्थ कहीं भी नहीं किया है। अतः टीकाकारसम्मत र्थ ही करना चाहिए।

लयुक्त उपाश्रय में रहने का विधि-निषेध और प्रायश्चित्त

५. उवस्सयस्स अंतोवगडाए सीओदग-वियडकुम्भे वा उसिणोदग-वियडकुम्भे वा वनिक्खित्ते सिया, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए।

हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए। से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए।

जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ, से सन्तरा छेए वा परिहारे वा।

५. उपाश्रय के भीतर अचित्त शीतल जल या उष्ण जल के भरे हुए कुम्भ रखे हों तो निर्ग्रन्थों र निर्ग्रन्थियों को वहां 'यथालन्दकाल' भी रहना नहीं कल्पता है।

कदाचित् गवेषणा करने पर भी अन्य उपाश्रय न मिले तो उक्त उपाश्रय में एक या दो रात हना कल्पता है, किन्तु एक या दो रात्रि से अधिक रहना नहीं कल्पता है।

जो वहां एक या दो रात से अधिक रहता है वह मर्यादा-उल्लंघन के कारण दीक्षा-छेद या रूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विवेचन—अग्नि पर उबालने से या क्षार आदि पदार्थों से जिसके वर्णादि का परिवर्तन हो या है ऐसे प्रासुक ठण्डे जल के भरे हुए घड़े को शीतोदकविकृतकुम्भ कहते हैं। इसी प्रकार प्रासुक ष्ण जल के भरे हुए घड़े को उष्णोदकविकृतकुम्भ कहते हैं।

जिस उपाश्रय में ऐसे (एक या दोनो ही प्रकार के) जल से भरे घड़े रखे हों, वहां पर साधु र साध्वियों को 'यथालन्दकाल' भी नहीं रहना चाहिए। विशेष विवेचन पूर्व सूत्र के अनुसार समझ ना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में सचित्त पानी का कथन न होकर अचित्त पानी का कथन है। इसका तात्पर्य ही है कि साधु के द्वारा अचित्त पानी का सहज ही उपयोग किया जा सकता है। सचित्त पानी का साधु द्वारा पीना सहज सम्भव नहीं है।

अचित्त जल युक्त स्थान में ठहरने पर किसी भिक्षु को रात्रि में प्यास लग जाए, उस समय वह यदि उस जल को पी ले तो उसका रात्रिभोजनविरमणव्रत खंडित हो जाता है, अतः ऐसी शंका के स्थानों में ठहरने का निषेध किया है।

सूत्र में शीतल एवं उष्ण जल के साथ 'वियड' शब्द का प्रयोग है, अन्य आगमों में यह भिन्न-भिन्न अर्थ में एवं विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। इस विषय की विशेष जानकारी के लिये निशीथ उ. १९ सूत्र १-७ का विवेचन देखें।

अग्नि या दीपक युक्त उपाश्रय में रहने के विधि-निषेध और प्रायश्चित्त

६. उवस्सयस्स अंतोवगडाए, सव्वराइए जोई झियाएज्जा, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए।

हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए। नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए।

जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ, से सन्तरा छेए वा परिहारे वा।

७. उवस्सयस्स अंतोवगडाए, सव्वराइए पईवे दिप्पेज्जा, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए।

हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए। नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए।

जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ, से सन्तरा छेए वा परिहारे वा।

६. उपाश्रय के भीतर सारी रात अग्नि जले तो निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को वहां 'यथालन्दकाल' भी रहना नहीं कल्पता है।

कदाचित् गवेषणा करने पर भी अन्य उपाश्रय न मिले तो उक्त उपाश्रय में एक या दो रात रहना कल्पता है, किन्तु एक या दो रात्रि से अधिक रहना नहीं कल्पता है।

जो वहां एक या दो रात से अधिक रहता है, वह मर्यादा-उल्लंघन के कारण दीक्षा-छेद या तप रूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

७. उपाश्रय के भीतर सारी रात दीपक जले तो निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को वहां 'यथालन्दकाल' भी रहना नहीं कल्पता है।

कदाचित् गवेषणा करने पर भी अन्य उपाश्रय न मिले तो उक्त उपाश्रय में एक या दो रात रहना कल्पता है, किन्तु एक या दो रात्रि से अधिक रहना नहीं कल्पता है।

जो वहां एक या दो रात से अधिक रहता है वह मर्यादा उल्लंघन के कारण दीक्षा-छेद या तप रूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विवेचन—जिस मकान में सारी रात या दिन-रात अग्नि जलती है, उस (कुम्भकारशाला या लोहारशाला आदि) में भिक्षु को ठहरना नही कल्पता है। यदि ठहरने के स्थान में एवं गमनागमन के मार्ग में अग्नि नहीं जलती हो, किन्तु अन्यत्र कहीं भी जलती हो तो वहां ठहरना कल्पता है।

इसी प्रकार सम्पूर्ण रात्रि या दिन-रात जहा दीपक जलता है, वह स्थान भी अकल्पनीय है।

अग्नि या दीपक युक्त स्थान में ठहरने के दोष—

१. अग्नि के या दीपक के निकट से गमनागमन करने में अग्निकाय के जीवों की विराधना होती है। २. हवा से कोई उपकरण अग्नि में पड़कर जल सकता है। ३. दीपक के कारण आने वाले त्रस जीवों की विराधना होती है। ४. शीतनिवारण करने का संकल्प उत्पन्न हो सकता है।

आचा. श्रु. २, अ. २, उ. ३ में भी अग्नियुक्त स्थान में ठहरने का निषेध है एवं निशीथ उ. १६ में इसका प्रायश्चित्त विधान है।

इन आगमस्थलों में अल्पकालीन अग्नि या दीपक का निषेध नही किया है, किन्तु इसी सूत्र के प्रथम उद्देशक में पुरुष सागारिक उपाश्रय में साधु को एवं स्त्री सागारिक उपाश्रय में साध्वी को ठहरने का विधान है। जहां अग्नि या दीपक जलने की सम्भावना भी रहती है। अतः इन सूत्रों से सम्पूर्ण रात्रि अग्नि जलने वाले स्थानों का निषेध समझना चाहिए।

अन्य विवेचन पूर्व सूत्र के समान समझना चाहिए।

खाद्यपदार्थयुक्त मकान में रहने के विधि-निषेध और प्रायश्चित्त

८. उवस्सयस्स अंतोवगडाए पिण्डए वा, लोयए वा, खीरं वा, दहिं वा, नवणीयं वा, सप्पि वा, तेल्ले वा, फाणियं वा, पूवं वा, सक्कुली वा, सिहरिणी वा उक्खित्ताणि वा, विक्खित्ताणि वा, विइगिण्णाणि वा, विप्पइण्णाणि वा, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए।

९. अह पुण एवं जाणेज्जा—नो उक्खित्ताइं, नो विक्खित्ताइं, नो विइकिण्णाइं, नो विप्पइण्णाइं।

रासिकडाणि वा, पुंजकडाणि वा, भित्तिकडाणि वा, कुलियाकडाणि वा, लंछियाणि वा, मुद्दियाणि वा, पिहियाणि वा कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीणं वा हेमंत-गिम्हासु वत्थए।

१०. अह पुण एवं जाणेज्जा—नो रासिकडाइ जाव नो कुलियाकडायं, कोट्ठाउत्ताणि वा, पल्लाउत्ताणि वा, मंचाउत्ताणि वा, मालाउत्ताणि वा, कुंभिउत्ताणि वा, करभि-उत्ताणि वा, ओलित्ताणि वा, विलित्ताणि वा, पिहियाणि वा, लंछियाणि वा, मुद्दियाणि वा कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वासावासं वत्थए।

८. उपाश्रय के भीतर में पिण्डरूप खाद्य, लोचक-मावा आदि, दूध, दही, नवनीत, घृत, तेल,

गुड़, मालपुए, पूड़ी और श्रीखण्ड-उत्क्षिप्त, विक्षिप्त, व्यतिकीर्ण और विप्रकीर्ण हों तो निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को वहां 'यथालन्दकाल' रहना भी नहीं कल्पता है।

९. यदि यह जाने कि (उपाश्रय में पिण्डरूप खाद्य यावत् श्रीखण्ड) उत्क्षिप्त, विक्षिप्त, व्यतिकीर्ण या विप्रकीर्ण नहीं है।

किन्तु राशीकृत, पुंजकृत, भित्तिकृत, कुलिकाकृत तथा लांछित मुद्रित या पिहित है तो निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को वहां हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में रहना कल्पता है।

१०. यदि यह जाने कि (उपाश्रय के भीतर पिण्डरूप खाद्य यावत् श्रीखण्ड) राशीकृत यावत् कुलिकाकृत नहीं है।

किन्तु कोठे में या पल्य में भरे हुए हैं, मंच पर या माले पर सुरक्षित हैं, कुम्भी या बोधी में धरे हुए हैं, मिट्टी या गोबर से लिप्त हैं, ढंके हुए, चिह्न किये हुए है या मुहर लगे हुए हैं तो उन्हें वहां वर्षावास रहना कल्पता है।

विवेचन—सूत्र १-३ में धान्ययुक्त उपाश्रय मकान का वर्णन है और इन तीन सूत्रों में खाद्य-पदार्थयुक्त मकान का वर्णन है। धान्य तो भूमि पर बिखरे हुए हो सकते हैं, किन्तु ये खाद्यपदार्थ बर्तन आदि में इधर-उधर अव्यवस्थित पड़े होते हैं।

खाद्यपदार्थयुक्त उपाश्रय में ठहरने पर लगने वाले दोष

१. खाद्य पदार्थों वाले मकान में कीड़ियों की उत्पत्ति ज्यादा होती है। २. चूहे बिल्ली आदि भी भ्रमण करते हैं। ३. असावधानी से पशु-पक्षी आकर खा सकते हैं। ४. उन्हें खाते हुए रोकने एवं हटाने में अन्तराय दोष लगता है एवं न हटाने पर मकान का स्वामी रुष्ट हो सकता है अथवा साधु के ही खाने की आशंका कर सकता है। ५. कभी कोई क्षुधातुर या रसासक्त भिक्षु का मन खाने के लिये चलित हो सकता है एवं खा लेने पर अदत्त दोष लगता है। ६. खाद्य पदार्थों की सुगन्ध या दुर्गन्ध से अनेक शुभाशुभ संकल्प हो सकते हैं, जिनसे कर्मबन्ध होता है।

अन्य विवेचन सूत्र १-३ के समान समझना चाहिये।

साधु-साध्वी के धर्मशाला आदि में ठहरने का विधि-निषेध

११. नो कप्पइ निग्गंथीणं अहे आगमणगिहंसि वा, वियडगिहंसि वा, वंसीमूलंसि वा, रुक्खमूलंसि वा, अब्भावगासियंसि वा वत्थए।

१२. कप्पइ निग्गंथाणं अहे आगमणगिहंसि वा, वियडगिहंसि वा, वंसीमूलंसि वा, रुक्खमूलंसि वा, अब्भावगासियंसि वा वत्थए।

११. निर्ग्रन्थियों को आगमनगृह में, चारों ओर से खुले घर में, छप्पर के नीचे अथवा बांस की जाली युक्त गृह में, वृक्ष के नीचे या आकाश के नीचे (खुले स्थानों में) रहना नहीं कल्पता है।

१२. निर्ग्रन्थों को आगमनगृह (धर्मशाला) में, चारों ओर से खुले घर में, छप्पर के नीचे अथवा वांस की जाली युक्त गृह में, वृक्ष के नीचे या आकाश के नीचे (खुले स्थानों में) रहना कल्पता है।

विवेचन—१. आगमनगृह—जहां पर पथिकों का आना-जाना हो ऐसे देवालय, सभा, धर्मशाला, सराय या मुसाफिरखाना आदि को 'आगमनगृह' कहते हैं।

२. विवृतगृह—केवल ऊपर से ढंके हुए और दो, तीन या चारों ओर से खुले स्थान को 'विवृतगृह' कहते हैं।

३. वंशीमूल—वांस की चटाई आदि से ऊपर की ओर से ढंके और आगे की ओर से खुले ऐसे दालान, ओसारा, छपरी आदि को वंशीमूल कहते है। अथवा चौतरफ बांस की जाली से युक्त स्थान को 'वंशीमूल' कहते है।

४. वृक्षमूल—वृक्ष के तल भाग को 'वृक्षमूल' कहते हैं।

५. अभ्रावकाश—खुले आकाश को या जिसका अधिकांश ऊपरी भाग खुला हो ऐसे स्थान को 'अभ्रावकाश' कहते हैं।

ऐसे स्थान पर साध्वियो को किसी भी ऋतु में नहीं ठहरना चाहिए क्योंकि ये पूर्णतः असुरक्षित स्थान हैं। ऐसे स्थानो पर ठहरने से ब्रह्मचर्य व्रत भंग होने की सम्भावना रहती है।

विहार करते समय कभी सूर्यास्त का समय आ जाए और योग्य स्थान न मिले तो साध्वी को सूर्यास्त के बाद भी योग्य स्थान में पहुँचना अत्यन्त आवश्यक होता है।

साधुओं को ऐसे स्थान में ठहरने का सूत्र में जो विधान किया गया है, उसका कारण यह है कि पुरुषों में स्वाभाविक ही भयसंज्ञा अल्प होती है तथा ब्रह्मचर्यरक्षा के लिये भी उन्हें सुरक्षित स्थान की इतनी आवश्यकता नहीं होती है।

सामान्य स्थिति मे तो स्थविरकल्पी भिक्षु को सूत्रोक्त स्थानों के अतिरिक्त अन्य ऐसे स्थानों में ही ठहरना चाहिए, जहा ठहरने पर वाल, ग्लान आदि सभी भिक्षुओं के संयम, स्वाध्याय, आहार आदि का भलीभांति निर्वाह हो सके।

पूर्व सूत्र में 'वियड' शब्द अचित्त अर्थ में प्रयुक्त है और प्रस्तुत सूत्र में गृह के एक या अनेक दिशा में खुले होने के अर्थ में प्रयुक्त है। आगमों में शब्दप्रयोग की यह विलक्षण शैली है।

अनेक स्वामियों वाले मकान की आज्ञा लेने की विधि

१३. एगं सागारिए पारिहारिए।

दो, तिण्णि, चत्तारि, पंच सागारिया पारिहारिया।

एगं तत्थ कप्पागं ठवइत्ता अवसेसे निव्विसेज्जा।

१३. मकान का एक स्वामी पारिहारिक होता है।

जिस मकान के दो, तीन, चार या पांच स्वामी हों, वहां एक को कल्पाक=शय्यातर मान

करके शेष को शय्यातर नहीं मानना चाहिए अर्थात् उनके घरों में आहारादि लेने के लिए जा सकते हैं।

विवेचन—अगार घर का पर्यायवाची है। घर या वसति के स्वामी को 'सागारिक' कहते हैं। सागारिक मनुष्य को ही शय्यातर, शय्याकर, शय्यादाता और शय्याधर भी कहते हैं।

जो साधु-साध्वियों को शय्या अर्थात् ठहरने का स्थान, वसति या उपाश्रय देकर अपनी आत्मा को संसार-सागर से तारता है, उसे शय्यातर कहते हैं।

शय्या-वसति आदि को जो बनवाता है, उसे शय्याकर कहते हैं।

जो साधुओं को ठहरने का स्थान रूप शय्या देता है, उसे शय्यादाता कहते हैं।

जो वसति या उपाश्रय की छान-छप्पर आदि के द्वारा उसका धारण या संरक्षण करता है अथवा साधुओं को दी गई शय्या के द्वारा नरक में जाने से अपनी आत्मा को धारण करता है, अर्थात् बचाता है, उसे शय्याधर कहते हैं।

यह शय्यातर सागारिक जिस साधु या साध्वी को ठहरने के लिए वसति या उपाश्रय रूप शय्या दे, साधु को उसके घर का भक्त-पान ग्रहण करने का आगम में निषेध किया गया है, अतः उसे पारिहारिक कहते है।

यदि किसी स्थानक या मकान के अनेक (मनुष्य) स्वामी हों तो वे सभी पारिहारिक होते हैं, अतः उस स्थान के सभी स्वामियों में से किसी एक को 'कल्पाक' (शय्यातर) स्थापित करके जिससे आज्ञा प्राप्त करे उसके घर का भक्त-पान आदि ग्रहण नहीं करे। उसके सिवाय जितने भी स्वामी उस स्थानक या मकान के भागीदार या हिस्सेदार हैं, उनको शय्यातर रूप से न माने अर्थात् उनके घरों से आहार-पानी ग्रहण किया जा सकता है।

सूत्रोक्त 'निव्विसेज्जा' इस प्राकृत पद के टीकाकार ने दो प्रकार से अर्थ किये हैं—

१. निर्विशेत्-विसर्जयेत्-शय्यातरत्वेन न गणयेत्।

अथवा—२. निर्विशेत्-प्रविशेत् आहारार्थं तेषां (शेषाणां) गृहेषु अनुविशेत्।

इसके अतिरिक्त भाष्यकार ने शय्या कितने प्रकार की होती है, कौन-कौन सागारिक माने जाएँ, सागारिक के पिण्ड से भक्त-पान, वस्त्र, पात्रादि का भी ग्रहण अभीष्ट है इत्यादि अनेक ज्ञातव्य बातों की विस्तृत व्याख्या की है, जिसका सारांश निशीथ उद्देशक २, सूत्र ४६ में दिया गया है। जिज्ञासु पाठक वहीं देखें।

अनेक स्वामियों में से एक को शय्यातर करके फिर कुछ दिन बाद दूसरे को भी शय्यातर—कल्पाक बनाया जा सकता है। जिससे अनेक को शय्यादान का एवं आहारादि दान का लाभ प्राप्त हो सकता है। यह भी इस सूत्र से फलित होता है।

संसृष्ट असंसृष्ट शय्यातरपिंडग्रहण के विधि-निषेध

१४. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियपिण्डं बहिया अनीहडं, असंसट्टं वा संसट्टं वा पडिग्गाहित्तए।

१५. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियपिण्डं बहिया नीहडं असंसट्ठं पडिगाहित्तए।

१६. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियपिण्डं बहिया नीहडं संसट्ठं पडिगाहित्तए।

१७. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियपिण्डं बहिया नीहडं-असंसट्ठं संसट्ठं कारित्तए।

१८. जे खलु निग्गंथो वा निग्गंथी वा सागारियपिण्डं बहिया नीहडं असंसट्ठं संसट्ठं कारेइ कारंतं वा साइज्जइ। से दुहओ विइक्कममाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

१४. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को सागारिकपिण्ड (शय्यातरपिण्ड) जो कि बाहर नहीं निकाला गया है, वह चाहे अन्य किसी के आहार में मिश्रित किया हो या नहीं किया हो तो भी लेना नहीं कल्पता है।

१५. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को सागारिकपिण्ड जो बाहर तो निकाला गया है, किन्तु अन्य के आहार में मिश्रित नहीं किया गया है तो लेना नहीं कल्पता है।

१६. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को सागारिकपिण्ड जो घर के बाहर भी ले जाया गया है और अन्य के आहार में मिश्रित भी कर लिया गया है तो ग्रहण करना कल्पता है।

१७. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को घर से बाहर ले जाया गया सागारिकपिण्ड जो अन्य के आहार में मिश्रित नहीं किया गया है, उसे मिश्रित कराना नहीं कल्पता है।

१८. जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी घर के बाहर ले जाये गये एवं अन्य के आहार में अमिश्रित सागारिकपिण्ड को मिश्रित करवाता है या करवाने वाले का अनुमोदन करता है, वह लौकिक और लोकोत्तर दोनों मर्यादा का अतिक्रमण करता हुआ चातुर्मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विवेचन—पूर्व सूत्र में अनेक स्वामियों वाले मकान की आज्ञा लेने के सम्बन्ध में एवं शय्या के आज्ञादाता का आहार आदि न लेने का तथा अन्य स्वामियों के घरों से आहारादि लेने का विधान किया गया है। इन सूत्रों में अनेक व्यक्तियों का आहार एक स्थान पर एकत्रित हो एवं उनमें शय्यातर का भी आहारादि हो तो वह आहार कहां किस स्थिति में अग्राह्य होता है और कैसा ग्राह्य होता है इत्यादि विधान किया गया है।

अनेक व्यक्तियों का संयुक्त आहारस्थान यदि शय्यातर के घर की सीमा में हो और वहां शय्यातर का आहार अलग पड़ा हो अथवा सब के आहार में मिला दिया गया हो तो भी साधु को ग्रहण करना नहीं कल्पता है। यह प्रथम सूत्र का आशय है।

अनेक व्यक्तियों का सम्मिलित आहार शय्यातर के घर की सीमा से बाहर हो एवं वहां शय्यातर का आहार अलग रखा हो तो उसमें से लेना ——— है

किन्तु अन्य सभी के सम्मिलित आहार में शय्यातर का आहार मिश्रित कर दिया गया हो और जिस हेतु से आहार सम्मिलित किया गया हो उन देवताओं का नैवेद्य निकाल दिया गया हो, ब्राह्मण आदि को जितना देना है उतना दे दिया गया हो, उसके बाद भिक्षु लेना चाहे तो ले सकता है। क्योंकि अब उस आहार में शय्यातर के आहार का अलग अस्तित्व भी नहीं है एवं उसका स्वामित्व भी नहीं रहा है अतः उस मिश्रित एवं परिशेष आहार में से भिक्षु को ग्रहण करने में शय्यातरपिण्डग्रहण का दोष नहीं लगता है। यह तीसरे सूत्र का आशय है।

विहार आदि किसी भी कारण से उक्त असंसृष्ट आहार को ग्रहण करने हेतु संसृष्ट करवाना भिक्षु को नहीं कल्पता है। यह चौथे सूत्र का आशय है।

उक्त असंसृष्ट आहार आदि को संसृष्ट करवाना संयम-मर्यादा से विपरीत है एवं लोगों को भी अप्रीतिकारक होता है। अतः ऐसा करने पर भिक्षु लौकिक व्यवहार एवं संयम-मर्यादा का उल्लंघन करने वाला होता है। इसलिए उसे प्रायश्चित्त आता है। यह पांचवें सूत्र का आशय है।

शय्यातर के असंसृष्ट आहार को या उसके घर की सीमा में रहे आहार को ग्रहण करने पर यदि वह भद्रप्रकृति वाला हो तो पुनः पुनः इस निमित्त से आहार देने का प्रयास कर सकता है। यदि वह तुच्छ प्रकृति वाला हो तो रुष्ट हो सकता है, जिससे वध-बंधन या शय्या देने का निषेध कर सकता है। घर की सीमा से बाहर रहे हुए संसृष्ट आहार में उक्त दोष की सम्भावना नहीं होती है। अतः ग्राह्य कहा गया है।

शय्यातर के घर आये या भेजे गये आहार के ग्रहण का विधि-निषेध

१९. सागारियस्स आहडिया सागारिएण पडिग्गहिया, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२०. सागारियस्स आहडिया सागारिएण अपडिग्गहिया, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२१. सागारियस्स नीहडिया परेण अपडिग्गहिया, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२२. सागारियस्स नीहडिया परेण पडिग्गहिया, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

१९. अन्य घर से आये हुए आहार को सागारिक ने अपने घर पर ग्रहण कर लिया है और वह उसमें से साधु को दे तो लेना नहीं कल्पता है।

२०. अन्य घर से आये हुए आहार को सागारिक ने अपने घर पर ग्रहण नहीं किया है और यदि आहार लाने वाला उस आहार में से साधु को दे तो लेना कल्पता है।

२१. सागारिक के घर से अन्य घर पर ले जाये गये आहार को उस गृहस्वामी ने यदि स्वीकार नहीं किया है तो उस आहार में से साधु को दे तो लेना नहीं कल्पता है।

२२. सागारिक के घर से अन्य घर ले जाये गये आहार को उस गृहस्वामी ने स्वीकार कर ाया है। यदि वह उस आहार में में साधु को दे तो लेना कल्पता है।

विवेचन—दूसरों के घर से शय्यातर के घर पर लाई जा रही खाद्यसामग्री 'आहृतिका' कही ई है और शय्यातर की जो खाद्यसामग्री अन्य के घर ले जाई जा रही हो वह 'निहृतिका' कही गई । ऐसी शय्यातर सम्बन्धी आहृतिका एवं निहृतिका सामग्री साधु किस स्थिति में ग्रहण कर सकता , यह इन चार सूत्रों में बताया गया है।

ये आहृतिका निहृतिका किसी त्योहार या महोत्सव के निमित्त से हो सकती है। यदि ाहृतिका या निहृतिका सामग्री में से कोई व्यक्ति साधु को ग्रहण करने के लिए कहे तो शय्यातर की ाहृतिका का आहार जब तक शय्यातर के स्वामित्व में नहीं हुआ है, तब तक ग्रहण किया जा कता है।

शय्यातर की निहृतिका का आहार दूसरे के ग्रहण करने के बाद उससे लिया जा सकता है। य्यातर की निहृतिका बांटने वाले से आहार नहीं लिया जा सकता है, किन्तु शय्यातर की आहृतिका ांटने वाले से उसका आहार लिया जा सकता है।

पूर्व सूत्र में शय्यातर का आहार अन्य अनेक लोगों के आहार के साथ अलग या मिश्रित य्यातर के घर की सीमा में या अन्यत्र कहीं हो, उसी का कथन है और इन सूत्रों में शय्यातर के घर ं हो या अन्यत्र हो, शय्यातर का हो या अन्य का हो, दिया जाने वाला हो या लिया जाने वाला हो, ह आहार जब तक शय्यातर के स्वामित्व में नहीं हुआ है या अन्य ने अपने स्वामित्व में ले लिया है ो उस आहार को ग्रहण किया जा सकता है और वह आहार जब तक शय्यातर के स्वामित्व में है या न्य का लाया गया आहार उसने स्वीकार कर लिया है तो वह आहार साधु ग्रहण नहीं कर सकता है इत्यादि कथन है। दोनों प्रकरणों में यह अन्तर समझना चाहिये।

आहृतिका एव निहृतिका बांटने वाला जहां हो उस समय भिक्षु भी सहजरूप में वहां गोचरी के लिये भ्रमण करते हुए पहुच जाये और बांटने वाला या लेने वाला निमन्त्रण करे इस अपेक्षा से यह सूत्रोक्त कथन है, ऐसा समझना चाहिये।

शय्यातर के अंशयुक्त आहार-ग्रहण का विधि-निषेध

२३. सागारियस्स अंसियाओ—१. अविभत्ताओ, २. अव्वोच्छिन्नाओ, ३. अव्वोगडाओ, ४. अनिज्जूढाओ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहित्तए।

२४. सागारियस्स अंसियाओ—विभत्ताओ, वोच्छिन्नाओ, वोगडाओ, निज्जढाओ तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहेत्तए।

२३. सागारिक तथा अन्य व्यक्तियों के संयुक्त आहारादि का यदि—१. विभाग निश्चित नहीं किया गया हो, २. विभाग न किया गया हो, ३. सागारिक का विभाग अलग निश्चित न किया गया हो, ४. विभाग बाहर निकालकर अलग न कर दिया हो, ऐसे आहार में से साधु को कोई दे तो लेना नहीं कल्पता है।

२४. सागारिक के अंश युक्त आहारादि का यदि—१. विभाग निश्चित हो, २. विभाग कर दिया हो, ३. सागारिक का विभाग निश्चित कर दिया हो, ४. उस विभाग को बाहर निकाल दिया गया हो तो शेष आहार में से साधु को कोई दे तो लेना कल्पता है।

विवेचन—सूत्र में प्रयुक्त पदों का अर्थ इस प्रकार है—

१. अविभक्त—विभक्त का अर्थ पृथक्करण या विभाजन है, जब तक सागारिक का भाग उस सम्मिलित भोज्यसामग्री में से पृथक् रूप से निश्चित नहीं किया जाय, तब तक वह 'अविभक्त' है।

२. अव्यवच्छिन्न—व्युच्छिन्न या व्यवच्छिन्न का अर्थ सम्बन्धविच्छेद है। जब तक सागारिक के अंश का सम्बन्ध-विच्छेद न हो जाय, तब तक वह 'अव्यवच्छिन्न' है।

३. अव्याकृत—व्याकृत का अर्थ भाग के स्पष्टीकरण का है कि इतना अंश तुम्हारा है और इतना अंश मेरा है, जब तक ऐसा निर्धारण नहीं हो जाय तब तक वह 'अव्याकृत' कहलाता है।

४. अनिर्यूढ—निर्यूढ का अर्थ 'पृथक् निर्धारित अंश से अलग करना' है। जब तक सागारिक का अंश उस सम्मिलित भोजन में से निकाल न दिया जाय, तब तक वह 'अनिर्यूढ' कहलाता है।

इस प्रकार पूरे सूत्र का समुच्चय अर्थ यह होता है कि शय्यातर सहित अनेक व्यक्तियों की खाद्यसामग्री में से सागारिक का अंश जब तक अविभाजित है, अव्यवच्छिन्न है, अनिर्णीत है और अनिष्कासित है, तब तक उस भोजन के आयोजकों में से यदि कोई व्यक्ति साधु को कुछ अंश देता है तो वह उनके लिए ग्राह्य नहीं है। किन्तु जब सागारिक का अंश विभाजित, व्यवच्छिन्न, निर्धारित और निष्कासित हो जाता है, तब उस सम्मिलित भोज्य-सामग्री में से दिया गया भक्त-पिण्ड साधु के लिये ग्राह्य है और वह उसे ले सकता है।

यहां यह भी बताया गया है कि अनेक जनों के द्वारा सम्मिलित बनाये गये भोजन के अतिरिक्त सम्मिलित तैयार किया गया गुड़, तेल, घी आदि सभी इसी के अन्तर्गत हैं। उनमें से भी जब तक सागारिक का भाग निकाल कर सर्वथा पृथक् न कर दिया जावे तब तक वे पदार्थ भी साधु के लिए अग्राह्य ही हैं।

पूर्व सूत्रों में वर्णित संसृष्ट असंसृष्ट आहार में किसी का स्वामित्व नहीं रहता है और न वह विभक्त होता है। किन्तु प्रस्तुत सूत्रकथित आहार में स्वामित्व भी होता है, वह विभक्त होकर शय्यातर को मिलने वाला भी होता है। यह इन दोनों प्रकरणों में अन्तर है।

शय्यातर के पूज्यजनों को दिये गये आहार के ग्रहण करने का विधि-निषेध

२५. सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसट्ठे पाडिहारिए, तं सागारिओ देइ, सागारियस्स परिजणो देइ तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए।

२६. सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए, सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसट्ठे ... तं नो सागारिओ देइ, नो सागारियस्स परिजणो देइ, सागारियस्स पूया देइ, ... पडिग्गाहित्तए।

२७. सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसट्ठे अपाडिहारिए, तं सागारिओ देइ, सागारियस्स परिजणो देइ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए।

२८. सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए, सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए, निसट्ठे अपाडिहारिए, तं नो सागारिओ देइ, नो सागारियस्स परिजणो देइ, सागारियस्स पूया देइ, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए।

२५. सागरिक ने अपने पूज्य पुरुषों को सम्मानार्थ भोजन दिया हो, पूज्य पुरुषों द्वारा वह आहार सागारिक के उपकरणों में बनाया गया हो और प्रातिहारिक हो, ऐसे आहार में से यदि सागारिक दे या उसके परिजन दें तो साधु को लेना नही कल्पता है।

२६. सागारिक ने अपने पूज्य पुरुषों को सम्मानार्थ भोजन दिया हो, पूज्य पुरुषों द्वारा वह आहार सागारिक के उपकरणो में बनाया गया हो और प्रातिहारिक हो, ऐसे आहार में से न सागारिक दे और न सागारिक के परिजन दें, किन्तु सागारिक के पूज्य पुरुष दे तो भी साधु को लेना नहीं कल्पता है।

२७. सागारिक ने अपने पूज्य पुरुषों को सम्मानार्थ भोजन दिया हो, पूज्य पुरुषों द्वारा वह आहार सागारिक के उपकरणों में बनाया गया हो और अप्रतिहारिक हो, ऐसे आहार में से सागारिक दे या उसके परिजन दें तो साधु को लेना नही कल्पता है।

२८. सागारिक ने अपने पूज्य पुरुषों को सम्मानार्थ भोजन दिया हो, पूज्य पुरुषो द्वारा वह आहार सागारिक के उपकरणों में बनवाया गया हो और अप्रतिहारिक हो, ऐसे आहार में से न सागारिक दे और न सागारिक के परिजन दें किन्तु सागारिक के पूज्य पुरुष दें तो लेना कल्पता है।

विवेचन—शय्यातर के नाना, मामा, बहनोई, जमाई, विद्यागुरु, कलाचार्य, स्वामी या मेहमान आदि पूज्य जनो के निमित्त से जो भक्त-पान बनाया जाता है, उसे पूज्य-भक्त कहते हैं।

वह शय्यातर के घर से लाकर जहा पूज्य जन ठहरे हों वहां उन्हें भोजनार्थ समर्पण किया गया हो, बाजार आदि से मंगाकर पूज्य जनों के पास भेंट रूप भेजा गया हो, शय्यातर के भाजनों में (वर्तनों में) पकाया गया हो, उसके पात्र से निकाला गया हो और प्रातिहारिक हो अर्थात् पूज्य जनों को खिलाने के पश्चात् जो भोजन बचे, वह वापस लाकर सोंपना, ऐसा कहकर सेवक या कुटुम्बीजन द्वारा भेजा गया हो, ऐसे सभी आहार पूज्य-भक्त कहे जाते हैं।

इसी प्रकार सागारिक के पूज्य जनो के लिए बनाये गये या लाये गये वस्त्र-पात्र, कम्बलादि भी पूज्य उपकरण कहलाते है। ऐसे पूज्य जन-निमित्त वाले भक्त-पिण्ड और उपकरण को चाहे शय्यातर स्वयं साधु के लिए दे, उसके स्वजन-परिजन दें या उक्त पूज्य जन दें तो भी साधु-साध्वी को वह आहार आदि लेना नहीं कल्पता है। क्योंकि शेष आहार पुनः शय्यातर को लौटाने का होने से उसमें शय्यातर के स्वामित्व का सम्बन्ध रहता है।

२४. सागारिक के अंश युक्त आहारादि का यदि—१. विभाग निश्चित हो, २. विभाग कर दिया हो, ३. सागारिक का विभाग निश्चित कर दिया हो, ४. उस विभाग को बाहर निकाल दिया गया हो तो शेष आहार में से साधु को कोई दे तो लेना कल्पता है।

विवेचन—सूत्र में प्रयुक्त पदों का अर्थ इस प्रकार है—

१. अविभक्त—विभक्त का अर्थ पृथक्करण या विभाजन है, जब तक सागारिक का भाग उस सम्मिलित भोज्यसामग्री में से पृथक् रूप से निश्चित नहीं किया जाय, तब तक वह 'अविभक्त' है।

२. अव्यवच्छिन्न—व्युच्छिन्न या व्यवच्छिन्न का अर्थ सम्बन्धविच्छेद है। जब तक सागारिक के अंश का सम्बन्ध-विच्छेद न हो जाय, तब तक वह 'अव्यवच्छिन्न' है।

३. अव्याकृत—व्याकृत का अर्थ भाग के स्पष्टीकरण का है कि इतना अंश तुम्हारा है और इतना अंश मेरा है, जब तक ऐसा निर्धारण नहीं हो जाय तब तक वह 'अव्याकृत' कहलाता है।

४. अनिर्यूढ—निर्यूढ का अर्थ 'पृथक् निर्धारित अंश से अलग करना' है। जब तक सागारिक का अंश उस सम्मिलित भोजन में से निकाल न दिया जाय, तब तक वह 'अनिर्यूढ' कहलाता है।

इस प्रकार पूरे सूत्र का समुच्चय अर्थ यह होता है कि शय्यातर सहित अनेक व्यक्तियों की खाद्यसामग्री में से सागारिक का अंश जब तक अविभाजित है, अव्यवच्छिन्न है, अनिर्णीत है और अनिष्कासित है, तब तक उस भोजन के आयोजकों में से यदि कोई व्यक्ति साधु को कुछ अंश देता है तो वह उनके लिए ग्राह्य नहीं है। किन्तु जब सागारिक का अंश विभाजित, व्यवच्छिन्न, निर्धारित और निष्कासित हो जाता है, तब उस सम्मिलित भोज्य-सामग्री में से दिया गया भक्त-पिण्ड साधु के लिये ग्राह्य है और वह उसे ले सकता है।

यहां यह भी बताया गया है कि अनेक जनों के द्वारा सम्मिलित बनाये गये भोजन के अतिरिक्त सम्मिलित तैयार किया गया गुड़, तेल, घी आदि सभी इसी के अन्तर्गत हैं। उनमें से भी जब तक सागारिक का भाग निकाल कर सर्वथा पृथक् न कर दिया जावे तब तक वे पदार्थ भी साधु के लिए अग्राह्य ही हैं।

पूर्व सूत्रों में वर्णित संसृष्ट असंसृष्ट आहार में किसी का स्वामित्व नहीं रहता है और न वह विभक्त होता है। किन्तु प्रस्तुत सूत्रकथित आहार में स्वामित्व भी होता है, वह विभक्त होकर शय्यातर को मिलने वाला भी होता है। यह इन दोनों प्रकरणों में अन्तर है।

शय्यातर के पूज्यजनों को दिये गये आहार के ग्रहण करने का विधि-निषेध

२५. सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसट्ठे पाडिहारिए, तं सागारिओ देइ, सागारियस्स परिजणो देइ तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए।

२६. सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए, सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसट्ठे पाडिहारिए, तं नो सागारिओ देइ, नो सागारियस्स परिजणो देइ, सागारियस्स पूया देइ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए।

२७. सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसट्ठे अपाडिहारिए, तं सागारिओ देइ, सागारियस्स परिजणो देइ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए।

२८. सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए, सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए, निसट्ठे अपाडिहारिए, तं नो सागारिओ देइ, नो सागारियस्स परिजणो देइ, सागारियस्स पूया देइ, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए।

२५. सागारिक ने अपने पूज्य पुरुषों को सम्मानार्थ भोजन दिया हो, पूज्य पुरुषों द्वारा वह आहार सागारिक के उपकरणों में बनाया गया हो और प्रातिहारिक हो, ऐसे आहार में से यदि सागारिक दे या उसके परिजन दें तो साधु को लेना नही कल्पता है।

२६. सागारिक ने अपने पूज्य पुरुषों को सम्मानार्थ भोजन दिया हो, पूज्य पुरुषों द्वारा वह आहार सागारिक के उपकरणों में बनाया गया हो और प्रातिहारिक हो, ऐसे आहार मे से न सागारिक दे और न सागारिक के परिजन दें, किन्तु सागारिक के पूज्य पुरुष दें तो भी साधु को लेना नहीं कल्पता है।

२७. सागारिक ने अपने पूज्य पुरुषों को सम्मानार्थ भोजन दिया हो, पूज्य पुरुषों द्वारा वह आहार सागारिक के उपकरणों में बनाया गया हो और अप्रतिहारिक हो, ऐसे आहार में से सागारिक दे या उसके परिजन दें तो साधु को लेना नहीं कल्पता है।

२८. सागारिक ने अपने पूज्य पुरुषों को सम्मानार्थ भोजन दिया हो, पूज्य पुरुषों द्वारा वह आहार सागारिक के उपकरणों में बनवाया गया हो और अप्रतिहारिक हो, ऐसे आहार में से न सागारिक दे और न सागारिक के परिजन दें किन्तु सागारिक के पूज्य पुरुष दें तो लेना कल्पता है।

विवेचन—शय्यातर के नाना, मामा, बहनोई, जमाई, विद्यागुरु, कलाचार्य, स्वामी या मेहमान आदि पूज्य जनो के निमित्त से जो भक्त-पान बनाया जाता है, उसे पूज्य-भक्त कहते हैं।

वह शय्यातर के घर से लाकर जहा पूज्य जन ठहरे हों वहां उन्हें भोजनार्थ समर्पण किया गया हो, बाजार आदि से मंगाकर पूज्य जनों के पास भेंट रूप भेजा गया हो, शय्यातर के भाजनों में (बर्तनों में) पकाया गया हो, उसके पात्र से निकाला गया हो और प्रातिहारिक हो अर्थात् पूज्य जनों को खिलाने के पश्चात् जो भोजन बचे, वह वापस लाकर सोंपना, ऐसा कहकर सेवक या कुटुम्बीजन द्वारा भेजा गया हो, ऐसे सभी आहार पूज्य-भक्त कहे जाते हैं।

इसी प्रकार सागारिक के पूज्य जनों के लिए बनाये गये या लाये गये वस्त्र-पात्र, कम्बलादि भी पूज्य उपकरण कहलाते हैं। ऐसे पूज्य जन-निमित्त वाले भक्त-पिण्ड और उपकरण को चाहे शय्यातर स्वयं साधु के लिए दे, उसके स्वजन-परिजन दें या उक्त पूज्य जन दे तो भी साधु-साध्वी को वह आहार आदि लेना नहीं कल्पता है। क्योंकि शेष आहार पुनः शय्यातर को लौटाने का होने से उसमें शय्यातर के स्वामित्व का सम्बन्ध रहता है।

यदि वह आहार पूज्य जनों को अप्रातिहारिक दे दिया गया हो अर्थात् खाने के बाद शेष रहा आहार शय्यातर को पुनः नहीं लौटाना हो तो वैसे आहार को ग्रहण किया जा सकता है।

यदि उस आहार को शय्यातर या उसके परिजन दें तो नहीं लिया जा सकता है, किन्तु अन्य पूज्य जन आदि दें तो लिया जा सकता है।

इन सूत्रों से यह भी फलित होता है कि शय्यातर के स्वामित्व से रहित आहार भी शय्यातर के हाथ से या उसके पुत्र, पौत्र, स्त्री, पुत्रवधू आदि के हाथ से नहीं लिया जा सकता है, किन्तु विवाहित लड़कियों के हाथ से वह आहार लिया जा सकता है।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के लिए कल्पनीय वस्त्र

२९. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—इमाइं पंच वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा, तं जहा—१. जंगिए, २. भंगिए, ३. साणए, ४. पोत्तए, ५. तिरीडपट्टे नामं पंचमे।

२९. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को पांच प्रकार के वस्त्रों को रखना और उनका उपयोग करना कल्पता है। यथा—

१. जांगमिक, २. भांगिक, ३. सानक, ४. पोतक, ५. तिरीटपट्टक।

विवेचन—१. जांगमिक—भेड़ आदि के बालों से बने वस्त्र को 'जांगमिक' कहते हैं।

२. भांगिक—अलसी आदि की छाल से बने वस्त्र को 'भांगिक' कहते हैं।

३. शाणक—सन (जूट) से बने वस्त्रों को 'शाणक' कहते है।

४. पोतक—कपास से बने वस्त्र को 'पोतक' कहते हैं।

५. तिरीटपट्टक—तिरीट (तिमिर) वृक्ष की छाल से बने वस्त्र को 'तिरीटपट्टक' कहते हैं।

ये पांच प्रकार के वस्त्र साधु के लिए कल्पनीय हैं।

ऐसा सूत्र-निर्देश होने पर भी भाष्यकार ने इनमें से साधु-साध्वी के लिए दो सूती और एक ऊनी ऐसे तीन वस्त्रों को रखने का ही निर्देश किया है।

जंगम का अर्थ त्रसजीव है। त्रसजीव दो प्रकार के होते हैं—विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

कोशा, रेशम और मखमल विकलेन्द्रियप्राणिज वस्त्र हैं। इनका उपयोग साधु के लिए सर्वथा वर्जित है, क्योंकि ये उन प्राणियों का घात करके निकाले गये धागों से बनते हैं।

पंचेन्द्रियजीवों के चर्म से निर्मित वस्त्र भी साधु-साध्वी के लिये निषिद्ध हैं। किन्तु उनके केशों से निर्मित ऊनी वस्त्रों का उपयोग साधु-साध्वी कर सकते हैं। क्योंकि भेड़ आदि के केश काटने में उन प्राणियों का घात नहीं होता है। अपितु ऊन काटने के बाद उनको हल्केपन का ही अनुभव होता है। आचा. श्रु. २, अ. ५, उ. १ में तथा ठाणांग अ. ५, उ. ३ में भी ये वस्त्र कल्पनीय बताये हैं।

आचारांगसूत्र में यह भी कहा गया है कि—'जो भिक्षु तरुण स्वस्थ एवं समर्थ हो वह इनमें से एक ही जाति के वस्त्र रखे, अनेक जाति के नहीं रखे। अन्य सामान्य भिक्षु एक या अनेक जाति के वस्त्र रख सकते हैं।

इन पांच जाति के वस्त्रों में से जब जहां जो सुलभ एवं कल्पनीय प्राप्त हो उसे ग्रहण किया जा सकता है। प्राथमिकता सूती एवं ऊनी इन दो को ही दी जानी चाहिए।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के लिए कल्पनीय रजोहरण

३०. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाइं पंच रयहरणाइं धारित्तए वा परिहारित्तए वा, तं जहा—१. ओण्णिए, २. उट्टिए, ३. साणए, ४. वच्चाचिप्पए, ५. मुंजचिप्पए नामं पंचमे।

त्ति बेमि।

३०. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को इन पांच प्रकार के रजोहरणों को रखना और उनका उपयोग करना कल्पता है। यथा—

१. औणिक, २. औष्ट्रिक, ३. सानक, ४. वच्चाचिप्पक, ५. मुंजचिप्पक।

विवेचन—जिसके द्वारा धूलि आदि द्रव्य-रज और कर्म-मलरूप भाव-रज दूर की जाए उसे 'रजोहरण' कहते हैं।

द्रव्यरजोहरण—गमनागमन करते हुए पैरों पर लगी रज या मकान में आई रज इससे प्रमार्जन करके दूर की जाती है, अतः यह 'द्रव्यरजोहरण' है।

भावरजोहरण—भूमिगत, शरीर या वस्त्र-शय्यादि पर चढ़े हुए कीड़े-मकोड़े आदि को कष्ट पहुँचाए विना रजोहरण से दूर किया जा सकता है, अतः जीवरक्षा का साधन होने से यह 'भावरजोहरण' है।

यह रजोहरण पांच प्रकार का होता है—

१. औणिक—जो भेड़ आदि की ऊन से बनाया जाए वह 'औणिक" है।

२. औष्ट्रिक—जो ऊँट के केशों से बनाया जाय वह 'औष्ट्रिक' है।

३. शानक—जो सन के वल्कल से बनाया जाय वह 'शानक' है।

४. वच्चाचिप्पक—वच्चा का अर्थ डाभ या घास है, उसे कूटकर और कर्कश भाग दूरकर बनाये गये रजोहरण को 'वच्चाचिप्पक' कहते हैं।

५. मुंजचिप्पक—मुंज को कूटकर तथा उसके कठोर भाग को दूर करके बनाए गए रजोहरण को 'मुंजचिप्पक' कहते हैं।

स्थानांग अ. ५, उ. ३ में भी रजोरहण के ये पाच प्रकार कहे हैं।

इन पांचों में पूर्व-पूर्व के कोमल होते हैं और उत्तर-उत्तर के कर्कश। अतः सबसे कोमल होने से औणिक रजोहरण ही प्रशस्त या उत्तम माना गया है। उसके अभाव में औष्ट्रिक और उसके अभाव में शानक रजोहरण का भाष्यकार ने स्पष्ट निर्देश किया है। यदि किसी देश-विशेष में उक्त तीनों ही प्रकार के रजोहरण उपलब्ध न हों तो वैसी दशा में ही वच्चाचिप्पक और उसके भी अभाव में मुंजचिप्पक रजोहरण ग्रहण करने का विधान है।

विपरीत क्रम से रजोहरण के ग्रहण करने पर लघुमासिक प्रायश्चित्त का निर्देश किया है। साधु-साध्वी के संयम की रक्षा के लिए तथा शारीरिक रज को दूर करने के लिए एक रजोहरण रखना आवश्यक होता है।

दूसरे उद्देशक का सारांश

सूत्र १-३ जिस मकान में धान्य बिखरा हुआ हो उसमें नहीं ठहरना किन्तु व्यवस्थित राशीकृत हो तो मासकल्प एवं मुहरबन्द हो तो पूरे चातुर्मास भी रहा जा सकता है।

४-७ जिस मकान की सीमा में मद्य के घड़े या अचित्त शीत या उष्ण जल के घड़े भरे हुए पड़े हों अथवा अग्नि या दीपक सम्पूर्ण रात्रि जलते हों तो वहां साधु-साध्वी को नहीं ठहरना चाहिए, किन्तु अन्य मकान के अभाव में एक या दो रात्रि ठहरा जा सकता है।

८-१० जिस मकान की सीमा में खाद्य पदार्थ के वर्तन यत्र-तत्र पड़े हों वहां नहीं ठहरना चाहिए किन्तु एक किनारे पर व्यवस्थित रखे हों तो मासकल्प एवं मुहरबन्द हों तो पूरे चातुर्मास भी रहा जा सकता है।

११-१२ धर्मशाला एवं असुरक्षित स्थानों में साध्वियों को नही ठहरना चाहिए, किन्तु अन्य स्थान के अभाव में साधु वहां ठहर सकते हैं।

१३ शय्या के अनेक स्वामी हों तो एक की आज्ञा लेकर उसे शय्यातर मानना एवं अन्य के घरों से आहारादि ग्रहण करना।

१४-१६ शय्यादाता एवं अन्य का आहार किसी स्थान पर संगृहीत किया गया हो तो शय्यातर के घर की सीमा मे और सीमा से वाहर अलग रखे हुए शय्यातर के आहार में से ग्रहण करना नहीं कल्पता है। किन्तु शय्यादाता के घर की सीमा के वाहर एवं अन्य संगृहीत आहार में शय्यातर का आहार मिला दिया गया हो तो ग्रहण किया जा सकता है।

१७-१८ साधु-साध्वी को शय्यादाता के अलग रखे हुए आहार को अन्य आहार में मिलवाना नहीं कल्पता है एवं ऐसा करने पर उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१९-२२ शय्यादाता की आहृतिका एवं निहृतिका का आहार उसके आधीन हो तब तक ग्रहण नहीं किया जा सकता है। अन्य के आधीन हो तब ग्रहण किया जा सकता है।

२३-२४ शय्यातर के स्वामित्व वाले आहारादि पदार्थों में से जब शय्यातर के स्वामित्व का अंश पूर्ण विभक्त होकर अलग कर दिया जावे तब शेष आहार में से ग्रहण करना कल्पता है, किन्तु शय्यातर का अंश पूर्णतः अलग न किया हो तो उसमें से ग्रहण करना नही कल्पता है।

सूत्र २५-२८ शय्यादाता के पूज्य पुरुषों को सर्वथा समर्पित किए गए आहार में से ग्रहण करना कल्पता है, किन्तु 'प्रातिहारिक' दिया गया हो तो उसमें से लेना नहीं कल्पता है तथा वह आहार शय्यादाता के या उसके पारिवारिक सदस्यों के हाथ से लेना नहीं कल्पता है।

२९-३० साधु-साध्वियां पांच जाति के वस्त्र एवं पांच जाति के रजोहरण में से किसी भी जाति का वस्त्र या रजोहरण ग्रहण कर सकते हैं।

उपसंहार

इस उद्देशक में—

१-१० धान्य, सुरा, जल, अग्नि, दीपक एवं खाद्य पदार्थ युक्त मकान के कल्प्याकल्प्य का,

११-१२ असुरक्षित स्थानों के कल्प्याकल्प्य का,

१३ एक शय्या स्वामी की आज्ञा लेने का,

१४-२८ शय्यातर के स्वामित्व वाले आहार के कल्प्याकल्प्य का,

२९-३० कल्पनीय वस्त्र एवं रजोहरण की जातियों का,

इत्यादि विषयों का वर्णन किया गया है।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तीसरा उद्देशक

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी को परस्पर उपाश्रय में खड़े रहने आदि का निषेध

१. नो कप्पइ निग्गंथाणं, निग्गंथीणं उवस्सयंसि—१. चिट्ठित्तए वा, २. निसीइत्तए वा, ३. तुयट्टित्तए वा, ४. निद्दाइत्तए वा, ५. पयलाइत्तए वा, ६. असणं वा, ७. पाणं वा, ८. खाइमं वा, ९. साइमं वा आहारं आहारित्तए, १०. उच्चारं वा, ११. पासवणं वा, १२. खेलं वा, १३. सिंघाणं वा परिट्ठवित्तए, १४. सज्झायं वा करित्तए, १५. झाणं वा झाइत्तए, १६. काउसग्गं वा (करित्तए) ठाइत्तए।

२. नो कप्पइ निग्गंथीणं निग्गंथाणं उवस्सयंसि चिट्ठित्तए वा जाव काउस्सग्गं वा ठाइत्तए।

१. निर्ग्रन्थों को निर्ग्रन्थियों के उपाश्रय में—१. खड़े रहना, २. बैठना, ३. लेटना, ४. निद्रा लेना, ५. ऊंघ लेना, ६. अशन, ७. पान, ८. खादिम, ९. स्वादिम का आहार करना, १०. मल, ११. मूत्र, १२. कफ और, १३. नाक का मैल परठना, १४. स्वाध्याय करना, १५. ध्यान करना तथा १६. कायोत्सर्ग कर स्थित होना नहीं कल्पता है।

२. निर्ग्रन्थियों को निर्ग्रन्थों के उपाश्रय में खड़े रहना यावत् कायोत्सर्ग कर स्थित होना नहीं कल्पता है।

विवेचन—सामान्यतः साधुओं को साध्वियों के उपाश्रय में तथा साध्वियों को साधुओं के उपाश्रय में नहीं जाना चाहिए। यदि कारणवश जाना पड़े तो उन्हें खड़े-खड़े ही कार्य करके शीघ्र वापस लौट आना चाहिए और वहां पर सूत्रोक्त कार्य नहीं करने चाहिए। क्योंकि अधिक समय तक ठहरने पर लोगों में नाना प्रकार की आशंकाएं उत्पन्न होती हैं, अधिक परिचय बढ़ने से ब्रह्मचर्य में भी दूषण लगना सम्भव है और साधु-साध्वियों का एक-दूसरे के उपाश्रय में खान-पान या मल-मूत्रादि का विसर्जन लोक-निन्दित है।

साध्वियों को साधु के पास स्वाध्याय सुनाने एवं परस्पर वाचना देने का व्यव. उ. ७ में कथन है, अतः उस हेतु साध्वियों का साधुओं के उपाश्रय में आना-जाना आगमसम्मत है तथा सेवा आदि कार्यों से भी एक-दूसरे के उपाश्रय में आने-जाने का ठाणांग सूत्र में कथन किया गया है।

साधु-साध्वी को चर्म ग्रहण के विधि-निषेध

३. नो कप्पइ निग्गंथीणं सलोमाइं चम्माइं अहिट्ठित्तए।

४. कप्पइ निग्गंथाणं सलोमाइं चम्माइं अहिट्ठित्तए, से वि य परिभुत्ते, नो चेव णं अपरिभुत्ते, से वि य पाडिहारिए, नो चेव णं अपाडिहारिए, से वि य एगराइए, नो चेव णं अणेगराइए।

५. नो कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा कसिणाइं चम्माइं धारेत्तए वा, परिहरित्तए वा।

६. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अकसिणाइं चम्माइं धारेत्तए वा, परिहरित्तए वा।

३. निर्ग्रन्थियों को रोम-सहित चर्म का उपयोग करना नहीं कल्पता है।

४. निर्ग्रन्थों को रोम-सहित चर्म का उपयोग करना कल्पता है।

वह भी काम में लिया हुआ हो, नया न हो।

लौटाया जाने वाला हो, न लौटाया जाने वाला नहीं हो।

केवल एक रात्रि में उपयोग करने के लिए लाया जाय पर अनेक रात्रियों में उपयोग करने के लिए न लाया जाय।

५. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को अखण्ड चर्म रखना या उसका उपयोग करना नहीं कल्पता है।

६. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को चर्मखण्ड रखना या उसका उपयोग करना कल्पता है।

विवेचन—साधु-साध्वी की सामान्य उपधि मे वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि का कथन मिलता है। चर्म के उपकरण सामान्य रूप से तो साधु-साध्वी को रखना नहीं कल्पता है, किन्तु रोग आदि के कारण चर्म रखना आवश्यक हो तो रोमरहित चर्मखण्ड रखना कल्पता है। इसका कारण यह है कि खून या मल आदि के कपड़े बारम्बार धोने की परिस्थिति में चर्मखण्ड के उपयोग से सुविधा रहती है। रोगी को भी कष्ट कम होता है।

अखण्ड चर्म का निषेध इसलिये है कि हाथ पांव आदि के विभाग से युक्त अधिक लम्बा चौड़ा चमड़ा अनावश्यक होता है। मर्यादित कटा हुवा चर्म ही उपयुक्त रहता है।

सरोमचर्म में तो जीवोत्पत्ति की आशंका रहती है, अतः वह साधु-साध्वियों के लिये अग्राह्य होता है। सूत्र में जो साधु के लिये अनेक मर्यादाओं से युक्त सरोमचर्म ग्रहण करने का विधान है, इससे भी सरोमचर्म का अग्राह्य होना ध्वनित होता है।

किसी साधु के चर्मरोग या अर्श आदि के कारण बैठने में या सोने में भी अत्यन्त पीड़ा होती हो तो रोमरहित चर्म की अपेक्षा रोमसहित चर्म अधिक उपयोगी होता है, इसलिये विशेष कारण से उसके ग्रहण करने का विधान किया गया है। साथ ही जीवोत्पत्ति से होने वाली विराधना से बचने के लिए कुछ मर्यादाएं कही गई हैं, जिनका तात्पर्य इस प्रकार है—

लुहार, सुनार आदि जो दिन भर चर्म पर बैठकर अग्नि के पास काम करते हैं, उस सरोमचर्म में कुछ समय तक जीवोत्पत्ति की सम्भावना नही रहती है। अतः सदा काम आने वाले, सरोमचर्म को प्रातिहारिक रूप मे ग्रहण करने की आज्ञा दी गई है। ज्यादा दिन रखने पर अग्नि की गर्मी न मिलने से उस सरोमचर्म में जीवोत्पत्ति होने की सम्भावना रहती है। अतः अधिक रखने का निषेध किया गया है।

साध्वी को सरोमचर्म ग्रहण करने का जो निषेध किया गया है उसका कारण यह है कि उनको ऐसे चर्म की गवेषणा करना एवं इतनी मर्यादाओं का पालन करना कठिन है तथा सरोमचर्म में पुरुष जैसे स्पर्श का अनुभव होने की सम्भावना से वह उनके ब्रह्मचर्य में भी बाधक हो सकता है।

रोमरहित चर्मखण्ड रखने के अनेक कारण भाष्य में कहे हैं। वे इस प्रकार हैं—संधिवात में, अतिशीत काल एवं अति उष्ण काल में न चल सकने पर, दृष्टि मन्द हो जाय या पैरों में छाले पड़ जाएँ इत्यादि कारणों से चर्मखण्ड रखे जा सकते हैं। भाष्य में कृत्स्न अकृत्स्न चर्म के अनेक प्रकार से उनके उपयोग एवं परिस्थितियों का वर्णन किया है। इसकी जानकारी के लिये भाष्य का अध्ययन करना आवश्यक है।

साधु-साध्वी द्वारा वस्त्र ग्रहण करने के विधि-निषेध

७. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—कसिणाइं वत्थाइं धारेत्तए वा, परिहरित्तए वा।

८. कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा अकसिणाइं वत्थाइं धारेत्तए वा, परिहरित्तए वा।

९. नो कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा— अभिन्नाइं वत्थाइं धारेत्तए वा, परिहरित्तए वा।

१०. कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा—भिन्नाइं वत्थाइं धारेत्तए वा, परिहरित्तए वा।

७. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को कृत्स्न वस्त्रों का रखना या उपयोग करना नहीं कल्पता है।

८. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को अकृत्स्न वस्त्रों का रखना या उपयोग करना कल्पता है।

९. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को अभिन्न वस्त्रों का रखना या उपयोग करना नहीं कल्पता है।

१०. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को भिन्न वस्त्रों का रखना या उपयोग करना कल्पता है।

विवेचन—इन सूत्रों में कृत्स्न-अकृत्स्न एवं अभिन्न-भिन्न दोनों ही पद शब्द की अपेक्षा एकार्थक हैं। इनके पृथक्-पृथक् सूत्र कहने का कारण यह है कि कृत्स्न सूत्रों में वस्त्र के वर्ण एवं मूल्य आदि रूप भावकृत्स्न का वर्णन है एवं अभिन्न सूत्रों में अखण्ड थान या अति लम्बे-चौड़े वस्त्र रूप द्रव्य-कृत्स्न का कथन है।

भाष्यकार ने इस कृत्स्न अर्थात् अखण्ड वस्त्र की विस्तृत व्याख्या करते हुए कहा है कि कृत्स्न वस्त्र द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार का होता है। उनमें से द्रव्य कृत्स्न के भी दो भेद हैं—सकल-द्रव्यकृत्स्न और प्रमाण-द्रव्यकृत्स्न।

जो वस्त्र अपने आदि और अन्त भाग से युक्त हो, किनारीवाला हो, कोमल स्पर्शयुक्त हो और काजल, काले-पीले धब्बे आदि से रहित हो, उसे द्रव्य की अपेक्षा सकलकृत्स्न कहते हैं।

इसके भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट की अपेक्षा तीन भेद हैं।

मुखवस्त्रिकादि जघन्य द्रव्यकृत्स्न है, चोलपट्टादि मध्यम और चादर उत्कृष्ट द्रव्यकृत्स्न है।

जो वस्त्र मर्यादित लम्बाई-चौड़ाई के प्रमाण से अधिक लम्बे-चौड़े होते हैं, उन्हें द्रव्य की अपेक्षा प्रमाण-कृत्स्न कहते हैं।

जो वस्त्र जिस क्षेत्र में दुर्लभ हो, उसे क्षेत्रकृत्स्न कहते हैं। एक देश का बना वस्त्र दूसरे देश में प्राय: बहुमूल्य एवं दुर्लभ होता है।

जो वस्त्र जिस काल में महंगा मिले उसे कालकृत्स्न कहते हैं। जैसे ग्रीष्मकाल में सूती, रेशमी आदि पतले वस्त्र और शीतकाल मे मोटे ऊनी गरम वस्त्र तथा वर्षाकाल में रंगीन वस्त्र बहुमूल्य हो जाते हैं।

भावकृत्स्न के दो भेद हैं—वर्णयुत और मूल्ययुत। इनमें वर्णयुत वस्त्र के कृष्ण, नील आदि वर्णों की अपेक्षा पांच भेद होते हैं।

मूल्ययुत वस्त्र भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का होता है।

जहां पर जिसका मूल्य कम हो वहां वह जघन्य और जहां उसी का मूल्य अधिक हो, वहा वही उत्कृष्ट मूल्य का जानना चाहिए।

जो वस्त्र सर्वत्र समान मूल्य से उपलब्ध हो वह मध्यम मूल्य वाला कहलाता है।

अथवा जिस वस्त्र के धारण करने से रागभाव उत्पन्न हो उसे भावकृत्स्न कहते हैं। अर्थात् अति चमक-दमक वाले रमणीय वस्त्र।

उक्त चारों ही प्रकार के कृत्स्नवस्त्र साधु या साध्वियों के लिए रखना या पहनना अयोग्य है।

इनके रखने या पहनने के दोषों का निर्देश करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि प्रमाणातिरिक्त वस्त्रों के रखने पर मार्ग-गमनकाल मे भार वहन करना पड़ता है।

अखण्ड, बहुमूल्य सूक्ष्म वस्त्रों को चोर-डाकू चुरा सकते हैं या अन्य कोई भी असंयमी छीन सकता है।

एक राज्य से दूसरे राज्य में प्रवेश करने पर चुंगी वाले कर मांग सकते हैं या वस्त्र छीन सकते हैं।

श्रावक ऐसे वस्त्रों को साधु के समीप देखकर उनसे घृणा या निन्दा कर सकता हैं।

इत्यादि कारणों से चारों ही प्रकार के कृत्स्नवस्त्र साधु-साध्वी को नही कल्पते हैं। किन्तु जो द्रव्य से अल्प या प्रमाणोपेत हो, क्षेत्र और काल से सर्वत्र सुलभ हो और भाव से जो बहुमूल्य न हो, ऐसा वस्त्र ही उनको धारण करना चाहिए।

साधु-साध्वी को अवग्रहानन्तक और अवग्रहपट्टक धारण करने के विधि-निषेध

११. नो कप्पइ निग्गंथाणं उग्गहणन्तगं वा, उग्गहपट्टगं वा धारित्तए वा, परिहरित्तए वा।

१२. कप्पइ निग्गंथीणं उग्गहणन्तगं वा, उग्गहपट्टगं वा धारित्तए वा, परिहरित्तए वा।

११. निर्ग्रन्थों को अवग्रहानन्तक और अवग्रहपट्टक रखना या उसका उपयोग करना नहीं कल्पता है।

१२. निर्ग्रन्थियों को अवग्रहानन्तक और अवग्रहपट्टक रखना या उसका उपयोग करना कल्पता है।

विवेचन—गुप्त अंग के ढकने वाले लंगोट या कौपीन को अवग्रहानन्तक कहते हैं और उसके भी ऊपर उसे आच्छादन करने वाले वस्त्र को अवग्रहपट्टक कहते हैं।

प्रथम सूत्र में साधुओं के लिए इन दोनों का निषेध किया गया है और दूसरे सूत्र में साध्वियों के लिए इन दोनों के रखने और पहिनने का विधान किया गया है।

यद्यपि सूत्र मे उक्त दोनों उपकरण भिक्षु को रखने का स्पष्ट निषेध है, तथापि भाष्यकार ने लिखा है कि यदि किसी साधु को भगन्दर, अर्श आदि रोग हो जाए तो उस अवस्था में अन्य वस्त्रों को रक्त-पीप से बचाने के लिए वह अवग्रहपट्टक रख सकता है।

साध्वियों को दोनों उपकरण रखने का और पहिनने का कारण यह है कि ऋतुकाल में साध्वियों को ओढ़ने-पहिनने के वस्त्र रक्त-रंजित न हों, अतः उस समय उक्त दोनों वस्त्रों को उपयोग में लाने और शेष काल में समीप रखने का विधान किया गया है। विहार आदि में शीलरक्षा के लिये भी इन उपकरणों का पहनना आवश्यक होता है।

प्रश्न—साध्वियों के लिए कितने वस्त्र-पात्रादि रखने का विधान है?

उत्तर—निर्युक्ति और भाष्यकार ने २५ प्रकार की उपधि रखने का निर्देश किया है—

उनके नाम इस प्रकार हैं—१. पात्र, २. पात्रबन्ध, ३. पात्रस्थापन, ४. पात्रकेसरिका, ५. पटलक, ६. रजस्त्राण, ७. गोच्छक, ८-१०. तीन चादर (प्रच्छादक वस्त्र), ११. रजोहरण, १२. मुखवस्त्रिका, १३. मात्रक, १४. कमढक (चोलपट्टकस्थानीय वस्त्र, शाटिका), १५. अवग्रहानन्तक (गुह्यस्थानाच्छदक-लंगोटी), १६. अवग्रहपट्टक (लंगोटी के ऊपर कमर पर लपेटने का वस्त्र), १७. अर्द्धोरुक (आधी जांघों को ढकने वाला जांघिया जैसा वस्त्र), १८. चलनिका (अर्द्धोरुक से बड़ा, घुटनों को भी ढंकने वाला वस्त्र), १९. अभ्यन्तर निवसिनी (आधे घुटनों को ढकने वाली), २०. बहिर्निवसनी (पैर की एड़ियों को ढकने वाली), २१. कंचुक (चोली), २२. औपकक्षिकी (चोली के ऊपर बांधी जाने वाली), २३. वैकक्षिकी (कंचुक और औपकक्षिकी को ढकने वाली), २४. संघाटी (वसति में पहने जाने वाली), २५. *स्कन्धकरणी (कन्धे पर डालने का वस्त्र)*। इस प्रकार आर्यिकाओं के २५ उपधि या उपकरण होते हैं।

भाष्यकार ने स्कन्धकरणी के साथ रूपवती साध्वियों को कुब्ज-करणी रखने या बांधने का भी विधान किया है। इसका अभिप्राय यह है कि रूपवती साध्वी को देखकर कामुक पुरुष चल-चित्त हो सकते हैं, अतः रूपवती साध्वी को विकृतरूपा बनाने के लिए पीठ पर वस्त्रों की पोटली रखकर बांध देते है, जिससे कि वह कुबड़ी-सी दिखने लगे। इसी कारण इस उपधि का नाम कुब्ज-करणी रखा गया है।

इसके अतिरिक्त साधु और साध्वी कम से कम और अधिक से अधिक कितने वस्त्र-उपधि रख सकते हैं, भाष्यकार ने इसका तथा अन्य अनेक ज्ञातव्य विषयों का और करणीय कार्यों का भी वर्णन किया है। वह सब विशेष जिज्ञासु जनों को सभाष्य बृहत्कल्पसूत्र से जानना चाहिए।

साध्वी को अपनी निश्रा से वस्त्र ग्रहण करने का निषेध

१३. निग्गंथीए य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठाए चेलट्ठे समुप्पज्जेज्जा नो से कप्पइ अप्पणो निस्साए चेलं पडिग्गाहेत्तए।

कप्पइ से पवत्तिणी-निस्साए चेलं पडिग्गाहित्तए।

नो य से तत्थ पवत्तिणी सामाणा सिया, जे से तत्थ सामाणे आयरिए वा, उवज्झाए वा, पवत्तए वा, थेरे वा, गणी वा, गणहरे वा, गणावच्छेइए वा, जं च अन्नं पुरओ कट्टु विहरइ।

कप्पइ से तन्नीसाए चेलं पडिग्गाहेत्तए।

१३. गृहस्थ के घर में आहार के लिए गई हुई निर्ग्रन्थियों को यदि वस्त्र की आवश्यकता हो तो अपनी निश्रा से वस्त्र लेना नही कल्पता है।

किन्तु प्रवर्तिनी की निश्रा से वस्त्र लेना कल्पता है।

यदि वहां प्रवर्तिनी विद्यमान न हो तो जो आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी, गणधर या गणावच्छेदक हो अथवा जिनकी प्रमुखता से विचरण कर रही हो, उनकी निश्रा से वस्त्र लेना कल्पता है।

विवेचन—यदि कोई साध्वियां भक्त-पान लेने के लिए गृहस्थ के घर गई हों और उनमें से किसी एक को वस्त्र की आवश्यकता हो तो उसे अपनी निश्रा से अर्थात् 'यह वस्त्र मैं मेरे लिए ग्रहण कर रही हूं' इस प्रकार कहकर गृहस्थ से वस्त्र लेना नहीं कल्पता है। किन्तु वह प्रवर्तिनी की निश्रा से ग्रहण कर सकती है, अर्थात् वह गृहस्थ से वस्त्र लेते समय स्पष्ट शब्दों में कहे कि—'मैं प्रवर्तिनी की निश्रा से इसे ग्रहण करती हूं, वे इसे स्वीकार कर किसी साध्वी को देंगी तो रखा जाएगा अन्यथा आपको वापस लौटा दिया जाएगा।' ऐसा कहकर ही वह गृहस्थ से वस्त्र को ग्रहण कर सकती है, अन्यथा नही। यदि उसकी प्रवर्तिनी उपाश्रय में या उस ग्राम में न हो तो जो आचार्य या उपाध्याय आदि सूत्रोक्त साधुजन समीप में हों, उनकी निश्रा से वह वस्त्र को ग्रहण कर सकती है।

सूत्रोक्त आचार्य आदि का स्वरूप इस प्रकार है—

१. **आचार्य**—जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—इन पांच आचारों का स्वयं पालन करे और आज्ञानुवर्ती शिष्यों से पालन करावे, जो साधुसंघ का स्वामी और संघ के अनुग्रह-निग्रह, सारण-वारण और धारण में कुशल हो, लोक-स्थिति का वेत्ता हो, आचारसम्पदा आदि आठ सम्पदाओं से युक्त हो। व्यव. उ. ३, सूत्र. ५ कथित गुणों का एवं सूत्रों का धारक हो।

२. **उपाध्याय**—जो स्वयं द्वादशांगश्रुत का विशेषज्ञ हो, अध्ययनार्थ आने वाले शिष्यों को आगमों का अभ्यास करानेवाला हो और व्यव. उ. ३, सू. ३ में कहे गये गुणों का एवं सूत्रों का धारक हो।

३. **प्रवर्तक**—जो साधुओं की योग्यता या रुचि देखकर उनको आचार्य-निर्दिष्ट कार्यों में तथा तप, संयम, योग, वैयावृत्य, सेवा, शुश्रूषा, अध्ययन-अध्यापन आदि में नियुक्त करे।

४. **स्थविर**—जो साधुओं के संयम मे शैथिल्य देखकर या उन्हें संयम से विचलित देखकर इस लोक और परलोक सम्बन्धी अपायों (अनिष्ट या दोषों) का उपदेश करे और उन्हें अपने कर्तव्यों में स्थिर करे।

५. **गणी**—जो कुछ साधुओं के गण का स्वामी हो और साध्वियों की देख-रेख एवं व्यवस्था

करने वाला हो। अथवा जो मुख्य आचार्य की निश्रा में अनेक आचार्य होते हैं, उन्हें गणी कहा जाता है।

६. *गणधर*—जो कुछ साधुओं का प्रमुख बनकर विचरण करता हो।

७. गणावच्छेदक—जो साधुजनों के भक्त-पान, स्थान, औषधोपचार, प्रायश्चित्त आदि की व्यवस्था करने वाला हो।

उक्त सातों पदवीधारकों के क्रम का निरूपण करते हुए बताया गया है कि साध्वी को स्वयं की निश्रा से वस्त्र नहीं लेना चाहिए, किन्तु अपनी प्रवर्तिनी की निश्रा से लेना चाहिए। यदि वह न हो तो संघ के आचार्य की निश्रा से लेवे। उनके अभाव में उपाध्याय की निश्रा से लेवे। इस प्रकार पूर्व-पूर्व पदधारकों के अभाव में उत्तर-उत्तर पदधारकों की निश्रा से वस्त्र को लेवे। यदि उक्त पदधारकों में से कोई भी समीप न हो तो जो और कोई भी गीतार्थ साधु या साध्वी हो, उसकी निश्रा से वस्त्र लेवे। किन्तु साध्वी को स्वयं की निश्रा से वस्त्र नहीं लेना चाहिए।

दीक्षा के समय ग्रहण करने योग्य उपधि का विधान

१४. निग्गंथस्स णं तप्पढमयाए संपव्वयमाणस्स कप्पइ रयहरण-गोच्छग-पडिग्गहमायाए तिहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए।

से य पुव्वोवट्ठिए सिया, एवं से नो कप्पइ रयहरण-गोच्छग-पडिग्गहमायाए तिहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए।

कप्पइ से अहापरिग्गहिएहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए।

१५. निग्गंथीए य तप्पढमयाए संपव्वयमाणीए कप्पइ रयहरण-गोच्छग-पडिग्गहमायाए चउहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए।

सा य पुव्वोवट्ठिया सिया एवं से नो कप्पइ रयहरण-गोच्छग-पडिग्गहमायाए चउहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए।

कप्पइ से अहापरिग्गहिएहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए।

१४. गृहवास त्यागकर सर्वप्रथम प्रव्रजित होने वाले निर्ग्रन्थ को रजोहरण, गोच्छक, पात्र तथा तीन अखण्ड वस्त्र लेकर प्रव्रजित होना कल्पता है।

यदि वह पहले दीक्षित हो चुका हो तो उसे रजोहरण, गोच्छक, पात्र तथा तीन अखण्ड वस्त्र लेकर प्रव्रजित होना नहीं कल्पता है।

किन्तु पूर्वगृहीत वस्त्रों को लेकर प्रव्रजित होना कल्पता है।

१५. गृहवास त्यागकर सर्वप्रथम प्रव्रजित होने वाली निर्ग्रन्थी को रजोहरण, गोच्छक, पात्र तथा चार अखण्ड वस्त्र लेकर प्रव्रजित होना कल्पता है।

यदि वह पहले दीक्षित हो चुकी हो तो उसे रजोहरण, गोच्छक, पात्र तथा चार अखण्ड वस्त्र लेकर प्रव्रजित होना नहीं कल्पता है।

किन्तु पूर्वग्रहीत वस्त्रों को लेकर प्रव्रजित होना कल्पता है।

विवेचन—सामायिकचारित्र एवं छेदोपस्थापनीयचारित्र ग्रहण करने वाला भिक्षु किन-किन उपधियों को लेकर दीक्षा ले, यह इस सूत्र मे बताया गया है।

जो सर्वप्रथम दीक्षित हो रहा है उसे अपने अभिभावकों द्वारा या सगे-सम्बन्धियों द्वारा दिये हुए रजोहरण, गोच्छक (प्रमार्जनिका), पात्र और तीन कृत्स्नवस्त्र लेकर दीक्षा लेना चाहिए।

एक हाथ चोड़े और चौबीस हाथ लम्बे थान को कृत्स्नवस्त्र माना जाता है। इसका अर्थ यह है कि वह रजोहरण आदि उपकरणो के साथ कुल बहत्तर हाथ लम्बे हों, ऐसे तीन थान लेकर के दीक्षित होवे। इसके पश्चात् जब उसकी बड़ी दीक्षा हो या किसी व्रत-विशेष में दूपण लग जाने पर या किसी महाव्रत की विराधना हो जाने पर पुन: दीक्षा के लिए आचार्य के सम्मुख उपस्थित हो तो वह अपने पूर्वगृहीत वस्त्र-पात्रादि के साथ ही दीक्षा ले सकता है, अर्थात् पहले के वस्त्र-पात्रादि को छोड़कर नवीन वस्त्र-पात्रादि के लेने की उसे आवश्यकता नहीं है। उपधि सम्बन्धी विस्तृत जानकारी के लिए निशीथ उ. १६, सू. ३९ का विवेचन देखें। दीक्षा लेने वाली साध्वी के उपकरणों का वर्णन भी इसी प्रकार है किन्तु तीन कृत्स्नवस्त्र के स्थान पर उनके चार कृत्स्नवस्त्र होते हैं। क्योंकि उनके वस्त्र सम्बन्धी उपकरण कुछ अधिक होते है। तीन या चार अखण्ड वस्त्र का स्पष्टार्थ भाष्य टीका में उपलब्ध नहीं है। अतः भिन्न-भिन्न अर्थों की परम्पराऐं प्रचलित है। ७२ हाथ वस्त्र माप की कल्पना भी अधिक प्राचीन नहीं है तथापि आगम-आशय के अधिक निकट है ऐसा प्रतीत होता है।

प्रथम द्वितीय समवसरण में वस्त्र ग्रहण करने का विधि निषेध

१६. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—पढमसमोसरणुद्देसपत्ताइं चेलाइं पडिगाहेत्तए।

१७. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—दोच्चसमोसरणुद्देसपत्ताइं चेलाइं पडिगाहेत्तए।

१६. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को प्रथम समवसरण में वस्त्र ग्रहण करना नही कल्पता है।

१७. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को द्वितीय समवसरण में वस्त्र ग्रहण करना कल्पता है।

विवेचन—समवसरण शब्द का अर्थ है—सर्व ओर से आना। चातुर्मास करने के लिए साधु-साध्वियां किसी एक योग्य स्थान पर आकर स्थित होते हैं, अतः उसे प्रथम समवसरण कहा जाता है और वर्षाकाल या चातुर्मास की समाप्ति के पश्चात् के काल को द्वितीय समवसरण कहा जाता है।

जिस स्थान पर साधु और साध्वियों को चातुर्मास करना है उस स्थान पर आने के पश्चात् पूरे वर्षाकाल तक अर्थात् आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा से लेकर कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा तक गृहस्थों से वस्त्र लेना नहीं कल्पता है। किन्तु वर्षाकाल के बाद दूसरे समवसरण में अर्थात् मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा से लेकर आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा पर्यन्त आठ मास तक जिस देश और जिस काल मे उन्हें यदि वस्त्रों की आवश्यकता हो तो गृहस्थों से ले सकते हैं।

चातुर्मास सम्बन्धी अन्य सभी ज्ञातव्य बातों का विशद वर्णन निर्युक्तिकार और भाष्यकार ने किया है।

यथारत्नाधिक वस्त्र ग्रहण का विधान

१८. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—अहाराइणियाए चेलाइं पडिग्गाहित्तए।

१८. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को चारित्रपर्याय के क्रम से वस्त्र-ग्रहण करना कल्पता है।

विवेचन—जिस साधु या साध्वी की चारित्रपर्याय अधिक हो उसे रात्निक या रत्नाधिक कहते हैं। जब कभी साधु या साध्वी वस्त्रों को गृहस्थ से लेवें तो उन्हें चारित्रपर्याय की हीनाधिकता के क्रमानुसार ही ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् जो साधु या साध्वी सबसे अधिक चारित्रपर्याय वाले हैं, उन्हें सर्वप्रथम वस्त्र प्रदान करना चाहिए। तत्पश्चात् उनसे कम चारित्रपर्याय वाले को और तदनन्तर उनसे कम चारित्रपर्याय वाले को देना चाहिए। यहां पर वस्त्र पद देशामर्शक है, अतः पात्रादि अन्य उपधियों को भी चारित्रपर्याय की हीनाधिकता से लेना और देना चाहिए। क्योंकि व्युत्क्रम से देने या लेने में रत्नाधिकों का अविनय, आशातना आदि होती है, जो साधु-मर्यादा के प्रतिकूल है। व्युत्क्रम से देने और लेने वाले साधु-साध्वियों के लिए भाष्यकार ने प्रायश्चित्त का विधान किया है।

यथारत्नाधिक शय्या-संस्तारक ग्रहण का विधान

१९. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहारायणियाए सेज्जा-संथारए पडिग्गाहित्तए।

१९. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को चारित्रपर्याय के क्रम से शय्या-संस्तारक ग्रहण करना कल्पता है।

विवेचन—शय्या का अर्थ वसति या उपाश्रय है। उसमें ठहरने पर साधुओं या साध्वियों के बैठने योग्य स्थान एवं पाट, घास आदि को संस्तारक कहते हैं। इन्हें भी चारित्रपर्याय की हीनाधिकता के क्रम से ग्रहण करना चाहिए।

निर्युक्तिकार और भाष्यकार ने यथारात्निक शय्या-संस्तारक का विधान करते हुए इतना और स्पष्ट किया है कि आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तक इन तीन गुरुजनों की क्रमशः शय्या-संस्तारक के पश्चात् ज्ञानादि सम्पदा को प्राप्त करने के लिए जो अन्य गण से साधु आया हुआ है, उसके शय्या-संस्तारक को स्थान देना चाहिए। उसके बाद ग्लान (रुग्ण) साधु को, तत्पश्चात् अल्प उपधि (वस्त्र) वाले साधु को, उसके बाद कर्मक्षयार्थ उद्यत साधु को, तदनन्तर जिसने रातभर वस्त्र नहीं ओढ़ने का अभिग्रह लिया है ऐसे साधु को, तदनन्तर स्थविर को, तदनन्तर गणी, गणधर, गणावच्छेदक और अन्य साधुओं को शय्या-संस्तारक के लिए स्थान ग्रहण करना चाहिए।

यहां इतना और विशेष बताया गया है कि नवदीक्षित या अल्प आयु वाले साधु को रत्नाधिक साधु के समीप सोने का स्थान देना चाहिए, जो रात में उसकी सार-सम्भाल कर सकें।

इसी प्रकार वैयावृत्य करने वाले साधु को ग्लान साधु के समीप स्थान देना चाहिए, जिससे वह रोगी साधु की यथासमय परिचर्या कर सके।

तथा शास्त्राभ्यास करने वाले शैक्ष साधु को उपाध्याय आदि, जिसके समीप वह अध्ययन करता हो, के पास स्थान देना चाहिए जिससे कि वह जागरणकाल में अपने पाठ-परिवर्तनादि करते समय उनसे सहयोग प्राप्त कर सके।

यथारत्नाधिक कृतिकर्म करने का विधान

२०. कप्पइ निग्गंथाण या निग्गंथीण वा—अहाराइणियाए किइकम्मं करेत्तए।

२०. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को चारित्रपर्याय के क्रम से वन्दन करना कल्पता है।

विवेचन—प्रातः सायंकाल आदि समयों में प्रतिक्रमण आदि प्रारम्भ करने के पूर्व गुरु एवं रत्नाधिकों का जो विनय, वन्दन आदि किया जाता है, उसे 'कृतिकर्म' कहते हैं। इसके दो भेद हैं—अभ्युत्थान और वन्दनक।

आचार्य, उपाध्याय आदि गुरुजनों के एवं जो दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ हैं, उनके गमन-आगमन काल में उठकर खड़े होना 'अभ्युत्थान कृतिकर्म' है।

प्रातःकाल, सायंकाल एवं प्रतिक्रमण करते समय तथा किसी प्रश्न आदि के पूछते समय गुरुजनों को वन्दना करना, हाथ जोड़कर मस्तक पर अंजलि लगाकर नमस्कार आदि करना 'वन्दनक कृतिकर्म' है।

भाष्यकार ने कहा है कि यथाजात बालक के समान सरल भाव से प्रत्येक दिशा में तीन-तीन आवर्त करते हुए मस्तक से पंचांग नमस्कार करना चाहिए।

प्रदक्षिणा देने की तरह दोनों हाथ संयुक्त करके घुमाने को 'आवर्त' कहते हैं।

शुद्ध मन, वचन, काया से भक्ति प्रकट करने के लिये ये आवर्त किये जाते हैं।

चारों दिशाओं में आवर्त करने का अभिप्राय यह है कि उस-उस दिशा में जहां पर जो भी पंच परमेष्ठी, गुरुजन एवं रत्नाधिक साधु विद्यमान हैं, उन्हें भी मैं त्रियोग की शुद्धि एवं भक्ति से वन्दन एवं नमस्कार करता हूँ। इसी प्रकार गुरुजनों के समीप आने पर भी साधु और साध्वियों को दीक्षापर्याय के अनुसार उन्हें वन्दन करना चाहिए।

इस कृतिकर्म के विषय में सम्प्रदाय-भेद से अनेक प्रकार की व्याख्याएं उपलब्ध हैं। उन्हें जानकर सम्प्रदाय के अनुसार यथारत्नाधिक का कृतिकर्म करना आवश्यक बताया गया है। भाष्यकार ने कृतिकर्म के ३२ दोषों का भी विशद वर्णन किया है और अन्त में लिखा है कि इन सब दोषों से रहित कृतिकर्म करना चाहिए, अन्यथा वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

गृहस्थ के घर में ठहरने आदि का निषेध

२१. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—अंतरगिहंसि—

१. चिट्ठित्तए वा, २. निसीइत्तए वा, ३. तुयट्टित्तए वा, ४. निद्दाइत्तए वा, ५. पयलाइत्तए वा, ६. असणं वा, ७. पाणं वा, ८. खाइमं वा, ९. साइमं वा आहारमाहरित्तए, १०. उच्चारं वा, ११. पासवणं वा, १२. खेलं वा, १३. सिंघाणं वा परिट्ठवेत्तए, १४. सज्झायं वा करित्तए, १५. झाणं वा झाइत्तए, १६. काउसग्गं वा ठाइत्तए।

अह पुण एवं जाणेज्जा—वाहिए, जराजुण्णे, तवस्सी, दुब्बले, किलंते, मुच्छेज्ज वा, पवडेज्ज वा एवं से कप्पइ अंतरगिहंसि चिट्ठित्तए वा जाव काउसग्गं वा ठाइत्तए।

२१. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को गृहस्थ के घर के भीतर—

१. ठहरना, २. बैठना, ३. सोना, ४. निद्रा लेना, ५. ऊंघ लेना, ६. अशन, ७. पान, ८. खादिम, ९. स्वादिम-आहार करना, १०. मल, ११. मूत्र, १२. खेंकार, १३. श्लेष्म परिष्ठापन करना, १४. स्वाध्याय करना, १५. ध्यान करना, १६. कायोत्सर्ग कर स्थित होना नहीं कल्पता है।

यहां यह विशेष जानें कि जो भिक्षु व्याधिग्रस्त हो, वृद्ध हो, तपस्वी हो, दुर्बल हो, थकान या घबराहट से युक्त हो, वह यदि मूच्छित होकर गिर पड़े तो उसे गृहस्थ के घर में ठहरना यावत् कायोत्सर्ग करके स्थित होना कल्पता है।

विवेचन—भिक्षार्थ निकले हुए साधु को गृहस्थ के घर में ठहरना, बैठना आदि सूत्रोक्त कार्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि वहां पर उक्त कार्य करने से गृहस्थों को नाना प्रकार की शंकाएं उत्पन्न हो सकती हैं। यह उत्सर्गमार्ग है।

अपवाद रूप में बताया गया है कि यदि कोई साधु रोगी हो, अतिवृद्ध हो, तपस्या से जर्जरित या दुर्बल हो, या मूर्च्छा आ जाए, गिर पड़ने की सम्भावना हो तो वह कुछ क्षणों के लिए गृहस्थ के घर में ठहर सकता है।

भाष्यकार ने कुछ और भी कारण ठहरने के बताये हैं। जैसे किसी रोगी के लिए औषधि लेने के लिए किसी घर में कोई साधु जावे और औषधदाता घर से बाहर हो, उस समय घर वाले कहें— 'कुछ समय ठहरिए, औषधदाता आने ही वाले हैं,' अथवा घर में प्रवेश करने के पश्चात् पानी बरसने लगे या उसी मार्ग से राजा आदि की सवारी या किसी की बारात आदि निकलने लगे तो साधु वहां ठहर सकता है।

गृहस्थ के घर में मर्यादित वार्ता का विधान

२२. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अंतरगिहंसि जाव चउगाहं वा पंचगाहं वा आइक्खित्तए वा, विभावित्तए वा, किट्टित्तए वा, पवेइत्तए वा।

नन्नत्थ एगनाएणं वा, एगवागरणेण वा, एगगाहाए वा, एगसिलोएण वा; से वि य ठिच्चा, नो चेव णं अठिच्चा।

२२. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को गृहस्थ के घर में चार या पांच गाथाओं द्वारा कथन करना, उनका अर्थ करना, धर्माचरण का फल कहना एवं विस्तृत विवेचन करना नहीं कल्पता है।

किन्तु आवश्यक होने पर केवल एक उदाहरण, एक प्रश्नोत्तर, एक गाथा या एक श्लोक द्वारा कथन करना कल्पता है।

वह भी खड़े रहकर कथन करे, बैठकर नहीं।

विवेचन—गोचरी के लिए गये हुए साधु या साध्वियां गृहस्थ के घर में खड़े होकर गाथा, श्लोक आदि का उच्चारण ही न करें। यह उत्सर्गमार्ग है।

भाष्यकार ने इसका कारण बताया है कि जहां पर साधु खड़ा होगा वहां से यदि किसी की

कोई वस्तु चोरी चली जायेगी तो उसका स्वामी यह लांछन लगा सकता है कि यहां पर अमुक साधु या साध्वियां खड़े रहे थे । अतः वे ही मेरी अमुक वस्तु ले गये हैं, इत्यादि ।

इसके अतिरिक्त किसी गृहस्थ के विवादास्पद प्रश्न के उत्तर में वहां आक्षेप-व्याक्षेप में समय व्यतीत होगा । उससे उसके साथी साधु, जो कि एक मण्डली में बैठकर भोजन करते हैं, प्रतीक्षा करते रहेंगे, अतः उनके यथासमय भोजन न कर सकने से वह अन्तराय का भागी होगा ।

दूसरे, यदि वह किसी रोगी साधु से यह कहकर आया है कि—"आज मैं तुम्हारे लिए शीघ्र योग्य भक्त-पान लाऊंगा", फिर वाद-विवाद में पड़कर समय पर वापस नहीं पहुँच सकने से वह भूख-प्यास से पीड़ित होकर और अधिक संताप को प्राप्त होगा, इत्यादि कारणों से गोचरी को गये हुए साधु और साध्वियों को कहीं भी अधिक वार्तालाप नहीं करना चाहिए अन्यथा वह चतुर्लघु से लेकर यथासम्भव अनेक प्रायश्चित्तों का पात्र होता है ।

अपवाद रूप में यह बताया गया है कि गोचरी को गये साधु या साध्वी से यदि कोई जिज्ञासु पूछे कि 'धर्म का लक्षण क्या है ?' तब वह **"अहिंसा परमो धर्मः"** इतना मात्र संक्षिप्त उत्तर देवे ।

यदि कोई पुनः पूछे कि धर्म की कुछ व्याख्या कीजिए, तब इतना मात्र कहे कि "अपने लिए जो तुम इष्ट या अनिष्ट मानते हो वह दूसरे के लिए भी वैसा ही समझो", बस इतना ही जैनशासन का सार है ।

यदि जिज्ञासु उक्त कथन की पुष्टि में कोई प्रमाण पूछे तो उक्त अर्थ-द्योतक एक गाथा कहे । यथा—

"सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पावं कम्मं न बंधइ ॥

—दशवै. अ. ४, गा. ९

वह भी खड़ा-खड़ा ही कहे, बैठकर नहीं । अन्यथा उपर्युक्त दोषों के कारण वह प्रायश्चित्त का भागी होता है ।

गृहस्थ के घर में मर्यादित धर्मकथा का विधान

२३. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अंतरगिहंसि, इमाइं पंच महव्वयाइं सभावणाइं आइक्खित्तए वा, विभावित्तए वा, किट्टित्तए वा, पवेइत्तए वा ।

नन्नस्थ एगनाएण वा जाव एगसिलोएण वा; से वि य ठिच्चा, नो चेव णं अठिच्चा ।

२३. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को गृहस्थ के घर में भावना सहित पांचों महाव्रतों का कथन, अर्थ-विस्तार या महाव्रताचरण के फल का कथन करना एवं विस्तृत विवेचन करना नहीं कल्पता है ।

किन्तु आवश्यक होने पर केवल एक उदाहरण यावत् एक श्लोक से कथन करना कल्पता है । वह भी खड़े रहकर किन्तु बैठकर नहीं ।

विवेचन—पूर्व सूत्र में किसी के द्वारा पूछे जाने पर वार्तालाप करने का विधि-निषेध किया गया है । प्रस्तुत सूत्र में महाव्रतों के कथन का विधि-निषेध किया गया है ।

२१. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को गृहस्थ के घर के भीतर—

१. ठहरना , २. बैठना, ३. सोना, ४. निद्रा लेना, ५. ऊंघ लेना, ६. अशन, ७. पान, ८. खादिम, ९. स्वादिम-आहार करना, १०. मल, ११. मूत्र, १२. खेंकार, १३. श्लेष्म परिष्ठापन करना, १४. स्वाध्याय करना, १५. ध्यान करना, १६. कायोत्सर्ग कर स्थित होना नहीं कल्पता है।

यहां यह विशेष जानें कि जो भिक्षु व्याधिग्रस्त हो, वृद्ध हो, तपस्वी हो, दुर्बल हो, थकान या घबराहट से युक्त हो, वह यदि मूच्छित होकर गिर पड़े तो उसे गृहस्थ के घर में ठहरना यावत् कायोत्सर्ग करके स्थित होना कल्पता है।

विवेचन—भिक्षार्थ निकले हुए साधु को गृहस्थ के घर में ठहरना, बैठना आदि सूत्रोक्त कार्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि वहां पर उक्त कार्य करने से गृहस्थों को नाना प्रकार की शंकाएं उत्पन्न हो सकती हैं। यह उत्सर्गमार्ग है।

अपवाद रूप में बताया गया है कि यदि कोई साधु रोगी हो, अतिवृद्ध हो, तपस्या से जर्जरित या दुर्बल हो, या मूर्च्छा आ जाए, गिर पड़ने की सम्भावना हो तो वह कुछ क्षणों के लिए गृहस्थ के घर में ठहर सकता है।

भाष्यकार ने कुछ और भी कारण ठहरने के बताये हैं। जैसे किसी रोगी के लिए औषधि लेने के लिए किसी घर में कोई साधु जावे और औषधदाता घर से बाहर हो, उस समय घर वाले कहें—'कुछ समय ठहरिए, औषधदाता आने ही वाले हैं,' अथवा घर में प्रवेश करने के पश्चात् पानी बरसने लगे या उसी मार्ग से राजा आदि की सवारी या किसी की बारात आदि निकलने लगे तो साधु वहां ठहर सकता है।

गृहस्थ के घर में मर्यादित वार्ता का विधान

२२. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अंतरगिहंसि जाव चउगाहं वा पंचगाहं वा आइक्खित्तए वा, विभावित्तए वा, किट्टित्तए वा, पवेइत्तए वा।

नन्नत्थ एगनाएणं वा, एगवागरणेण वा, एगगाहाए वा, एगसिलोएण वा; से वि य ठिच्चा, नो चेव णं अठिच्चा।

२२. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को गृहस्थ के घर में चार या पांच गाथाओं द्वारा कथन करना, उनका अर्थ करना, धर्माचरण का फल कहना एवं विस्तृत विवेचन करना नहीं कल्पता है।

किन्तु आवश्यक होने पर केवल एक उदाहरण, एक प्रश्नोत्तर, एक गाथा या एक श्लोक द्वारा कथन करना कल्पता है।

वह भी खड़े रहकर कथन करे, बैठकर नहीं।

विवेचन—गोचरी के लिए गये हुए साधु या साध्वियां गृहस्थ के घर में खड़े होकर गाथा, श्लोक आदि का उच्चारण ही न करें। यह उत्सर्गमार्ग है।

भाष्यकार ने इसका कारण बताया है कि जहां पर साधु खड़ा होगा वहां से यदि किसी की

कोई वस्तु चोरी चली जायेगी तो उसका स्वामी यह लांछन लगा सकता है कि यहां पर अमुक साधु या साध्वियां खड़े रहे थे। अतः वे ही मेरी अमुक वस्तु ले गये हैं, इत्यादि।

इसके अतिरिक्त किसी गृहस्थ के विवादास्पद प्रश्न के उत्तर में वहां आक्षेप-व्याक्षेप में समय व्यतीत होगा। उससे उसके साथी साधु, जो कि एक मण्डली में बैठकर भोजन करते हैं, प्रतीक्षा करते रहेंगे, अतः उनके यथासमय भोजन न कर सकने से वह अन्तराय का भागी होगा।

दूसरे, यदि वह किसी रोगी साधु से यह कहकर आया है कि—"आज मैं तुम्हारे लिए शीघ्र योग्य भक्त-पान लाऊंगा", फिर वाद-विवाद में पड़कर समय पर वापस नहीं पहुँच सकने से वह भूख-प्यास से पीड़ित होकर और अधिक संताप को प्राप्त होगा, इत्यादि कारणों से गोचरी को गये हुए साधु और साध्वियों को कहीं भी अधिक वार्तालाप नहीं करना चाहिए अन्यथा वह चतुर्लघु से लेकर यथासम्भव अनेक प्रायश्चित्तों का पात्र होता है।

अपवाद रूप में यह बताया गया है कि गोचरी को गये साधु या साध्वी से यदि कोई जिज्ञासु पूछे कि 'धर्म का लक्षण क्या है?' तब वह **"अहिंसा परमो धर्मः"** इतना मात्र संक्षिप्त उत्तर देवे।

यदि कोई पुनः पूछे कि धर्म की कुछ व्याख्या कीजिए, तब इतना मात्र कहे कि "अपने लिए जो तुम इष्ट या अनिष्ट मानते हो वह दूसरे के लिए भी वैसा ही समझो", बस इतना ही जैनशासन का सार है।

यदि जिज्ञासु उक्त कथन की पुष्टि में कोई प्रमाण पूछे तो उक्त अर्थ-द्योतक एक गाथा कहे। यथा—

"सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पावं कम्मं न बंधइ॥

—दशवै. अ. ४, गा. ९

वह भी खड़ा-खड़ा ही कहे, बैठकर नहीं। अन्यथा उपर्युक्त दोषों के कारण वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

गृहस्थ के घर में मर्यादित धर्मकथा का विधान

२३. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अंतरगिहंसि, इमाइं पंच महव्वयाइं सभावणाइं आइक्खित्तए वा, विभावित्तए वा, किट्टित्तए वा, पवेइत्तए वा।

नन्नत्थ एगनाएण वा जाव एगसिलोएण वा; से वि य ठिच्चा, नो चेव णं अठिच्चा।

२३. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को गृहस्थ के घर में भावना सहित पांचों महाव्रतों का कथन, अर्थ-विस्तार या महाव्रताचरण के फल का कथन करना एवं विस्तृत विवेचन करना नहीं कल्पता है।

किन्तु आवश्यक होने पर केवल एक उदाहरण यावत् एक श्लोक से कथन करना कल्पता है। वह भी खड़े रहकर किन्तु बैठकर नहीं।

विवेचन—पूर्व सूत्र में किसी के द्वारा पूछे जाने पर वार्तालाप करने का विधि-निषेध किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में महाव्रतों के कथन का विधि-निषेध किया गया है।

साधु और साध्वियों को गृहस्थ के घर में पांचों महाव्रतों का उनकी भावनाओं के साथ आख्यान—मूल पाठ का उच्चारण, विभावन—अर्थ का प्रतिपादन, कीर्तन—लौकिक लाभों का वर्णन और प्रवेदन—स्वर्ग-मोक्षादि पारलौकिक फल को प्रकट करना नहीं कल्पता है।

भाष्यकार ने इसका कारण बताते हुए कहा है कि यदि साधु महाव्रतों का विस्तार से उपदेश करने लग जाए और उसे सुनने वाली गर्भिणी स्त्री जब तक वहां बैठी रहती है तब तक गर्भस्थ जीव के आहार-पान के निरोध से यदि कुछ अनिष्ट हो जाए तो वह उपदेष्टा उसकी हिंसा का भागी होता है।

अथवा उसी समय कोई घर की स्त्री दीर्घशंका-निवारणार्थ चली जाए और उससे द्वेष रखने वाली उसकी सौत या अन्य विद्वेषिणी स्त्री उसके बच्चे को मार कर साधु या साध्वी के सम्मुख लाकर पटक दे और चिल्लाने लगे कि इस साधु ने इसको मार डाला है। ऐसे अवसर पर लोगों को साधु के विषय में प्राणघात करने की आशंका हो सकती है। इसी प्रकार कभी किसी के पूछने पर साधु ने कहा हो कि उसे गृहस्थ के घर पर उपदेश देना नहीं कल्पता है, पीछे किसी के यहां उपदेश दे तो मृषावाद का भी दोष लगता है।

साधु के उपदेश-काल में घर की दासी अवसर पाकर किसी आभूषणादि को चुरा ले जाए, पीछे साधु के चले जाने पर गृहस्वामी उस साधु पर चोरी का दोष लगा दे।

किसी स्त्री का पति विदेश गया हो और वह उपदेश सुनने के छल से कुछ देर साधु को ठहरा करके मैथुन-सेवन की प्रार्थना करे और साधु विचलित हो जाए अथवा वह स्त्री अच्छे वस्त्र-पात्रादि देने का प्रलोभन देकर साधु को प्रलोभित करे, इत्यादि कारणों से साधु के महाव्रतों में ही दोष लगता है।

अतः सूत्र में गृहस्थ के घर पर पांचों महाव्रतों के आख्यान, विभावनादि विस्तृत प्रवचन का निषेध किया है। यदि कभी कोई रुग्ण-जिज्ञासु महाव्रतों के स्वरूप आदि के विषय में पूछे तो उसे विवेकपूर्वक एक गाथा से या एक श्लोक से अर्थात् संक्षिप्त रूप में कथन करे, वह भी खड़े रहकर ही करना चाहिए बैठकर नहीं। क्योंकि गोचरी गया हुआ भिक्षु खड़ा तो रहता ही है। वहां बैठना ही अनेक शंकाओं का स्थान होता है। अतः बैठने का सर्वथा निषेध किया गया है।

गृहस्थ का शय्या-संस्तारक लौटाने का विधान

२४. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं सेज्जासंथारयं आयाए अपडिहट्टु संपव्वइत्तए।

२४. प्रातिहारिक शय्या-संस्तारक जो ग्रहण किया है उसे उसके स्वामी को सौंपे बिना ग्रामान्तर गमन करना निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को नहीं कल्पता है।

विवेचन—साधु के पूर्ण शरीर-प्रमाण पीठ-फलक-तृण आदि को 'शय्या' कहते हैं और अढाई हाथ प्रमाण वाले पीठ-फलक-तृण आदि को "संस्तारक" कहते हैं।

जो शय्या-संस्तारक गृहस्थ के घर मे वापस लौटाने को कहकर लाये जाते हैं, उन्हें "प्रातिहारिक" कहते हैं। साधु जब किसी ग्राम में पहुंचता है तो अपने योग्य शय्या-संस्तारक मांगा-

रिक के अतिरिक्त अन्य किसी गृहस्थ के घर से वापस सौंपने को कहकर लाता है। वह शय्या-संस्तारक उस गृहस्थ को सौंपे विना ग्रामान्तर जाना साधु या साध्वी के लिए उचित नहीं है। यदि वह विना लौटाए जाता है तो प्रायश्चित्त का पात्र होता है। विना सौंपे ही विहार कर जाने पर साधु की अप्रतीति एवं निन्दा होती है, जिससे पुनः वहां शय्या-संस्तारक मिलना दुर्लभ होता है।

यहां शय्या-संस्तारक पद उपलक्षण रूप है। अतः वापस सौंपने को कहकर जो भी वस्तु गृहस्थ के घर से साधु या साध्वी लावें, उसे वापस सौंप करके ही अन्यत्र विहार करना चाहिए।

शय्यातर का शय्या-संस्तारक व्यवस्थित करके लौटाने का विधान

२५. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—सागारियसंतियं सेज्जासंथारयं आयाए अविकरणं कट्टु संपव्वइत्तए।

२६. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—सागारियसंतियं सेज्जासंथारयं आयाए विकरणं कट्टु संपव्वइत्तए।

२५. सागारिक का शय्या-संस्तारक जो ग्रहण किया गया है, उसे यथावस्थित किये विना ग्रामान्तर गमन करना निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को नहीं कल्पता है।

२६. सागारिक का शय्या-संस्तारक जो ग्रहण किया है, उसे व्यवस्थित करके ग्रामान्तर गमन करना निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को कल्पता है।

विवेचन—शय्यातर के शय्या-संस्तारक जहां पर जिस प्रकार से थे, उन्हें उसी प्रकार से करके सौंपने को "विकरण" कहते हैं।

यदि उसी स्थान पर न रखे और उसी प्रकार से व्यवस्थित करके न सौंपे तो इसे "अविकरण" कहते हैं।

इस सूत्र द्वारा यह निर्देश किया गया है कि शय्यातर के शय्या-संस्तारक जहां जैसे रखे हुए थे, जाते समय उन्हें उसी स्थान पर और उसी प्रकार से व्यवस्थित करके ग्रामान्तर के लिए विहार करना चाहिए। अन्यथा वे साधु-साध्वी प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

आचा. श्रु. २, अ. २, उ. ३ में शय्या-संस्तारक लौटाने की विधि बताई है। उसका तात्पर्य यह है कि उनकी अच्छी तरह ऊपर नीचे प्रतिलेखन कर लेना चाहिए। आवश्यक हो तो खंखेरना या धूप में आतापित करना चाहिए। इस प्रकार सर्वथा जीवरहित होने पर लौटाना चाहिए।

पाट आदि उपयोग लेने से मलीन हो जाएँ तो उन्हें धोकर एवं पौंछकर साफ करके देना चाहिए। यदि वे कुछ टूट-फूट जाएँ या खराब हो जाएँ तो उन्हें विवेकपूर्वक सूचना करते हुए लौटाना चाहिए।

भाष्य में बताया गया है—जिस बांस की कंबिया आदि को बांधा हो अथवा बंधे हुए को खोला हो तो उन्हें पुनः पूर्व अवस्था में करके लौटाना चाहिए।

इन सभी विधानों का आशय यह है कि व्यवस्थित लौटाने से साधु-साध्वी की प्रतीति रहती है एवं शय्या-संस्तारक की सुलभता रहती है तथा तीसरे महाव्रत का शुद्ध रूप से पालन होता है।

खोए हुए शय्या-संस्तारक के अन्वेषण करने का विधान

२७. इह खलु निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारिए वा सागारियसंतिए वा सेज्जासंथारए विप्पणसेज्जा, से य अणुगवेसियव्वे सिया।

से य अणुगवेसमाणे लभेज्जा तस्सेव पडिदायव्वे सिया।

से य अणुगवेसमाणे नो लभेज्जा, एवं से कप्पइ दोच्चंपि उग्गहं अणुण्णवेत्ता परिहारं परिहरित्तए।

२७. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों का प्रातिहारिक या सागारिक शय्या-संस्तारक यदि गुम हो जाए तो उसका उन्हें अन्वेषण करना चाहिए।

अन्वेषण करने पर यदि मिल जाए तो उसी को दे देना चाहिए।

अन्वेषण करने पर कदाचित् न मिले तो पुनः आज्ञा लेकर अन्य शय्या-संस्तारक ग्रहण करके उपयोग में लेना कल्पता है।

विवेचन—निर्युक्तिकार ने बताया है कि साधु गृहस्थ के घर से जो भी शय्या-संस्तारक आदि मांग कर लावे उसकी रक्षा के लिए सावधानी रखनी चाहिए और उपाश्रय को सूना नहीं छोड़ना चाहिए।

गोचरी आदि के लिए बाहर जाना हो तो किसी न किसी को उपाश्रय की रक्षा के लिए नियुक्त करके जाना चाहिए। यदि कायिकी बाधा के निवारणार्थ इधर-उधर जाने पर या पठन-पाठनादि में चित्त लगा रहने पर कोई चुराकर ले जाए, अथवा गृहस्थ के घर से लाते समय या वापस देते समय हाथ में छीनकर कोई भाग जाए या बाहर धूप में रखने पर कोई उठा ले जाए इत्यादि किसी भी कारण से शय्या-संस्तारक खो जाए तो साधु उसकी गवेषणा तत्काल करे।

अन्वेषण करते हुए यदि ले जाने वाला मिल जावे तो उससे उसे देने के लिए कहे—"हे भद्र! यह मैं किसी गृहस्थ से मांग कर लाया हूँ, आप यदि ले आये हैं तो हमें वापस देवें।" यदि उसके भाव नहीं देने के हों तो उसे धार्मिक वाक्य कहकर दे देने के लिए उत्साहित करे।

यदि फिर भी न देना चाहे तो उसे पारितोषिक आदि दिलाने का आश्वासन दे।

यदि वह राज्याधिकारी हो और मांगने पर भी न दे तो उसके लिए साधु यथोचित उपायों से जहां तक सम्भव हो उसे वापस लाने का प्रयत्न करे।

यदि फिर भी वह न दे तो ऊपर के अधिकारियों तक सूचना भिजवाकर वापस मांगने का प्रयत्न करे। फिर भी न मिले या ले जाने वाले का पता न लगे तो जिस गृहस्थ के यहां से वह शय्या-संस्तारकादि लाया है उसको उसके अपहरण की बात कहे।

यदि वह किसी प्रकार से उसे वापस ले आये तो उसको दूसरी बार आज्ञा लेकर उपयोग में ले। यदि उसे भी वह न मिले तो दूसरे शय्या-संस्तारक की याचना करे।

यदि वह साधु ऐसा यथोचित विवेक-अन्वेषण नहीं करता है तो प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

अन्त में भाष्यकार ने यह भी लिखा है कि शय्या-संस्तारक का स्वामी राजा के द्वारा देश से निकाल दिया गया हो या वह अपने कुटुम्ब परिवार को लेकर अन्यत्र चला गया हो, अथवा कालधर्म को प्राप्त हो गया हो, अथवा रोग, वृद्धावस्था आदि के कारण साधु स्वयं गवेषणा करने में असमर्थ हो या इसी प्रकार का और कोई कारण हो जाए तो वैसी अवस्था में खोए गए शय्या-संस्तारक की गवेषणा नहीं करता हुआ भी साधु प्रायश्चित्त का भागी नहीं होता है।

आगन्तुक श्रमणों को पूर्वाज्ञा में रहने का विधान

२८. जद्दिवसं च णं समणा निग्गंथा सेज्जासंथारयं विप्पजहंति, तद्दिवसं च णं अवरे समणा निग्गंथा हव्वमागच्छेज्जा, सच्चेव ओग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि उग्गहे।

२९. अत्थि या इत्थ केइ उवस्सयपरियावन्नए अचित्ते परिहरणारिहे, सच्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ, अहालंदमवि उग्गहे।

२८. जिस दिन श्रमण-निर्ग्रन्थ शय्या-संस्तारक छोड़कर विहार कर रहे हों उसी दिन या उसी समय दूसरे श्रमण-निर्ग्रन्थ आ जावें तो उसी पूर्व ग्रहीत आज्ञा से जितने भी समय रहना हो, शय्या-संस्तारक को ग्रहण करके रह सकते है।

२९. यदि उपयोग में आने योग्य कोई अचित्त उपकरण उपाश्रय में हो तो उसका भी उसी पूर्व की आज्ञा से जितने काल रहना हो, उपयोग किया जा सकता है।

विवेचन—जिस उपाश्रय में साधु मासकल्प या वर्षाकल्प तक की आज्ञा लेकर रहे है, वहां से वे जिस दिन विहार करें उसी दिन अन्य साधु उस उपाश्रय में ठहरने के लिए आ जावें तो वे 'यथालन्दकाल' तक उपाश्रय के स्वामी की आज्ञा लिए बिना ठहर सकते है, उनके लिए उतने काल तक पूर्व में रहने वाले साधुओं के द्वारा गृहीत अवग्रह ही माना जाएगा।

पहले ठहरे हुए साधुओं के द्वारा ली गई आज्ञा में उनके साधर्मिक साधुओं के ठहरने की आज्ञा निहित रहती है। अतः उनके साथ कोई भी साधु कभी भी आकर ठहर सकते हैं। उनके लिये पुनः आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं होती है। उनके आने के बाद पहले ठहरे हुए साधु विहार कर जाएँ तो वे अपने कल्पानुसार वहां रुक सकते हैं। यथालन्दकाल का यहां 'यथायोग्य कल्पानुसार समय' ऐसा अर्थ होता है।

यदि पहले ठहरे हुए साधुओं ने विहार कर मालिक को मकान सुपुर्द कर दिया हो, उसके बाद कोई साधु आवें तो उन्हें पुनः आज्ञा लेना आवश्यक होता है।

यदि मकान मालिक ने साधु-संख्या या मकान की सीमा बताकर ही आज्ञा दी हो तो उससे ज्यादा साधु आवें या मकान की सीमा से अधिक जगह का उपयोग करना हो तो पुनः आज्ञा लेना आवश्यक होता है। यदि पूर्वस्थित साधुओं की आज्ञा में ही ठहरा जाए तो उपाश्रय में रहे अतिरिक्त शय्या-संस्तारक आदि भी उसी पूर्वस्थितों की आज्ञा से ग्रहण किये जा सकते हैं और यथायोग्य समय तक उनका उपयोग कर सकते हैं।

सूत्र में 'अचित्त' शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है कि उपाश्रय में तो कई सचित्त पदार्थ भी हो सकते हैं। भिक्षु को सचित्त अथवा जीवयुक्त उपकरण लेना नहीं कल्पता है, अतः अचित्त और उपयोग में आने योग्य उपकरण हों तो ही भिक्षुओं की पूर्वगृहीत आज्ञा से ग्रहण किये जा सकते हैं। यदि यह ज्ञात हो जाए कि इन उपकरणों की पूर्व भिक्षुओं ने स्वामी से आज्ञा नहीं ली है तो आगन्तुक भिक्षु को उनकी आज्ञा लेना आवश्यक होता है। सूत्र का आशय यह है कि पूर्व भिक्षुओं ने जिस मकान की एवं जिन उपकरणों की आज्ञा ले रखी है उनको पुनः आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं होती है।

स्वामी-रहित घर की पूर्वाज्ञा एवं पुनः आज्ञा का विधान

३०. से वत्थूसु—अव्वावडेसु, अव्वोगडेसु, अपरपरिग्गहिएसु, अमरपरिग्गहिएसु सच्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि उग्गहे।

३१. से वत्थूसु—वावडेसु, वोगडेसु, परपरिग्गहिएसु, भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चंपि उग्गहे अणुन्नवेयव्वे सिया अहालन्दमवि उग्गहे।

३०. जो घर काम में न आ रहा हो, कुटुम्ब द्वारा विभाजित न हो, जिस पर किसी अन्य का प्रभुत्व न हो अथवा किसी देव द्वारा अधिकृत हो तो उसमें भी उसी पूर्वस्थित साधुओं की आज्ञा से जितने काल रहना हो, ठहरा जा सकता है।

३१. वही घर आगन्तुक भिक्षुओं के ठहरने के बाद में काम में आने लगा हो, कुटुम्ब द्वारा विभाजित हो गया हो या अन्य से परिगृहीत हो गया हो तो भिक्षु भाव अर्थात् संयममर्यादा के लिये जितने समय रहना हो उसकी दूसरी बार आज्ञा ले लेनी चाहिये।

विवेचन—१. अव्यापृत—जो घर जीर्ण-शीर्ण होने से या गिर जाने से किसी के द्वारा उपयोग में नहीं आ रहा है, उसे 'अव्यापृत' कहते हैं।

२. अव्याकृत—जो घर अनेक स्वामियों का होने से किसी के द्वारा अपने अधीन नहीं किया गया है, उसे 'अव्याकृत' कहते हैं।

३. अपरपरिगृहीत—जो घर गृहस्वामी ने छोड़ दिया हो और अन्य किसी व्यक्ति के द्वारा परिगृहीत नहीं है, किन्तु बिना स्वामी का है, उसे 'अपरपरिगृहीत' कहते हैं।

४. अमरपरिगृहीत—जो घर किसी कारण-विशेष से निर्माता के द्वारा छोड़ दिया गया है और जिसमें किसी यक्ष आदि देव ने अपना निवास कर लिया है, उसे 'अमरपरिगृहीत' कहते हैं।

उक्त स्थान से साधु विहार कर अन्यत्र जाने वाले हैं। उस समय आने वाले साधुओं को उसमें ठहरने के लिए पुनः आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पूर्वस्थित साधुओं के द्वारा ली गई अनुज्ञा ही आज्ञा मानी जाती है।

आगन्तुक साधुओं के ठहरने पर देवता ने उस मकान को छोड़ दिया हो और उसके बाद उस मकान का कोई वास्तविक मालिक आ जावे तो वास्तविक मालिक की पुनः आज्ञा लेना आवश्यक

है। संयममर्यादा में सूक्ष्म अदत्त का भी सेवन करना उचित नहीं होता है, अज्ञात मालिक के समय ली गई आज्ञा से ज्ञात मालिक के समय ठहरने पर अदत्त का सेवन होता है। अतः वास्तविक मालिक के आ जाने पर उसकी आज्ञा ले लेना चाहिए।

पूर्वाज्ञा से मार्ग आदि में ठहरने का विधान

३२. से अणुकुड्डेसु वा, अणुभित्तीसु वा, अणुचरियासु वा, अणुफरिहासु वा, अणुपंथेसु वा, अणुमेरासु वा, सच्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ। अहालंदमवि उग्गहे।

३२. मिट्टी आदि से निर्मित दीवाल के पास, ईंट आदि से निर्मित दीवाल के पास, चरिका (कोट और नगर के बीच के मार्ग) के पास, खाई के पास, सामान्य पथ के पास, बाड़ या कोट के पास भी उसी पूर्वस्थित साधुओं की आज्ञा से जितने काल रहना हो, ठहरा जा सकता है।

विवेचन—मार्ग में कोट आदि के किनारे या किसी के मकान की दीवार के पास ठहरना हो तो उसके मालिक की, राहगीर की अथवा शक्रेन्द्र की आज्ञा लेनी चाहिये। वहां बैठे साधुओं के उठने के पूर्व अन्य साधु आ जाएं तो वे उसी आज्ञा में ठहर सकते हैं। उनको पुनः किसी की आज्ञा लेना आवश्यक नहीं है। यहां भाष्य में मकान की दीवाल के पास कितनी जगह का स्वामित्व किसका होता है, उसका अनेक विभागों से अलग-अलग माप बताया है। शेष भूमि राजा के स्वामित्व की होना बताया है।

सेना के समीपवर्ती क्षेत्र में गोचरी जाने का विधान एवं रात रहने का प्रायश्चित्त

३३. से गामस्स वा जाव रायहाणीए वा बहिया सेण्णं सन्निविट्ठं पेहाए कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तद्दिवसं भिक्खायरियाए गंतूण पडिनियत्तए नो से कप्पइ तं रयणिं तत्थेव उवाइणावेत्तए।

जो खलु निग्गंथे वा निग्गंथी वा तं रयणिं तत्थेव उवाइणावेइ, उवाइणावेंतं वा साइज्जइ।

से दुहओ वि अइक्कममाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

३३. ग्राम यावत् राजधानी के बाहर शत्रुसेना का पडाव हो तो निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को भिक्षाचर्या के लिये बस्ती में जाकर उसी दिन लौटकर आना कल्पता है किन्तु उन्हे वहां रात रहना नहीं कल्पता है।

जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी वहां रात रहते हैं या रात रहने वाले का अनुमोदन करते हैं, वे जिनाज्ञा और राजाज्ञा दोनों का अतिक्रमण करते हुए चातुर्मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त को प्राप्त होते हैं।

विवेचन—सेना के पड़ाव के निकट से साधु को गमनागमन करने का आचा. श्रु. २, अ. ३ में निषेध किया है और यहां विहारादि में अत्यन्त आवश्यक होने पर सेना के पडाव को पार कर ग्रामादि के भीतर गोचरी जाने का विधान है।

इसका तात्पर्य यह है कि सेना के पडाव के समय में जहां भिक्षाचरों को केवल भिक्षा लेकर आने की ही छूट हो और अन्यों के लिये प्रवेश बन्द हो तब भिक्षु को भिक्षा लेकर के शीघ्र ही लौट

जाना चाहिये, अन्दर नहीं ठहरना चाहिये। अन्दर ठहरने पर राजाज्ञा एवं जिनाज्ञा का उल्लंघन होने से वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

अवग्रहक्षेत्र का प्रमाण

३४. से गामंसि या जाव सन्निवेसंसि वा कप्पइ निग्गंथाण या निग्गंथीण वा सव्वओ समंता सक्कोसं जोयणं उग्गहं ओगिण्हित्ताणं चिट्ठित्तए।

३४. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को ग्राम यावत् सन्निवेश में चारों ओर से एक कोस सहित एक योजना का अवग्रह ग्रहण करके रहना कल्पता है अर्थात् एक दिशा में ढाई कोस जाना-आना कल्पता है।

विवेचन—उपाश्रय से किसी भी एक दिशा में भिक्षु को अढ़ाई कोस तक जाना-आना कल्पता है, इससे अधिक क्षेत्र में जाना-आना नहीं कल्पता है।

यद्यपि गोचरी के लिये भिक्षु को दो कोस तक ही जाना कल्पता है तथापि ढाई कोस कहने का आशय यह है कि दो कोस गोचरी के लिये गये हुए भिक्षु को वहां कभी मल-मूत्र की बाधा हो जाए तो बाधानिवारण के लिये वहां से वह आधा कोस और आगे जा सकता है। तब कुल अढ़ाई कोस एक दिशा में गमनागमन होता है। पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण यों दो-दो दिशाओं के क्षेत्र का योग करने पर पांच कोश अर्थात् सवा योजन का अवग्रहक्षेत्र होता है। उसे ही सूत्र में सक्रोश योजन अवग्रहक्षेत्र कहा है।

तीसरे उद्देशक का सारांश

सूत्र १-२ साधु को साध्वी के उपाश्रय में और साध्वी को साधु के उपाश्रय में बैठना, सोना आदि प्रवृत्तियां नहीं करनी चाहिये।

३-६ रोमरहित चर्मखण्ड आवश्यक होने पर साधु-साध्वी ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु सरोमचर्म उन्हें नहीं कल्पता है। आगाढ़ परिस्थितिवश गृहस्थ के सदा उपयोग में आने वाला सरोमचर्म एक रात्रि के लिये साधु ग्रहण कर सकता है किन्तु साध्वी के लिये तो उसका सर्वथा निषेध है।

७-१० बहुमूल्य वस्त्र एवं अखण्ड थान या आवश्यकता से अधिक लम्बा वस्त्र साधु-साध्वी को नहीं रखना चाहिये।

११-१२ गुप्तांग के निकट पहने जाने वाले लंगोट जांघिया आदि उपकरण साधु को नहीं रखना चाहिये किन्तु साध्वी को ये उपकरण रखना आवश्यक है।

१३ साध्वी को अपनी निश्रा से वस्त्र ग्रहण नहीं करना चाहिये किन्तु अन्य प्रवर्तिनी आदि की निश्रा से वह वस्त्र की याचना कर सकती है।

सूत्र १४-१५ दीक्षा लेते समय साधु-साध्वी को रजोहरण गोच्छग (प्रमार्जनिका) एवं आवश्यक पात्र ग्रहण करने चाहिये तथा मुंहपत्ति चद्दर चोलपट्टक आदि के लिये भिक्षु अधिकतम तीन थान के माप जितने वस्त्र ले सकता है एवं साध्वी चार थान के माप जितने वस्त्र ले सकती है।

१६-१७ साधु-साध्वी को चातुर्मास में वस्त्र ग्रहण नहीं करना चाहिये किन्तु हेमन्त ग्रीष्म ऋतु में वे वस्त्र ले सकते हैं।

१८-१९-२० स्वस्थ साधु-साध्वी को वस्त्र एवं शय्या-संस्तारक दीक्षापर्याय के अनुक्रम से ग्रहण करने चाहिये एवं वन्दना भी दीक्षापर्याय के क्रम से करनी चाहिये।

२१-२३ स्वस्थ साधु-साध्वी को गृहस्थ के घर में बैठना आदि सूत्रोक्त कार्य नहीं करने चाहिये तथा वहां अमर्यादित वार्तालाप या उपदेश भी नही देना चाहिये। आवश्यक हो तो खड़े-खड़े ही मर्यादित कथन किया जा सकता है।

२४-२६ शय्यातर एवं अन्य गृहस्थ के शय्या-संस्तारक को विहार करने के पूर्व अवश्य लौटा देना चाहिये तथा जिस अवस्था मे ग्रहण किया हो, वैसा ही व्यवस्थित करके लौटाना चाहिये।

२७ शय्या-संस्तारक खो जाने पर उसकी खोज करना एवं न मिलने पर उसके स्वामी को खो जाने की सूचना देकर अन्य शय्या-संस्तारक ग्रहण करना। यदि खोज करने पर मिल जाए तो आवश्यकता न रहने पर लौटा देना चाहिये।

२८-३२ साधु-साध्वी उपाश्रय में, शून्य गृह में या मार्ग आदि में कहीं पर भी आज्ञा लेकर ठहरे हों और उनके विहार करने के पूर्व ही दूसरे साधु विहार करके आ जाएं तो वे उसी पूर्वगृहीत आज्ञा से वहां ठहर सकते हैं किन्तु नवीन आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं होती।

यदि शून्य गृह का कोई स्वामी प्रकट हो जाए तो पुनः उसकी आज्ञा लेना आवश्यक होता है।

३३ ग्रामादि के बाहर सेना का पड़ाव हो तो भिक्षा के लिये साधु-साध्वी अन्दर जा सकते हैं, किन्तु उन्हें वहां रात्रिनिवास करना नही कल्पता है। रात्रिनिवास करने पर गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

३४ साधु-साध्वी जिस उपाश्रय में ठहरे हों, वहां से किसी भी एक दिशा में अढ़ाई कोस तक गमनागमन कर सकते है, उससे अधिक नहीं।

उपसंहार

इस उद्देशक में—

१-२ साधु-साध्वियों को एक-दूसरे के उपाश्रय में बैठने आदि के निषेध का,

३-६ चर्म ग्रहण के कल्प्याकल्प्य का,

सूत्र ७-१०,१३,
१६,१७ वस्त्र-ग्रहण के कल्प्याकल्प्य का,
११-१२ गुप्तांग आवरक वस्त्रों के कल्प्याकल्प्य का,
१४-१५ दीक्षा-समय ग्रहण करने के कल्पनीय उपकरणों का,
१८-२० दीक्षापर्याय के क्रम से वन्दन आदि का,
२१-२३ गृहस्थ के घर बैठने या वार्तालाप आदि के कल्प्याकल्प्य का,
२४-२७ शय्या-संस्तारक सम्बन्धी विधियों का,
२८-३२ नये आये साधुओं को पूर्वाज्ञा में ठहरने का,
३३ सेना के पड़ाव वाले ग्रामादि से भिक्षा लाने का,
३४ उपाश्रय से गमनागमन के क्षेत्रावग्रह का,
इत्यादि विभिन्न विषयों का वर्णन है।

॥ तीसरा उद्देशक समाप्त ॥

चौथा उद्देशक

अनुद्घातिक प्रायश्चित्त के स्थान

१. तओ अणुग्घाइया पण्णत्ता, तं जहा—

१. हत्थकम्मं करेमाणे, २. मेहुणं पडिसेवमाणे, ३. राइभोयणं भुंजमाणे।

१. अनुद्घातिक प्रायश्चित्त के योग्य ये तीन कहे गये हैं, यथा—

१. हस्तकर्म करने वाला, २. मैथुन सेवन करने वाला, ३. रात्रिभोजन करने वाला।

विवेचन—जिस दोष की सामान्य तप से शुद्धि की जा सके, उसे उद्घातिक प्रायश्चित्त कहते हैं और जिस दोष की विशेष तप से ही शुद्धि की जा सके, उसे अनुद्घातिक प्रायश्चित्त कहते हैं।

हस्तकर्म करने वाला, स्त्री के साथ संभोग करने वाला और रात्रिभोजन करने वाला भिक्षु महापाप करने वाला होता है, क्योंकि इनमें से दो ब्रह्मचर्य महाव्रत को भंग करने वाले हैं और अन्तिम रात्रिभक्तविरमण नामक छठे व्रत को भंग करने वाला है। अतः ये तीनों ही अनुद्घातिक प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

भगवतीसूत्र श. २५, उ. ६, सू. १९५ में तथा उववाईसूत्र ३० में प्रायश्चित्त के दस भेद बताये गये हैं—

१. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. तदुभय, ४. विवेक, ५. व्युत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. मूल, ९. अनवस्थाप्य, १०. पाराञ्चिक। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

१. **आलोचना**—स्वीकृत व्रतों को यथाविधि पालन करते हुए भी छद्मस्थ होने के कारण व्रतों में जो अतिक्रम आदि दोष लगा हो, उसे गुरु के सम्मुख निवेदन करना।

२. **प्रतिक्रमण**—अपने कर्तव्य का पालन करते हुए भी जो भूलें होती हैं उनका "मिच्छा मे दुक्कडं होज्जा" उच्चारण कर अपने दोष से निवृत्त होना।

३. **तदुभय**—मूलगुण या उत्तरगुणों में लगे अतिचारों की निवृत्ति के लिए आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना।

४. **विवेक**—गृहीत भक्त-पान आदि के सदोष ज्ञात होने पर उसे परठना।

५. **व्युत्सर्ग**—गमनागमन करने पर, निद्रावस्था में बुरा स्वप्न आने पर, नौका आदि से नदी पार करने पर इत्यादि प्रवृत्तियों के बाद निर्धारित श्वासोच्छ्वास काल-प्रमाण काया का उत्सर्ग करना अर्थात् खड़े होकर ध्यान करना।

६. **तप**—प्रमाद-विशेष से अनाचार के सेवन करने पर गुरु द्वारा दिये गये तप का आचरण करना।

इसके दो भेद हैं—उद्घातिम अर्थात् लघुप्रायश्चित्त और अनुद्घातिम अर्थात् गुरुप्रायश्चित्त। इन दोनों के भी मासिक और चातुर्मासिक के भेद से दो-दो भेद होते हैं।

यदि राजसत्ता या प्रेतबाधा आदि से परवश होने पर व्रत-विराधना हो तो—

१. लघुमासतप (उद्घातिम) प्रायश्चित्त में जघन्य ४, मध्यम १५ और उत्कृष्ट २७ एकासन करना आवश्यक है।

२. गुरुमासतप (अनुद्घातिम) प्रायश्चित्त में क्रमशः ४ नीवी, १५ नीवी और ३० नीवी करना आवश्यक है।

३. लघुचातुर्मासिक तप में क्रमशः ४ आयंबिल, ६० नीवी और १०८ उपवास करना आवश्यक है।

४. गुरुचातुर्मासिक तप में क्रमशः ४ उपवास, ४ बेले और १२० उपवास या ४ मास का दीक्षाछेद आवश्यक है।

यदि आतुरता से जानबूझ कर व्रत-विराधना हो तो—

१. लघुमास में जघन्य ४, मध्यम १५ और उत्कृष्ट २७ आयंबिल करना आवश्यक है।

२. गुरुमास में जघन्य ४, मध्यम १५ और उत्कृष्ट ३० आयंबिल करना आवश्यक है।

३. लघुचातुर्मासिक में जघन्य ४ उपवास, मध्यम ४ बेले और उत्कृष्ट १०८ उपवास करना आवश्यक है।

४. गुरुचातुर्मासिक में जघन्य ४ बेले, ४ दिन का दीक्षा-छेद, मध्यम में ४ तेले तथा ६ दिन का दीक्षा-छेद और उत्कृष्ट में १२० उपवास तथा ४ मास का दीक्षा-छेद आवश्यक है।

यदि मोहनीयकर्म के प्रबल उदय से व्रत की विराधना हुई है तो—

१. लघुमासप्रायश्चित्त में जघन्य ४ उपवास, मध्यम १५ उपवास और उत्कृष्ट २७ उपवास करना आवश्यक है।

२. गुरुमासप्रायश्चित्त में जघन्य ४ उपवास, मध्यम १५ उपवास और उत्कृष्ट ३० उपवास करना आवश्यक है।

३. लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त में जघन्य ४ बेले, पारणे में आयंबिल, मध्यम में ४ तेले, पारणे में आयंबिल और उत्कृष्ट १०८ उपवास और पारणे में आयंबिल करना आवश्यक है।

४. गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त में जघन्य ४ तेले, पारणे में आयंबिल या ४० दिन का दीक्षा-छेद, मध्यम १५ तेले, पारणे में आयंबिल या ६० दिन का दीक्षा-छेद और उत्कृष्ट १२० उपवास और पारणे में आयंबिल या मूल (नई दीक्षा) या १२० दिन का छेद प्रायश्चित्त आवश्यक है।

भगवान् महावीर के शासन में उत्कृष्ट प्रायश्चित्त छह मास का होता है, इससे अधिक प्रायश्चित्त देना आवश्यक हो तो दीक्षा-छेद का प्रायश्चित्त दिया जाता है। लघु छह मास में १६५ उपवास और गुरु छह मास में १८० उपवासों का विधान है।

प्रायश्चित्त देने वाले आचार्यादि शिष्य की शक्ति और द्रव्य-भाव की परिस्थिति को देखकर यथायोग्य हीनाधिक प्रायश्चित्त भी देते हैं।

७. छेद—अनेक व्रतों की विराधना करने वाले और बिना कारण अपवादमार्ग का सेवन करने वाले साधु की दीक्षा का छेदन करना 'छेद प्रायश्चित्त' है। यह प्रायश्चित्त भी छह मास का होता है। इससे अधिक प्रायश्चित्त देना आवश्यक होने पर मूल (नई दीक्षा का) प्रायश्चित्त दिया जाता है।

८. मूल—जो साधु-साध्वी जानबूझ कर द्वेषभाव से किसी पंचेन्द्रिय प्राणी का घात कर. इसी प्रकार मृषावाद आदि पापों का अनेक बार सेवन करे और स्वतः आलोचना न करे तो उसकी पूर्व-गृहीत दीक्षा का समूल छेदन करना 'मूल प्रायश्चित्त' है। ऐसे प्रायश्चित्त वाले को पुनः दीक्षा ग्रहण करना आवश्यक होता है।

९. अनवस्थाप्य—हिंसा, चोरी आदि पाप करने पर जिसकी शुद्धि मूल प्रायश्चित्त से भी सम्भव न हो, उसे गृहस्थवेष धारण कराये बिना पुनः दीक्षित न करना 'अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त' है। इसमें अल्प समय के लिये भी गृहस्थवेष धारण कराना आवश्यक होता है।

१०. पाराञ्चिक—अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त से भी जिसकी शुद्धि सम्भव न हो, ऐसे विषय कषाय या प्रमाद की तीव्रता से दोष सेवन करने वाले को जघन्य एक वर्ष और उत्कृष्ट बारह वर्ष तक गृहस्थवेश धारण कराया जाता है एवं साधु के सब व्रत-नियमों का पालन कराया जाता है। उसके पश्चात् नवीन दीक्षा दी जाती है, उसे पाराञ्चिक प्रायश्चित्त कहते हैं।

पाराञ्चिक प्रायश्चित्त के स्थान

२. तओ पारंचिया पण्णत्ता, तं जहा—

१. दुट्ठे पारंचिए, २. पमत्ते पारंचिए, ३. अन्नमन्नं करेमाणे पारंचिए।

पाराञ्चिक प्रायश्चित्त के योग्य ये तीन कहे गए हैं, यथा—

१. दुष्ट पाराञ्चिक, २. प्रमत्त पाराञ्चिक, ३. परस्पर मैथुनसेवी पाराञ्चिक।

विवेचन—पाराञ्चिक शब्द का निरुक्त है—जिस प्रायश्चित्त के द्वारा शुद्ध किया हुआ साधु संसार-समुद्र को पार कर सके। अथवा प्रायश्चित्त के दस भेदों में जो अन्तिम प्रायश्चित्त है और सबसे उत्कृष्ट है—उसे पाराञ्चिक प्रायश्चित्त कहते हैं।

इस सूत्र में पाराञ्चिक प्रायश्चित्त के तीन स्थान कहे गये हैं। उनमें प्रथम दुष्ट पाराञ्चिक है। इसके दो भेद हैं—कषायदुष्ट और विषयदुष्ट।

१. कषायदुष्ट—जो क्रोधादि कषायों की प्रबलतावश किसी साधु आदि का घात कर दे वह कषायदुष्ट है।

२. विषयदुष्ट—जो इन्द्रियों की विषयासक्ति से साध्वी आदि स्त्रियों में आसक्त हो जाय और उनके साथ विषयसेवन करे, उसे विषयदुष्ट कहते हैं।

प्रमत्त पाराञ्चिक पांच प्रकार के होते हैं—

१. मद्य-प्रमत्त—मदिरा आदि नशीली वस्तुओं के सेवन करने वाले मद्य-प्रमत्त कहे गए हैं।

२. विषय-प्रमत्त—इन्द्रियों के विषय-लोलुपी विषय-प्रमत्त कहे गए हैं।

३. कषाय-प्रमत्त—कषायों की प्रबलता वाले कषाय-प्रमत्त कहे गए हैं।

४. विकथा-प्रमत्त—स्त्रीकथा, राजकथा आदि विकथाएँ करने वाले विकथा-प्रमत्त कहे गए हैं।

५. निद्रा-प्रमत्त—स्त्यानर्द्धि-निद्रा वाले निद्रा-प्रमत्त कहे गए हैं।

जो व्यक्ति घोर निद्रा में से उठकर नहीं करने योग्य भयंकर कार्यों को करके पुनः सो जाता है और जागने पर उसे अपने द्वारा किये गये दुष्कर कार्यों की कुछ भी स्मृति नहीं रहती है, ऐसे व्यक्ति को निद्रा-प्रमत्त कहते हैं।

जो साधु किसी दूसरे साधु के साथ अनंग-क्रीड़ा रूप मैथुन करता है, वे दोनों ही पाराञ्चिक प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

इस प्रकार दुष्ट, प्रमत्त और परस्पर मैथुनसेवी की शुद्धि पाराञ्चिक प्रायश्चित्त से होती है।

अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के स्थान

३. तओ अणवट्ठप्पा पण्णत्ता, तं जहा—

१. साहम्मियाणं तेण्णं करेमाणे, २. अन्नधम्मियाणं तेण्णं करेमाणे, ३. हत्थादालं दलमाणे।

अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त योग्य ये तीन कहे गये हैं, यथा—

१. साधर्मिकों की चोरी करने वाला, २. अन्यधार्मिकों की चोरी करने वाला,

३. अपने हाथों से प्रहार करने वाला।

विवेचन—इस सूत्र में बताया गया है—

१. जो साधु अपने समान धर्म वाले साधर्मीजनों के वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि की चोरी करता है।

२. जो अन्यधार्मिक जनों के अर्थात् बौद्ध, सांख्य आदि मतों के मानने वाले साधु आदि के वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि की चोरी करता है।

३. जो अपने हाथ से दूसरे को ताडनादि करता है, मुट्ठी, लकड़ी आदि से मारता है या मन्त्र-तन्त्र आदि से किसी को पीड़ित करता है।

इन तीनों को अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त माना है।

दीक्षा आदि के अयोग्य तीन प्रकार के नपुंसक

४-९. तओ नो कप्पंति पव्वावेत्तए, तं जहा—

१. पण्डए, २. वाइए, ३. कीवे।

एवं मुण्डावेत्तए, सिक्खावेत्तए, उवट्ठावेत्तए, संभुंजित्तए, संवासित्तए।

इन तीन को प्रव्रजित करना नहीं कल्पता है, यथा—

१. पण्डक—महिला सदृश स्वभाव वाला जन्म-नपुंसक,

२. वातिक—कामवासना का दमन न कर सकने वाला

३. क्लीब—असमर्थ।

इसी प्रकार मुण्डित करना, शिक्षित करना, उपस्थापित करना, एक मण्डली में साथ बिठाकर आहार करना तथा साथ रखना नहीं कल्पता है।

विवेचन—१. पण्डक—जो जन्म से नपुंसक होता है, उसे 'पण्डक' कहते हैं।

२. वातिक—जो वातरोगी है अर्थात् कामवासना का निग्रह करने में असमर्थ होता है, उसे 'वातिक' कहते हैं।

३. क्लीव—असमर्थ या पुरुषत्वहीन कायर पुरुष को 'क्लीव' कहते हैं।

ये तीनों ही प्रकार के नपुंसक दीक्षा देने के योग्य नहीं है, क्योंकि ऐसे व्यक्तियों को दीक्षित करने से प्रवचन का उपहास और निर्ग्रन्थ धर्म की निन्दा आदि अनेक दोष होते हैं।

यदि पूरी जानकारी किए बिना उक्त प्रकार के नपुंसकों को दीक्षा दे दी गई हो और बाद में उनका नपुंसकपन ज्ञात हो तो उसे मुण्डित नहीं करे अर्थात् उनके केशों का लुंचन नहीं करे।

यदि केशलुंचन के पश्चात् नपुंसकपन ज्ञात हो तो उन्हें महाव्रतों में उपस्थापित न करे अर्थात् बड़ी दीक्षा न दे।

यदि बड़ी दीक्षा के पश्चात् उनका नपुंसकपन ज्ञात हो तो उनके साथ एक मण्डली में बैठकर खान-पान न करे।

यदि इसके पश्चात् उनका नपुंसकपन ज्ञात हो तो उन्हें सोने-बैठने के स्थान पर एक साथ न सुलावे-बिठावे।

अभिप्राय यह है कि उक्त तीनों प्रकार के नपुंसक किसी भी प्रकार से दीक्षा देने योग्य नहीं हैं। कदाचित् दीक्षित हो भी जाय तो ज्ञात होने पर संघ में रखने योग्य नहीं होते हैं।

वाचना देने के योग्यायोग्य के लक्षण

१०. तओ नो कप्पंति वाइत्तए, तं जहा—

१. अविणीए, २. विगइ-पडिबद्धे, ३. अविओसवियपाहुडे।

११. तओ कप्पंति वाइत्तए, तं जहा—

१. विणीए, २. नो विगइ-पडिबद्धे, ३. विओसवियपाहुडे।

१०. तीन को वाचना देना नहीं कल्पता है, यथा—
१. अविनीत—विनयभाव न करने वाले को,
२. विकृति-प्रतिबद्ध—विकृतियों में आसक्त रहने वाले को,
३. अनुपशांतप्राभृत—अनुपशान्त क्रोध वाले को।

११. इन तीनों को वाचना देना कल्पता है, यथा—
१. विनीत—सूत्रार्थदाता के प्रति वन्दनादि विनय करने वाले को,
२. विकृति-अप्रतिबद्ध—विकृतियों में आसक्त न रहने वाले को,
३. उपशान्तप्राभृत—उपशान्त क्रोध वाले को।

विवेचन—१. अविनीत—जो विनय-रहित है, आचार्य या दीक्षाज्येष्ठ साधु आदि के आने-जाने पर अभ्युत्थान, सत्कार-सम्मान आदि यथोचित विनय को नहीं करता है, वह 'अविनीत' कहा गया है।

२. विकृति-प्रतिबद्ध—जो दूध, दही आदि रसों में गृद्ध है, उन रसों के नही मिलने पर सूत्रार्थ आदि के ग्रहण करने में मन्द उद्यमी रहता है, वह 'विकृति-प्रतिबद्ध' कहा गया है।

३. अव्यवशमितप्राभृत—अल्प अपराध करने पर जो अपराधी पर प्रचण्ड क्रोध करता है और क्षमा-याचना कर लेने पर भी बार-बार उस पर क्रोध प्रकट करता रहता है, उसे 'अव्यवशमित-प्राभृत' कहते हैं।

ये तीन प्रकार के साधु सूत्र-वाचना और उभय-वाचना के अयोग्य हैं, क्योंकि विनय से ही विद्या की प्राप्ति होती है, अविनयी शिष्य को विद्या पढ़ाना व्यर्थ या निष्फल हो जाता है, प्रत्युत कभी-कभी दुष्फल भी देता है।

जो दूध-दही आदि विकृतियों में आसक्त है, उसके हृदय में दी गई वाचना स्थिर नहीं रह सकती है अतः उसे भी वाचना देना व्यर्थ है।

जिसके स्वभाव में उग्रता है, जरा-सा भी अपराध हो जाने पर जो अपराधी पर भारी रोष प्रकट करता है, क्षमा मांग लेने पर भी बार-बार दोहराता है, ऐसे व्यक्ति को भी वाचना देना व्यर्थ होता है। ऐसे व्यक्ति से लोग इस जन्म में भी स्नेह करना छोड़ देते हैं और परभव के लिए भी वह तीव्र वैरानुबन्ध करता है, इसलिए उक्त तीनों ही प्रकार के शिष्य सूत्र, अर्थ या दोनों की वाचना के लिए अयोग्य कहे गये हैं।

किन्तु जो विनय-सम्पन्न हैं, दूध, दही आदि विगयों के सेवन में जिनकी आसक्ति नहीं है और जो क्षमाशील हैं, ऐसे शिष्यों को ही सूत्र की, उसके अर्थ की तथा दोनों की वाचना देना चाहिए, क्योंकि उनको दी गई वाचना श्रुत का विस्तार करती है, ग्रहण करने वाले का इहलोक और परलोक सुधारती है और जिनशासन की प्रभावना करती है। सूत्रोक्त दोष वाला भिक्षु संयम आराधना के भी अयोग्य होता है। उसे दीक्षा भी नही दी जा सकती है। दीक्षा देने के बाद इन अवगुणों के ज्ञात होने पर उसे वाचना के लिए उपाध्याय के पास नही रखना चाहिए किन्तु प्रवर्तक एवं स्थविर के नेतृत्व में अन्य अध्ययन शिक्षाएं एवं आचारविधि का ज्ञान कराना चाहिए। ऐसा करने पर यदि उक्त योग्यता प्राप्त हो जाए तो वाचना के लिए उपाध्याय के पास रखा जा सकता है। योग्य न बनने पर सदा अगीतार्थ रहता है और दूसरों के अनुशासन में रहते हुए संयम पालन करता है।

जो गच्छप्रमुख सूत्रोक्त विधि का पालन न करते हुए योग्य-अयोग्य के निर्णय किए बिना सभी को इच्छित वाचना देते हैं—उपाध्याय आदि वाचना देने वाले की नियुक्ति नहीं करते हैं अथवा उनके प्रति विनय-प्रतिपत्ति आदि के पालन की व्यवस्था भी नहीं करते हैं। इस प्रकार वाचना सम्बन्धी सूत्र-विधानों का यथार्थ पालन नहीं करने से वे गच्छप्रमुख निशीथ उ. १९ के अनुसार प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं। वे प्रायश्चित्त इस प्रकार हैं—

१. [illegible] से वाचना न दे किन्तु स्वेच्छानुसार किसी भी सूत्र की वाचना दे

२. आचारांग सूत्र की वाचना दिए बिना छेदसूत्रों की वाचना दे या दिलवावे।
३. अविनीत या अयोग्य साधुओं को कालिकश्रुत की वाचना दे।
४. विनयवान् योग्य साधुओं को यथासमय वाचना देने का ध्यान न रखे।
५. विगयों का त्याग नहीं करने वाले एवं कलह को उपशान्त नहीं करने वाले को वाचना दे।
६. सोलह वर्ष से कम उम्र वाले को कालिकश्रुत (अंगसूत्र या छेदसूत्र) की वाचना दे।
७. समान योग्यता वाले साधुओं में से किसी को वाचना दे, किसी को न दे।
८. स्वगच्छ के या अन्यगच्छ के शिथिलाचारी साधु को वाचना दे।

९. मिथ्यामत वाले गृहस्थ को वाचना दे या उसे वाचना लेने वालों में बिठावे तो इनको लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है। —निशीथ उ. १९, सूत्र १६-३५

शिक्षा-प्राप्ति के योग्यायोग्य के लक्षण

१२. तओ दुस्सन्नप्पा पण्णत्ता, तं जहा—

१. दुट्ठे, २. मूढे, ३. वुग्गाहिए।

१३. तओ सुसन्नप्पा पण्णत्ता, तं जहा—

१. अदुट्ठे, २. अमूढे, ३. अवुग्गाहिए।

१२. ये तीन दुःसंज्ञाप्य (दुर्बोध्य) कहे गये हैं, यथा—
१. दुष्ट—तत्त्वोपदेष्टा के प्रति द्वेष रखने वाला,
२. मूढ—गुण और दोषों से अनभिज्ञ,
३. व्युद्ग्राहित—अंधश्रद्धा वाला दुराग्रही।

१३. ये तीन सुसंज्ञाप्य (सुबोध्य) कहे गए हैं, यथा—
१. अदुष्ट—तत्त्वोपदेष्टा के प्रति द्वेष न रखने वाला,
२. अमूढ—गुण और दोषों का ज्ञाता,
३. अव्युद्ग्राहित—सम्यक् श्रद्धा वाला।

विवेचन—१. 'दुष्ट' जो शास्त्र की प्ररूपणा करने वाले गुरु आदि से द्वेष रखे अथवा यथार्थ प्रतिपादन किये जाने वाले तत्त्व के प्रति द्वेष रखे, उसे 'दुष्ट' कहते हैं।

२. मूढ—गुण और अवगुण के विवेक से रहित व्यक्ति को 'मूढ' कहते हैं।

३. व्युद्ग्राहित—विपरीत श्रद्धा वाले अत्यन्त कदाग्रही पुरुष को 'व्युद्ग्राहित' कहते हैं।

ये तीनों ही प्रकार के साधु दुःसंज्ञाप्य हैं अर्थात् इनको समझाना बहुत कठिन है, समझाने पर भी ये नहीं समझते हैं, इन्हें शिक्षा देने या समझाने से भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। अतः ये सूत्रवाचना के पूर्ण अयोग्य होते है। किन्तु जो द्वेषभाव से रहित हैं, हित-अहित के विवेक से युक्त हैं और विपरीत श्रद्धा वाले या कदाग्रही नहीं हैं, वे शिक्षा देने के योग्य होते हैं। ऐसे व्यक्तियों को ही

विवेचन—१. अविनीत—जो विनय-रहित है, आचार्य या दीक्षाज्येष्ठ साधु आदि के आने-जाने पर अभ्युत्थान, सत्कार-सम्मान आदि यथोचित विनय को नहीं करता है, वह 'अविनीत' कहा गया है।

२. विकृति-प्रतिबद्ध—जो दूध, दही आदि रसों में गृद्ध है, उन रसों के नहीं मिलने पर सूत्रार्थ आदि के ग्रहण करने में मन्द उद्यमी रहता है, वह 'विकृति-प्रतिबद्ध' कहा गया है।

३. अव्यवशमितप्राभृत—अल्प अपराध करने पर जो अपराधी पर प्रचण्ड क्रोध करता है और क्षमा-याचना कर लेने पर भी बार-बार उस पर क्रोध प्रकट करता रहता है, उसे 'अव्यवशमित-प्राभृत' कहते हैं।

ये तीन प्रकार के साधु सूत्र-वाचना और उभय-वाचना के अयोग्य हैं, क्योंकि विनय से ही विद्या की प्राप्ति होती है, अविनयी शिष्य को विद्या पढ़ाना व्यर्थ या निष्फल तो जाता है, प्रत्युत कभी-कभी दुष्फल भी देता है।

जो दूध-दही आदि विकृतियों में आसक्त है, उसके हृदय में दी गई वाचना स्थिर नहीं रह सकती है अतः उसे भी वाचना देना व्यर्थ है।

जिसके स्वभाव में उग्रता है, जरा-सा भी अपराध हो जाने पर जो अपराधी पर भारी रोष प्रकट करता है, क्षमा मांग लेने पर भी बार-बार दोहराता है, ऐसे व्यक्ति को भी वाचना देना व्यर्थ होता है। ऐसे व्यक्ति से लोग इस जन्म में भी स्नेह करना छोड़ देते हैं और परभव के लिए भी वह तीव्र वैरानुबन्ध करता है, इसलिए उक्त तीनों ही प्रकार के शिष्य सूत्र, अर्थ या दोनों की वाचना के लिए अयोग्य कहे गये हैं।

किन्तु जो विनय-सम्पन्न है, दूध, दही आदि विगयों के सेवन में जिनकी आसक्ति नहीं है और जो क्षमाशील हैं, ऐसे शिष्यों को ही सूत्र की, उसके अर्थ की तथा दोनों की वाचना देना चाहिए, क्योंकि उनको दी गई वाचना श्रुत का विस्तार करती है, ग्रहण करने वाले का इहलोक और परलोक सुधारती है और जिनशासन की प्रभावना करती है। सूत्रोक्त दोष वाला भिक्षु संयम आराधना के भी अयोग्य होता है। उसे दीक्षा भी नहीं दी जा सकती है। दीक्षा देने के बाद इन अवगुणों के ज्ञात होने पर उसे वाचना के लिए उपाध्याय के पास नहीं रखना चाहिए किन्तु प्रवर्तक एवं स्थविर के नेतृत्व में अन्य अध्ययन शिक्षाएं एवं आचारविधि का ज्ञान कराना चाहिए। ऐसा करने पर यदि उक्त योग्यता प्राप्त हो जाए तो वाचना के लिए उपाध्याय के पास रखा जा सकता है। योग्य न बनने पर सदा अगीतार्थ रहता है और दूसरों के अनुशासन में रहते हुए संयम पालन करता है।

जो गच्छप्रमुख सूत्रोक्त विधि का पालन न करते हुए योग्य-अयोग्य के निर्णय किए बिना सभी को इच्छित वाचना देते हैं—उपाध्याय आदि वाचना देने वाले की नियुक्ति नहीं करते हैं अथवा उनके प्रति विनय-प्रतिपत्ति आदि के पालन की व्यवस्था भी नहीं करते हैं। इस प्रकार वाचना सम्बन्धी सूत्र-विधानों का यथार्थ पालन नहीं करने से वे गच्छप्रमुख निशीथ उ. १९ के अनुसार प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं। ये प्रायश्चित्त इस प्रकार है—

१. आगमनिर्दिष्ट क्रम से वाचना न दे किन्तु स्वेच्छानुसार किसी भी सूत्र की वाचना दे या दिलवाए।

२. आचारांग सूत्र की वाचना दिए बिना छेदसूत्रों की वाचना दे या दिलवावे।
३. अविनीत या अयोग्य साधुओं को कालिकश्रुत की वाचना दे।
४. विनयवान् योग्य साधुओं को यथासमय वाचना देने का ध्यान न रखे।
५. विगयों का त्याग नहीं करने वाले एवं कलह को उपशान्त नहीं करने वाले को वाचना दे।
६. सोलह वर्ष से कम उम्र वाले को कालिकश्रुत (अंगसूत्र या छेदसूत्र) की वाचना दे।
७. समान योग्यता वाले साधुओं में से किसी को वाचना दे, किसी को न दे।
८. स्वगच्छ के या अन्यगच्छ के शिथिलाचारी साधु को वाचना दे।

९. मिथ्यामत वाले गृहस्थ को वाचना दे या उसे वाचना लेने वालों में बिठावे तो इनको लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है। —निशीथ उ. १९, सूत्र १६-३५

शिक्षा-प्राप्ति के योग्यायोग्य के लक्षण

१२. तओ दुस्सन्नप्पा पण्णत्ता, तं जहा—

१. दुट्ठे, २. मूढे, ३. वुग्गाहिए।

१३. तओ सुसन्नप्पा पण्णत्ता, तं जहा—

१. अदुट्ठे, २. अमूढे, ३. अवुग्गाहिए।

१२. ये तीन दुःसंज्ञाप्य (दुर्बोध्य) कहे गये हैं, यथा—
१. दुष्ट—तत्त्वोपदेष्टा के प्रति द्वेष रखने वाला,
२. मूढ—गुण और दोषों से अनभिज्ञ,
३. व्युद्ग्राहित—अंधश्रद्धा वाला दुराग्रही।

१३. ये तीन सुसंज्ञाप्य (सुबोध्य) कहे गए है, यथा—
१. अदुष्ट—तत्त्वोपदेष्टा के प्रति द्वेष न रखने वाला,
२. अमूढ—गुण और दोषो का ज्ञाता,
३. अव्युद्ग्राहित—सम्यक् श्रद्धा वाला।

विवेचन—१. 'दुष्ट' जो शास्त्र की प्ररूपणा करने वाले गुरु आदि से द्वेष रखे अथवा यथार्थ प्रतिपादन किये जाने वाले तत्त्व के प्रति द्वेष रखे, उसे 'दुष्ट' कहते हैं।

२. मूढ—गुण और अवगुण के विवेक से रहित व्यक्ति को 'मूढ' कहते है।

३. व्युद्ग्राहित—विपरीत श्रद्धा वाले अत्यन्त कदाग्रही पुरुष को 'व्युद्ग्राहित' कहते हैं।

ये तीनों ही प्रकार के साधु दुःसंज्ञाप्य है अर्थात् इनको समझाना बहुत कठिन है, समझाने पर भी ये नही समझते हैं, इन्हें शिक्षा देने या समझाने से भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। अतः ये सूत्रवाचना के पूर्ण अयोग्य होते हैं। किन्तु जो द्वेषभाव से रहित हैं, हित-अहित के विवेक से युक्त हैं और विपरीत श्रद्धा वाले या कदाग्रही नहीं हैं, वे शिक्षा देने के योग्य होते हैं। ऐसे व्यक्तियों को ही

श्रुत एवं अर्थ की वाचना देनी चाहिए। क्योंकि ये प्रतिपादित तत्त्व को सरलता से या सुगमता से ग्रहण करते है।

ग्लान को मैथुनभाव का प्रायश्चित्त

१४. निग्गंथिं च णं गिलायमाणिं पिया वा माया वा पुत्तो वा पलिस्सएज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

१५. निग्गंथं च गिलायमाणं माया वा भगिणी वा धूया वा पलिस्सएज्जा, तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा मेहुणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

१४. ग्लान निर्ग्रन्थी के पिता, भ्राता या पुत्र गिरती हुई निर्ग्रन्थी को हाथ का सहारा दें, गिरी हुई को उठावें, स्वतः उठने-बैठने में असमर्थ को उठावें बिठावें, उस समय वह निर्ग्रन्थी मैथुन-सेवन के परिणामों से पुरुषस्पर्श का अनुमोदन करे तो वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त की पात्र होती है।

१५. ग्लान निर्ग्रन्थ की माता, बहिन या बेटी गिरते हुए निर्ग्रन्थ को हाथ का सहारा दें, गिरे हुए को उठाएँ, स्वतः बैठने-उठने में असमर्थ को उठाएँ, बिठाएँ, उस समय वह निर्ग्रन्थ मैथुनसेवन के परिणामों से स्त्रीस्पर्श का अनुमोदन करे तो वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विवेचन—साध्वी के लिए पुरुष के शरीर का स्पर्श और साधु के लिए स्त्री के शरीर का स्पर्श ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए सर्वथा वर्जित है।

बीमारी आदि के समय भी साध्वी की साध्वी और साधु की साधु ही परिचर्या करें, यही जिन-आज्ञा है। किन्तु कदाचित् ऐसा अवसर आ जाय कि कोई साध्वी शरीर-बल के क्षीण होने से कहीं पर आते या जाते हुए गिर जाय और उसे देखकर उस साध्वी का पिता, भाई या पुत्रादि कोई भी पुरुष उसे उठाए, बिठाए या अन्य शरीर-परिचर्या करे तब उसके शरीर के स्पर्श से यदि साध्वी के मन में काम-वासना जागृत हो जाय तो उसके लिए चातुर्मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त कहा गया है।

इसी प्रकार बीमारी आदि से क्षीणबल कोई साधु कहीं गिर जाय और उसकी माता, बहिन या पुत्री आदि कोई भी स्त्री उसे उठाए, तब उसके स्पर्श से यदि साधु के मन में काम-वासना जग जाय तो वह साधु गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त का पात्र कहा गया है।

यहां प्रायश्चित्त कहने का तात्पर्य यह है कि वह रुग्ण साधु या साध्वी स्पर्शपरिचारणा का अनुभव करे तो वे उक्त प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

प्रथम प्रहर के आहार को चतुर्थ प्रहर में रखने का निषेध

१६. नो कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा असणं वा जाव साइमं वा, पढमाए पोरिसीए पडिग्गाहेत्ता, पच्छिमं पोरिसिं उवाइणावेत्तए।

तं अप्पणा भुंजमाणे, अन्नेसिं वा दलमाणे, आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।

१७. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को अशन यावत् स्वादिम आहार अर्धयोजन की मर्यादा से आगे रखना नहीं कल्पता है।

कदाचित् वह आहार रह जाय तो उस आहार को स्वयं न खाए और न अन्य को दे, किन्तु एकान्त और सर्वथा अचित्त भूमि का प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन कर उस आहार को यथाविधि परठ देना चाहिए।

यदि उस आहार को स्वयं खाए या अन्य निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को दे तो उसे उद्घातिक-चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—भिक्षु अपने उपाश्रय से दो कोस दूर के क्षेत्र से अशनादि ला सकता है एवं विहार करके किसी भी दिशा में दो कोस तक आहार-पानी आदि ले जा सकता है। उसके आगे भूल से ले भी जाए तो जानकारी होने पर उसे खाना या पीना नहीं कल्पता है, किन्तु परठना कल्पता है। आगे ले जाने पर आहारादि सचित्त या दूषित तो नहीं हो जाते हैं, किन्तु यह आगमोक्त क्षेत्र-सीमा होने से इसका पालन करना आवश्यक है।

दो कोस के चार हजार धनुष होते हैं, जिसके चार माइल या सात किलोमीटर लगभग क्षेत्र होता है। इतने क्षेत्र से आगे आहार-पानी एवं औषध-भेषज कोई भी खाद्यसामग्री नहीं ले जानी चाहिए।

अनाभोग से ग्रहण किये अनेषणीय आहार की विधि

१८. निग्गंथेण य गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए अणुप्पविट्ठेणं अन्नयरे अचित्ते अणेसणिज्जे पाणभोयणे पडिगाहिए सिया।

अत्थि य इत्थ केइ सेहतराए अणुवट्ठावियए, कप्पइ से तस्स दाउं वा अणुप्पदाउं वा।

नत्थि य इत्थ केइ सेहतराए अणुवट्ठावियए, तं नो अप्पणा भुंजेज्जा, नो अन्नेसिं दावए, एगन्ते बहुफासुए पएसे पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया।

१८. आहार के लिए गृहस्थ के घर में प्रविष्ट निर्ग्रन्थ के द्वारा कोई दोषयुक्त अचित्त आहार-पानी ग्रहण हो जाय तो—

वह आहार यदि कोई वहां अनुपस्थापित शिष्य हो तो उसे देना या एषणीय आहार देने के बाद में देना कल्पता है।

यदि कोई अनुपस्थापित शिष्य न हो तो उस अनेषणीय आहार को न स्वयं खाए और न अन्य को दे किन्तु एकान्त और अचित्त प्रदेश का प्रतिलेखन और प्रमार्जन कर यथाविधि परठ देना चाहिए।

विवेचन—इत्वरिक दीक्षा देने के पश्चात् जब तक यावज्जीवन की दीक्षा नहीं दी जाती है, तब तक उस नवदीक्षित साधु को 'अनुपस्थापित शैक्षतर' कहा जाता है।

छोटी दीक्षा के पश्चात् बड़ी दीक्षा देकर महाव्रतों मे उपस्थापित करने का जघन्य काल सात दिन है और उत्कृष्ट काल छह मास है। ऐसे अनुपस्थापित नवदीक्षित साधु को असावधानी से आया हुआ अनेषणीय अचित्त आहार सेवन करने के लिए दिया जा सकता है। यहां अनेषणीय से एषणा सम्बन्धी दोष से युक्त आहार समझना चाहिए।

यद्यपि नवदीक्षित अनुपस्थापित शिष्य भी संयमी गिना जाता है। तथापि पुनः उपस्थापन करना निश्चित होने से उसे उस आहार के खाने पर अलग से कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है। अतः परठने योग्य आहार को उसे देने का सूत्र मे विधान किया गया है।

यदि साधु-मण्डली में ऐसा कोई नवदीक्षित अनुपस्थापित शिष्य न हो तो उस दोषयुक्त आहार को न स्वयं खाए और न दूसरों को दे, किन्तु प्रासुक अचित्त स्थान पर सूत्रोक्तविधि से परठ देना चाहिए।

सूत्र में 'दाउं' पद है, उसका अभिप्राय है एक बार देना और 'अणुप्पदाउं' पद का अभिप्राय है—निमन्त्रण करना या अनेक बार थोड़ा-थोड़ा करके देना।

औद्देशिक आहार के कल्प्याकल्प्य का विधान

१९. जे कडे कप्पट्ठियाणं, कप्पइ से अकप्पट्ठियाणं नो से कप्पइ कप्पट्ठियाणं।

जे कडे अकप्पट्ठियाणं नो से कप्पइ कप्पट्ठियाणं, कप्पइ से अकप्पट्ठियाणं।

कप्पे ठिया कप्पट्ठिया, अकप्पे ठिया अकप्पट्ठिया।

१९. जो आहार कल्पस्थितों के लिए बनाया गया है, वह अकल्पस्थितों को लेना कल्पता है किन्तु कल्पस्थितों को लेना नहीं कल्पता है।

जो आहार अकल्पस्थितों के लिए बनाया गया है, वह कल्पस्थितों को नहीं कल्पता है किन्तु अन्य अकल्पस्थितों को कल्पता है।

जो कल्प में स्थित हैं वे कल्पस्थित कहे जाते हैं और जो कल्प में स्थित नहीं हैं वे अकल्पस्थित कहे जाते हैं।

विवेचन— जो साधु आचेलक्य आदि दस प्रकार के कल्प में स्थित होते हैं और पंचयाम रूप धर्म का पालन करते हैं, ऐसे प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधुओं को कल्पस्थित कहते हैं।

जो आचेलक्यादि दश प्रकार के कल्प में स्थित नही है किन्तु कुछ ही कल्पों में स्थित हैं और चातुर्याम रूप धर्म का पालन करते हैं, ऐसे मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के साधु अकल्पस्थित कहे जाते हैं।

जो आहार गृहस्थों ने कल्पस्थित साधुओं के लिए बनाया है, उसे वे नहीं ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु अकल्पस्थित साधु ग्रहण कर सकते हैं। इसी प्रकार जो आहार अकल्पस्थित जिन साधुओं के लिए बनाया गया है, उसे अकल्पस्थित अन्य साधु तो ग्रहण कर सकते हैं किन्तु कल्पस्थित साधु ग्रहण नहीं कर सकते हैं।

१० कल्प (साधु के आचार) इस प्रकार हैं—

१. अचेलकल्प—अमर्यादित वस्त्र न रखना, किन्तु मर्यादित वस्त्र रखना, रंगीन वस्त्र न रखना, किन्तु स्वाभाविक रंग का अर्थात् सफेद रंग का वस्त्र रखना और मूल्यवान् चमकीले वस्त्र न रखना किन्तु अल्पमूल्य के सामान्य वस्त्र रखना।

२. औद्देशिककल्प—अन्य किसी भी सार्धमिक या सांभोगिक साधुओं के उद्देश्य से बनाया गया आहार आदि औद्देशिक दोष वाला होता है। ऐसे आहार आदि को ग्रहण नहीं करना।

३. शय्यातरपिंडकल्प—शय्यादाता का आहारादि ग्रहण नहीं करना।

४. राजपिंडकल्प—मूर्धाभिषिक्त राजाओं का आहारादि नहीं लेना।

५. कृतिकर्मकल्प—रत्नाधिक को वंदन आदि विनय-व्यवहार करना।

६. व्रतकल्प—पांच महाव्रतों का पालन करना अथवा चार याम का पालन करना। चार याम में चौथे और पांचवें महाव्रत का सम्मिलित नाम "बहिद्धादाण" है।

७. ज्येष्ठकल्प—जिसकी बड़ी दीक्षा पहले हुई हो वह ज्येष्ठ कहा जाता है और साध्वियों के लिये सभी साधु ज्येष्ठ होते हैं। अतः उन्हें ज्येष्ठ मानकर व्यवहार करना।

८. प्रतिक्रमणकल्प—नित्य नियमित रूप से दैवसिक एवं रात्रिक प्रतिक्रमण करना।

९. मासकल्प—हेमंत-ग्रीष्म ऋतु में विचरण करते हुए किसी भी ग्रामादि में एक मास से अधिक नहीं ठहरना तथा एक मास ठहरने के बाद वहाँ दो मास तक पुनः आकर नहीं ठहरना। साध्वी के लिए एक मास के स्थान पर दो मास का कल्प समझना।

१०. चातुर्मासकल्प—वर्षाऋतु में चार मास तक एक ही ग्रामादि में स्थित रहना किन्तु विहार नहीं करना। चातुर्मास के बाद उस ग्राम में नहीं रहना एवं आठ मास [बाद में चातुर्मास काल आ जाने से बारह मास] तक पुनः वहाँ आकर नहीं रहना।

ये दस कल्प प्रथम एवं अंतिम तीर्थंकर के साधु-साध्वियों को पालन करना आवश्यक होता है। मध्यम तीर्थंकरों के साधु-साध्वियों को चार कल्प का पालन करना आवश्यक होता है, शेष छह कल्पों का पालन करना आवश्यक नहीं होता।

चार आवश्यक कल्प—१. शय्यातरपिंडकल्प, २. कृतिकर्मकल्प, ३. व्रतकल्प, ४. ज्येष्ठकल्प।

छह ऐच्छिक कल्प

१. अचेल—अल्प मूल्य या बहुमूल्य, रंगीन या स्वाभाविक, किसी भी प्रकार के वस्त्र अल्प या अधिक परिमाण में इच्छानुसार या मिलें जैसे ही रखना।

२. औद्देशिक—स्वयं के निमित्त बना हुआ आहारादि नहीं लेना किन्तु अन्य किसी भी सार्धमिक साधु के लिये बने आहारादि इच्छानुसार लेना।

३. राजपिंड—मूर्धाभिषिक्त राजाओं का आहार ग्रहण करने में इच्छानुसार करना।

४. प्रतिक्रमण—नियमित प्रतिक्रमण इच्छा हो तो करना किन्तु पक्खी चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण अवश्य करना।

५. मासकल्प—किसी भी ग्रामादि मे एक मास या उससे अधिक इच्छानुसार रहना या कभी भी वापिस वहां आकर ठहरना ।

६. चातुर्मासकल्प—इच्छा हो तो चार मास एक जगह ठहरना किन्तु संवत्सरी के बाद कार्तिक सुदी पूनम तक एक जगह ही स्थिर रहना । उसके बाद इच्छा हो तो विहार करना, इच्छा न हो तो न करना ।

श्रुतग्रहण के लिये अन्यगण में जाने का विधि-निषेध

२०. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता—

१. आयरियं वा, २. उवज्झायं वा ३, पवत्तयं वा, ४. थेरं वा, ५. गणिं वा ६. गणहरं वा, ७, गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।
ते य से नो वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

२१. गणावच्छेयए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए—
नो से कप्पइ गणावच्छेयत्तं अनिक्खिवित्ता अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।
कप्पइ से गणावच्छेइयत्तं निक्खिवित्ता अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।
ते य से नो वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

२२. आयरिय-उवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए—
नो से कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्तं अनिक्खिवित्ता अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।
कप्पइ से आयरिय-उवज्झायत्तं निक्खिवित्ता अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।
नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

ते य से नो वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

२०. यदि कोई भिक्षु स्वगण को छोड़कर अन्यगण को (श्रुतग्रहण करने के लिये) स्वीकार करना चाहे तो उसे—

१. आचार्य, २. उपाध्याय, ३. प्रवर्तक, ४. स्थविर, ५. गणी, ६. गणधर या ७. गणावच्छेदक को पूछे विना अन्य गण को स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

किन्तु आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछकर अन्यगण को स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दें तो अन्यगण को स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दें तो अन्यगण को श्रुत ग्रहण के लिये स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

२१. यदि गणावच्छेदक स्वगण को छोड़कर श्रुतग्रहण के लिये अन्य गण को स्वीकार करना चाहे तो—

उसे अपने पद का त्याग किए विना अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

उसे अपने पद को त्याग करके अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना कल्पता है।

आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछे विना उसे अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

किन्तु आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछकर अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दें तो उसे अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दें तो उसे अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

२२. आचार्य या उपाध्याय यदि स्वगण को छोड़कर अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना चाहें तो—

उन्हें अपने पद को त्याग किए विना अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

अपने पद को त्याग करके अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना कल्पता है।

आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछे विना उन्हें अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

किन्तु आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछकर अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दें तो उन्हें अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दें तो उन्हें अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

विवेचन—इस सूत्र में यह विधान है कि यदि कोई साधु ज्ञानादि की प्राप्ति या विशेष संयम की साधना हेतु अल्पकाल के लिये किसी अन्यगण के आचार्य या उपाध्याय की उपसंपदा स्वीकार करना चाहे तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने आचार्य की स्वीकृति ले। आचार्य [illegible] में न हों तो उपाध्याय की, उनके अभाव में प्रवर्तक की, उनके अभाव में स्थविर की, उनके अभाव में गणी की, उनके अभाव में गणधर की और उनके अभाव में गणावच्छेदक की स्वीकृति लेकर के ही अन्यगण में जाना चाहिए। अन्यथा वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

अध्ययन आदि की समाप्ति के बाद पुनः वह भिक्षु स्वगच्छ के आचार्य के पास आ जाता है क्योंकि वह सदा के लिये नहीं गया है। सदा के लिये जाने का विधान आगे के सूत्रों में किया गया है।

आचार्य, उपाध्याय या गणावच्छेदक आदि पदवीधर भी विशिष्ट अध्ययन हेतु अन्य आचार्य या उपाध्याय के पास जाना चाहें तो वे भी जा सकते हैं किन्तु गच्छ की व्यवस्था बराबर चलती रहे, ऐसी व्यवस्था करके अन्य योग्य भिक्षु को अपना पद सौंप कर और फिर उनकी आज्ञा लेकर के ही जा सकते हैं किन्तु आज्ञा लिये बिना वे भी नहीं जा सकते हैं।

पद सौंपने एवं आज्ञा लेने के कारण इस प्रकार है—

१. अध्ययन करने में समय अधिक भी लग सकता है।
२. गच्छ की चिंता से मुक्त होने पर ही अध्ययन हो सकता है।
३. गच्छ की व्यवस्था के लिये, विनयप्रतिपत्ति के लिये एवं कार्य की सफलता के लिये [illegible] लेना आवश्यक होता है।

अध्ययन समाप्त होने पर पुनः स्वगच्छ में आकर पद ग्रहण कर सकते

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा एवं से कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

जत्थुत्तरियं धम्मविणयं नो लभेज्जा, एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

२४. गणावच्छेइए य गणाओ अवक्कम इच्छेज्जा अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

नो से कप्पइ गणावच्छेइयत्तं अनिक्खिवित्ता अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

कप्पइ से गणावच्छेइयत्तं निक्खिवित्ता अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा, एवं से कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

जत्थुत्तरियं धम्मविणयं नो लभेज्जा एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

२५. आयरिय-उवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

नो से कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्तं अनिक्खिवित्ता अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछे बिना अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नहीं कल्पता है।

किन्तु आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछकर अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दें तो अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दें तो अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नहीं कल्पता है।

यदि वहां संयमधर्म की उन्नति होती हो तो अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

किन्तु जहां संयम-धर्म की उन्नति न होती हो तो अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नहीं कल्पता है।

२५. आचार्य या उपाध्याय यदि स्वगण से निकलकर अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना चाहे तो—

आचार्य, उपाध्याय पद का त्याग किये बिना अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नहीं कल्पता है।

किन्तु उन्हें अपने पदों का त्याग करके अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछे बिना अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नहीं कल्पता है।

किन्तु आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछकर अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दें तो अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दें तो अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नहीं कल्पता है।

यदि वहां संयमधर्म की उन्नति होती हो तो अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

किन्तु जहां संयमधर्म की उन्नति न होती हो तो अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नहीं कल्पता है।

विवेचन—साधु मण्डली में एक साथ बैठना-उठना, खाना-पीना तथा अन्य दैनिक कर्तव्यों का एक साथ पालन करना "संभोग" कहलाता है।

समवायांगसूत्र के समवाय १२ में संभोग के बारह भेद बतलाये गये हैं, वे इस प्रकार हैं—

१. उपधि—वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों को परस्पर देना-लेना।

२. श्रुत—शास्त्र की वाचना देना-लेना।

३. भक्त-पान—परस्पर आहार-पानी या औषध का लेन-देन करना।

४. अञ्जलिप्रग्रह—संयमपर्याय में ज्येष्ठ साधुओं के पास हाथ जोड़कर खड़े रहना या उनके सामने मिलने पर मस्तक झुका कर हाथ जोड़ना।

५. दान—शिष्य का देना-लेना।

६. निमन्त्रण—शय्या, उपधि, आहार, शिष्य एवं स्वाध्याय आदि के लिए निमंत्रण देना।

७. अभ्युत्थान—दीक्षापर्याय में किसी ज्येष्ठ साधु के आने पर खड़े होना।

८. कृतिकर्म—अंजलिग्रहण, आवर्तन, मस्तक झुका कर हाथ जोड़ना एवं सूत्रोच्चारण कर विधिपूर्वक वन्दन करना।

९. वैयावृत्य—अंग-मर्दन आदि शारीरिक सेवा करना, आहार आदि लाकर के देना, वस्त्रादि सीना या धोना, मल-मूत्र आदि परठना एव ये सेवाकार्य अन्य भिक्षु से करवाना।

१०. समवसरण—एक ही उपाश्रय में बैठना सोना रहना आदि प्रवृतियां करना।

११. सन्निपद्या—एक आसन पर बैठना अथवा बैठने के लिए आसन देना।

१२. कथा-प्रबन्ध—सभा में एक साथ बैठकर या खड़े रहकर प्रवचन देना।

एक गण के या अनेक गणों के साधुओं में ये बारह ही प्रकार के परस्पर व्यवहार विहित होते हैं, वे परस्पर "साम्भोगिक" साधु कहे जाते हैं।

जिन साधुओं में "भक्त-पान" के अतिरिक्त ग्यारह व्यवहार होते हैं, वे परस्पर अन्य-साम्भोगिक साधु कहे जाते हैं। आचार-विचार लगभग समान होने से वे समनोज्ञ साधु भी कहे जाते हैं।

समनोज्ञ साधुओं के साथ ही ये ग्यारह या बारह प्रकार के व्यवहार किये जाते हैं किन्तु असमनोज्ञ अर्थात् पार्श्वस्थादि एवं स्वच्छंदाचारी के साथ ये बारह प्रकार के व्यवहार नहीं किये जाते हैं। लोकव्यवहार या अपवाद रूप में गीतार्थ के निर्णय से उनके साथ कुछ व्यवहार किये जा सकते हैं। उनका कोई प्रायश्चित्त नहीं है। अकारण या गीतार्थ के अभाव में ये व्यवहार करने पर प्रायश्चित्त आता है।

गृहस्थ के साथ ये सभी व्यवहार नहीं किये जाते हैं।

साध्वियों के साथ उत्सर्गविधि से छह व्यवहार ही होते हैं एवं छह व्यवहार आपवादिक स्थिति में किये जा सकते हैं।

उत्सर्ग व्यवहार	अपवाद व्यवहार
१. श्रुत (दूसरा)	१. उपधि (पहला)
२. अंजलिप्रग्रह (चौथा)	२. भक्त-पान (तीसरा)
३. शिष्यदान (पांचवां)	३. निमन्त्रण (छठा)
४. अभ्युत्थान (सातवां)	४. वैयावृत्य (नवमा)
५. कृतिकर्म (आठवां)	५. समवसरण (दसवां)
६. कथा-प्रबन्ध (बारहवां)	६. सन्निपद्या (ग्यारहवां)

ये बारह व्यवहार गृहस्थ के साथ करने पर गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

किन्तु उन्हें कारण बताकर ही अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है।

२७. गणावच्छेदक यदि अन्यगण के आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये (या उनका नेतृत्व करने के लिये) जाना चाहे तो—

उसे अपना पद छोड़े बिना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नहीं कल्पता है।

किन्तु अपना पद छोड़कर अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है।

अपने आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछे बिना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नहीं कल्पता है।

किन्तु अपने आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछ कर अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दें तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दें तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नहीं कल्पता है।

उन्हें कारण बताए बिना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नहीं कल्पता है।

किन्तु उन्हें कारण बताकर ही अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है।

२८. आचार्य या उपाध्याय अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये (या उनका नेतृत्व करने के लिये) जाना चाहें तो—

उन्हे अपना पद छोड़ें बिना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नहीं कल्पता है।

किन्तु अपना पद छोड़कर अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है।

उन्हें अपने आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछे बिना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नहीं कल्पता है।

किन्तु आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछकर अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दें तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दें तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नहीं कल्पता है।

उन्हें कारण बताए बिना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नहीं कल्पता है।

किन्तु उन्हें कारण बताकर ही अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है।

विवेचन—प्रथम सूत्रत्रिक में अध्ययन हेतु कुछ समय के लिये अन्य गण में जाने की विधि कही है।

द्वितीय सूत्रत्रिक में संयम-समाधि एवं चित्त-समाधि हेतु संभोग के लिये अन्य गण में जाने की विधि कही है।

तृतीय सूत्रत्रिक में 'उद्दिसावित्तए' क्रिया का प्रयोग करके अन्य आचार्य, उपाध्याय को अपनी उपसंपदा धारण करवाने के लिये जाने का कथन किया गया है।

इस तृतीय सूत्रत्रिक में 'जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा' यह विकल्प न होने से अन्यगण में सदा के लिए सर्वथा जाने का कथन नहीं है।

सदा के लिए जाने का कथन दूसरे त्रिक में किया गया है और अध्ययन करने के लिए उपसंपदा धारण करना प्रथम त्रिक में कहा गया है। अतः इस तृतीय त्रिक में अध्ययन करवाने (आदि) के लिये अन्य गण में जाने का अर्थ करना ही प्रसंगसंगत है।

सूत्र में अंतिम विकल्प है—

'कप्पइ तेसिं कारणं दीवेत्ता' इसका तात्पर्य यह है कि अध्ययन कराने के लिये जाने में ऐसा क्या विशिष्ट कारण है, इसका स्पष्टीकरण करना आवश्यक होता है। क्योंकि विशिष्ट कारणयुक्त परिस्थिति न हो तो अध्ययन कराने वाले का जाना व्यावहारिक रूप से शोभाजनक नहीं है किन्तु अध्ययन करने वाले का आना ही उचित होता है।

अध्ययन कराने हेतु जाने के कुछ कारण—

१. किसी गच्छ के नये बनाये गये आचार्य को श्रुत-अध्ययन करना आवश्यक हो एवं गच्छ का भार अन्य को सौंप कर आना संभव न हो।

२. किसी गच्छ का नया बनाया गया आचार्य किसी का पुत्र-पौत्र-दुहित्र आदि हो एवं उसके अध्ययनार्थ आने की परिस्थिति न हो।

३. किसी गच्छ का आचार्य किसी विकट या उलझनभरी परिस्थिति में हो और वह किसी साधु का पूर्व उपकारी हो।

इत्यादि परिस्थितियों में किसी का जाना आवश्यक हो सकता है। इसी आशय से इस तृतीय सूत्रत्रिक का कथन किया गया है, ऐसा समझना उचित है।

काल-गत भिक्षु के शरीर को परठने की विधि

२९. भिक्खू य राओ वा वियाले वा आहच्च वीसुंभेज्जा, तं च सरीरगं केइ वेयावच्चकरे भिक्खू इच्छेज्जा एगंते बहुफासुए पएसे परिट्ठवेत्तए।

अत्थि य इत्थ केइ सागारियसंतिए उवगरणजाए अचित्ते परिहरणारिहे कप्पइ से सागारिकडं गहाय तं सरीरगं एगंते बहुफासुए पएसे परिट्ठवेत्ता तत्थेव उवनिक्खिवियव्वे सिया ।

२९. यदि किसी भिक्षु का रात्रि में या विकाल में निधन हो जाय तो उस मृत भिक्षु के शरीर को कोई वैयावृत्य करने वाला साधु एकान्त में सर्वथा अचित्त प्रदेश पर परठना चाहे तब—

यदि वहां उपयोग में आने योग्य गृहस्थ का अचित्त उपकरण अर्थात् वहन योग्य काष्ठ हो तो उसे प्रातिहारिक (पुनः लौटाने का कहकर) ग्रहण करे और उससे मृत भिक्षु के शरीर को एकान्त में सर्वथा अचित्त प्रदेश पर परठ कर उस वहन-काष्ठ को यथास्थान रख देना चाहिए ।

विवेचन—भिक्षु जहां पर मासकल्प आदि रहा हो वहां उस निवासकाल में यदि भक्त-प्रत्याख्यानी साधु का, रुग्ण साधु का अथवा सांप आदि के काटने से किसी अन्य साधु का मरण हो जाय तो उस शव को वसति या उपाश्रय में अधिक समय रखना उचित नहीं है, क्योंकि भाष्यकार कहते हैं कि जिस समय मरण हो उसी समय उस शव को बाहर कर देना चाहिए । अतः वहां वैयावृत्य करने वाले साधु यदि चाहें तो वे रात्रि में भी परठने योग्य भूमि पर ले जाकर परठ सकते हैं । परठने के लिये प्रातिहारिक उपकरण की याचना करने का सूत्र में विधान किया गया है । अतः उस ग्रामादि में या उपाश्रय में वहनकाष्ठ या बांस अथवा डोली अथवा आदि जो भी मिल जाए उसका उपयोग किया जा सकता है एवं पुनः उस उपकरण को लौटाया जा सकता है ।।

पादपोपगमन संथारा वाले के शरीर का दाहसंस्कार तो किया ही नहीं जाता है । किन्तु भक्तप्रत्याख्यान संथारे में दाहसंस्कार का विकल्प भी है ।

जहां कोई भी दाहसंस्कार करने वाले न हों वहां साधु द्वारा इस सूत्रोक्त विधि के अनुसार किया जाता है, ऐसा समझना चाहिए । क्योंकि भिक्षु तो दाहसंस्कार की आरम्भजन्य प्रवृत्ति का संकल्प भी नहीं कर सकते ।

किन्तु जहां श्रावकसंघ हो या अन्य श्रद्धालु गृहस्थ हों वहां वे सांसारिक कृत्य समझकर कुछ लौकिक क्रियाएँ करें तो भिक्षु उससे निरपेक्ष रहते हैं ।

तीर्थंकर एवं अन्य अनेक कालधर्मप्राप्त भिक्षुओं के दाहसंस्कार किये जाने का वर्णन आगमों में भी है । अतः भक्तप्रत्याख्यानमरण वाले भिक्षुओं की अन्तिम क्रियाओं के दोनों ही विकल्प हो सकते हैं, यथा—

१. साधु के द्वारा परठना या २. गृहस्थ द्वारा दाहसंस्कार करना ।

भाष्यकार ने शव को परठने योग्य दिशाओं का भी वर्णन किया है । साधुओं के निवासस्थान से दक्षिण-पश्चिमदिशा (नैऋत्यकोण) शव के परठने के योग्य शुभ बतलायी है । इस दिशा में परठने पर संघ में समाधि रहती है । यदि उक्त दिशा में परठने योग्य स्थान न मिले तो दक्षिणदिशा में शव को परठें और उसमें योग्य स्थान न मिलने पर दक्षिण-पूर्वदिशा में परठें । शेष सब दिशाएं शव-परित्याग करने के लिए अशुभ बतलायी गई हैं । उन दिशाओं में शव परठने पर संघ में कलह, भेद और रोगादि की उत्पत्ति सूचित की गई है ।

यदि शव को रात्रि में रखना पड़े तो संघ के साधु रात्रि भर जागरण करते है, शव में कोई भूत-प्रेत प्रविष्ट न हो जाय इसके लिए हाथ और पैर के दोनों अंगुष्ठों को डोरी से बांध देते हैं, मुख-वस्त्र (मुंहपत्ति) से मुख को ढक देते है और अंगुली के मध्य भाग का छेदन कर देते हैं, क्योंकि क्षत-देह में भूत-प्रेतादि प्रवेश नहीं करते हैं।

शव को ले जाते समय आगे की तरफ पांव करना, परठते समय मुंहपत्ति, रजोहरण, चोलपट्टक ये तीन उपकरण अवश्य रखना, इत्यादि बातों का भाष्य में विस्तार से वर्णन किया गया है।

व्यव. उद्दे. ७ में विहार करते हुए मार्ग में कालधर्मप्राप्त भिक्षु के शरीर को परठने की विधि का वर्णन किया गया है और यहां उपाश्रय में काल करने वाले भिक्षु के शरीर को परठने का वर्णन है।

कलह करनेवाले भिक्षु से सम्बन्धित विधि-निषेध

३०. भिक्खू य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं अविओसवेत्ता,
नो से कप्पइ गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा,
नो से कप्पइ बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा,
नो से कप्पइ गामाणुगामं दूइज्जित्तए,
गणाओ वा गणं संकमित्तए, वासावासं वा वत्थए।

जत्थेव अप्पणो आयरिय-उवज्झायं पासेज्जा बहुस्सुय-बब्भागमं, कप्पइ से तस्संतिए आलोइत्तए, पडिक्कमित्तए, निन्दित्तए, गरिहित्तए, विउट्टित्तए, विसोहित्तए, अकरणाए अब्भुट्ठित्तए, अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जित्तए।

से य सुएण पट्ठविए आइयव्वे सिया, से य सुएण नो पट्ठविए नो आइयव्वे सिया।
से य सुएण पट्ठविज्जमाणे नो आइयइ, से निज्जूहियव्वे सिया।

३०. यदि कोई भिक्षु कलह करके उसे उपशान्त न करे तो—
उसे गृहस्थों के घरों में भक्त-पान के लिए निष्क्रमण-प्रवेश करना नहीं कल्पता है।
उसे उपाश्रय से बाहर स्वाध्यायभूमि में या उच्चार-प्रस्रवणभूमि में जाना-आना नहीं कल्पता है।
उसे ग्रामानुग्राम विहार करना नहीं कल्पता है।
उसे एक गण से गणान्तर में संक्रमण करना और वर्षावास रहना नहीं कल्पता है।

किन्तु जहां अपने बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ आचार्य और उपाध्याय हों उनके समीप आलोचना करे, प्रतिक्रमण करे, निन्दा करे, गर्हा करे, पाप से निवृत्त हो, पाप-फल से शुद्ध हो, पुनः पापकर्म न करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हो और यथायोग्य तप रूप प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

वह प्रायश्चित्त यदि श्रुतानुसार दिया जाए तो उसे ग्रहण करना चाहिए किन्तु श्रुतानुसार न दिया जाए तो उसे ग्रहण नहीं करना चाहिये।

यदि श्रुतानुसार प्रायश्चित्त दिये जाने पर भी जो स्वीकार न करे तो उसे गण से निकाल देना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में तीव्र कषाय एवं बहुत बड़े कलह की अपेक्षा से कथन किया गया है।

ऐसी स्थिति में भिक्षु का मन उद्विग्न हो जाता है, चेहरा संतप्त हो जाता है तथा बोलने का विवेक भी नहीं रहता है। अतः उसे सूत्र-निर्दिष्ट कार्यों से उपाश्रय के बाहर जाना उचित नहीं है। किन्तु कषाय भावों की उपशांति होने पर ही गोचरी आदि के लिए जाना उचित है।

सर्वप्रथम कषाय को उपशांत करना और उसके बाद आचार्य आदि जो भी बहुश्रुत वहां हों, उनके पास आलोचना (प्रायश्चित) करके कलह से निवृत्त होना आवश्यक है।

कलह से निवृत्त नहीं होने पर वह संयमभाव से भी च्युत हो जाता है और क्रमशः अधिक से अधिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।

कभी दुराग्रह एवं अनुपशांत होने पर अनुशासन के लिये उसे आलोचना किये बिना प्रायश्चित्त दिया जा सकता है। यदि समझाने पर भी वह न समझे एवं प्रायश्चित्त या अनुशासन स्वीकार न करे तो उसे गच्छ से अलग कर देने का भी सूत्र में विधान किया गया है अर्थात् उसके साथ मांडलिक आहार एवं वंदना आदि व्यवहार नहीं रखा जाता है।

सूत्र में विनय, अनुशासन एवं उपशांति के विधान के साथ और न्यायसंगत सूचना भी गई है—प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाला भिक्षु बहुश्रुत हो एवं प्रायश्चित्तदाता निष्पक्ष भाव न रखकर आगम विपरीत प्रायश्चित्त उसे देने का निर्णय करे तो वह उस प्रायश्चित्त को अस्वीकार कर सकता है।

सूत्र के इस निर्देश से यह स्पष्ट होता है कि सूत्रविपरीत आज्ञा किसी की भी हो, उसे अस्वीकार करने से जिनाज्ञा की विराधना नहीं होती है, किन्तु अगीतार्थ अथवा अबहुश्रुत के लिए यह विधान नहीं है।

परिहार-कल्पस्थित भिक्षु की वैयावृत्य करने का विधान

३१. परिहारकप्पट्ठियस्स णं भिक्खुस्स कप्पइ आयरिय-उवज्झायाणं तद्दिवसं एगगिहंसि पिंडवाय दवावेत्तए।

तेण परं नो से कप्पइ असणं वा जाव साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा कप्पइ से अन्नयरं वेयावडियं करेत्तए, तं जहा—

उट्ठावणं वा, निसीयावणं वा, तुयट्टावणं वा, उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-सिंघाणाणं विगिंचणं वा विसोहणं वा करेत्तए।

अह पुण एवं जाणेज्जा-छिन्नावाएसु पंथेसु आउरे, झिंझिए, पिवासिए, तवस्सी, दुब्बले, किलंते, मुच्छेज्ज वा, पवडेज्ज वा, एवं से कप्पइ असणं वा जाव साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा।

३१. जिस दिन परिहारतप स्वीकार करे उस दिन परिहारकल्पस्थित भिक्षु को एक घर से आहार दिलाना आचार्य या उपाध्याय को कल्पता है।

उसके बाद उसे अशन यावत् स्वादिम देना या बार-बार देना नहीं कल्पता है, किन्तु आवश्यक होने पर वैयावृत्य करना कल्पता है, यथा—

परिहारकल्प-स्थित भिक्षु को उठावे, बिठावे, करवट बदलावे, उसके मल-मूत्र, श्लेष्म, कफ आदि परठे, मल-मूत्रादि से लिप्त उपकरणों को शुद्ध करे।

यदि आचार्य या उपाध्याय यह जाने कि ग्लान, बुभुक्षित, तृषित, तपस्वी, दुर्बल एवं क्लान्त होकर गमनागमन-रहित मार्ग में कहीं मूर्च्छित होकर गिर जाएगा तो उसे अशन यावत् स्वादिम देना या बार-बार देना कल्पता है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में परिहारकल्प-स्थित साधु के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह बतलाया गया है। यहां यह विशेष ज्ञातव्य है कि जो साधु संघ के साधुओं के या गृहस्थों के साथ कलह करे, संयम की विराधना करे और आचार्य के द्वारा प्रायश्चित्त दिये जाने पर भी उसे स्वीकार न करे, ऐसे साधु को परिहारतपरूप प्रायश्चित्त दिया जाता है। उसकी विधि यह है—

प्रशस्त द्रव्य क्षेत्र काल भाव में उसे परिहारतप में स्थापित करना।

तप की निर्विघ्न समाप्ति के लिए पच्चीस श्वासोच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना अथवा मन में चतुर्विंशति-स्तवन का चिन्तन करना। तत्पश्चात् चतुर्विंशतिस्तव को प्रकट बोलकर चतुर्विध संघ को परिहारतप वहन कराने की जानकारी देना।

जिस दिन उस साधु को परिहार तप में स्थापित किया जाता है उस दिन जहां पर किसी उत्सव आदि के निमित्त से सरस आहार बना हो, वहां पर आचार्य उसे साथ ले जाकर मनोज्ञ भक्त-पान दिलाते हैं, जिससे जनसाधारण को यह ज्ञात हो जाता है कि—इसे कोई विशिष्ट तप वहन कराया जा रहा है किन्तु गच्छ से अलग करना आदि कोई असद्व्यवहार नहीं किया जा रहा है। उसके पश्चात् न आचार्य ही उसे भक्त-पान प्रदान करते हैं और न संघ के साधु ही। किन्तु जो साधु उसकी वैयावृत्य के लिए आचार्य द्वारा नियुक्त किया जाता है, वह उसके खान-पान एवं समाधि का ध्यान रखता है।

परिहारतप करने वाला साधु जब स्वयं उठने-बैठने एवं चलने-फिरने आदि कार्य करने में असमर्थ हो जाता है, तो उसकी वैयावृत्य करने वाला साधु उसकी सहायता करता है और गोचरी लाने में असमर्थ हो जाने पर भक्त-पान लाकर के उसे देता है। परिहारतपस्थित साधु तप के पूर्ण होने तक मौन धारण किये रहता है और अपने मन में अपने दोषों का चिन्तन करता हुआ तप को पूर्ण करता है।

परिहारतप एक प्रकार से संघ से बहिष्कृत करने का सूचक प्रायश्चित्त है, फिर भी उसके साथ कैसी सहानुभूति रखी जानी चाहिए, यह इस सूत्र में तथा विवेचन में प्रतिपादन किया गया है।

परिहारिक तप सम्बन्धी अन्य विवेचन निशीथ- उ. ४ तथा उ. २० में भी किया गया है।

महानदी पार करने के विधि-निषेध

३२. णो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाओ उद्दिट्ठाओ गणियाओ वियंजियाओ पंच महण्णवाओ महाणईओ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा, तं जहा—

१. गंगा, २. जउणा, ३. सरयू, ४. एरावई (कोसिया), ५. मही।

अह पुण एवं जाणेज्जा एरावई कुणालाए जत्थ चक्किया एगं पायं जले किच्चा, एगं पायं थले किच्चा, एवं णं कप्पइ अंतोमासस्स दुक्खुत्तो वा, तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा।

जत्थ एवं नो चक्किया एवं णं नो कप्पइ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा, तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा।

३२. निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को महानदी के रूप में कही गई, गिनाई गई प्रसिद्ध और बहुत जल वाली ये पांच महानदियां एक मास में दो या तीन बार तैरकर पार करना या नौका से पार करना नहीं कल्पता है। वे ये हैं—

१. गंगा, २. जमुना, ३. सरयु, ४. ऐरावती (कोशिक) और ५. मही।

किन्तु यदि जाने कि कुणाला नगरी के समीप जो ऐरावती नदी है वह एक पैर जल में और एक पैर स्थल (आकाश) में रखते हुए पार की जा सकती है तो उसे एक मास में दो या तीन बार उतरना या पार करना कल्पता है।

यदि उक्त प्रकार से पार न की जा सके तो उस नदी को एक मास में दो या तीन बार उतरना या पार करना नहीं कल्पता है।

विवेचन—जिन नदियों में निरन्तर जल बहता रहता है और अगाध जल होता है वे 'महानदियां' कही जाती हैं। भारतवर्ष में सूत्रोक्त पांच के अतिरिक्त सिन्धु, ब्रह्मपुत्रा आदि अनेक नदियां हैं, उन सबका महार्णव और महानदी पद से संग्रह कर लिया गया है।

सूत्र में प्रयुक्त 'उत्तरित्तए' पद का अर्थ है—स्वयं जल में प्रवेश करके पार करना तथा 'संतरित्तए' पद का अर्थ है—नाव आदि में बैठकर पार करना।

साधु के स्वयं जल में प्रवेश करके पार करने पर जलकायिक जीवों की विराधना होती ही है और नदी के तल में स्थित कण्टक आदि पैर में लगते हैं। कभी जलप्रवाह के वेग से बह जाने पर आत्म-विराधना भी हो सकती है।

नाव आदि से पार करने पर जल के जीवों की विराधना के साथ-साथ षट्कायिक जीवों की विराधना भी होती है और नाविक के सहयोग पर निर्भर रहना पड़ता है। नाविक नदी पार कराने के पहिले या पीछे शुल्क मांगे तो देने की समस्या भी उत्पन्न होती है, इत्यादि अनेक दोषों की संभावना रहती है।

यदि विशेष कारण से पार जाने-आने का अवसर आ जाय तो एक मास में एक बार ही पार करना चाहिए, क्योंकि सूत्र में दो या तीन बार नावादि से पार उतरने का स्पष्ट निषेध किया है।

अन्य विवेचन के लिए निशीथ- उद्दे. १२ सूत्र ४४ का विवेचन देखें।

कुणाला नगरी और ऐरावती नदी का निर्देश उपलक्षण रूप है, अतः जहां साधुगण मासकल्प या वर्षाकल्प से रह रहे हों और उस नगर के समीप भी कोई ऐसी उथली नदी हो, जिसका कि जल

जंघार्ध प्रमाण बहता हो तो तथा उसके जल में एक पैर रखते हुए और एक पैर जल से ऊपर करते हुए चलना सम्भव हो तो साधु अन्य निर्दोष मार्ग के निकट न होने पर जा सकता है।

यतना से नदी पार करने पर कायोत्सर्ग का प्रायश्चित्त करना आवश्यक है एवं जीव-विराधना के कारण निशीथ उ. १२ के अनुसार चातुर्मासिक प्रायश्चित्त भी आता है।

घास से ढकी हुई छत वाले उपाश्रय में रहने के विधि-निषेध

३३. से तणेसु वा, तणपुंजेसु वा, पलालेसु वा, पलालपुंजेसु वा, अप्पंडेसु जाव मक्कडासंताणएसु, अहे सवणमायाए नो कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा, तहप्पगारे उवस्सए हेमंत-गिम्हासु वत्थए।

३४. से तणेसु वा तणपुंजेसु वा, जाव मक्कडासंताणएसु उप्पिं सवणमायाए, कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए हेमंत-गिम्हासु वत्थए।

३५. से तणेसु वा, तणपुंजेसु वा जाव मक्कडासंताणएसु अहे रयणिमुक्कमउडेसु, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए वासावासं वत्थए।

३६. से तणेसु वा, तणपुंजेसु वा जाव मक्कडासंताणएसु उप्पिं रयणिमुक्कमउडेसु, कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए वासावासं वत्थए।

३३. जो उपाश्रय तृण तृणपुंज पराल या परालपुंज से बना हो और वह अंडे यावत् मकड़ी के जालों से रहित हो तथा उस उपाश्रय के छत की ऊंचाई कानों से नीची हो तो ऐसे उपाश्रय में निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को हेमन्त व ग्रीष्म ऋतु में रहना नहीं कल्पता है।

३४. जो उपाश्रय तृण या तृणपुंज से बना हो यावत् मकड़ी के जालों से रहित हो तथा उस उपाश्रय की छत की ऊंचाई कानों से ऊंची हो तो ऐसे उपाश्रय में निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को हेमन्त तथा ग्रीष्म ऋतु में रहना कल्पता है।

३५. जो उपाश्रय तृण या तृणपुंज से बना हो यावत् मकड़ी के जालों से रहित हो किन्तु उपाश्रय के छत की ऊंचाई खड़े व्यक्ति के सिर से ऊपर उठे सीधे दोनों हाथों जितनी ऊंचाई से नीची हो तो ऐसे उपाश्रय में निर्ग्रन्थ एवं निर्ग्रन्थियों को वर्षावास में रहना नहीं कल्पता है।

३६. जो उपाश्रय तृण या तृणपुंज से बना हो यावत् मकड़ी के जालों से रहित हो और उस उपाश्रय के छत की ऊंचाई खड़े व्यक्ति के सिर से ऊपर उठे सीधे दोनों हाथों जितनी ऊंचाई से अधिक हो, ऐसे उपाश्रय में निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियों को वर्षावास में रहना कल्पता है।

विवेचन—उपर्युक्त चार सूत्रों में से प्रथम सूत्र में यह बतलाया गया है कि जिस उपाश्रय की छत सूखे घास या सूखे धान्य आदि के पलाल भूसा-फूस आदि से बनी हो, जिसमें अण्डे न हों, त्रस जीव भी न हों, हरित अंकुर भी न हों, ओसबिन्दु भी न हों और कीड़ी-मकोड़ी के घर भी न हों, लीलन-फूलन या कीचड़ आदि भी न हो और मकड़ी का जाला आदि भी न हो। किन्तु उस छत की

१. गंगा, २. जउणा, ३. सरयू, ४. एरावई (कोसिया), ५. मही।

अह पुण एवं जाणेज्जा एरावई कुणालाए जत्थ चक्किया एगं पायं जले किच्चा, एगं पायं थले किच्चा, एवं णं कप्पइ अंतोमासस्स दुक्खुत्तो वा, तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा।

जत्थ एवं नो चक्किया एवं णं नो कप्पइ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा, तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा।

३२. निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को महानदी के रूप में कही गई, गिनाई गई प्रसिद्ध और बहुत जल वाली ये पांच महानदियां एक मास में दो या तीन बार तैरकर पार करना या नौका से पार करना नहीं कल्पता है। वे ये हैं—

१. गंगा, २. जमुना, ३. सरयु, ४. ऐरावती (कोशिक) और ५. मही।

किन्तु यदि जाने कि कुणाला नगरी के समीप जो ऐरावती नदी है वह एक पैर जल में और एक पैर स्थल (आकाश) में रखते हुए पार की जा सकती है तो उसे एक मास में दो या तीन बार उतरना या पार करना कल्पता है।

यदि उक्त प्रकार से पार न की जा सके तो उस नदी को एक मास में दो या तीन बार उतरना या पार करना नहीं कल्पता है।

विवेचन—जिन नदियों में निरन्तर जल बहता रहता है और अगाध जल होता है वे 'महानदियां' कही जाती हैं। भारतवर्ष में सूत्रोक्त पांच के अतिरिक्त सिन्धु, ब्रह्मपुत्रा आदि अनेक नदियां हैं, उन सबका महार्णव और महानदी पद से संग्रह कर लिया गया है।

सूत्र में प्रयुक्त 'उत्तरित्तए' पद का अर्थ है—स्वयं जल में प्रवेश करके पार करना तथा 'संतरित्तए' पद का अर्थ है—नाव आदि में बैठकर पार करना।

साधु के स्वयं जल में प्रवेश करके पार करने पर जलकायिक जीवों की विराधना होती ही है और नदी के तल में स्थित कण्टक आदि पैर में लगते हैं। कभी जलप्रवाह के वेग से बह जाने पर आत्म-विराधना भी हो सकती है।

नाव आदि से पार करने पर जल के जीवों की विराधना के साथ-साथ षट्कायिक जीवों की विराधना भी होती है और नाविक के सहयोग पर निर्भर रहना पड़ता है। नाविक नदी पार कराने के पहिले या पीछे शुल्क मांगे तो देने की समस्या भी उत्पन्न होती है, इत्यादि अनेक दोषों की संभावना रहती है।

यदि विशेष कारण से पार जाने-आने का अवसर आ जाय तो एक मास में एक बार ही पार करना चाहिए, क्योंकि सूत्र में दो या तीन बार नावादि से पार उतरने का स्पष्ट निषेध किया है।

अन्य विवेचन के लिए निशीथ. उद्दे. १२ सूत्र ४४ का विवेचन देखें।

कुणाला नगरी और ऐरावती नदी का निर्देश उपलक्षण रूप है, अतः जहां साधुगण मासकल्प या वर्षाकल्प से रह रहे हों और उस नगर के समीप भी कोई ऐसी उथली नदी हो, जिसका कि जल

जंघार्ध प्रमाण बहता हो तो तथा उसके जल में एक पैर रखते हुए और एक पैर जल से ऊपर करते हुए चलना सम्भव हो तो साधु अन्य निर्दोष मार्ग के निकट न होने पर जा सकता है।

यतना से नदी पार करने पर कायोत्सर्ग का प्रायश्चित्त करना आवश्यक है एवं जीव-विराधना के कारण निशीथ उ. १२ के अनुसार चातुर्मासिक प्रायश्चित्त भी आता है।

घास से ढकी हुई छत वाले उपाश्रय में रहने के विधि-निषेध

३३. से तणेसु वा, तणपुंजेसु वा, पलालेसु वा, पलालपुंजेसु वा, अप्पंडेसु जाव मक्कडासंताणएसु, अहे सवणमायाए नो कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा, तहप्पगारे उवस्सए हेमंत-गिम्हासु वत्थए।

३४. से तणेसु वा तणपुंजेसु वा, जाव मक्कडासंताणएसु उप्पिं सवणमायाए, कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए हेमंत-गिम्हासु वत्थए।

३५. से तणेसु वा, तणपुंजेसु वा जाव मक्कडासंताणएसु अहे रयणिमुक्कमउडेसु, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए वासावासं वत्थए।

३६. से तणेसु वा, तणपुंजेसु वा जाव मक्कडासंताणएसु उप्पिं रयणिमुक्कमउडेसु, कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए वासावासं वत्थए।

३३. जो उपाश्रय तृण तृणपुंज पराल या परालपुंज से बना हो और वह अंडे यावत् मकड़ी के जालों से रहित हो तथा उस उपाश्रय के छत की ऊंचाई कानों से नीची हो तो ऐसे उपाश्रय में निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को हेमन्त व ग्रीष्म ऋतु में रहना नहीं कल्पता है।

३४. जो उपाश्रय तृण या तृणपुंज से बना हो यावत् मकड़ी के जालों से रहित हो तथा उस उपाश्रय की छत की ऊंचाई कानों से ऊंची हो तो ऐसे उपाश्रय में निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को हेमन्त तथा ग्रीष्म ऋतु में रहना कल्पता है।

३५. जो उपाश्रय तृण या तृणपुंज से बना हो यावत् मकड़ी के जालों से रहित हो किन्तु उपाश्रय के छत की ऊंचाई खड़े व्यक्ति के सिर से ऊपर उठे सीधे दोनों हाथों जितनी ऊंचाई से नीची हो तो ऐसे उपाश्रय में निर्ग्रन्थ एवं निर्ग्रन्थियों को वर्षावास में रहना नहीं कल्पता है।

३६. जो उपाश्रय तृण या तृणपुंज से बना हो यावत् मकड़ी के जालों से रहित हो और उस उपाश्रय के छत की ऊंचाई खड़े व्यक्ति के सिर से ऊपर उठे सीधे दोनों हाथों जितनी ऊंचाई से अधिक हो, ऐसे उपाश्रय में निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियों को वर्षावास में रहना कल्पता है।

विवेचन—उपर्युक्त चार सूत्रों में से प्रथम सूत्र में यह बतलाया गया है कि जिस उपाश्रय की छत सूखे घास या सूखे धान्य आदि के पलाल भूसा-फूस आदि से बनी हो, जिसमें अण्डे न हों, त्रस जीव भी न हों, हरित अंकुर भी न हों, ओसबिन्दु भी न हों और कीड़ी-मकोड़ी के घर भी न हों, लीलन-फूलन या कीचड़ आदि भी न हो और मकड़ी का जाला आदि भी न हो। किन्तु उस छत की

ऊंचाई साधु के कानों से नीची हो तो ऐसे उपाश्रय में साधु या साध्वियों को हेमन्त और ग्रीष्म काल में भी नहीं रहना चाहिए।

दूसरे सूत्र में बतलाया है—

उक्त प्रकार के उपाश्रय की ऊंचाई यदि साधु के कानों से ऊंची हो तो उसमें साधु और साध्वियां हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में ठहर सकते हैं।

तीसरे सूत्र में यह बतलाया है कि उक्त प्रकार के शुद्ध उपाश्रय की ऊंचाई यदि रत्नि-मुक्तमुकुट से नीची हो तो उस उपाश्रय में वर्षावास बिताना साधु-साध्वियों को नहीं कल्पता है।

चौथे सूत्र में यह बताया गया है कि यदि छत की ऊंचाई रत्नि-मुक्तमुकुट से ऊंची हो तो उसमें साधु-साध्वी वर्षावास रह सकते हैं।

रत्नि नाम हाथ का है। दोनों हाथों को ऊंचा करके दोनों अंजलियों को मिलाने पर मुकुट जैसा आकार हो जाता है, अतः उसे रत्नि-मुक्तमुकुट कहते हैं।

कान की ऊंचाई से भी कम ऊंचाई वाले घास की छत वाले मकान में खड़े होने पर घास के स्पर्श से घास या मिट्टी आदि के कण बार-बार नीचे गिरते रहते हैं। अतः वहां हेमन्त ग्रीष्म ऋतु में एक-दो रात रह कर विहार कर देना चाहिए।

चातुर्मास में लम्बे समय तक रहना निश्चित होता है। इतने लम्बे समय में हाथ ऊंचे करने का अनेक बार प्रसंग आ सकता है, अतः हाथ ऊंचे करने पर घास का स्पर्श न हो इतने ऊंचे घास की छत वाले मकान में चातुर्मास किया जा सकता है।

नीची छत वाले उपाश्रय में रहने के निषेध का कारण भाष्य में यह भी बतलाया है कि साधु-साध्वियों को इतने नीचे उपाश्रय में आते-जाते झुकना पड़ेगा, भीतर भी सीधी रीति से नहीं खड़ा हो सकने के कारण वन्दनादि करने में भी बाधा आएगी। सीधे खड़े होने पर सिर के टकराने का या ऊपर रहने वाले बिच्छू आदि के डंक लगने की सम्भावना रहती है।

सूत्र-पठित "अप्पंडेसु अप्पपाणेसु" आदि पदों में 'अल्प' शब्द अभाव अर्थ में है।

बीज या मृत्तिकादि से युक्त तृणादि वाले उपाश्रय में ठहरने पर चतुर्लघुक और अनन्तकाय-पनक आदि युक्त उपाश्रय में ठहरने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है।

इसी प्रकार प्रतिपादित ऊंचाई से नीचे उपाश्रय में रहने पर भी चतुर्लघु प्रायश्चित्त आता है।

भाष्यकार ने यह भी बताया है कि वर्षावास में उक्त प्रकार के उपाश्रय में रहते हुए यदि तृणाच्छादन में सांप का निवास प्रतीत हो तो उसे विद्या से मंत्रित कर दे। यदि ऐसा न कर सके तो उक्त आच्छादन के नीचे चंदोवा बंधवा दे। ऐसा भी सम्भव न हो तो ऊपर बांस की चटाई लगा देना चाहिए, जिससे कि ऊपर से सांप द्वारा झटपकर काटने का भय न रहे, यदि चटाई लगाना भी सम्भव न हो तो रहने वाले साधुओं को निम्नमिकिका का उपयोग करना चाहिए।

उपर्युक्त सर्व कथन उस उपाश्रय या वसति का है, जो कि घास-फूस आदि से निर्मित और आच्छादित है या जिसके ऊपरी भाग में घास आदि रखा हो, किन्तु पत्थर आदि से निर्मित मकान में रहने का कोई निषेध नहीं है। फिर भी योग्य ऊंचाई वाले मकान में रहना संयम एवं शरीर के

लिये समाधिकारक होता है। इसलिए योग्य ऊंचाई वाली छत हो, ऐसे मकान में ही यथासम्भव ठहरना चाहिए।

चौथे उद्देशक का सारांश

सूत्र १ हस्तकर्म, मैथुनसेवन एवं रात्रिभोजन का अनुद्घातिक प्रायश्चित्त आता है।

२ तीन प्रकार के दोष सेवन करने पर पारांचिक प्रायश्चित्त आता है।

३ तीन प्रकार के दोष सेवन करने पर अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त आता है।

४-९ तीन प्रकार के नपुंसकों को दीक्षित, मुंडित या उपस्थापित करना आदि नहीं कल्पता।

१०-११ तीन अवगुण वाले को वाचना नही देना चाहिए, किन्तु तीन गुण वाले को वाचना देना योग्य है।

१२-१३ तीन प्रकार के व्यक्तियों को समझाना कठिन होता है और तीन प्रकार के व्यक्तियों को समझाना सरल होता है।

१४-१५ सेवा करने वाले के अभिप्राय से स्पर्श आदि करने पर भिक्षु मैथुन सेवन के संकल्प युक्त सुखानुभव करे तो उसे चतुर्थ व्रत के भंग होने का प्रायश्चित्त आता है।

१६ प्रथम प्रहर में ग्रहण किया आहार-पानी चतुर्थ प्रहर में नहीं रखना।

१७ दो कोस से आगे आहार-पानी नहीं ले जाना।

१८ अनाभोग से ग्रहण किये अनेषणीय आहारादि को नहीं खाना, किन्तु अनुपस्थापित नवदीक्षित भिक्षु खा सकता है।

१९ प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधुओं को कोई भी औद्देशिक आहार ग्रहण करना नहीं कल्पता है, अन्य तीर्थंकर के साधुओं को कल्पता है।

२०-२८ अन्य गण में अध्ययन करने हेतु, गणपरिवर्तन करने हेतु एवं अध्ययन कराने हेतु जाना हो तो आचार्य आदि की आज्ञा लेकर सूत्रोक्त विधि से कोई भी साधु या पदवीधर जा सकता है।

२९ कालधर्मप्राप्त भिक्षु को उसके साधर्मिक साधु प्रतिहारिक उपकरण लेकर गांव के बाहर एकान्त में परठ सकते हैं।

३० क्लेश को उपशांत किये बिना भिक्षु को गोचरी आदि नहीं जाना चाहिये। क्लेश को उपशांत करने पर यथोचित प्रायश्चित्त ही देना एवं लेना चाहिए।

३१ आचार्य परिहारतप वहन करने वाले को साथ ले जाकर एक दिन गोचरी दिलवाए, बाद में आवश्यक होने पर ही वैयावृत्य आदि कर सकते है।

३२ अधिक प्रवाह वाली नदियों को एक मास में एक बार से अधिक बार पार नहीं करना चाहिए, किन्तु जंघार्ध प्रमाण जलप्रवाह वाली नदी को सूत्रोक्त विधि से एक मास में अनेक बार भी पार किया जा सकता है।

सूत्र ३३-३६ घास के बने मकानों की ऊंचाई कम हो तो वहां नहीं ठहरना चाहिए, किन्तु अधिक ऊंचाई हो तो ठहरा जा सकता है।

उपसंहार

इस उद्देशक में—

सूत्र १-३ अनुद्घातिक, पारांचिक, अनवस्थाप्य प्रायश्चित्तों का,
४-१३ दीक्षा, वाचना एवं शिक्षा के योग्यायोग्यों का,
१४-१५ मैथुन भावों के प्रायश्चित्त का,
१६-१७ आहार के क्षेत्र, काल की मर्यादा का,
१८ अनेषणीय आहार के उपयोग का,
१९ कल्पस्थित अकल्पस्थित के कल्पनीयता का,
२०-२८ अध्ययन आदि के लिए अन्य गण में जाने का,
२९ कालधर्मप्राप्त भिक्षु को एकान्त में परठने का,
३० क्लेश युक्त भिक्षु के रखने योग्य विवेक का,
३१ परिहारतप वाले भिक्षु के प्रति कर्तव्यों का,
३२ नदी पार करने के कल्प्याकल्प्य का,
३३-३६ घास वाले मकानों के कल्प्याकल्प्य का,
इत्यादि विषयों का कथन किया गया है।

॥ चौथा उद्देशक समाप्त ॥

पांचवां उद्देशक

विकुर्वित दिव्य शरीर के स्पर्श से उत्पन्न मैथुनभाव का प्रायश्चित्त

१. देवे य इत्थिरूवं विउव्वित्ता निग्गंथं पडिग्गाहिज्जा, तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा मेहुण-पडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

२. देवे य पुरिसरूवं विउव्वित्ता निग्गंथिं पडिग्गाहिज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

३. देवी य इत्थिरूवं विउव्वित्ता निग्गंथं पडिग्गाहेज्जा, तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा मेहुण-पडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

४. देवी य पुरिसरूवं विउव्वित्ता निग्गंथिं पडिग्गाहेज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा मेहुण-पडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

१. यदि कोई देव विकुर्वणाशक्ति से स्त्री का रूप बनाकर निर्ग्रन्थ का आलिंगन करे और निर्ग्रन्थ उसके स्पर्श का अनुमोदन करे तो (मैथुनसेवन नहीं करने पर भी) भावों से मैथुनसेवन के दोष को प्राप्त होता है। अतः वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

२. यदि कोई देव विकुर्वणा शक्ति से पुरुष का रूप बनाकर निर्ग्रन्थी का आलिंगन करे और निर्ग्रन्थी उसके स्पर्श का अनुमोदन करे तो (मैथुनसेवन नहीं करने पर भी) भावों से मैथुनसेवन के दोष को प्राप्त होती है। अतः वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त की पात्र होती है।

३. यदि कोई देवी विकुर्वणा शक्ति से स्त्री का रूप बनाकर निर्ग्रन्थ का आलिंगन करे और निर्ग्रन्थ उसके स्पर्श का अनुमोदन करे तो (मैथुनसेवन नहीं करने पर भी) भावों से मैथुनसेवन के दोष को प्राप्त होता है। अतः वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

४. यदि कोई देवी पुरुष का रूप बनाकर निर्ग्रन्थी का आलिंगन करे और निर्ग्रन्थी उसके स्पर्श का अनुमोदन करे तो (मैथुनसेवन नहीं करने पर भी) भावों से मैथुनसेवन के दोष को प्राप्त होती है। अतः वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त की पात्र होती है।

विवेचन—इन चार सूत्रों में केवल मैथुनभावों का प्रायश्चित्त कहा गया है।

किसी निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी को देखकर कोई देव या देवी मनुष्य या मानुषी का रूप बनाकर मैथुन के संकल्पों से निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी का आलिंगन आदि करे और इससे विचलित होकर निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी आलिंगनादि से सुखानुभव करे या मैथुनसेवन की अभिलाषा करे तो वे गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

सूत्र ३३-३६ घास के बने मकानों की ऊंचाई कम हो तो वहां नहीं ठहरना चाहिए, किन्तु अधिक ऊंचाई हो तो ठहरा जा सकता है।

उपसंहार

इस उद्देशक में—

सूत्र १-३ अनुद्घातिक, पारांचिक, अनवस्थाप्य प्रायश्चित्तों का,
४-१३ दीक्षा, वाचना एवं शिक्षा के योग्यायोग्यों का,
१४-१५ मैथुन भावों के प्रायश्चित्त का,
१६-१७ आहार के क्षेत्र, काल की मर्यादा का,
१८ अनैषणीय आहार के उपयोग का,
१९ कल्पस्थित अकल्पस्थित के कल्पनीयता का,
२०-२८ अध्ययन आदि के लिए अन्य गण में जाने का,
२९ कालधर्मप्राप्त भिक्षु को एकान्त में परठने का,
३० क्लेश युक्त भिक्षु के रखने योग्य विवेक का,
३१ परिहारतप वाले भिक्षु के प्रति कर्त्तव्यों का,
३२ नदी पार करने के कल्प्याकल्प्य का,
३३-३६ घास वाले मकानों के कल्प्याकल्प्य का,
इत्यादि विषयों का कथन किया गया है।

॥ चौथा उद्देशक समाप्त ॥

पांचवां उद्देशक

विकुर्वित दिव्य शरीर के स्पर्श से उत्पन्न मैथुनभाव का प्रायश्चित्त

१. देवे य इत्थिरूवं विउव्वित्ता निग्गंथं पडिग्गाहिज्जा, तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा मेहुण-पडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।

२. देवे य पुरिसरूवं विउव्वित्ता निग्गंथिं पडिग्गाहिज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।

३. देवी य इत्थिरूवं विउव्वित्ता निग्गंथं पडिग्गाहेज्जा, तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा मेहुण-पडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।

४. देवी य पुरिसरूवं विउव्वित्ता निग्गंथिं पडिग्गाहेज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा मेहुण-पडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।

१. यदि कोई देव विकुर्वणाशक्ति से स्त्री का रूप बनाकर निर्ग्रन्थ का आलिंगन करे और निर्ग्रन्थ उसके स्पर्श का अनुमोदन करे तो (मैथुनसेवन नहीं करने पर भी) भावों से मैथुनसेवन के दोष को प्राप्त होता है । अतः वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है ।

२. यदि कोई देव विकुर्वणा शक्ति से पुरुष का रूप बनाकर निर्ग्रन्थी का आलिंगन करे और निर्ग्रन्थी उसके स्पर्श का अनुमोदन करे तो (मैथुनसेवन नहीं करने पर भी) भावों से मैथुनसेवन के दोष को प्राप्त होती है । अतः वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त की पात्र होती है ।

३. यदि कोई देवी विकुर्वणा शक्ति से स्त्री का रूप बनाकर निर्ग्रन्थ का आलिंगन करे और निर्ग्रन्थ उसके स्पर्श का अनुमोदन करे तो (मैथुनसेवन नहीं करने पर भी) भावों से मैथुनसेवन के दोष को प्राप्त होता है । अतः वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है ।

४. यदि कोई देवी पुरुष का रूप बनाकर निर्ग्रन्थी का आलिंगन करे और निर्ग्रन्थी उसके स्पर्श का अनुमोदन करे तो (मैथुनसेवन नहीं करने पर भी) भावों से मैथुनसेवन के दोष को प्राप्त होती है । अतः वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त की पात्र होती है ।

विवेचन—इन चार सूत्रों में केवल मैथुनभावों का प्रायश्चित्त कहा गया है ।

किसी निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी को देखकर कोई देव या देवी मनुष्य या मानुषी का रूप बनाकर मैथुन के संकल्पों से निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी का आलिंगन आदि करे और इससे विचलित होकर निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी आलिंगनादि से सुखानुभव करे या मैथुनसेवन की अभिलाषा करे तो वे गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त के भागी होते हैं ।

तात्पर्य यह है कि देव या देवी के विकुर्वित स्त्री रूप के स्पर्श का अनुमोदन करने से साधु को प्रायश्चित्त आता है और देव या देवी के विकुर्वित पुरुष रूप के स्पर्श का अनुमोदन करने से साध्वी को प्रायश्चित्त आता है।

कलहकृत आगंतुक भिक्षु के प्रति कर्तव्य

५. भिक्खु य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं अविओसवेत्ता इच्छेज्जा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए कप्पइ तस्स पंच राइंदियं छेयं कट्टु परिणिव्वाविय-परिणिव्वाविय दोच्चं पि तमेवं गणं पडिनिज्जाएयव्वे सिया, जहा वा तस्स गणस्स पत्तियं सिया।

५. भिक्षु कलह करके उसे उपशान्त किये बिना अन्यगण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो उसे पांच दिन-रात की दीक्षा का छेद देकर और सर्वथा शान्त-प्रशान्त करके पुनः उसी गण में लौटा देना चाहिये अथवा जिस गण से वह आया है, उस गण को जिस प्रकार से प्रतीति हो उसी तरह करना चाहिए।

विवेचन—इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि यदि कोई भिक्षु किसी कारण से क्रोधित होकर अन्यगण में चला जावे तो उस गण के स्थविरों को चाहिए कि उसे उपदेश देकर शान्त करे और पांच दिन की दीक्षा का छेदन कर पूर्व के गण में वापिस भेज दें। जिससे उस गण के निर्ग्रन्थ भिक्षुओं को यह विश्वास हो जाए कि अब इस निर्ग्रन्थ भिक्षु का क्रोध उपशान्त हो गया है।

यदि उपाध्याय किसी कारण से क्रोधित होकर अन्यगण में चले जाएँ तो उस गण के स्थविर उन्हें भी कोमल वचनों से प्रशान्त करें और उनकी दश अहोरात्र प्रमाण दीक्षा का छेदन कर उन्हें पूर्व के गण में लौटा दें।

यदि आचार्यादि भी क्रोधित होकर अन्यगण में चले जाएँ तो उन्हें भी उस गण के स्थविर कोमल वचनों से शान्त करें और उनकी पन्द्रह अहोरात्र प्रमाण दीक्षा का छेदन कर उन्हें पूर्व के गण में लौटा दें।

कषाय का व्यापक प्रभाव बताते हुए भाष्यकार ने कहा कि देशोन कोटि (करोड़) पूर्वकाल तक तपश्चरण करके जिस चारित्र का उपार्जन किया है वह एक मुहूर्त प्रमाण काल तक की गई कषाय से नष्ट हो जाता है। अतः निर्ग्रन्थ भिक्षु को कषाय नहीं करना चाहिए। यदि कदाचित् कषाय उत्पन्न हो जाए तो उसे तत्काल शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अपने गण को छोड़कर अन्य गण में आये हुए भिक्षु आदि समझाने पर भी पुनः अपने गण में जाना न चाहें तो उस गण के स्थविर सामान्य भिक्षु की दश अहोरात्र, उपाध्याय की पन्द्रह अहोरात्र और आचार्य की बीस अहोरात्र दीक्षा का छेदन कर अपने गण में रख सकते हैं, किन्तु रखने के पूर्व सम्भव हो तो उस गण से उसकी जानकारी एवं स्वीकृति प्राप्त कर लेनी चाहिए।

रात्रिभोजन के अतिचार का विवेक एवं प्रायश्चित्तविधान

६. भिक्खू य उग्गयवित्तीए अणत्थमिय-संकप्पे संथडिए निव्वितिगिच्छे असणं वा जाव साइमं वा पडिग्गाहेत्ता आहारं आहारेमाणे अह पच्छा जाणेज्जा—

७. सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त से पूर्व भिक्षाचर्या करने की प्रतिज्ञा वाला किन्तु सूर्योदय या सूर्यास्त के सम्बन्ध में संदिग्ध-समर्थ-भिक्षु अशन यावत् स्वादिम ग्रहण कर आहार करता हुआ यदि यह जाने कि—

सूर्योदय नहीं हुआ है या सूर्यास्त हो गया है, तो उस समय जो आहार मुंह में है, हाथ में है, पात्र में है उसे परठ दे तथा मुख आदि की शुद्धि कर ले तो वह जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

यदि उस आहार को वह स्वयं खावे या अन्य निर्ग्रन्थ को दे तो उसे रात्रिभोजनसेवन का दोष लगता है अतः वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

८. सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त से पूर्व भिक्षाचर्या करने की प्रतिज्ञा वाला तथा सूर्योदय या सूर्यास्त के सम्बन्ध में असंदिग्धग्र-समर्थ-भिक्षु अशन यावत् स्वादिम ग्रहण कर आहार करता हुआ यदि यह जाने कि—सूर्योदय नहीं हुआ है या सूर्यास्त हो गया है तो उस समय जो आहार मुंह में है, हाथ में है, पात्र में है उसे परठ दे तथा मुख आदि की शुद्धि कर ले तो वह जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

यदि उस आहार को वह स्वयं खावे या अन्य निर्ग्रन्थ को दे तो उसे रात्रिभोजनसेवन का दोष लगता है। अतः वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

९. सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त से पूर्व भिक्षाचर्या करने की प्रतिज्ञा वाला किन्तु सूर्योदय या सूर्यास्त के सम्बन्ध में संदिग्ध-असमर्थ-भिक्षु अशन यावत् स्वादिम ग्रहण कर आहार करता हुआ यह जाने कि 'सूर्योदय नहीं हुआ है या सूर्यास्त हो गया है तो उस समय जो आहार मुंह में है, हाथ मे है, पात्र में है उसे परठ दे तथा मुख आदि की शुद्धि कर ले तो वह जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

यदि उस आहार को वह स्वयं खावे या अन्य निर्ग्रन्थ को दे तो उसे रात्रिभोजनसेवन का दोष लगता है। अतः वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विवेचन—प्रस्तुत इन चार सूत्रों में—

प्रथम सूत्र संस्तृत एवं निर्विचिकित्स निर्ग्रन्थ की अपेक्षा से कहा गया है।
द्वितीय सूत्र संस्तृत एवं विचिकित्स निर्ग्रन्थ की अपेक्षा से कहा गया है।
तृतीय सूत्र असंस्तृत एवं निर्विचिकित्स निर्ग्रन्थ की अपेक्षा से कहा गया है।
चतुर्थ सूत्र असंस्तृत एवं विचिकित्स निर्ग्रन्थ की अपेक्षा से कहा गया है।

संस्तृत—शब्द का अर्थ है—समर्थ, स्वस्थ और प्रतिदिन पर्याप्तभोजी भिक्षु।

असंस्तृत—शब्द का अर्थ है—असमर्थ, अस्वस्थ तथा तेला आदि तपश्चर्या करने वाला तपस्वी भिक्षु।

असंस्तृत तीन प्रकार के होते हैं—१. तप-असंस्तृत, २. ग्लान-असंस्तृत, ३. अध्वान-असंस्तृत।

१. तप-असंस्तृत—तपश्चर्या करने से जो निर्ग्रन्थ असमर्थ हो गया है।
२. ग्लान-असंस्तृत—रोग आदि से जो निर्ग्रन्थ अशक्त हो गया है।
३. अध्वान-असंस्तृत—मार्ग की थकान से जो निर्ग्रन्थ क्लान्त हो गया है।

विचिकित्स—पद का का अर्थ है सूर्योदय हुआ या नहीं अथवा सूर्यास्त हुआ या नहीं, इस प्रकार के संशय वाला भिक्षु।

निर्विचिकित्स—पद का अर्थ है संशयरहित—अर्थात् 'सूर्योदय हो गया है' या 'सूर्यास्त नहीं हुआ है'—इस प्रकार के निश्चय वाला निर्ग्रन्थ।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियां एक देश से अन्य देश में जाते समय बीच में पड़ने वाले बड़े अरण्य-प्रदेशों में आत्मसुरक्षा के लिए कदाचित सार्थवाहों के साथ विहार करें। वह सार्थवाह जहां सूर्यास्त हो वहीं पड़ाव डालकर ठहर जावे। सूर्योदय होते ही आगे चल देवे। ऐसे पड़ावों पर सामने से आने-जाने वाले सार्थवाह भी कभी-कभी एक साथ ही ठहर जावें। उस समय मेघाच्छन्न आकाश में सूर्य न दिखने पर सूर्योदय का भ्रम हो जाने से सार्थवाह आगे के लिए प्रस्थान कर दे तब नया आने वाला सार्थवाह निर्ग्रन्थों या निर्ग्रन्थियों को आहार देना चाहे तो 'सूर्योदय हो गया है' इस संकल्प से आहारादि लेना सम्भव है और उसका सेवन करना भी सम्भव है।

उसी समय बादल दूर हो जाए और उषाकालीन प्रभा दिख जाए या सूर्योदय होता हुआ दिख जाए तो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी को वह आहार परठ देना चाहिए। अन्यथा वह सूत्रोक्त प्रायश्चित्त का भागी होता है। अन्य विवेचन निशीथ उ. १०, सूत्र २८ में देखें। वहां भी ये चार सूत्र इसी प्रकार के कहे गये हैं।

उद्गाल सम्बन्धी विवेक एवं प्रायश्चित्त-विधान

१०. इह खलु निग्गंथस्स वा निग्गंथीए वा राओ वा वियाले वा सपाणे सभोयणे उग्गाले आगच्छेज्जा, तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा नो अइक्कमइ।

तं उग्गलित्ता पच्चोगिलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

१०. यदि किसी निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी को रात्रि में या विकाल (सन्ध्या) में पानी और भोजन सहित उद्गाल आये तो उस समय वह उसे थूक दे और मुंह शुद्ध कर ले तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं रहता है।

यदि वह उद्गाल को निगल जावे तो उसे रात्रि-भोजनसेवन का दोष लगता है और वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विवेचन—जब कभी कोई साधु मात्रा से अधिक खा-पी लेता है, तब उसे उद्गाल आता है और पेट का अन्न और पान मुख में आ जाता है। इसलिए गुरुजनों का उपदेश है कि साधु को सदा मात्रा से कम ही खाना-पीना चाहिए।

कदाचित् साधु के अधिक मात्रा में आहार-पान हो जाए और रात में या सायंकाल में उद्गाल आ जाए तो उसे सूत्रोक्त विधि के अनुसार वस्त्र आदि से मुख को शुद्ध कर लेना चाहिए। जो उस उगाल आये भक्त-पान को वापस निगल जाता है वह सूत्रोक्त प्रायश्चित्त का भागी होता है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने एक रूपक दिया है।

जैसे कड़ाही में मात्रा से कम दूध आदि ओंटाया या रांधा जाता है तो वह उसके भीतर ही उबलता पकता रहता है, बाहर नहीं आता किन्तु जब कड़ाही में भर-पूर दूध या अन्य कोई पदार्थ भर कर ओंटाया या पकाया जाता है तब उसमें उबाल आकर कड़ाही से बाहर निकल जाता है और कभी तो वह चूल्हे की आग तक को बुझा देता है।

इसी प्रकार मर्यादा से अधिक आहार करने में उद्गाल आ जाता है और कम आहार करने से उद्गाल नहीं आता है। ऐसा ही प्रायश्चित्तसूत्र निशीथ उ. १० में भी है।

संसक्त आहार के खाने एवं परठने का विधान

११. निग्गंथस्स य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स अंतो पडिग्गहंसि पाणाणि वा, बीयाणि वा, रए वा परियावज्जेज्जा, तं च संचाएइ विगिंचित्तए वा विसोहित्तए वा, तं पुव्वामेव विगिंचिय विसोहिय, तओ संजयामेव भुंजेज्ज वा, पिएज्ज वा।

तं च नो संचाएइ विगिंचित्तए वा, विसोहित्तए वा, तं नो अप्पणो भुंजेज्जा, नो अन्नेसिं दावए, एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया।

११. गृहस्थ के घर में आहार-पानी के लिए प्रविष्ट हुए साधु के पात्र में कोई प्राणी, बीज या सचित्त रज पड़ जाए और यदि उसे पृथक् किया जा सके, विशोधन किया जा सके तो उसे पहले पृथक् करे या विशोधन करे, उसके बाद यतनापूर्वक खावे या पीवे।

यदि उसे पृथक् करना या विशोधन करना सम्भव न हो तो उसका न स्वयं उपभोग करे और न दूसरों को दे, किन्तु एकांत और प्रासुक स्थंडिल-भूमि में प्रतिलेखन प्रमार्जन करके परठ दे।

विवेचन—गोचरी के लिए गए हुए साधु या साध्वी को सर्वप्रथम आहार देने वाले व्यक्ति के हाथ में लिए हुए अन्नपिंड का निरीक्षण करना चाहिए कि यह शुद्ध है या नहीं। जीवादि तो उसमें नहीं हैं? यदि शुद्ध एवं जीवरहित दिखे तो ग्रहण करे, अन्यथा नहीं। देख कर या शोध कर यतना से ग्रहण करते हुए उक्त अन्न-पिंड के पात्र में दिये जाने पर पुनः देखना चाहिए कि पात्र में अन्नपिंड देते समय कोई मक्खी आदि तो नहीं दब गई है, या ऊपर से आकर तो नहीं बैठ गई है, या अन्य कीड़ी आदि तो नहीं चढ़ गई है? यदि साधु या साध्वी इस प्रकार सावधानीपूर्वक निरीक्षण न करे तो लघुमास के प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

कदाचित् गृहस्थ द्वारा आहार देते समय साधु का उपयोग अन्यत्र हो और गृहस्थ के घर से निकलते ही उसका ध्यान आहार की ओर जावे कि मैं पात्र में लेते समय जीवादि का निरीक्षण नहीं कर पाया हूं तो सात कदम जाए जितने समय के भीतर ही किसी स्थान पर खड़े होकर उसका निरीक्षण करना चाहिए। यदि उपाश्रय समीप हो तो वहां जाकर निरीक्षण करना चाहिए और निरीक्षण करने पर यदि त्रस प्राणी चलते-फिरते दीखें तो उन्हें यतना से एक-एक करके बाहर निकाल देना चाहिए। इसी प्रकार यदि आहार में मृत जीव दीखे या सचित्त बीजादि दीखे अथवा सचित्त-पत्रादि से मिश्रित आहार दीखे और उनका निकालना संभव हो तो विवेकपूर्वक निकाल देना चाहिए। यदि उनका निकालना संभव न हो तो उसे एकान्त निर्जीव भूमि पर परठ देना चाहिए।

भाष्यकार ने यह भी कहा है कि परठते समय साधु इस बात का भी ध्यान रखे कि जिस गृहस्थ के यहां से आहार लाये हैं वह देख तो नही रहा है ? उसकी आँखों से ओझल ही परठना चाहिए। अन्यथा वह निन्दा करेगा कि देखो ये साधु कैसे उन्मत्त हैं जो ऐसे दुर्लभ आहार को ग्रहण करके भी फेंक देते हैं।

इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि कोई भी सचित्त पदार्थ या सचित्तमिश्रित खाद्य पदार्थ असावधानी से ग्रहण कर लिया जाए और सचित्त पदार्थ शोधन हो सके तो उनका शोधन करके अचित्त आहार खाया जा सकता है। यदि सचित्त पदार्थ ऐसे मिश्रित हों कि उनका निकालना सम्भव न हो तो वह मिश्रित आहार भी परठ देना चाहिए।

जैसे—१. दही में प्याज के टुकड़े, २. शक्कर में नमक, ३. सूखे ठंडे चूरमे आदि में गिरे हुए खशखश आदि के बीज, ४. घेवर या फीणी आदि में कीड़ियों आदि का निकालना सम्भव कम होता है और फूलन एवं रसज जीवों से संसक्त आहार भी शुद्ध नहीं हो सकता है, अतः ये परठने योग्य हैं।

सचित्त जल-बिन्दु गिरे आहार को खाने एवं परठने का विधान

१२. निग्गंथस्स य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स अंतो पडिग्गहंसि दए वा, दगरए वा, दगफुसिए वा परियावज्जेज्जा से य उसिणभोयणजाए परिभोत्तव्वे सिया।

से य सीयभोयणजाए तं नो अप्पणा भुंजेज्जा, नो अन्नेसिं दावए, एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया।

१२. गृहस्थ के घर में आहार-पानी के लिए प्रविष्ट साधु के पात्र में यदि सचित्त जल, जल-बिन्दु या जलकण गिर जाए और वह आहार उष्ण हो तो उसे खा लेना चाहिए।

वह आहार यदि शीतल हो तो न खुद खावे न दूसरों को दे किन्तु एकान्त और प्रासुक स्थंडिलभूमि में परठ देना चाहिए।

विवेचन—पूर्व सूत्र में संसक्त आहार सम्बन्धी विधि का कथन किया गया है और प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि वर्षा से या अन्य किसी की असावधानी से ग्रहण किए हुए आहार पर सचित्त पानी या पानी की बूंदें अथवा बारीक छींटे उछलकर गिर जाएँ तो भिक्षु यह जानकारी करे कि वह आहार उष्ण है या शीतल ? यदि उष्ण है तो पानी की बूंदें अचित्त हो जाने से उस आहार को खाया जा सकता है। यथा—खीचड़ी, दूध, दाल आदि गर्म पदार्थ।

यदि ग्रहण किया हुआ भोजन शीतल है तो उसे नहीं खाना चाहिये किन्तु परठ देना चाहिए, यथा—खाखरा रोटी आदि।

इस सूत्र के भाष्य—गाथा. ५९१०–५९१२ में स्पष्टीकरण करते हुए शीतल आहार की मात्रा एवं स्पर्श आदि के विकल्प (भंग) किए हैं एवं गिरी हुई पानी की बूंदों आदि को खाद्य पदार्थ से शस्त्रपरिणत होने या नहीं होने की अवस्थाएं बताई गई हैं। उनका सारांश यह है—'व्याख्यातो विशेषप्रतिपत्तिः' अतः पानी की मात्रा एवं शीत या उष्ण आहार की मात्रा और स्पर्श आदि के

अनुपात से पानी के अचित्त होने का स्वतः निर्णय करना चाहिए एवं अचित्त हो जाए तो खाना चाहिए और सचित्त रहे तो परठ देना चाहिए।

आगमों में अनेक खाद्य पदार्थों के अंश युक्त पानी को अचित्त एवं ग्राह्य बताया गया है, अतः शीतल आहार पर गिरी हुई पानी की बूंदों के शस्त्रपरिणत होने की पूर्ण सम्भावना रहती है। जिस प्रकार गर्म आहार पर गिरी बूंदें अचित्त हो जाने के कारण वह आहार खाया जा सकता है, वैसे ही कालान्तर से वह शीतल आहार भी खाया जाए तो उसमें कोई दोष नहीं है।

उष्ण आहार में पानी की बूंदों का तत्काल अचित्त हो जाना निश्चित है और शीतल आहार में गिरी पानी की बूंदों का अचित्त होना अनिश्चित है अथवा कालान्तर में अचित्त होती हैं। इसी कारण से सूत्र में दोनों के विधानों में अन्तर किया गया है।

पशु-पक्षी के स्पर्शादि से उत्पन्न मैथुनभाव के प्रायश्चित्त

१३. निग्गंथीए य राओ वा वियाले वा उच्चारं वा पासवणं वा विगिंचमाणीए वा विसोहेमाणीए वा अन्नयरे पसुजाइए वा पक्खिजाइए वा अन्नयरं इंदियजायं परामुसेज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा हत्थकम्म-पडिसेवणपत्ता आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

१४. निग्गंथीए य राओ वा वियाले वा उच्चारं वा पासवणं वा विगिंचमाणीए या अन्नयरे पसुजाइए या पक्खिजाइए वा अन्नयरंसि सोयंसि ओगाहेज्जा तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

१३. यदि कोई निर्ग्रन्थी रात्रि में या विकाल में मल-मूत्र का परित्याग करे या शुद्धि करे उस समय किसी पशु-पक्षी से निर्ग्रन्थी की किसी इन्द्रिय का स्पर्श हो जाए और उस स्पर्श का वह (यह सुखद स्पर्श है इस प्रकार) मैथुनभाव से अनुमोदन करे तो उसे हस्तकर्म दोष लगता है, अतः वह अनुद्घातिक मासिक प्रायश्चित्त की पात्र होती है।

१४. यदि कोई निर्ग्रन्थी रात्रि में या विकाल में मल-मूत्र का परित्याग करे या शुद्धि करे, उस समय कोई पशु-पक्षी निर्ग्रन्थी के किसी श्रोत का अवगाहन करे और उसका वह 'यह अवगाहन सुखद है' इस प्रकार मैथुनभाव से अनुमोदन करे तो (मैथुनसेवन नहीं करने पर भी) उसे मैथुनसेवन का दोष लगता है। अतः वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त की पात्र होती है।

विवेचन—ये दोनों सूत्र ब्रह्मचर्यव्रत की रक्षा के लिए कहे गये हैं, यदि कोई साध्वी रात्रि या सन्ध्या के समय मल-मूत्र परित्याग कर रही हो और उस समय कोई वानर, हरिण, श्वान आदि पशु या मयूर, हंस आदि पक्षी अकस्मात् आकर साध्वी के किसी अंग का स्पर्श करे और साध्वी उस स्पर्श के सुखद होने का अनुभव करे तो वह हस्तमैथुन-प्रतिसेवना की पात्र होती है और उसे इसका प्रायश्चित्त गुरुमासिक तप बतलाया गया है।

यदि उक्त पशु या पक्षियों में से किसी के अंग उस साध्वी के गुह्य प्रदेश में प्रविष्ट हो जाएं और उससे वह रति-सुख का अनुभव करे तो वह मैथुन-प्रतिसेवना की पात्र होती है। उसकी शुद्धि के लिए गुरुचातुर्मासिक तप का विधान किया गया है।

विवेचन—साध्वी के लिए अचेल होना और जिनकल्पी होना भी निषिद्ध है। सर्वज्ञप्ररूपित धर्म में अचेल रहना विहित है फिर भी साध्वी के लिए लोकापवाद पुरुषाकर्षण आदि अनेक कारणों से वस्त्ररहित होना सर्वथा निषिद्ध है।

भक्त-पानादि के पात्र नहीं रखने पर साध्वी के आहार-नीहार का करना सम्भव नहीं है।

वस्त्र त्यागकर कायोत्सर्ग करना भी साध्वी के लिए निषिद्ध है, क्योंकि उस दशा में काम-प्रेरित तरुण जनों के द्वारा उपसर्गादि की सम्भावना रहती है।

साध्वी को प्रतिज्ञाबद्ध होकर आसनादि करने का निषेध

२०. नो कप्पइ निग्गंथीए वोसट्ठकाइयाए होत्तए।

२१. नो कप्पइ निग्गंथीए बहिया गामस्स वा जाव रायहाणीए वा उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय-पगिज्झिय सूराभिमुहीए एगपाइयाए ठिच्चा आयावणाए आयावेत्तए।

कप्पइ से उवस्सयस्स अंतोवगडाए संघाडिपडिबद्धाए पलंबियबाहुयाए समतलपाइयाए ठिच्चा आयावणाए आयावेत्तए।

२२. नो कप्पइ निग्गंथीए ठाणाइयाए होत्तए।

२३. नो कप्पइ निग्गंथीए पडिमट्ठाइयाए होत्तए।

२४. नो कप्पइ निग्गंथीए उक्कुडुयासणियाए होत्तए।

२५. नो कप्पइ निग्गंथीए निसज्जियाए होत्तए।

२६. नो कप्पइ निग्गंथीए वीरासणियाए होत्तए।

२७. नो कप्पइ निग्गंथीए दण्डासणियाए होत्तए।

२८. नो कप्पइ निग्गंथीए लगण्डसाइयाए होत्तए।

२९. नो कप्पइ निग्गंथीए ओमंथियाए होत्तए।

३०. नो कप्पइ निग्गंथीए उत्ताणियाए होत्तए।

३१. नो कप्पइ निग्गंथीए अम्बखुज्जियाए होत्तए।

३२. नो कप्पइ निग्गंथीए एगपासियाए होत्तए।

२०. निर्ग्रन्थी को सर्वथा शरीर वोसिराकर रहना नहीं कल्पता है।

२१. निर्ग्रन्थी को ग्राम यावत् राजधानी के बाहर भुजाओं को ऊपर की ओर करके, सूर्य की ओर मुंह करके तथा एक पैर से खड़े होकर आतापना लेना नहीं कल्पता है।

किन्तु उपाश्रय के अन्दर पर्दा लगाकर के भुजाएं नीचे लटकाकर दोनों पैरों को समतल करके खड़े होकर आतापना लेना कल्पता है।

२२. निर्ग्रन्थी को खड़े होकर कायोत्सर्ग करने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है।

२३. निर्ग्रन्थी को एक रात्रि आदि कायोत्सर्ग करने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है।

२४. निर्ग्रन्थी को उत्कुटुकासन से स्थित रहने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है।

२५. निर्ग्रन्थी को निषद्याओं से स्थित रहने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है।

२६. निर्ग्रन्थी को वीरासन से स्थित रहने का अभिग्रह करना नही कल्पता है।

२७. निर्ग्रन्थी को दण्डासन से स्थित रहने का अभिग्रह करना नही कल्पता है।

२८. निर्ग्रन्थी को लकुटासन से स्थित रहने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है।

२९. निर्ग्रन्थी को अधोमुखी सोकर स्थित रहने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है।

३०. निर्ग्रन्थी को उत्तानासन से स्थित रहने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है।

३१. निर्ग्रन्थी को आम्र-कुब्जिकासन से स्थित रहने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है।

३२. निर्ग्रन्थी को एक पार्श्व से शयन करने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है।

विवेचन—शरीर को सर्वथा वोसिराकर मनुष्य तिर्यंच या देव सम्बन्धी उपसर्ग सहन करना साध्वी के लिये निषिद्ध है।

साध्वी यदि आतापना लेना चाहे तो ग्रामादि के बाहर न जाकर अपने उपाश्रय के अन्दर ही सूत्रोक्त विधि से आतापना ले सकती है।

समय निश्चित कर लम्बे काल के लिये खड़े रहकर कायोत्सर्ग करना भी साध्वी के लिये निषिद्ध है।

भिक्षु की १२ प्रतिमाएं, मोयपडिमा आदि प्रतिमाएं, जो एकाकी रहकर की जाती हैं, वे भी साध्वी के लिये निषिद्ध हैं।

समय निश्चित करके पांच प्रकार के निषद्यासन से भी बैठना साध्वी को निषिद्ध है।

पांच प्रकार की निषद्या इस प्रकार है—

१. समपादपुता—जिसमें दोनों पैर पुत-भाग का स्पर्श करें, २. गो-निषद्यका—गाय के समान बैठना। ३. हस्तिशुण्डिका—दोनों पुतों के बल बैठकर एक पैर हाथी की सूंड के समान उठाकर बैठना। ४. पर्यंका—पद्मासन से बैठना और ५. अर्धपर्यंका—अर्ध पद्मासन अर्थात् एक पैर के ऊपर दूसरा पैर रखकर बैठना।

साध्वियों को इन पांचों ही प्रकार की निषद्याओं से अभिग्रह करके बैठने का निषेध किया गया है।

सूत्र २६ से ३३ तक कहे गये आठ आसन भी साध्वी को समय निश्चित करके करना निषिद्ध है। इन आसनों का स्वरूप दशा. दशा. ७ में किया गया है, वहां से समझा जा सकता है।

भाष्यकार ने इन सभी साधनाओं के निषेध का कारण यह बताया है कि उस दशा में कामप्रेरित तरुण जनों के द्वारा उपसर्गादि की सम्भावना रहती है। निश्चित समय पूर्ण होने के पूर्व वह सम्भल कर सावधान नहीं हो सकती है।

समय निर्धारित किये विना साध्वी किसी भी आसन से खड़ी रहे, बैठे या सोए तो उसका इन सूत्रों में निषेध नहीं है। भाष्य में भी कहा है—

वीरासण गोदोहो मुत्तुं सव्वे वि ताण कप्पंति।
ते पुण पडुच्च चेट्ठं, सुत्ता उ अभिग्गहं पप्पा ॥ ५९५६ ॥

वीरासन और गोदोहिकासन को छोड़कर प्रवृत्ति की अपेक्षा सभी आसन साध्वी को करने कल्पते हैं। सूत्रों में जो निषेध किया है वह अभिग्रह की अपेक्षा से किया है।

वीरासन और गोदुहिकासन ये स्त्री की शारीरिक समाधि के अनुकूल नहीं होते हैं, इसी कारण से भाष्यकार ने निषेध किया है।

यद्यपि अभिग्रह आदि साधनाएं विशेष निर्जरा के स्थान हैं, फिर भी साध्वी के लिये ब्रह्मचर्य महाव्रत की सुरक्षा में बाधक होने से इनका निषेध किया गया है। भाष्य में विस्तृत चर्चा सहित इस विषय को स्पष्ट किया गया है तथा वहां अगीतार्थ भिक्षुओं को भी इन अभिग्रहों के धारण करने का निषेध किया है।

आकुंचनपट्टक के धारण करने का विधि-निषेध

३३. नो कप्पइ निग्गंथीणं आकुंचणपट्टगं धारित्तए वा, परिहरित्तए वा।

३४. कप्पइ निग्गंथाणं आकुंचणपट्टगं धारित्तए वा, परिहरित्तए वा।

३३. निर्ग्रन्थियों को आकुंचनपट्टक रखना या उपयोग में लेना नहीं कल्पता है।

३४. निर्ग्रन्थों को आकुंचनपट्टक रखना या उपयोग में लेना कल्पता है।

विवेचन—'आकुंचनपट्टक' का दूसरा नाम 'पर्यस्तिकापट्टक' है। यह चार अंगुल चौड़ा एवं शरीरप्रमाण जितना सूती वस्त्र का होता है। भींत आदि का सहारा न लेना हो तब इसका उपयोग किया जाता है।

जहां दीवार आदि पर उदई आदि जीवों की सम्भावना हो और वृद्ध ग्लान आदि का अवलम्बन लेकर बैठना आवश्यक हो तो इस पर्यस्तिकापट्ट से कमर को एवं घुटने ऊंचे करके पैरों को बांध देने पर आराम कुर्सी के समान अवस्था हो जाती है और दीवार का सहारा लेने के समान शरीर को आराम मिलता है।

पर्यस्तिकापट्टक लगाकर इस तरह बैठना गर्वयुक्त आसन होता है। साध्वी के लिये इस प्रकार बैठना शरीर-संरचना के कारण लोक निन्दित होता है, इसलिये सूत्र में उनके लिये पर्यस्तिकापट्टक का निषेध किया गया है।

भाष्यकार ने बताया है कि अत्यन्त आवश्यक होने पर साध्वी को पर्यस्तिकापट्टक लगाकर उसके ऊपर वस्त्र ओढ़कर बैठने का विवेक रखना चाहिए। साधु को भी सामान्यतया पर्यस्तिकापट्टक नहीं लगाना चाहिये, क्योंकि विशेष परिस्थिति में उपयोग करने के लिये यह औपग्रहिक उपकरण है।

अवलम्बनयुक्त आसन के विधि-निषेध

३५. नो कप्पइ निग्गंथीणं सावस्सयंसि आसणंसि आसइत्तए वा तुयट्टित्तए वा।

३६. कप्पइ निग्गंथाणं सावस्सयंसि आसणंसि आसइत्तए वा तुयट्टित्तए वा।

३५. निर्ग्रन्थी को सावश्रय (अवलम्बनयुक्त) आसन पर बैठना या शयन करना नही कल्पता है।

३६. निर्ग्रन्थ को सावश्रय आसन पर बैठना या शयन करना कल्पता है।

विवेचन—पूर्वोक्त सूत्रों में अवलम्बन लेने के लिये पर्यस्तिकापट्टक का कथन किया गया है और इन सूत्रों में अवलम्बनयुक्त कुर्सी आदि आसनों का वर्णन है। आवश्यक होने पर भिक्षु इन साधनों का उपयोग कर सकता है। इनके न मिलने पर पर्यस्तिकापट्ट का उपयोग किया जाता है। जिन भिक्षुओं को पर्यस्तिकापट्ट की सदा आवश्यकता प्रतीत होवे उसे अपने पास रख सकते है। क्योंकि कुर्सी आदि साधन सभी क्षेत्रों में उपलब्ध नहीं होते।

पूर्वोक्त दोषों के कारण ही साध्वी को अवलम्बनयुक्त इन आसनों का निषेध किया गया है।

साधु-साध्वी कभी सामान्य रूप से भी कुर्सी आदि उपकरण उपयोग में लेना आवश्यक समझें तो अवलम्बन लिये विना वे उनका विवेक पूर्वक उपयोग कर सकते हैं।

सविसाण पीठ आदि के विधि-निषेध

३७. नो कप्पइ निग्गंथीणं सविसाणंसि पीढंसि वा फलगंसि वा आसइत्तए वा तुयट्टित्तए वा।

३८. कप्पइ निग्गंथाणं सविसाणंसि पीढंसि वा फलगंसि वा आसइत्तए वा तुयट्टित्तए वा।

३७. साध्वियों को सविषाण पीठ (बैठने की काष्ठ चौकी आदि) या फलक (सोने का पाटा आदि) पर बैठना या शयन करना नही कल्पता है।

३८. साधुओं को सविषाण पीठ पर या फलक पर बैठना या शयन करना कल्पता है।

विवेचन—पीढ़ा या फलक पर सींग जैसे ऊंचे उठे हुए छोटे-छोटे स्तम्भ होते हैं। वे गोल एवं चिकने होने से पुरुष चिह्न जैसे प्रतीत होते हैं। इसलिये इनका उपयोग करना साध्वी के लिए निषेध

(तिल-तुष जितना) भूति-प्रमाण (एक चुटकी जितना) खाना तथा पानी बिन्दुप्रमाण जितना भी पीना नहीं कल्पता है, केवल उग्र रोग एवं आतंक में कल्पता है।

४७. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को अपने शरीर पर सभी प्रकार के परिवासित लेपन एक बार या बार-बार लगाना नहीं कल्पता है, केवल उग्र रोग एवं आतंकों में लगाना कल्पता है।

४८. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को अपने शरीर पर परिवासित तेल यावत् नवनीत को चुपड़ना या मलना नहीं कल्पता है, केवल उग्र रोग या आतंकों में कल्पता है।

विवेचन—निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को खाने-पीने योग्य और लेपन-मर्दन करने योग्य पदार्थों का संचय करना तथा रात्रि में उन पदार्थों का लाना, रखना एवं उनका उपयोग करना उत्सर्गमार्ग में सर्वथा निषिद्ध है और इन कार्यों के लिये प्रायश्चित्त का भी विधान है। क्योंकि इन कार्यों के करने से संयमविराधना होती है। भाष्य में इस विषय का विस्तृत वर्णन है।

उग्र रोग या आतंक होने पर पूर्वोक्त अत्यन्त आवश्यक पदार्थों के संचय करने का तथा रात्रि में परिवासित रखने का एवं उनके उपयोग करने का अपवादमार्ग में ही विधान है।

गीतार्थ यदि यह जान ले कि निकट भविष्य में उग्र रोग या आतंक होने वाला है, महामारी या सेनाओं के आतंक से गांव खाली हो रहे हैं, स्थविर रुग्ण हैं, चलने में असमर्थ हैं, आवश्यक औषधियां आस-पास के गांवों में न मिलने के कारण दूर गांवों से लाई गई हैं, इत्यादि कारणों से उक्त पदार्थों का संचय कर सकते हैं, रात्रि में परिवासित रख सकते हैं एवं उनका उपयोग भी कर सकते हैं।

चन्दन, कायफल, सोंठ आदि द्रव्य लेपन योग्य होते हैं। शिला पर घिसकर या पीसकर इनका लेप तैयार किया जाता है।

आलेपन—एक बार लेपन करना।

विलेपन—बार-बार लेपन करना। अथवा

आलेपन—शरीर में जलन आदि होने पर सर्वांग में लेप करना।

विलेपन—मस्तक आदि विशिष्ट अंग पर लेप करना।

निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियों को सौन्दर्यवृद्धि के लिए किसी प्रकार के आलेपन-विलेपन का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

केवल रोगादि की शान्ति के लिए लेप्य पदार्थों का प्रयोग कर सकते हैं। आगाढ रोगातंक में इन पदार्थों को रात्रि में भी रखा जा सकता है।

इन सूत्रों में रात्रि में रखे गये पदार्थों का परिस्थितिवश खाने एवं उपयोग में लेने का विधान किया गया है। इससे रात्रि में खाना या उपयोग में लेना न समझकर परिवासित पदार्थों को दिन में उपयोग में लेने का ही समझना चाहिये। दुर्लभ द्रव्यों को रात में रखने की एवं प्रबल रोगातंक में दिन में उपयोग लेने की छूट सूत्र से समझ लेनी चाहिये। भिन्न-भिन्न पदार्थों को रात्रि में किस विवेक से किस प्रकार रखना, इसकी विधि भाष्य से जाननी चाहिये।

परिहारिक भिक्षु का दोषसेवन एवं प्रायश्चित्त

४९. परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, से य आहच्च अइक्कमेज्जा, तं च थेरा जाणिज्जा अप्पणो आगमेणं अन्नेसिं वा अंतिए सोच्चा, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नाम ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

४९. परिहारकल्पस्थित भिक्षु यदि स्थविरों की वैयावृत्य के लिए कहीं बाहर जाए और कदाचित् परिहारकल्प में कोई दोष सेवन करले, यह वृत्तान्त स्थविर अपने ज्ञान से या अन्य से सुनकर जान ले तो वैयावृत्य से निवृत्त होने के बाद उसे अत्यल्प प्रस्थापना प्रायश्चित्त देना चाहिये।

विवेचन—इस सूत्र में 'वैयावृत्य' पद उपलक्षण है, अतः अन्य आवश्यक कार्य भी इसमें समाविष्ट कर लिए जाते हैं।

आचार्य या गणप्रमुख आदि परिहारतप वहन करने वाले को वैयावृत्य के लिए या अन्य दर्शन के वादियों के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए कहीं अन्यत्र भेजें या वह स्वयं अनिवार्य कारणों से कहीं अन्यत्र जाए और वहा उसके परिहारतप की मर्यादा का अतिक्रमण हो जाए तब उसके अतिक्रमण को आचार्यादि स्वयं अपने ज्ञान-बल से या अन्य किसी के द्वारा जान लें तो उसे अत्यल्प प्रायश्चित्त दें, क्योंकि उसका परिहारतप वैयावृत्य या शास्त्रार्थ आदि विशेष कारणों से खण्डित हुआ है। ऐसे प्रसंगों मे आवश्यक लगे तो आचार्य उसका परिहारतप छुड़ाकर भी भेज सकते हैं।

अतः उस अवधि में किया गया अतिक्रमण क्षम्य माना गया है एवं उसका अत्यल्प प्रस्थापना प्रायश्चित्त दिया जाता है।

पुलाक-भक्त ग्रहण हो जाने पर गोचरी जाने का विधि-निषेध

५०. निग्गंथीए य गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए अणुपविट्ठाए अन्नयरे पुलागभत्ते पडिग्गाहिए सिया सा य संथरेज्जा, कप्पइ से तद्दिवसं तेणेव भत्तट्ठेणं पज्जोसवेत्तए, नो से कप्पइ दोच्चं पि गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए पविसित्तए।

सा य न संथरेज्जा, एवं से कप्पइ दोच्चं पि गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए पविसित्तए।

५०. निर्ग्रन्थी आहार के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करे और वहां यदि पुलाक-भक्त (अत्यंत सरस आहार) ग्रहण हो जाए और यदि उस गृहीत आहार से निर्वाह हो जाए तो उस दिन उसी आहार से रहे किन्तु दूसरी बार आहार के लिए गृहस्थ के घर में न जावे।

यदि उस गृहीत आहार से निर्वाह न हो सके तो दूसरी बार आहार के लिए जाना कल्पता है।

विवेचन—पुलाक शब्द का सामान्य अर्थ है—'असार पदार्थ', किन्तु यहां कुछ विशेष अर्थ इष्ट है।

जिनके सेवन से संयम निस्सार हो जाए अथवा जिनशासन, संघ और धर्म की अवहेलना या निन्दा हो वे सब खाद्यपदार्थ पुलाक-भक्त कहे जाते हैं। भाष्य में विस्तृत अर्थ करते हुए पुलाक-भक्त तीन प्रकार के कहे हैं—

१ धान्यपुलाक, २. गन्धपुलाक, ३. रसपुलाक।

१. जिन धान्यों के खाने से शारीरिक सामर्थ्य आदि की वृद्धि न हो, ऐसे सांवा, शालि, वल्ल आदि 'धान्यपुलाक' कहे जाते हैं।

२. लहसुन प्याज आदि तथा लौंग इलायची इत्र आदि जिनकी उत्कट गन्ध हो, वे सब पदार्थ 'गन्धपुलाक' कहे जाते हैं।

३. दूध इमली का रस द्राक्षारस आदि अथवा अति सरस, पौष्टिक एवं अनेक रासायनिक औषध-मिश्रित खाद्य पदार्थ 'रसपुलाक' कहे जाते हैं।

इस सूत्र में 'पुलाकभक्त' के ग्रहण किए जाने पर निर्वाह हो सके तो साध्वी को पुनः गोचरी जाने का निषेध किया है। अतः यहां रसपुलाक की अपेक्षा सूत्र का विधान समझना चाहिए। क्योंकि गन्धपुलाक और धान्यपुलाक रूप वैकल्पिक अर्थ में पुनः गोचरी नहीं जाने का सूत्रोक्त विधान तर्क-संगत नहीं है।

रसपुलाक के अति सेवन से अजीर्ण या उन्माद होने की प्रायः सम्भावना रहती है। अतः उस दिन उससे निर्वाह हो सकता हो तो फिर भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए, जिससे उक्त दोषों की सम्भावना न रहे। यदि वह रस-पुलाकभक्त अत्यल्प मात्रा में हो और उससे निर्वाह न हो सके तो पुनः भिक्षा ग्रहण की जा सकती है।

इस सूत्र में निर्ग्रन्थी के लिए ही विधान किया गया है, निर्ग्रन्थ के लिए क्यों नहीं?

इसका उत्तर भाष्यकार ने इस प्रकार दिया है।—"एसेव गमो नियमा तिविहपुलागम्मि होई समणाणं" जो विधि निर्ग्रन्थी के लिए है, वही निर्ग्रन्थ के लिए भी है।

पांचवें उद्देशक का सारांश

सूत्र १-४	देव या देवी स्त्री का या पुरुष का रूप विकुर्वित कर साधु साध्वी का आलिगन आदि करे, तब वे उसके स्पर्श आदि से मैथुनभाव का अनुभव करें तो उन्हें गुरु-चौमासी प्रायश्चित्त आता है।
५	अन्य गण से कोई भिक्षु आदि क्लेश करके आवे तो उसे समझाकर शान्त करना एवं पांच दिन आदि का दीक्षाछेद प्रायश्चित्त देकर पुनः उसके गण में भेज देना।
६-९	यदि आहार ग्रहण करने के बाद या खाते समय यह ज्ञात हो जाए कि सूर्यास्त हो गया है या सूर्योदय नहीं हुआ है तो उस आहार को परठ देना चाहिये। यदि खावे तो उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।
१०	रात्रि के समय मुंह में उद्गाल आ जाए तो उसे नहीं निगलना किन्तु परठ देना चाहिये।

सूत्र ११ गोचरी करते हुए कभी आहार में सचित्त बीज, रज या त्रस जीव आ जाए तो उसे सावधानीपूर्वक निकाल देना चाहिए। यदि नही निकल सके तो उतना संसक्त आहार परठ देना चाहिये।

१२ गोचरी करते हुए कभी आहार में सचित्त जल की बूंदें आदि गिर जाएँ तो गर्म आहार को खाया जा सकता है और ठण्डे आहार को परठ देना चाहिये।

१३-१४ रात्रि में मल-मूत्र त्याग करती हुई निर्ग्रन्थी के गुप्तांगों का कोई पशु या पक्षी स्पर्श या अवगाहन करे और निर्ग्रन्थी मैथुनभाव से उसका अनुमोदन करे तो उसे गुरु-चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

१५-१७ निर्ग्रन्थी को गोचरी, स्थंडिल या स्वाध्याय आदि के लिये अकेले नही जाना चाहिये तथा विचरण एवं चातुर्मास भी अकेले नही करना चाहिए।

१८-२१ निर्ग्रन्थी को वस्त्ररहित होना, पात्ररहित होना, शरीर को वोसिरा कर रहना, ग्राम के बाहर आतापना लेना नही कल्पता है, किन्तु सूत्रोक्त विधि से वह उपाश्रय में आतापना ले सकती है।

२२-३२ निर्ग्रन्थी को किसी भी प्रकार के आसन से प्रतिज्ञाबद्ध होकर रहना नहीं कल्पता है।

३३-४४ आकुंचनपट्ट, आलम्बन युक्त आसन, छोटे स्तम्भयुक्त पीढे, नालयुक्त तुम्बा, काष्ठदण्डयुक्त पात्रकेसरिका या पादप्रोंछन साध्वी को रखना नही कल्पता है, किन्तु साधु इन्हें रख सकता है।

४५ प्रबल कारण के बिना साधु-साध्वी एक दूसरे के मूत्र को पीने एवं आचमन करने के उपयोग में नही ले सकते है।

४६-४८ साधु-साध्वी रात रखे हुए आहार-पानी औषध और लेप्य पदार्थों को प्रबल कारण के बिना उपयोग में नही ले सकते, किन्तु प्रबल कारण से वे उन पदार्थों का दिन में उपयोग कर सकते है।

४९ परिहारतप वहन करने वाला भिक्षु सेवा के लिये जावे, उस समय यदि वह अपनी किसी मर्यादा का उल्लंघन कर ले तो उसे सेवाकार्य से निवृत्त होने पर अत्यल्प प्रायश्चित्त देना चाहिए।

५० अत्यन्त पौष्टिक आहार आ जाने के बाद साध्वी को अन्य आहार की गवेषणा नहीं करना चाहिए। किन्तु उस आहार से यदि निर्वाह न हो सके, इतनी अल्प मात्रा में ही हो तो पुनः गोचरी लाने के लिये जा सकती है।

उपसंहार—

इस उद्देशक में—

सूत्र १-४,
१३-१४ मैथुनभाव के प्रायश्चित्त का,
५ क्लेश करके आये भिक्षु के प्रति कर्तव्य का,

९-१० रात्रिभोजन का विवेक एवं उसके प्रायश्चित्त का,
११-१२ संसक्त आहार के विवेक का,
१५-३२ निर्ग्रन्थी को एकाकी न होने का एवं शरीर को न वोसिराने का, आतापना लेने के कल्प्याकल्प्य का और प्रतिज्ञाबद्ध आसन न करने का,
३३-४४ अनेक उपकरणों के कल्प्याकल्प्य का,
४५ परस्पर मूत्र-उपयोग के कल्प्याकल्प्य का,
४६-४८ परिवासित आहार एवं औषध के कल्प्याकल्प्य का,
४९ पारिहारिक भिक्षु के अतिक्रमण करने का,
५० पौष्टिक आहार का,
इत्यादि विषयों का कथन किया गया है।

॥ पांचवां उद्देशक समाप्त ॥

छट्ठा उद्देशक

अकल्प्य वचनप्रयोग का निषेध

१. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाइं छ अवयणाइं वइत्तए, तं जहा—

१. अलियवयणे, २. हीलियवयणे, ३. खिंसियवयणे, ४. फरुसवयणे, ५. गारत्थियवयणे,
६. विओसवियं वा पुणो उदीरित्तए।

१. निर्ग्रन्थों निर्ग्रन्थियों को ये छह निषिद्ध वचन बोलना नहीं कल्पता है, यथा—

१. अलीकवचन, २. हीलितवचन, ३. खिसितवचन, ४. परुषवचन, ५. गार्हस्थ्यवचन, ६. कलहकारक वचन का पुनर्कथन ।

विवेचन—१. अलीकवचन—असत्य या मिथ्या भाषण 'अलीकवचन' है।

२. हीलितवचन—दूसरे की अवहेलना करने वाला वचन 'हीलितवचन' है।

३. खिसितवचन—रोषपूर्ण कहे जाने वाले या रोष उत्पन्न करने वाले वचन 'खिंसितवचन' हैं।

४. परुषवचन—कर्कश, रूक्ष, कठोर वचन 'परुषवचन' हैं।

५. गार्हस्थ्यवचन—गृहस्थ-अवस्था के सम्बन्धियों को पिता, पुत्र, मामा आदि नामों से पुकारना 'गार्हस्थ्यवचन' हैं।

६. कलहउदीरणावचन—क्षमायाचनादि के द्वारा कलह के उपशान्त ,हो जाने के बाद भी कलहकारक वचन कहना 'व्युपशमित-कलह-उदीरण वचन' है।

साधु और साध्वियों को ऐसे छहों प्रकार के वचन नहीं बोलने चाहिए।

असत्य आक्षेपकर्ता को उसी प्रायश्चित्त का विधान

२. कप्पस्स छ पत्थारा पण्णत्ता, तं जहा—

१. पाणाइवायस्स वायं वयमाणे,

२. मुसावायस्स वायं वयमाणे,

३. अदिन्नादाणस्स वायं वयमाणे,

४. अविरइवायं वयमाणे,

५. अपुरिसवायं वयमाणे,

६. दासवायं वयमाणे।

इच्चेए कप्पस्स छ पत्थारे पत्थरेत्ता सम्मं अप्पडिपूरेमाणे तट्ठाणपत्ते सिया।

२. कल्प—साध्वाचार के छह विशेष प्रकार के प्रायश्चित्तस्थान कहे गये हैं, यथा—

१. प्राणातिपात का आरोप लगाये जाने पर,
२. मृषावाद का आरोप लगाये जाने पर,
३. अदत्तादान का आरोप लगाये जाने पर,
४. ब्रह्मचर्य भंग करने का आरोप लगाये जाने पर,
५. नपुंसक होने का आरोप लगाये जाने पर,
६. दास होने का आरोप लगाये जाने पर।

संयम के इन विशेष प्रायश्चित्तस्थानों का आरोप लगाकर उसे सम्यक् प्रमाणित नहीं करने वाला साधु उसी प्रायश्चित्तस्थान का भागी होता है।

विवेचन—१. कल्प—निर्ग्रन्थ का आचार, २. प्रस्तार—विशेष प्रायश्चित्तस्थान, ३. प्रस्तरण—प्रायश्चित्तस्थान-सेवन का आरोप लगाना।

सूत्र में छह प्रस्तार कहे गए हैं—

प्रथम प्रस्तार—यदि कोई निर्ग्रन्थ किसी एक निर्ग्रन्थ के सम्बन्ध में आचार्यादि के सम्मुख उपस्थित होकर कहे कि "अमुक निर्ग्रन्थ ने अमुक त्रस जीव का हनन किया है।"

आचार्यादि उसका कथन सुनकर अभियोग (आरोप) से सम्बन्धित निर्ग्रन्थ को बुलावें और उससे पूछें कि "क्या तुमने त्रस जीव की घात की है?"

यदि वह कहे कि "मैंने किसी जीव की घात नहीं की है।" ऐसी दशा में अभियोग लगाने वाले निर्ग्रन्थ को अपना कथन प्रमाणित करने के लिए कहना चाहिए।

यदि अभियोक्ता आरोप को प्रमाणित कर दे तो जिस पर जीवघात का आरोप लगाया है, वह दोषानुरूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

यदि अभियोक्ता अभियोग प्रमाणित न कर सके तो वह प्राणातिपात किये जाने पर दिए जाने वाले प्रायश्चित्त का भागी होता है।

इसी प्रकार द्वितीय प्रस्तार मृषावाद, तृतीय प्रस्तार अदत्तादान और चतुर्थ प्रस्तार अविरतिवाद-ब्रह्मचर्यभंग के अभियोग के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए।

दीक्षा देने वाले आचार्यादि के सामने किसी निर्ग्रन्थ के नपुंसक होने का अभियोग लगाना पंचम प्रस्तार 'अपुरुषवाद' है।

किसी निर्ग्रन्थ के सम्बन्ध में "यह दास था या दासीपुत्र था", इस प्रकार का अभियोग लगाना षष्ठ प्रस्तार "दासवाद" है।

अभियोक्ता और दोष-सेवी यदि एक दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगावें या उनमें वाद-प्रतिवाद बन जाए तो प्रायश्चित्त की मात्रा भी बढ़ जाती है। अर्थात् सूत्रोक्त चतुर्लघु या चतुर्गुरु प्रायश्चित्त हो जाता है।

यदि अभियोग चरम सीमा तक हो जाता है तो प्रायश्चित्त भी चरम सीमा का ही दिया जाता है। अर्थात् सदोष निर्ग्रन्थ को अन्तिम प्रायश्चित्त पाराञ्चिक वहन करना पड़ता है। विशेष विवरण के लिए भाष्य देखना चाहिए।

साधु-साध्वी के परस्पर कण्टक आदि निकालने का विधान

३. निग्गंथस्स य अहे पायंसि खाणू वा, कंटए वा, हीरए वा, सक्करे वा परियावज्जेज्जा, तं च निग्गंथे नो संचाएइ नीहरित्तए वा, विसोहेत्तए वा, तं निग्गंथी नीहरमाणी वा विसोहेमाणी वा नाइक्कमइ।

४. निग्गंथस्स य अच्छिंसि पाणे वा, बीये वा, रए वा परियावज्जेज्जा, तं च निग्गंथे नो संचाएइ नीहरित्तए वा विसोहेत्तए वा, तं निग्गंथी नीहरमाणी वा विसोहेमाणी वा नाइक्कमइ।

५. निग्गंथीए य अहे पायंसि खाणू वा, कंटए वा, हीरए वा, सक्करे वा परियावज्जेज्जा, तं च निग्गंथी नो संचाएइ नीहरित्तए वा विसोहेत्तए वा, तं निग्गंथे नीहरमाणे वा विसोहेमाणे वा नाइक्कमइ।

६. निग्गंथीए य अच्छिंसि पाणे वा, बीये वा, रए वा परियावज्जेज्जा, तं च निग्गंथी नो संचाइएइ नीहरित्तए वा विसोहेत्तए वा, तं निग्गंथे नीहरमाणे वा विसोहेमाणे वा नाइक्कमइ।

३. निर्ग्रन्थ के पैर के तलुवे में तीक्ष्ण शुष्क ठूंठ, कंटक, कांच या तीक्ष्ण पाषाण-खण्ड लग जावे और उसे वह (या अन्य कोई निर्ग्रन्थ) निकालने में या उसके अंश का शोधन करने में समर्थ न हो, (उस समय) यदि निर्ग्रन्थी निकाले या शोधे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करती है।

४. निर्ग्रन्थ की आंख में मच्छर आदि सूक्ष्म प्राणी, बीज या रज गिर जावे और उसे वह (या अन्य कोई निर्ग्रन्थ) निकालने में या उसके सूक्ष्म अंश का शोधन करने में समर्थ न हो, (उस समय) यदि निर्ग्रन्थी निकाले या शोधे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करती है।

५. निर्ग्रन्थी के पैर के तलुवे में तीक्ष्ण शुष्क ठूंठ, कंटक, कांच या पाषाण खण्ड लग जावे और उसे वह (या अन्य निर्ग्रन्थी) निकालने में या उनके सूक्ष्म अंश का शोधन करने में समर्थ न हो, (उस समय) यदि निर्ग्रन्थ निकाले या शोधे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

६. निर्ग्रन्थी की आंख में (मच्छर आदि सूक्ष्म) प्राणी, बीज या रज गिर जावे और उसे वह (या अन्य कोई निर्ग्रन्थी) निकालने में या उसके सूक्ष्म अंश का शोधन करने में समर्थ न हो, (उस समय) यदि निर्ग्रन्थ निकाले या शोधे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

विवेचन—निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी के शरीर का और निर्ग्रन्थी निर्ग्रन्थ के शरीर का स्पर्श न करे, यह उत्सर्गमार्ग है। किन्तु पैर में कंटक आदि लग जाने पर एवं आंख में रज आदि गिर जाने पर अन्य किसी के द्वारा नहीं निकाले जा सकने पर कण्टकादि निकालने में कुशल निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी अपवादमार्ग में एक दूसरे के कण्टकादि निकाल सकते हैं। ऐसी स्थिति में एक दूसरे के शरीर का स्पर्श होने पर भी वे प्रायश्चित्त के पात्र नहीं होते हैं किन्तु ऐसे समय में भी क्षेत्र और काल का तया वस्त्रादि का विवेक रखना अत्यन्त आवश्यक होता है एवं योग्य साक्षी का होना भी आवश्यक है।

साधु द्वारा साध्वी को अवलम्बन देने का विधान

७. निग्गंथे निग्गंथिं दुग्गंसि वा, विसमंसि वा, पव्वयंसि वा पक्खलमाणिं वा पवडमाणिं वा गेण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

८. निग्गंथे निग्गंथिं सेयंसि वा, पंकंसि वा, पणगंसि वा उदयंसि वा, ओकसमाणिं वा ओवुज्झमाणिं वा गेण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

९. निग्गंथे निग्गंथिं नावं आरोहमाणिं वा, ओरोहमाणिं वा गेण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

१०. खित्तचित्तं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

११. दित्तचित्तं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

१२. जक्खाइट्ठं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

१३. उम्मायपत्तं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

१४. उवसग्गपत्तं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

१५. साहिगरणं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

१६. सपायच्छित्तं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

१७. भत्तपाणपडियाइक्खियं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

१८. अट्ठजायं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

७. दुर्गम—(हिंसक जानवरों से व्याप्त) स्थान, विषम स्थान या पर्वत से फिसलती हुई या गिरती हुई निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या सहारा दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

८. दल-दल, पंक, पनक या जल में गिरती हुई या डूबती हुई निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या सहारा दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

९. नौका पर चढ़ती हुई या नौका से उतरती हुई निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या सहारा दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

१०. विक्षिप्तचित्त वाली निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या अवलम्बन दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

११. दिप्तचित्त वाली निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या अवलम्बन दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

१२. यक्षाविष्ट निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या अवलम्बन दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

१३. उन्माद-प्राप्त निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या अवलम्बन दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

१४. उपसर्ग-प्राप्त निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या अवलम्बन दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

१५. साधिकरण निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या अवलम्बन दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

१६. सप्रायश्चित्त निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या अवलम्बन दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

१७. भक्त-पानप्रत्याख्यात निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या अवलम्बन दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

१८. अर्थ-जात निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या अवलम्बन दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

विवेचन—निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों का उत्सर्गमार्ग तो यही है कि वे कभी भी एक दूसरे का स्पर्श न करें। यदि करते हैं तो वे जिनाज्ञा का उल्लंघन करते हैं। किन्तु उक्त सूत्रों में कही गई परिस्थितियों में निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियां एक दूसरे के सहायक बन कर सेवा-शुश्रूषा करें तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते हैं—

१. क्षिप्तचित्त—शोक या भय से भ्रमितचित्त।
२. दिप्तचित्त—हर्षातिरेक से भ्रमितचित्त।
३. यक्षाविष्ट—भूत-प्रेत आदि से पीड़ित।
४. उन्मादप्राप्त—मोहोदय से पागल।
५. उपसर्गप्राप्त—देव, मनुष्य या तिर्यंच आदि से त्रस्त।
६. साधिकरण—तीव्र कषाय-कलह से अशांत।
७. सप्रायश्चित्त—कठोर प्रायश्चित्त से चलचित्त।
८. भक्त-पानप्रत्याख्यात—आजीवन अनशन से क्लांत।
९. अर्थजात—शिष्य या पद की प्राप्ति की इच्छा से व्याकुल। उन्मत्त, पिशाचग्रस्त, उपसर्ग-पीड़ित, भयग्रस्त निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियां एक दूसरे को सम्भालें, कलह, विसंवाद में संलग्न को हाथ पकड़ कर रोकें।

भक्त-प्रत्याख्यान करके समाधिमरण करने वाली निर्ग्रन्थी को अन्य परिचारिका साध्वी के अभाव में सभी प्रकार की परिचर्या की व्यवस्था करें।

यद्यपि अनेक साध्वियां साथ में रहती हैं फिर भी कुछ विशेष परिस्थितियों में साध्वियों से न सम्भल सकने के कारण साधु को सम्भालना या सहयोग देना आवश्यक हो जाता है।

सूत्र में केवल गिरती हुई निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ द्वारा सहारा देने आदि का कथन है। किन्तु कभी विशेष परिस्थिति में गिरते हुए साधु को साध्वी भी सहारा आदि दे सकती है, यह भी उपलक्षण से समझ लेना चाहिए।

संयमनाशक छह स्थान

१९. कप्पस्स छ पलिमंथू पण्णत्ता, तं जहा—

१. कोयकुइए संजमस्स पलिमंथू,
२. मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू,
३. चक्खुलोलुए इरियावहियाए पलिमंथू,
४. तितिणिए एसणागोयरस्स पलिमंथू,
५. इच्छालोलुए मुत्तिमग्गस्स पलिमंथू,
६. भिज्जानियाणकरणे मोक्खमग्गस्स पलिमंथू,
सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था।

१९. कल्प—साध्वाचार के छह सर्वथा घातक कहे गये हैं, यथा—

१. देखे बिना या प्रमार्जन किए बिना कायिक प्रवृत्ति करना, संयम का घातक है।
२. वाचालता, सत्य वचन का घातक है।
३. इधर-उधर देखते हुए गमन करना, ईर्यासमिति का घातक है।
४. आहारादि के अलाभ से खिन्न होकर चिढ़ना, एषणासमिति का घातक है।
५. उपकरण आदि का अति लोभ, अपरिग्रह का घातक है।
६. लोभवश अर्थात् लौकिक सुखों की कामना से निदान (तप के फल की कामना) करना, मोक्षमार्ग का घातक है।

क्योंकि भगवान् ने सर्वत्र अनिदानता-निस्पृहता प्रशस्त कही है।

विवेचन—यद्यपि संयम-गुणों का नाश करने वाली अनेक प्रवृत्तियां होती हैं तथापि प्रस्तुत सूत्र में मुख्य छह संयमनाशक दोषों का कथन किया गया है।

"पलिमंथु" शब्द का अर्थ है—संयमगुणों का अनेक प्रकार से सर्वथा नाश करने वाला।

१. कौत्कुच्य—जो यत्र-तत्र बिना देखे बैठता है, शरीर को या हाथ पांव मस्तक आदि अंगोपांगों को देखे या बिना [illegible] के इधर-उधर रखता है, वह १७ प्रकार के संयम का नाश करने वाला

२. मौखर्य—अत्यधिक बोलना वाणी का दोष है, ज्यादा बोलने वाला विनय आदि गुणों की उपेक्षा करता है, अप्रीति का भाजन बनता है, ज्यादा बोलने वाला विचार करके नहीं बोलता है। अतः वह असत्य एवं अनावश्यक बोलता है। इस प्रकार अतिभाषी सत्यमहाव्रत को दूषित करता है। आगमों में साधुओं को अनेक जगह अल्पभाषी कहा है। श्रावक के आठ गुणों में भी अल्पभाषी होना एक गुण कहा गया है।

३. चक्षुर्लोल्य—इधर-उधर देखने वाला ईर्यासमिति का पालन नहीं कर सकता है, उसकी ईर्यासमिति भंग होती है। चलते हुए इधर-उधर देखने की प्रवृत्ति साधु के लिये उचित नहीं है। क्योंकि ईर्याशोधन न कर सकने के कारण त्रस-स्थावर प्राणियों की हिंसा होना सम्भव है।

चक्षु-इन्द्रिय का संयम प्रथम महाव्रत में जीवरक्षा के लिए है, चतुर्थ महाव्रत में चक्षु-इन्द्रिय का संयम स्त्री आदि का निरीक्षण न करने के लिए है। पांचवें महाव्रत की दूसरी भावना ही चक्षु-इन्द्रिय का संयम रखना है।

४. तितिनक—मनोज्ञ आहारादि प्राप्त न होने पर जो खिन्न होकर बड़बड़ करता रहता है एवं इच्छित आहार की प्राप्ति में एषणा के दोषों की उपेक्षा भी करता है। इस प्रकार वह तिनतिनाट करने के स्वभाव से एषणासमिति को भंग करने वाला कहा गया है।

५. इच्छालोलुप—सरस आहार की, वस्त्र-पात्रादि उपकरणों की तथा शिष्य आदि की अत्यन्त अभिलाषा रखने वाला भिक्षु अपरिग्रहप्रधान मुक्तिमार्ग का अनुसरण नहीं करता है। क्योंकि मुक्तिमार्ग रूप संयम में इच्छाओं एवं ममत्व का कम होना ही प्रमुख लक्षण है। इसका नाश करने वाला इच्छालोलुप साधक मुक्तिमार्ग का नाश करने वाला कहा गया है।

६. भिध्या निदानकरण—लोभवश या आसक्तिवश मनुष्य देव सम्बन्धी या अन्य किसी भी प्रकार का निदान (धर्माचरण के फलस्वरूप लौकिक सुखों की प्राप्ति का संकल्प) करने वाला भिक्षु इन निदान-संकल्पों से दूसरे भवों में भी मोक्ष प्राप्त न करके नरकगति आदि में परिभ्रमण करता रहता है। इस प्रकार यह निदानकरण मोक्षप्राप्ति का विच्छेद करने वाला है।

किसी प्रकार का लोभ या आसक्ति न रखते हुए केवल ज्ञानादि गुणों की आराधना के लिए या मुक्तिप्राप्ति के लिए परमात्मा से याचना-प्रार्थना करना प्रशस्त भाव है एवं अनिदान है।

यथा—१. तित्थयरा मे पसीयंतु।
२. आरुग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु।
३. सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु। —आव. अ. २, गा. ५-६-७

इस प्रकार की प्रार्थना में लोभ नहीं है, इसलिए यह याचना मोक्षसाधक है, बाधक नहीं। ऐसा टीकाकार ने "भिज्जा" शब्द की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है। वह टीका इस प्रकार है—

"भिज्ज" त्ति लोभस्तेन यद् निदानकरणं"। भिज्जा ग्रहणेन यदलोभस्य भवनिर्वेदमार्गानुसारितादिप्रार्थनं तन्न मोक्षमार्गस्य परिमन्थुरित्यावेदितं प्रतिपत्तव्यम्। —बृहत्कल्पभाष्य भाग ६

कई प्रतियों में भ्रम से "भिज्जा" के स्थान "भुज्जो" आदि पाठ भी बन गये हैं, जो कि टीकाकार के बाद में बने हैं।

भक्त-प्रत्याख्यान करके समाधिमरण करने वाली निर्ग्रन्थी की अन्य परिचारिका साध्वी के अभाव में सभी प्रकार की परिचर्या की व्यवस्था करें।

यद्यपि अनेक साध्वियां साथ में रहती हैं फिर भी कुछ विशेष परिस्थितियों में साध्वियों से न सम्भल सकने के कारण साधु को सम्भालना या सहयोग देना आवश्यक हो जाता है।

सूत्र में केवल गिरती हुई निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ द्वारा सहारा देने आदि का कथन है। किन्तु कभी विशेष परिस्थिति में गिरते हुए साधु को साध्वी भी सहारा आदि दे सकती है, यह भी उपलक्षण से समझ लेना चाहिए।

संयमनाशक छह स्थान

१९. कप्पस्स छ पलिमंथू पण्णत्ता, तं जहा—

१. कोक्कुइए संजमस्स पलिमंथू,
२. मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू,
३. चक्खुलोलुए इरियावहियाए पलिमंथू,
४. तितिणिए एसणागोयरस्स पलिमंथू,
५. इच्छालोलुए मुत्तिमग्गस्स पलिमंथू,
६. भिज्जानियाणकरणे मोक्खमग्गस्स पलिमंथू,

सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था।

१९. कल्प—साध्वाचार के छह सर्वथा घातक कहे गये हैं, यथा—

१. देखे बिना या प्रमार्जन किए बिना कायिक प्रवृत्ति करना, संयम का घातक है।
२. वाचालता, सत्य वचन का घातक है।
३. इधर-उधर देखते हुए गमन करना, ईर्यासमिति का घातक है।
४. आहारादि के अलाभ से खिन्न होकर चिढ़ना, एषणासमिति का घातक है।
५. उपकरण आदि का अति लोभ, अपरिग्रह का घातक है।
६. लोभवश अर्थात् लौकिक सुखों की कामना से निदान (तप के फल की कामना) करना, मोक्षमार्ग का घातक है।

क्योंकि भगवान् ने सर्वत्र अनिदानता-निस्पृहता प्रशस्त कही है।

विवेचन—यद्यपि संयम-गुणों का नाश करने वाली अनेक प्रवृत्तियां होती हैं तथापि प्रस्तुत सूत्र में मुख्य छह संयमनाशक दोषों का कथन किया गया है।

"पलिमंथु" शब्द का अर्थ है—संयमगुणों का अनेक प्रकार से सर्वथा नाश करने वाला।

१. कौत्कुच्य—जो यत्र-तत्र बिना देखे बैठता है, शरीर को या हाथ पांव मस्तक आदि अंगोपांगों को बिना देखे या बिना विवेक के इधर-उधर रखता है, वह १७ प्रकार के संयम का नाश करने वाला होता है।

२. मौखर्य—अत्यधिक बोलना वाणी का दोष है, ज्यादा बोलने वाला विनय आदि गुणों की उपेक्षा करता है, अप्रीति का भाजन बनता है, ज्यादा बोलने वाला विचार करके नहीं बोलता है। अतः वह असत्य एवं अनावश्यक बोलता है। इस प्रकार अतिभाषी सत्यमहाव्रत को दूषित करता है। आगमों में साधुओं को अनेक जगह अल्पभाषी कहा है। श्रावक के आठ गुणों में भी अल्पभाषी होना एक गुण कहा गया है।

३. चक्षुर्लोल्य—इधर-उधर देखने वाला ईर्यासमिति का पालन नहीं कर सकता है, उसकी ईर्यासमिति भंग होती है। चलते हुए इधर-उधर देखने की प्रवृत्ति साधु के लिये उचित नहीं है। क्योंकि ईर्याशोधन न कर सकने के कारण त्रस-स्थावर प्राणियों की हिंसा होना सम्भव है।

चक्षु-इन्द्रिय का संयम प्रथम महाव्रत मे जीवरक्षा के लिए है, चतुर्थ महाव्रत में चक्षु-इन्द्रिय का संयम स्त्री आदि का निरीक्षण न करने के लिए है। पांचवें महाव्रत की दूसरी भावना ही चक्षु-इन्द्रिय का संयम रखना है।

४. तिंतिनक—मनोज्ञ आहारादि प्राप्त न होने पर जो खिन्न होकर बड़बड़ करता रहता है एवं इच्छित आहार की प्राप्ति में एषणा के दोषों की उपेक्षा भी करता है। इस प्रकार वह तिनतिनाट करने के स्वभाव से एषणासमिति को भंग करने वाला कहा गया है।

५. इच्छालोलुप—सरस आहार की, वस्त्र-पात्रादि उपकरणों की तथा शिष्य आदि की अत्यन्त अभिलाषा रखने वाला भिक्षु अपरिग्रहप्रधान मुक्तिमार्ग का अनुसरण नहीं करता है। क्योंकि मुक्तिमार्ग रूप संयम में इच्छाओं एवं ममत्व का कम होना ही प्रमुख लक्षण है। इसका नाश करने वाला इच्छालोलुप साधक मुक्तिमार्ग का नाश करने वाला कहा गया है।

६. मिथ्या निदानकरण—लोभवश या आसक्तिवश मनुष्य देव सम्बन्धी या अन्य किसी भी प्रकार का निदान (धर्माचरण के फलस्वरूप लौकिक सुखों की प्राप्ति का संकल्प) करने वाला भिक्षु इन निदान-संकल्पों से दूसरे भवों में भी मोक्ष प्राप्त न करके नरकगति आदि में परिभ्रमण करता रहता है। इस प्रकार यह निदानकरण मोक्षप्राप्ति का विच्छेद करने वाला है।

किसी प्रकार का लोभ या आसक्ति न रखते हुए केवल ज्ञानादि गुणों की आराधना के लिए या मुक्तिप्राप्ति के लिए परमात्मा से याचना-प्रार्थना करना प्रशस्त भाव है एवं अनिदान है।

यथा—१. तित्थयरा मे पसीयंतु।
२. आरुग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु।
३. सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु। —आव. अ. २, गा. ५-६-७

इस प्रकार की प्रार्थना में लोभ नहीं है, इसलिए यह याचना मोक्षसाधक है, बाधक नहीं। ऐसा टीकाकार ने "भिज्जा" शब्द की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है। वह टीका इस प्रकार है—

"भिज्ज" त्ति लोभस्तेन यद् निदानकरणं—। भिज्जा ग्रहणेन यदलोभस्य भवनिर्वेदमार्गानुसारितादिप्रार्थनं तन्न मोक्षमार्गस्य परिमन्थुरित्यावेदितं प्रतिपत्तव्यम्। —बृहत्कल्पभाष्य भाग ६

कई प्रतियों में भ्रम से "भिज्जा" के स्थान "भुज्जो" आदि पाठ भी बन गये हैं, जो कि टीकाकार के बाद में बने हैं।

छह प्रकार की कल्पस्थिति

२०. छव्विहा कप्पट्ठिई पण्णत्ता, तं जहा—

१. सामाइय-संजय-कप्पट्ठिई,
२. छेओवट्ठावणिय-संजय-कप्पट्ठिई,
३. निव्विसमाण-कप्पट्ठिई,
४. निव्विट्ठकाइय-कप्पट्ठिई,
५. जिणकप्पट्ठिई,
६. थेरकप्पट्ठिई।

कल्प की स्थिति—आचार की मर्यादाएं छह प्रकार की कही गई हैं।—यथा

१. सामायिकचारित्र की मर्यादाएं,
२. छेदोपस्थापनीयचारित्र की मर्यादाएं,
३. परिहारविशुद्धिचारित्र में तप वहन करने वाले की मर्यादाएं,
४. परिहारविशुद्धिचारित्र में गुरुकल्प व अनुपरिहारिक भिक्षुओं की मर्यादाएं,
५. गच्छनिर्गत विशिष्ट तपस्वी जीवन बिताने वाले जिनकल्पी भिक्षुओं की मर्यादाएं,
६. स्थविरकल्पी अर्थात् गच्छवासी भिक्षुओं की मर्यादाएं।

विवेचन—यहां "कल्प" का अर्थ संयत का आचार है। उसमें अवस्थित रहना कल्पस्थिति कहा जाता है।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों की समाचारी (मर्यादा) को भी कल्पस्थिति कहा जाता है। यह छह प्रकार की कही गई है।—यथा—

१. सामायिकसंयत-कल्पस्थिति—समभाव में रहना और सभी सावद्य प्रवृत्तियों का परित्याग करना, यह सामायिकसंयत-कल्पस्थिति है।

यह दो प्रकार की होती है—

१. इत्वरकालिक—जब तक पंच महाव्रतों का आरोपण न किया जाए तब तक इत्वरकालिक सामायिक-कल्पस्थिति है।

२. यावज्जीविक—जीवनपर्यन्त रहने वाली सामायिक यावज्जीविक सामायिक-कल्पस्थिति है। जिसमें पुनः महाव्रतारोपण न किया जाय, यह मध्यम तीर्थंकरों के शासनकाल में होती है।

२. छेदोपस्थापनीय-संयत-कल्पस्थिति—बड़ी दीक्षा देना या पुनः महाव्रतारोपण करना।

यह कल्पस्थिति दो प्रकार की होती है—

१. निरतिचार—इत्वरसामायिक वाले शैक्षकों को अथवा भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यों को पंच महाव्रतों की आरोपणा कराना निरतिचार छेदोपस्थापनीय-संयत-कल्पस्थिति है।

२. सातिचार—पंच महाव्रत स्वीकार करने के बाद जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी जानबूझकर किसी एक महाव्रत को यावत् पांचों महाव्रतों को भंग करे तो उसकी पूर्व दीक्षापर्याय का छेदन कर पुनः महाव्रतारोपण कराना सातिचार-छेदोपस्थापनीय-संयत-कल्पस्थिति है।

३. निर्विशमान-कल्पस्थिति—परिहारविशुद्धि संयम में तप की साधना करने वाले साधुओं की समाचारी को निर्विशमान-कल्पस्थिति कहते हैं।

४. निर्विष्टकायिक-कल्पस्थिति—जो साधु संयम की विशुद्धि रूप तप-साधना कर चुके हैं, उनकी समाचारी को निर्विष्टकायिक-कल्पस्थिति कहते हैं।

५. जिनकल्पस्थिति—गच्छ से निकलकर एकाकी विचरने वाले पाणिपात्र-भोजी गीतार्थ साधुओं की समाचारी को जिनकल्पस्थिति कहते हैं।

६. स्थविरकल्पस्थिति—गच्छ के भीतर आचार्यादि की आज्ञा में रहने वाले साधुओं की समाचारी को स्थविरकल्पस्थिति कहते है।

इस प्रकार तीर्थंकरों ने साधुओं की कल्पस्थिति छह प्रकार की कही है।

छट्ठे उद्देशक का सारांश

सूत्र १ साधु-साध्वी को छह प्रकार के अकल्पनीय वचन नहीं बोलना चाहिये।

२ किसी भी साधु पर असत्य आरोप नहीं लगाना। क्योंकि प्रमाणाभाव में स्वयं को प्रायश्चित्त का पात्र होना पड़ता है।

३-६ परिस्थितिवश साधु-साध्वी एक दूसरे के पैर में से कंटक आदि निकाल सकते हैं और आंख में पड़ी रज आदि भी निकाल सकते हैं।

७-१८ सूत्रोक्त विशेष परिस्थितियों में साधु-साध्वी को सहारा दे सकता है एवं परिचर्या कर सकता है।

१९ साधु-साध्वी संयमनाशक छह दोषों को जानकर उनका परित्याग करे।

२० संयमपालन करने वालों की भिन्न-भिन्न साधना की अपेक्षा से छह प्रकार की आचारमर्यादा होती है।

उपसंहार

इस उद्देशक में—

सूत्र १ अकल्प्य वचन बोलने के निषेध का,

२ आक्षेप वचन प्रमाणित नहीं करने के प्रायश्चित्त का,

३-१८ अपवादमार्ग में साधु-साध्वी के परस्पर सेवा कर्त्तव्यों का,

सूत्र १९ संयमनाशक दोषों का,

२० छह प्रकार की कल्प मर्यादाओं का,

इत्यादि विषयों का कथन किया गया है।

॥ छठा उद्देशक समाप्त ॥

सूत्र संख्या की तालिका

उद्देशक	सूत्र
१.	४७
२.	३०
३.	३४
४.	३६
५.	५०
६.	२०
योग=	२१७

॥ बृहत्कल्पसूत्र समाप्त ॥

व्यवहारसूत्र

व्यवहारसूत्र

प्रथम उद्देशक

कपट-सहित तथा कपट-रहित आलोचक को प्रायश्चित्त देने की विधि

१. जे भिक्खू मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स मासियं, पलिउंचियं आलोएमाणस्स दोमासियं ।

२. जे भिक्खू दोमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स दोमासियं, पलिउंचियं आलोएमाणस्स तेमासियं ।

३. जे भिक्खू तेमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स तेमासियं, पलिउंचियं आलोएमाणस्स चाउम्मासियं ।

४. जे भिक्खू चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स चाउम्मासियं पलिउंचियं, आलोएमाणस्स पंचमासियं ।

५. जे भिक्खू पंचमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स पंचमासियं, पलिउंचियं आलोएमाणस्स छम्मासियं ।

तेण परं पलिउंचिए वा, अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ।

६. जे भिक्खू बहुसो विमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स मासियं, पलिउंचियं आलोएमाणस्स दोमासियं ।

७. जे भिक्खू बहुसो वि दोमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिए आलोएमाणस्स दोमासियं, पलिउंचियं आलोएमाणस्स तेमासियं ।

८. जे भिक्खू बहुसो वि तेमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स तेमासियं, पलिउंचियं आलोएमाणस्स चाउम्मासियं ।

९. जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स चाउम्मासियं, पलिंउंचियं आलोएमाणस्स पंचमासियं ।

१०. जे भिक्खू बहुसो वि पंचमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स पंचमासियं, पलिउंचियं आलोएमाणस्स छम्मासियं ।

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ।

११. जे भिक्खू मासियं वा जाव पंचमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स मासियं वा जाव पंचमासियं वा, पलिउंचियं आलोएमाणस्स दो मासियं वा जाव छम्मासियं वा।

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा।

१२. जे भिक्खू बहुसो वि मासियं वा जाव बहुसो वि पंचमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स मासियं वा जाव पंचमासियं वा, पलिउंचियं आलोएमाणस्स दो मासियं वा जाव छम्मासियं वा।

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा।

१३. जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा साइरेग-पंचमासियं वा, पलिउंचियं आलोएमाणस्स पंचमासियं वा साइरेग पंचमासियं वा छम्मासियं वा।

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा।

१४. जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं वा, बहुसो वि साइरेग-चाउम्मासियं वा बहुसो वि पंचमासियं वा बहुसो वि साइरेग-पंचमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा, पलिउंचियं आलोएमाणस्स पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा छम्मासियं वा।

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा।

१५. जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—

अपलिउंचियं आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं।

ठविए वि पडिसेवित्ता, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१. पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, २. पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं, ३. पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, ४. पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं।

१. अपलिउंचिए अपलिउंचियं, २. अपलिउंचिए पलिउंचियं, ३. पलिउंचिए अपलिउंचियं, ४. पलिउंचिए पलिउंचियं।

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय (आरुहेयव्वे सिया)।

जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१६. जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,

पलिउंचियं आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं।

ठविए वि पडिसेवित्ता, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१. पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, २. पुव्वि पडिसेवियं पच्छा आलोइयं, ३. पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, ४. पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं।

१. अपलिउंचिए अपलिउंचियं, २. अपलिउंचिए पलिउंचियं, ३. पलिउंचिए अपलिउंचियं, ४. पलिउंचिए पलिउंचियं।

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय (आरुहेयव्वे सिया)
जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१७. जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं वा, बहुसो वि साइरेग-चाउम्मासियं वा, बहुसो वि पंचमासियं वा, बहुसो वि साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,

अपलिउंचिय आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं।

ठविए वि पडिसेवित्ता से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१. पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, २. पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं, ३. पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, ४, पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं।

१. अपलिउंचिए अपलिउंचियं, २. अपलिउंचिए पलिउंचियं, ३. पलिउंचिए अपलिउंचियं, ४. पलिउंचिए पलिउंचियं।

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय (आरुहेयव्वे सिया)
जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्वसमाणे पडिसेवेइ, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१८. जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं वा, बहुसो वि साइरेग-चाउम्मासियं वा, बहुसो वि पंचमासियं वा, बहुसो वि साइरेग पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,

पलिउंचियं आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं।
ठविए वि पडिसेवित्ता से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१. पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, २. पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं, ३. पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, ४. पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं।

११. जे भिक्खू मासियं वा जाव पंचमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स मासियं वा जाव पंचमासियं वा, पलिउंचियं आलोएमाणस्स दो मासियं वा जाव छम्मासियं वा ।

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ।

१२. जे भिक्खू बहुसो वि मासियं वा जाव बहुसो वि पंचमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स मासियं वा जाव पंचमासियं वा, पलिउंचियं आलोएमाणस्स दो मासियं वा जाव छम्मासियं वा।

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ।

१३. जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा साइरेग-पंचमासियं वा, पलिउंचियं आलोएमाणस्स पंचमासियं वा साइरेग पंचमासियं वा छम्मासियं वा ।

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ।

१४. जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं वा, बहुसो वि साइरेग-चाउम्मासियं वा बहुसो वि पंचमासियं वा बहुसो वि साइरेग-पंचमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा, पलिउंचियं आलोएमाणस्स पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा छम्मासियं वा ।

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ।

१५. जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—

अपलिउंचियं आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ।

ठविए वि पडिसेवित्ता, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया ।

१. पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, २. पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं, ३. पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, ४. पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं ।

१. अपलिउंचिए अपलिउंचियं, २. अपलिउंचिए पलिउंचियं, ३. पलिउंचिए अपलिउंचियं, ४. पलिउंचिए पलिउंचियं ।

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय (आरुहेयव्वे सिया) ।

जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१६. जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,

पलिउंचियं आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं।

ठविए वि पडिसेवित्ता, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१. पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, २. पुव्वि पडिसेवियं पच्छा आलोइयं, ३. पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, ४. पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं।

१. अपलिउंचिए अपलिउंचियं, २. अपलिउंचिए पलिउंचियं, ३. पलिउंचिए अपलिउंचियं, ४. पलिउंचिए पलिउंचियं।

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय (आरुहेयव्वे सिया)
जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१७. जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं वा, बहुसो वि साइरेग-चाउम्मासियं वा, बहुसो वि पंचमासियं वा, बहुसो वि साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,

अपलिउंचिय आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं।

ठविए वि पडिसेवित्ता से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१. पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, २. पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं, ३. पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, ४, पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं।

१. अपलिउंचिए अपलिउंचियं, २. अपलिउंचिए पलिउंचियं, ३. पलिउंचिए अपलिउंचियं, ४. पलिउंचिए पलिउंचियं।

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय (आरुहेयव्वे सिया)
जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्वसमाणे पडिसेवेइ, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१८. जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं वा, बहुसो वि साइरेग-चाउम्मासियं वा, बहुसो वि पंचमासियं वा, बहुसो वि साइरेग पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,

पलिउंचियं आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं।
ठविए वि पडिसेवित्ता से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१. पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, २. पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं, ३. पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, ४. पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं।

११. जे भिक्खू मासियं वा जाव पंचमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स मासियं वा जाव पंचमासियं वा, पलिउंचियं आलोएमाणस्स दो मासियं वा जाव छम्मासियं वा।

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा।

१२. जे भिक्खू बहुसो वि मासियं वा जाव बहुसो वि पंचमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स मासियं वा जाव पंचमासियं वा, पलिउंचियं आलोएमाणस्स दो मासियं वा जाव छम्मासियं वा।

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा।

१३. जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा साइरेग-पंचमासियं वा, पलिउंचियं आलोएमाणस्स पंचमासियं वा साइरेग पंचमासियं वा छम्मासियं वा।

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा।

१४. जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं वा, बहुसो वि साइरेग-चाउम्मासियं वा बहुसो वि पंचमासियं वा बहुसो वि साइरेग-पंचमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा, पलिउंचियं आलोएमाणस्स पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा छम्मासियं वा।

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा।

१५. जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—

अपलिउंचियं आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं।

ठविए वि पडिसेवित्ता, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१. पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, २. पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं, ३. पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, ४. पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं।

१. अपलिउंचिए अपलिउंचियं, २. अपलिउंचिए पलिउंचियं, ३. पलिउंचिए अपलिउंचियं, ४. पलिउंचिए पलिउंचियं।

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय (आरुहेयव्वे सिया)।

जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१६. जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं
पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसे

पलिउंचियं आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयाव
ठविए वि पडिसेवित्ता, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सि

१. पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, २. पुव्वि पडिसे
पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, ४. पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं।

१. अपलिउंचिए अपलिउंचियं, २. अपलिउंचिए पलिउंचि
४. पलिउंचिए पलिउंचियं।

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय (आरुहेयव्वे सिया)
जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ, से वि

१७. जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं वा, बहुसो वि सा
पंचमासियं वा, बहुसो वि साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट
पडिसेवित्ता आलोएज्जा,

अपलिउंचियं आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेया
ठविए वि पडिसेवित्ता से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे

१. पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, २. पुव्विं पडिसे
पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, ४, पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं।

१. अपलिउंचिए अपलिउंचियं, २. अपलिउंचिए पलिउंचि
४. पलिउंचिए पलिउंचियं।

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय (आरुहेयव्वे सिया)
जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ, से वि

१८. जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं वा, बहुसो वि साइ
पंचमासियं वा, बहुसो वि साइरेग पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट
पडिसेवित्ता आलोएज्जा,

पलिउंचियं आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयाव

१. अपलिउंचिए अपलिउंचियं, २. अपलिउंचिए पलिउंचियं, ३. पलिउंचिए अपलिउंचियं, ४. पलिउंचिए पलिउंचियं।

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय (आरुहेयव्वे सिया)

जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१. जो भिक्षु एक बार मासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर एक मास का प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर दो मास का प्रायश्चित्त आता है।

२. जो भिक्षु एक बार द्विमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर द्विमासिक प्रायश्चित्त आता है और माया-सहित आलोचना करने पर त्रैमासिक प्रायश्चित्त आता है।

३. जो भिक्षु एक बार त्रैमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर त्रैमासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

४. जो भिक्षु एक बार चातुर्मासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५. जो भिक्षु एक बार पंचमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर छमासी प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त मायासहित या मायारहित आलोचना करने पर भी वही छमासी प्रायश्चित्त आता है।

६. जो भिक्षु अनेक बार मासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर एक मास का प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर द्वैमासिक प्रायश्चित्त आता है।

७. जो भिक्षु अनेक बार द्विमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर द्विमासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर त्रैमासिक प्रायश्चित्त आता है।

८. जो भिक्षु अनेक बार त्रैमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर त्रैमासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

९. जो भिक्षु अनेक बार चातुर्मासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है।

१०. जो भिक्षु अनेक बार पचमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त मायासहित या मायारहित आलोचना करने पर भी वही षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

११. जो भिक्षु मासिक यावत् पंचमासिक परिहारस्थानों में से किसी परिहारस्थान की एक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार मासिक यावत् पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार द्विमासिक यावत् षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त मायासहित या मायारहित आलोचना करने पर वही षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१२. जो भिक्षु मासिक यावत् पंचमासिक इन परिहारस्थानों में से किसी एक परिहारस्थान को अनेक वार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार मासिक यावत् पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार द्विमासिक यावत् षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त मायासहित या मायारहित आलोचना करने पर वही षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१३. जो भिक्षु चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक इन परिहारस्थानो मे से किसी एक परिहारस्थान की एक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक या षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त मायासहित या मायारहित आलोचना करने पर भी वही षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१४. जो भिक्षु अनेक बार चातुर्मासिक या अनेक बार कुछ अधिक चातुर्मासिक, अनेक बार पंचमासिक या अनेक बार कुछ अधिक पंचमासिक इन परिहारस्थानों से से किसी एक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक

प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक या छह्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त मायासहित या मायारहित आलोचना करने पर वही षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१५. जो भिक्षु चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक इन परिहारस्थानों में से किसी एक परिहारस्थान की एक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे—

मायारहित आलोचना करने पर आसेवित प्रतिसेवना के अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहारतप में स्थापित करके उसकी योग्य वैयावृत्य करनी चाहिए।

यदि वह परिहारतप में स्थापित होने पर भी किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिए।

१. पूर्व में प्रतिसेवितदोष की पहले आलोचना की हो,
२. पूर्व में प्रतिसेवितदोष की पीछे आलोचना की हो,
३. पीछे से प्रतिसेवितदोष की पहले आलोचना की हो,
४. पीछे से प्रतिसेवितदोष की पीछे से आलोचना की हो।

१. मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना की हो,
२. मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना की हो,
३. मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना की हो,
४. मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना की हो।

इनमें से किसी भी प्रकार के भंग से आलोचना करने पर उसके सर्व स्वकृत अपराध के प्रायश्चित्त को संयुक्त करके पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिए।

जो इस प्रायश्चित्त रूप परिहारतप में स्थापित होकर वहन करते हुए भी पुनः किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में आरोपित कर देना चाहिए।

१६. जो भिक्षु चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक इन परिहारस्थानों में से किसी एक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे—

मायासहित आलोचना करने पर आसेवित प्रतिसेवना के अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहारतप में स्थापित करके उसकी योग्य वैयावृत्य करनी चाहिए।

यदि वह परिहारतप में स्थापित होने पर भी किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिए।

१. पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,
२. पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना की हो,

३. पीछे से प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,
४. पीछे से प्रतिसेवित दोष की पीछे से आलोचना की हो।

१. मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना की हो,
२. मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना की हो.
३. मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना की हो,
४. मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना की हो।

इनमें से किसी प्रकार के भंग से आलोचना करने पर उसके सर्व स्वकृत अपराध के प्रायश्चित्त को संयुक्त करके पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिए।

जो इस प्रायश्चित्त रूप परिहारतप में स्थापित होकर वहन करते हुए भी पुनः किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में आरोपित कर देना चाहिए।

१७. जो भिक्षु चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक इन परिहारस्थानों में से किसी एक परिहारस्थान की अनेक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे—

मायारहित आलोचना करने पर आसेवित प्रतिसेवना के अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहारतप में स्थापित करके उसकी योग्य वैयावृत्य करनी चाहिए।

यदि वह परिहारतप में स्थापित होने पर भी किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिए।

१. पूर्व में प्रतिसेवितदोष की पहले आलोचना की हो,
२. पूर्व में प्रतिसेवितदोष की पीछे आलोचना की हो,
३. पीछे से प्रतिसेवितदोष की पहले आलोचना की हो,
४. पीछे से प्रतिसेवितदोष की पीछे आलोचना की हो।

१. मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना की हो,
२. मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना की हो,
३. मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना की हो,
४. मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना की हो।

इनमें से किसी भी प्रकार के भंग से आलोचना करने पर उसके सर्व स्वकृत अपराध के प्रायश्चित्त को संयुक्त करके पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिए।

जो इस प्रायश्चित्त रूप परिहारतप में स्थापित होकर वहन करते हुए भी पुनः किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में आरोपित कर देना चाहिए।

१८. जो भिक्षु चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक इन परिहारस्थानों में से किसी एक परिहारस्थान की अनेक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे—

मायासहित आलोचना करने पर आसेवित के अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहारतप में स्थापित करके योग्य वैयावृत्य करनी चाहिए।

यदि वह परिहारतप में स्थापित होने पर भी किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिए।

१. पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,
२. पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना की हो,
३. पीछे से प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,
४. पीछे से प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना की हो।

१. मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना की हो,
२. मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना की हो,
३. मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना की हो,
४. मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना की हो।

इनमें से किसी भी प्रकार के भंग से आलोचना करने पर उसके सर्व स्वकृत अपराध के प्रायश्चित्त को संयुक्त करके पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिए।

जो इस प्रायश्चित्त रूप परिहारतप में स्थापित होकर वहन करते हुए पुनः किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में आरोपित कर देना चाहिए।

विवेचन—भिक्षु या भिक्षुणी अतिचाररहित संयम का पालन करके तो शुद्ध आराधना करते ही हैं किन्तु साधना के लंबे काल में कभी शारीरिक या अन्य किसी प्रकार की परिस्थितियों से विवश होकर यदि उन्हें अतिचारादि का सेवन करना पड़े तो भी वे आलोचना एवं प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि करके संयम की आराधना कर सकते हैं।

इन सूत्रों में प्रतिसेवना, आलोचना, प्रायश्चित्तस्थान, प्रस्थापना, आरोपणा आदि का कथन किया गया है।

निशीथ उद्देशक २० में ऐसे ही अठारह सूत्र हैं। वहाँ इन सूत्रों से संबंधित उक्त सभी विषयों का विस्तृत विवेचन कर दिया गया है।

सूत्रोक्त परिहारस्थान के भाष्यकार ने दो अर्थ किये हैं—

१. परित्याग करने योग्य अर्थात् दोषस्थान और २. धारण करने योग्य अर्थात् प्रायश्चित्त-तप।

प्रस्तुत अठारह सूत्रों में 'दोषस्थान' अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया गया है और निशीथ के प्रत्येक उद्देशक के उपसंहारसूत्र में 'प्रायश्चित्ततप' अर्थ में इसका प्रयोग किया गया है।

पारिहारिक और अपारिहारिकों का निषद्यादि व्यवहार

१९. बहवे पारिहारिया बहवे अपारिहारिया इच्छेज्जा एगयओ अभिनिसेज्जं वा, अभिनिसीहियं वा चेइत्तए, नो से कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता एगयओ अभिनिसेज्जं वा, अभिनिसीहियं वा चेइत्तए। कप्पइ णं थेरे आपुच्छित्ता एगयओ अभिनिसेज्जं वा, अभिनिसीहियं वा चेइत्तए।

थेरा य णं वियरेज्जा, एवं णं कप्पइ एगयओ अभिनिसेज्जं वा, अभिनिसीहियं वा चेइत्तए। थेरा य णं णो वियरेज्जा, एवं नो कप्पइ एगयओ अभिनिसेज्जं वा, अभिनिसीहियं वा चेइत्तए। जो णं थेरेहिं अविइण्णे, अभिनिसेज्जं वा, अभिनिसीहियं वा चेएइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा।

१९. अनेक पारिहारिक भिक्षु और अनेक अपारिहारिक भिक्षु यदि एक साथ रहना या बैठना चाहें तो उन्हें स्थविर को पूछे विना एक साथ रहना या एक साथ बैठना नही कल्पता है। स्थविर को पूछ करके ही वे एक साथ रह सकते हैं या बैठ सकते हैं।

यदि स्थविर आज्ञा दें तो उन्हें एक साथ रहना या एक साथ बैठना कल्पता है। यदि स्थविर आज्ञा न दें तो उन्हें एक साथ रहना या बैठना नही कल्पता है। स्थविर की आज्ञा के बिना वे एक साथ रहें या बैठें तो उन्हें मर्यादा उल्लंघन का दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—परिहारतप वहन करने की विस्तृत विधि निशीथ उ. ४ में कही है तथा उ. २० एवं बृहत्कल्प उ. ४ में भी कुछ वर्णन किया गया है।

पारिहारिक भिक्षु का आहार, विहार, स्वाध्याय, शय्या, निषद्या आदि सभी कार्य समूह में रहते हुए भी अलग-अलग होते हैं। अतः किसी साधु को किसी विशेष कारण से पारिहारिक के साथ बैठना हो तो स्थविर आदि, जो गण में प्रमुख हों, उनकी आज्ञा लेना आवश्यक होता है। स्थविर को उचित लगे तो वे आज्ञा देते हैं अन्यथा वे निषेध कर देते है। निषेध करने के बाद भी यदि कोई उसके साथ बैठता है, वह मर्यादा का भंग करता है तथा बिना पूछे उसके साथ बैठे या अन्य किसी प्रकार का व्यवहार करे तो मर्यादा-भग करने वाला होता है, जिससे वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

पारिहारिक के साथ व्यवहार न रखने का कारण यह है कि वह अकेला रहकर प्रायश्चित्त से विशेष निर्जरा करता हुआ अपनी आत्मशुद्धि करे और समूह में रहते हुए उस प्रायश्चित्त तप को वहन कराने का कारण यह है कि अन्य साधुओं को भी भय उत्पन्न हो, जिससे वे दोषसेवन करने से बचते रहें।

परिहारकल्पस्थित भिक्षु का वैयावृत्य के लिए विहार

२०. परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य से सरेज्जा। कप्पइ से एगराइयाए पडिमाए जण्णं जण्णं दिसं अन्ने साहम्मिया विहरंति तण्णं तण्णं दिसं उवलित्तए।

नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए। कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए, तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा—'वसाहि अज्जो! एगरायं वा दुरायं वा।' एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए। नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए।

जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा।

२१. परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य से नो सरेज्जा कप्पइ से निव्विसमाणस्स एगराइयाए पडिमाए जण्णं जण्णं दिसं अन्ने साहम्मिया विहरंति तण्णं तण्णं दिसं उवलित्तए।

नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए। कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए। तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा—'वसाहि अज्जो! एगरायं वा दुरायं वा।' एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए। नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए।

जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा।

२१. परिहार-कप्पट्ठिए भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य से सरेज्जा वा, नो सरेज्जा वा, कप्पइ से निव्विसमाणस्स एगराइयाए पडिमाए जण्णं जण्णं दिसं अन्ने साहम्मिया विहरंति तण्णं तण्णं दिसं उवलित्तए।

नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए। कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए। तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा, 'वसाहि अज्जो! एगरायं वा दुरायं वा।' एवं कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए। नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए।

जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा।

२०. परिहारकल्प में स्थित भिक्षु (स्थविर की आज्ञा से) अन्यत्र किसी रुग्ण स्थविर की वैयावृत्य (सेवा) के लिए जावे उस समय स्थविर को स्मरण रहे अर्थात् स्थविर उसे परिहारतप छोड़ने की अनुमति दे तो उसे मार्ग के ग्रामादि में एक-एक रात्रि विश्राम करते हुए जिस दिशा में साधर्मिक रुग्ण भिक्षु हो, उसी दिशा में जाना कल्पता है।

मार्ग में विचरण के लक्ष्य से ठहरना नहीं कल्पता है, किन्तु रोगादि के कारण रहना कल्पता है। कारण के समाप्त होने पर यदि कोई वैद्य आदि कहे कि 'हे आर्य! तुम यहां एक-दो रात और ठहरो' तो उसे एक-दो रात और रहना कल्पता है, किन्तु एक-दो रात से अधिक रहना उसे नहीं कल्पता है।

जो वहां एक-दो रात्रि से अधिक रहता है, उसे उस मर्यादा-उल्लंघन का दीक्षाछेद या तप प्रायश्चित्त आता है।

२१. परिहारकल्पस्थित भिक्षु (स्थविर की आज्ञा से) अन्यत्र किसी रुग्ण भिक्षु की वैयावृत्य के लिए जाए, उस समय यदि स्थविर उसे स्मरण न दिलावे अर्थात् परिहारतप छोड़ने की अनुमति न दे तो परिहारतप वहन करते हुए तथा मार्ग के ग्रामादि में एक रात्रि विश्राम करते हुए जिस दिशा में रुग्ण साधर्मिक भिक्षु है उस दिशा में जाना कल्पता है।

मार्ग में उसे विचरण के लक्ष्य से रहना नहीं कल्पता है। किन्तु रोगादि के कारण रहना कल्पता है। उस कारण के समाप्त हो जाने पर यदि कोई वैद्य आदि कहे कि 'हे आर्य! तुम यहां एक-दो रात और रहो' तो उसे वहां एक-दो रात और रहना कल्पता है किन्तु एक-दो रात से अधिक रहना नहीं कल्पता है। जो वहां एक-दो रात्रि से अधिक रहता है उसे उस मर्यादा उल्लंघन का छेद या तप प्रायश्चित्त आता है।

२२. परिहारकल्पस्थित भिक्षु (स्थविर की आज्ञा से) अन्यत्र किसी रुग्ण स्थविर की वैयावृत्य के लिए जावे, उस समय स्थविर उसे स्मरण दिलावे या न दिलावे अर्थात् परिहारतप छोड़कर जाने की स्वीकृति दे या न दे तो उसे मार्ग के ग्रामादि में एक रात्रि विश्राम करते हुए और शक्ति हो तो परिहारतप वहन करते हुए जिस दिशा में रुग्ण स्थविर है उस दिशा मे जाना कल्पता है।

मार्ग में उसे विचरण के लक्ष्य से रहना नही कल्पता है किन्तु रोगादि के कारण रहना कल्पता है। कारण के समाप्त हो जाने पर यदि कोई वैद्य आदि कहे कि "हे आर्य ! तुम यहां एक-दो रात और रहो" तो उसे वहां एक-दो रात और रहना कल्पता है किन्तु एक-दो रात से अधिक रहना नहीं कल्पता है। जो वहां एक-दो रात्रि से अधिक रहता है उसे उस मर्यादा-उल्लंघन का छेद या तप प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—पूर्वसूत्र में परिहारतप करने वाले भिक्षु के साथ निपद्या आदि के व्यवहार का निषेध एवं अपवाद कहा गया है।

प्रस्तुत सूत्रत्रिक में परिस्थितिवश पारिहारिक भिक्षु को स्थविर की सेवा के लिए भेजने का वर्णन किया गया है।

पारिहारिक भिक्षु अपने प्रायश्चित्त तप की आराधना करता हुआ भी सेवा में जा सकता है अथवा तप की आराधना छोड़कर भी जा सकता है।

प्रथम सूत्र में बताया गया है कि स्थविर तप छोड़ने का कहें तो तप छोड़कर जावे। दूसरे सूत्र में बताया गया है कि स्थविर तप छोड़ने का न कहें तो प्रायश्चित्त तप वहन करते हुए जावे। तीसरे सूत्र में बताया गया है कि स्थविर कहें या न कहें, यदि शक्ति हो तो परिहारतप वहन करते हुए ही जावे और शक्ति न हो तो स्वीकृति लेकर परिहारतप छोड़कर जावे।

पारिहारिक भिक्षु तप करते हुए जावे या तप छोड़कर जावे तो विश्रांति के लिए उसे मार्ग मे एक जगह एक रात्रि से अधिक नहीं रुकना चाहिए।

धर्म प्रभावना के लिए या किसी की प्रार्थना-आग्रह से वह मार्ग में अधिक नहीं रुक सकता है किन्तु स्वयं की अशक्ति या बीमारी के कारण अधिक रुकना चाहे तो वह रुक सकता है। यदि बीमारी के कारण ५-१० दिन तक रहे और उसका उपचार भी करना पड़े तो ठहर सकता है और स्वस्थ होने के बाद किसी वैद्य या किसी हितैषी गृहस्थ के कहने से एक या दो दिन और भी रुक सकता है। उसका कोई प्रायश्चित्त नही आता है।

स्वस्थ होने के बाद स्वेच्छा से या किसी के कहने पर दो दिन से अधिक रुके तो वह मर्यादा-उल्लंघन के कारण यथायोग्य तप या छेद प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

"से संतरा छेए वा परिहारे वा" इस सूत्रांश का विवेचन बृहत्कल्पसूत्र उ. २, सू. ४ में देखें।

गंतव्य स्थान का जो सीधा मार्ग संयम-मर्यादा के अनुसार हो तो उसी से वैयावृत्य के लिए जाना चाहिए किन्तु अधिक समय व्यतीत करते हुए यथेच्छ मार्ग से नहीं जाना चाहिए।

अकेले विचरने वाले का गण में पुनरागमन

२३. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेय-परिहारस्स उवट्ठाएज्जा।

२४. गणावच्छेइए य गणाओ अवक्कम्म एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेय-परिहारस्स उवट्ठाएज्जा।

२५. आयरिय-उवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेय-परिहारस्स उवट्ठाएज्जा।

२३. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर एकलविहारचर्या धारण करके विचरण करे, बाद में वह पुनः उसी गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो उस पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एवं प्रतिक्रमण करे तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो भी छेद या तप रूप प्रायश्चित्त दे उसे स्वीकार करे।

२४. यदि कोई गणावच्छेदक गण से निकलकर एकलविहारचर्या को धारण करके विचरण करे और बाद में वह पुनः उसी गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो उस पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एवं प्रतिक्रमण करे तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो भी छेद या तप रूप प्रायश्चित्त दे उसे स्वीकार करे।

२५. यदि कोई आचार्य या उपाध्याय गण से निकलकर एकलविहारचर्या को धारण करके विचरण करे और बाद में वह पुनः उसी गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो उस पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एवं प्रतिक्रमण करे तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो छेद या तप रूप प्रायश्चित्त दे उसे स्वीकार करे।

विवेचन—इन सूत्रों में गण से निकलकर एकाकी विहारचर्या करने वाले भिक्षु, आचार्य, उपाध्याय एवं गणावच्छेदक का कथन है।

ये एकलविहारी भिक्षु यदि एकाकी विहारचर्या छोड़कर पुनः गण में सम्मिलित होना चाहें तो उनको गण में सम्मिलित किया जा सकता है, किन्तु उनको एकाकी विहारचर्या में लगे दोषों की आलोचना प्रतिक्रमण करना आवश्यक होता है और गच्छप्रमुख उनके एकाकी विचरण का प्रायश्चित्त तप या दीक्षाछेद जो भी दे उसे स्वीकार करना भी आवश्यक होता है।

इन सूत्रों के विधानानुसार भिक्षु, आचार्य, उपाध्याय एवं गणावच्छेदक प्रतिमाधारी नहीं हैं, यह स्पष्ट है। फिर भी सूत्रों में जो "प्रतिमा" शब्द का प्रयोग किया गया है वह केवल सूत्र-शैली है। क्योंकि आगे के सूत्रों में पार्श्वस्थ आदि के लिए एवं अन्य मत के लिंग को धारण करने वाले के लिये

भी "प्रतिमा" शब्द का प्रयोग किया गया है। जिनके प्रतिमाधारी होने की कल्पना करना सर्वथा अनुचित होगा।

भिक्षु की बारह प्रतिमा या अन्य प्रतिमाएं धारण करने वालों की निश्चित अवधि होती है। ये उतने समय तक आराधना करते रहते हैं। उनके लिए सूत्र में प्रयुक्त "दोच्चंपि" और "इच्छेज्जा" पद अनावश्यक है। वे अनेक प्रकार की तप-साधना आदि का अभ्यास करके ही प्रतिमा धारण करते हैं। अतः बीच में प्रतिमा छोड़कर आने का कोई कारण नही होता है तथा प्रतिमाधारी भिक्षु के लिए प्रतिमा पूर्ण करके गच्छ में आने पर तप या छेद प्रायश्चित्त के विधान की कल्पना करना भी उचित नही है। क्योंकि प्रतिमा धारण करने वाले श्रावक भी इतने दृढ मनोबल वाले होते हैं कि वे अपने नियमों में किसी प्रकार के आगार नहीं रखते है अर्थात् राजा आदि का आगार भी उनके नहीं रहता है। तब प्रतिमाओं को धारण करने वाले भिक्षु के चलचित्त होने की एवं दोष लगाने की सम्भावना ही कैसे की जा सकती है?

सूत्र ३१ मे अन्यमत का लिंग धारण करने वाले सामान्य भिक्षु के लिए भी "नत्थि केई छेए वा परिहारे वा, नन्नत्थ एगाए आलोयणाए" ऐसा कथन है तो प्रतिमाधारी भिक्षु तो उससे भी बहुत उच्चकोटि की साधना करने वाले होते हैं।

अतः इन सूत्रों मे किया गया विधान एव प्रायश्चित्त स्वेच्छावश गच्छ से निकलकर एकल-विहारचर्या धारण करने वालों की अपेक्षा से है, ऐसा समझना ही उचित है।

आगमों में कहे गए एकलविहार दो प्रकार के हैं—

(१) अपरिस्थितिक (२) सपरिस्थितिक।

अपरिस्थितिक—प्रतिमाओं को धारण करने वाले भिक्षुओं का अकेला रहना केवल निर्जरा-हेतु होता है, वह अपरिस्थितिक एकलविहार है।

प्रतिमा धारण करने वाले भिक्षु गच्छ के आचार्य की आज्ञा लेकर आदर सहित एकलविहार करते है, अतः ये आचार्य की सम्पदा में गिने जाते हैं। ये नौ पूर्व के ज्ञाता होते हैं। आठ महिनों में प्रतिमा पूर्ण करने के बाद सम्मान पूर्वक गण में आते हैं।

सपरिस्थितिक—शारीरिक-मानसिक कारणों से, प्रकृति की विषमता से, शुद्ध संयम पालन करने वाले सहयोगी के न मिलने से अथवा पूर्णतया संयमविधि का पालन न कर सकने से, जो स्वेच्छा से एकलविहार धारण किया जाता है, वह 'सपरिस्थितिक एकलविहार' है।

सपरिस्थितिक एकलविहारचर्या वाला भिक्षु आचार्य की सम्पदा मे नहीं गिना जाता है। उसका गच्छ से निकलना आज्ञा से अथवा आदरपूर्वक नहीं होता है, किन्तु संघ की उदासीनता या विरोधपूर्वक होता है।

सपरिस्थितिक एकलविहारचर्या वाले भिक्षु के लिए प्रतिमा धारण करना, उत्कृष्ट गीतार्थ होना अथवा विशिष्ट योग्यताओं का होना तो अनिवार्य नहीं है, तथापि नवदीक्षित (तीन वर्ष से अल्प दीक्षा पर्याय वाला), बालक (१६ वर्ष से कम वय वाला) एवं तरुण (४० वर्ष से अल्प वय वाले) भिक्षु को एकलविहारी नहीं होना चाहिए। क्योंकि व्यवहारसूत्र उ. ३ में इन तीनों को आचार्य उपाध्याय के नेतृत्व में ही रहने का विधान है।

अपरिस्थितिक एकलविहारचर्या सम्बन्धी आगमस्थल

१. भिक्षु की ग्यारह प्रतिमा। —दशा द. ७
२. जिनकल्पसाधना। —बृहत्कल्प उ. ६
३. जिनकल्पी को सर्प काटने पर भी उपचार कराने का निषेध। —व्यव. उ. ५
४. एकलविहार का मनोरथ। —ठाणं अ. ३
५. एकलविहार के आठ गुण। —ठाणं अ. ८
६. अकेले बैठे, खड़ा रहे, सोवे एवं विचरे। —सूय. श्रु. १, अ. २, उ. २
७. संभोग (सामूहिक आहार) प्रत्याख्यान का फल। —उत्तरा. अ. २९
८. सहाय-प्रत्याख्यान का फल। —उत्तरा. अ. २९
९. शिष्य को एकलविहारसमाचारी की शिक्षा देने से आचार्य का शिष्य के ऋण से मुक्त होना। —दशा. द. ४
१०. गणत्याग करना आभ्यन्तर तप कहा है। —उववाई. सू. ३० / भगवती. श. २५, उ. ७
११. वस्त्र सम्बन्धी प्रतिज्ञायुक्त एकलविहार। —आ. श्रु. १, अ. ८, उ. ४-५-६-७

मोय-प्रतिमा तथा दत्ति-परिमाण तप एवं अनेक अभिग्रहों में भी समूह का या सामूहिक आहार का त्याग किया जाता है।

सपरिस्थितिक एकलविहारचर्या सम्बन्धी विधान करने वाले आगमस्थल

१. आत्मसुरक्षा के लिए एकलविहार। —ठाणं. अ. ३
२. शिष्यों द्वारा उत्पन्न असमाधि से गर्गाचार्य का एकलविहार। —उत्तरा. अ. २६
३. योग्य सहायक भिक्षु के अभाव में एकलविहार का निर्देश। —उत्तरा. अ. ३२
४. पूरी चूलिका का नाम ही 'विविक्तचर्या' है एवं उसमें एकलविहार के निर्देश के साथ अनेक शिक्षाप्रद वचन कहे हैं। —दशवै. चू. २
५. शुद्ध गवेषणा करने वाले भिक्षु के एकलविहार की प्रशंसा।—आचा. श्रु. १, अ. ६, उ. २
६. आधाकर्म दोष से बचने के लिए एकलविहार की प्रेरणा एवं उससे मोक्षप्राप्ति का प्ररूपण। —सूय. श्रु. १, अ. १०
७. एकलविहारी के निवासयोग्य उपाश्रय का विधान। —व्यव. उ. ६
८. एकलविहारी की वृद्धावस्था का आपवादिक जीवन। —व्यव. उ. ८
९. ठाणं अ. ५ में गणत्याग के प्रशस्त कारण कहे हैं एवं बृहत्कल्प उ. ४ में संयम गुण की हानि हो ऐसे गण में जाने का निषेध है। अतः ऐसी परिस्थिति वाले भिक्षु का एकल-विहार।
१०. अरिहंत सिद्ध की साक्षी से एकलविहारी भिक्षु को आलोचना एवं प्रायश्चित्त ग्रहण करने की विधि। —व्यव. उ. १, सू. ३३

अप्रशस्त एकलविहार एवं उसका निषेध करने वाले आगमस्थल

१. अत्यन्तक्रोधी-मानी एवं धूर्त का दूषित एकलविहार। —आचा. श्रु. १, अ. ५, उ. १

२. योग्य प्रायश्चित्त स्वीकार न करने से जो गच्छ-निष्कासित हो, उसका एकलविहार।
—बृहत्कल्प. उ. ४

३. अव्यक्त एवं अशान्त स्वभाव वाले का संकटयुक्त एकलविहार।
—आचा. श्रु. १, अ. ५, उ. ४

४. संयम-विधि के पालन में अरुचि वाले के लिए एकलविहार का निषेध।
—आचा. श्रु. १, अ. ५, उ. ६

५. परिपूर्ण पंखरहित पक्षी की उपमा से अव्यक्त भिक्षु के लिए एकलविहार का निषेध।
—सूय. श्रु. १, अ. १४

६. नवदीक्षित, बालक एवं तरुण भिक्षु को आचार्य की निश्रा बिना रहने का निषेध।
—व्यव. उ. ३

७. आचार्य, उपाध्याय पद धारण करने वालों को अकेले विहार करने का निषेध।
—व्यव. उ. ४

निर्युक्ति तथा भाष्य में एकलविहार का वर्णन

१. बृहत्कल्पभाष्य गाथा. ६९० से ६९३ तक—

जघन्यगीतार्थ—आचारांग एवं निशीथसूत्र को कण्ठस्थ धारण करने वाला।
मध्यमगीतार्थ—आचारांग, सुयगडांग एवं चार छेदसूत्रों को कण्ठस्थ करने वाला।
उत्कृष्टगीतार्थ—नवपूर्व से १४ पूर्व तक के ज्ञानी आदि।

इनमें से किसी भी प्रकार का गीतार्थ ही आचार्य, उपाध्याय या एकलविहारी हो सकता है। क्योंकि गीतार्थ का एकाकी विहार एवं गीतार्थ आचार्य की निश्रायुक्त गच्छविहार, ये दो विहार ही जिनशासन में अनुज्ञात है। तीसरा अगीतार्थ का एकाकी विहार एवं अगीतार्थ की निश्रायुक्त गच्छ-विहार भी जिनशासन में निषिद्ध है।

निशीथचूर्णि गा. ४०४ में उक्त गीतार्थ की व्याख्या के समान ही जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट बहुश्रुत की भी व्याख्या की गई है।

२. व्यवहारभाष्य उ. १ के अन्तिम सूत्र में—

१. रोगातंक २. दुर्भिक्ष ३. राजद्वेष ४. भय ५. शारीरिक या मानसिक ग्लानता ६. ज्ञान दर्शन या चारित्र की वृद्धि हेतु ७. साथी भिक्षु के काल-धर्म प्राप्त होने पर ८. आचार्य या स्थविर की आज्ञा से भेजने पर, इत्यादि कारणों से एकलविहार किया जाता है।

गच्छ में आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर एवं गणावच्छेदक इन पांच पदवीधरों में से एक भी योग्य पदवीधर के न होने के कारण गच्छ त्याग करने वाले एकलविहारी भिक्षु होते हैं।

उक्त कारणों से एकलविहारी हुए भिक्षुओं को अरिहंत सिद्ध की साक्षी से आलोचना करने का विधान है।

३. ओघनिर्युक्ति में—सकारण एवं अकारण के भेद से एकलविहार दो प्रकार का कहा है—

१. ज्ञान दर्शन चारित्र की वृद्धि के लिए या आगमोक्त अन्य परिस्थितियों में किया गया गीतार्थ का एकलविहार 'सकारण एकलविहार' है।

२. आचार्यादि के अनुशासन से घबराकर अथवा स्थान, क्षेत्र, आहार, वस्त्र आदि मनोनुकूल प्राप्त करने हेतु अथवा अनेक स्थलों को देखने हेतु किया गया गीतार्थ का एकलविहार भी 'अकारण एकलविहार' है तथा सभी अगीतार्थों का एकलविहार तो 'अकारण एकलविहार' ही कहा जाता है।

प्रस्तुत सूत्रत्रिक में आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक एवं सामान्य भिक्षुओं के एकलविहार करने का एवं गण में पुनरागमन का विधान किया गया है।

सारांश यह है कि एकलविहार प्रशस्त अप्रशस्त दोनों प्रकार का होता है। अतएव एकल-विहार आगमों में निषिद्ध भी है एवं विहित भी है। गीतार्थ का आगमोक्त कारणों के उपस्थित होने पर किया गया प्रशस्त एकलविहार आगमविहित है।

अगीतार्थ, अबहुश्रुत और अव्यक्त का एकलविहार एकान्त निषिद्ध है और ये तीनों ही शब्द एकार्थक भी हैं।

संयम में शिथिल, अजागरूक एवं क्रोध, मान आदि कषायों की अधिकता वाले भिक्षु का एकलविहार अप्रशस्त है एवं वह निंदित एकलविहार कहा गया है।

ये प्रशस्त अप्रशस्त कोई भी एकाकीविहारी भिक्षु पुनः गच्छ में आकर रहना चाहे तो उचित परीक्षण करके एवं योग्य प्रायश्चित्त देकर गच्छ में रखा जा सकता है। यह तीनों सूत्रों का सार है।

पार्श्वस्थ-विहारी आदि का गण में पुनरागमन

२६. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म पासत्थविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, अत्थि य इत्थ सेसे, पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा।

२७. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म अहाछंदविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, अत्थि य इत्थ सेसे, पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा।

२८. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म कुसीलविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, अत्थि य इत्थ सेसे, पुणो आलोएज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा।

२९. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओसन्नविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, अत्थि य इत्थ सेसे, पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा।

३०. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म संसत्तविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, अत्थि य इत्थ सेसे, पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा।

२६. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर पार्श्वस्थविहारचर्या को अंगीकार करके विचरे और बाद में वह पार्श्वस्थविहार छोड़कर उसी गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो यदि उसका चारित्र कुछ शेष हो तो पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एवं प्रतिक्रमण करे तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो भी दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त दें, उसे स्वीकार करे।

२७. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर यथाछन्दविहारचर्या अंगीकार करके विचरे और बाद में वह यथाछन्दविहार छोड़कर उसी गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो यदि उसका चारित्र कुछ शेष हो तो वह उस पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एवं प्रतिक्रमण करे तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो भी दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त दें, उसे स्वीकार करे।

२८. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर कुशीलविहारचर्या को अंगीकार करके विचरे और बाद में वह कुशीलविहार छोड़कर उसी गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो यदि उसका चारित्र कुछ शेष हो तो वह उस पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एवं प्रतिक्रमण करे तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो भी दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त दें, उसे स्वीकार करे।

२९. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर अवसन्नविहारचर्या को अंगीकार करके विचरे और बाद में वह अवसन्नविहार छोड़कर उसी गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो यदि उसका चारित्र कुछ शेष हो तो वह उस पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एवं प्रतिक्रमण करे तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो भी दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त दें, उसे स्वीकार करे।

३०. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर संसक्तविहारचर्या को अंगीकार करके विचरे और बाद में वह संसक्तविहार को छोड़कर उसी गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो यदि उसका चारित्र कुछ शेष हो तो वह उस पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एवं प्रतिक्रमण करे तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो भी दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त दें, उसे स्वीकार करे।

विवेचन—पूर्व के सूत्रों में एकलविहारी भिक्षु के पुनः गच्छ में आने का कथन है और इन सूत्रों में शिथिल आचार वाले पार्श्वस्थ आदि भिक्षुओं का पुनः गच्छ में आने का कथन है। इन सूत्रों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वसूत्रों में वर्णित एकलविहार वाले संयम में शिथिल नहीं हैं, किन्तु शुद्ध आचार का पालन करने वाले हैं।

पार्श्वस्थ आदि जब पुनः गच्छ में आना चाहें तब उनकी दूषित प्रवृत्तियों के द्वारा संयम पूर्ण नष्ट न हुआ हो अर्थात् कुछ भी संयम के गुण शेष रहे हों तो उन्हें तप या छेद का प्रायश्चित्त देकर गच्छ में सम्मिलित किया जा सकता है।

यह संयम शेष रहने का कथन पूर्वसूत्रों में नही है, अन्य सभी विधान दोनों जगह समान हैं। अतः इनका विवेचन पूर्ववत् समझना चाहिए।

इन सूत्रों में प्रायश्चित्त के लिए तप या छेद का वैकल्पिक विधान किया गया है अर्थात् किसी एकलविहारी या पार्श्वस्थ आदि को तप प्रायश्चित्त देकर गच्छ में सम्मिलित किया जा सकता है और किसी को दीक्षाछेद का प्रायश्चित्त भी दिया जा सकता है, अतः एकान्त विधान नहीं समझना चाहिए।

किसी भी साधु को पुनः गच्छ में सम्मिलित करने के लिए उसके संयम की परीक्षा करना एवं जानकारी करना अत्यन्त आवश्यक होता है, चाहे वह शुद्ध-आचार वाला हो अथवा शिथिल-आचार वाला हो।

१. स्वतंत्र रहने वाला भिक्षु गच्छ के आचार-विचार एवं विनय-अनुशासन में रह सकेगा या नहीं, यह देखना अत्यंत आवश्यक है।

२. वह पार्श्वस्थविहार आदि छोड़कर पुनः गच्छ में क्यों आना चाहता है;—विशुद्ध परिणामों से या संक्लिष्ट परिणामों से ?

३. परीषह-उपसर्ग एवं अपमान आदि से घबराकर आना चाहता है ?

४. भविष्य के लिए उसके अब क्या कैसे परिणाम हैं ?

५. उसके गच्छ में रहने के परिणाम स्थिर हैं या नहीं ?

इत्यादि विचारणाओं के बाद उसका एवं गच्छ का जिसमें हित हो, ऐसा निर्णय लेना चाहिए।

सही निर्णय करने के लिए उस भिक्षु को कुछ समय तक या उत्कृष्ट छह महीने तक गच्छ में सम्मिलित न करके परीक्षार्थ रखा जा सकता है, जिससे उसे रखने या न रखने का सही निर्णय हो सके।

इन विचारणाओं का कारण यह है कि वह भिक्षु गच्छ का या गच्छ के अन्य साधु-साध्वियों का अथवा संघ का कुछ भी अहित कर बैठे, बात-बात में कलह करे, गच्छ या गच्छप्रमुखों की निंदा करे या पुनः गच्छ को छोड़ दे, अन्य साधुओं को भी भ्रमित कर गच्छ छुड़ा दे, इत्यादि परिणामों से उसकी या गच्छ की एवं जिनशासन की हीलना होती है।

अतः सभी विषयों का पूर्वापर विचार करके ही आगंतुक भिक्षु को रखना चाहिए। अन्य गच्छ के आगंतुक भिक्षु के लिए भी ऐसी ही सावधानियां रखना आवश्यक समझ लेना चाहिए।

पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील और संसक्त—इन चारों का विस्तृत विवेचन निशीथ उ. ४ में देखें। यथाछंद का विस्तृत विवेचन निशीथ उ. १० में देखें। संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

१. पार्श्वस्थ—जो ज्ञान दर्शन चारित्र की आराधना में पुरुषार्थ नहीं करता अपितु उनके अतिचारों एवं अनाचारों में प्रवृत्ति करता है, वह 'पार्श्वस्थ' कहा जाता है।

२. यथाछंद—जो आगमविपरीत मनमाना प्ररूपण या आचरण करता है, वह यथाछंद कहा जाता है।

३. कुशील—जो विद्या, मंत्र, निमित्त-कथन या चिकित्सा आदि संयमी जीवन के निषिद्ध कार्य करता है, वह 'कुशील' कहा जाता है।

४. अवसन्न—जो संयमसमाचारी के नियमों से विपरीत या अल्पाधिक आचरण करता है, वह 'अवसन्न' कहा जाता है।

५. संसक्त—उन्नत आचार वालों के साथ उन्नत आचार का पालन करता है और शिथिलाचार वालों के साथ शिथिलाचारी हो जाता है, वह 'संसक्त' कहा जाता है।

संयम में दोष लगाने के कारण ये पार्श्वस्थ आदि शिथिलाचारी कहे जाते हैं। किन्तु भगवती

सूत्र श. २५ उ. ६ में बकुश और प्रतिसेवनाकुशील निर्ग्रन्थ का वर्णन है। वे दोष का सेवन करते हुए भी निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं। इसका कारण यह है—

१. जो भिक्षु अनिवार्य परिस्थिति के बिना दोष सेवन करता है।

२. अनिवार्य परिस्थिति में दोष सेवन करके शुद्धि नही करता है।

३. संयम की मर्यादाओं से विपरीत आचरणों को सदा के लिए स्वीकार कर लेता है, वह "शिथिलाचारी पार्श्वस्थादि" कहा जाता है।

जो भिक्षु किसी अनिवार्य परिस्थिति से विवश होकर दोष सेवन करता है, बाद में प्रायश्चित्त लेकर दोषों की शुद्धि कर लेता है। विशेष परिस्थिति से निवृत्त होने पर सदोष प्रवृत्तियों का परित्याग कर देता है, वह "शिथिलाचारी पार्श्वस्थादि" नहीं कहा जाता है किन्तु बकुश या प्रतिसेवना निर्ग्रन्थ एवं शुद्धाचारी कहा जाता है।

शुद्धाचारी एवं शिथिलाचारी का निर्णय करने में एक विकल्प यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि संयम की जिन मर्यादाओं का आगमों में स्पष्ट कथन है, उनका जो अकारण पालन नहीं करता है उसे तो शिथिलाचारी कहा जा सकता है, किन्तु आगमों में जिन मर्यादाओं का कथन नही है, जो परम्परा से प्रचलित हैं या गच्छ समुदाय या व्यक्ति के द्वारा निर्धारित एवं आचरित है, ऐसी समाचारी के न पालने से किसी को शिथिलाचारी मानना सर्वथा अनुचित है।

जिस समुदाय या गच्छ की जो मर्यादाएं हैं उस गच्छ या समुदाय वालों के लिए अनुशासन हेतु उनका पालन करना आवश्यक है। क्योंकि अपने गच्छ की मर्यादा का पालन न करने वाला गच्छसमाचारी एवं गुरु आज्ञा का भंग करने वाला होता है। किन्तु उस गच्छ से भिन्न गच्छ वाले साधु साध्वी को उन नियमों के पालन करने पर शिथिलाचारी या गुरु आज्ञा का भंग करने वाला नही कहा जा सकता। ऐसी सामाचारिक मर्यादाओं की एक सूची निशीथ उ. १३ में दी गई है। जिज्ञासु पाठक उसे ध्यान से देखें।

पार्श्वस्थ आदि के इन पांच सूत्रों का क्रम निशीयसूत्र उद्देशक ४ एवं उद्देशक १३ के मूल पाठ एवं भाष्य में इस प्रकार है—

१. पार्श्वस्थ २. अवसन्न ३. कुशील ४. संसक्त ५. नित्यक। किन्तु प्रस्तुत सूत्र एवं उसके भाष्य में क्रम इस प्रकार है—

१. पार्श्वस्थ २. यथाछंद ३. कुशील ४. अवसन्न ५. संसक्त।

यह क्रमभेद मौलिक रचना से है या कालक्रम से है या लिपिदोष से है, यह ज्ञात नहीं हो सका है। भाष्य में भी इस विषय में कोई विचार नहीं किया गया है।

भाष्य में बताया गया है कि कई पार्श्वस्थादि आत्मनिन्दा एवं सुसाधुओं की प्रशंसा करते हुए विचरण करते हैं, कई पार्श्वस्थादि क्षेत्र-काल की ओट लेकर अपने शिथिलाचार का बचाव करते हैं एवं विद्या, मन्त्र, निमित्त आदि से अपनी प्रतिष्ठा बनाते हैं और सुसाधुओं की निन्दा भी करते हैं।

पार्श्वस्थ आदि महाविदेहक्षेत्र में भी होते हैं एवं सभी तीर्थंकरों के शासन में भी होते हैं।

इन पार्श्वस्थ आदि में भी यथाछन्द साधु अपना और जिनशासन का अत्यधिक अहित करने वाला होता है।

ये सभी पार्श्वस्थादि अनुकम्पा के योग्य हैं तथा सद्बुद्धि आने पर यदि ये सुविहित गण में आना चाहें तो उनकी योग्यता का निर्णय करके इन्हें गच्छ में सम्मिलित किया जा सकता है, यह इन सूत्रों का आशय समझना चाहिए।

अन्यलिंगग्रहण के बाद गण में पुनरागमन

३१. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म परपासंडपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, नत्थि णं तस्स तप्पत्तियं केइ छेए वा परिहारे वा, नन्नत्थ एगाए आलोयणाए।

३१. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर किसी विशेष परिस्थिति से अन्य लिंग को धारण करके विहार करे और कारण समाप्त होने पर पुनः स्वलिंग को धारण करके गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो उसे लिंगपरिवर्तन का आलोचना के अतिरिक्त दीक्षाछेद या तप रूप कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है।

विवेचन—यदि कोई भिक्षु कषायवश गण को छोड़कर अन्यलिंग धारण करता है एवं कालान्तर में पुनः स्वगच्छ में आना चाहता है तो उसे दीक्षाछेद या मूल दीक्षा आदि प्रायश्चित्त देकर ही गच्छ में सम्मिलित किया जा सकता है।

किन्तु प्रस्तुत सूत्र में जो दीक्षाछेद आदि प्रायश्चित्त का निषेध किया गया है, उसका आशय यह है—

असह्य उपद्रवों से उद्विग्न होकर कोई भिक्षु भावसंयम की रक्षा के लिए द्रव्यलिंग का परिवर्तन करता है अथवा किसी देश का राजा आर्हतधर्म से एवं निर्ग्रन्थ श्रमणों से द्वेष रखता है, उस क्षेत्र में किसी भिक्षु को जितने समय रहना हो या उस क्षेत्र को विहार करके पार करना हो, तब वह लिंगपरिवर्तन करता है। बाद में पुनः स्वलिंग को धारण कर गच्छ के साधुओं के साथ रहना चाहता है तब उसे लिंगपरिवर्तन के लिए केवल आलोचना प्रायश्चित्त के सिवाय कोई छेद या तप प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है।

भगवती सूत्र श. २५ उ. ७ में गृहस्थलिंग एवं अन्यलिंग में छेदोपस्थापनीयचारित्र का जो कथन है, वह भी इसी अपेक्षा से है।

यहां सूत्र में 'परपासंड' शब्द के साथ 'पडिमं' शब्द का प्रयोग किया गया है फिर भी यह सूत्रोक्त 'भिक्षु प्रतिमा' नहीं है, किंतु शब्दप्रयोग करने की यह विशिष्ट आगम-शैली है, ऐसा समझना चाहिए।

विशेष जानकारी के लिए सूत्र २३ का विवेचन देखें।

संयम छोड़कर जाने वाले का गण में पुनरागमन

३२. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओहायेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, नत्थि णं तस्स तप्पत्तियं केई छेए या परिहारे या, नन्नत्थ एगाए छेओवट्ठावणियाए।

३२. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर संयम का त्याग कर दे और बाद में वह उसी गण को स्वीकार कर रहना चाहे तो उसके लिए केवल "छेदोपस्थापना" (नई दीक्षा) प्रायश्चित्त है, इसके अतिरिक्त उसे दीक्षाछेद या परिहार तप आदि कोई प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है।

विवेचन—यदि कोई भिक्षु संयम-मर्यादाओं तथा परीषह-उपसर्गों से घबराकर इन्द्रियविषयों की अभिलाषा से अथवा कषायों के वशीभूत होकर संयम का त्याग कर देता है एवं गृहस्थलिंग धारण कर लेता है, वही कभी पुनः संयम स्वीकार करना चाहे और उसे दीक्षा देना लाभप्रद प्रतीत हो तो उसे पुनः दीक्षा दी जा सकती है। किन्तु उसे गच्छ एवं संयम त्यागने संबंधी प्रवृत्ति का कोई प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है। क्योंकि पुनः नई दीक्षा देने से ही उसका पूर्ण प्रायश्चित्त हो जाता है।

दशवैकालिकसूत्र की प्रथम चूलिका में संयम में अस्थिर चित्त को पुनः स्थिर करने के लिए अठारह स्थानों द्वारा विस्तृत एवं हृदयद्रावक वर्णन किया गया है। अन्त में कहा गया है कि संयम में उत्पन्न यह दुःख क्षणिक है और असंख्य वर्षों के नरक के दुःखों से नगण्य है तथा संयम में रमण करने वाले के लिए वह दुःख भी महान् सुखकारी हो जाता है। इसलिए संयम में रमण करना चाहिए। इन्द्रियविषयों के सुख भी शाश्वत रहने वाले नहीं होते, किन्तु वे सुख तो दुःख की परम्परा को बढ़ाने वाले ही होते हैं। अतः साधक को ऐसा दृढ निश्चय करना चाहिए कि "चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं" अर्थात् 'शरीर का सम्पूर्ण त्याग करना पड़ जाय तो भी धर्म-शासन अर्थात् संयम का त्याग कदापि नहीं करूंगा।

संयम त्यागने वाले या संयम में रमण नहीं करने वाले भिक्षु भविष्य में अत्यन्त पश्चात्ताप को प्राप्त होते हैं।

अन्य आगमों में भी संयम में स्थिर रहने का एवं किसी भी परिस्थिति में त्याग किये गृहवास एवं विषयों को पुनः स्वीकार नहीं करने का उपदेश दिया गया है।

अतः संयमपालनाकाल में विषय-कषायवश या असहिष्णुता आदि कारणों से संयम छोड़ने का संकल्प उत्पन्न हो जाय तो उन्हें आगमों के अनेक उपदेश-वाक्यों द्वारा तत्काल निष्फल कर देना चाहिए।

आलोचना करने का क्रम

३३. (१) भिक्खू य अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता इच्छेज्जा आलोएत्तए, जत्थेव अप्पणो आयरिय-उवज्झाए पासेज्जा, तस्संतिए आलोएज्जा जाव अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा।

(२) नो चेव णं अप्पणो आयरिय-उवज्झाए पासेज्जा, जत्थेव संभोइयं साहम्मियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं, तस्संतिए आलोएज्जा जाव अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा।

(३) नो चेव णं संभोइयं साहम्मियं बहुस्सुयं बब्भागमं पासेज्जा, जत्थेव अन्नसंभोइयं साहम्मियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं, तस्संतिए आलोएज्जा जाव अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा।

(४) नो चेव णं अन्नसंभोइयं साहम्मियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं, जत्थेव सारूवियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं, तस्संतिए आलोएज्जा जाव अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा।

(५) नो चेव णं सारूवियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं, जत्थेव समणोवासगं पच्छाकडं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं, तस्संतिए आलोएज्जा जाव अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा।

(६) नो चेव णं समणोवासगं पच्छाकडं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं, जत्थेव सम्मं भावियाइं चेइयाइं पासेज्जा, तस्संतिए आलोएज्जा जाव अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा।

(७) नो चेव णं सम्मं भावियाइं चेइयाइं पासेज्जा, बहिया गामस्स वा जाव रायहाणीए वा पाईणाभिमुहे वा उदीणाभिमुहे वा करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वएज्जा—

"एवइया मे अवराहा, एवइक्खुत्तो अहं अवरद्धो" अरिहंताणं सिद्धाणं अन्तिए आलोएज्जा जाव अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा।

(१) भिक्षु किसी अकृत्यस्थान का प्रतिसेवन करके उसकी आलोचना करना चाहे तो जहां पर अपने आचार्य या उपाध्याय को देखे, वहां उनके समीप आलोचना करे यावत् यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म स्वीकार करे।

(२) यदि अपने आचार्य या उपाध्याय न मिलें तो जहां पर साम्भोगिक (एक मांडलिक आहार वाले) साधर्मिक साधु मिलें जो कि बहुश्रुत एवं बहुआगमज्ञ हों, उनके समीप आलोचना करे यावत् यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म स्वीकार करे।

(३) यदि साम्भोगिक साधर्मिक बहुश्रुत बहुआगमज्ञ साधु न मिले तो जहां पर अन्य साम्भोगिक साधर्मिक साधु मिले—"जो बहुश्रुत हो और बहुआगमज्ञ हो", वहां उसके समीप आलोचना करे यावत् यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म स्वीकार करे।

(४) यदि अन्य साम्भोगिक साधर्मिक बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ साधु न मिले तो जहां पर सारूप्य साधु मिले, जो बहुश्रुत हो और बहुआगमज्ञ हो, वहां उसके समीप आलोचना करे यावत् यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपः कर्म स्वीकार करे।

(५) यदि सारूप्य बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ साधु न मिले तो जहां पर पश्चात्कृत (संयम-त्यागी) श्रमणोपासक मिले, जो बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ हो वहां उसके समीप आलोचना करे यावत् यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म स्वीकार करे।

(६) यदि पश्चात्कृत बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ श्रमणोपासक न मिले तो जहां पर सम्यक् भावित ज्ञानी पुरुष (समभावी—स्व-पर-विवेकी सम्यग्दृष्टि व्यक्ति) मिले तो वहां उसके समीप आलोचना करे यावत् यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म स्वीकार करे।

(७) यदि सम्यक् भावित ज्ञानी पुरुष न मिले तो ग्राम यावत् राजधानी के बाहर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर अभिमुख हो, करतल जोड़कर मस्तक के आवर्तन करे और मस्तक पर अंजलि करके इस प्रकार बोले—

"इतने मेरे दोष हैं और इतनी बार मैंने इन दोषों का सेवन किया है," इस प्रकार बोलकर अरिहन्तों और सिद्धों के समक्ष आलोचना करे यावत् यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म स्वीकार करे।

विवेचन—संयमसाधना करते हुए परिस्थितिवश या प्रमादवश कभी श्रमण-धर्म की मर्यादाओं का उल्लंघन करने वाले अकृत्यस्थान का आचरण हो जाय तो शीघ्र ही अप्रमत्तभाव से आलोचना करना संयम जीवन का आवश्यक अंग है। यह आभ्यन्तर तपरूप प्रायश्चित्त का प्रथम भेद है।

उत्तरा. अ. २९ में आलोचना करने का फल बताते हुए कहा है कि आलोचक अपनी आलोचना करके आत्मशल्यों को, मोक्षमार्ग में विघ्न करने वाले दोषों को और अनन्त संसार की वृद्धि कराने वाले कर्मों को आत्मा से अलग कर देता है अर्थात् उन्हें नष्ट कर देता है।

आलोचना करने वाला एवं आलोचना सुनने वाला ये दोनों ही आगमोक्त गुणों से सम्पन्न होने चाहिए। ऐसा करने पर ही इच्छित आराधना सफल होती है।

निशीथ उ. २० में आलोचना से सम्बन्धित आगमोक्त अनेक विषयों की जानकारी स्थल-निर्देश सहित दी गई है, पाठक वहीं देखें।

प्रस्तुत सूत्र में आलोचना किसके समक्ष करनी चाहिये, इसका एक क्रम दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जहां तक सम्भव हो इसी क्रम से आलोचना करनी चाहिए। व्युत्क्रम से करने पर भाष्य में पृ. १२६ (एक सौ छब्बीस) पर गुरुचौमासी एवं लघुचौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है। इसलिए आलोचना करने के इच्छुक भिक्षु को सर्वप्रथम अपने आचार्य या उपाध्याय के पास आलोचना करनी चाहिए। यदि किसी कारण से आचार्य उपाध्याय का योग सम्भव न हो अर्थात् वे रुग्ण हों या दूर हों एवं स्वयं का आयु अल्प हो तो सम्मिलित आहार-व्यवहार वाले साम्भोगिक साधु के समक्ष आलोचना करनी चाहिए, किन्तु वह सामान्य भिक्षु भी आलोचना सुनने के गुणों से सुसम्पन्न एवं बहुश्रुत (छेदसूत्रों में पारंगत) तथा बहुआगमज्ञ (अनेक सूत्रों एवं अर्थ का अध्येता) होना चाहिए।

उक्त योग्यतासम्पन्न सांभोगिक साधु न हो या न मिले तो असांभोगिक (सम्मिलित आहार नहीं करने वाले) बहुश्रुत आदि योग्यतासम्पन्न भिक्षु के समक्ष आलोचना करनी चाहिए। वह असांभोगिक भिक्षु आचारसम्पन्न होना चाहिए।

यदि आचारसम्पन्न असांभोगिक साधु भी न मिले तो समान लिंग वाले बहुश्रुत आदि गुणों से सम्पन्न भिक्षु के पास आलोचना करनी चाहिए। यहां समान लिंग कहने का आशय यह है कि उसका आचार कैसा भी क्यों न हो, उसके पास भी आलोचना की जा सकती है।

उक्त भिक्षु के न मिलने पर जो संयम छोड़कर श्रमणोपासकपर्याय का पालन कर रहा है और बहुश्रुत आदि गुणों से सम्पन्न है तो उसके पास आलोचना की जा सकती है।

यहां तक के क्रम में प्रायश्चित्त के जानकार के समक्ष आलोचना कर शुद्धि करने का कथन किया गया गया है। आगे के दो विकल्पों में आलोचक स्वयं ही प्रायश्चित्त ग्रहण करता है।

प्रथम विकल्प में जो सम्यक् रूप से जिनप्रवचन में भावित सम्यग्दृष्टि हो अथवा जो समभाव वाला, सौम्य प्रकृति वाला, समझदार व्यक्ति हो उसके पास आलोचना कर लेनी चाहिए।

द्वितीय विकल्प में बताया गया है कि कभी ऐसा व्यक्ति भी न मिले तो ग्रामादि के बाहर

निर्जन स्थान में उच्चस्वर से अरिहंतों या सिद्धों को स्मृति में रख कर उनके सामने आलोचना करनी चाहिए एवं स्वयं ही यथायोग्य प्रायश्चित्त ग्रहण कर लेना चाहिए।

अन्तिम दोनों विकल्प गीतार्थ भिक्षु के लिए समझना चाहिए क्योंकि, अगीतार्थ भिक्षु स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण करने के अयोग्य होता है।

भाष्यटीका में इस सूत्र के विषय में इस प्रकार कहा है—

सुत्तमिणं कारणियं, आयरियादीण जत्थगच्छम्मि।
पंचण्हं हो असति, एगो व तहिं न वसियव्वं॥

टीका—सूत्रमिदमधिकृतं कारणिकं, कारणे भवं कारणिकं, कारणे सत्येकाकीविहारविषयं इत्यर्थः। इयमत्र भावना—बहूनि खलु अशिवादीनि एकाकित्वकारणानि, ततः कारणवशतो यो जातः एकाकी तद्विषयमिदं सूत्रमिति न कश्चिद् दोषः। अशिवादीनि तु कारणानि मुक्त्वा आचार्यादिविरहितस्य न वर्तते वस्तुं। तथा चाह—यत्र गच्छे पञ्चानामाचार्योपाध्यायगणावच्छेदिप्रवर्तिस्थविररूपाणामसद्भावो यदि वा यत्र पञ्चानामन्यतमोऽप्येको न विद्यते तत्र न वस्तव्यम् अनेकदोषसंभवात्।

इस व्याख्यांश में सूत्रोक्त विधान को सकारण एकाकी विचरण करने वाले भिक्षु की अपेक्षा होने का कहा गया है और एकाकी होने के अनेक कारण भी कहे हैं। जिसका स्पष्टीकरण सूत्र २३-२५ के विवेचन में कर दिया गया है। सूत्र में प्रयुक्त आलोचना आदि शब्दों का अर्थ इस प्रकार है—

आलोएज्जा—अतिचार आदि को वचन से प्रकट करे।
पडिक्कमेज्जा—मिथ्या दुष्कृत दे—अपनी भूल स्वीकार करे।
निंदेज्जा—आत्मसाक्षी से असदाचरण की निंदा करे अर्थात् अंतर्मन में खेद करे।
गरहेज्जा—गुरुसाक्षी से असदाचरण की निंदा करे, खेद प्रकट करे।
विउट्टेज्जा—असदाचरण से निवृत्त हो जाए।
विसोहेज्जा—आत्मा को शुद्ध कर ले अर्थात् असदाचरण से पूर्ण निवृत्त हो जाए।
अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा—उस अकृत्यस्थान को पुनः सेवन नहीं करने के लिए दृढ संकल्प करे।

अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा—उस दोष के अनुरूप तप आदि प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

आलोचना से लेकर प्रायश्चित्त स्वीकार करने तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया करने पर ही आत्मविशुद्धि होती है एवं तभी आलोचना करना सार्थक होता है।

सूत्र में आए ग्राम आदि १६ शब्दों की व्याख्या निशीथ उ.४ तथा बृहत्कल्प उ.१ में दी गई है, अतः वहां देखें।

सूत्रोक्त आलोचना का क्रम इस प्रकार है—

१. आचार्य उपाध्याय, २. सार्धर्मिक साम्भोगिक बहुश्रुत बहु-आगमज्ञ भिक्षु, ३. सार्धर्मिक अन्य साम्भोगिक बहुश्रुत बहु-आगमज्ञ भिक्षु, ४. सारूपिक बहुश्रुत बहु-आगमज्ञ भिक्षु, ५. पश्चात्कृत

बहुश्रुत बहु-आगमज्ञ श्रावक, ६. सम्यक् भावित ज्ञानी अर्थात् सम्यग्दृष्टि या समझदार व्यक्ति, ७. ग्राम आदि के बाहर जाकर अरिहंत सिद्धों की साक्षी से आलोचना करे।

यहां तीन पदों में बहुश्रुत बहु-आगमज्ञ नहीं है—

(१) आचार्य उपाध्याय तो नियमतः बहुश्रुत बहु-आगमज्ञ ही होते हैं अतः इनके लिए इस विशेषण की आवश्यकता ही नही होती है। बृहत्कल्प भाष्य गा. ६९१-६९२ में कहा है कि आचार्यादि पदवीधर तो नियमतः गीतार्थ होते है। सामान्य भिक्षु गीतार्थ अगीतार्थ दोनों प्रकार के होते हैं।

(२) सम्यग्दृष्टि या समझदार व्यक्ति का बहुश्रुत होना आवश्यक नहीं है। वह तो केवल आलोचना सुनने के योग्य होता है और गीतार्थ आलोचक भिक्षु स्वयं ही प्रायश्चित्त स्वीकार करता है।

(३) अरिहंत-सिद्ध भगवान् तो सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं। उनके लिए इस विशेषण की आवश्यकता नहीं है।

सूत्र में "सम्मं भावियाइं चेइयाइं" शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ टीकाकार ने इस प्रकार किया है—

"तस्याप्यभावे यत्रैव सम्यग्भावितानि-जिनवचनवासितांतः करणानि देवतानि पश्यति तत्र गत्वा तेषामंतिके आलोचयेत्।

श्रमणोपासक के अभाव में जिनवचनों से जिनका हृदय सुवासित है, ऐसे देवता को देखे तो उसके पास जाकर अपनी आलोचना करे।

यहां टीकाकार ने "चेइयाइं" शब्द का "देवता" अर्थ किया है तथा उसे जिनवचनों से भावित अन्तःकरण वाला कहा है।

"चेइय" शब्द के अनेक अर्थ शब्दकोश में बताये गये हैं। उसमें ज्ञानवान्, भिक्षु आदि अर्थ भी "चेइय" शब्द के लिये हैं। अनेक सूत्रों में तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी के लिए "चेइय" शब्द का प्रयोग किया गया है, वहां उस शब्द से भगवान् को "ज्ञानवान्" कहा है।

उपासकदशा अ. १ में श्रमणोपासक की समकित सम्बन्धी प्रतिज्ञा है। उसमें अन्यतीर्थिक से ग्रहण किये चैत्य अर्थात् साधु को वन्दन-नमस्कार एवं आलाप-संलाप करने का तथा आहार-पानी देने का निषेध है। वहां स्पष्ट रूप से "चेइय" शब्द का भिक्षु अर्थ में प्रयोग किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'चेइय' शब्द का अर्थ मूर्तिपूजक समुदाय वाले "अरिहंत भगवान् की मूर्ति" भी करते हैं, किन्तु वह टीकाकार के अर्थ से विपरीत है तथा पूर्वापर सूत्रों से विरुद्ध भी है। क्योंकि टीकाकार ने यहां अन्तःकरण शब्द का प्रयोग किया है, वह मूर्ति में नही हो सकता है। सूत्र में सम्यक् भावित चैत्य का अभाव होने पर अरिहंत सिद्ध की साक्षी के लिए गांव आदि के बाहर जाने का कहा है। यदि अरिहंत चैत्य का अर्थ मन्दिर होता तो मन्दिर में ही अरिहंत सिद्ध की साक्षी से आलोचना करने का कथन होता, गांव के बाहर जाने के अलग विकल्प देने की आवश्यकता ही नहीं होती। अतः 'चेइय' शब्द का प्रस्तुत प्रकरण में 'ज्ञानी या समझदार पुरुष' ऐसा अर्थ करना ही उपयुक्त है।

निर्जन स्थान में उच्चस्वर से अरिहंतों या सिद्धों को स्मृति में रख कर उनके सामने आलोचना करनी चाहिए एवं स्वयं ही यथायोग्य प्रायश्चित्त ग्रहण कर लेना चाहिए।

अन्तिम दोनों विकल्प गीतार्थ भिक्षु के लिए समझना चाहिए क्योंकि, अगीतार्थ भिक्षु स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण करने के अयोग्य होता है।

भाष्यटीका में इस सूत्र के विषय में इस प्रकार कहा है—

सुत्तमिणं कारणियं, आयरियादीण जत्थगच्छम्मि।
पंचण्हं हो असति, एगो च तहिं न वसियव्वं॥

टीका—सूत्रमिदमधिकृतं कारणिकं, कारणे भवं कारणिकं, कारणे सत्येकाकीविहारविषयं इत्यर्थः। इयमत्र भावना—बहूनि खलु अशिवादीनि एकाकित्वकारणानि, ततः कारणवशतो यो जातः एकाकी तद्विषयमिदं सूत्रमिति न कश्चिद् दोषः। अशिवादीनि तु कारणानि मुक्त्वा आचार्यादिविरहितस्य न वर्तते वस्तुं। तथा चाह—यत्र गच्छे पञ्चानामाचार्योपाध्यायगणावच्छेदिप्रवर्तिस्थविररूपाणामसद्भावो यदि वा यत्र पञ्चानामन्यतमोप्येको न विद्यते तत्र न वसतव्यम् अनेकदोषसंभवात्।

इस व्याख्यांश में सूत्रोक्त विधान को सकारण एकाकी विचरण करने वाले भिक्षु की अपेक्षा होने का कहा गया है और एकाकी होने के अनेक कारण भी कहे हैं। जिसका स्पष्टीकरण सूत्र २३-२५ के विवेचन में कर दिया गया है। सूत्र में प्रयुक्त आलोचना आदि शब्दों का अर्थ इस प्रकार है—

आलोएज्जा—अतिचार आदि को वचन से प्रकट करे।
पडिक्कमेज्जा—मिथ्या दुष्कृत दे—अपनी भूल स्वीकार करे।
निंदेज्जा—आत्मसाक्षी से असदाचरण की निंदा करे अर्थात् अंतर्मन में खेद करे।
गरहेज्जा—गुरुसाक्षी से असदाचरण की निंदा करे, खेद प्रकट करे।
विउट्टेज्जा—असदाचरण से निवृत्त हो जाए।
विसोहेज्जा—आत्मा को शुद्ध कर ले अर्थात् असदाचरण से पूर्ण निवृत्त हो जाए।
अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा—उस अकृत्यस्थान को पुनः सेवन नहीं करने के लिए दृढ संकल्प करे।
अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा—उस दोष के अनुरूप तप आदि प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

आलोचना से लेकर प्रायश्चित्त स्वीकार करने तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया करने पर ही आत्मविशुद्धि होती है एवं तभी आलोचना करना सार्थक होता है।

सूत्र में आए ग्राम आदि १६ शब्दों की व्याख्या निशीथ उ. ४ तथा बृहत्कल्प उ. १ में दी गई है, अतः वहां देखें।

सूत्रोक्त आलोचना का क्रम इस प्रकार है—

१. आचार्य उपाध्याय, २. साधर्मिक साम्भोगिक बहुश्रुत बहु-आगमज्ञ भिक्षु, ३. साधर्मिक अन्य साम्भोगिक बहुश्रुत बहु-आगमज्ञ भिक्षु, ४. सारूपिक बहुश्रुत बहु-आगमज्ञ भिक्षु, ५. पश्चात्कृत

बहुश्रुत बहु-आगमज्ञ श्रावक, ६. सम्यक् भावित ज्ञानी अर्थात् सम्यग्दृष्टि या समझदार व्यक्ति, ७. ग्राम आदि के बाहर जाकर अरिहंत सिद्धों की साक्षी से आलोचना करे।

यहां तीन पदों में बहुश्रुत बहु-आगमज्ञ नहीं है—

(१) आचार्य उपाध्याय तो नियमतः बहुश्रुत बहु-आगमज्ञ ही होते हैं अतः इनके लिए इस विशेषण की आवश्यकता ही नही होती है। बृहत्कल्प भाष्य गा. ६९१-६९२ में कहा है कि आचार्यादि पदवीधर तो नियमतः गीतार्थ होते हैं। सामान्य भिक्षु गीतार्थ अगीतार्थ दोनों प्रकार के होते हैं।

(२) सम्यग्दृष्टि या समझदार व्यक्ति का बहुश्रुत होना आवश्यक नहीं है। वह तो केवल आलोचना सुनने के योग्य होता है और गीतार्थ आलोचक भिक्षु स्वयं ही प्रायश्चित्त स्वीकार करता है।

(३) अरिहंत-सिद्ध भगवान् तो सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं। उनके लिए इस विशेषण की आवश्यकता नहीं है।

सूत्र में "सम्मं भावियाइं चेइयाइं" शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ टीकाकार ने इस प्रकार किया है—

"तस्याप्यभावे यत्रैव सम्यग्भावितानि-जिनवचनवासितांतः करणानि देवतानि पश्यति तत्र गत्वा तेषामंतिके आलोचयेत्।

श्रमणोपासक के अभाव में जिनवचनों से जिनका हृदय सुवासित है, ऐसे देवता को देखे तो उसके पास जाकर अपनी आलोचना करे।

यहां टीकाकार ने "चेइयाइं" शब्द का "देवता" अर्थ किया है तथा उसे जिनवचनों से भावित अन्तःकरण वाला कहा है।

"चेइय" शब्द के अनेक अर्थ शब्दकोश में बताये गये हैं। उसमें ज्ञानवान्, भिक्षु आदि अर्थ भी "चेइय" शब्द के लिये हैं। अनेक सूत्रों में तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी के लिए "चेइय" शब्द का प्रयोग किया गया है, वहां उस शब्द से भगवान् को "ज्ञानवान्" कहा है।

उपासकदशा अ. १ में श्रमणोपासक की समकित सम्बन्धी प्रतिज्ञा है। उसमें अन्यतीर्थिक से ग्रहण किये चैत्य अर्थात् साधु को वन्दन-नमस्कार एवं आलाप-संलाप करने का तथा आहार-पानी देने का निषेध है। वहां स्पष्ट रूप से "चेइय" शब्द का भिक्षु अर्थ में प्रयोग किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'चेइय' शब्द का अर्थ मूर्तिपूजक समुदाय वाले "अरिहंत भगवान् की मूर्ति" भी करते हैं, किन्तु वह टीकाकार के अर्थ से विपरीत है तथा पूर्वापर सूत्रों से विरुद्ध भी है। क्योंकि टीकाकार ने यहां अन्तःकरण शब्द का प्रयोग किया है, वह मूर्ति में नहीं हो सकता है। सूत्र में सम्यक् भावित चैत्य का अभाव होने पर अरिहंत सिद्ध की साक्षी के लिए गांव आदि के बाहर जाने का कहा है। यदि अरिहंत चैत्य का अर्थ मन्दिर होता तो मन्दिर में ही अरिहंत सिद्ध की साक्षी से आलोचना करने का कथन होता, गांव के बाहर जाने के अलग विकल्प देने की आवश्यकता ही नहीं होती। अतः 'चेइय' शब्द का प्रस्तुत प्रकरण में 'ज्ञानी या समझदार पुरुष' ऐसा अर्थ करना ही उपयुक्त है।

प्रथम उद्देशक का सारांश

सूत्र १-१४ एक मास से लेकर छह मास तक प्रायश्चित्तस्थान का एक वार या अनेक बार सेवन करके कोई कपटरहित आलोचना करे तो उसे उतने मास का प्रायश्चित्त आता है और कपटयुक्त आलोचना करे तो उसे एक मास अधिक का प्रायश्चित्त आता है और छह मास या उससे अधिक प्रायश्चित्त होने पर भी छह मास का ही प्रायश्चित्त आता है।

१५-१८ प्रायश्चित्त वहन करते हुए पुनः दोष लगाकर दो चौभंगी में से किसी भी भंग से आलोचना करे तो उसका प्रायश्चित्त देकर आरोपणा कर देनी चाहिये।

१९ पारिहारिक एवं अपारिहारिक भिक्षु को एक साथ बैठना, रहना आदि प्रवृत्ति नहीं करना चाहिए एवं आवश्यक हो तो स्थविरों की आज्ञा लेकर ऐसा कर सकते हैं।

२०-२२ पारिहारिक भिक्षु शक्ति हो तो तप वहन करते हुए सेवा में जावे और शक्ति अल्प हो तो स्थविरभगवन्त से आज्ञा प्राप्त करके तप छोड़कर भी जा सकता है। मार्ग में विचरण की दृष्टि से उसे कहीं जाना या ठहरना नहीं चाहिए। रोग आदि के कारण ज्यादा भी ठहर सकता है। अन्यथा सब जगह एक रात्रि ही रुक सकता है।

२३-२५ एकलविहारी आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक या सामान्य भिक्षु पुनः गच्छ में आने की इच्छा करे तो उसे तप या छेद प्रायश्चित्त देकर गच्छ में रख लेना चाहिए।

२६-३० पार्श्वस्थादि पांचों यदि गच्छ में पुनः आना चाहें और उनके कुछ संयमभाव शेष रहे हों तो तप या छेद का प्रायश्चित्त देकर उन्हें गच्छ में सम्मिलित कर लेना चाहिए।

३१ किसी विशेष परिस्थिति से अन्यलिंग धारण करने वाले भिक्षु को आलोचना के अतिरिक्त कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है।

३२ कोई संयम छोड़कर गृहस्थवेश स्वीकार कर ले और पुनः गच्छ में आना चाहे तो उसे नई दीक्षा के सिवाय कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है।

३३ यदि किसी भिक्षु को अकृत्यस्थान की आलोचना करनी हो तो—

१. अपने आचार्य उपाध्याय के पास करे।
२. उनके अभाव में स्वगच्छ के अन्य बहुश्रुत साधु के पास आलोचना करे।
३. उनके अभाव में अन्यगच्छ के बहुश्रुत भिक्षु या आचार्य के पास आलोचना करे।
४. उनके अभाव में केवल वेषधारी बहुश्रुत भिक्षु के पास आलोचना करे।
५. उसके अभाव में दीक्षा छोड़े हुए बहुश्रुत श्रमणोपासक के पास आलोचना करे।
६. उसके अभाव में सम्यग्दृष्टि या समभावी ज्ञानी के पास आलोचना करे एवं स्वयं प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

७. एवं उसके अभाव में ग्राम के बाहर अरिहंत सिद्ध प्रभु की साक्षी से आलोचना करके स्वयं प्रायश्चित्त स्वीकार कर ले।

उपसंहार

इस उद्देशक में—

सूत्र १-१४	प्रायश्चित्त देने का,
१५-१८	प्रायश्चित्त वहन कराने का,
१९	पारिहारिक के साथ व्यवहार करने का,
२०-२२	उसके स्थविर की सेवा मे जाने का,
२३-३०	एकलविहारी या पार्श्वस्थादि के पुनः गच्छ में आने का,
३१	अन्यलिंग धारण करने का,
३२	वेश छोड़कर पुनः गण में आने की इच्छा वाले का,
३३	आलोचना करने के क्रम का,

इत्यादि विषयों का उल्लेख किया गया है।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

दूसरा उद्देशक

विचरने वाले सार्धमिकों के परिहारतप का विधान

१. दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, एगे तत्थ अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ।

२. दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, दो वि ते अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, एगं तत्थ कप्पागं ठवइत्ता एगे निव्विसेज्जा, अह पच्छा से वि निव्विसेज्जा ।

३. बहवे साहम्मिया एगयओ विहरंति, एगे तत्थ अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ।

४. बहवे साहम्मिया एगयओ विहरंति, सव्वे वि ते अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, एगं तत्थ कप्पागं ठवइत्ता अवसेसा निव्विसेज्जा, अह पच्छा से वि निव्विसेज्जा ।

५. परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू गिलाएमाणे अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा ।
से य संथरेज्जा ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ।
से य नो संथरेज्जा अणुपरिहारिएणं तस्स करणिज्जं वेयावडियं ।
से य संते बले अणुपरिहारिएणं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जेज्जा, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया ।

१. दो सार्धमिक साधु एक साथ विचरते हों और उनमें से यदि एक साधु किसी अकृत्यस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे प्रायश्चित्त तप में स्थापित करके सार्धमिक भिक्षु को उसकी वैयावृत्य करनी चाहिए ।

२. दो सार्धमिक साधु एक साथ विचरते हों और वे दोनों ही साधु किसी अकृत्यस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करें तो उनमें से एक को कल्पाक (अग्रणी) स्थापित करे और एक परिहारतप रूप प्रायश्चित्त को वहन करे और उसका प्रायश्चित्त पूर्ण होने के बाद वह अग्रणी भी प्रायश्चित्त को वहन करे ।

३. बहुत से सार्धमिक साधु एक साथ विचरते हों । उनमें एक साधु किसी अकृत्यस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो (उनमें जो प्रमुख स्थविर हो वह) उसे प्रायश्चित्त वहन करावे और दूसरे भिक्षु को उसकी वैयावृत्य के लिए नियुक्त करे ।

४. बहुत से सार्धमिक साधु एक साथ विचरते हों और वे सब किसी अकृत्यस्थान को प्रतिसेवना करके आलोचना करें तो उनमें से किसी एक को अग्रणी स्थापित करके शेष सब प्रायश्चित्त वहन करें बाद में वह अग्रणी साधु भी प्रायश्चित्त वहन करे ।

५. परिहारतप रूप प्रायश्चित्त वहन करने वाला भिक्षु यदि रुग्ण होने पर किसी अकृत्यस्थान की प्रतिसेवना कर आलोचना करे तो—

यदि वह परिहारतप करने में समर्थ हो तो आचार्यादि उसे परिहारतप रूप प्रायश्चित्त दें और उसकी आवश्यक सेवा करावें।

यदि वह समर्थ न हो तो आचार्यादि उसकी वैयावृत्य के लिए अनुपारिहारिक भिक्षु को नियुक्त करें।

यदि वह पारिहारिक भिक्षु सबल होते हुए भी अनुपारिहारिक भिक्षु से वैयावृत्य करावे तो उसका प्रायश्चित्त भी पूर्व प्रायश्चित्त के साथ आरोपित करें।

विवेचन—पूर्व उद्देशक मे एवं बृहत्कल्प उ. ४ में आचार्यादि के नेतृत्व में परिहारतप वहन करने की विधि का वर्णन किया गया है। इन सूत्रों में दो या दो से अधिक विचरण करने वाले साधर्मिक भिक्षुओं के स्वतः परिहारतप वहन करने का विधान है।

विचरण करने वाले दो साधर्मिक भिक्षु यदि गीतार्थ हैं और आचार्य आदि से दूर किसी क्षेत्र में विचरण कर रहे हैं अथवा किसी आचार्यादि के नेतृत्व विना विचरण कर रहे हैं। उनमें से किसी एक साधु को किसी दोष की शुद्धि के लिए परिहारतप वहन करना हो तो दूसरा गीतार्थ भिक्षु उसका अनुपरिहारिक एवं कल्पाक (प्रमुखता करने वाला) बनता है।

यदि दोनों ने एक साथ दोष सेवन किया है और दोनों को शुद्धि के लिए परिहारतप वहन करना है तो एक भिक्षु के तप पूर्ण करने के बाद दूसरा भिक्षु तप वहन कर सकता है। अर्थात् दोनों एक साथ परिहारतप नहीं कर सकते हैं, क्योंकि एक को कल्पाक या अनुपरिहारिक रहना आवश्यक होता है।

अनेक साधर्मिक भिक्षु विचरण कर रहे हों तो उनमें से एक या अनेक के परिहारतप वहन करने के विषय में भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए, अर्थात् एक को कल्पाक रख कर शेष सभी साधु परिहारतप वहन कर सकते है।

पांचवें सूत्र में यह विशेष कथन है कि यदि पारिहारिक भिक्षु कुछ रुग्ण है एवं उसने कोई दोष का सेवन किया है तो उस दोष संबंधी प्रायश्चित्त की आरोपणा भी पूर्व तप में कर देनी चाहिए। यदि उसके तप वहन करने की शक्ति न हो तो वह तप करना छोड़ दे और पुनः सशक्त होने के बाद उस प्रायश्चित्त को वहन करके पूर्ण कर ले।

यदि वह पारिहारिक भिक्षु सामान्य रुग्ण हो और किसी अनुपरिहारिक द्वारा सेवा करने पर तप वहन कर सकता हो तो पूर्वतप के साथ ही पुनः प्राप्त प्रायश्चित्त आरोपित कर देना चाहिए और यथायोग्य सेवा करवानी चाहिए। उसके बीच में यदि रुग्ण भिक्षु स्वस्थ या सशक्त हो जाय तो उसे सेवा नहीं करवानी चाहिए। स्वस्थ एवं सशक्त होने के बाद भी यदि वह सेवा करवाता है तो उसका भी उसे प्रायश्चित्त आता है, क्योंकि परिहारतप वाला भिक्षु उत्सर्गविधि से किसी का सहयोग एवं सेवा आदि नही ले सकता।

रुग्ण भिक्षुओं को गण से निकालने का निषेध

६. परिहारकप्पट्ठियं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

७. अणवट्ठप्पं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

८. पारंचियं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

९. खित्तचित्तं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

१०. दित्तचित्तं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

११. जक्खाइट्ठं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

१२. उम्मायपत्तं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

१३. उवसग्गपत्तं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

१४. साहिगरणं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

१५. सपायच्छित्तं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

१६. भत्त-पाण-पडियाइक्खियं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

१७. अट्ठजायं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयइस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

६. परिहारतप रूप प्रायश्चित्त वहन करने वाला भिक्षु यदि रोगादि से पीडित हो जाय तो गणावच्छेदक को उसे गण से बाहर करना नहीं कल्पता है, किन्तु जब तक वह रोग-आतंक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से वैयावृत्य करनी चाहिए। बाद में गणावच्छेदक उस पारिहारिक भिक्षु को अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

७. अनवस्थाप्यभिक्षु (नवमें प्रायश्चित्त को वहन करने वाला साधु) यदि रोगादि से पीडित हो जाय (उस प्रायश्चित्त को वहन न कर सके) तो गणावच्छेदक को उसे गण से बाहर करना नही कल्पता है, किन्तु जब तक वह रोग-आतंक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से वैयावृत्य करनी चाहिए। बाद में गणावच्छेदक उस अनवस्थाप्यसाधु को अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

८. पारंचितभिक्षु (दसवें प्रायश्चित्त को वहन करने वाला साधु) यदि रोगादि से पीडित हो जाय तो गणावच्छेदक को उसे गण से बाहर करना नही कल्पता है, किन्तु जब तक वह रोग-आतंक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से वैयावृत्य करनी चाहिए। बाद में गणावच्छेदक उस पारंचितभिक्षु को अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

९. विक्षिप्तचित्त ग्लान-भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है। जब तक वह उस रोग-आतंक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से सेवा करनी चाहिए। उसके बाद उसे गणावच्छेदक अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

१०. दिप्तचित्त ग्लान-भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है। जब तक वह उस रोग-आतंक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से सेवा करनी चाहिए। उसके बाद उसे गणावच्छेदक अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

११. यक्षाविष्ट ग्लान-भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है। जब तक वह उस रोग-आतंक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से सेवा करनी चाहिए। उसके बाद उसे गणावच्छेदक अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

१२. उन्मादप्राप्त ग्लान-भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है। जब तक वह उस रोग-आतंक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से सेवा करनी चाहिए। उसके बाद उसे गणावच्छेदक अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

१३. उपसर्गप्राप्त ग्लान-भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है। जब तक वह उस रोग-आतंक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से सेवा करनी चाहिए। उसके बाद उसे गणावच्छेदक अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

१४. कलहयुक्त ग्लान-भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है। जब तक वह उस रोग-आतंक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से सेवा करनी चाहिए। उसके बाद उसे गणावच्छेदक अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

१५. प्रायश्चित्तप्राप्त ग्लान-भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है। जब तक वह उस रोग-आतंक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से सेवा करनी चाहिए। उसके बाद उसे गणावच्छेदक अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

१६. भक्तप्रत्याख्यानी ग्लान-भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है। जब तक वह उस रोग-आतंक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से सेवा करनी चाहिए। उसके बाद उसे गणावच्छेदक अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

१७. प्रयोजनाविष्ट (आकांक्षायुक्त) ग्लान-भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है। जब तक वह उस रोग-आतंक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से सेवा करनी चाहिए। उसके बाद उसे गणावच्छेदक अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

विवेचन—इन सूत्रों में बारह प्रकार की विभिन्न अवस्थाओं वाले भिक्षुओं का कथन है। ये सभी भिक्षु अपनी उन अवस्थाओं के साथ-साथ रुग्ण भी हैं। यदि उनकी सेवा करने वाले भिक्षु खेद का अनुभव करते हों तो भी जिम्मेदार गीतार्थ गणावच्छेदक का यह कर्तव्य होता है कि वह उस भिक्षु की सेवा की उपेक्षा न करे और न ही उसे गच्छ से अलग करे, किन्तु अन्य सेवाभावी भिक्षुओं के द्वारा उसकी अग्लानभाव से सेवा करवावे।

भाष्य में अग्लानभाव का अर्थ यह किया गया है कि रुचिपूर्वक या उत्साहपूर्वक सेवा करना, अथवा स्वयं का कर्तव्य समझ कर सेवा करना। इन सूत्रों में निम्न गुणों की प्रमुखता है—

१. सेवाकार्य, २. ग्लान के प्रति अनुकंपा भाव, ३. संघ की प्रतिष्ठा।

सेवाकार्य संयमजीवन में प्रमुख गुण है एवं यह एक आभ्यन्तर तप है, जिसका विस्तृत विवेचन निशीथ उ. १० में किया गया है।

ठाणांग सूत्र अ. ३ उ. ४ में तथा भग श. ८ उ. ८ में तीन को अनुकंपा के योग्य कहा है—
१. तपस्वी (विकट तप करने वाला), २. ग्लान, ३. नवदीक्षित।

प्रस्तुत सूत्रों में भी यही बताया गया है कि किसी भी परिस्थिति में या प्रायश्चित्त काल में यदि भिक्षु रुग्ण हो तो उसकी उपेक्षा नहीं करना चाहिए और न ही उसे गण से निकालना चाहिए।

ग्लान-भिक्षु की वैयावृत्य (सेवा) की समुचित व्यवस्था होती हो तो गच्छ की एवं जिनशासन की प्रतिष्ठा बढ़ती है एवं धर्म की प्रभावना होती है। किंतु समुचित व्यवस्था के अभाव में, रुग्ण भिक्षु की सेवा करने कराने में उपेक्षा वृत्ति होने पर, खिन्न होकर सेवा छोड़ देने पर, गच्छ से निकाल देने पर अथवा अन्य पारिवारिक जनों को सौंप देने पर गच्छ की एवं जिनशासन की अवहेलना या निंदा होती है। अतः इन सूत्रों में यह स्पष्ट किया गया है कि इन अवस्थाओं वाले भिक्षुओं की भी रुग्ण-अवस्था में उपेक्षा न करके अग्लानभाव से सेवा करनी चाहिए। यदि ये रुग्ण न हों तो आवश्यक हो जाने पर गच्छ से निकाला जा सकता है। सूत्रोक्त बारह अवस्थाएं इस प्रकार हैं—

१. परिहारतप वहन करने वाला।
२. नवमा अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त वहन करने वाला।
३. दसवां पारांचिक प्रायश्चित्त वहन करने वाला।
४. अत्यंत शोक या भय से विक्षिप्तचित्त वाला—उन्मत।
५. हर्षातिरेक से भ्रमितचित्त वाला—उन्मत।
६. यक्षावेश (भूत-प्रेत आदि की पीडा) से पीडित।
७. मोहोदय से उन्मत्त—पागल।
८. किसी देव, पशु या राजा आदि के उपसर्ग से पीडित।
९. तीव्र कषाय-कलह से पीडित।
१०. किसी बड़े दोष के सेवन से प्रायश्चित्तप्राप्त।
११. आजीवन अनशन स्वीकार किया हुआ।
१२. शिष्यप्राप्ति, पदलिप्सा आदि किसी इच्छा से व्याकुल बना हुआ।

भाष्यकार ने इन सूत्रों में प्रयुक्त 'निज्जूहित्तए' शब्द से गच्छ से निकालने का अर्थ न करके केवल उसकी सेवा में उपेक्षा नहीं करने का ही अर्थ किया है तथा 'अट्ठजायं' शब्द से 'संकटग्रस्त पारिवारिक जनों के लिए धनप्राप्ति की आकांक्षा वाला भिक्षु' ऐसा अर्थ करते हुए विस्तृत व्याख्या की है।

उपर्युक्त ग्यारह अवस्थाओं के साथ एवं सूत्रोक्त विधान में 'अर्थ-जात' शब्द का 'इच्छाओं से व्याकुल भिक्षु' ऐसा अर्थ करना प्रसंगसंगत प्रतीत होता है।

'अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया' इस सूत्रांश की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने यथा-लघु एवं यथा-गुरु के अनेक भेद-प्रभेद किये हैं तथा उनका समय एवं उसमें किये जाने वाले तप का निर्देश किया है।

सूत्रोक्त 'ववहार' शब्द की व्याख्या करते हुए बताया है कि व्यवहार, आलोचना, विशुद्धि और प्रायश्चित्त, ये एकार्थक शब्द हैं। प्रथम उद्देशक के प्रारम्भिक सूत्रों में 'परिहार' शब्द भी प्रायश्चित्त अर्थ का द्योतक है। यथा—

'भिक्खु य मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा' अर्थात् भिक्षु एक मास के प्रायश्चित्त-योग्य दोषस्थान का सेवन करके आलोचना करे।

निशीथसूत्र के १९ उद्देशकों के अन्तिम सूत्र में भी प्रायश्चित्त अर्थ में 'परिहार' शब्द प्रयुक्त है।

यथालघुष्क प्रायश्चित्त का अर्थ—

यथालघुष्कव्यवहारं पंचदिनपरिमाणं निर्विकृतिकं कुर्वन् पूरयति । यदि वा—यथालघुष्के व्यवहारे प्रस्थापयितव्यं य प्रतिपन्नव्यवहारः तपः प्रायश्चित्त एवमेवालोचना-प्रदान-मात्रतः शुद्धः क्रियते, कारणे यतनया प्रतिसेवनात् । —टीका/भा. गा. ९६

भावार्थ—लघु प्रायश्चित्त पांच दिन का होता है जो विगयों का त्याग करके पूर्ण किया जाता है। अथवा कारण से यतनापूर्वक दोष का सेवन करने पर, अत्यल्प मर्यादा भंग करने पर, परवश अवस्था में मर्यादा भंग हो जाने पर केवल आलोचना प्रायश्चित्त मात्र से उसकी शुद्धि की जा सकती है अर्थात् उसे तपरूप प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है और दस प्रकार के प्रायश्चित्तों में प्रथम आलोचना प्रायश्चित्त होने से इसे 'यथालघुष्क' अर्थात् लघु (सर्वजघन्य) प्रायश्चित्त कहा जाता है।

इन सूत्रों में एवं आगे के सूत्रों में आचार्य उपाध्याय का निर्देश न करके गणावच्छेदक का निर्देश किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि गच्छ में सेवा एवं प्रायश्चित्त के कार्यों की प्रमुख जिम्मेदारी गणावच्छेदक की होती है।

अनवस्थाप्य और पारांचिक भिक्षु की उपस्थापना

१८. अणवट्ठप्पं भिक्खुं अगिहिभूयं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावित्तए।

१९. अणवट्ठप्पं भिक्खुं गिहिभूयं कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावित्तए।

२०. पारंचियं भिक्खुं अगिहिभूयं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावित्तए।

२१. पारंचियं भिक्खुं गिहिभूयं कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावित्तए।

२२. अणवट्ठप्पं भिक्खुं पारंचियं वा भिक्खुं अगिहिभूयं वा गिहिभूयं वा, कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावित्तए, जहा तस्स गणस्स पत्तियं सिया।

१८. अनवस्थाप्य नामक नौवें प्रायश्चित्त के पात्र भिक्षु को गृहस्थवेष धारण कराए विना पुनः संयम में उपस्थापन करना गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है।

१९. अनवस्थाप्यभिक्षु को गृहस्थवेष धारण कराके पुनः संयम में उपस्थापन करना गणावच्छेदक को कल्पता है।

२०. पारंचित नामक दसवें प्रायश्चित्त के पात्र भिक्षु को गृहस्थवेष धारण कराए विना पुनः संयम में उपस्थापन करना गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है।

२१. पारंचितभिक्षु को गृहस्थवेष धारण करवाकर पुनः संयम में उपस्थापन करना गणावच्छेदक को कल्पता है।

२२. अनवस्थाप्यभिक्षु को और पारंचितभिक्षु को (परिस्थितिवश) गृहस्थ का वेष धारण

कराके या गृहस्थ का वेष धारण कराए विना भी पुनः संयम में उपस्थापित करना गणावच्छेदक को कल्पता है, जिससे कि गण का हित संभव हो।

विवेचन--नौवें और दसवें प्रायश्चित्त योग्य भिक्षु को जघन्य छह मास, उत्कृष्ट बारह वर्ष तक का विशिष्ट तप रूप प्रायश्चित्त दिया जाता है और उस तप के पूर्ण होने पर उसे एक बार गृहस्थ का वेष धारण करवाया जाता है। तत्पश्चात् उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र दिया जाता है।

उपर्युक्त चार सूत्रों में गृहस्थ का वेष पहनाने का विधान करके पांचवें सूत्र में अपवाद का कथन किया गया है। जिसका भाव यह है कि किसी विशिष्ट व्यक्ति को गृहस्थ नहीं बनाना ही उचित लगे तो गणावच्छेदक अपने निर्णयानुसार कर सकता है। अर्थात् जिस तरह करने में उसे गच्छ का या जिनशासन का अत्यधिक हित संभव हो वैसा ही कर सकता है।

भाष्यकार ने गृहस्थ न बनाने के कुछ कारण ये कहे हैं—

१. जिसने किसी राजा को संघ के अनुकूल बनाया हो।
२. जिसे गृहस्थ न बनाने के लिए किसी राजा का आग्रह हो।
३. गण के साधुओं ने जिसे द्वेषवश असत्य आक्षेप से वह प्रायश्चित्त दिलवाया हो और वह अन्य गण के पास पुनः आलोचना करे तो।
४. उस प्रायश्चित्तप्राप्त भिक्षु या आचार्य के अनेक शिष्यों का आग्रह हो।
५. अपने उपकारी को कठोर प्रायश्चित्त देने के कारण उनके अनेक शिष्य संयम छोड़ने को उद्यत हों।
६. उस प्रायश्चित्त के संबंध में दो गणों में विवाद हो। इत्यादि परिस्थितियों में तथा अन्य भी ऐसे कारणों से उस भिक्षु को गृहस्थ बनाये विना भी उपस्थापन कर देना चाहिए।

अकृत्यसेवन का आक्षेप एवं उसके निर्णय करने की विधि

२३. दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, एगे तत्थ अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—

अहं णं भंते! अमुगेणं साहुणा सद्धिं इमम्मि कारणम्मि पडिसेवी।

से य पुच्छियव्वे "किं पडिसेवी, अपडिसेवी"?

से य वएज्जा—"पडिसेवी" परिहारपत्ते। से य वएज्जा—"नो पडिसेवी" नो परिहारपत्ते। जं से पमाणं वयइ से पमाणाओ घेयव्वे।

प०—से किमाहु भंते?

उ०—सच्चपइन्ना ववहारा।

२३. दो साधर्मिक एक साथ विचरते हों, उनमें से एक साधु किसी अकृत्यस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे—

'हे भगवन् ! मैंने अमुक साधु के साथ अमुक कारण के होने पर दोष का सेवन किया है। (उसके इस प्रकार कहने पर) दूसरे साधु से पूछना चाहिए—

'क्या तुम प्रतिसेवी हो या अप्रतिसेवी ?'

यदि वह कहे कि 'मैं प्रतिसेवी हूँ' तो वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है। यदि वह कहे कि 'मैं प्रतिसेवी नहीं हूँ', तो वह प्रायश्चित्त का पात्र नहीं है और जो भी वह प्रमाण दे, उनसे निर्णय करना चाहिए।

प्र०—हे भगवन् ! ऐसा कहने का क्या कारण है ?

उ०—सत्य प्रतिज्ञा वाले भिक्षुओं के सत्य कथन पर व्यवहार (प्रायश्चित्त) निर्भर होता है।

विवेचन—यदि कोई भिक्षु विचरण करके आएँ और अपनी आलोचना करते हुए, कोई दूसरे साधु को भी दोषसेवन करने वाला कहे तो ऐसा कहने में उस साधु का दूसरे साधु के प्रति द्वेष हो सकता है या दीक्षापर्याय में उसे किसी से छोटा बनाने का संकल्प हो सकता है। इसलिए वह असत्य आक्षेप करता है और अपने आक्षेप को सत्य सिद्ध करने के लिए वह स्वयं भी दोषी बनकर आलोचना करने का दिखावा करता है।

भाष्यकार ने यह भी कहा है कि वह आलोचना करते हुए अपना और अन्य भिक्षु का मैथुन-सेवन करना तक भी स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार छल करके दूसरे साधु को कलंकित करना चाहता है। ऐसी परिस्थिति में शास्त्रकार ने विवेकपूर्वक निर्णय करने के निम्न उपाय बताये हैं—

आलोचना सुनने वाला गीतार्थ भिक्षु अन्य भिक्षु से जब तक पूर्ण जानकारी न कर ले तब तक उसे किसी प्रकार का निर्णय नहीं करना चाहिए।

यदि पूछने पर अन्य भिक्षु दोषसेवन करना स्वीकार नहीं करे और कुछ स्पष्टीकरण करे तो उसे सावधानीपूर्वक सुनना चाहिए। तदनन्तर आक्षेप लगाने वाले से दोष-सेवन का स्थान (क्षेत्र) या उस दोष से सम्बन्धित व्यक्ति की जानकारी करना चाहिए। फिर उन दोनों के कथन एवं प्रमाणों पर पूर्ण विचार करके निर्णय करना चाहिए। कोई प्रबल प्रमाण न हो तो दोषसेवन को अस्वीकार करने वाले भिक्षु को किसी प्रकार का प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिए।

आक्षेपकर्ता ने दोषसेवन किया हो या न किया हो तो असत्य आक्षेप करने पर उसे उस दोष-सेवन का प्रायश्चित्त आता ही है।

यदि आलोचना करने वाला सत्य कथन कर रहा हो, किन्तु अन्य भिक्षु अपना दोष स्वीकार न करे और आलोचक उसे प्रमाणित भी न कर सके, तब भी दोष अस्वीकार करने वाले को कोई प्रायश्चित्त नहीं दिया जा सकता। क्योंकि भिक्षु सत्य वचन की प्रतिज्ञा वाले होते हैं। अतः स्वयं के स्वीकार करने पर ही उसे प्रायश्चित्त दिया जा सकता है। प्रमाण के बिना केवल किसी के कहने से उसे प्रायश्चित्त नहीं दिया जा सकता है। आलोचना करने वाला अपने कथन की सत्यता को प्रमाणित कर दे एवं गीतार्थ प्रायश्चित्तदाता को उन प्रमाणों की सत्यता समझ में आ जाय और उससे सम्बन्धित भिक्षु दोष को स्वीकार कर ले तभी उसे प्रायश्चित्त दिया जाता है। कदाचित् दोष प्रमाणित होने पर भी सम्बन्धित भिक्षु उसे स्वीकार न करे तो प्रायश्चित्तदाता गच्छ के अन्य गीतार्थ भिक्षुओं की सलाह

लेकर उसका प्रायश्चित्त घोषित कर सकते हैं एवं प्रायश्चित्त को अस्वीकार करने पर उसे गच्छ से अलग भी कर सकते हैं।

असत्य आक्षेप लगाने वाले को वही प्रायश्चित्त देने का कथन बृहत्कल्प उद्देशक ६ में है तथा गीतार्थ या आचार्य प्रदत्त आगमोक्त प्रायश्चित्त के स्वीकार न करने वाले को गच्छ से अलग करने का कथन बृहत्कल्प उद्देशक ४ में है।

तात्पर्य यह है कि गच्छप्रमुख केवल एक पक्ष के कथन से निर्णय एवं व्यवहार न करे, किन्तु उभय पक्ष के कथन को सुनकर उचित निर्णय करके प्रायश्चित्त दे।

सदिग्धावस्था में अर्थात् सम्यक् प्रकार से निर्णय न होने पर दोषी व्यक्ति को प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिए। ऐसा करने में प्रायश्चित्तदाता को कोई दोष नहीं लगता है, किन्तु दोषी व्यक्ति स्वयं ही अपनी संयमविराधना के फल को प्राप्त कर लेता है।

दोषसेवन प्रमाणों से सिद्ध हो जाए एवं स्पष्ट निर्णय हो जाए तो दोषी के अस्वीकार करने पर भी प्रायश्चित्त देना अनिवार्य हो जाता है, अन्यथा गच्छ में अव्यवस्था फैल जाती है और लोकनिन्दा भी होती है। अतः गीतार्थ भिक्षुओं को एवं गच्छप्रमुखों को विवेकपूर्वक सूत्रोक्त प्रायश्चित्त देने का निर्णय करना चाहिए।

संयम त्यागने का संकल्प एवं पुनरागमन

२४. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओहाणुप्पेही वजेज्जा, से य अणोहाइए इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, तत्थ णं थेराणं इमेयारूवे विवाए समुप्पज्जित्था—

'इमं भो ! जाणह किं पडिसेवी, अपडिसेवी ?'

से य पुच्छियव्वे—'किं पडिसेवी, अपडिसेवी ?'

से य वएज्जा—'पडिसेवी' परिहारपत्ते। से य वएज्जा—'नो पडिसेवी' नो परिहारपत्ते। जं से पमाणं वयइ से पमाणाओ घेयव्वे।

प०—से किमाहु भंते ?

उ०—सच्चपइन्ना ववहारा।

२४. संयम त्यागने की इच्छा से यदि कोई साधु गण से निकलकर जाए और बाद में असंयम सेवन किए बिना ही वह आये और पुनः अपने गण में सम्मिलित होना चाहे तो (गण में लेने के सम्बन्ध में) स्थविरों में यदि विवाद उत्पन्न हो जाए (वे परस्पर कहने लगें कि)—

क्या तुम जानते हो—यह प्रतिसेवी है या अप्रतिसेवी ?

(ऐसी स्थिति में आगम का विधान है कि स्थविरों को) उस भिक्षु से ही पूछना चाहिए—

क्या तुम प्रतिसेवी हो या अप्रतिसेवी ?

यदि वह कहे कि—"मैं प्रतिसेवी हूं।" तो वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है। यदि वह

कहे कि "मैं प्रतिसेवी नहीं हूं।" तो वह प्रायश्चित्त का पात्र नहीं होता है और जो वह प्रमाण देवे उनसे निर्णय करना चाहिए।

प्र०—हे भगवन् ! ऐसा कहने का क्या कारण है ?

उ०—सत्य प्रतिज्ञा वाले भिक्षुओं के सत्य कथन पर व्यवहार (प्रायश्चित्त) निर्भर होता है।

विवेचन—प्रथम उद्देशक के ३२वें सूत्र में संयम का परित्याग करके गृहस्थ बन जाने वाले भिक्षु के पुनः गण में आकर दीक्षित होने का कथन है और इस सूत्र में संयम त्यागने के संकल्प से अन्यत्र जाकर विचारों में परिवर्तन आ जाने से पुनः लौट कर आने वाले भिक्षु का कथन है।

वह चलचित्त भिक्षु पुनः उसी दिन आ सकता है, एक दो रात्रि व्यतीत करके भी आ सकता है और अनेक दिनों के बाद भी लौटकर आ सकता है।

लौटकर आने वाला भिक्षु अपने विचार-परिवर्तन का एवं उनके कारणों का स्पष्टीकरण करता हुआ गच्छ में रहना चाहे तो उस समय यदि गच्छ के गीतार्थ स्थविरों के विचारों में एकरूपता न हो अर्थात् किसी को यह सन्देह हो कि यह इस अवधि में किसी न किसी दोष का सेवन करके आया होगा, उस समय गच्छप्रमुख उस भिक्षु को पूछे या अन्य किसी से जानकारी करके निर्णय करे। यदि प्रामाणिक जानकारी न मिले तो उस भिक्षु के उत्तर के अनुसार ही निर्णय करना चाहिए अर्थात् वह दोषसेवन करना स्वीकार करे तो उसे उसका प्रायश्चित्त देवे। यदि वह दोष स्वीकार न करे तो किसी के सन्देह करने मात्र से उसे प्रायश्चित्त न दे। किन्तु संयम त्यागने के संकल्प का एवं उस संकल्प से अन्यत्र जाने का उसे यथोचित प्रायश्चित्त दिया जा सकता है एवं उसे गच्छ में सम्मिलित किया जा सकता है।

संयम छोड़ने के संकल्प न करने का वर्णन और संयम छोड़ने के कारणों का वर्णन तथा पुनः गण में आने पर परीक्षण करने का वर्णन प्रथम उद्देशक के ३२वें सूत्र के विवेचन में देखें।

यहां भाष्यकार ने संयम छोड़ने के संकल्प के कुछ विशेष कारण कहे हैं, जिनका सम्बन्ध पूर्व सूत्र २३ से किया है तथा विचारों के पुनः परिवर्तन होने के भी कुछ कारण कहे हैं।

संयम त्यागने के कराण

१. असत्य आक्षेप लगाने वाला स्वयं ही दण्डित हो जाने से खिन्न होकर संयम छोड़ने का संकल्प कर सकता है।

२. सत्य कहने वाला कभी अपने कथन को प्रमाणित नहीं कर पाता है, तब अन्याय से उद्विग्न होकर संयम त्यागने का संकल्प कर सकता है।

३. कोई साधु दोष-सेवन कर छिपाना चाहता हो किन्तु दूसरे के द्वारा प्रकट कर देने से एवं प्रमाणित कर देने से लज्जित होकर वह संयम त्यागने का संकल्प कर सकता है।

४. किसी के छल-छद्मों से भी गीतार्थों द्वारा यदि गलत निर्णय हो जाए, जिससे असन्तुष्ट होकर कोई संयम त्यागने का संकल्प कर सकता है।

पुनः गण में आने के कारण

१. उसके साथ भेजे गए साधुओं के समझाने से।
२. ग्रामादि के किसी प्रमुख व्यक्ति के समझाने से।
३. पारिवारिक लोगों के समझाने से।
४. चिन्तन-मनन करते-करते या वैराग्यप्रद आगमसूत्रों के स्मरण होने से।
५. कषाय एवं कलह के उपशांत हो जाने से।
६. विषयेच्छा से जाने वाले को स्व-स्त्री के कालधर्म प्राप्त होने की जानकारी मिल जाने से।
७. घर का सम्पूर्ण धन विनष्ट होने की जानकारी होने से।
८. परिवार के लोग घर में नहीं रखेंगे, ऐसा ज्ञात होने से।

९. धर्म की अश्रद्धा हो जाने पर संयम त्यागने वाले को फिर कभी किसी दृश्य के देखने पर पुनः धर्म में श्रद्धा हो जाने से।

१०. मार्ग में ही अत्यन्त बीमार हो जाने से अथवा कष्ट या उपसर्ग आ जाने से यह विचार आए कि सयम त्यागने के संकल्प से पुण्य नष्ट होकर पाप का उदय हो रहा है, अतः संयमपालन करना ही श्रेयस्कर है।

११. कोई मित्र देव के प्रतिबोध देने से।

भाष्यकार ने यह भी स्पष्ट कहा है कि भिक्षु यदि संयमत्याग के संकल्प की जानकारी गच्छ-प्रमुखों को देवे तो गच्छप्रमुख उसे अनेक उपायों से स्थिर करे। तदुपरांत भी वह जाना चाहे तो उसे पहुँचाने के लिए १-२ कुशल भिक्षुओं को साथ भेजे, जो उसे १-२ रात्रि तक या गंतव्यस्थान तक पहुँचाने जाएँ। वे मार्ग में भी उसे यथोचित सलाह देवें और अन्त में उसके गंतव्यस्थान तक भी साथ जाएँ। इस बीच कभी भी उसके विचार पुनः संयम में स्थिर हो जाएँ तो उसे साथ लाकर गच्छप्रमुख के सुपुर्द कर दें। उसके पुनः न आने पर भी साथ में भेजे साधु गच्छप्रमुख को मार्ग में हुई बातों की पूरी जानकारी दें।

साथ भेजे गए भिक्षुओं के लौटने के बाद विचारों में परिवर्तन होने पर वह पीछे से अकेला आ जाए तब सूत्रोक्त विवाद की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

संयम त्यागने के संकल्प वाला भिक्षु सूचना देकर भी जा सकता है और सूचना दिये बिना भी जा सकता है। दोनों प्रकार से जाने वाला भिक्षु संयम त्याग किये बिना पुनः आ सकता है और संयम त्याग कर भी पुनः आ सकता है। प्रस्तुत सूत्र में संयम का त्याग किये बिना आने वाले भिक्षु के सम्बन्ध में सारा विधान किया गया है।

एकपक्षीय भिक्षु को पद देने का विधान

२५. एगपक्खियस्स भिक्खुस्स कप्पइ आयरिय-उवज्झायाणं इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा, धारेत्तए वा, जहा वा तस्स गणस्स पत्तियं सिया।

२५. एकपक्षीय अर्थात् एक ही आचार्य के पास दीक्षा और श्रुत ग्रहण करने वाले भिक्षु को

अल्पकाल के लिए अथवा यावज्जीवन के लिए आचार्य या उपाध्याय पद पर स्थापित करना या उसे धारण करना कल्पता है अथवा परिस्थितिवश कभी जिसमें गण का हित हो वैसा भी किया जा सकता है।

विवेचन—आचार्य उपाध्याय को अपनी उपस्थिति में ही संघ की व्यवस्था बराबर बनी रहे, इसके लिए योग्य आचार्य और उपाध्याय की नियुक्ति कर देना चाहिए।

अल्पकालिक पदनियुक्ति के कारण

१. वर्तमान आचार्य को किसी विशिष्ट रोग की चिकित्सा करने के लिए अथवा मोहचिकित्सा हेतु विशिष्ट तपसाधना करने के लिए संघभार से मुक्त होना हो,

२. अन्य आचार्य उपाध्याय के पास अध्ययन करने हेतु जाना हो, अथवा उन्हें अध्ययन कराने एवं सहयोग देने जाना हो,

३. परिस्थितिवश अल्पकाल के लिए संयम छोड़ना आवश्यक हो,

४. पदनियुक्ति के समय पर योग्य भिक्षु का आवश्यक अध्ययन अपूर्ण हो,

इत्यादि परिस्थितियों में अल्पकालिक पद दिया जाता है।

जीवनपर्यंत पदनियुक्ति के कारण

१. आचार्य उपाध्याय को अपना मरण-समय निकट होने का ज्ञान होने पर।
२. अतिवृद्धता या दीर्घकालीन असाध्य रोग हो जाने पर।
३. आचार्य उपाध्याय को जिनकल्प आदि कोई विशिष्ट साधना करना हो।
४. आचार्य को संयम का पूर्णतया त्याग करना हो।
५. ब्रह्मचर्य का पालन करना अशक्य हो।
६. स्वगच्छ का त्याग कर अन्यगच्छ में जाना हो।

इन स्थितियों में आचार्य पदयोग्य भिक्षु को जीवनपर्यंत के लिए पद दिया जाता है।

भाष्यकार ने यहां दो प्रकार के आचार्य कहे हैं—१. सापेक्ष, २. निरपेक्ष।

जो अपने जीवनकाल में ही उचित अवसर पर योग्य भिक्षु को अपने पद पर नियुक्त कर देता है, वह 'सापेक्ष' कहा जाता है।

जो उचित अवसर पर योग्य भिक्षु को अपने पद पर नियुक्त नहीं करता है और उपेक्षा करता हुआ काल कर जाता है या अयोग्य को नियुक्त करता है, वह "निरपेक्ष" कहा जाता है। क्योंकि उसके काल करने के बाद गच्छ में कषाय कलह आदि की वृद्धि हो जाती है, जिससे गच्छ की व्यवस्था भंग हो जाती है।

सूत्र में कहे गए एकपाक्षिक शब्द की व्याख्या—

दुविहो य एगपक्खी, पवज्ज सुए य होई नायव्वो।
सुत्तम्मि एगवायण, पवज्जाए कुलिव्वादी॥ —व्यव. भाष्य गा. ३२५

भावार्थ—एकपाक्षिक दो प्रकार का होता है—१. श्रुत से २. प्रव्रज्या से।

जिसने एक गुरु के पास ही वाचना ग्रहण की हो अथवा जिसका श्रुतज्ञान एवं अर्थज्ञान आचार्यादि के समान हो, उनमें भिन्नता न हो, वह श्रुत से एकपाक्षिक कहा जाता है।

जो एक ही कुल गण एवं संघ में प्रव्रजित होकर स्थिरता से रहा हो अथवा जिसने एक गच्छवर्ती साधुओं के साथ निवास अध्ययनादि किया हो वह प्रव्रज्या से एकपाक्षिक कहा जाता है।

भाष्यकार ने इन दो पदों से चार भंग इस प्रकार किये हैं—

१. प्रव्रज्या और श्रुत से एकपाक्षिक।
२. प्रव्रज्या से एकपाक्षिक, श्रुत से नहीं।
३. श्रुत से एकपाक्षिक किन्तु प्रव्रज्या से नहीं।
४. प्रव्रज्या एवं श्रुत दोनों से एकपाक्षिक नहीं।

इनमें प्रथम भंग वाले को ही पद पर नियुक्त करना चाहिए, अन्य भंग वाला पूर्ण रूप से एकपाक्षिक नहीं होता।

सूत्र में अन्तिम वाक्य से आपवादिक विधान भी किया है कि किसी विशेष परिस्थिति में पूर्ण एकपाक्षिक एवं पदयोग्य भिक्षु न हो तो जैसा गण-प्रमुखों को गण के लिए उचित लगे वैसा कर सकते हैं।

भाष्यकार ने यहां यह स्पष्ट किया है कि आपवादिक स्थिति में भी तृतीय भंगवर्ती को अर्थात् जो श्रुत से सर्वथा एकपाक्षिक हो तो उसे पद पर नियुक्त करना चाहिए। किन्तु दूसरे और चौथे भंगवर्ती को पद परनियुक्त करने से आचार्य को गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है तथा वह आज्ञा-भंग आदि दोषों को प्राप्त करता है।

अतः जो अल्पश्रुत न हो किन्तु बहुश्रुत हो एवं श्रुत से एकपाक्षिक हो, उसे परिस्थितिवश पद पर नियुक्त किया जा सकता है। भाष्यकार ने गा. ३३३ में अल्पश्रुत को भी एकपाक्षिक न कह कर अनेकपाक्षिक कहा है।

श्रुत से एकपाक्षिक न होने के दोष

१. भिन्न वाचना होने से अनेक विषयों में शिष्यों को संतुष्ट नहीं कर सकता है।
२. भिन्न प्रकार से प्ररूपणा करने पर गच्छ में विवाद उत्पन्न होता है।
३. भिन्न-भिन्न प्ररूपणाओं के आग्रह से कलह उत्पन्न होकर गच्छ छिन्न-भिन्न हो जाता है।
४. अल्पश्रुत हो तो प्रश्न-प्रतिप्रश्नों का समाधान नहीं कर सकता, जिससे शिष्यों को अन्य गच्छ में जाकर पूछना पड़ता है।
५. अन्य गच्छ वाले अगीतार्थ या गीतार्थ शिष्यों को श्रुत के निमित्त से आकृष्ट कर अपनी निश्रा में कर सकते हैं, जिससे गण में क्षति, अशान्ति एवं अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है।

प्रव्रज्या से एकपाक्षिक न होने के दोष

१. अन्य कुल गण की प्रव्रज्या वाला आचार्य बन जाने पर भी गण के साधुओं को अपना नहीं मानता है।

२. गण के कई साधु आचार्य को अपना नहीं मानते हैं।

३. दोनों के हृदय में पूर्ण आत्मीयता न होने से प्रेम या अनुशासन में वृद्धि नहीं होत किन्तु उपेक्षाभाव एवं अनुशासनहीनता की वृद्धि होती है।

४. परस्पर आत्मीयभाव न होने से स्वार्थवृत्ति एवं शिष्यलोभ से कलह आदि उत्पन्न हो जिससे जिनशासन की हीलना होती है।

५. भाष्यकार ने यह भी बताया है अधिक लम्बा समय बीत जाने पर भी दोनों में परा का भाव नष्ट नहीं होता है, जिससे गच्छ में भेद उत्पन्न हो जाते हैं।

इसलिए प्रथम भंगवर्ती एकपाक्षिक भिक्षु को ही आचार्यादि पद पर अल्पकाल के लिये जीवनपर्यंत के लिए स्थापित करना चाहिए।

सूत्रगत आपवादिक विधान की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने सर्वप्रथम तीसरे भंग अर्थात् श्रुत से एकपाक्षिक भिक्षु को ही पद पर नियुक्त करने को कहा है।

प्रथम एवं तृतीय भंग वाले योग्य साधु के अभाव में जब किसी को आचार्य आदि पद आवश्यक हो जाय तब क्रम से दूसरे या चौथे भंग वाले को भी पद दिया जा सकता है। क्योंकि ि गण में अनेक साधु-साध्वियों का समुदाय हो और जिसमें नवदीक्षित, तरुण या बालवय वाले सा साध्वी हों, उन्हें आचार्य उपाध्याय या प्रवर्तिनी के बिना रहने का व्यव. उ. ३ सू. ११-१२ में सर्व निषेध किया है। वहां यह भी बताया है कि श्रमण निर्ग्रन्थ दो पदवीधरों के अधीनस्थ ही रहते हैं श्रमणी निर्ग्रन्थियां तीन पदवीधरों के नेतृत्व में रहती हैं।

यदि परिस्थितिवश किसी भी भंग वाले अनेकपाक्षिक भिक्षु को आचार्य आदि पद दिया ज तो वह इन गुणों से युक्त होना चाहिए—

१. प्रकृति से कोमल स्वभाव वाला हो।
२. गच्छ के समस्त साधु-साध्वियां उसके आचार्य होने में सम्मत हों।
३. वह विनयगुण-संपन्न हो।
४. आचार्य साधु आदि के गृहस्थजीवन का स्वजन संबंधी हो अथवा अनेक साधु-साध्वि उसके गृहस्थजीवन के संबंधी हों।
५. जिसने गण में अपने व्यवहार से आत्मीयता स्थापित कर ली हो।

इत्यादि अनेक गुणों से संपन्न हो तो उस अनेकपाक्षिक भिक्षु को भी आचार्य आदि पद प नियुक्त किया जा सकता है।

जिस गण में अनेक गीतार्थ भिक्षु शिष्यादि की ऋद्धि से संपन्न हों तो एक को मूल आचा एवं उसके सदृश गुणसंपन्न एक को उपाध्याय पद पर नियुक्त करना चाहिए। उसके बाद जो शिष्य संपदा से परिपूर्ण हो एवं आचार्य के लक्षणों से युक्त हो उसे भी आचार्य या उपाध्याय आदि पदों प नियुक्त करना चाहिए और वैसे लक्षण युक्त न हो तो स्थविर आदि पद से विभूषित करना चाहिए किंतु जिनके प्रभूत शिष्य न हों, उनको एक मुख्य आचार्य के अनुशासन में ही रहना चाहिए।

मुख्य आचार्य से जो दीक्षा पर्याय में अधिक हों एवं श्रुतसंपदा से संपन्न भी हों, किंतु आचार्य उपाध्याय पद के योग्य न हों तो उन्हें स्थविर आदि पद से सम्मानित करना चाहिए।

यदि अन्य भिक्षु आचार्य से अधिक दीक्षा पर्याय वाले न हों या श्रुतसम्पदा वाले न हों तो सभी साधुओं को एक ही आचार्य उपाध्याय के अनुशासन में रहना चाहिए।

पारिहारिक और अपारिहारिकों के परस्पर आहार-सम्बन्धी व्यवहार

२६. बहवे पारिहारिया बहवे अपारिहारिया इच्छेज्जा एगयओ एगमासं वा, दुमासं वा, तिमासं वा, चाउमासं वा, पंचमासं वा, छम्मासं वा वत्थए, ते अन्नमन्नं संभुंजंति, अन्नमन्नं नो संभुंजंति, मासं ते, तओ पच्छा सव्वे वि एगयओ संभुंजंति।

२७. परिहारकप्पट्ठियस्स भिक्खुस्स नो कप्पइ असणं वा जाव साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा।

थेरा य णं वएज्जा—'इमं ता अज्जो! तुमं एएसिं देहि वा अणुप्पदेहि वा।'

एवं से कप्पइ दाउं वा, अणुप्पदाउं वा।

कप्पइ से लेवं अणुजाणावेत्तए,

'अणुजाणह भंते! लेवाए'

एवं से कप्पइ लेवं समासेवित्तए।

२८. परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू सएणं पडिग्गहेणं बहिया अप्पणो वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य णं वएज्जा—

'पडिग्गाहेहि अज्जो!—अहं पि भोक्खामि वा पाहामि वा',

एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

तत्थ से नो कप्पइ अपरिहारिएणं परिहारियस्स पडिग्गहंसि असणं वा जाव साइमं वा भोत्तए वा पायए वा।

कप्पइ से सयंसि वा पडिग्गहंसि, सयंसि वा पलासगंसि, सयंसि वा कमण्डलंसि, सयंसि वा खुब्भगंसि, सयंसि वा पाणिंसि उद्धट्टु-उद्धट्टु भोत्तए वा पायए वा। एस कप्पो अपरिहारियस्स परिहारियाओ।

२९. परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू थेराणं पडिग्गहेणं बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य णं वएज्जा—

'पडिग्गाहेहि अज्जो! तुमंपि पच्छा भोक्खसि वा पाहिसि वा',

एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

तत्थ से नो कप्पइ परिहारिएणं अपरिहारियस्स पडिग्गहंसि असणं वा जाव साइमं वा भोत्तए वा पायए वा।

कप्पइ से सयंसि वा पडिग्गहंसि, सयंसि वा पलासगंसि, सयंसि वा कमण्डलंसि, सयंसि वा खुब्भगंसि, सयंसि वा पाणिंसि उद्धट्टु-उद्धट्टु भोत्तए वा पायए वा। एस कप्पो परिहारियस्स अपरिहारियाओ।

२६. अनेक पारिहारिक और अनेक अपारिहारिक भिक्षु यदि एक, दो, तीन, चार, पांच, छह मास पर्यन्त एक साथ रहना चाहें तो पारिहारिक भिक्षु पारिहारिक भिक्षु के साथ और अपारिहारिक भिक्षु अपारिहारिक भिक्षु के साथ बैठकर आहार कर सकते हैं, किन्तु पारिहारिक भिक्षु अपारिहारिक भिक्षु के साथ बैठकर नहीं कर सकते। वे सभी (पारिहारिक और अपारिहारिक) भिक्षु छह मास तप के और एक मास पारणे का बीतने पर एक साथ बैठकर आहार कर सकते हैं।

२७. अपारिहारिक भिक्षु को पारिहारिक भिक्षु के लिए अशन यावत् स्वादिम आहार देना या निमन्त्रण करके देना नहीं कल्पता है।

यदि स्थविर कहे कि—"हे आर्य ! तुम इन पारिहारिक भिक्षुओं को यह आहार दो या निमन्त्रण करके दो।"

ऐसा कहने पर उसे आहार देना या निमन्त्रण करके देना कल्पता है।

परिहारकल्पस्थित भिक्षु यदि लेप (घृतादि विकृति) लेना चाहे तो स्थविर की आज्ञा से उसे लेना कल्पता है।

"हे भगवन् ! मुझे घृतादि विकृति लेने की आज्ञा प्रदान करें।"

इस प्रकार स्थविर से आज्ञा लेने के बाद उसे घृतादि विकृति का सेवन करना कल्पता है।

२८. परिहारकल्प में स्थित भिक्षु अपने पात्रों को ग्रहण कर अपने लिए आहार लेने जाये और उसे जाते हुए देखकर यदि स्थविर कहे कि—

"हे आर्य ! मेरे योग्य आहार-पानी भी लेते आना, मैं भी खाऊंगा-पीऊंगा।"

ऐसा कहने पर उसे स्थविर के लिए आहार लाना कल्पता है।

वहां अपारिहारिक-स्थविर को पारिहारिक भिक्षु के पात्र में अशन यावत् स्वाद्य खाना-पीना नहीं कल्पता है।

किन्तु उसे अपने ही पात्र में, पलासक (मात्रक) में, जलपात्र में, दोनों हाथ में या एक हाथ में ले-ले कर खाना-पीना कल्पता है। यह अपारिहारिक भिक्षु का पारिहारिक भिक्षु की अपेक्षा से आचार कहा गया है।

२९. परिहारकल्प में स्थित भिक्षु स्थविर के पात्रों को लेकर उनके लिए आहार-पानी लाने को जावे, तब स्थविर उसे कहे—

"हे आर्य ! तुम अपने लिये भी साथ में ले आना और बाद में खा लेना, पी लेना।"

ऐसा कहने पर उसे स्थविर के पात्रों में अपने लिए भी आहार-पानी लाना कल्पता है।

वहां अपारिहारिक स्थविर के पात्र में पारिहारिक भिक्षु को अशन यावत् स्वाद्य खाना-पीना नहीं कल्पता है।

किन्तु उसे अपने ही पात्र में, पलासक में, कमण्डलु में, दोनों हाथ में या एक हाथ में ले-लेकर खाना-पीना कल्पता है।

यह पारिहारिक भिक्षु का अपारिहारिक भिक्षु की अपेक्षा से आचार कहा गया है।

विवेचन—परिहारतप करने वाले भिक्षुओं के साथ अपारिहारिक भिक्षु रहे तो उनमें से कई तो अलग-अलग आहार करते हैं और कई सम्मिलित आहार करते हैं।

एक मास परिहारतप वाला भिक्षु एक मास तप पूर्ण होने तक अलग आहार करता है और ५ दिन पारणे की अपेक्षा अलग आहार करता है, उसके बाद वह एक मांडलिक आहार करता है।

इसी प्रकार दो मास परिहारतप वाला भिक्षु दो मास और दस दिन तक अलग आहार करता है,

तीन मास तप वाला भिक्षु तीन मास और पन्द्रह दिन, चार मास तप वाला भिक्षु चार मास और बीस दिन, पांच मास तप वाला भिक्षु पाच मास और पच्चीस दिन, छह मास तप वाला भिक्षु छह मास और तीस दिन (एक मास) तक अलग आहार करता है। इस प्रकार परिहारतप की समाप्ति के एक मास बाद पारिहारिक-अपारिहारिक सभी एक साथ आहार करते हैं।

परिहारतप करने वाला भिक्षु अपना आहार स्वयं लाता है, उसे किसी से आहारादि लेना नही कल्पता है, यह सामान्य विधान है।

यदि वह तप करता हुआ अशक्त हो जाय तो स्थविर अन्य भिक्षुओं को कहे कि "हे आर्यो! तुम इस परिहारी भिक्षु को आहार दो या निमन्त्रण करो, ऐसा कहने पर उसे आहार दिया जा सकता है।

यदि उसे घृतादि विगय की आवश्यकता हो तो वह पुनः आज्ञा मिलने पर विगय सेवन कर सकता है, किन्तु केवल आहार देने की आज्ञा से विगय सेवन नहीं कर सकता।

किसी अपारिहारिक स्थविर की वैयावृत्य में रहने वाला पारिहारिक भिक्षु स्थविर के लिए और अपने लिए आहार लेने अलग-अलग जाता है, यह सामान्य विधान है।

किन्तु कभी किसी कारण से स्थविर आज्ञा दे तो अपने पात्रों में अपने आहार के साथ उनके लिए भी आहारादि ला सकता है और उनके पात्रों में उनके आहार के साथ अपना आहार भी ला सकता है।

ऐसा करने में उसके रूक्ष आहार के कोई विगय का लेप लग जाय तो वह स्थविर की आज्ञा से खा सकता है।

सूत्र में उन भिक्षुओं के आहार करने की यह मर्यादा कही गई है कि वे परस्पर किसी के पात्र में आहार न करें, किन्तु अपने पात्र में या हाथ में लेकर फिर खावें।

इस विधान से यह फलित होता है कि उन्हें अपने-अपने पात्र अलग-अलग रखने होते हैं एवं शामिल लाये गये आहार को सम्मिलित होकर नहीं खा सकते हैं। इसका कारण यह है कि यह अलग

व्यवहार रखने वाला पारिहारिक भिक्षु है। कारण से एवं आज्ञा से आहार साथ लाना परिस्थिति-जन्य अपवाद है, किन्तु पात्र लेने एवं साथ में आहार खाने के अलगाव में कोई बाधा न होने से उसके सामान्य विधान का ही पालन करना आवश्यक होता है।

भिक्षु का शरीर संयम और तप में सहायक होता है, अतः इसे आहार देना आदि प्रवृत्ति करना आवश्यक है। अनासक्त भाव से स्व-शरीर हेतु की गई प्रवृत्ति भी निर्जरा का हेतु है, अतः सूत्र में "अप्पणो वेयावडियाए" अर्थात् अपनी वैयावृत्य के लिए" ऐसे शब्द का प्रयोग किया गया है।

सूत्र में आहार करने के साधनरूप में पात्रों के लिए इन शब्दों का प्रयोग किया गया है—

१. स्वयं के (आहार लेने के) पात्र में।
२. स्वयं के "पलासक" (मात्रक) में।
३. स्वयं के कमण्डलक (पानी लेने के पात्र) में।
४. स्वयं के खोबे में अर्थात् दोनों हाथों से बनी अंजलि में।
५. स्वयं के हाथ में अर्थात् एक हाथ की पसली में।

यहां स्वयं के पलासक का अर्थ टीकाकार ने "ढाक के पत्तों से बना दोना" ऐसा किया है।

सूत्र में "सयंसि" पद प्रत्येक शब्द के साथ है। साधु के स्वयं का पात्र वही होता है जो सदा उसके पास रहता है एवं जो आगमोक्त हो।

पलास के पत्तों का दोना रखना आगम में निषिद्ध है और वह अधिक समय धारण करने योग्य भी नहीं होता है। अतः "स्वयं का पलासक" यह कथन "मात्रक" के लिए ही समझना उपयुक्त है एवं मात्रक रखना आगमसम्मत भी है। —दशा. द. ८

सूत्र के विधान से ही ऐसा ज्ञात होता है कि वे भिक्षु यदि पात्र की ऊनोदरी करने वाले हों तो स्वयं के मात्रक में, हाथ में या खोबे (अंजली) में ले-लेकर भी खा सकते हैं।

चौदहपूर्वी श्रीभद्रबाहु स्वामी द्वारा रचित इस व्यवहारसूत्र में पात्र की दृष्टि से तीन नाम कहे गये हैं। इससे यह फलित होता है कि भिक्षु सामान्यतया भी अनेक पात्र रख सकता है, अतः एक पात्र ही रखने की परम्परा का ऐतिहासिक कथन आगमसम्मत नहीं कहा जा सकता।

छेदसूत्रों में परिहार तप एवं पारिहारिक भिक्षु सम्बन्धी निर्देशों के कथन की बहुलता को देखते हुए इस विधि का विच्छेद मानना भी उचित प्रतीत नहीं होता है। इस विधि के मुख्य आगम-सम्मत नियम ये हैं—"आयंबिल, उपवास एवं एकांतवास से मौनपूर्वक आचार्य आदि के साथ रहना, सहाय-प्रत्याख्यान एवं सम्भोग-प्रत्याख्यान करना, इत्यादि हैं, जिनका कि वर्तमान में पालन करना सम्भव है। व्याख्याओं में इसका विच्छेद माना है एवं साध्वी के लिए भी निषिद्ध कहा है, किन्तु ऐसा उल्लेख आगमों में नहीं है और न ही किसी आगमविधान से ऐसा सिद्ध होता है।

दूसरे उद्देशक का सारांश

सूत्र १-५ विचरण करने वाले दो या दो से अधिक भिक्षुओं द्वारा परिहारतप वहन किया जा सकता है।

६-१७ रुग्ण भिक्षुओं की उपेक्षा नहीं करना चाहिए या उन्हें गच्छ से नहीं निकालना चाहिए, किन्तु उनकी यथोचित सेवा करनी-करवानी चाहिए।

१८-२२ नवमे-दसवें प्रायश्चित्त प्राप्त भिक्षु को गृहस्थ-लिंग धारण करवाकर ही उपस्थापना करनी चाहिए। कदाचित् बिना गृहस्थ-लिंग के भी दीक्षा देना गच्छ-प्रमुख के निर्णय पर निर्भर रहता है।

२३-२४ आक्षेप एवं विवाद पूर्ण स्थिति में स्पष्ट प्रमाणित होने पर ही प्रायश्चित देना एवं प्रमाणित न होने पर स्वयं के दोष स्वीकार करने पर ही प्रायश्चित्त देना।

२५ जिसकी श्रुत एवं दीक्षा पर्याय एकपाक्षिक हो ऐसे भिक्षु को पद देना।

२६ परिहारतप पूर्ण होने के बाद भी कुछ दिन आहार अलग रहता है, उत्कृष्ट एक मास तक भी आहार अलग रखा जाता है, जिससे विना समविभाग के वह विकृति का सेवन कर सके।

२७ परिहारतप वाले को स्थविर की आज्ञा होने पर ही आहार दिया जा सकता है एवं विशेष आज्ञा लेकर ही वह कभी विगय का सेवन कर सकता है।

२८-२९ स्थविर की सेवा में रहा हुआ पारिहारिक भिक्षु कभी आज्ञा होने पर दोनों की गोचरी साथ में ला सकता है, किन्तु उसे साथ में नहीं खाना चाहिए। अलग अपने हाथ या पात्र में लेकर ही खाना चाहिए।

उपसंहार

इस उद्देशक में —

सूत्र १-५,
२६-२९ परिहारतप वहन सम्बन्धी विधानों का,
६-१७ रुग्ण भिक्षुओं की अग्लानभाव से सेवा करने का,
१८-२२ नवमे दसवें प्रायश्चित्त वाले की उपस्थापना का,
२३-२४ विवाद की स्थिति में निर्णय करने का,
२५ एकपाक्षिक को ही आचार्य पद देने का,
इत्यादि विषयों का वर्णन किया गया है।

॥ दूसरा उद्देशक सम

तीसरा उद्देशक

१. भिक्खू य इच्छेज्जा गणं धारेत्तए, भगवं च से अपलिच्छन्ने एवं से नो कप्पइ गणं धारित्तए, भगवं च से पलिच्छन्ने, एवं से कप्पइ गणं धारेत्तए।

२. भिक्खु य इच्छेज्जा गणं धारेत्तए, नो से कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता गणं धारेत्तए। कप्पइ से थेरे आपुच्छित्ता गणं धारेत्तए, थेरा य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ गणं धारेत्तए, थेरा य से नो कप्पइ गणं धारेत्तए।

जं णं थेरेहिं अविइण्णं गणं धारेइ से सन्तरा छेए वा परिहारे वा, जे साहम्मिया उट्ठाए विहरंति, नत्थि णं तेसिं केइ छेए वा परिहारे वा।

१. यदि कोई भिक्षु गण को धारण करना अर्थात् अग्रणी होना चाहे और वह सूत्रज्ञान आदि योग्यता से रहित हो तो उसे गण धारण करना नहीं कल्पता है। यदि वह भिक्षु सूत्रज्ञान आदि योग्यता से युक्त हो तो उसे गण धारण करना कल्पता है।

२. यदि योग्य भिक्षु गण धारण करना चाहे तो उसे स्थविरों से पूछे बिना गण धारण करना नहीं कल्पता है। यदि स्थविर अनुज्ञा प्रदान करें तो गण धारण करना कल्पता है। यदि स्थविर अनुज्ञा प्रदान न करें तो गण धारण करना नहीं कल्पता है।

यदि कोई स्थविरों की अनुज्ञा प्राप्त किए बिना ही गण धारण करता है तो वह उस मर्यादा-उल्लंघन के कारण दीक्षा-छेद या तपप्रायश्चित्त का पात्र होता है, किन्तु जो सार्धमिक साधु उसकी प्रमुखता में विचरते हैं वे दीक्षा-छेद या तपप्रायश्चित्त के पात्र नहीं होते हैं।

विवेचन—गण को धारण करना दो प्रकार से होता है—१. कुछ साधुओं के समूह की प्रमुखता करते हुए विचरण करना या चातुर्मास करना यह प्रथम प्रकार का गण धारण है। ऐसे भिक्षु को गण धारण करने वाला, गणधर, गणप्रमुख, संघाटकप्रमुख, मुखिया या अग्रणी कहा जाता है। भाष्य में इसे "स्पर्धकपति" भी कहा गया है। २. साधुओं के समूह का अधिपति अर्थात् आचार्यादि पद धारण करने वाला। जिसे आचार्य, उपाध्याय, गणधर, गच्छाधिपति, गणी आदि कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि पद वालों को एवं प्रमुख रूप में विचरने वाले को "गणधर" कहा जाता है।

प्रस्तुत दोनों सूत्रों में प्रथम प्रकार के गणधारक का कथन है। क्योंकि यहां स्थविरों की आज्ञा लेकर गण धारण करना और बिना आज्ञा गण धारण करने पर प्रायश्चित्त का पात्र होना कहा गया है। ऐसा विधान आचार्य पद धारण करने वाले के लिए उपयुक्त नहीं होता है।

आचार्य पद गण के स्थविर देते हैं या वर्तमान आचार्य की आज्ञा से आचार्य पद दिया जाता है अथवा गच्छ के साधु-साध्वी या चतुर्विध संघ मिलकर आचार्य पद देते हैं, किन्तु कोई स्वयं ही पद

लेना चाहे और स्थविर को पूछे कि 'मैं आचार्य बनूं ?' अथवा बिना पूछे ही आचार्य बन जाए, ऐसे अर्थ की कल्पना सर्वथा असंगत है। अतः इन दोनों सूत्रों का विषय है—संघाटक के प्रमुख रूप में विचरण करना। आचार्यादि पद की अपेक्षा का कथन तो आगे के सूत्रों में किया गया है।

यदि कोई भिक्षु गणप्रमुख के रूप मे विचरना चाहे तो उसका पलिच्छन्न होना आवश्यक है। अर्थात् जो शिष्यसम्पदा और श्रुतसम्पदा सम्पन्न है, वही प्रमुख रूप में विचरण कर सकता है। यहां भाष्यकार ने शिष्यसम्पदा एवं श्रुतसम्पदा के चार भांगे कहे है, उनमें से प्रथम भंग के अनुसार जो दोनों प्रकार की सम्पदा से युक्त हो उसे ही प्रमुख रूप में विचरण करना चाहिए।

यदि पृथक्-पृथक् शिष्य करने की परम्परा न हो तो श्रुतसम्पन्न (आगमवेत्ता) एवं बुद्धिमान भिक्षुगण के कुछ साधुओं की प्रमुखता करता हुआ विचरण कर सकता है।

जिस भिक्षु के एक या अनेक शिष्य हों वह शिष्यसम्पदा युक्त कहा जाता है। जो आवश्यकसूत्र, दशवैकालिकसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र तथा आचारांगसूत्र और निशीथसूत्रों के मूल एवं अर्थ को धारण करने वाला हो अर्थात् जिसने इतना मूल श्रुत उपाध्याय की निश्रा से कंठस्थ धारण किया हो एवं आचार्य या उपाध्याय से इन सूत्रों के अर्थ की वाचना लेकर उसे भी कंठस्थ धारण किया हो एवं वर्तमान में वह श्रुत उसे उपस्थित हो तो वह श्रुतसम्पन्न कहा जाता है।

जिसके एक भी शिष्य नहीं है एवं उपर्युक्त श्रुत का अध्ययन भी जिसने नहीं किया है, वह गण धारण के अयोग्य है।

यदि किसी भिक्षु के शिष्यसम्पदा है, किन्तु वह बुद्धिमान् एवं श्रुतसम्पन्न नहीं है अथवा धारण किए हुए श्रुत को भूल गया है, वह भी गण धारण के अयोग्य है। किन्तु यदि किसी को वृद्धावस्था (६० वर्ष से अधिक) होने के कारण श्रुत विस्मृत हो गया हो तो वह श्रुतसम्पन्न ही कहा जाता है एवं गण धारण कर सकता है।

इस सूत्र में "भगवं च से" इस पद का प्रयोग किया गया है। इसमें "भगवं" शब्द के साथ "च" और "से" होने से यह "सम्बोधन" रूप नही है। इसलिए यह शब्द गण धारण करने की इच्छा वाले अनगार के लिए ही प्रयुक्त है तथा इसके साथ "पलिच्छन्ने और अपलिच्छन्ने" शब्दों को जोड़कर दो प्रकार की योग्यता का विधान किया गया है। इसलिए "भगवं च से" इस पद का अर्थ है—यदि वह भिक्षु (अनगार भगवंत) और "पलिच्छन्ने" इस पद का अर्थ है—शिष्य एवं श्रुतसम्पदा-सम्पन्न।

भाष्यकार ने शिष्यसम्पदा वाले को "द्रव्यपलिच्छन्न" और श्रुत सम्पन्न को "भावपलिच्छन्न" कहा है। उस चौभंगी युक्त विवेचन से भावपलिच्छन्न को ही गण धारण करके विचरने योग्य कहा है। जिसका सारांश यह है कि जो आवश्यक श्रुत से सम्पन्न हो एवं बुद्धिसम्पन्न हो, वह गण धारण करके विचरण कर सकता है।

भाष्यकार ने यह भी स्पष्ट किया है—

१. विचरण करते हुए वह स्वयं के और अन्य भिक्षुओं के ज्ञान दर्शन चारित्र की शुद्ध आराधना करने करवाने में समर्थ हो।

२. जनसाधारण को अपने ज्ञान तथा वाणी एवं व्यवहार से धर्म के सन्मुख कर सकता हो।

३. अन्य मत से भावित कोई भी व्यक्ति प्रश्न-चर्चा करने के लिए आ जाय तो यथायोग्य उत्तर देने में समर्थ हो, ऐसा भिक्षु गणप्रमुख के रूप में अर्थात् संघाटकप्रमुख होकर विचरण कर सकता है।

धर्मप्रभावना को लक्ष्य में रखकर विचरण करने वाले प्रमुख भिक्षु में ये भाष्योक्त गुण होना आवश्यक हैं, किन्तु अभिग्रह प्रतिमाएं एवं मौन साधना आदि केवल आत्मकल्याण के लक्ष्य से विचरण करने वाले को सूत्रोक्त श्रुतसम्पन्न रूप पलिच्छन्न होना ही पर्याप्त है। भाष्योक्त गुण न हों तो भी वह प्रमुख होकर विचरण करता हुआ आत्मसंयम-साधना कर सकता है।

द्वितीय सूत्र के अनुसार कोई भी श्रुतसम्पन्न योग्य भिक्षु स्वेच्छा से गणप्रमुख के रूप में विचरण करने के लिए नहीं जा सकता है, किन्तु गच्छ के स्थविर भगवंत की अनुमति लेकर के ही गण धारण कर सकता है अर्थात् स्थविर भगवन्त से कहें कि—"हे भगवन् ! मैं कुछ भिक्षुओं को लेकर विचरण करना चाहता हूँ।" तब स्थविर भगवन्त उसकी योग्यता जानकर एवं उचित अवसर देखकर स्वीकृति देवें तो गण धारण कर सकता है। यदि वे स्थविर किसी कारण से स्वीकृति न दें तो उसे गण धारण नहीं करना चाहिये एवं योग्य अवसर की प्रतीक्षा करना चाहिए।

सूत्र में स्थविर भगवन्त से आज्ञा प्राप्त करने का जो विधान किया गया है उसके सन्दर्भ में यह समझना चाहिए कि यहां स्थविर शब्द से आचार्य उपाध्याय प्रवर्तक आदि सभी आज्ञा देने वाले अधिकारी सूचित किये गये हैं। क्योंकि स्थविर शब्द अत्यन्त विशाल है। इसमें सभी पदवीधर और अधिकारीगण भिक्षुओं का समावेश हो जाता है। आगमों में गणधर गौतम सुधर्मास्वामी के लिए एवं तीर्थंकरों के लिए भी "थेरे—स्थविर" शब्द का प्रयोग है। अतः इस विधान का आशय यह है कि गण धारण के लिए गच्छ के किसी भी अधिकारी भिक्षु की आज्ञा लेना आवश्यक है एवं स्वयं का श्रुतसंपदा आदि से सम्पन्न होना भी आवश्यक है।

यदि कोई भिक्षु उत्कट इच्छा के कारण आज्ञा लिये बिना या स्वीकृति मिले बिना भी अपने शिष्यों को या अन्य अपनी निश्रा में अध्ययन आदि के लिए रहे हुए साधुओं को लेकर विचरण करता है तो वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

उसके साथ शिष्य रूप रहने वाले या अध्ययन आदि किसी भी कारण से उसकी निश्रा में रहने वाले साधु उसकी आज्ञा का पालन करते हुए उसके साथ रहते हैं, वे प्रायश्चित्त के पात्र नहीं होते हैं। यह भी द्वितीय सूत्र में स्पष्ट किया गया है।

आज्ञा के बिना गण धारण करने वाले भिक्षु के लिए प्रायश्चित्त का विधान करते हुए सूत्र में कहा गया है कि **"से संतरा छेए वा परिहारे वा"**, इसका अर्थ करते हुए व्याख्याकार ने यह स्पष्ट किया है कि वह भिक्षु अपने उस अपराध के कारण यथायोग्य छेद (पांच दिन आदि) प्रायश्चित्त को अथवा मासिक आदि परिहारतप या सामान्य तप रूप प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है। अर्थात् आलोचना करने पर या आलोचना न करने पर भी अनुशासन-व्यवस्था हेतु उसे यह सूत्रोक्त प्रायश्चित्त दिया जाता है।

सूत्र में भिक्षु के लिए यह विधान किया गया है। इसी प्रकार साध्वी के लिए भी संपूर्ण विधान समझ लेना चाहिए। उसे विचरण करने के लिए स्थविर या प्रवर्तिनी की आज्ञा लेनी चाहिए।

उपाध्याय आदि पद देने के विधि-निषेध

३. तिवासपरियाए समणे निग्गंथे—आयारकुसले, संजमकुसले, पवयणकुसले, पण्णत्तिकुसले, संगहकुसले, उवग्गहकुसले, अक्खयायारे, अभिन्नायारे, असबलायारे, असंकिलिट्ठायारे, बहुस्सुए बब्भागमे, जहण्णेणं आयारप्पकप्प-धरे, कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

४. सच्चेव णं से तिवासपरियाए समणे निग्गंथे नो आयारकुसले, नो संजमकुसले, नो पवयण कुसले, नो पण्णत्तिकुसले, नो संगहकुसले, नो उवग्गहकुसले, खयायारे, भिन्नायारे, सबलायारे, संकिलिट्ठयारे, अप्पसुए, अप्पागमे नो कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

५. पंचवासपरियाए समणे णिग्गंथे—आयारकुसले, संजमकुसले, पवयणकुसले, पण्णत्तिकुसले, संगहकुसले, उवग्गहकुसले, अक्खयायारे, अभिन्नायारे, असबलायारे, असंकिलिट्ठायारे, बहुस्सुए, बब्भागमे, जहण्णेणं दसा-कप्प-ववहारधरे, कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

६. सच्चेण णं से पंचवासपरियाए समणे निग्गंथे—नो आयारकुसले, नो संजमकुसले, नो पवयणकुसले, नो पण्णत्तिकुसले, नो संगहकुसले, नो उवग्गहकुसले, खयायारे, भिन्नायारे, सबलायारे, संकिलिट्ठायारे, अप्पसुए, अप्पागमे नो कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

७. अट्ठवासपरियाए समणे निग्गंथे—आयारकुसले, संजमकुसले, पवयणकुसले, पण्णत्तिकुसले, संगहकुसले, उवग्गहकुसले, अक्खयायारे, अभिन्नायारे, असबलायारे, असंकिलिट्ठायारे, बहुस्सुए, बब्भागमे, जहण्णेणं ठाण-समवाय-धरे, कप्पइ आयरियत्ताए उवज्झायत्ताए गणावच्छेइयत्ताए उद्दिसित्तए।

८. सच्चेव णं से अट्ठवासपरियाए समणे णिग्गंथे नो आयारकुसले नो संजमकुसले, नो पवयणकुसले, नो पन्नत्तिकुसले, नो संगहकुसले, नो उवग्गहकुसले, खयायारे, भिन्नायारे, सबलायारे, संकिलिट्ठायारे, अप्पसुए अप्पागमे, नो कप्पइ आयरियत्ताए, उवज्झायत्ताए, गणावच्छेइयत्ताए उद्दिसित्तए।

३. तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ—यदि आचारकुशल, संयमकुशल, प्रवचन-कुशल, प्रज्ञप्तिकुशल, संग्रहकुशल और उपग्रह करने में कुशल हो तथा अक्षत चरित्र वाला, अभिन्न चारित्र वाला, अशबल चारित्र वाला और असंक्लिष्ट आचार वाला हो, बहुश्रुत एवं बहुआगमज्ञ हो और कम से कम आचार-प्रकल्प धारण करने वाला हो तो उसे उपाध्याय पद देना कल्पता है।

४. वही तीन वर्ष की दीक्षापर्यायवाला श्रमण-निर्ग्रन्थ—यदि आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञप्ति, संग्रह और उपग्रह में कुशल न हो तथा क्षत, भिन्न, शबल और संक्लिष्ट आचार वाला हो, अल्पश्रुत एवं अल्प आगमज्ञ हो तो उसे उपाध्याय पद देना नहीं कल्पता है।

३. अन्य मत से भावित कोई भी व्यक्ति प्रश्न-चर्चा करने के लिए आ जाय तो यथायोग्य उत्तर देने में समर्थ हो, ऐसा भिक्षु गणप्रमुख के रूप में अर्थात् संघाटकप्रमुख होकर विचरण कर सकता है।

धर्मप्रभावना को लक्ष्य में रखकर विचरण करने वाले प्रमुख भिक्षु में ये भाष्योक्त गुण होना आवश्यक हैं, किन्तु अभिग्रह प्रतिमाएं एवं मौन साधना आदि केवल आत्मकल्याण के लक्ष्य से विचरण करने वाले को सूत्रोक्त श्रुतसम्पन्न रूप पलिच्छन्न होना ही पर्याप्त है। भाष्योक्त गुण न हों तो भी वह प्रमुख होकर विचरण करता हुआ आत्मसंयम-साधना कर सकता है।

द्वितीय सूत्र के अनुसार कोई भी श्रुतसम्पन्न योग्य भिक्षु स्वेच्छा से गणप्रमुख के रूप में विचरण करने के लिए नहीं जा सकता है, किन्तु गच्छ के स्थविर भगवंत की अनुमति लेकर के ही गण धारण कर सकता है अर्थात् स्थविर भगवन्त से कहें कि—"हे भगवन् ! मैं कुछ भिक्षुओं को लेकर विचरण करना चाहता हूँ।" तब स्थविर भगवन्त उसकी योग्यता जानकर एवं उचित अवसर देखकर स्वीकृति देवें तो गण धारण कर सकता है। यदि वे स्थविर किसी कारण से स्वीकृति न दें तो उसे गण धारण नहीं करना चाहिये एवं योग्य अवसर की प्रतीक्षा करना चाहिए।

सूत्र में स्थविर भगवन्त से आज्ञा प्राप्त करने का जो विधान किया गया है उसके सन्दर्भ में यह समझना चाहिए कि यहां स्थविर शब्द से आचार्य उपाध्याय प्रवर्तक आदि सभी आज्ञा देने वाले अधिकारी सूचित किये गये हैं। क्योंकि स्थविर शब्द अत्यन्त विशाल है। इसमें सभी पदवीधर और अधिकारीगण भिक्षुओं का समावेश हो जाता है। आगमों में गणधर गौतम सुधर्मास्वामी के लिए एवं तीर्थंकरों के लिए भी "थेरे—स्थविर" शब्द का प्रयोग है। अतः इस विधान का आशय यह है कि गण धारण के लिए गच्छ के किसी भी अधिकारी भिक्षु की आज्ञा लेना आवश्यक है एवं स्वयं का श्रुतसंपदा आदि से सम्पन्न होना भी आवश्यक है।

यदि कोई भिक्षु उत्कट इच्छा के कारण आज्ञा लिये बिना या स्वीकृति मिले बिना भी अपने शिष्यों को या अन्य अपनी निश्रा में अध्ययन आदि के लिए रहे हुए साधुओं को लेकर विचरण करता है तो वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

उसके साथ शिष्य रूप रहने वाले या अध्ययन आदि किसी भी कारण से उसकी निश्रा में रहने वाले साधु उसकी आज्ञा का पालन करते हुए उसके साथ रहते हैं, वे प्रायश्चित्त के पात्र नहीं होते हैं। यह भी द्वितीय सूत्र में स्पष्ट किया गया है।

आज्ञा के बिना गण धारण करने वाले भिक्षु के लिए प्रायश्चित्त का विधान करते हुए सूत्र में कहा गया है कि "से संतरा छेए वा परिहारे वा", इसका अर्थ करते हुए व्याख्याकार ने यह स्पष्ट किया है कि यह भिक्षु अपने उस अपराध के कारण यथायोग्य छेद (पांच दिन आदि) प्रायश्चित्त को अथवा मासिक आदि परिहारतप या सामान्य तप रूप प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है। अर्थात् आलोचना करने पर या आलोचना न करने पर भी अनुशासन-व्यवस्था हेतु उसे यह सूत्रोक्त प्रायश्चित्त दिया जाता है।

सूत्र में भिक्षु के लिए यह विधान किया गया है। इसी प्रकार साध्वी के लिए भी संपूर्ण विधान समझ लेना चाहिए। उसे विचरण करने के लिए स्थविर या प्रवर्तिनी की आज्ञा लेनी चाहिए।

उपाध्याय आदि पद देने के विधि-निषेध

३. तिवासपरियाए समणे निग्गंथे—आयारकुसले, संजमकुसले, पवयणकुसले, पण्णत्तिकुसले, संगहकुसले, उवग्गहकुसले, अक्खयायारे, अभिन्नायारे, असबलायारे, असंकिलिट्ठायारे, बहुस्सुए बब्भागमे, जहण्णेणं आयारप्पकप्प-धरे, कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

४. सच्चेव णं से तिवासपरियाए समणे निग्गंथे नो आयारकुसले, नो संजमकुसले, नो पवयण कुसले, नो पण्णत्तिकुसले, नो संगहकुसले, नो उवग्गहकुसले, खयायारे, भिन्नायारे, सबलायारे, संकिलिट्ठयारे, अप्पसुए, अप्पागमे नो कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

५. पंचवासपरियाए समणे णिग्गंथे—आयारकुसले, संजमकुसले, पवयणकुसले, पण्णत्तिकुसले, संगहकुसले, उवग्गहकुसले, अक्खयायारे, अभिन्नायारे, असबलायारे, असंकिलिट्ठायारे, बहुस्सुए, बब्भागमे, जहण्णेणं दसा-कप्प-ववहारधरे, कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

६. सच्चेण णं से पंचवासपरियाए समणे निग्गंथे—नो आयारकुसले, नो संजमकुसले, नो पवयणकुसले, नो पण्णत्तिकुसले, नो संगहकुसले, नो उवग्गहकुसले, खयायारे, भिन्नायारे, सबलायारे, संकिलिट्ठायारे, अप्पसुए, अप्पागमे नो कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

७. अट्ठवासपरियाए समणे निग्गंथे—आयारकुसले, संजमकुसले, पवयणकुसले, पण्णत्तिकुसले, संगहकुसले, उवग्गहकुसले, अक्खयायारे, अभिन्नायारे, असबलायारे, असंकिलिट्ठायारे, बहुस्सुए, बब्भागमे, जहण्णेणं ठाण-समवाय-धरे, कप्पइ आयरियत्ताए उवज्झायत्ताए गणावच्छेइयत्ताए उद्दिसित्तए।

८. सच्चेव णं से अट्ठवासपरियाए समणे णिग्गंथे नो आयारकुसले नो संजमकुसले, नो पवयणकुसले, नो पन्नत्तिकुसले, नो संगहकुसले, नो उवग्गहकुसले, खयायारे, भिन्नायारे, सबलायारे, संकिलिट्ठायारे, अप्पसुए अप्पागमे, नो कप्पइ आयरियत्ताए, उवज्झायत्ताए, गणावच्छेइयत्ताए उद्दिसित्तए।

३. तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ—यदि आचारकुशल, संयमकुशल, प्रवचन-कुशल, प्रज्ञप्तिकुशल, संग्रहकुशल और उपग्रह करने में कुशल हो तथा अक्षत चारित्र वाला, अभिन्न चारित्र वाला, अशबल चारित्र वाला और असंक्लिष्ट आचार वाला हो, बहुश्रुत एवं बहुआगमज्ञ हो और कम से कम आचार-प्रकल्प धारण करने वाला हो तो उसे उपाध्याय पद देना कल्पता है।

४. वही तीन वर्ष की दीक्षापर्यायवाला श्रमण-निर्ग्रन्थ—यदि आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञप्ति, संग्रह और उपग्रह में कुशल न हो तथा क्षत, भिन्न, शबल और संक्लिष्ट आचार वाला हो, अल्पश्रुत एवं अल्प आगमज्ञ हो तो उसे उपाध्याय पद देना नहीं कल्पता है।

५. पांच वर्ष की दीक्षापर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ—यदि आचारकुशल, संयमकुशल, प्रवचनकुशल, प्रज्ञप्तिकुशल, संग्रहकुशल और उपग्रहकुशल हो तथा अक्षत चारित्र वाला, अभिन्न चारित्र वाला, अशबल चारित्र वाला और असंक्लिष्ट आचार वाला हो, बहुश्रुत एवं बहुआगमज्ञ हो एवं कम से कम दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प एवं व्यवहारसूत्र को धारण करने वाला हो तो उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है।

६. वही पांच वर्ष की दीक्षापर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ—यदि आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञप्ति, संग्रह और उपग्रह में कुशल न हो तथा क्षत, भिन्न, शबल और संक्लिष्ट आचार वाला हो, अल्पश्रुत और अल्प आगमज्ञ हो तो उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना नहीं कल्पता है।

७. आठ वर्ष की दीक्षापर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ—यदि आचारकुशल, संयम कुशल, प्रवचनकुशल, प्रज्ञप्तिकुशल, संग्रहकुशल और उपग्रहकुशल हो तथा अक्षत चारित्र वाला, अभिन्न चारित्र वाला अशबल चारित्र और असंक्लिष्ट आचार वाला हो, बहुश्रुत एवं बहुआगमज्ञ हो एवं कम से कम स्थानांग-समवायांग सूत्र को धारण करने वाला हो तो उसे आचार्य, उपाध्याय और गणावच्छेदक पद देना कल्पता है।

८. वही आठ वर्ष की दीक्षापर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ यदि आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञप्ति, संग्रह और उपग्रह में कुशल न हो तथा क्षत, भिन्न, शबल और संक्लिष्ट आचार वाला हो, अल्पश्रुत और अल्प आगमज्ञ हो तो उसे आचार्य, उपाध्याय और गणावच्छेदक पद देना नहीं कल्पता है।

विवेचन—जिस गच्छ में अनेक साधु-साध्वियां हैं। जिसके अनेक संघाटक (संघाड़े) अलग-अलग विचरते हों अथवा जिस गच्छ में नवदीक्षित, बाल या तरुण साधु-साध्वियां हों, उसमें अनेक पदवीधरों का होना अत्यावश्यक है एवं कम से कम आचार्य, उपाध्याय इन दो पदवीधरों का होना तो नितांत आवश्यक है।

किन्तु जिस गच्छ में २-४ साधु या २-४ साध्वियां ही हों, जिनके एक या दो संघाटक ही अलग-अलग विचरते हों एवं उनमें कोई भी नवदीक्षित बाल या तरुण वय वाला न हो तो पदवीधर के बिना ही केवल वय या पर्याय स्थविर से उनकी व्यवस्था हो सकती है।

यहां प्रथम सूत्रद्विक में उपाध्याय पद, द्वितीय सूत्रद्विक में आचार्य-उपाध्याय पद और तृतीय सूत्रद्विक में अन्य पदों के योग्यायोग्य का कथन दीक्षापर्याय, श्रुत-अध्ययन एवं अनेक गुणों के द्वारा किया गया है। जिसमें दीक्षापर्याय और श्रुत-अध्ययन की जघन्य मर्यादा तो उपाध्याय से आचार्य की और उनसे गणावच्छेदक की अधिक अधिकतर कही है।

इसके सिवाय मध्यम या उत्कृष्ट कोई भी दीक्षापर्याय एवं श्रुत-अध्ययन वाले को भी ये पद दिये जा सकते हैं। आचारकुशल आदि अन्य गुणों का सभी पदवीधरों के लिए समान रूप से निरूपण किया गया है। अतः प्रत्येक पद-योग्य भिक्षु में ये गुण होना आवश्यक हैं।

दीक्षापर्याय—भाष्यकार ने बताया है कि दीक्षापर्याय के अनुसार अनुभव, क्षमता, योग्यता का विकास होता है, जिससे भिक्षु उन-उन पदों के उत्तरदायित्व को निभाने में सक्षम होता है।

उपाध्याय का मुख्य उत्तरदायित्व अध्ययन कराने का है, जिसमें शिष्यों के अध्ययन सम्बन्धी सभी प्रकार की व्यवस्था की देख-रेख उन्हें रखनी पड़ती है। अतः इस पद के लिए जघन्य तीन वर्ष की दीक्षापर्याय होना आवश्यक कहा है।

आचार्य पर गच्छ की संपूर्ण व्यवस्थाओं का उत्तरदायित्व रहता है। वे अर्थ-परमार्थ की वाचना भी देते हैं। अतः अधिक अनुभव क्षमता की दृष्टि से उनके लिए न्यूनतम पांच वर्ष की दीक्षापर्याय होना आवश्यक कहा है।

गणावच्छेदक गण संबंधी अनेक कर्तव्यों को पूर्ण करके उनकी चिन्ता से आचार्य को मुक्त रखता है अर्थात् गच्छ के साधुओं की सेवा, विचरण एवं प्रायश्चित्त आदि व्यवस्थाओं का उत्तरदायित्व गणावच्छेदक का होता है। यद्यपि अनुशासन का पूर्ण उत्तरदायित्व आचार्य का होता है तथापि व्यवस्था तथा कार्यसंचालन का उत्तरदायित्व गणावच्छेदक का अधिक होने से इनको दीक्षापर्याय कम से कम आठ वर्ष की होना आवश्यक कहा है।

अन्यगुण—आचार-कुशलता आदि दस गुणों का कथन इन सूत्रों में है। उनकी व्याख्या भाष्य में इस प्रकार है—

१. आचारकुशल—ज्ञानाचार मे एवं विनयाचार में जो कुशल होता है वह आचारकुशल कहा जाता है। यथा—गुरु आदि के आने पर खड़ा होता है, उन्हें आसन चौकी आदि प्रदान करता है, प्रातःकाल उन्हें वन्दन करके आदेश मांगता है, द्रव्य से अथवा भाव से उनके निकट रहता है, शिष्यों को एवं प्रतीच्छकों (अन्य गच्छ से अध्ययन के लिए आये हुओं) को गुरु के प्रति श्रद्धान्वित करने वाला कायिकी आदि चार प्रकार की विनयप्रतिपत्ति को यथाविधि करने वाला, आवश्यक वस्त्रादि प्राप्त करने वाला, गुरु आदि की यथायोग्य पूजा, भक्ति, आदर-सत्कार करके उन्हें प्रसन्न रखने वाला, परुष वचन नहीं बोलने वाला, अमायावी—सरल स्वभावी, हाथ-पांव-मुख आदि की विकृत चेष्टा से रहित स्थिर स्वभाव वाला, दूसरों के साथ मायावी आचरण अर्थात् धोखा न करने वाला, यथासमय प्रतिलेखन प्रतिक्रमण एवं स्वाध्याय करने वाला, यथोचित तप करने वाला, ज्ञानादि की वृद्धि एवं शुद्धि करने वाला, समाधिवान् और सदैव गुरु का बहुमान करने वाला, ऐसा गुणनिधि भिक्षु "आचार-कुशल" कहलाता है।

२. संयमकुशल—(१) पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय एवं पचेंन्द्रिय जीवों की सम्यक् प्रकार से यतना करने वाला, आवश्यक होने पर ही निर्जीव पदार्थों का विवेकपूर्वक उपभोग करने वाला, गमनागमन आदि की प्रत्येक प्रवृत्ति अच्छी तरह देखकर करने वाला, असंयम प्रवृत्ति करने वालों के प्रति उपेक्षा या माध्यस्थ भाव रखने वाला, यथासमय यथाविधि प्रमार्जन करने वाला, परिष्ठापना समिति के नियमों का पूर्ण पालन करने वाला, मन वचन काया की अशुभ प्रवृत्ति को त्यागने वाला, इन सत्तरह प्रकार के संयम का पालन करने में निपुण (दक्ष),

(२) अथवा कोई वस्तु रखने या उठाने में तथा एषणा, शय्या, आसन उपधि, आहार आदि में यथाशक्ति प्रशस्त योग रखने वाला, अप्रशस्त योगों का परित्याग करने वाला,

(३) इन्द्रियों एवं कषायों का निग्रह करने वाला अर्थात् शुभाशुभ पदार्थों में रागद्वेष नही करने वाला और कषाय के उदय को विफल कर देने वाला, हिंसा आदि आश्रवों का पूर्ण निरोध करने

वाला, अप्रशस्त योग और अप्रशस्त ध्यान अर्थात् आर्त-रौद्र ध्यान का त्याग कर शुभ योग और धर्म-शुक्ल ध्यान में लीन रहने वाला, आत्मपरिणामों को सदा विशुद्ध रखने वाला, इहलोकादि आशंका से रहित, ऐसा गुणनिधि भिक्षु "संयमकुशल" है।

३. प्रवचन कुशल—जो जिनवचनों का ज्ञाता एवं कुशल उपदेष्टा हो वह प्रवचनकुशल है, यथा—सूत्र के अनुसार उसका अर्थ, परमार्थ, अन्वय-व्यतिरेक युक्त सूत्राशय को, अनेक अतिशय युक्त अर्थों को एवं आश्चर्यकारी अर्थों को जानने वाला, मूल एवं अर्थ की श्रुतपरम्परा को भी जानने वाला, प्रमाण-नय-निक्षेपों से पदार्थों के स्वरूप को समझने वाला, इस प्रकार श्रुत एवं अर्थ के निर्णायक होने से जो श्रुत रूप रत्नों से पूर्ण है तथा जिसने सम्यक् प्रकार से श्रुत को धारण करके उसका पुनरावर्तन किया है, पूर्वापर सम्बन्ध पूर्वक चिन्तन किया है, उसके निर्दोष होने का निर्णय किया है और उसके अर्थ को बहुश्रुतों के पास चर्चा-वार्ता आदि से विपुल विशुद्ध धारण किया है, ऐसे गुणों को धारण करने वाला और उक्त अध्ययन से अपना हित करने वाला, अन्य को हितावह उपदेश करने वाला एवं प्रवचन का अवर्णवाद बोलने वालों का निग्रह करने में समर्थ ऐसा गुणसम्पन्न भिक्षु "प्रवचन-कुशल" है।

४. प्रज्ञप्तिकुशल—लौकिक शास्त्र, वेद, पुराण एवं स्वसिद्धांत का जिसने सम्यग् विनिश्चय कर लिया है, जो धर्म-कथा, अर्थ-कथा आदि का सम्यक्ज्ञाता है तथा जीव-अजीव के स्वरूप एवं भेदों का, कर्म बंध एवं मोक्ष के कारणों का, चारों गति में गमनागमन करने का एवं उनके कारणों का तथा उनसे उत्पन्न दुःख-सुख का, इत्यादि कथन करने में कुशल, परवादियों के कुदर्शन का सम्यक् समाधान करके उनसे कुदर्शन का त्याग कराने में समर्थ एवं स्वसिद्धांतों को समझाने में कुशल भिक्षु "प्रज्ञप्तिकुशल" है।

५. संग्रहकुशल—द्रव्य से उपधि, शिष्यादि का और भाव से श्रुत एवं अर्थ तथा गुणों का आत्मा में संग्रह करने में जो कुशल (दक्ष) होता है तथा क्षेत्र एवं काल के अनुसार विवेक रख कर ग्लान वृद्ध आदि की अनुकम्पापूर्वक वैयावृत्य करने की स्मृति रखने वाला, आचार्यादि की रुग्णावस्था के समय वाचना देने वाला, समाचारी भंग करने वाले या कषाय में प्रवृत्त होने वाले भिक्षुओं को यथायोग्य अनुशासन करके रोकने वाला, आहार विनय आदि के द्वारा गुरुभक्ति करने वाला, गण के अन्तरंग कार्यों को करने वाला अथवा गण से बहिर्भाव वालों को अन्तर्भावी बनाने वाला, आहार, उपधि आदि जिसको जो आवश्यक हो उसकी पूर्ति करने वाला, परस्पर साथ रहने में एवं अन्य को रखने में कुशल, सीवन, लेपन आदि कार्य करने कराने में कुशल, इस प्रकार निःस्वार्थ सहयोग देने के स्वभाव वाला गुणनिधि भिक्षु "संग्रहकुशल है।

६. उपग्रहकुशल—बाल, वृद्ध, रोगी, तपस्वी, असमर्थ भिक्षु आदि को शय्या, आसन, उपधि, आहार, औषध आदि देता है, दिलाता है तथा इनकी स्वयं सेवा करता है अन्य से करवाता है, गुरु आदि के द्वारा दी गई वस्तु या कही गई वार्ता निर्दिष्ट साधुओं तक पहुंचाता है तथा अन्य भी उनके द्वारा निर्दिष्ट कार्यों को कर देता है अथवा जिनके आचार्यादि नहीं हैं, उन्हें आत्मीयता से दिशानिर्देश करता है, वह "उपग्रहकुशल" है।

७. अक्षत-आचार—आधाकर्म आदि दोषों से रहित शुद्ध आहार ग्रहण करने वाला एवं परिपूर्ण आचार का पालन करने वाला।

८. अभिन्नाचार—किसी प्रकार के अतिचारों का सेवन न करके पांचों आचारों का परिपूर्ण पालन करने वाला।

९. अशबलाचार—विनय, व्यवहार, भाषा, गोचरी आदि में दोष न लगाने वाला अथवा शबल दोषों से रहित आचरण वाला।

१०. असंक्लिष्ट-आचार—इहलोक-परलोक सम्बन्धी सुखों की कामना न करने वाला अथवा क्रोधादि का त्याग करने वाला संक्लिष्ट परिणाम रहित भिक्षु।

"क्षत-आचार" आदि शब्दों का अर्थ इससे विपरीत समझ लेना चाहिए, यथा—

१. आधाकर्मादि दोषों का सेवन करने वाला।
२. अतिचारों का सेवन कर पांच आचार या पांच महाव्रत में दोष लगाने वाला।
३. विनय, भाषा आदि का विवेक नहीं रखने वाला, शबल दोषों का सेवन करने वाला।
४. प्रशंसा, प्रतिष्ठा, आदर और भौतिक सुखों की चाहना करने वाला अथवा क्रोधादि से संक्लिष्ट परिणाम रखने वाला।

बहुश्रुत-बहुआगमज्ञ—अनेक सूत्रों एवं उनके अर्थों को जानने वाला 'बहुश्रुत या बहुआगमज्ञ' कहा जाता है। आगमों में इन शब्दों का भिन्न-भिन्न अपेक्षा से प्रयोग है। यथा—

१. गम्भीरता विचक्षणता एवं बुद्धिमत्ता आदि गुणों से युक्त।
२. जिनमत की चर्चा-वार्ता में निपुण या मुख्य सिद्धान्तों का ज्ञाता।
३. अनेक सूत्रों का अभ्यासी।
४. छेदसूत्रों में पारंगत।
५. आचार एवं प्रायश्चित्त विधानों में कुशल।
६. जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट बहुश्रुत।

(१) जघन्यबहुश्रुत—आचारांग एवं निशीथसूत्र को अर्थ सहित कण्ठस्थ करने वाला।

(२) मध्यमबहुश्रुत—आचारांग, सूत्रकृतांग और चार छेदसूत्रों को अर्थ सहित कण्ठस्थ धारण करने वाला।

(३) उत्कृष्टबहुश्रुत—दृष्टिवाद को धारण करने वाला अर्थात् नवपूर्वी से १४ पूर्वी तक। सभी बहुश्रुत कहे गये हैं।

जो अल्पबुद्धि, अत्यधिक भद्र, अल्प अनुभवी एवं अल्पआगमअभ्यासी होता है, वह 'अबहुश्रुत अबहुआगमज्ञ' कहा जाता है तथा कम से कम आचारांग, निशीथ, आवश्यक, दशवैकालिक और उत्तराध्ययन सूत्र को अर्थ सहित अध्ययन करके उन्हें कण्ठस्थ धारण नहीं करने वाला "अबहुश्रुत अबहुआगमज्ञ" कहा जाता है।

आचारप्रकल्प—(१) प्रस्तुत तीसरे सूत्र में "आचारप्रकल्पधारी होने का विधान है।

(२) दसवें उद्देशक में "सर्वप्रथम "आचारप्रकल्प नामक अध्ययन" की वाचना देने का विधान है।

(३) पांचवें उद्देशक में "आचारप्रकल्प अध्ययन" को भूल जाने वाले तरुण साधु-साध्वियों को प्रायश्चित्त देने का विधान है। इस प्रकार इस व्यवहारसूत्र में कुल सोलह बार "आचारप्रकल्प" या "आचारप्रकल्प-अध्ययन" का कथन है, यथा—

उद्देशक	सूत्र
३	३, १० में एक-एक बार,
५	१७ में एक बार,
१०	२१, २२, २३ में एक-एक बार
५	१५, १६, १८ में दो-दो बार
६	१७, १८ में दो-दो बार

नंदीसूत्र में कालिक उत्कालिक सूत्रों की सूची में ७१ आगमों के नाम दिये गये हैं। उनमें "आचारप्रकल्प" या "आचारप्रकल्प-अध्ययन" नाम का कोई भी सूत्र नहीं कहा गया है। अतः यह समझना एवं विचारना आवश्यक हो जाता है कि यह "आचारप्रकल्प" किस सूत्र के लिये निर्दिष्ट है और कालपरिवर्तन से इसका नाम परिवर्तन किस प्रकार हुआ है। इस विषय में व्याख्याकार पूर्वाचार्यों के मंतव्य इस प्रकार उल्लिखित मिलते हैं—

(१) पंचविहे आयारप्पकप्पे पण्णत्ते, तं जहा—१. मासिए उग्घाइए, २. मासिए अणुग्घाइए, ३. चाउमासिए उग्घाइए, ४. चाउमासिए अणुग्घाइए ५. आरोवणा।

टीका—आचारस्य प्रथमांगस्य पदविभागसमाचारीलक्षणप्रकृष्टकल्पाभिधायकत्वात् प्रकल्पः आचारप्रकल्पः निशीथाध्ययनम्। स च पंचविधः, पंचविधप्रायश्चित्ताभिधायकत्वात्।—ठाणांग. अ. ५

(२) आचारः प्रथमांगः, तस्य प्रकल्पो अध्ययनविशेषो, निशीथम् इति अपराभिधानस्य"।
—समवायांग. २८

(३) अष्टाविंशतिविधः आचारप्रकल्पः निशीथाध्ययनम् आचारांगम् इत्यर्थः। स च एवं—(१) सत्थपरिण्णा जाव (२५) विमुत्ती, (२६) उग्घाइ, (२७) अणुग्घाइ (२८) आरोवणा तिविहमो निसीहं तु, इति अट्ठावीसविहो आयारप्पकप्पनामो त्ति।
—राजेन्द्र कोश भा. २, पृ. ३४९, "आयारपकप्प" शब्द।
—प्रश्नव्याकरण सूत्र अ. १०.

(४) आचारः आचारांगम्, प्रकल्पो—निशीथाध्ययनम्, तस्यैव पंचमचूला। आचारेण सहितः प्रकल्पः आचारप्रकल्प, पंचविंशति अध्ययनात्मकत्वात् पंचविंशतिविधः आचारः, १. उद्घातिमं, २. अनुद्घातिमं ३. आरोवणा इति त्रिधा प्रकल्पोमीलने अष्टाविंशतिविधः।
—अभि. रा. को. भाग २ पृ. ३५०, 'आयारपकप्प' शब्द

यहां समवायांगसूत्र एवं प्रश्नव्याकरणसूत्र के मूल पाठ में अट्ठाईस प्रकार के आचार-प्रकल्प का कथन किया गया है, जिसमें सम्पूर्ण आचारांगसूत्र के २५ अध्ययन और निशीथसूत्र के

तीन विभाग का समावेश करके अट्ठाईस का योग बताया है। प्रस्तुत सूत्र में सोलह बार "आचार-प्रकल्प" का कथन है और उसके अध्ययन को अत्यधिक महत्त्व दिया है। उससे भी वर्तमान में प्रसिद्ध दोनों ही सूत्रों को समझना उचित प्रतीत होता है। क्योंकि केवल आचारांगसूत्र ग्रहण करें तो "प्रकल्प" शब्द निरर्थक हो जाता है और केवल निशीथसूत्र समझें तो आचारांग का अध्ययन किये विना निशीथसूत्र का अध्ययन करना मानना होगा, जो कि सर्वथा अनुचित है। इसका कारण यह है कि प्रायश्चित्त-विधानों के अध्ययन के पूर्व आचार-विधानों का अध्ययन करना आवश्यक होता है। समवायांग और प्रश्नव्याकरणसूत्र में भी सूत्रकार ने आचार सम्बंधी पच्चीस अध्ययन के साथ ही प्रायश्चित्त रूप अध्ययन कह कर अट्ठाईस अध्ययन गिनाए है।

नंदीसूत्र की रचना के समय प्रायश्चित्तविधायक तीन विभागों के बीस उद्देशक आचारांग-सूत्र से पूर्णतः पृथक् हो चुके थे और उनका नाम "निशीथसूत्र" रख दिया गया था। इसी कारण नंदीसूत्र में "प्रकल्प" या "आचारप्रकल्प" नामक कोई सूत्र नहीं कहा गया है और नंदीसूत्र के पूर्वरचित सूत्रों में अनेक जगह आचारप्रकल्प का कथन है किन्तु वहां "निशीथसूत्र" नाम नही है।

समवायागसूत्र के उपर्युक्त टीकांश में टीकाकार ने स्पष्ट किया है कि "आचार का मतलब प्रथमांग—आचारांगसूत्र और प्रकल्प का मतलब उसका अध्ययन विशेष। जिसका कि प्रसिद्ध दूसरा नाम निशीथसूत्र है", इस प्रकार दोनों सूत्र मिलकर ही सम्पूर्ण आचारप्रकल्पसूत्र है।

'आचार-प्रकल्प' शब्द के वैकल्पिक अर्थ इस प्रकार होते है—

१. आचार और प्रायश्चित्तों का विधान करने वाला सूत्र निशीथ-अध्ययनयुक्त—आचारांग-सूत्र।
२. आचारविधानों के प्रायश्चित्त का प्ररूपक सूत्र—निशीयसूत्र।
३. आचारविधानों के बाद तत्संबंधी प्रायश्चित्तों को कहने वाला अध्ययन—आचारप्रकल्प-अध्ययन—निशीथअध्ययन।
४. आचारांग से पृथक् किया गया खंड या विभाग रूप सूत्र अथवा अध्ययन—आचारप्रकल्प-अध्ययन—निशीथसूत्र।

संख्याप्रधान ठाणांग और समवायांग सूत्र में अनेक अपेक्षाओं से अनेक प्ररूपण किये गये हैं। उसे एकांतअपेक्षा से समझना उचित्त नही है। यथा—निशीथसूत्र के २० उद्देशक हैं किन्तु उन्हें विभिन्न अपेक्षाओं से (तीन या पांच) ही गिनाये गये हैं। ठाणांगसूत्र मे तीन अनुद्घातिक भी कहे गये हैं और पांच अनुद्घातिक भी कह दिए हैं। इसी प्रकार आचारप्रकल्प के पांच विभाग भी कहे गये हैं और अट्ठाईस विभाग भी कहे गये हैं। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, अतः अल्पसंख्या के कथन का आग्रह न रखकर अधिक संख्या अर्थात् अट्ठाईस को पूर्ण मानना चाहिए।

सारांश यह है कि संक्षिप्त-अपेक्षा से उपलब्ध निशीथसूत्र को आगम और व्याख्याओं में आचारप्रकल्प कहा गया है और विस्तृत एवं परिपूर्णअपेक्षा से उपलब्ध आचारांग और निशीथसूत्र दोनों को मिलाकर आचारप्रकल्प कहा गया है। अतः निष्कर्ष यह है कि ये दोनों एक ही सूत्र के दो विभाग हैं।

नंदीसूत्र की रचना के समय उसका विभक्त होना एवं निशीथ नामकरण हो जाना संभ
उसके पूर्व अनेक आगम स्थानों में निशीथ नाम का कोई अस्तित्व नहीं है, केवल 'आचारप्रकल
'आचारप्रकल्प-अध्ययन' के नाम से विधान किये हैं।

निशीथसूत्र के अलग हो जाने के कारण उसके रचनाकार के संबंध में अनेक विचार प्र
हुए हैं, यथा—

१. यह विशाखागणि द्वारा पूर्वों से उद्धृत किया गया है।
२. समय की आवश्यकता को लेकर आर्यरक्षित ने इसकी रचना की है।
३. चौदहपूर्वी भद्रबाहुस्वामी ने निशीथ सहित चारों छेदसूत्रों को पूर्वों से उद्धृत
है, इत्यादि कल्पनाएं की गई हैं।

व्यवहारसूत्र में 'आचारप्रकल्प-अध्ययन' का वर्णन है और उसे साधु-साध्वी दोनों को म
रखने का कथन है और व्यवहारसूत्र चौदहपूर्वी भद्रबाहुस्वामी के द्वारा रचित (निर्यूढ) है।
भद्रबाहुस्वामी के बाद में होने वाले विशाखागणि और आर्यरक्षित के द्वारा आचारप्रकल्प की र
करने की कल्पना करना तो स्पष्ट ही आगम से विपरीत है।

उन दोनों आचार्यों में से किसी एक के द्वारा पूर्वश्रुत से उद्धृत करना मान लेने पर नि
सूत्र को पूर्वश्रुत का अंश मानना होगा। जबकि व्यवहारसूत्र में साध्वियों को उसके कंठस्थ रखन
विधान है और साध्वियों को पूर्वों का अध्ययन वर्जित भी है। अतः इन दोनों आचार्यों के द्वारा
से उद्धृत करने का विकल्प भी सत्य नहीं है, किन्तु उन आचार्यों के पहले भी यह आचारप्रकल्प
से भिन्न श्रुत रूप में उपलब्ध था, यह निश्चित है।

भद्रबाहुस्वामी ने चार छेदसूत्रों की रचना नहीं की थी किन्तु तीन छेदसूत्रों की ही र
की थी, यह दशाश्रुतस्कंधसूत्र की नियुक्ति की प्रथम गाथा से स्पष्ट है—

गाथा—वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरिम-सगल-सुय-णाणि।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे य ववहारे॥

दशाश्रुतस्कंध के निर्युक्तिकर्ता द्वितीय भद्रबाहुस्वामी ने प्रथम भद्रबाहुस्वामी को प्रा
भद्दबाहु के नाम से वंदन करके उन्हें तीन सूत्रों की रचना करने वाला कहा है।

भद्रबाहुस्वामी ने यदि निशीथसूत्र की रचना की होती तो वे व्यवहारसूत्र में सोलह
'आचारप्रकल्प' का प्रयोग करने के स्थान में या अध्ययनक्रम कहने के वर्णन में कहीं निशीथ का
नाम निर्देश कर देते। किन्तु अध्ययनक्रम में भी निशीथ का नाम नहीं दिया गया है, आचारप्र
और 'दसा-कप्प-ववहार' नाम दिये हैं। अतः निशीथसूत्र को भद्रबाहु की रचना कहना भी प्रम
संगत नहीं है।

इन सब विचारणाओं से यह सिद्ध होता है कि यह किसी की रचना नहीं है किन्तु आचा
के अध्ययन को किसी आशय से पृथक् किया गया है। कब किसने पृथक् किया, कब तक आचारप्र
नाम रहा और कब निशीथ नाम हुआ, यह जानने का आधार नहीं मिलता है। तथापि नंदीसूत्र
रचना के समय यह पृथक् हो गया था और इसका नाम भी निशीथसूत्र निश्चित हो गया था तथा आच

प्रकल्प नाम का कोई भी सूत्र उस समय प्रसिद्धि में नही रहा था फिर भी आचारप्रकल्प के नाम से अनेक विधान तो आज तक भी आगमों में उपलब्ध हैं।

प्रस्तुत प्रथम सूत्रद्विक में उपाध्याय पद योग्य भिक्षु के लिए इसके अध्ययन करने का और अर्थ सहित कण्ठस्थ धारण करने का विधान है। यह उपाध्याय पद योग्य भिक्षु के लिए आवश्यक जघन्य-श्रुत है। इसके कण्ठस्थ न होने पर वह उपाध्याय पद पर स्थापित करने के अयोग्य कहा गया है।

दसा-कप्प-ववहारधरे

द्वितीय सूत्रद्विक में आचार्य पद के योग्यायोग्य का कथन करते हुए जघन्य पांच वर्ष की दीक्षा-पर्याय एवं अन्य बहुश्रुत पर्यंत के सभी गुणों को कह कर कम से कम तीन छेदसूत्रों को धारण करना आवश्यक कहा है।

मूल पाठ में इनके लिए 'छेदसूत्र' शब्द का प्रयोग नहीं है तथा नंदीसूत्र में कही गई सूत्रसूची में भी इन्हें छेदसूत्र नहीं कहा गया है। अन्य आगमों में भी 'छेदसूत्र' शब्द का प्रयोग नहीं है। भाष्य, चूर्णि आदि व्याख्याओं में 'छेदसूत्र' शब्द का प्रयोग मिलता है। अतः नंदी की रचना के बाद व्याख्याकारों के समय में इन सूत्रों की 'छेदसूत्र' संज्ञा हो गई है।

निशीथसूत्र उ. १९ में आये 'उत्तम श्रुत' निर्देश की व्याख्या में दृष्टिवाद अथवा छेदसूत्रों को 'उत्तमश्रुत' माना गया है, वहां सूत्र में आचारशास्त्र का अध्ययन कराने के पूर्व 'उत्तमश्रुत' का अध्ययन कराने पर प्रायश्चित्त कहा है।

यहां 'दसा' शब्द से दशाश्रुतस्कंधसूत्र, 'कप्प' शब्द से बृहत्कल्पसूत्र और 'ववहार' शब्द से व्यवहारसूत्र का कथन किया गया है। ये तीनों सूत्र चौदहपूर्वी प्रथम भद्रबाहुस्वामी द्वारा रचित (नियूंढ) हैं, यह निर्विवाद है।

आगमों में एक विशेष प्रकार की शैली उपलब्ध है, जिससे किन्हीं सूत्रों में स्वयं उसी सूत्र का नाम दिया गया है। यथा—नंदीसूत्र में नंदीसूत्र का नाम, समवायांगसूत्र में समवायांगसूत्र का नाम। इसी प्रकार प्रस्तुत व्यवहारसूत्र में भी व्यवहारसूत्र के अध्ययन का निर्देश दो स्थलों में किया गया है—प्रस्तुत सूत्र ५ में तथा दसवें उद्देशक के अध्ययनक्रम में।

विशेष प्रकार की शैली के अतिरिक्त इसमे कोई ऐतिहासिक कारण भी हो सकता है। अन्वेषक बहुश्रुत इस विषय का मनन करके कुछ न कुछ रहस्योद्घाटन करने का प्रयत्न करें।

ठाण-समवायधरे—तृतीय सूत्रद्विक में गणावच्छेदक पद के योग्यायोग्य भिक्षु का कथन करते हुए आठ वर्ष की दीक्षापर्याय एवं बहुश्रुत पर्यंत के सभी गुणों को कहकर कम से कम ठाणांगसूत्र और समवायांगसूत्र को कण्टस्थ धारण करना आवश्यक कहा है।

यद्यपि गणावच्छेदक से आचार्य और उपाध्याय के पद का विशेष महत्त्व है तथापि कार्यों की अपेक्षा एवं गण-चिंता की अपेक्षा गणावच्छेदक का क्षेत्र विशाल होता है। अतः इनके लिए जघन्य दीक्षापर्याय एवं जघन्यश्रुत भी अधिक कहा गया है।

यहां सूत्र में गणावच्छेदक के साथ-साथ अन्य पदवियों का भी संग्रह कई प्रतियों में किया गया है, जिनकी कुल संख्या कुछ प्रतियों में ६ या ७ भी मिलती है। भाष्यादि व्याख्याग्रन्थों में कहा है कि प्रत्येक विशाल गच्छ में पांच पदवीधरों का होना आवश्यक है। अन्यथा उस गच्छ को साधुओं के

नंदीसूत्र की रचना के समय उसका विभक्त होना एवं निशीय नामकरण हो जाना संभव है। उसके पूर्व अनेक आगम स्थानों में निशीथ नाम का कोई अस्तित्व नहीं है, केवल 'आचारप्रकल्प' या 'आचारप्रकल्प-अध्ययन' के नाम से विधान किये हैं।

निशीथसूत्र के अलग हो जाने के कारण उसके रचनाकार के संबंध में अनेक विचार प्रचलित हुए हैं, यथा—

१. यह विशाखागणि द्वारा पूर्वों से उद्धृत किया गया है।
२. समय की आवश्यकता को लेकर आर्यरक्षित ने इसकी रचना की है।
३. चौदहपूर्वी भद्रबाहुस्वामी ने निशीथ सहित चारों छेदसूत्रों को पूर्वों से उद्धृत किया है, इत्यादि कल्पनाएं की गई है।

व्यवहारसूत्र में 'आचारप्रकल्प-अध्ययन' का वर्णन है और उसे साधु-साध्वी दोनों को कंठस्थ रखने का कथन है और व्यवहारसूत्र चौदहपूर्वी भद्रबाहुस्वामी के द्वारा रचित (निर्यूढ) है। अतः भद्रबाहुस्वामी के बाद में होने वाले विशाखागणि और आर्यरक्षित के द्वारा आचारप्रकल्प की रचना करने की कल्पना करना तो स्पष्ट ही आगम से विपरीत है।

उन दोनों आचार्यों में से किसी एक के द्वारा पूर्वश्रुत से उद्धृत करना मान लेने पर निशीथ-सूत्र को पूर्वश्रुत का अंश मानना होगा। जबकि व्यवहारसूत्र में साध्वियों को उसके कंठस्थ रखने का विधान है और साध्वियों को पूर्वों का अध्ययन वर्जित भी है। अतः इन दोनों आचार्यों के द्वारा पूर्वों से उद्धृत करने का विकल्प भी सत्य नहीं है. किन्तु उन आचार्यों के पहले भी यह आचारप्रकल्प पूर्वों से भिन्न श्रुत रूप में उपलब्ध था, यह निश्चित है।

भद्रबाहुस्वामी ने चार छेदसूत्रों की रचना नहीं की थी किन्तु तीन छेदसूत्रों की ही रचना की थी, यह दशाश्रुतस्कंधसूत्र की निर्युक्ति की प्रथम गाथा से स्पष्ट है—

गाथा—वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरिम-सगल-सुय-णाणि।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे य ववहारे॥

दशाश्रुतस्कंध के निर्युक्तिकर्ता द्वितीय भद्रबाहुस्वामी ने प्रथम भद्रबाहुस्वामी को प्राचीन भद्रबाहु के नाम से वंदन करके उन्हें तीन सूत्रों की रचना करने वाला कहा है।

भद्रबाहुस्वामी ने यदि निशीथसूत्र की रचना की होती तो वे व्यवहारसूत्र में सोलह बार 'आचारप्रकल्प' का प्रयोग करने के स्थान में या अध्ययनक्रम कहने के वर्णन में कहीं निशीथ का भी नाम निर्देश कर देते। किन्तु अध्ययनक्रम में भी निशीथ का नाम नहीं दिया गया है, आचारप्रकल्प और 'दसा-कप्प-ववहार' नाम दिये हैं। अतः निशीथसूत्र को भद्रबाहु की रचना कहना भी प्रमाण-संगत नहीं है।

इन सब विचारणाओं से यह सिद्ध होता है कि यह किसी की रचना नहीं है किन्तु आचारांग के अध्ययन को किसी आशय से पृथक् किया गया है। कब किसने पृथक् किया, कब तक आचारप्रकल्प नाम रहा और कब निशीथ नाम हुआ, यह जानने का आधार नहीं मिलता है। तथापि नंदीसूत्र की रचना के समय यह पृथक् हो गया था और इसका नाम भी निशीथसूत्र निश्चित हो गया था तथा आचार-

प्रकल्प नाम का कोई भी सूत्र उस समय प्रसिद्धि में नही रहा था फिर भी आचारप्रकल्प के नाम से अनेक विधान तो आज तक भी आगमों मे उपलब्ध है।

प्रस्तुत प्रथम सूत्रद्विक में उपाध्याय पद योग्य भिक्षु के लिए इसके अध्ययन करने का और अर्थ सहित कण्ठस्थ धारण करने का विधान है। यह उपाध्याय पद योग्य भिक्षु के लिए आवश्यक जघन्य-श्रुत है। इसके कण्ठस्थ न होने पर वह उपाध्याय पद पर स्थापित करने के अयोग्य कहा गया है।

दसा-कप्प-ववहारधरे

द्वितीय सूत्रद्विक में आचार्य पद के योग्यायोग्य का कथन करते हुए जघन्य पांच वर्ष की दीक्षा-पर्याय एवं अन्य बहुश्रुत पर्यंत के सभी गुणों को कह कर कम से कम तीन छेदसूत्रों को धारण करना आवश्यक कहा है।

मूल पाठ में इनके लिए 'छेदसूत्र' शब्द का प्रयोग नहीं है तथा नंदीसूत्र में कही गई सूत्रसूची में भी इन्हें छेदसूत्र नहीं कहा गया है। अन्य आगमों में भी 'छेदसूत्र' शब्द का प्रयोग नहीं है। भाष्य, चूर्णि आदि व्याख्याओं में 'छेदसूत्र' शब्द का प्रयोग मिलता है। अतः नंदी की रचना के बाद व्याख्याकारों के समय में इन सूत्रों की 'छेदसूत्र' संज्ञा हो गई है।

निशीथसूत्र उ. १९ में आये 'उत्तम श्रुत' निर्देश की व्याख्या में दृष्टिवाद अथवा छेदसूत्रों को 'उत्तमश्रुत' माना गया है, वहां सूत्र में आचारशास्त्र का अध्ययन कराने के पूर्व 'उत्तमश्रुत' का अध्ययन कराने पर प्रायश्चित्त कहा है।

यहां 'दसा' शब्द से दशाश्रुतस्कंधसूत्र, 'कप्प' शब्द से बृहत्कल्पसूत्र और 'ववहार' शब्द से व्यवहारसूत्र का कथन किया गया है। ये तीनों सूत्र चौदहपूर्वी प्रथम भद्रबाहुस्वामी द्वारा रचित (निर्यूढ) हैं, यह निर्विवाद है।

आगमों में एक विशेष प्रकार की शैली उपलब्ध है, जिससे 'किन्हीं सूत्रों में स्वयं उसी सूत्र का नाम दिया गया है'। यथा—नंदीसूत्र में नंदीसूत्र का नाम, समवायांगसूत्र में समवायांगसूत्र का नाम। इसी प्रकार प्रस्तुत व्यवहारसूत्र में भी व्यवहारसूत्र के अध्ययन का निर्देश दो स्थलों में किया गया है—प्रस्तुत सूत्र ५ में तथा दसवें उद्देशक के अध्ययनक्रम में।

विशेष प्रकार की शैली के अतिरिक्त इसमें कोई ऐतिहासिक कारण भी हो सकता है। अन्वेषक बहुश्रुत इस विषय का मनन करके कुछ न कुछ रहस्योद्घाटन करने का प्रयत्न करें।

ठाण-समवायधरे—तृतीय सूत्रद्विक में गणावच्छेदक पद के योग्यायोग्य भिक्षु का कथन करते हुए आठ वर्ष की दीक्षापर्याय एवं बहुश्रुत पर्यंत के सभी गुणों को कहकर कम से कम ठाणांगसूत्र और समवायांगसूत्र को कण्ठस्थ धारण करना आवश्यक कहा है।

यद्यपि गणावच्छेदक से आचार्य और उपाध्याय के पद का विशेष महत्त्व है तथापि कार्यों की अपेक्षा एवं गण-चिंता की अपेक्षा गणावच्छेदक का क्षेत्र विशाल होता है। अतः इनके लिए जघन्य दीक्षापर्याय एवं जघन्यश्रुत भी अधिक कहा गया है।

यहां सूत्र में गणावच्छेदक के साथ-साथ अन्य पदवियों का भी संग्रह कई प्रतियों में किया गया है, जिनकी कुल संख्या कुछ प्रतियों में ६ या ७ भी मिलती है। भाष्यादि व्याख्याग्रन्थों में कहा है कि प्रत्येक विशाल गच्छ में पांच पदवीधरों का होना आवश्यक है। अन्यथा उस गच्छ को साधुओं के

समाधि से रहने के अयोग्य, अव्यस्थित और त्याज्य गच्छ कहा है। वे पांच पदवियां ये हैं—(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) प्रवर्तक, (४) स्थविर, (५) गणावच्छेदक।

इनमें से प्रवर्तक के अतिरिक्त चार पदवीधरों के कर्तव्य, अधिकार आदि का कथन अनेक आगमों में है। यथा—(१) आचार्य और उपाध्याय के नेतृत्व के बिना बाल तरुण संतों को रहना ही निषिद्ध है। (२) कुछ ऐसे आवश्यक कर्तव्य होते हैं जो "स्थविर" को पूछकर करने का विधान है। (३) प्रायश्चित्त देना या गच्छ से अलग करना आदि कार्य गणावच्छेदक के निर्देशानुसार किए जाने का कथन है। भाष्यादि व्याख्याग्रन्थों में प्रवर्तक का कार्य श्रमण-समाचारी में प्रवृत्ति कराने का कहा गया है।

इन पांच के अतिरिक्त सूत्रों में गणी और गणधर पद के पाठ भी मिलते हैं। इनमें से "गणधर" की व्याख्या इस उद्देशक के प्रथम सूत्र में की गई है और गणी शब्द आचार्य का ही पर्यायवाची शब्द है अर्थात् गण—गच्छ को धारण करने वाला "गणी" या आचार्य होता है। यथा—ठाणा. अ. ३, अ. ८; उत्तरा. अ. ३ और व्यव. उ. १/अभि. रा. कोश भा. ३, पृ. ८२३।

अथवा एक प्रमुख आचार्य की निश्रा में अन्य अनेक छोटे आचार्य (कुछ शिष्यों के) होते हैं, वे गणी कहे जाते हैं।

प्रस्तुत सूत्रद्वय (७-८) का विधान गणावच्छेदक और स्थविर के लिए तो उचित है, किन्तु गणी गणधर और प्रवर्तक के लिए आठ वर्ष की दीक्षापर्याय और उक्त श्रुत का कण्ठस्थ होना अनिवार्य नहीं हो सकता। क्योंकि तीन या पांच वर्ष की दीक्षापर्याय से ही उनकी योग्यता अंकित की जा सकती है। स्थविर का समावेश तो गणावच्छेदक में हो सकता है, क्योंकि गणावच्छेदक श्रुत की अपेक्षा स्थविर ही होते हैं। अतः यह तीसरा सूत्रद्विक गणावच्छेदक से सम्बन्धित है।

शेष पदवियों का सूत्र के अन्त में जो संग्रह मिलता है, वे शब्द कभी कालान्तर से किसी के द्वारा अधिक जोड़ दिये गये हैं। ऐसा भी सम्भव है, क्योकि उपलब्ध प्रतियों में ये शब्द हीनाधिक मिलते हैं और प्रसंगसंगत भी नहीं हैं।

यद्यपि तीनों सूत्रद्विक में क्रमशः (१) आचारप्रकल्प, (२) दसा-कप्प-ववहार, (३) ठाणांग, समवायांग, जघन्यश्रुत-अध्ययन एवं धारण करना कहा गया है, तथापि अध्ययनक्रम के दसवें उद्देशक के विधान से एवं निशीथ उद्देशक १९ के प्रायश्चित्त-विधानों एवं उसकी व्याख्या से यह सिद्ध होता है—

(१) उपाध्याय के लिए—१. आवश्यकसूत्र २. दशवैकालिकसूत्र, ३. उत्तराध्ययनसूत्र, ४. आचारांगसूत्र ५ निशीथसूत्र, यों कम से कम पांच सूत्रों को कण्ठस्थ धारण करना अनिवार्य है।

(२) आचार्य के लिए—१. आवश्यक, २. दशवैकालिक, ३. उत्तराध्ययन, ४. आचारांग, ५. निशीथ, ६, सूत्रकृतांग, ७. दशाश्रुतस्कन्ध, ८. बृहत्कल्प, ९. व्यवहारसूत्र, यों कम से कम कुल ९ सूत्रों को कण्ठस्थ धारण करना आवश्यक है।

(३) गणावच्छेदक के लिए—उपर्युक्त ९ और ठाणांगसूत्र, समवायांगसूत्र, यों कम से कम ग्यारह सूत्रों को कण्ठस्थ धारण करना अनिवार्य है।

सूत्राध्ययन सम्बंधी विशेष स्पष्टीकरण के लिए निशीथ उद्दे. १९ देखें।

अल्पदीक्षापर्याय वाले को पद देने का विधान

९. निरुद्धपरियाए समणे निग्गंथे कप्पइ तद्दिवसं आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

प०—से किमाहु भंते।

उ० - अत्थि णं थेराणं तहारूवाणि कुलाणि, कडाणि, पत्तियाणि, थेज्जाणि वेसासियाणि, सम्मयाणि, सम्मुइकराणि, अणुमयाणि, बहुमयाणि भवंति।

तेहिं कडेहिं, तेहिं पत्तिएहिं, तेहिं थेज्जेहिं, तेहिं वेसासिएहिं, तेहिं सम्मएहिं, तेहिं सम्मुइकरेहिं, तेहिं अणुमएहिं, तेहिं बहुमएहिं। जं से निरुद्धपरियाए समणे निग्गंथे कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए तद्दिवसं।

१०. निरुद्धवासपरियाए समणे णिग्गंथे कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए, समुच्छेयकप्पंसि।

तस्स णं आयार-पकप्पस्स देसे अवट्ठिए, से य अहिज्जिस्सामि त्ति अहिज्जेज्जा, एवं से कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

से य अहिज्जिस्सामि त्ति नो अहिज्जेज्जा, एवं से नो कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

९. निरुद्ध (अल्प) पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ जिस दिन दीक्षित हो, उसी दिन उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है।

प्र०—हे भगवन्! ऐसा कहने का क्या कारण है?

उ०—स्थविरों के द्वारा तथारूप से भावित प्रीतियुक्त, स्थिर, विश्वस्त, सम्मत, प्रमुदित, अनुमत और बहुमत अनेक कुल होते हैं।

उन भावित प्रीतियुक्त, स्थिर, विश्वस्त, सम्मत, प्रमुदित, अनुमत और बहुमत कुल से दीक्षित जो निरुद्ध (अल्प) पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ है, उसे उसी दिन आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है।

१०. आचार्य या उपाध्याय के काल-धर्मप्राप्त (मरण) हो जाने पर निरुद्ध (अल्प) वर्ष पर्याय वाले श्रमण निर्ग्रन्थ को आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है।

उसके आचारप्रकल्प का कुछ अंश अध्ययन करना शेष हो और वह अध्ययन पूर्ण करने का संकल्प रखकर पूर्ण कर ले तो उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है।

किन्तु यदि वह शेष अध्ययन पूर्ण करने का संकल्प रखकर भी उसे पूर्ण न करे तो उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना नहीं कल्पता है।

विवेचन—पूर्व के छह सूत्रों में आचार्य आदि पद देने योग्य भिक्षु के गुणों का वर्णन करते हुए उत्सर्गविधि का कथन किया गया है। इस सूत्रद्विक में दीक्षापर्याय एवं श्रुत-अध्ययन सम्बन्धी अपवाद

समाधि से रहने के अयोग्य, अव्यस्थित और त्याज्य गच्छ कहा है। वे पांच पदवियां ये हैं—(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) प्रवर्तक, (४) स्थविर, (५) गणावच्छेदक।

इनमें से प्रवर्तक के अतिरिक्त चार पदवीधरों के कर्तव्य, अधिकार आदि का कथन अनेक आगमों में है। यथा—(१) आचार्य और उपाध्याय के नेतृत्व के बिना बाल तरुण संतों को रहना ही निषिद्ध है। (२) कुछ ऐसे आवश्यक कर्तव्य होते हैं जो "स्थविर" को पूछकर करने का विधान है। (३) प्रायश्चित्त देना या गच्छ से अलग करना आदि कार्य गणावच्छेदक के निर्देशानुसार किए जाने का कथन है। भाष्यादि व्याख्याग्रन्थों में प्रवर्तक का कार्य श्रमण-समाचारी में प्रवृत्ति कराने का कहा गया है।

इन पांच के अतिरिक्त सूत्रों में गणी और गणधर पद के पाठ भी मिलते हैं। इनमें से "गणधर" की व्याख्या इस उद्देशक के प्रथम सूत्र में की गई है और गणी शब्द आचार्य का ही पर्यायवाची शब्द है अर्थात् गण—गच्छ को धारण करने वाला "गणी" या आचार्य होता है। यथा—ठाणा. अ. ३, अ. ८; उत्तरा. अ. ३ और व्यव. उ. १/अभि. रा. कोश भा. ३, पृ. ८२३।

अथवा एक प्रमुख आचार्य की निश्रा में अन्य अनेक छोटे आचार्य (कुछ शिष्यों के) होते हैं, वे गणी कहे जाते हैं।

प्रस्तुत सूत्रद्वय (७-८) का विधान गणावच्छेदक और स्थविर के लिए तो उचित है, किन्तु गणी गणधर और प्रवर्तक के लिए आठ वर्ष की दीक्षापर्याय और उक्त श्रुत का कण्ठस्थ होना अनिवार्य नहीं हो सकता। क्योंकि तीन या पांच वर्ष की दीक्षापर्याय से ही उनकी योग्यता अंकित की जा सकती है। स्थविर का समावेश तो गणावच्छेदक में हो सकता है, क्योंकि गणावच्छेदक श्रुत की अपेक्षा स्थविर ही होते हैं। अतः यह तीसरा सूत्रद्विक गणावच्छेदक से सम्बन्धित है।

शेष पदवियों का सूत्र के अन्त में जो संग्रह मिलता है, वे शब्द कभी कालान्तर से किसी के द्वारा अधिक जोड़ दिये गये हैं। ऐसा भी सम्भव है, क्योंकि उपलब्ध प्रतियों में ये शब्द हीनाधिक मिलते हैं और प्रसंगसंगत भी नहीं हैं।

यद्यपि तीनों सूत्रद्विक में क्रमशः (१) आचारप्रकल्प, (२) दसा-कप्प-ववहार, (३) ठाणांग, समवायांग, जघन्यश्रुत-अध्ययन एवं धारण करना कहा गया है, तथापि अध्ययनक्रम के दसवें उद्देशक के विधान से एवं निशीथ उद्देशक १९ के प्रायश्चित्त-विधानों एवं उसकी व्याख्या से यह सिद्ध होता है—

(१) उपाध्याय के लिए—१. आवश्यकसूत्र २, दशवैकालिकसूत्र, ३. उत्तराध्ययनसूत्र, ४. आचारांगसूत्र ५ निशीथसूत्र, यों कम से कम पांच सूत्रों को कण्ठस्थ धारण करना अनिवार्य है।

(२) आचार्य के लिए—१. आवश्यक, २. दशवैकालिक, ३. उत्तराध्ययन, ४. आचारांग, ५. निशीथ, ६, सूत्रकृतांग, ७. दशाश्रुतस्कन्ध, ८. बृहत्कल्प, ९. व्यवहारसूत्र, यों कम से कम कुल ९ सूत्रों को कण्ठस्थ धारण करना आवश्यक है।

(३) गणावच्छेदक के लिए—उपर्युक्त ९ और ठाणांगसूत्र, समवायांगसूत्र, यों कम से कम ग्यारह सूत्रों को कण्ठस्थ धारण करना अनिवार्य है।

सूत्राध्ययन सम्बंधी विशेष स्पष्टीकरण के लिए निशीथ उद्दे. १९ देखें।

अल्पदीक्षापर्याय वाले को पद देने का विधान

९. निरुद्धपरियाए समणे निग्गंथे कप्पइ तद्दिवसं आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

प०—से किमाहु भंते।

उ० - अत्थि णं थेराणं तहारूवाणि कुलाणि, कडाणि, पत्तियाणि, थेज्जाणि वेसासियाणि, सम्मयाणि, सम्मुइकराणि, अणुमयाणि, बहुमयाणि भवंति।

तेहिं कडेहिं, तेहिं पत्तिएहिं, तेहिं थेज्जेहिं, तेहिं वेसासिएहिं, तेहिं सम्मएहिं, तेहिं सम्मुइकरेहिं, तेहिं अणुमएहिं, तेहिं बहुमएहिं। जं से निरुद्धपरियाए समणे निग्गंथे कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए तद्दिवसं।

१०. निरुद्धवासपरियाए समणे णिग्गंथे कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए, समुच्छेयकप्पंसि।

तस्स णं आयार-पकप्पस्स देसे अवट्ठिए, से य अहिज्जिस्सामि त्ति अहिज्जेज्जा, एवं से कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

से य अहिज्जिस्सामि त्ति नो अहिज्जेज्जा, एवं से नो कप्पई आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

९. निरुद्ध (अल्प) पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ जिस दिन दीक्षित हो, उसी दिन उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है।

प्र०—हे भगवन्! ऐसा कहने का क्या कारण है?

उ०—स्थविरों के द्वारा तथारूप से भावित प्रीतियुक्त, स्थिर, विश्वस्त, सम्मत, प्रमुदित, अनुमत और बहुमत अनेक कुल होते हैं।

उन भावित प्रीतियुक्त, स्थिर, विश्वस्त, सम्मत, प्रमुदित, अनुमत और बहुमत कुल से दीक्षित जो निरुद्ध (अल्प) पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ है, उसे उसी दिन आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है।

१०. आचार्य या उपाध्याय के काल-धर्मप्राप्त (मरण) हो जाने पर निरुद्ध (अल्प) वर्ष पर्याय वाले श्रमण निर्ग्रन्थ को आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है।

उसके आचारप्रकल्प का कुछ अंश अध्ययन करना शेष हो और वह अध्ययन पूर्ण करने का संकल्प रखकर पूर्ण कर ले तो उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है।

किन्तु यदि वह शेष अध्ययन पूर्ण करने का संकल्प रखकर भी उसे पूर्ण न करे तो [illegible] या उपाध्याय पद देना नहीं कल्पता है।

विवेचन—पूर्व के छह सूत्रों में आचार्य आदि पद देने योग्य भिक्षु के गुणों का [illegible] उत्सर्गविधि का कथन किया गया है। इस सूत्रद्विक में दीक्षापर्याय एवं श्रुत-अध्ययन [illegible]

विधि का कथन किया गया है। अर्थात् पूर्व सूत्रों में कम से कम तीन वर्ष एवं पांच वर्ष की दीक्षा-पर्याय का होना क्रमशः उपाध्याय एवं आचार्य के लिए अनिवार्य कहा गया है और इन सूत्रों में उसी दिन के दीक्षित भिक्षु को या अनिवार्य वर्षों से कम वर्ष की दीक्षापर्याय वाले को अथवा आवश्यक श्रुत-अध्ययन अपूर्ण हो ऐसे भिक्षु को परिस्थितिवश आचार्य उपाध्याय पद देने का विधान किया है।

इन सूत्रों का तात्पर्य यह है कि यदि किसी में सूत्रोक्त पद के योग्य अन्य सभी गुण हों तो किसी विशेष परिस्थिति में श्रुत-धारण की या दीक्षापर्याय की अपूर्णता को नगण्य किया जा सकता है, क्योंकि अन्य सभी गुण विद्यमान होने से श्रुत और दीक्षा-पर्याय की कमी की पूर्ति तो पद देने के बाद भी हो सकती है।

नौवें सूत्र में उसी दिन के दीक्षित भिक्षु को पद देने का कथन करते हुए उसके परिवार की धर्मनिष्ठा एवं कुलीनता की पराकाष्ठा सूचित की गई है एवं सूत्र के अंत में ऐसे गुणसंपन्न कुलों से दीक्षित होने वाले भिक्षु को उसी दिन पद देने का उपसंहार-वाक्य कहा गया है।

दसवें सूत्र में अपूर्ण सूत्र के अध्ययन को पूर्ण करने की शर्त कही गई है अर्थात् पद देने के पूर्व या पश्चात् शीघ्र ही अवशेष श्रुत को पूर्ण करना आवश्यक कहा है।

इन सूत्रों में दो प्रकार की गणस्थिति को लक्ष्य में रख कर कथन किया गया है—(१) गण में रहे हुए साधुओं में सर्वानुमत एवं अनुशासनव्यवस्था संभालने योग्य कोई भी नहीं है, उस समय किसी योग्य भावित कुल के प्रतिभासंपन्न व्यक्ति का दीक्षित होना सूचित किया गया है।

(२) गण में दीर्घ दीक्षापर्याय वाले एवं श्रुतसंपन्न साधुओं में कोई भी पद-योग्य नहीं है, किंतु अल्पपर्याय वाला एवं अपूर्ण श्रुत वाला भिक्षु योग्य है, ऐसी परिस्थितियों में उसे पद पर नियुक्त करना सूचित किया है।

नवदीक्षित भिक्षु के सूत्रवर्णित पारिवारिक गुण

१. तथारूप कुशल स्थविरों द्वारा धर्मभावना से भावित किये गये कुल।

२. पत्तियाणि—'प्रीतिकराणि, वैनयिकानि कृतानि'—विनयसंपन्न कुल।

३. थेज्जाणि—'प्रीतिकरतया गच्छचिंतायां प्रमाणभूतानि—गच्छ में प्रीति होने से गच्छ के कार्यसम्पादन में प्रमाणभूत।

४. वेसासियाणि—आत्मानं अन्येषां गच्छवासिनां मायारहितानि कृततया विश्वासस्थानानि—गच्छ के समस्त साधुओं के विश्वासयोग्य सरल स्वभावी।

५. सम्मयाणि—तेषु तेषु प्रयोजनेषु इष्टानि—संघ के अनेक कार्यों में इष्ट।

६. सम्मुइकराणि—बहुशो विग्रहेषु समुत्पन्नेषु गणस्य सामुदितं अकार्षीत्—गच्छ में उत्पन्न क्लेश को शांत करके गच्छ को प्रसन्न रखने वाले।

७. अणुमयाणि-बहुमयाणि—गच्छगत बाल ग्लान वृद्ध आदि सभी को मान्य, बहुमान्य आदेय वचन वाले।

८. तेहिं कडेहिं जाव तेहिं बहुमएहिं—ऐसे भावित यावत् सब को मान्य परिवार वाले सदस्यों में से कोई दीक्षा लेने वाला भिक्षु हो तो उसे—

कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए तद्दिवसं—उसी दिन दीक्षा देकर आचार्य उपाध्याय पद दिया जा सकता है।

भाष्य में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए मोहवश या स्वार्थवश पारिवारिक लोगों द्वारा बलात् दीक्षा छुड़वा कर घर ले जाये गये व्यक्ति के कालांतर से पुनः दीक्षित होने पर उसे उसी दिन पद देने का संबंध बताया है, किंतु यह कल्पना सूत्र के आशय के अनुकूल नहीं है। क्योंकि सूत्र में उसके पूर्व दीक्षापर्याय संबंधी गुणों या उपलब्धियों का कोई कथन नहीं किया गया है, अपितु पारिवारिक लोगों की पूर्ण धर्मनिष्ठा का वर्णन किया है। शास्त्रकार द्वारा ऐसे सद्गुणों से सम्पन्न पारिवारिक जनों के द्वारा बलात् मोह से स्वार्थवश अपहरण की कल्पना करना उपयुक्त नहीं है। अतः ऐसे श्रेष्ठ गुणसंपन्न भावित कुल से दीक्षित होने वाला नवदीक्षित भिक्षु ही 'निरुद्धपर्याय' शब्द से अभीप्ट है।

भाष्य में दसवें सूत्र की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि संयम में किसी प्रकार के दोषों को सेवन करने पर जिसकी दीक्षापर्याय का छेदन कर दिया गया हो, जिससे उसकी दीक्षापर्याय पद-प्राप्ति के योग्य नहीं रही हो ऐसे भिक्षु को पद देने का वर्णन है। किंतु सूत्र के विषय की इस प्रकार संगति करना भी उपयुक्त नहीं लगता है। क्योंकि ऐसे दीक्षाछेदन योग्य दोषों से खंडित आचार वाले को पद देना ही उचित नहीं है।

सूत्र में उसके आचारप्रकल्प अध्ययन की अपूर्णता भी कही है। इससे भी अल्पवर्ष की प्रारम्भिक दीक्षापर्याय वाले का ही कथन सिद्ध होता है। क्योंकि अधिक दीक्षापर्याय तक भी जिसका आचार-प्रकल्प-अध्ययन पूर्ण न हो ऐसे जडबुद्धि और दीक्षाछेद के प्रायश्चित्त को प्राप्त भिक्षु को पद देना शोभाजनक एवं प्रगतिकारक नहीं हो सकता और वास्तव में ऐसा व्यक्ति तो पूर्व सूत्रों के अनुसार सभी पदों के सर्वथा अयोग्य होता है। उसके लिए तो सूत्र में अपवादविधान भी नहीं है।

अतः इन सूत्रों में प्रयुक्त 'निरुद्ध' शब्द से 'पूर्व दीक्षा का निरोध' या 'छेदन' अर्थ न करके 'अल्प वर्ष की दीक्षापर्याय' एवं 'अत्यंत अल्प संयमपर्याय' अर्थात् दीक्षा के प्रथम दिन पद देने का अर्थ करना चाहिए।

आगमों में 'निरुद्ध' शब्द 'अल्प' या 'अत्यल्प' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यथा—

१. सन्निरुद्धम्मि आउए—अत्यंत अल्प आयु वाले इस मनुष्य भव में,
२. निरुद्धायु—अल्प आयु,
३. निरुद्धभवपवंचे—संसारभ्रमण जिसका अल्प रह गया है,
४. निरुद्धवास—आवश्यक वर्षों से अल्प वर्ष पर्याय वाला।

शब्दों के अनेक अर्थ होते है, कई व्युत्पत्तिपरक भी होते हैं, कई रूढ अर्थ भी। उनमें से कहीं रूढ अर्थ प्रासंगिक होता है, कहीं व्युत्पत्तिपरक अर्थ प्रासंगिक होता है और कहीं दोनों या अनेक अर्थ भी अपेक्षा से घटित हो जाते हैं।

अतः जो अर्थ सूत्राशय के अनुकूल हो एवं अन्य आगमविधानों से अविरुद्ध हो, ऐसा ही सूत्र का एवं शब्दों का अर्थ-भावार्थ करना चाहिए।

इसी आशय से सूत्रार्थ एवं भावार्थ भाष्य से भिन्न प्रकार का किया है।

यद्यपि भाष्य में प्रायः सर्वत्र अनेक संभावित अर्थों का संग्रह किया जाता है और प्रमुख रूप से सूत्राशय के अनुरूप अर्थ कौनसा है, इसे भी 'सुत्तनिवातो' शब्द से गाथा में सूचित किया जाता है। तथापि कहीं-कहीं किसी सूत्र की व्याख्या में केवल एक ही अर्थ भावार्थ में व्याख्या पूर्ण कर दी जाती है, जो कि आगम से अविरुद्ध भी नहीं होती है। इसलिए ऐसे निम्नांकित स्थलों पर भाष्य से सर्वथा भिन्न अर्थ-विवेचन करना पड़ा है—

यथा—(१) निशीथसूत्र उ. २, सू. १ 'पादप्रोंछन'
(२) निशीथसूत्र उ. २, सू. ८ 'विसुयावेइ'
(३) निशीथसूत्र उ. ३, सू. ७३ 'गोलेहणियासु'
(४) निशीथसूत्र उ. ३, सू. ८० 'अणुग्गएसूरिए'
(५-६) निशीथसूत्र उ. १९, सू. १ और ६ 'वियडं' और 'गालेइ'
(७) व्यवहार उ. २, सू. १७ 'अट्ठजायं'
(८) व्यवहार उ. ३, सू. १-२ 'गणधारण'
(९) व्यवहार उ. ९, सू. ३१ 'सोंडियसाला'
(१०) व्यवहार उ. १०, सू. २२ 'तिवासपरियाए'
(११) व्यवहार उ. ३, सू. १० 'पलासगंसि'
(१२-१३) तथा प्रस्तुत दोनों सूत्र में—'निरुद्धपरियाए, निरुद्धवासपरियाए'।

इन विषयों की विस्तृत जानकारी के लिए सूचित स्थलों के विवेचन देखें।

निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी को आचार्य के नेतृत्व बिना रहने का निषेध

११. निग्गंथस्स णं नव-डहर-तरुणस्स आयरिय-उवज्झाए वीसुंभेज्जा, नो से कप्पइ अणायरिय-उवज्झाइए होत्तए।

कप्पइ से पुव्वं आयरियं उद्दिसावेत्ता तओ पच्छा उवज्झायं।

प०—से किमाहु भंते!

उ०—दु-संगहिए समणे निग्गंथे, तं जहा—१. आयरिएण य, २. उवज्झाएण य।

१२. निग्गंथीए णं नव-डहर-तरुणीए आयरिय-उवज्झाए, पवत्तिणी य वीसुंभेज्जा, नो से कप्पइ अणायरिय-उवज्झाइयाए अपवित्तिणियाए होत्तए।

कप्पइ से पुव्वं आयरियं उद्दिसावेत्ता तओ उवज्झायं तओ पच्छा पवत्तिणिं।

प०—से किमाहु भंते?

उ०—ति-संगहिया समणी निग्गंथी, तं जहा—१. आयरिएण य, २. उवज्झाएण य, ३. पवत्तिणीए य।

११. नवदीक्षित, बालक या तरुण निर्ग्रन्थ के आचार्य और उपाध्याय की यदि मृत्यु हो जाए तो उसे आचार्य और उपाध्याय के बिना रहना नहीं कल्पता है।

उसे पहले आचार्य की और बाद में उपाध्याय की निश्रा (अधीनता) स्वीकार करके ही रहना चाहिए।

प्र०—हे भगवन् ! ऐसा कहने का क्या कारण है ?

उ०—श्रमण निर्ग्रन्थ दो के नेतृत्व में ही रहते हैं, यथा—१. आचार्य और २. उपाध्याय।

१२. नवदीक्षिता, बालिका या तरुणी निर्ग्रन्थी के आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तिनी की यदि मृत्यु हो जावे तो उसे आचार्य उपाध्याय और प्रवर्तिनी के बिना रहना नही कल्पता है।

उसे पहले आचार्य की, बाद में उपाध्याय की और बाद में प्रवर्तिनी की निश्रा (अधीनता) स्वीकार करके ही रहना चाहिए।

प्र०—हे भगवन् ! ऐसा कहने का क्या कारण है ?

उ०—श्रमणी निर्ग्रन्थी तीन के नेतृत्व में ही रहती है, यथा—१. आचार्य, २. उपाध्याय और ३. प्रवर्तिनी।

विवेचन—नव, डहर, तरुण का स्पष्टार्थ भाष्य में इस प्रकार किया गया है—

तिवरिसो होइ नवो, आसोलसगं तु डहरगं बेंति।
तरुणो चत्तालीसो, सत्तरि उण मज्झिमो, थेरओ सेसो॥

तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय पर्यंत नवदीक्षित कहा जाता है।

चार वर्ष से लेकर सोलह वर्ष की उम्र पर्यंत डहर-बाल कहा जाता है। सोलह वर्ष की उम्र से लेकर चालीस वर्ष पर्यंत तरुण कहा जाता है।

सत्तर वर्ष में एक कम अर्थात् उनसत्तर (६९) वर्ष पर्यन्त मध्यम (प्रौढ) कहा जाता है।

सत्तर वर्ष से आगे शेष सभी वय वाले स्थविर कहे जाते हैं। —भाष्य गा. २२० एवं टीका।

आगम में साठ वर्ष वाले को स्थविर कहा है। —व्यव. उ. १०.—ठाणं अ. ३.

भाष्यगाथा २२१ मे यह स्पष्ट किया गया है कि नवदीक्षित भिक्षु बाल हो या तरुण हो, मध्यम वय वाला हो अथवा स्थविर हो, उसे आचार्य उपाध्याय की निश्रा के बिना रहना या विचरण करना नहीं कल्पता है। अधिक दीक्षापर्याय वाला भिक्षु यदि चालीस वर्ष से कम वय वाला हो तो उसे भी आचार्य उपाध्याय की निश्रा बिना रहना नही कल्पता है।

तात्पर्य यह है कि बाल या तरुण वय वाले भिक्षु और नवदीक्षित भिक्षु एक हों या अनेक हों, उन्हें आचार्य और उपाध्याय की निश्रा में ही रहना आवश्यक है। जिस गच्छ में आचार्य उपाध्याय कालधर्म प्राप्त हों जाए अथवा जिस गच्छ में आचार्य उपाध्याय न हों तो बाल-तरुण-नवदीक्षित भिक्षुओं को आचार्य उपाध्याय के बिना या आचार्य उपाध्याय रहित गच्छ में किंचित् भी रहना नहीं कल्पता है। उन्हें प्रथम अपना आचार्य नियुक्त करना चाहिए तत्पश्चात् उपाध्याय नियुक्त करना चाहिए।

सूत्र में प्रश्न किया गया है—"हे भगवान् ! आचार्य उपाध्याय बिना रहना ही नही, ऐसा कहने का क्या आशय है ?"

इसका समाधान यह किया गया है कि ये उक्त वय वाले श्रमण निर्ग्रन्थ सदा दो से संग्रहीत होते हैं अर्थात् इनके लिये सदा दो का नेतृत्व होना अत्यन्त आवश्यक है—१. आचार्य २. उपाध्याय का। तात्पर्य यह है कि आचार्य के नेतृत्व से इनको संयमसमाधि रहती है और उपाध्याय के नेतृत्व से इनका आगमानुसार व्यवस्थित अध्ययन होता है।

दूसरे सूत्र में नव, डहर एवं तरुण साध्वी के लिये भी यही विधान किया गया है। उन्हें भी आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तिनी इन तीन की निश्रा के बिना रहना नहीं कल्पता है। इस सूत्र में भी प्रश्न करके उत्तर में यही कहा गया है कि ये उक्त वय वाली साध्वियां सदा तीन की निश्रा से ही सुरक्षित रहती हैं।

सूत्र में "निग्गंथस्स नव-डहर-तरुणगस्स" और "णिग्गंथीए णव-डहर-तरुणीए" इस प्रकार एक वचन का प्रयोग है, यहां बहुवचन का या गण का कथन नहीं है, जिससे यह विधान प्रत्येक 'नव डहर तरुण' भिक्षु के लिये समझना चाहिए। अतः जिस गच्छ में आचार्य और उपाध्याय दो पदवीधर नहीं हैं, वहां उक्त नव डहर तरुण साधुओं को रहना नहीं कल्पता है और इन दो के अतिरिक्त प्रवर्तिनी न हो तो वहां उक्त नव डहर तरुण साध्वियों को रहना नहीं कल्पता है।

तात्पर्य यह है कि उक्त साधुओं से युक्त प्रत्येक गच्छ में आचार्य उपाध्याय दो पदवीधर होना आवश्यक है। यदि ऐसे गच्छ में केवल एक पदवीधर स्थापित करे या एक भी पदवीधर नियुक्त न करे केवल रत्नाधिक की निश्रा से रहे तो इस प्रकार से रहना आगम-विपरीत है। क्योंकि इन सूत्रों से यह स्पष्ट है कि अल्पसंख्यक गच्छ में या विशाल गच्छ में आचार्य और उपाध्याय का होना आवश्यक है, यही जिनाज्ञा है।

यदि किसी गच्छ में २-४ साधु ही हों और उनमें कोई सूत्रोक्त नव डहर तरुण न हो अर्थात् सभी प्रौढ एवं स्थविर हों तो वे बिना आचार्य उपाध्याय के विचरण कर सकते हैं, किन्तु यदि उनमें नव डहर तरुण हों तो उन्हें किसी भी गच्छ के आचार्य उपाध्याय की निश्रा लेकर ही रहना चाहिए अन्यथा उनका विहार आगमविरुद्ध है।

इसी प्रकार साध्वियां भी ५-१० हों, जिनके कोई आचार्य उपाध्याय या प्रवर्तिनी न हो या उन्होंने किसी परिस्थिति से गच्छ का त्याग कर दिया हो और उनमें नव डहर तरुण साध्वियां हों तो उन्हें भी किसी आचार्य और उपाध्याय की निश्रा स्वीकार करना आवश्यक है एवं अपनी प्रवर्तिनी नियुक्त करना भी आवश्यक है। अन्यथा उनका विहार भी आगमविरुद्ध है।

इन सूत्रों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्थानांग अ. ३ में कहे गये भिक्षु के दूसरे मनोरथ के अनुसार अथवा अन्य किसी प्रतिज्ञा को धारण करने वाला भिक्षु और दशवै. चू. २, गा. १०; उत्तरा. अ. ३२, गा. ५; आचा. श्रु. १, अ. ६, उ. २; सूय. श्रु. १, अ. १० गा. ११ में कहे गये सपरिस्थितिक प्रशस्त एकलविहार के अनुसार अकेला विचरण करने वाला भिक्षु भी यदि नव डहर या तरुण है तो उसका यह विहार आगमविरुद्ध है। अतः उपर्युक्त आगमसम्मत एकलविहार भी प्रौढ एवं स्थविर भिक्षु ही कर सकते हैं जो नवदीक्षित न हों।

तात्पर्य यह है कि तीन वर्ष की दीक्षापर्या[illegible] [illegible]४ वर्ष की उम्र के पहले किसी भी प्रकार का एकलविहार या [illegible] [illegible] वह आगमविपरीत है।

बीस वर्ष की दीक्षापर्याय वाला पर्यायस्थविर होने से २९ वर्ष की वय में वह आचार्य की आज्ञा लेकर एकलविहार साधनाएँ कर सकता है। किन्तु सपरिस्थितिक एकल विहार या गच्छत्याग नहीं कर सकता।

ऐसे स्पष्ट विधान वाले सूत्र एवं अर्थ के उपलब्ध होते हुए भी समाज में निम्न प्रवृतियां या परम्पराएं चलती हैं, वे उचित नहीं कही जा सकतीं। यथा—

(१) केवल आचार्य पद से गच्छ चलाना और उपाध्याय पद नियुक्त न करना।

(२) कोई भी पद नियुक्त न करने के आग्रह से विशाल गच्छ को अव्यवस्थित चलाते रहना।

(३) उक्त वय के पूर्व ही गच्छत्याग करना।

ऐसा करने में स्पष्ट रूप से उक्त आगमविधान की स्वमति से उपेक्षा करना है।

इस उपेक्षा से होने वाली हानियां इस प्रकार हैं—

१. गच्छगत साधुओं के विनय, अध्ययन, आचार एवं संयमसमाधि की अव्यवस्था आदि अनेक दोषों की उत्पत्ति होती है।

२. साधुओं में स्वच्छन्दता एवं आचार-विचार की भिन्नता हो जाने से क्रमशः गच्छ का विकास न होकर अधःपतन होता है।

३. साधुओं में प्रेम एवं संयमसमाधि नष्ट होती है और क्लेशों की वृद्धि होती है।

४. अन्ततः गच्छ भी छिन्न-भिन्न होता रहता है।

अतः प्रत्येक गच्छ में आचार्य उपाध्याय दोनों पदों पर किसी को नियुक्त करना आवश्यक है।

यदि कोई आचार्य उपाध्याय पदों को लेना या गच्छ में ये पद नियुक्त करना अभिमानसूचक एवं क्लेशवृद्धि कराने वाला मानकर सदा के लिये पदरहित गच्छ रखने का आग्रह रखते हैं और ऐसा करते हुए अपने को निरभिमान होना व्यक्त करते हैं, तो ऐसा मानना एवं करना उनका सर्वथा अनुचित है और जिनाज्ञा की अवहेलना एवं आसातना करना भी है। क्योंकि जिनाज्ञा आचार्य उपाध्याय नियुक्त करने की है तथा नमस्कारमंत्र में भी ये दो स्वतन्त्र पद कहे गये हैं। अतः उपर्युक्त आग्रह में सूत्रविधानों से भी अपनी समझ को सर्वोपरि मानने का अहं सिद्ध होता है। यदि आचार्य उपाध्याय पद के अभाव में निरभिमान और क्लेशरहित होना सभी विशाल गच्छ वाले सोच ले तो नमस्कार मंत्र के दो पदों का होना ही निरर्थक सिद्ध होगा। जिससे पद-नियुक्ति सम्बन्धी सारे आगमविधानों का भी कोई महत्त्व नहीं रहेगा।

इसलिये अपने विचारों का या परम्परा का आग्रह न रखते हुए सरलतापूर्वक आगमविधानों के अनुसार ही प्रवृत्ति करना चाहिए।

सारांश—

(१) प्रत्येक नव डहर तरुण साधु को दो— और साध्वी को तीन पदवीधरयुक्त गच्छ में ही रहना चाहिए।

(२) इन पदवीधरों से रहित गच्छ में नहीं रहना चाहिए।

(३) सूत्रोक्त वय के पूर्व एकलविहार या गच्छत्याग कर स्वतन्त्र विचरण भी नहीं करना चाहिए।

(४) कोई परिस्थिति विशेष हो तो अन्य आचार्य एवं उपाध्याय से युक्त गच्छ की निश्रा लेकर विचरण करना चाहिए।

(५) गच्छप्रमुखों को चाहिए कि वे अपने गच्छ को २ या ३ पद से कभी भी रिक्त न रखें।

अब्रह्मसेवी को पद देने के विधि-निषेध

१३. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा, तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स, उवसंतस्स, उवरयस्स, पडिविरयस्स, निव्विगारस्स, एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१४. गणावच्छेइए य गणावच्छेयत्तं अनिक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१५. गणावच्छेइए य गणावच्छेइयत्तं निक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा, तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स उवसंतस्स, उवरयस्स, पडिविरयस्स, निव्विगारस्स, एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१६. आयरिय-उवज्झाए य आयरिय-उवज्झायत्तं अनिक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१७. आयरिय-उवज्झाए य आयरिय-उवज्झायत्तं निक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा, तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स उवसंतस्स, उवरयस्स, पडिविरयस्स, निव्विगारस्स, एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१३. यदि कोई भिक्षु गण को छोड़कर मैथुन का प्रतिसेवन करे अर्थात् मैथुनसेवन करे तो उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या उसको धारण करना नहीं कल्पता है।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष में प्रवेश करने पर यदि वह वेदोदय से उपशान्त, मैथुन से निवृत्त, मैथुनसेवन से ग्लानिप्राप्त और विषय-वासना-रहित हो जाए तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

१४. यदि कोई गणावच्छेदक अपना पद छोड़े बिना मैथुन का प्रतिसेवन करे तो उसे उक्त कारण से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या इसे धारण करना नहीं कल्पता है।

१५. यदि कोई गणावच्छेदक अपना पद छोड़कर मैथुन का प्रतिसेवन करे तो उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष में प्रवेश करने पर यदि वह उपशान्त, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो जाए तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

१६. यदि कोई आचार्य या उपाध्याय अपने पद को छोड़े बिना मैथुन का प्रतिसेवन करे तो उसे उक्त कारण से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

१७. यदि कोई आचार्य या उपाध्याय अपने पद को छोड़कर मैथुन का प्रतिसेवन करे तो उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष में प्रवेश करने पर यदि वह उपशान्त, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो जाए तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

विवेचन—आगमों में ब्रह्मचर्य की बहुत महिमा कही गई है एवं इसका पालन भी दुष्कर कहा गया है। इनके प्रमाणस्थलों के लिये नि. उ. ६ देखें।

पांच महाव्रतों में भी ब्रह्मचर्य महाव्रत प्रधान है। अतः इसके भंग होने पर यहां कठोरतम प्रायश्चित्त कहा गया है।

निशीथ उ. ६-७ में इस महाव्रत के अतिचार एवं अनाचारों का गुरुचौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है और यहां केवल आचार्य आदि पदवियां देने, न देने के रूप में प्रायश्चित्त कहे गये हैं। अर्थात् मैथुनसेवी को निशीथसूत्रोक्त गुरुचौमासी प्रायश्चित्त तो आता ही है साथ ही वह तीन वर्ष या उससे अधिक वर्ष अथवा जीवन भर आचार्यादि पद के अयोग्य हो जाता है, यह इन सूत्रों में कहा गया है।

जो भिक्षु संयमवेश में रहते हुए स्त्री के साथ एक बार या अनेक बार मैथुनसेवन कर लेता है तो वह आचार्य आदि पदों के योग्य गुणों से सम्पन्न होते हुए भी कम से कम तीन वर्ष तक पद धारण करने के अयोग्य हो जाता है।

अतः उसे पद देने का एवं धारण करने का निषेध किया गया है। जिससे वह भिक्षु तीन वर्ष तक प्रमुख बन कर विचरण भी नहीं कर सकता है, क्योंकि सूत्र में "गणधर" बनने का निषेध किया है। "गणधर" शब्द का विशेषार्थ इसी उद्देशक के प्रथम सूत्र में देखें।

जो भिक्षु मैथुनसेवन के बाद या प्रायश्चित्त से शुद्धि कर लेने के बाद सर्वथा मैथुनभाव से निवृत्त हो जाता है और तीन वर्ष पर्यन्त वह निष्कलंक जीवन व्यतीत करता है, उस भिक्षु की अपेक्षा से यह जघन्य मर्यादा है।

यदि उस अवधि में भी पुनः ब्रह्मचर्य महाव्रत के अतिचार या अनाचारों का सेवन करता है, अथवा दिये गये प्रायश्चित्त से विपरीत आचरण करता है, तो यह तीन वर्ष की मर्यादा आगे बढ़ा दी जाती है और ऐसा करने से कभी जीवनपर्यन्त भी वह पद प्राप्ति के अयोग्य रह जाता है।

आचार्य, उपाध्याय या गणावच्छेदक आदि गच्छ में एवं समाज में अत्यधिक प्रतिष्ठित होते हैं तथा ये अन्य साधु-साध्वियों के लिए आदर्श रूप होते हैं। पद पर प्रतिष्ठित होने से इन पर जिन-शासन का विशेष दायित्व होता है। उपलक्षण से इन तीन के अतिरिक्त प्रवर्तक, प्रवर्तिनी आदि पदों के लिए भी समझ लेना चाहिए।

इन पदवीधरों के द्वारा पद पर रहते हुए मैथुनसेवन करना अक्षम्य अपराध है। अतः बिना किसी विकल्प के जीवन भर वे किसी भी पद को धारण नहीं कर सकते। उन्हें सदा अन्य के अधीन रहकर ही विचरण करते हुए संयम पालन करना पड़ता है।

यदि कोई पदवीधर यह जान ले कि 'मैं ब्रह्मचर्य का पालन करने में असमर्थ हूं' और तब वह अपना असामर्थ्य प्रगट करके या सामान्य रूप से अपनी संयमपालन की अक्षमता प्रकट करके पदत्याग कर देता है और योग्य अन्य भिक्षु को पद पर नियुक्त कर देता है, उसके बाद मैथुनसेवन करता है तो उसे उक्त जीवन पर्यन्त का प्रायश्चित्त नहीं आता है किन्तु तीन वर्ष तक पदमुक्त रहने का ही प्रायश्चित्त आता है।

सामान्य भिक्षु के मैथुनसेवन की वार्ता से भी लोकापवाद एवं जिनशासन की अवहेलना होती है और उस भिक्षु की प्रतिष्ठा भी नहीं रहती है। तथापि आचार्य आदि पदवीधर द्वारा मैथुन-सेवन की वार्ता से तो जिनशासन की अत्यधिक अवहेलना होती है एवं उस पदवीधर को भी अत्यधिक लज्जित होना पड़ता है।

अतः सामान्य भिक्षु या कोई पदवीधर ब्रह्मचर्य पालन करने में अपने आपको असमर्थ माने तो उन्हें आचा. श्रु. १ अ. ५ उ. ४ में कही गई क्रमिक साधना करनी चाहिये या आचा. श्रु. १ अ. ८ उ. ४ के अनुसार आचरण करना चाहिए। किन्तु संयमी जीवन में मैथुनसेवन करके स्वयं का एवं जिन शासन का अहित नहीं करना चाहिये।

आचारांगसूत्र में कथित उत्कट आराधना यदि किसी से संभव न हो एवं तीव्र मोहोदय उपशांत न हो तो भी संयमी जीवन को कलंकित करके जिनशासन की अवहेलना करना सर्वथा अनुचित है। उसकी अपेक्षा संयम त्यागकर मर्यादित गृहस्थजीवन में धर्म-आराधना करना श्रेयस्कर है।

ऐसा भी संभव न हो तो अन्य विधि जो भाष्य में कही गई है वह गीतार्थों के जानने योग्य है।

एवं आवश्यक होने पर कभी गीतार्थों की निश्रा से अन्य साधु-साध्वियों के भी जानने योग्य एवं परिस्थितिवश आचरण करने योग्य हो सकती है।

प्रस्तुत सूत्र में आए उद्दिसित्तए और धारित्तए, इन दो पदों का आशय यह है कि अब्रह्मसेवी भिक्षु को पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए और यदि जानकारी के अभाव में कोई उसको पद पर नियुक्त कर भी दे तो उसे स्वीकार नहीं करना चाहिए।

सूत्र में मैथुन के संकल्पों से निवृत्त भिक्षु के लिए अनेक विशेषणों का प्रयोग किया गया है। टीकाकार ने उनके अर्थ में कुछ अन्तर बताते हुए व्याख्या की है। यथा—

स्थित—स्थित परिणाम वाले
उपशांत—मैथुनप्रवृत्ति से निवृत्त
उपरत—मैथुन के संकल्पों से निवृत्त
प्रतिविरत—मैथुन सेवन से सर्वथा विरक्त
निर्विकारी—पूर्ण रूप से विकाररहित, शुद्ध ब्रह्मचर्य पालने वाला। —व्यव. भाष्य टीका।

संयम त्यागकर जाने वाले को पद के विधि-निषेध

१८. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओहाएज्जा, तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स, उवसंतस्स, उवरयस्स, पडिविरयस्स, निव्विगारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१९. गणावच्छेइए य गणावच्छेइयत्तं अनिक्खिवित्ता ओहाएज्जा, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

२०. गणावच्छेइए य गणावच्छेइयत्तं निक्खिवित्ता ओहाएज्जा, तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं, चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स, उवसंतस्स, उवरयस्स, पडिविरयस्स, निव्विगारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

२१. आयरिय-उवज्झाए य आयरिय-उवज्झायत्तं निक्खिवित्त ओहाएज्जा, तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

२२. आयरिय-उवज्झाए य आयरिय-उवज्झायत्तं निक्खिवित्ता ओहाएज्जा, तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स, उवसंतस्स, उवरयस्स, पडिविरयस्स, निव्विगारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१८. यदि कोई भिक्षु गण और संयम का परित्याग करके और वेष को छोड़कर के चला जाए और बाद में पुनः दीक्षित हो जाए तो उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष में प्रवेश करने पर यदि वह उपशांत, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो जाए तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

१९. यदि कोई गणावच्छेदक अपना पद छोड़े बिना संयम का परित्याग करके और वेष छोड़कर चला जाए और बाद में पुनः दीक्षित हो जाए तो उसे उक्त कारण से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

२०. यदि कोई गणावच्छेदक अपना पद छोड़कर के तथा संयम का परित्याग करके और वेष छोड़कर चला जाए और बाद में पुनः दीक्षित हो जाए तो उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष में प्रवेश करने पर यदि वह उपशान्त, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो जाए तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

२१. यदि कोई आचार्य या उपाध्याय अपना पद छोड़े बिना संयम का परित्याग करके और वेष छोड़कर चला जाए और बाद में पुनः दीक्षित हो जाए तो उसे उक्त कारण से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

२२. यदि कोई आचार्य या उपाध्याय अपना पद छोड़कर के तथा संयम और वेष का परित्याग करके चला जाए और बाद में पुनः दीक्षित हो जाए तो उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष में प्रवेश करने पर यदि वह उपशान्त, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो जाए तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

विवेचन—पूर्व सूत्रपंचक में ब्रह्मचर्य पालन में असमर्थ भिक्षु एवं आचार्य आदि के लिए पदवी सम्बन्धी प्रायश्चित्त का विधान किया गया है और इस सूत्रपंचक में सामान्य रूप से संयम पालन में असमर्थ भिक्षु आदि के संयम त्यागकर जाने के बाद पुनः दीक्षा स्वीकार करने पर उसे पदवी देने या न देने का विधान किया गया है।

संयम के त्यागने में परीषह या उपसर्ग आदि कई कारण हो सकते हैं। ब्रह्मचर्य आदि महाव्रत पालन की अक्षमता का भी कारण हो सकता है।

किसी भी कारण से संयम त्यागने वाला यदि पुनः दीक्षा ग्रहण करे तो उसे भी तीन वर्ष तक या जीवनपर्यन्त पदवी नहीं देने का वर्णन पूर्व सूत्रपंचक के समान यहां भी समझ लेना चाहिए तथा शब्दार्थ भी उसी के समान समझ लेना चाहिए।

अनेक आगमों में संयम त्यागने का एवं परित्यक्त भोगों को पुनः स्वीकार करने का स्पष्ट निषेध किया गया है। दशवैकालिकसूत्र की प्रथम चूलिका में संयम त्यागने पर होने वाले अनेक अपायों (दुखों) का कथन करके संयम में स्थिर रहने की प्रेरणा दी गई है। उस चूलिका का नाम भी "रतिवाक्य" है, जिसका अर्थ है संयम में रुचि पैदा करने वाले शिक्षा-वचन। अतः उस अध्ययन का चिन्तन-मनन करके सदा संयम में चित्त स्थिर रखना चाहिए।

पापजीवी बहुश्रुतों को पद देने का निषेध

२३. भिक्खू य बहुस्सुए बब्भागमे बहुसो बहु-आगाढा-गाढेसु कारणेसु माई मुसावाई, असुई, पावजीवी, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

२४. गणावच्छेइए य बहुस्सुए बब्भागमे बहुसो बहु-आगाढा-गाढेसु कारणेसु माई मुसावाई, असुई, पावजीवी, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

२५. आयरिय-उवज्झाए य बहुस्सुए बब्भागमे बहुसो बहु-आगाढा-गाढेसु कारणेसु माई मुसावाई, असुई, पावजीवी, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

२६. बहवे भिक्खुणो बहुस्सुया बब्भागमा बहुसो बहु-आगाढा-गाढेसु कारणेसु माई मुसावाई, असुई, पावजीवी, जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

२७. बहवे गणावच्छेइया बहुस्सुया बब्भागमा बहुसो बहु-आगाढा-गाढेसु कारणेसु माई मुसावाई, असुई, पावजीवी, जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

२८. बहवे आयरिय-उवज्झाया बहुस्सुया बब्भागमा बहुसो बहु-आगाढा-गाढेसु कारणेसु माई मुसावाई, असुई, पावजीवी जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

२९. बहवे भिक्खुणो बहवे गणावच्छेइया बहवे आयरिय-उवज्झाया बहुस्सुया बब्भागमा बहुसो बहु-आगाढा-गाढेसु कारणेसु माई मुसावाई, असुई, पावजीवी जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

२३. बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ भिक्षु अनेक प्रगाढ कारणों के होने पर यदि अनेक बार मायापूर्वक मृषा बोले या अपवित्र पापाचरणों से जीवन व्यतीत करे तो उसे उक्त कारणों से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

२४. बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ गणावच्छेदक अनेक प्रगाढ कारणों के होने पर अनेक बार मायापूर्वक मृषा बोले या अपवित्र पापाचरणों से जीवन व्यतीत करे तो उसे उक्त कारणों से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

२५. बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ आचार्य या उपाध्याय अनेक प्रगाढ कारणों के होने पर यदि अनेक बार मायापूर्वक मृषा बोले या अपवित्र पापाचरणों से जीवन व्यतीत करे तो उसे उक्त कारणों से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

२६. बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ अनेक भिक्षु अनेक प्रगाढ कारणों के होने पर यदि अनेक बार मायापूर्वक मृषा बोलें या अपवित्र पापाचरणों से जीवन व्यतीत करें तो उन्हें उक्त कारणों से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

२७. बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ अनेक गणावच्छेदक अनेक प्रगाढ कारणों के होने पर भी यदि अनेक बार मायापूर्वक मृषा बोलें या अपवित्र पापाचरणों से जीवन व्यतीत करें तो उन्हें उक्त कारणों से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

२८. बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ अनेक आचार्य उपाध्याय अनेक प्रगाढ कारणों के होने पर यदि अनेक बार मायापूर्वक मृषा बोलें या अपवित्र पापाचरणों से जीवन व्यतीत करें तो उन्हें उक्त कारणों से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

२९. बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ अनेक भिक्षु, अनेक गणावच्छेदक या अनेक आचार्य उपाध्याय अनेक प्रगाढ कारणों के होने पर यदि अनेक बार मायापूर्वक मृषा बोलें या अपवित्र पापाचरणों से जीवन व्यतीत करें तो उन्हें उक्त कारणों से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

विवेचन—इन सूत्रों में बहुश्रुत बहुआगमज्ञ भिक्षु को आचार्य आदि पद न देने के प्रायश्चित्त का विधान है। अतः अल्पज्ञ अल्पश्रुत भिक्षुओं के लिए इस प्रायश्चित्त का विधान नहीं है, क्योंकि वे जिनाज्ञा एवं संयममार्ग के उत्सर्ग-अपवाद रूप आचरणों एवं सिद्धान्तों के पूर्ण ज्ञाता नहीं होते हैं। अतः वे अव्यक्त या अपरिपक्व होने से पदवियों के अयोग्य ही होते हैं तथा उनके द्वारा इन सूत्रों में कहे गये दोषों का सेवन करना सम्भव भी नहीं है। कदाचित् वे ऐसा कोई धार्मिक दोष सेवन कर भी लें तो उनकी शुद्धि निशीथसूत्रोक्त तप प्रायश्चित्तों से ही हो जाती है।

आचार्य उपाध्याय आदि सभी पदवीधर भिक्षु तो नियमतः बहुश्रुत बहुआगमज्ञ होते हैं फिर भी उनके लिए इन शब्दों का प्रयोग केवल स्वरूपदर्शक है अथवा लिपिप्रमाद से हो जाना सम्भव है। जैसे कि पहले उद्देशक में आलोचनासूत्र में आचार्य उपाध्याय के यह विशेषण नहीं हैं अन्य भिक्षुओं के लिए यह विशेषण लगाये गये हैं तथापि वहां कई प्रतियों में इन विशेषण सम्बन्धी लिपिप्रमाद हुआ है।

विशेषणयुक्त इन सूत्रों का तात्पर्य यह है कि बहुश्रुत भिक्षु जिनशासन के जिम्मेदार व्यक्ति होते हैं। इनके द्वारा बड़े दोषों का सेवन जिनशासन की अत्यधिक अवहेलना का कारण होने से उनकी भूल अक्षम्य होती है। जिससे उन्हें प्रायश्चित्त रूप में जीवन भर के लिए धर्मशासन के पद से मुक्त रखने का विधान किया गया है। अतः इन सूत्रों में कहे गये आचरणों को करने वाले बहुश्रुत भिक्षु आदि को जीवन भर आचार्य यावत् गणप्रमुख बनकर विचरण करने का कोई अधिकार नहीं रहता है।

सूत्र में 'बहुत बार' और 'बहु आगाढ कारण' इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। अत. एक बार उक्त आचरण करने पर यह सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है, किन्तु उसे केवल तप प्रायश्चित्त ही दिया जाता है। बहु आगाढ अर्थात् अनेक प्रबल कारणों के बिना ही यदि उक्त भिक्षु इन दोषों का सेवन करे तो उसे दीक्षाछेद रूप प्रायश्चित्त आता है।

सारांश यह है कि अनेक बार दोष सेवन करने पर और अनेक आगाढ कारण होने पर ही यह प्रायश्चित्त समझना चाहिए।

पूर्व के दस सूत्रों में भी आचार्य आदि पदवी के सम्बन्ध में प्रायश्चित्तरूप विधि-निषेध किये गये हैं और इन सात सूत्रों में भी यही वर्णन है। अन्तर यह है कि वहां ब्रह्मचर्यभंग या वेष त्यागने की अपेक्षा से वर्णन है और यहां प्रथम, द्वितीय या पंचम महाव्रत सम्बन्धी दोषों की अपेक्षा वर्णन है।

अर्थात् जो भिक्षु झूठ, कपट, प्रपंच दूसरों के साथ धोखा, असत्य दोषारोपण आदि आचरणों का अनेक बार सेवन करता है या तन्त्र, मन्त्र आदि से किसी को कष्ट देता है अथवा विद्या, मन्त्र, ज्योतिष, वैद्यककर्म आदि का प्ररूपण करता है, ऐसे भिक्षु को सूत्र में "पापजीवी" कहा है। वह कलुषित चित्त और कुशील आचार के कारण सभी प्रकार की प्रमुखता या पदवी के सर्वथा अयोग्य हो जाता है।

यहां सात सूत्रों द्वारा प्रायश्चित्तविधान करने का यह आशय है कि एक भिक्षु हो या अनेक अथवा एक पदवीधर हो या अनेक, वे मिलकर भी सूत्रोक्त दोष सेवन करें तो वे सभी प्रायश्चित्त के भागी होते हैं। आगाढ कारणों की जानकारी के लिए भाष्य का अध्ययन करें।

तीसरे उद्देशक का सारांश

सूत्र १-२ बुद्धिमान्, विचक्षण, तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला और आचारांग निशीथसूत्र को अर्थ सहित कंठस्थ धारण करने वाला ऐसा "भाव पलिच्छन्न" भिक्षु प्रमुख बनकर विचरण कर सकता है, किन्तु गच्छप्रमुख आचार्यादि की आज्ञा बिना विचरण करने पर वह यथायोग्य तप या छेद रूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

सूत्र ३-४ कम से कम तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाला भिक्षु आचारसम्पन्न, बुद्धिसम्पन्न, विचक्षण, बहुश्रुत, जिन-प्रवचन की प्रभावना में दक्ष तथा कम से कम आचारांग एवं निशीथसूत्र को अर्थ सहित धारण करने वाला हो, उसे उपाध्याय पद पर नियुक्त किया जा सकता है।

जो भिक्षु तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला हो, किन्तु उक्त गुणसम्पन्न न हो तो उसे उपाध्याय पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता।

५-६ उपाध्याय के योग्य गुणों के सिवाय यदि दीक्षापर्याय पांच वर्ष और अर्थसहित कण्ठस्थ श्रुत में कम से कम आचारांग, सूत्रकृतांग और चार छेदसूत्र हों तो उसे आचार्य पद पर नियुक्त किया जा सकता है तथा वे आठ संपदा आदि से सम्पन्न भी होने चाहिए।

पांच वर्ष की दीक्षापर्याय वाला भिक्षु उक्त गुणों से सम्पन्न न हो तो उसे आचार्य पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता है।

७-८ उपर्युक्त गुणसम्पन्न एवं कम से कम आठ वर्ष की दीक्षापर्याय वाला तथा पूर्वोक्त आगमों सहित ठाणांग-समवायांगसूत्र को कण्ठस्थ धारण करने वाला भिक्षु गणावच्छेदक पद पर नियुक्त किया जा सकता है।

आठ वर्ष की दीक्षापर्याय वाला उक्त गुणसम्पन्न न हो तो उसे गणावच्छेदक पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता है।

९-१० किसी विशेष परिस्थिति में अन्य गुणों से सम्पन्न योग्य भिक्षु हो तो उसे आवश्यक दीक्षापर्याय और श्रुत कंठस्थ न हो तो भी आचार्य उपाध्याय पद पर नियुक्त किया जा सकता है। गच्छ में अन्य किसी भिक्षु के योग्य न होने पर एवं अत्यन्त आवश्यक हो जाने पर ही यह विधान समझना चाहिए। इस विधान से 'नवदीक्षित' भिक्षु को उसी दिन आचार्य बनाया जा सकता है।

११-१२ चालीस वर्ष की उम्र से कम उम्र वाले एवं तीन वर्ष की दीक्षापर्याय से कम संयम वाले साधु-साध्वियों को आचार्य उपाध्याय की निश्रा बिना स्वतन्त्र विचरण करना या रहना नहीं कल्पता है तथा इन साधुओं को आचार्य और उपाध्याय से रहित गच्छ में नहीं रहना चाहिए और साध्वियों को आचार्य उपाध्याय एवं प्रवर्तिनी इन तीन से रहित गच्छ में नहीं रहना चाहिए। इनमें से किसी के कालधर्म प्राप्त हो जाने पर भी उस पद पर अन्य को नियुक्त करना आवश्यक है।

१३-१७ आचार्यादि पद पर नियुक्त भिक्षु का चतुर्थ व्रत भंग हो जाए तो उसे आजीवन सभी पद के अयोग्य घोषित कर दिया जाता है।

पद त्याग करके चतुर्थ व्रत भंग करने पर या सामान्य भिक्षु के द्वारा चतुर्थ व्रत भंग करने पर वह तीन वर्ष के बाद योग्य हो तो किसी भी पद पर नियुक्त किया जा सकता है।

सूत्र १८-२२ यदि पदवीधर किसी अन्य को पद पर नियुक्त किये बिना संयम छोड़कर चला जाय तो उसे पुनः दीक्षा अंगीकार करने पर कोई पद नहीं दिया जा सकता । यदि कोई अपना पद अन्य को सौप कर जावे या सामान्य भिक्षु संयम त्याग कर जावे तो पुनः दीक्षा लेने के बाद योग्य हो तो उसे तीन वर्ष के बाद कोई भी पद यथायोग्य समय पर दिया जा सकता है ।

२३-२९ बहुश्रुत भिक्षु या आचार्य आदि प्रबल कारण से अनेक बार झूठ-कपट-प्रपंच-असत्याक्षेप आदि अपवित्र पापकारी कार्य करे या अनेक भिक्षु, आचार्य आदि मिलाकर ऐसा कृत्य करें तो वे जीवन भर के लिए सभी प्रकार की पदवियों के अयोग्य हो जाते हैं और इसमें अन्य कोई विकल्प नहीं है ।

उपसंहार

इस उद्देशक में—

१-२ प्रमुख बनकर विचरण करने के कल्प्याकल्प्य का,
३-८ पद देने के योग्यायोग्य का,
९-१० परिस्थितिवश अल्प योग्यता में पद देने का,
११ आचार्य, उपाध्याय दो के नेतृत्व में तरुण या नवदीक्षित साधुओं को रहने का,
१२ आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तिनी इन तीन के नेतृत्व में तरुण या नवदीक्षित साध्वियों के रहने का,
१३-१७ चतुर्थव्रत भंग करने वालों को पद देने के विधि-निषेध का,
१८-२२ संयम त्याग कर पुनः दीक्षा लेने वालों को पद देने के विधि-निषेध का,
२३-२९ झूठ-कपट-प्रपंच आदि करने वालों को पद देने के सर्वथा निषेध का,
इत्यादि विषयों का वर्णन किया गया ।

॥ तीसरा उद्देशक समाप्त ॥

चौथा उद्देशक

आचार्यादि के साथ रहने वाले निर्ग्रन्थों की संख्या

१. नो कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स एगाणियस्स हेमन्त-गिम्हासु चारए।

२. कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स अप्पबिइयस्स हेमन्त-गिम्हासु चारए।

३. नो कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पबिइयस्स हेमन्त-गिम्हासु चारए।

४. कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पतइयस्स हेमन्त-गिम्हासु चारए।

५. नो कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स अप्पबिइयस्स वासावासं वत्थए।

६. कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स अप्पतइयस्स वासावासं वत्थए।

७. नो कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पतइयस्स वासावासं वत्थए।

८. कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पचउत्थस्स वासावासं वत्थए।

९. से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा बहूणं आयरिय-उवज्झायाणं अप्पबिइयाणं, बहूणं गणावच्छेइयाणं अप्पतइयाणं कप्पइ हेमंत-गिम्हासु चारए, अन्नमन्नं निस्साए।

१०. से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा बहूणं आयरिय-उवज्झायाणं अप्पतइयाणं, बहूणं गणावच्छेइयाणं अप्पचउत्थाणं कप्पइ वासावासं वत्थए अन्नमन्नं निस्साए।

१. हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में आचार्य या उपाध्याय को अकेला विहार करना नहीं कल्पता है।

२. हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में आचार्य या उपाध्याय को एक साधु को साथ लेकर विहार करना कल्पता है।

३. हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में गणावच्छेदक को एक साधु के साथ विहार करना नहीं कल्पता है।

४. हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में गणावच्छेदक को दो अन्य साधुओं को साथ लेकर विहार करना कल्पता है।

५. वर्षावास में आचार्य या उपाध्याय को एक साधु के साथ रहना नहीं कल्पता है।

६. वर्षाकाल में आचार्य या उपाध्याय को अन्य दो साधुओं के साथ रहना कल्पता है।

७. वर्षाकाल में गणावच्छेदक को दो साधुओं के साथ रहना नहीं कल्पता है।

८. वर्षाकाल में गणावच्छेदक को अन्य तीन साधुओं के साथ रहना कल्पता है।

९. हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में अनेक आचार्यों या उपाध्यायों को ग्राम यावत् राजधानी में अपनी-अपनी नेश्राय में एक-एक साधु को और अनेक गणावच्छेदकों को दो-दो साधुओं को रखकर विहार करना कल्पता है।

१०. वर्षाऋतु में अनेक आचार्यों या उपाध्यायों को ग्राम यावत् राजधानी में अपनी-अपनी नेश्राय में दो-दो साधुओं को और अनेक गणावच्छेदकों को तीन-तीन साधुओं को रखकर रहना कल्पता है।

विवेचन—इन सूत्रों में आचार्य, उपाध्याय एवं गणावच्छेदक के विचरण एवं चातुर्मास-निवास सम्बन्धी विधान किया गया है। प्रवर्तक, स्थविर आदि अन्य पदवीधर या सामान्य भिक्षुओं के लिये यहां विधान नहीं किया गया है। अन्य आगमों में इन के लिए ऐसा कोई विधान नहीं है। केवल अव्यक्त या अपरिपक्व भिक्षु को स्वतन्त्र विचरण करने का निषेध किया गया है एवं उसके स्वतन्त्र विचरण का दुष्परिणाम बताकर गुरु के सान्निध्य में विचरण करने का विधान आचा. श्रु. १ अ. ५ उ. ४ तथा सूय. श्रु. १ अ. १४ गा. ३-४ में किया गया है।

व्यक्त, परिपक्व एवं गीतार्थ भिक्षु के लिए कोई एकांत नियम आगम नहीं है, अपितु अनेक प्रकार के अभिग्रह, प्रतिमाएं, जिनकल्प, संभोग-प्रत्याख्यान, सहाय-प्रत्याख्यान आदि तथा परिस्थिति-वश संयमसमाधि या चित्तसमाधि के लिए एकलविहार का विधान किया गया है एवं भिक्षु के द्वितीय मनोरथ में भी निवृत्त होकर अकेले विचरण करने की इच्छा रखने का विधान है।

यहां तथा अन्यत्र आचार्य-उपाध्याय इन दो पदों का जो एक साथ कथन किया गया है, इसका तात्पर्य यह है कि ये दोनों गच्छ में बाह्य-आभ्यन्तर ऋद्धिसम्पन्न होते हैं तथा इन दोनों पदवीधरों का प्रत्येक गच्छ में होना नितान्त आवश्यक भी है, ऐसा आगमविधान है। अर्थात् इन दो के बिना किसी गच्छ का या साधुसमुदाय का विचरण करना आगमानुसार उचित नहीं है।

विशाल गच्छों में गणावच्छेदक पद भी आवश्यक होता है, किन्तु आचार्य-उपाध्याय के समान प्रत्येक गच्छ में अनिवार्य नहीं है। अतः यहां उनके लिए विधान करने वाले सूत्र अलग कहे हैं।

इन सूत्रों के विधानानुसार ये तीनों पदवीधर कभी भी अकेले नहीं विचर सकते और चातुर्मास भी नहीं कर सकते, किन्तु कम से कम एक या अनेक साधुओं को साथ रखना इन्हें आवश्यक होता है। साथ रखे जाने वाले उन साधुओं की मर्यादा इस प्रकार है—

आचार्य-उपाध्याय हेमन्त ग्रीष्म ऋतु में कम से कम एक साधु को साथ रखते हुए अर्थात् दो ठाणा से विचरण कर सकते हैं और अन्य दो साधु को साथ रखकर कुल तीन ठाणा से चातुर्मास कर सकते हैं। इससे यह नियम फलित हो जाता है कि वे कभी भी अकेले विहार नहीं कर सकते और एक साधु को साथ लेकर केवल दो ठाणा से चातुर्मास भी नहीं कर सकते।

नववें-दसवें सूत्र में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जहां हेमन्त ग्रीष्म ऋतु में या चातुर्मास में अनेक आचार्य-उपाध्याय साथ में हों तो भी प्रत्येक आचार्य-उपाध्याय की अपनी-अपनी निश्रा में सूत्र में कहे अनुसार सन्त साथ में होना आवश्यक है, अर्थात् एक आचार्य-उपाध्याय के निश्रागत साधुओं से अन्य आचार्य-उपाध्याय को रहना नहीं कल्पता है। इससे यह फलित होता है कि अन्य किसी साधु के बिना केवल २-३ आचार्य-उपाध्याय ही साथ में रहना चाहें तो नहीं रह सकते हैं या आवश्यक साधुओं से कम साधु साथ रखकर भी अनेक आचार्य-उपाध्याय साथ में नहीं रह सकते और रहने पर सूत्रोक्त मर्यादा का उल्लंघन होता है।

गणावच्छेदक हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में कम से कम दो साधुओं को साथ रखकर कुल तीन ठाणा से विचरण कर सकते हैं और अन्य तीन साधुओं को साथ लेकर कुल चार ठाणा से चातुर्मास कर सकते हैं। इससे कम साधुओं से रहना गणावच्छेदक के लिए निषिद्ध है। अतः वे दो ठाणा से विचरण नहीं कर सकते और तीन ठाणा से चातुर्मास नहीं कर सकते।

नववें एवं दसवें सूत्र के अनुसार अनेक गणावच्छेदक साथ हो जाएं तो भी उन्हें अपनी-अपनी निश्रा में ऊपर कही गई संख्या के सन्तों को रखना आवश्यक है। वे अन्य गणावच्छेदक आदि को या उनके साथ रहे सन्तों को अपनी निश्रा में गिनकर नहीं रह सकते एवं स्वयं को भी अन्य की निश्रा में गिनकर नहीं रह सकते।

ये तीनों पदवीधर कोई प्रतिमाएं या अभिग्रह धारण कर स्वतन्त्र एकाकी विचरण करना चाहें अथवा अन्य विशेष परिस्थितियों से विवश होकर एकाकी विचरण करना चाहें तो उन्हें अपने आचार्य आदि पद का त्याग करना आवश्यक हो जाता है तथा अन्य किसी को उस पद पर नियुक्त करना भी आवश्यक होता है।

आचार्य-उपाध्याय संघ के प्रतिष्ठित पदवीधर होते हैं। इनका एकाकी विचरण एवं दो ठाणा से चातुर्मास करना संघ के लिए शोभाजनक नहीं होता है।

यद्यपि गणावच्छेदक आचार्य के नेतृत्व में कार्यवाहक पद है, तथापि इनके साथ के साधुओं की संख्या आचार्य से अधिक कही गई है। इसका कारण यह है कि इनका कार्यक्षेत्र अधिक होता है। सेवा, व्यवस्था आदि कार्यों में अधिक साधु साथ में हों तो उन्हें सुविधा रहती है।

सूत्र में निर्दिष्ट संख्या से अधिक साधुओं के रहने का निषेध नहीं समझना चाहिए। संयम की सुविधानुसार अधिक सन्त भी साथ रहना चाहें तो रह सकते हैं। किन्तु अधिक सन्तों के साथ रहने में संयम की क्षति अर्थात् एषणासमिति एवं परिष्ठापनिकासमिति आदि भंग होती हो तो अल्प सन्तों से विचरण करना चाहिए।

अग्रणी साधु के काल करने पर शेष साधुओं का कर्तव्य

११. गामाणुगामं दूइज्जमाणे भिक्खू य जं पुरओ कट्टु विहरइ, से य आहच्च वीसुंभेज्जा, अत्थि य इत्थ अन्ने केइ उवसंपज्जणारिहे से उवसंपज्जियव्वे।

नत्थि य इत्थ अन्ने केइ उवसंपज्जणारिहे तस्स य अप्पणो कप्पाए असमत्ते कप्पइ एगराइयाए पडिमाए जन्नं-जन्नं दिसं अन्ने साहम्मिया विहरंति तन्नं-तन्नं दिसं उवलित्तए।

नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए।

कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए।

तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा—"वसाहि अज्जो ! एगरायं वा, दुरायं वा", एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए। नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए। जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा।

१२. वासावासं पज्जोसविओ भिक्खू जं पुरओ कट्टु विहरइ से य आहच्च वीसुंभेज्जा, अत्थि य इत्थ अण्णे केइ उवसंपज्जणारिहे से उवसंपज्जियव्वे।

नत्थि य इत्थ अण्णे केइ उवसंपज्जणारिहे तस्स य अप्पणो कप्पाए असमत्ते कप्पइ से एगराइयाए पडिमाए जण्णं-जण्णं दिसं अण्णे साहम्मिया विहरंति तण्णं-तण्णं दिसं उवलित्तए।

नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए।

कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए।

तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा—"वसाहि अज्जो ! एगरायं वा, दुरायं वा" एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए।

जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा।

११. ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ भिक्षु, जिनको अग्रणी मानकर विहार कर रहा हो और वह यदि कालधर्म-प्राप्त हो जाय तो शेष भिक्षुओं में जो भिक्षु योग्य हो, उसे अग्रणी बनाना चाहिए।

यदि अन्य कोई भिक्षु अग्रणी होने योग्य न हो और स्वयं (रत्नाधिक) ने भी आचारप्रकल्प का अध्ययन पूर्ण न किया हो तो उसे मार्ग में विश्राम के लिए एक रात्रि ठहरते हुए जिस दिशा में अन्य स्वधर्मी विचरते हों, उस दिशा में जाना कल्पता है।

मार्ग मे उसे विचरने के लक्ष्य से ठहरना नही कल्पता है।

यदि रोगादि का कारण हो तो अधिक ठहरना कल्पता है।

रोगादि के समाप्त होने पर यदि कोई कहे कि—"हे आर्य ! एक या दो रात और ठहरो" तो उसे एक या दो रात ठहरना कल्पता है, किन्तु एक या दो रात से अधिक ठहरना नहीं कल्पता है। जो भिक्षु वहां (कारण समाप्त होने के बाद) एक या दो रात से अधिक ठहरता है, वह मर्यादा उल्लंघन के कारण दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

१२. वर्षावास में रहा हुआ भिक्षु, जिनको अग्रणी मानकर रह रहा हो और वह यदि कालधर्म-प्राप्त हो जाय तो शेष भिक्षुओं में जो भिक्षु योग्य हो उसे अग्रणी बनाना चाहिये।

यदि अन्य कोई भिक्षु अग्रणी होने योग्य न हो और स्वयं (रत्नाधिक) ने भी निशीथ आदि का अध्ययन पूर्ण न किया हो तो उसे मार्ग में विश्राम के लिए एक-एक रात्रि ठहरते हुए जिस दिशा में अन्य स्वधर्मी हों उस दिशा में जाना कल्पता है।

मार्ग में उसे विचरने के लक्ष्य से ठहरना नहीं कल्पता है।

यदि रोगादि का कारण हो तो अधिक ठहरना कल्पता है।

रोगादि के समाप्त होने पर यदि कोई कहे कि—"हे आर्य ! एक या दो रात ठहरो" तो उसे एक या दो रात और ठहरना कल्पता है। किन्तु एक या दो रात से अधिक ठहरना नहीं कल्पता है।

जो भिक्षु एक या दो रात से अधिक ठहरता है, वह मर्यादा-उल्लंघन के कारण दीक्षाछेद या तपरूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विवेचन—विचरण या चातुर्मास करने वाले भिक्षुओं में एक कल्पाक अर्थात् संघाड़ा-प्रमुख होना आवश्यक है। जिसके लिए उद्देशक ३ सू. १ में गणधारण करने वाला अर्थात् गणधर कहा है तथा उसे श्रुत एवं दीक्षापर्याय से संपन्न होना आवश्यक कहा गया है।

अतः तीन वर्ष की दीक्षापर्याय और आचारांगसूत्र एवं निशीथसूत्र को कण्ठस्थ धारण करने वाला ही गण धारण कर सकता है। शेष भिक्षु उसको प्रमुख मानकर उसकी आज्ञा में रहते हैं।

उस प्रमुख के सिवाय उस संघाटक में अन्य भी एक या अनेक संघाड़ा-प्रमुख होने के योग्य हो सकते हैं अर्थात् वे अधिक दीक्षापर्याय एवं पर्याप्त श्रुत धारण करने वाले हो सकते हैं।

कभी एक प्रमुख के अतिरिक्त सभी साधु अगीतार्थ या नवदीक्षित ही हो सकते हैं।

विचरण या चातुर्मास करने वाले संघाटक का प्रमुख भिक्षु यदि कालधर्म को प्राप्त हो जाय तो शेष साधुओं में से रत्नाधिक भिक्षु प्रमुख पद स्वीकार करे। यदि वह स्वयं श्रुत से संपन्न न हो तो अन्य योग्य को प्रमुख पद पर स्थापित करे।

यदि शेष रहे साधुओं में एक भी प्रमुख होने योग्य न हो तो उन्हें चातुर्मास में रहना या विचरण करना नहीं कल्पता है, किन्तु जिस दिशा में अन्य योग्य सार्धमिक भिक्षु निकट हों, उनके समीप में पहुंच जाना चाहिये। ऐसी स्थिति में चातुर्मास में भी विहार करना आवश्यक हो जाता है तथा हेमंत ग्रीष्म ऋतु में भी अधिक रहने की स्वीकृति दे दी हो तो भी वहां से विहार करना आवश्यक हो जाता है।

जब तक अन्य सार्धमिक भिक्षुओं के पास न पहुंचे तब तक मार्ग में एक दिन की विश्रांति लेने के अतिरिक्त कहीं पर भी अधिक रुकना उन्हें नहीं कल्पता है।

किसी को कोई शारीरिक व्याधि हो जाय तो उपचार के लिए ठहरा जा सकता है। व्याधि समाप्त होने के बाद संघ आदि के कहने से १-२ दिन और भी ठहर सकता है। स्वस्थ होने के बाद दो दिन से अधिक ठहरने पर यथायोग्य प्रायश्चित्त आता है।

इन सूत्रों के प्रतिपाद्य विषय का सार यह है कि योग्य शिष्य को आवश्यकसूत्र-अध्ययन (आचारप्रकल्प आदि) शीघ्र अर्थसहित कंठस्थ धारण कर लेना चाहिए, क्योंकि उसके अपूर्ण रहने पर वह भिक्षु गण (संघाटक) का प्रमुख नहीं हो सकता एवं प्रमुख के कालधर्म प्राप्त हो जाने पर चातुर्मास में भी उसे विहार करना आवश्यक हो जाता है और एक भी दिन वह कहीं विचरण के मार्ग में या किसी की निश्रा के बिना नहीं रह सकता है। किन्तु यदि उक्त श्रुत पूर्ण कर लिया हो तो वह भिक्षु कभी भी गुणसंपन्न प्रमुख पद धारण कर सकता है। स्वतंत्र विचरण एवं चातुर्मास भी कर सकता है।

इसलिए प्रत्येक साधु-साध्वी को आगमोक्त क्रम से श्रुत-अध्ययन का प्रमुख लक्ष्य रखना चाहिए।

ग्लान आचार्यादि के द्वारा पद देने का निर्देश

१३. आयरिय-उवज्झाए गिलायमाणे अन्नयरं वएज्जा-"अज्जो! ममंसि णं कालगयंसि समाणंसि अयं समुक्कसियव्वे।"

से य समुक्कसणारिहे समुक्कसियव्वे,
से य नो समुक्कसणारिहे नो समुक्कसियव्वे,
अत्थि य इत्थ अण्णे केइ समुक्कसणारिहे से समुक्कसियव्वे।
नत्थि य इत्थ अण्णे केइ समुक्कसणारिहे से चेव समुक्कसियव्वे,
तंसि च णं समुक्किट्ठंसि परो वएज्जा—
"दुस्समुक्किट्ठं ते अज्जो! निक्खिवाहि!"
तस्स णं निक्खिवमाणस्स नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा।
जे साहम्मिया अहाकप्पेणं नो उट्ठाए विहरंति सव्वेसिं तेसिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा।

१३. रोगग्रस्त आचार्य या उपाध्याय किसी प्रमुख साधु से कहे कि—"हे आर्य! मेरे कालगत होने पर अमुक साधु को मेरे पद पर स्थापित करना।"

यदि आचार्य द्वारा निर्दिष्ट वह भिक्षु उस पद पर स्थापन करने योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिए।

यदि वह उस पद पर स्थापन करने योग्य न हो तो उसे स्थापित नहीं करना चाहिए।

यदि संघ में अन्य कोई साधु उस पद के योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिए।

यदि संघ में अन्य कोई भी साधु उस पद के योग्य न हो तो आचार्य-निर्दिष्ट साधु को ही उस पद पर स्थापित करना चाहिए।

उसको उस पद पर स्थापित करने के बाद कोई गीतार्थ साधु कहे कि—"हे आर्य! तुम इस पद के अयोग्य हो अतः इस पद को छोड़ दो" (ऐसा कहने पर) यदि वह उस पद को छोड़ दे तो दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त का पात्र नहीं होता है।

जो साधर्मिक साधु कल्प के अनुसार उसे आचार्यादि पद छोड़ने के लिए न कहे तो वे सभी साधर्मिक साधु उक्त कारण से दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

विवेचन—तीसरे उद्देशक में आचार्य-उपाध्याय पद के योग्य भिक्षु के गुणों का विस्तृत कथन किया गया है। यहां पर रुग्ण आचार्य-उपाध्याय अपना अन्तिम समय समीप जान कर आचार्य-उपाध्याय पद के लिए किसी साधु का नाम निर्देश करें तो उस समय स्थविरों का क्या कर्तव्य है, इसका स्पष्टीकरण किया गया है।

रुग्ण आचार्य ने आचार्य बनाने के लिए जिस के नाम का निर्देश किया है, वह योग्य भी हो सकता है और अयोग्य भी हो सकता है अर्थात् उनका कथन रुग्ण होने के कारण या भाव के कारण संकुचित दृष्टिकोण वाला भी हो सकता है।

अतः उनके कालधर्म प्राप्त हो जाने पर "आचार्य या उपाध्याय पद किसको देना"—इसके निर्णय की जिम्मेदारी गच्छ के शेष साधुओं की कही गई है। जिसका भाव यह है कि यदि आचार्य-निर्दिष्ट भिक्षु तीसरे उद्देशक में कही गई सभी योग्यताओं से युक्त है तो उसे ही पद पर नियुक्त करना चाहिए, दूसरा कोई विकल्प आवश्यक नहीं है।

यदि वह शास्त्रोक्त योग्यता से संपन्न नहीं है और अन्य भिक्षु योग्य है तो आचार्यनिर्दिष्ट भिक्षु को पद देना अनिवार्य न समझ कर उस योग्य भिक्षु को ही पद पर नियुक्त करना चाहिए।

यदि अन्य कोई भी योग्य नहीं है तो आचार्यनिर्दिष्ट भिक्षु योग्य हो अथवा योग्य न हो, उसे ही आचार्यपद पर नियुक्त करना चाहिए।

अन्य अनेक भिक्षु भी पद के योग्य हैं और वे आचार्यनिर्दिष्ट भिक्षु से रत्नाधिक भी हैं किन्तु यदि आचार्यनिर्दिष्ट भिक्षु योग्य है तो उसे ही आचार्य बनाना चाहिये।

आचार्यनिर्दिष्ट या अनिर्दिष्ट किसी भी योग्य भिक्षु को अथवा कभी परिस्थितिवश अल्प योग्यता वाले भिक्षु को पद पर नियुक्त करने के बाद यदि यह अनुभव हो कि गच्छ की व्यवस्था अच्छी तरह नहीं चल रही है, साधुओं की संयम समाधि एवं बाह्य वातावरण क्षुब्ध हो रहा है, गच्छ में अन्य योग्य भिक्षु तैयार हो गये हैं तो गच्छ के स्थविर या प्रमुख साधु-साध्वियां आदि मिलकर आचार्य को पद त्यागने के लिये निवेदन करके अन्य योग्य को पद पर नियुक्त कर सकते हैं।

ऐसी स्थिति में यदि वे पद त्यागना न चाहें या अन्य कोई साधु उनका पक्ष लेकर आग्रह करे तो वे सभी प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

इस सूत्रोक्त आगम-आज्ञा को भलीभांति समझकर सरलतापूर्वक पद देना, लेना या छोड़ने के लिए निवेदन करना आदि प्रवृत्तियां करनी चाहिये तथा अन्य सभी साधु-साध्वियों को भी प्रमुख स्थविर संतों को सहयोग देना चाहिए, किन्तु अपने-अपने विचारों की सिद्धि के लिये निन्दा, द्वेष, कलह या संघभेद आदि अनुचित तरीकों से पद छुड़ाना या पद-आचार्यों से प्राप्त करने की कोशिश करना उचित नहीं है।

गच्छ-भार संभालने वाले पूर्व के आचार्य का तथा गच्छ के अन्य प्रमुख स्थविर संतों का यह कर्तव्य है कि वे निष्पक्ष भाव से तथा विशाल दृष्टि से गच्छ एवं जिनशासन का हित सोचकर आगम-निर्दिष्ट गुणों से सम्पन्न भिक्षु को ही पद पर नियुक्त करें।

कई साधु स्वयं ही आचार्य बनने का संकल्प कर लेते हैं, वे ही सभी अशांति एवं क्लेश की स्थिति पैदा करते हैं या करवाते हैं, किन्तु मोक्ष की साधना के लिए संयमरत भिक्षु को सम-परिणामयुक्त निर्वेद रहकर एकत्व आदि भावना में तल्लीन रहना चाहिये। किसी भी पद की चाहना करना या पद के लिए लालायित रहना भी संयम का दूषण है। इस चाहना से बाह्य ऋद्धि की इच्छा होने से इसका समावेश लोभ नामक पाप में होता है तथा उस इच्छा की पूर्ति में अनेक प्रकार के संकल्पविकल्प, संगठन एवं कुटिलनीति आदि का अवलंबन भी लिया जाता है, जिससे संयम की हानि एवं विराधना होती है। साथ ही मानकषाय की अत्यधिक पुष्टि होती है।

निशीथ उद्दे. १७ में अपने आचार्यत्व के सूचक लक्षणों को प्रकट करने वाले को प्रायश्चित्त का पात्र कहा गया है।

अतः संयमसाधना में लीन गुणसंपन्न भिक्षु को यदि आचार्य या अन्य गच्छप्रमुख स्थविर ही गच्छभार सम्भालने के लिए कहे या आज्ञा दें तो अपनी क्षमता का एवं अवसर का विचार कर उसे स्वीकार करना चाहिए किन्तु स्वयं ही आचार्यपदप्राप्ति के लिये संकल्पबद्ध होना एवं न मिलने पर गण का त्याग कर देना आदि सर्वथा अनुचित है।

इस प्रकार इस सूत्र में निर्दिष्ट सम्पूर्ण सूचनाओं को समझ कर सूत्रनिर्दिष्ट विधि से पद प्रदान करना चाहिए और इससे विपरीत अन्य अयोग्य एवं अनुचित मार्ग स्वीकार नहीं करना चाहिए।

इस सूत्र से यह भी स्पष्ट होता है कि स्याद्वाद सिद्धांत वाले वीतरागमार्ग में विनयव्यवहार एवं आज्ञापालन में भी अनेकांतिक विधान हैं, अर्थात् विनय के नाम से केवल "बाबावाक्यं प्रमाणम्" का निर्देश नहीं है। इसी कारण आचार्य द्वारा निर्दिष्ट या अनिर्दिष्ट भिक्षु की योग्यता-अयोग्यता की विचारणा एवं नियुक्ति का अधिकार सूचित किया गया है।

ऐसे आगमविधानों के होते हुये भी परम्परा के आग्रह से या "बाबावाक्यं प्रमाणम्" की उक्ति चरितार्थ कर के आगमविपरीत प्रवृत्ति करना अथवा भद्रिक एवं अकुशल सर्वरत्नाधिक साधुओं को गच्छप्रमुख रूप में स्वीकार कर लेना गच्छ एवं जिनशासन के सर्वतोमुखी पतन का ही मार्ग है।

अतः स्याद्वादमार्ग को प्राप्त करके आगमविपरीत परंपरा एवं निर्णय को प्रमुखता न देकर सदा जिनाज्ञा एवं शास्त्राज्ञा को ही प्रमुखता देनी चाहिये।

संयम त्याग कर जाने वाले आचार्यादि के द्वारा पद देने का निर्देश

१४. आयरिय-उवज्झाए ओहायमाणे अन्नयरं वएज्जा—"अज्जो! ममंसि णं ओहावियंसि समाणंसि अयं समुक्कसियव्वे।" से य समुक्कसणारिहे समुक्कसियव्वे, से य नो समुक्कसणारिहे नो समुक्कसियव्वे। अत्थि [illegible] इत्थ अण्णे केइ समुक्कसणारिहे से समुक्कसियव्वे।

तं सि च णं समुक्किट्ठंसि परो वएज्जा—"दुस्समुक्किट्ठं ते अज्जो! निक्खिवाहि।" तस्स णं निक्खिवमाणस्स नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा। जे साहम्मिया अहाकप्पेणं नो उट्ठाए विहरंति। सव्वेसिं तेसिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा।

१४. संयम का परित्याग करके जाने वाले आचार्य या उपाध्याय किसी प्रमुख साधु से कहें कि "हे आर्य मेरे चले जाने पर अमुक साधु को मेरे पद पर स्थापित करना।" तो यदि आचार्यनिर्दिष्ट वह साधु उस पद पर स्थापन करने योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिये। यदि वह उस पद पर स्थापित करने योग्य न हो तो उसे स्थापित नहीं करना चाहिये। यदि संघ में अन्य कोई साधु उस पद के योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिये। यदि संघ में अन्य कोई भी साधु उस पद के योग्य न हो तो आचार्यनिर्दिष्ट साधु को ही उस पद पर स्थापित करना चाहिये।

उस को उस पद पर स्थापित करने के बाद यदि गीतार्थ साधु कहें कि—

"हे आर्य! तुम इस पद के अयोग्य हो, अतः [illegible] को छोड़ दो" (ऐसा कहने पर) [illegible]

वह उस पद को छोड़ दे तो दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त का पात्र नहीं होता है। जो साधर्मिक साधु कल्प के अनुसार उसे आचार्यादि पद छोड़ने के लिए न कहें तो वे सभी साधर्मिक साधु उक्त कारण से दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

विवेचन—*पूर्व सूत्र में रुग्ण या मरणासन्न आचार्य-उपाध्याय ने किसी भिक्षु को आचार्यादि* देने का सूचन किया हो तो उनके कथन का विवेकपूर्वक आचरण करना आगमानुसार उचित माना गया है। इस सूत्र में भी वही विधान है। *अन्तर यह है कि यहां द्रव्य एवं भाव से संयम का परित्याग* करने के इच्छुक आचार्य-उपाध्याय का वर्णन है।

शरीर अस्वस्थ होने से, वैराग्य की भावना मंद हो जाने से, वेदमोहनीय के प्रबल उदय से या अन्य परीषह उपसर्ग से संयम त्यागने का संकल्प उत्पन्न हो सकता है। उसका निवारण न होने से सामान्य भिक्षु या पदवीधरों के लिए भी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है। इस परिस्थिति का एवं उसके विवेक का वर्णन उद्दे. ३ सू. २८ में देखें। अन्य सम्पूर्ण विवेचन पूर्वसूत्र १३ के अनुसार समझ लेना चाहिये।

उपस्थापन के विधान

१५. आयरिय-उवज्झाए सरमाणे परं चउराय-पंचरायाओ कप्पागं भिक्खुं नो उवट्ठावेइ कप्पाए, अत्थियाइं से केइ माणणिज्जे कप्पाए नत्थि से केइ छेए वा परिहारे वा।

नत्थियाइं से केइ माणणिज्जे कप्पाए से सन्तरा छेए वा परिहारे वा।

१६. आयरिय-उवज्झाए असरमाणे परं चउराय-पंचरायाओ कप्पागं भिक्खुं नो उवट्ठावेइ कप्पाए, अत्थियाइं से केइ माणणिज्जे कप्पाए, नत्थि से केई छेए वा परिहारे वा।

नत्थियाइं से केइ माणणिज्जे कप्पाए, से संतरा छेए वा परिहारे वा।

१७. आयरिय-उवज्झाए सरमाणे वा असरमाणे वा परं दसराय कप्पाओ कप्पागं भिक्खुं नो उवट्ठावेइ कप्पाए, अत्थियाइं से केइ माणणिज्जे कप्पाए नत्थि से केइ छेए वा परिहारे वा।

१५. आचार्य या उपाध्याय स्मरण होते हुए भी बड़ीदीक्षा के योग्य भिक्षु को चार-पांच रात के बाद भी बड़ीदीक्षा में उपस्थापित न करे और उस समय यदि उस नवदीक्षित के कोई पूज्य पुरुष को बड़ीदीक्षा होने में देर हो तो उन्हें दीक्षाछेद या तप रूप कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है।

यदि उस नवदीक्षित के बड़ीदीक्षा लेने योग्य कोई पूज्य पुरुष न हो तो उन्हें चार-पांच रात्रि उल्लंघन करने का छेद या तप रूप प्रायश्चित्त आता है।

१६. आचार्य या उपाध्याय स्मृति में न रहने से बड़ीदीक्षा के योग्य भिक्षु को चार-पांच रात के बाद भी बड़ीदीक्षा में उपस्थापित न करे, उस समय यदि वहां उस नवदीक्षित के कोई पूज्य पुरुष की बड़ी दीक्षा होने में देर हो तो उन्हें दीक्षाछेद या तप रूप कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है।

यदि उस नवदीक्षित के बड़ीदीक्षा लेने योग्य कोई पूज्य पुरुष न हो तो उन्हें चार-पांच रात्रि उल्लंघन करने का दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त आता है।

१७. आचार्य या उपाध्याय स्मृति मे रहते हुए या स्मृति में न रहते हुए भी वड़ीदीक्षा के योग्य भिक्षु को दस दिन के बाद वड़ी दीक्षा में उपस्थापित न करे, उस समय यदि उस नवदीक्षित के कोई पूज्य पुरुष की वड़ीदीक्षा होने में देर हो तो उन्हें दीक्षाछेद या तप रूप कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है।

यदि उस नवदीक्षित के वड़ीदीक्षा के योग्य कोई पूज्य पुरुष न हो तो उन्हें दस रात्रि उल्लंघन करने के कारण एक वर्ष तक आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद पर नियुक्त करना नहीं कल्पता है।

विवेचन—प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर के शासन में भिक्षुओं को सामायिकचारित्र रूप दीक्षा देने के बाद छेदोपस्थापनीयचारित्र रूप वड़ीदीक्षा दी जाती है। उसकी जघन्य कालमर्यादा सात अहोरात्र की है अर्थात् काल की अपेक्षा नवदीक्षित भिक्षु सात रात्रि के बाद कल्पाक (वड़ीदीक्षा के योग्य) कहा जाता है और गुण की अपेक्षा आवश्यकसूत्र सम्पूर्ण अर्थ एवं विधि सहित कंठस्थ कर लेने पर, जीवादि का एव समितियों का सामान्य ज्ञान कर लेने पर, दशवैकालिक सूत्र के चार अध्ययन की अर्थ सहित वाचना लेकर कंठस्थ कर लेने पर एवं प्रतिलेखन आदि दैनिक क्रियाओं का कुछ अभ्यास कर लेने पर 'कल्पाक' कहा जाता है।

इस प्रकार कल्पाक (वड़ीदीक्षायोग्य) होने पर एवं अन्य परीक्षण हो जाने पर उस नवदीक्षित भिक्षु को वड़ीदीक्षा (उपस्थापना) दी जाती है। योग्यता के पूर्व वड़ीदीक्षा देने पर *नि. उ. ११ सू. ८४ के अनुसार प्रायश्चित्त आता है।*

उक्त योग्यतासंपन्न कल्पाक भिक्षु को सूत्रोक्त समय पर वड़ीदीक्षा न देने पर आचार्य-उपाध्याय को प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रायश्चित्तविधान से यह स्पष्ट होता है कि किसी को नई दीक्षा या वड़ीदीक्षा देने का अधिकार आचार्य या उपाध्याय को ही होता है एवं उसमे किसी प्रकार की त्रुटि होने पर प्रायश्चित्त भी उन्हें ही आता है।

अन्य साधु, साध्वी या प्रवर्तक, प्रवर्तिनी भी आचार्य-उपाध्याय की आज्ञा से किसी को दीक्षा दे सकते हैं किन्तु उसकी योग्यता के निर्णय की मुख्य जिम्मेदारी आचार्य-उपाध्याय की ही होती है। सामान्य रूप से तो आगमानुसार प्रवृत्ति करने की जिम्मेदारी सभी साधु-साध्वी की होती ही है, फिर भी गच्छ के व्यवस्था सम्बन्धी निर्देश आचार्य-उपाध्याय के अधिकार में होते हैं। अतः तत्सम्बन्धी विपरीत आचरण होने पर प्रायश्चित्त के पात्र भी वे आचार्यादि ही होते हैं।

यहां इन तीन सूत्रों में वड़ीदीक्षा के निमित्त से तीन विकल्प कहे गये हैं—(१) विस्मरण में मर्यादा-उल्लंघन, (२) स्मृति होते हुए मर्यादा-उल्लंघन, (३) विस्मरण या अविस्मरण से विशेष मर्यादा-उल्लंघन।

काल से एवं गुण से कल्पाक बन जाने पर उस भिक्षु को चार या पांच रात्रि के भीतर अर्थात् चार रात्रि और पांचवें दिन तक वड़ीदीक्षा दी जा सकती है। यह सूत्र में आये "चउराय पंचरायाओ" शब्द का अर्थ है। इस छूट में विहार, शुभ दिन, मासिक धर्म का अस्वाध्याय, रुग्णता आदि अनेक कारण निहित हैं।

वह उस पद को छोड़ दे तो दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त का पात्र नहीं होता है। जो साधर्मिक साधु कल्प के अनुसार उसे आचार्यादि पद छोड़ने के लिए न कहें तो वे सभी साधर्मिक साधु उक्त कारण से दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

विवेचन—पूर्व सूत्र में रुग्ण या मरणासन्न आचार्य-उपाध्याय ने किसी भिक्षु को आचार्यादि देने का सूचन किया हो तो उनके कथन का विवेकपूर्वक आचरण करना आगमानुसार उचित माना गया है। इस सूत्र में भी वही विधान है। अन्तर यह है कि यहां द्रव्य एवं भाव से संयम का परित्याग करने के इच्छुक आचार्य-उपाध्याय का वर्णन है।

शरीर अस्वस्थ होने से, वैराग्य की भावना मंद हो जाने से, वेदमोहनीय के प्रबल उदय से या अन्य परीषह उपसर्ग से संयम त्यागने का संकल्प उत्पन्न हो सकता है। उसका निवारण न होने से सामान्य भिक्षु या पदवीधरों के लिए भी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है। इस परिस्थिति का एवं उसके विवेक का वर्णन उद्दे. ३ सू. २८ में देखें। अन्य सम्पूर्ण विवेचन पूर्वसूत्र १३ के अनुसार समझ लेना चाहिये।

उपस्थापन के विधान

१५. आयरिय-उवज्झाए सरमाणे परं चउराय-पंचरायाओ कप्पागं भिक्खुं नो उवट्ठावेइ कप्पाए, अत्थियाइं से केइ माणणिज्जे कप्पाए नत्थि से केइ छेए वा परिहारे वा।

णत्थियाइं से केइ माणणिज्जे कप्पाए से सन्तरा छेए वा परिहारे वा।

१६. आयरिय-उवज्झाए असरमाणे परं चउराय-पंचरायाओ कप्पागं भिक्खुं नो उवट्ठावेइ कप्पाए, अत्थियाइं से केइ माणणिज्जे कप्पाए, नत्थि से केई छेए वा परिहारे वा।

णत्थियाइं से केइ माणणिज्जे कप्पाए, से संतरा छेए वा परिहारे वा।

१७. आयरिय-उवज्झाए सरमाणे वा असरमाणे वा परं दसराय कप्पाओ कप्पागं भिक्खुं नो उवट्ठावेइ कप्पाए, अत्थियाइं से केइ माणणिज्जे कप्पाए नत्थि से केइ छेए वा परिहारे वा।

१५. आचार्य या उपाध्याय स्मरण होते हुए भी बड़ीदीक्षा के योग्य भिक्षु को चार-पांच रात के बाद भी बड़ीदीक्षा में उपस्थापित न करे और उस समय यदि उस नवदीक्षित के कोई पूज्य पुरुष की बड़ीदीक्षा होने में देर हो तो उन्हें दीक्षाछेद या तप रूप कोई प्रायश्चित्त नही आता है।

यदि उस नवदीक्षित के बड़ीदीक्षा लेने योग्य कोई पूज्य पुरुष न हो तो उन्हें चार-पांच रात्रि उल्लंघन करने का छेद या तप रूप प्रायश्चित्त आता है।

१६. आचार्य या उपाध्याय स्मृति में न रहने से बड़ीदीक्षा के योग्य भिक्षु को चार-पांच रात के बाद भी बड़ीदीक्षा में उपस्थापित न करे, उस समय यदि वहां उस नवदीक्षित के कोई पूज्य पुरुष की बड़ी दीक्षा होने में देर हो तो उन्हें दीक्षाछेद या तप रूप कोई प्रायश्चित्त नही आता है।

यदि उस नवदीक्षित के बड़ीदीक्षा लेने योग्य कोई पूज्य पुरुष न हो तो उन्हें चार-पांच रात्रि उल्लंघन करने का दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त आता है।

१७. आचार्य या उपाध्याय स्मृति में रहते हुए या स्मृति में न रहते हुए भी बड़ीदीक्षा के योग्य भिक्षु को दस दिन के बाद बड़ी दीक्षा में उपस्थापित न करे, उस समय यदि उस नवदीक्षित के कोई पूज्य पुरुष की बड़ीदीक्षा होने में देर हो तो उन्हें दीक्षाछेद या तप रूप कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है।

यदि उस नवदीक्षित के बड़ीदीक्षा के योग्य कोई पूज्य पुरुष न हो तो उन्हें दस रात्रि उल्लंघन करने के कारण एक वर्ष तक आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद पर नियुक्त करना नहीं कल्पता है।

विवेचन—प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर के शासन में भिक्षुओं को सामायिकचारित्र रूप दीक्षा देने के बाद छेदोपस्थापनीयचारित्र रूप बड़ीदीक्षा दी जाती है। उसकी जघन्य कालमर्यादा सात अहोरात्र की है अर्थात् काल की अपेक्षा नवदीक्षित भिक्षु सात रात्रि के बाद कल्पाक (बड़ीदीक्षा के योग्य) कहा जाता है और गुण की अपेक्षा आवश्यकसूत्र सम्पूर्ण अर्थ एवं विधि सहित कंठस्थ कर लेने पर, जीवादि का एवं समितियों का सामान्य ज्ञान कर लेने पर, दशवैकालिक सूत्र के चार अध्ययन की अर्थ सहित वाचना लेकर कंठस्थ कर लेने पर एवं प्रतिलेखन आदि दैनिक क्रियाओं का कुछ अभ्यास कर लेने पर 'कल्पाक' कहा जाता है।

इस प्रकार कल्पाक (बड़ीदीक्षायोग्य) होने पर एवं अन्य परीक्षण हो जाने पर उस नवदीक्षित भिक्षु को बड़ीदीक्षा (उपस्थापना) दी जाती है। योग्यता के पूर्व बड़ीदीक्षा देने पर नि. उ. ११ सू. ८४ के अनुसार प्रायश्चित्त आता है।

उक्त योग्यतासंपन्न कल्पाक भिक्षु को सूत्रोक्त समय पर बड़ीदीक्षा न देने पर आचार्य-उपाध्याय को प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रायश्चित्तविधान से यह स्पष्ट होता है कि किसी को नई दीक्षा या बड़ीदीक्षा देने का अधिकार आचार्य या उपाध्याय को ही होता है एवं उसमे किसी प्रकार की त्रुटि होने पर प्रायश्चित्त भी उन्हे ही आता है।

अन्य साधु, साध्वी या प्रवर्तक, प्रवर्तिनी भी आचार्य-उपाध्याय की आज्ञा से किसी को दीक्षा दे सकते हैं किन्तु उसकी योग्यता के निर्णय की मुख्य जिम्मेदारी आचार्य-उपाध्याय की ही होती है। सामान्य रूप से तो आगमानुसार प्रवृत्ति करने की जिम्मेदारी सभी साधु-साध्वी की होती ही है, फिर भी गच्छ के व्यवस्था सम्बन्धी निर्देश आचार्य-उपाध्याय के अधिकार में होते हैं। अतः तत्सम्बन्धी विपरीत आचरण होने पर प्रायश्चित्त के पात्र भी वे आचार्यादि ही होते हैं।

यहां इन तीन सूत्रों में बड़ीदीक्षा के निमित्त से तीन विकल्प कहे गये हैं—(१) विस्मरण में मर्यादा-उल्लंघन, (२) स्मृति होते हुए मर्यादा-उल्लंघन, (३) विस्मरण या अविस्मरण से विशेष मर्यादा-उल्लंघन।

काल से एवं गुण से कल्पाक बन जाने पर उस भिक्षु को चार या पांच रात्रि के भीतर अर्थात् चार रात्रि और पांचवें दिन तक बड़ीदीक्षा दी जा सकती है। यह सूत्र में आये "चउराय पंचरायाओ" शब्द का अर्थ है। इस छूट में विहार, शुभ दिन, मासिक धर्म का अस्वाध्याय, रुग्णता आदि अनेक कारण निहित हैं।

अतः दीक्षा के सात दिन बाद आठवें, नौवें, दसवें, ग्यारहवें या बारहवें दिन तक कभी भी बड़ीदीक्षा दी जा सकती है और उसका कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है। बारहवीं रात्रि का उल्लंघन करने पर सूत्र १५-१६ के अनुसार यथायोग्य तप या दीक्षाछेद रूप प्रायश्चित्त आता है। जिसका भाष्य में जघन्य प्रायश्चित्त पांच रात्रि का कहा गया है। दीक्षा की सत्तरहवीं रात्रि का उल्लंघन करने पर यथायोग्य तप या छेद प्रायश्चित्त के अतिरिक्त एक वर्ष तक उसे प्रायश्चित्त रूप में आचार्य-उपाध्याय पद से मुक्त कर दिया जाता है।

यहां बड़ीदीक्षा के विधान एवं प्रायश्चित्त में एक छूट और भी कही गई है, वह यह कि उस नवदीक्षित भिक्षु के माता-पिता आदि कोई भी माननीय या उपकारी पुरुष हों और उनके कल्पाक होने में देर हो तो उनके निमित्त से उसको बड़ीदीक्षा देने में छह मास तक की भी प्रतीक्षा की जा सकती है और उसका कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है।

ठाणांगादि आगमों में सात रात्रि का जघन्य शैक्षकाल कहा गया है। अतः योग्य हो तो भी सात रात्रि पूर्ण होने के पूर्व बड़ीदीक्षा नहीं दी जा सकती है, क्योंकि उस समय तक वह शैक्ष एवं अकल्पाक कहा गया है।

छह मास का "उत्कृष्ट शैक्षकाल" कहा गया है। अतः माननीय पुरुषों के लिए बड़ीदीक्षा रोकने पर भी छह मास का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

इन सूत्रों में स्मृति रहते हुए एवं विस्मरण से ४-५ दिन की मर्यादा उल्लंघन का प्रायश्चित्त समान कहा गया है।

चार-पांच दिन की छूट में शुभ दिन या विहार आदि कारण के अतिरिक्त ऋतुधर्म आदि अस्वाध्याय का भी जो कारण निहित है, उसका निवारण ४-५ दिन की छूट में सरलता से हो सकता है।

अन्यगण में गये भिक्षु का विवेक

१८. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, तं च केइ साहम्मिए पासित्ता वएज्जा—

प०—कं अज्जो! उवसंपज्जित्ताणं विहरसि?

उ०—जे तत्थ सव्वराइणिए तं वएज्जा।

प०—'अह भन्ते! कस्स कप्पाए?'

उ०—जे तत्थ सव्व-बहुस्सुए तं वएज्जा, जं वा से भगवं वक्खइ तस्स आणा-उववाय-वयण-निद्देसे चिट्ठिस्सामि।

१८. विशिष्ट ज्ञानप्राप्ति के लिए यदि कोई भिक्षु अपना गण छोड़कर अन्य गण को स्वीकार कर विचर रहा हो तो उस समय उसे यदि कोई स्वधर्मी भिक्षु मिले और पूछे कि—

प्र०—'हे आर्य! तुम किसी की निश्रा में विचर रहे हो?

उ०—तब वह उस गण में जो दीक्षा में सबसे बड़ा हो उसका नाम कहे।

प्र०—यदि पुन: पूछे कि—'हे भदन्त ! किस बहुश्रुत की प्रमुखता में रह रहे हो ?

उ०—तब उस गण मे जो सबसे अधिक बहुश्रुत हो—उसका नाम कहे तथा वे जिनकी आज्ञा में रहने के लिए कहे, उनकी ही आज्ञा एवं उनके समीप में रहकर उनके ही वचनों के निर्देशानुसार मैं रहूँगा ऐसा कहे।

विवेचन—प्रत्येक गच्छ मे बहुश्रुत आचार्य-उपाध्याय का होना आवश्यक ही होता है। फिर भी उपाध्यायों के क्षयोपशम में और अध्यापन की कुशलता में अंतर होना स्वाभाविक है। किसी गच्छ मे बहुश्रुत वृद्ध आचार्य का शिष्य प्रखर बुद्धिमान् एवं श्रुतसंपन्न हो सकता है जो आचार्य की सभी जिम्मेदारियों को निभा रहा हो अथवा किसी बहुश्रुत आचार्य के गुरु या दीक्षित पिता आदि भद्रिक परिणामी अल्पश्रुत हों और वे गच्छ में रत्नाधिक हों तो ऐसे गच्छ में अध्ययन करने के लिये जाने वाले भिक्षु के संबंध में सूत्रकथित विषय समझ लेना चाहिए।

कोई अध्ययनशील भिक्षु किसी भी अन्यगच्छीय भिक्षु की अध्यापन-कुशलता की ख्याति सुन कर या जानकर उस गच्छ में अध्ययन करने के लिए गया हो। वहां विचरण करते हुए कभी कोई पूर्व गच्छ का साधर्मिक भिक्षु गोचरी आदि के लिए भ्रमण करते हुए मिल जाए और वह पूछे कि—

'हे आर्य ! तुम किस की निश्रा (आज्ञा) मे विचरण कर रहे हो ?' तब उत्तर में वहां जो रत्नाधिक आचार्य, गुरु या बहुश्रुत के दीक्षित पिता आदि हों उनका नाम बतावे। किंतु जब प्रश्नकर्ता को संतोष न हो कि इनसे तो अधिक ज्ञानी संत अपने गच्छ में भी हैं, फिर अपना गच्छ छोड़ कर इनके गच्छ में क्यों आया है ? अतः सही जानकारी के लिए पुनः प्रश्न करे कि—'हे भगवन् ! आपका कल्पाक कौन है ? अर्थात् किस प्रमुख की आज्ञा में आप विचरण एवं अध्ययन आदि कर रहे हो, इस गच्छ में कौन अध्यापन में कुशल है ? इसके उत्तर में जो वहां सबसे अधिक बहुश्रुत हो अर्थात् सभी बहुश्रुतों में भी जो प्रधान हो और गच्छ का प्रमुख हो, उनके नाम का कथन करे और कहे कि 'उनकी निश्रा में गच्छ के सभी साधु रहते है एवं अध्ययन करते हैं और मैं भी उनकी आज्ञानुसार विचरण एवं अध्ययन कर रहा हूं।'

अभिनिचारिका में जाने के विधि-निषेध

१९. बहवे साहम्मिया इच्छेज्जा एगयओ अभिनिचारियं चारए नो णं कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता एगयओ अभिनिचारियं चारए, कप्पइ णं थेरे आपुच्छित्ता एगयओ अभिनिचारियं चारए।

थेरा य से वियरेज्जा—एवं णं कप्पइ एगयओ अभिनिचारियं चारए। थेरा य से नो वियरेज्जा—एवं नो कप्पइ एगयओ अभिनिचारियं चारए।

जे तत्थ थेरेहिं अविइण्णे एगयओ अभिनिचारियं चरंति, से सन्तरा छेए वा परिहारे वा।

१९. अनेक साधर्मिक साधु एक साथ 'अभिनिचारिका' करना चाहें तो स्थविर साधुओं को पूछे बिना उन्हें एक साथ 'अभिनिचारिका' करना नहीं कल्पता है, किन्तु स्थविर साधुओं से पूछ लेने पर उन्हें एक साथ 'अभिनिचारिका' करना कल्पता है।

यदि स्थविर साधु आज्ञा दें तो उन्हें 'अभिनिचारिका' करना कल्पता है। यदि स्थविर साधु आज्ञा न दें तो उन्हें 'अभिनिचारिका' करना नहीं कल्पता है।

यदि स्थविरों से आज्ञा प्राप्त किये विना 'अभिनिचारिका' करे तो वे दीक्षाछेद या परिहार-प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

विवेचन—आचार्य-उपाध्याय जहां मासकल्प ठहरे हों, शिष्यों को सूत्रार्थ की वाचना देते हों, वहां से ग्लान असमर्थ एवं तप से कृश शरीर वाले साधु निकट ही किसी गोपालक बस्ती में दुग्धादि विकृति सेवन के लिए जाएं तो उनकी चर्या को यहां 'अभिनिचारिका गमन' कहा गया है।

किसी भी भिक्षु को या अनेक भिक्षुओं को ऐसे दुग्धादि की सुलभता वाले क्षेत्र में जाना हो तो गच्छ-प्रमुख आचार्य या स्थविर आदि की आज्ञा लेना आवश्यक होता है।

वे आवश्यक लगने पर ही उन्हें अभिनिचारिका में जाने की आज्ञा देते हैं अन्यथा मना कर सकते हैं।

नि. उ. ४ में आचार्य-उपाध्याय की विशिष्ट आज्ञा विना विकृति सेवन करने का प्रायश्चित्त कहा गया है और यहां पर आज्ञा विना 'व्रजिका' में जाने का प्रायश्चित्त कहा गया है। अतः आज्ञा न मिलने पर नहीं जाना चाहिए।

भाष्य में बताया गया है कि आचार्य-उपाध्याय के पास साधुओं की संख्या अधिक हो, अन्य गच्छ से अध्ययन हेतु आये अनेक प्रतीच्छक साधु हों, पाहुने साधुओं का आवागमन अधिक हो अथवा वृद्ध आदि कारणिक साधु अधिक हों, इत्यादि किसी भी कारण से भिक्षुओं को अध्ययन या तप उपधान के बाद या प्रायश्चित्त वहन करने के बाद आवश्यक विकृतिक पदार्थों के न मिलने पर कृशता अधिक बढ़ती हो तो उन भिक्षुओं को नियत दिन के लिये अर्थात्—५ दिन आदि संख्या का निर्देश कर 'व्रजिका' में जाने की आज्ञा दी जाती है। उसी अपेक्षा से सूत्र का संपूर्ण विधान है। सामान्य विचरण करने हेतु आज्ञा लेने का कथन उद्दे. ३ सूत्र २ में है।

चर्याप्रविष्ट एवं चर्यानिवृत्त भिक्षु के कर्त्तव्य

२०. चरियापविट्ठे भिक्खू जाव चउराय-पंचरायाओ थेरे पासेज्जा,

सच्चेव आलोयणा, सच्चेव पडिक्कमणा, सच्चेव ओग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि ओग्गहे।

२१. चरियापविट्ठे भिक्खू परं चउराय-पंचरायाओ थेरे पासेज्जा,

पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा।

भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चंपि ओग्गहे अणुन्नवेयव्वे सिया।

कप्पइ से एवं वदित्तए, 'अणुजाणह भंते! मिओग्गहं अहालंदं धुवं नितियं वेउट्टियं।' तओ पच्छा काय-संफासं।

२२. चरियानियट्टे भिक्खू जाव चउराय-पंचरायाओ थेरे पासेज्जा,

सच्चेव आलोयणा, सच्चेव पडिक्कमणा, सच्चेव ओग्गहस्स पुव्वाणुन्नवणा चिट्ठइ, अहालंदमवि ओग्गहे।

२३. चरियानियट्टे भिक्खू परं चउराय-पंचरायाओ थेरे पासेज्जा,

पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा।

भिक्खूभावस्स अट्ठाए दोच्चं पि ओग्गहे अणुन्नवेयव्वे सिया।

कप्पइ से एवं वइत्तए—'अणुजाणह भंते ! मिओग्गहं अहालंदं धुवं नितियं वेउट्टियं।' तओ पच्छा काय-संफासं।

२०. चर्या में प्रविष्ट भिक्षु यदि चार-पांच रात की अवधि में स्थविरों को देखे (मिले) तो उन भिक्षुओं को वही आलोचना, वही प्रतिक्रमण और कल्पपर्यंत रहने के लिये वही अवग्रह की पूर्वानुज्ञा रहती है।

२१. चर्या में प्रविष्ट भिक्षु यदि चार-पांच रात के बाद स्थविरों को देखे (मिले) तो वह पुनः आलोचना-प्रतिक्रमण करे और आवश्यक दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त में उपस्थित हो।

भिक्षुभाव (संयम की सुरक्षा) के लिए उसे दूसरी बार अवग्रह की अनुमति लेनी चाहिए। वह इस प्रकार प्रार्थना करे कि—'हे भदन्त ! मितावग्रह में विचरने के लिए, कल्प अनुसार करने के लिए, ध्रुव नियमों के लिये अर्थात् दैनिक क्रियायें करने के लिए आज्ञा दें तथा पुनः आने की अनुज्ञा दीजिए।' इस प्रकार कहकर वह उनके चरण का स्पर्श करे।

२२. चर्या से निवृत्त कोई भिक्षु यदि चार-पांच रात की अवधि में स्थविरों को देखे (मिले) तो उसे वही आलोचना वही प्रतिक्रमण और कल्प पर्यन्त रहने के लिये वही अवग्रह की पूर्वानुज्ञा रहती है।

२३. चर्या से निवृत्त भिक्षु यदि चार-पांच रात के बाद स्थविरों से मिले तो वह पुनः आलोचना-प्रतिक्रमण करे और आवश्यक दीक्षाछेद या तपरूप प्रायश्चित्त में उपस्थित हो।

भिक्षुभाव (संयम की सुरक्षा) के लिये उसे दूसरी बार अवग्रह की अनुमति लेनी चाहिए।

वह इस प्रकार से प्रार्थना करे कि—'हे भदन्त ! मुझे मितावग्रह की, यथालन्दकल्प की ध्रुव, नित्य क्रिया करने की और पुनः आने की अनुमति दीजिए।' इस प्रकार कहकर वह उनके चरणों का स्पर्श करे।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रचतुष्क में 'चरिका' शब्द के दो अर्थ विवक्षित किए गये हैं—

(१) पूर्वसूत्रोक्त व्रजिकागमन (२) विदेश या दूरदेश गमन

यहां इन दोनों प्रकार की चरिका के दो प्रकार कहे गये हैं—

(१) प्रविष्ट—जितने समय की आज्ञा प्राप्त हुई है, उतने समय के भीतर व्रजिका में रहा हुआ या दूर देश एवं विदेश की यात्रा में रहा हुआ भिक्षु।

यदि स्थविर साधु आज्ञा दें तो उन्हें 'अभिनिचारिका' करना कल्पता है। यदि स्थविर साधु आज्ञा न दें तो उन्हें 'अभिनिचारिका' करना नहीं कल्पता है।

यदि स्थविरों से आज्ञा प्राप्त किये विना 'अभिनिचारिका' करे तो वे दीक्षाछेद या परिहार-प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

विवेचन—आचार्य-उपाध्याय जहां मासकल्प ठहरे हों, शिष्यों को सूत्रार्थ की वाचना देते हों, वहां से ग्लान असमर्थ एवं तप से कृश शरीर वाले साधु निकट ही किसी गोपालक बस्ती में दुग्धादि विकृति सेवन के लिए जाएं तो उनकी चर्या को यहां 'अभिनिचारिका गमन' कहा गया है।

किसी भी भिक्षु को या अनेक भिक्षुओं को ऐसे दुग्धादि की सुलभता वाले क्षेत्र में जाना हो तो गच्छ-प्रमुख आचार्य या स्थविर आदि की आज्ञा लेना आवश्यक होता है।

वे आवश्यक लगने पर ही उन्हें अभिनिचारिका में जाने की आज्ञा देते हैं अन्यथा मना कर सकते हैं।

नि. उ. ४ में आचार्य-उपाध्याय की विशिष्ट आज्ञा विना विकृति सेवन करने का प्रायश्चित्त कहा गया है और यहां पर आज्ञा विना 'व्रजिका' में जाने का प्रायश्चित्त कहा गया है। अतः आज्ञा न मिलने पर नहीं जाना चाहिए।

भाष्य में बताया गया है कि आचार्य-उपाध्याय के पास साधुओं की संख्या अधिक हो, अन्य गच्छ से अध्ययन हेतु आये अनेक प्रतीच्छक साधु हों, पाहुने साधुओं का आवागमन अधिक हो अथवा वृद्ध आदि कारुणिक साधु अधिक हों, इत्यादि किसी भी कारण से भिक्षुओं को अध्ययन या तप उपधान के बाद या प्रायश्चित्त वहन करने के बाद आवश्यक विकृतिक पदार्थों के न मिलने पर कृशता अधिक बढ़ती हो तो उन भिक्षुओं को नियत दिन के लिये अर्थात्—५ दिन आदि संख्या का निर्देश कर 'व्रजिका' में जाने की आज्ञा दी जाती है। उसी अपेक्षा से सूत्र का संपूर्ण विधान है। सामान्य विचरण करने हेतु आज्ञा लेने का कथन उद्दे. ३ सूत्र २ में है।

चर्याप्रविष्ट एवं चर्यानिवृत्त भिक्षु के कर्त्तव्य

२०. चरियापविट्ठे भिक्खू जाव चउराय-पंचरायाओ थेरे पासेज्जा,

सच्चेव आलोयणा, सच्चेव पडिक्कमणा, सच्चेव ओग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि ओग्गहे।

२१. चरियापविट्ठे भिक्खू परं चउराय-पंचरायाओ थेरे पासेज्जा,

पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा।

भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चंपि ओग्गहे अणुन्नवेयव्वे सिया।

कप्पइ से एवं वदित्तए, 'अणुजाणह भंते! मिओग्गहं अहालंदं धुवं नितियं वेउट्टियं।' तओ पच्छा काय-संफासं।

२२. चरियानियट्टे भिक्खू जाव चउराय-पंचरायाओ थेरे पासेज्जा,
सच्चेव आलोयणा, सच्चेव पडिक्कमणा, सच्चेव ओग्गहस्स पुव्वाणुन्नवणा चिट्ठइ, अहालंदमवि ओग्गहे।

२३. चरियानियट्टे भिक्खू परं चउराय-पंचरायाओ थेरे पासेज्जा,
पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा।
भिक्खूभावस्स अट्ठाए दोच्चं पि ओग्गहे अणुन्नवेयव्वे सिया।
कप्पइ से एवं वइत्तए—'अणुजाणह भंते! मिओग्गहं अहालंदं धुवं नितियं वेउट्टियं।' तओ पच्छा काय-संफासं।

२०. चर्या में प्रविष्ट भिक्षु यदि चार-पांच रात की अवधि में स्थविरों को देखे (मिले) तो उन भिक्षुओं को वही आलोचना, वही प्रतिक्रमण और कल्पपर्यंत रहने के लिये वही अवग्रह की पूर्वानुज्ञा रहती है।

२१. चर्या में प्रविष्ट भिक्षु यदि चार-पांच रात के बाद स्थविरों को देखे (मिले) तो वह पुनः आलोचना-प्रतिक्रमण करे और आवश्यक दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त में उपस्थित हो।

भिक्षुभाव (संयम की सुरक्षा) के लिए उसे दूसरी बार अवग्रह की अनुमति लेनी चाहिए। वह इस प्रकार प्रार्थना करे कि—'हे भदन्त! मितावग्रह में विचरने के लिए, कल्प अनुसार करने के लिए, ध्रुव नियमों के लिये अर्थात् दैनिक क्रियायें करने के लिए आज्ञा दें तथा पुनः आने की अनुज्ञा दीजिए।' इस प्रकार कहकर वह उनके चरण का स्पर्श करे।

२२. चर्या से निवृत्त कोई भिक्षु यदि चार-पांच रात की अवधि में स्थविरों को देखे (मिले) तो उसे वही आलोचना वही प्रतिक्रमण और कल्प पर्यन्त रहने के लिये वही अवग्रह की पूर्वानुज्ञा रहती है।

२३. चर्या से निवृत्त भिक्षु यदि चार-पांच रात के बाद स्थविरों से मिले तो वह पुनः आलोचना-प्रतिक्रमण करे और आवश्यक दीक्षाछेद या तपरूप प्रायश्चित्त में उपस्थित हो।

भिक्षुभाव (संयम की सुरक्षा) के लिये उसे दूसरी बार अवग्रह की अनुमति लेनी चाहिए।

यह इस प्रकार से प्रार्थना करे कि—'हे भदन्त! मुझे मितावग्रह की, यथालन्दकल्प की ध्रुव, नित्य क्रिया करने की और पुनः आने की अनुमति दीजिए।' इस प्रकार कहकर वह उनके चरणों का स्पर्श करे।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रचतुष्क में 'चरिका' शब्द के दो अर्थ विवक्षित किए गये हैं—
(१) पूर्वसूत्रोक्त प्रजिकागमन (२) विदेश या दूरदेश गमन
यहां इन दोनों प्रकार की चरिका के दो प्रकार कहे गये हैं—
(१) प्रविष्ट—जितने समय की आज्ञा प्राप्त हुई है, उतने समय के भीतर प्रजिका में रहा हुआ या दूर देश एवं विदेश की यात्रा में रहा हुआ भिक्षु।

(२) निवृत्त—ग्रजिका-विहार से निवृत्त या दूर देश के विचरण से निवृत्त होकर पुनः आज्ञा लेकर आस-पास में विचरण करने वाला भिक्षु ।

इन सूत्रों में प्रविष्ट एवं निवृत्त चरिका वाले आज्ञाप्राप्त भिक्षु को विनय-व्यवहार का विधान किया गया है । जिसमें ४-५ दिन की मर्यादा की गई है । इन मर्यादित दिनों के पूर्व गुरु आचार्य आदि का पुनः मिलने का अवसर प्राप्त हो जाय तो पूर्व की आज्ञा से ही विचरण किया जा सकता है किंतु इन मर्यादित दिनों के बाद अर्थात् १०-२० दिन से या कुछ महीनों से मिलने का अवसर प्राप्त हो तो पुनः सूत्रोक्त विधि से आज्ञा प्राप्त कर लेनी चाहिए ।

चार-पांच दिन का कथन एक व्यावहारिक सीमा है, यथा—स्थापनाकुल और राजा के कोठार, दुग्धशाला आदि स्थानों की जानकारी किए बिना गोचरी जाने पर निशी. उ. ४ तथा उ. ९ में प्रायश्चित्त विधान है । वहां पर भी ४-५ रात्रि की छूट दी गई है । इस उद्देशक के सूत्र १५ में उपस्थापना के लिए भी ४-५ रात्रि की छूट दी गई है ।

अतः प्रस्तुत प्रकरण से भी ४-५ दिन के बाद गुरु आदि से मिलने पर पुनः विधियुक्त आज्ञा लेना आवश्यक समझना चाहिये ।

शैक्ष और रत्नाधिक का व्यवहार

२४. दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, तं जहा—सेहे य, राइणिए य । तत्थ सेहतराए पलिच्छन्ने, राइणिए अपलिच्छन्ने, सेहतराएणं राइणिए उवसंपज्जियव्वे, भिक्खोववायं च दलयइ कप्पागं ।

२५. दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, तं जहा—सेहे य, राइणिए य । तत्थ राइणिए पलिच्छन्ने सेहतराए अपलिच्छन्ने । इच्छा राइणिए सेहतरागं उवसंपज्जेज्जा, इच्छा नो उवसंपज्जेज्जा, इच्छा भिक्खोववायं दलेज्जा कप्पागं, इच्छा नो दलेज्जा कप्पागं ।

२४. दो साधर्मिक भिक्षु एक साथ विचरते हों, यथा—अल्प दीक्षापर्याय वाला और अधिक दीक्षापर्याय वाला ।

उनमें यदि अल्प दीक्षापर्याय वाला श्रुतसम्पन्न तथा शिष्यसम्पन्न हो और अधिक दीक्षापर्याय वाला श्रुतसम्पन्न तथा शिष्यसम्पन्न न हो तो भी अल्प दीक्षापर्याय वाले को अधिक दीक्षापर्याय वाले की विनय वैयावृत्य करना, आहार लाकर देना, समीप में रहना और अलग विचरने के लिए शिष्य देना इत्यादि कर्तव्यों का पालन करना चाहिये ।

२५. दो साधर्मिक भिक्षु एक साथ विचरते हों, यथा—अल्प दीक्षापर्याय वाला और अधिक दीक्षापर्याय वाला ।

उनमें यदि अधिक दीक्षापर्याय वाला श्रुतसम्पन्न तथा शिष्यसम्पन्न हो और अल्प दीक्षापर्याय वाला श्रुतसम्पन्न तथा शिष्यसम्पन्न न हो तो अधिक दीक्षापर्याय वाला इच्छा हो तो अल्प दीक्षापर्याय वाले की वैयावृत्य करे, इच्छा न हो तो न करे । इच्छा हो तो आहार लाकर दे, इच्छा न हो तो न दे ।

इच्छा हो तो समीप में रखे, इच्छा न हो तो न रखे। इच्छा हो तो अलग विचरने के लिये शिष्य दे, इच्छा न हो तो न दे।

विवेचन—इन सूत्रों में रत्नाधिक और शैक्ष साधर्मिक भिक्षुओं के ऐच्छिक एवं आवश्यक कर्तव्यों का कथन किया गया है।

यहां रत्नाधिक की अपेक्षा अल्प दीक्षापर्याय वाले भिक्षु को शैक्ष कहा गया है, अतः इस अपेक्षा से अनेक वर्षों की दीक्षापर्याय वाला भी शैक्ष कहा जा सकता है।

(१) रत्नाधिक भिक्षु शिष्य आदि से सम्पन्न हो और शैक्ष भिक्षु शिष्य आदि से सम्पन्न न हो तो उसे विचरण करने के लिये शिष्य देना या उसके लिये आहार आदि मंगवा देना और अन्य भी सेवाकार्य करवा देना रत्नाधिक के लिये ऐच्छिक कहा गया है अर्थात् उन्हें उचित लगे या उनकी इच्छा हो वैसा कर सकते हैं।

(२) शैक्ष भिक्षु यदि शिष्य आदि से सम्पन्न हो एवं रत्नाधिक भिक्षु शिष्यादि से सम्पन्न न हो और वह विचरण करना चाहे या कोई सेवा कराना चाहे तो शिष्यादिसम्पन्न शैक्ष का कर्तव्य हो जाता है कि वह रत्नाधिक को बहुमान देकर उनकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करे।

यह कथन यहां कर्तव्य एवं अधिकार की अपेक्षा से किया गया है। किन्तु सेवा की आवश्यकता होने पर तो रत्नाधिक को भी शैक्ष की यथायोग्य सेवा करना या करवाना आवश्यक होता है। न करने पर वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है। अतः सूत्रोक्त विधान सामान्य स्थिति की अपेक्षा से है, ऐसा समझना चाहिये।

रत्नाधिक को अग्रणी मानकर विचरने का विधान

२६. दो भिक्खुणो एगयओ विहरंति, नो णं कप्पइ अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, कप्पइ णं अहाराइणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

२७. दो गणावच्छेइया एगयओ विहरंति, नो णं कप्पइ अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, कप्पइ णं अहाराइणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

२८. दो आयरिय-उवज्झाया एगयओ विहरंति, नो णं कप्पइ अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। कप्पइ णं अहाराइणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

२९. बहवे भिक्खुणो एगयओ विहरंति नो णं कप्पइ अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। कप्पइ णं अहाराइणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

३०. बहवे गणावच्छेइया एगयओ विहरंति, नो णं कप्पइ अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। कप्पइ णं अहाराइणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

३१. बहवे आयरिय-उवज्झाया एगयओ विहरंति, नो णं कप्पइ अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। कप्पइ णं अहाराइणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

३२. बहवे भिक्खुणो बहवे गणावच्छेइया, बहवे आयरिय-उवज्झाया एगयओ विहरंति, नो णं कप्पइ अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। कप्पइ णं अहारायणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

२६. दो भिक्षु एक साथ विचरते हों तो उन्हें परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ में विचरना नहीं कल्पता है। किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर साथ विचरना कल्पता है।

२७. दो गणावच्छेदक एक साथ विचरते हों तो उन्हें परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ में विचरना नहीं कल्पता है। किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर साथ विचरना कल्पता है।

२८. दो आचार्य या दो उपाध्याय एक साथ विचरते हों तो उन्हें परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ विचरना नहीं कल्पता है। किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर साथ विचरना कल्पता है।

२९. बहुत से भिक्षु एक साथ विचरते हों तो उन्हें परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ विचरना नहीं कल्पता है। किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर साथ विचरना कल्पता है।

३०. बहुत से गणावच्छेदक एक साथ विचरते हों तो उन्हें परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ विचरना नहीं कल्पता है। किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर साथ विचरना कल्पता है।

३१. बहुत से आचार्य या उपाध्याय एक साथ विचरते हों तो उन्हें परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ विचरना नहीं कल्पता है। किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर विचरना कल्पता है।

३२. बहुत से भिक्षु, बहुत से गणावच्छेदक और बहुत से आचार्य या उपाध्याय एक साथ विचरते हों तो उन्हें परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ विचरना नहीं कल्पता है। किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर विचरना कल्पता है।

विवेचन—दो या अनेक भिक्षु यदि एक साथ रहें अथवा एक साथ विचरण करें और वे किसी को बड़ा न मानें अर्थात् आज्ञा लेना, वन्दन करना आदि कोई भी विनय एवं समाचारी का व्यवहार न करें तो उनका इस प्रकार साथ रहना उचित नहीं है। किन्तु उन्हें रत्नाधिक साधु की प्रमुखता स्वीकार करके उनके साथ विनय-व्यवहार रखते हुए रहना चाहिए और प्रत्येक कार्य उनकी आज्ञा लेकर ही करना चाहिए।

रत्नाधिक के साथ रहते हुए भी उनका विनय एवं आज्ञापालन न करने से ज्ञान-दर्शन-चारित्र की उन्नति नहीं होती है अपितु स्वच्छन्दता की वृद्धि होकर आत्मा का अधःपतन होता है और संयम की विराधना होती है। जनसाधारण को ज्ञात होने पर जिनशासन की हीलना होती है। अतः

अवमरात्निक (शैक्ष) भिक्षु का यह आवश्यक कर्तव्य है कि वह रत्नाधिक की प्रमुखता स्वीकार करके ही उनके साथ रहे।

उसी प्रकार दो या अनेक आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक भी एक साथ रहें या विचरण करें तो दीक्षापर्याय से ज्येष्ठ आचार्य आदि का उचित विनय-व्यवहार करते हुए रह सकते हैं।

यह विधान एक मांडलिक आहार करने वाले साम्भोगिक साधुओं की अपेक्षा से है, ऐसा समझना चाहिये।

यदि कभी अन्य साम्भोगिक साधु, आचार्य, उपाध्याय या गणावच्छेदक का किसी ग्रामादि में एक ही उपाश्रय में मिलना हो जाय और कुछ समय साथ रहने का प्रसंग आ जाय तो उचित विनय-व्यवहार और प्रेमसम्बन्ध के साथ रहा जा सकता है, किन्तु सूत्रोक्त उपसम्पदा (नेतृत्व) स्वीकार करने का विधान यहां नहीं समझना चाहिए। यदि अन्य साम्भोगिक के साथ विचरण या चातुर्मास करना हो अथवा अध्ययन करना हो तो उनकी भी अल्पकालीन उपसम्पदा (नेतृत्व) स्वीकार करके ही रहना चाहिए।

चौथे उद्देशक का सारांश

सूत्र १-८ आचार्य एवं उपाध्याय को अकेले विचरण नहीं करना चाहिए और दो ठाणा से चौमासा भी नहीं करना चाहिए, किन्तु वे दो ठाणा से विचरण कर सकते हैं और तीन ठाणा से चातुर्मास कर सकते हैं।

गणावच्छेदक को दो ठाणा से विचरण नहीं करना चाहिए और तीन ठाणा से चातुर्मास नहीं करना चाहिए। किन्तु वे तीन ठाणा से विचरण कर सकते हैं एवं चार ठाणा से चातुर्मास कर सकते हैं।

९-१० अनेक आचार्य आदि को एक साथ विचरण करना हो तो भी उपर्युक्त साधुसंख्या अपनी-अपनी निश्रा में रखते हुए ही विचरण करना चाहिए और इसी विवेक के साथ उन्हें चातुर्मास में भी रहना चाहिए।

११-१२ विचरणकाल में या चातुर्मासकाल में यदि उस सिंघाड़े की प्रमुखता करने वाला भिक्षु काल-धर्म को प्राप्त हो जाय तो शेष साधुओं में जो श्रुत एवं पर्याय से योग्य हो, उसकी प्रमुखता स्वीकार कर लेनी चाहिए। यदि कोई भी योग्य न हो तो चातुर्मास या विचरण को स्थगित करके शीघ्र ही योग्य प्रमुख साधुओं के या आचार्य के सान्निध्य में पहुंच जाना चाहिए।

१३-१४ आचार्य-उपाध्याय कालधर्म प्राप्त करते समय या संयम छोड़कर जाते समय जिसे आचार्य-उपाध्याय पद पर नियुक्त करने को कहें, उसे ही पद पर स्थापित करना चाहिए। वह योग्य न हो और अन्य योग्य हो तो उस आचार्यनिर्दिष्ट भिक्षु को पद

न देकर या दे दिया हो तो उसे हटाकर अन्य योग्य भिक्षु को पद दिया जा सकता है। जो उसका खोटा पक्ष करें, वे सभी प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

सूत्र १५-१७ नवदीक्षित भिक्षु के शीघ्र ही योग्य हो जाने पर १२वीं रात्रि के पूर्व बड़ीदीक्षा दे देनी चाहिये। उसके उल्लंघन करने पर आचार्य-उपाध्याय को यथायोग्य तप या छेद प्रायश्चित्त आता है एवं सत्तरहवीं रात्रि का उल्लंघन करने पर तप या छेद प्रायश्चित्त के अतिरिक्त एक वर्ष के लिए पदमुक्त होने का प्रायश्चित्त भी आता है। यदि बड़ीदीक्षा के समय का उल्लंघन करने में नवदीक्षित के माता-पिता आदि पूज्य पुरुषों की दीक्षा का कारण हो तो उत्कृष्ट छः मास तक दीक्षा रोकने पर भी प्रायश्चित्त नही आता है।

१८ अन्य गण में अध्ययन आदि के लिये गये भिक्षु को किसी के द्वारा पूछने पर प्रथम सर्वरत्नाधिक का नाम बताना चाहिये। उसके बाद आवश्यक होने पर सर्वबहुश्रुत का नाम निर्देश करना चाहिए।

१९ व्रजिका (गोपालक बस्ती) में विकृति सेवन हेतु जाने के पूर्व स्थविर की अर्थात् गुरु आदि की आज्ञा लेना आवश्यक है, आज्ञा मिलने पर ही जाना कल्पता है।

२०-२३ चरिकाप्रविष्ट या चरिकानिवृत्त भिक्षु को आज्ञाप्राप्ति के बाद ४-५ दिन में गुरु आदि के मिलने का प्रसंग आ जाय तो उसी पूर्व की आज्ञा से विचरण या निवास करना चाहिए, किन्तु ४-५ दिन के बाद अर्थात् आज्ञाप्राप्ति से अधिक समय बाद गुरु आदि के मिलने का प्रसंग आ जाय तो सूत्रोक्त विधि से पुनः आज्ञा प्राप्त करके विचरण कर सकता है।

२४-२५ रत्नाधिक भिक्षु को अवमरात्निक भिक्षु की सामान्य सेवा या सहयोग करना ऐच्छिक होता है और अवमरात्निक भिक्षु को रत्नाधिक भिक्षु की सामान्य सेवा या सहयोग करना आवश्यक होता है।

रत्नाधिक भिक्षु यदि सेवा-सहयोग न लेना चाहे तो आवश्यक नहीं होता है।

अवमरात्निक भिक्षु ग्लान हो तो रत्नाधिक को भी उसकी सेवा या सहयोग करना आवश्यक होता है।

२६-३२ अनेक भिक्षु, अनेक आचार्य-उपाध्याय एवं अनेक गणावच्छेदक आदि कोई भी यदि साथ-साथ विचरण करें तो उन्हें परस्पर समान बन कर नहीं रहना चाहिए, किन्तु जो उनमें रत्नाधिक हो उसकी प्रमुखता स्वीकार करके उचित विनय एवं समाचारी-व्यवहार के साथ रहना चाहिए।

उपसंहार

इस उद्देशक में—

सूत्र १-१० आचार्य उपाध्याय गणावच्छेदक के विचरण करने में साधुओं की संख्या का,

सूत्र ११-१२ सिंघाड़ाप्रमुख भिक्षु के कालधर्म प्राप्त होने पर उचित कर्तव्य का,
१३-१४ आचार्य के दिवंगत होने पर या संयम त्यागने पर योग्य को पद पर नियुक्त करने का,
१५-१७ बड़ीदीक्षा देने सम्बन्धी समय के निर्धारण का,
१८ गणान्तर में गये भिक्षु के विवेक का,
१९-२३ व्रजिकागमन एवं चरिका प्रवृत्त या निवृत्त भिक्षु के विवेक का,
२४-२५ रत्नाधिक एवं अवमरात्निक के कर्तव्यों का,
२६-३२ साथ में विचरण करने सम्बन्धी विनय-विवेक का,
इत्यादि विषयों का कथन किया गया है।

॥ चौथा उद्देशक समाप्त ॥

पांचवां उद्देशक

प्रवर्तिनी आदि के साथ विचरने वाली निर्ग्रन्थियों की संख्या

१. नो कप्पइ पवत्तिणीए अप्पबिइयाए हेमंत-गिम्हासु चारए ।

२. कप्पइ पवत्तिणीए अप्पतइयाए हेमन्त-गिम्हासु चारए ।

३. नो कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पतइयाए हेमंत-गिम्हासु चारए ।

४. कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पचउत्थाए हेमंत-गिम्हासु चारए ।

५. नो कप्पइ पवत्तिणीए अप्पतइयाए वासावासं वत्थए ।

६. कप्पइ पवत्तिणीए अप्पचउत्थाए वासावासं वत्थए ।

७. नो कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पचउत्थाए वासावासं वत्थए ।

८. कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पपंचमाए वासावासं वत्थए ।

९. से गामंसि वा जाव रायहाणिसि वा बहूणं पवत्तिणीणं अप्पतइयाणं बहूणं गणावच्छेइणीणं अप्प-चउत्थाणं कप्पइ हेमंत-गिम्हासु चारए अण्णमण्णं नीसाए ।

१०. से गामंसि वा जाव रायहाणिसि वा बहूणं पवत्तिणीणं अप्पचउत्थाणं बहूणं गणावच्छेइणीणं अप्प-पंचमाणं कप्पइ वासावासं वत्थए अण्णमण्णं नीसाए ।

१. हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में प्रवर्तिनी साध्वी को, एक अन्य साध्वी को साथ लेकर विहार करना नहीं कल्पता है ।

२. हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में प्रवर्तिनी को, अन्य दो साध्वियां साथ लेकर विहार करना कल्पता है ।

३. हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में गणावच्छेदिनी को अन्य दो साध्वियां साथ लेकर विहार करना नहीं कल्पता है ।

४. हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में गणावच्छेदिनी को अन्य तीन साध्वियां साथ लेकर विहार करना कल्पता है ।

५. वर्षावास में प्रवर्तिनी को अन्य दो साध्वियों के साथ रहना नहीं कल्पता है ।

६. वर्षावास में प्रवर्तिनी को अन्य तीन साध्वियों के साथ रहना कल्पता है।

७. वर्षावास में गणावच्छेदिनी को अन्य तीन साध्वियों के साथ रहना नहीं कल्पता है।

८. वर्षावास में गणावच्छेदिनी को अन्य चार साध्वियों के साथ रहना कल्पता है।

९. हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में अनेक प्रवर्तिनियों को ग्राम यावत् राजधानी में अपनी-अपनी निश्रा में दो-दो अन्य साध्वियों को साथ लेकर और अनेक गणावच्छेदिनीयों को, तीन तीन अन्य साध्वियों को साथ लेकर विहार करना कल्पता है।

१०. वर्षावास में अनेक प्रवर्तिनियों को यावत् राजधानी में अपनी-अपनी निश्रा में तीन-तीन अन्य साध्वियों को साथ लेकर और अनेक गणावच्छेदिनीयों को चार-चार अन्य साध्वियों को साथ लेकर रहना कल्पता है।

विवेचन—चौथे उद्देशक में प्रारम्भ के दस सूत्रों में आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक के विचरण में एवं चातुर्मास में साथ रहने वाले साधुओं की संख्या का उल्लेख किया गया है और यहां प्रर्वातिनी और गणावच्छेदिका के साथ रहने वाली साध्वियों की संख्या का विधान है।

बृहत्कल्प उद्दे. ५ में साध्वी को अकेली रहने का निषेध है और यहां प्रवर्तिनी को दो के साथ विचरने का निषेध है। अतः प्रवर्तिनी एक साध्वी को साथ में रखकर न विचरे, दो साध्वियों को साथ लेकर विचरे और तीन साध्वियों को साथ में रखकर चातुर्मास करे।

गणावच्छेदिनी प्रवर्तिनी की प्रमुख सहायिका होती है। इसका कार्यक्षेत्र गणावच्छेदक के समान विशाल होता है और यह प्रवर्तिनी की आज्ञा से साध्वियों की व्यवस्था, सेवा प्रायश्चित्त आदि सभी कार्यों की देख-रेख करती है। अतः गणावच्छेदिनी अन्य तीन साध्वियों को साथ लेकर विचरे और चार अन्य साध्वियों को साथ में रखकर चातुर्मास करे।

बृहत्कल्प उद्दे. ५ के विधान से और इन सूत्रों के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अकेली साध्वी विचरण न करे किन्तु दो साध्वियां साथ में विचरण कर सकती हैं या चातुर्मास कर सकती हैं। क्योंकि आगम के किसी भी विधान मे उनके लिये दो से विचरने का निषेध नहीं है। किन्तु साम्प्रदायिक समाचारियों के विधानानुसार दो साध्वियों का विचरण एवं चातुर्मास करना निषिद्ध माना जाता है, साथ ही सेवा आदि के निमित्त प्रवर्तिनी आदि की आज्ञा से दो साध्वियों को जाना-आना आगम-सम्मत भी माना जाता है। अन्य आवश्यक विवेचन चौथे उद्देशक के दस सूत्रों के समान समझ लेना चाहिये।

अग्रणी साध्वी के काल करने पर साध्वी का कर्तव्य

११. गामाणुगामं दूइज्जमाणी णिग्गंथी य जं पुरओ काउं विहरइ, सा य आहच्च वीसुंभेज्जा अत्थि य इत्थ काइ अण्णा उवसंपज्जणारिहा सा उवसंपज्जियव्वा।

नत्थि य इत्थ काइ अण्णा उवसंपज्जणारिहा तीसे य अप्पणो कप्पाए असमत्ते एवं से कप्पइ एगराइयाए पडिमाए जण्णं-जण्णं दिसं अण्णाओ साहम्मिणीओ विहरंति तण्णं-तण्णं दिसं उवलित्तए।

नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए।

कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए।

तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा—'वसाहि अज्जे! एगरायं वा दुरायं वा', एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए। नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए। जा तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ सा सन्तरा छेए वा परिहारे वा।

१२. वासावासं पज्जोसविया निग्गंथी य जं पुरओ काउं विहरइ, सा य आहच्च वीसुंभेज्जा, अत्थि य इत्थ काइ अण्णा उवसंपज्जणारिहा सा उवसंपज्जियव्वा।

नत्थि य इत्थ काइ अण्णा उवसंपज्जणारिहा तीसे य अप्पणो कप्पइ असमत्ते एवं से कप्पइ एगराइयाए पडिमाए जण्णं-जण्णं दिसं अण्णाओ साहम्मिणीओ विहरंति तण्णं-तण्णं दिसं उवलित्तए।

नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए।

कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए।

तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा—'वसाहि अज्जे! एगरायं वा दुरायं वा', एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए। नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए। जा तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ सा संतरा छेए वा परिहारे वा।

११. ग्रामानुग्राम विहार करती हुई साध्वियां, जिसको अग्रणी मानकर विहार कर रही हों उनके कालधर्म प्राप्त होने पर शेष साध्वियों में जो साध्वी योग्य हो उसे अग्रणी बनाना चाहिये।

यदि अन्य कोई साध्वी अग्रणी होने योग्य न हो और स्वयं ने भी निशीथ आदि का अध्ययन पूर्ण न किया हो तो उसे मार्ग में एक-एक रात्रि ठहरते हुए जिस दिशा में अन्य सार्धमिणी साध्वियां विचरती हों, उस दिशा में जाना चाहिए।

मार्ग में उसे विचरने के लक्ष्य से ठहरना नहीं कल्पता है।

यदि रोगादि का कारण हो तो ठहरना कल्पता है।

रोगादि के समाप्त होने पर यदि कोई कहे कि—'हे आर्ये! एक या दो रात और ठहरो', तो उन्हें एक या दो रात और ठहरना कल्पता है। किन्तु एक या दो रात से अधिक ठहरना नहीं कल्पता है। जो साध्वी एक या दो रात से अधिक ठहरती है, वह मर्यादा-उल्लंघन के कारण दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त की पात्र होती है।

१२. वर्षावास में रही हुई साध्वियां जिसको अग्रणी मानकर रह रही हों उसके कालधर्म प्राप्त होने पर शेष साध्वियों में जो साध्वी योग्य हो, उसे अग्रणी बनाना चाहिये।

यदि अन्य कोई साध्वी अग्रणी होने योग्य न हो और स्वयं ने भी आचार-प्रकल्प का अध्ययन पूर्ण न किया हो तो उसे मार्ग में एक-एक रात्रि ठहरते हुए जिस दिशा में अन्य सार्धमिणी साध्वियां विचरती हों उस दिशा में जाना कल्पता है।

मार्ग में उसे विचरने के लक्ष्य से ठहरना नहीं कल्पता है।

यदि रोगादि का कारण हो तो ठहरना कल्पता है।

रोगादि के समाप्त होने पर यदि कोई कहे कि—"हे आर्य ! एक या दो रात और ठहरो'," तो उसे एक या दो रात और ठहरना कल्पता है। किन्तु एक या दो रात से अधिक ठहरना नहीं कल्पता है। जो साध्वी एक या दो रात से अधिक ठहरती है, वह मर्यादा-उल्लंघन के कारण दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त की पात्र होती है।

विवेचन—चौथे उद्देशक के ग्यारहवें बारहवें सूत्र में अग्रणी साधु के कालधर्म-प्राप्त हो जाने का वर्णन है और यहां अग्रणी साध्वी के कालधर्म-प्राप्त हो जाने का वर्णन है। अन्य साध्वी को अग्रणी बनने या बनाने का अथवा विहार करने का विवेचन चौथे उद्देशक के समान समझना चाहिए।

सूत्र में "तीसे य अप्पणो कप्पाए" और "वसाहि अज्जे" आदि एकवचन के प्रयोग प्रमुख साध्वी को लक्ष्य करके किये गये है और प्रमुख बनने या बनाने का वर्णन होने के कारण अनेक साध्वियों का होना भी सूत्र से ही स्पष्ट हो जाता है।

प्रवर्तिनी के द्वारा पद देने का निर्देश

१३. पवत्तिणी य गिलायमाणी अन्नयरं वएज्जा—"मए णं अज्जे ! कालगयाए समाणीए इयं समुक्कसियव्वा।"

सा य समुक्कसिणारिहा समुक्कसियव्वा,

सा य नो समुक्कसिणारिहा नो समुक्कसियव्वा।

अत्थि य इत्थ अण्णा काइ समुक्कसिणारिहा सा समुक्कसियव्वा।

नत्थि य इत्थ अण्णा काइ समुक्कसिणारिहा सा चेव समुक्कसियव्वा।

ताए च णं समुक्किट्ठाए परा वएज्जा—

"दुस्समुक्किट्ठं ते अज्जे। निक्खिवाहि" ताए णं निक्खिवमाणाए नत्थि केइ छेए या परिहारे या।

जाओ साहम्मिणीओ अहाकप्पं नो उट्ठाए विहरंति सव्वासिं तासिं तप्पत्तियं छेए या परिहारे या।

१४. पवत्तिणी य ओहायमाणी अन्नयरं वएज्जा—

"मए णं अज्जे ! ओहावियाए समाणीए इयं समुक्कसियव्वा।"

सा य समुक्कसिणारिहा समुक्कसियव्वा,

सा य नो समुक्कसिणारिहा नो समुक्कसियव्वा।

अत्थि य इत्थ अण्णा काइ समुक्कसिणारिहा सा समुक्कसियव्वा।

नत्थि य इत्थ अण्णा काइ समुक्कसिणारिहा सा चेव समुक्कसियव्वा।

ताए च णं समुक्किट्ठाए परा वएज्जा—"दुस्समुक्किट्ठं ते अज्जे ! निक्खिवाहि।" ताए णं निक्खिवमाणाए नत्थि केइ छेए या परिहारे या।

जाओ साहम्मिणीओ अहाकप्पं नो उवट्ठाए विहरंति सव्वासिं तासिं तप्पत्तियं छेए या परिहारे वा।

१३. रुग्ण प्रवर्तिनी किसी प्रमुख साध्वी से कहे कि—"हे आर्ये! मेरे कालगत होने पर अमुक साध्वी को मेरे पद पर स्थापित करना।"

यदि प्रवर्तिनी-निर्दिष्ट वह साध्वी उस पद पर स्थापन करने योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिए।

यदि वह उस पद पर स्थापन करने योग्य न हो तो उसे स्थापित नहीं करना चाहिए।

यदि समुदाय में अन्य कोई साध्वी उस पद के योग्य हो तो स्थापित करना चाहिए। यदि समुदाय में अन्य कोई भी साध्वी उस पद के योग्य न हो तो प्रवर्तिनी-निर्दिष्ट साध्वी को ही उस पद स्थापित करना चाहिए।

उसको उस पद पर स्थापित करने के बाद कोई गीतार्थ साध्वी कहे कि—"हे आर्ये! तुम इस पद के अयोग्य हो अतः इस पद को छोड़ दो", (ऐसा कहने पर) यदि वह उस पद को छोड़ दे तो वह दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त की पात्र नहीं होती है।

जो स्वधर्मिणी साध्वियां कल्प (उत्तरदायित्व) के अनुसार उसे प्रवर्तिनी आदि पद छोड़ने के लिए न कहें तो वे सभी स्वधर्मिणी साध्वियां उक्त कारण से दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त की पात्र होती हैं।

१४. संयम-परित्याग कर जाने वाली प्रवर्तिनी किसी प्रमुख साध्वी से कहे कि—"हे आर्ये! मेरे चले जाने पर अमुक साध्वी को मेरे पद पर स्थापित करना।"

यदि वह साध्वी उस पद पर स्थापन करने योग्य हो तो उसे उस पद पर स्थापन करना चाहिए।

यदि वह उस पद पर स्थापन करने योग्य न हो तो उसे स्थापित नहीं करना चाहिए।

यदि समुदाय में अन्य कोई साध्वी उस पद के योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिए।

यदि समुदाय में अन्य कोई भी साध्वी उस पद के योग्य न हो तो प्रवर्तिनी-निर्दिष्ट साध्वी को ही उस पद पर स्थापित करना चाहिए।

उसको उस पद पर स्थापित करने के बाद कोई गीतार्थ साध्वी कहे कि—"हे आर्ये! तुम इस पद के अयोग्य हो, अतः इस पद को छोड़ दो", (ऐसा कहने पर) यदि वह उस पद को छोड़ दे तो वह दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त की पात्र नहीं होती है।

जो स्वधर्मिणी साध्वियां कल्प (उत्तरदायित्व) के अनुसार उसे प्रवर्तिनी पद छोड़ने के लिए न कहें तो वे सभी स्वधर्मिणी साध्वियां उक्त कारण से दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त की पात्र होती हैं।

विवेचन—आचार्य अपने गच्छ के सम्पूर्ण साधु-साध्वियों के धर्मशासक होते हैं। अतः उनका विशिष्ट निर्णय तो सभी साध्वियों को स्वीकार करना होता ही है, अर्थात् उनके निर्देशानुसार

प्रवर्तिनी पद पर किसी साध्वी को नियुक्त किया जा सकता है, किन्तु सामान्य विधान की अपेक्षा सूत्रानुसार साध्वियां या प्रवर्तिनी आदि भी अन्य योग्य साध्वी को प्रवर्तिनी आदि पद पर नियुक्त कर सकती हैं। यह इन सूत्रों से स्पष्ट होता है।

अन्य विवेचन चौथे उद्देशक के सूत्र १३-१४ के समान समझ लेना चाहिए।

आचारप्रकल्प-विस्मृत को पद देने का विधि-निषेध

१५. निग्गंथस्स णं नव-डहर-तरुणस्स आयारकपप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया, से य पुच्छियव्वे—

"केण ते कारणेण अज्जो! आयारपकप्पे नामं—अज्झयणे परिब्भट्ठे? किं आबाहेणं उदाहु पमाएणं?"

से य वएज्जा—"नो आबाहेणं, पमाएणं," जावज्जीवं तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

से य वएज्जा—"आबाहेणं, नो पमाएणं, से य संठवेस्सामि त्ति" संठवेज्जा एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

से य "संठवेस्सामि" त्ति नो संठवेज्जा, एवं से नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१६. निग्गंथीए णं नव-डहर-तरुणाए आयारपकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया, सा य पुच्छियव्वा—

"केण भे कारणेणं अज्जे! आयारपकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे? किं आबाहेणं, उदाहु पमाएणं?"

सा य वएज्जा "नो आबाहेणं, पमाएणं", जावज्जीवं तीसे तप्पत्तियं नो कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइणित्तं वा उद्दिसित्तए वा, धारेत्तए वा।

सा य वएज्जा—"आबाहेणं, नो पमाएणं सा य संठवेस्सामि त्ति" संठवेज्जा एवं से कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइणित्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

सा य "संठवेस्सामि" त्ति नो संठवेज्जा, एवं से नो कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइणित्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१५. नवदीक्षित, बाल एवं तरुण निर्ग्रन्थ के यदि आचारप्रकल्प (आचारांग-निशीथसूत्र) का अध्ययन विस्मृत हो जाए तो उसे पूछा जाए कि—

"हे आर्य! तुम किस कारण से आचारप्रकल्प-अध्ययन को भूल गए हो, क्या किसी कारण से भूले हो या प्रमाद से?"

यदि वह कहे कि किसी कारण से नहीं अपितु प्रमाद से विस्मृत हुआ है", तो उसे उक्त कारण से जीवनपर्यन्त आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

यदि वह कहे कि "अमुक कारण से विस्मृत हुआ है—प्रमाद से नहीं। अब मैं आचारप्रकल्प पुनः कण्ठस्थ कर लूंगा"—ऐसा कहकर कण्ठस्थ कर ले तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

यदि वह आचारप्रकल्प को पुनः कण्ठस्थ कर लेने को कहकर भी कण्ठस्थ न करे तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

१६. नवदीक्षित, बाल एवं तरुण निर्ग्रन्थी को यदि आचारप्रकल्प-अध्ययन विस्मृत हो जाए तो उसे पूछना चाहिए कि—

"हे आर्ये ! तुम किस कारण से आचारप्रकल्प-अध्ययन भूल गई हो ? क्या किसी कारण से भूली हो या प्रमाद से ?"

यदि वह कहे कि—"किसी कारण से नहीं अपितु प्रमाद से विस्मृत हुआ है"—तो उसे उक्त कारण से जीवनपर्यन्त प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

यदि वह कहे कि—"अमुक कारण से विस्मृत हुआ है, प्रमाद से नहीं, मैं पुनः आचारप्रकल्प को कण्ठस्थ कर लूंगी"—ऐसा कहकर कण्ठस्थ कर ले तो उसे प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी पद देना या धारण करना कल्पता है।

यदि वह आचारप्रकल्प को पुनः कण्ठस्थ कर लेने को कहकर भी कण्ठस्थ न करे तो उसे प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

विवेचन—तीसरे उद्देशक के तीसरे सूत्र में तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण को "आचारप्रकल्प" कण्ठस्थ धारण करने का कहा गया है और इन सूत्रों में प्रत्येक श्रमण-श्रमणी को आचारप्रकल्प कण्ठस्थ करना एवं उसे कण्ठस्थ रखना आवश्यक कहा गया है। साथ ही गच्छ के प्रमुख श्रमणों का यह कर्तव्य बताया गया है कि वे समय-समय पर यह जांच भी करते रहें कि किसी श्रमण को आचारप्रकल्प विस्मृत तो नहीं हो रहा है। यदि विस्मृत हुआ है तो उसके कारण की जानकारी करनी चाहिए।

सूत्र में यह भी कहा गया है कि आचारप्रकल्प को भूलने वाला श्रमण या श्रमणी यदि नवदीक्षित है, बालवय या तरुणवय वाला है तो उसे सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है। यह प्रायश्चित्त दो प्रकार का है, यथा—

(१) अकारण भूलने पर पुनः कण्ठस्थ करने तक वह किसी भी पदवी को धारण नहीं कर सकता तथा (सिंघाड़ाप्रमुख) बन कर विचरण भी नहीं कर सकता।

उद्दे. तीन और पांच के इन सूत्र-विधानों में आचारप्रकल्प का जो महत्त्व बताया गया है, उसे लक्ष्य में रखकर एवं अनुप्रेक्षा करके यदि उसकी रचना के विषय में निर्णय किया जाय तो सहज ही यह निर्णय हो जाता है कि इस व्यवहारसूत्र के रचयिता स्थविर भद्रबाहुस्वामी ने या उनके बाद के किसी स्थविर ने 'आचारप्रकल्प' की रचना नहीं की है किन्तु यह गणधररचित है और प्रारंभ से ही जिनशासन के सभी साधु-साध्वियों को आवश्यक रूप से अध्ययन कराया जाने वाला शास्त्र है। वर्तमान में यह शास्त्र आचारांग+निशीथ उभय सूत्रों का सूचक है।

दशाश्रुतस्कंध के निर्युक्तिकार ने निर्युक्ति की प्रथम गाथा में ही स्थविर श्री प्रथम भद्रबाहुस्वामी को वंदन-नमस्कार करते हुए उन्हें 'तीन छेदसूत्रों (दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प और व्यवहारसूत्र) की रचना करने वाले' ऐसे विशेषण से विभूषित किया है और श्रीभद्रबाहुस्वामी ने अपने द्वारा रचित (निर्यूढ) इस व्यवहारसूत्र में सोलह बार आचारप्रकल्प का निर्देश करते हुए अनेक प्रकार के विधान किए हैं।

इतना स्पष्ट होते हुए भी ऐतिहासिक भ्रान्तियों के कारण वर्तमान के इतिहासज्ञ इस सूत्र के रचनाकार और उनके समय के विषय में अपने संदिग्ध विचार प्रस्तुत करते हैं, यह अत्यंत खेद का विषय है।

आचारप्रकल्प संबंधी व्यवहारसूत्र के विधानों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अध्ययन-व्यवस्था में आचारांग-निशीथसूत्र को अर्थ-परमार्थ सहित कंठस्थ करना प्रत्येक साधु-साध्वी के लिये अत्यंत आवश्यक है तथा स्वाध्याय आदि के द्वारा उसे कण्ठस्थ रखना भी आवश्यक है। जो कोई भी श्रमण या श्रमणी इसके अध्ययन की योग्यता वाले नहीं होते हैं या इसका अध्ययन नहीं करते हैं अथवा अध्ययन करने के बाद उसका स्वाध्याय न करके विस्मृत कर देते हैं, वे ही श्रमण या श्रमणी जिनशासन के किसी भी पद को ग्रहण करने में या पूर्व ग्रहीत को धारण करने के अयोग्य होते हैं, अर्थात् उन्हें कोई पद नहीं दिया जा सकता है और पहले से किसी पद पर हों तो उन्हें पद से हटा दिया जाता है। वे सिंघाड़ाप्रमुख बनकर भी विचरण करने का अधिकार नहीं रखते हैं तथा किसी भी प्रकार की गणव्युत्सर्गसाधना अर्थात् एकलविहार, संभोग-प्रत्याख्यान आदि साधनाएँ भी नहीं कर सकते हैं।

आचारप्रकल्प का धारक भिक्षु ही जघन्य गीतार्थ या जघन्य बहुश्रुत कहा गया है। वही स्वतंत्र विहार या गोचरी के योग्य होता है। अबहुश्रुत या अगीतार्थ की गवेषणा से प्राप्त पदार्थों के उपयोग करने का भी भाष्य में निषेध किया गया है एवं प्रायश्चित्त कहा गया है।

वर्तमान में पूर्वो का ज्ञान विच्छेद मानना तो आगमसम्मत है, किन्तु अन्य सूत्रों का विच्छेद होना नहीं कहा जा सकता है। अतः क्षेत्र या काल की ओट लेकर इन व्यवहारसूत्रकथित विधानों के आचरण का विच्छेद मानना सर्वथा अनुचित है। क्योंकि वर्तमान में दीक्षित होने वाले अनेक नवयुवक श्रमण-श्रमणियों को यदि योग्य अध्यापन कराने वाले मिलें तो वे तीन वर्ष में इतना अध्ययन कंठस्थ अवश्य कर सकते हैं। किन्तु अत्यंत खेद के साथ यह कहना पड़ता है कि अध्ययन के क्षेत्र में उदासीनता के कारण विद्यमान लगभग दस हजार (१०,०००) जैन साधु-साध्वियों में केवल दस साधु-साध्वियां भी इस आचारप्रकल्प को अर्थसहित कण्ठस्थ धारण करने वाले नहीं हैं। फिर भी समाज में अनेक आचार्य, उपाध्याय हैं और अनेक पद प्राप्ति के लिये लालायित रहने वाले भी हैं। संघाड़ाप्रमुख बनकर विचरण करने वाले भी अनेक साधु-साध्वी हैं और वे स्वयं को आगमानुसार विचरण करने वाले भी मानते हैं। किन्तु आगमानुसार अध्ययन, विचरण तथा गच्छ के पदों की व्यवस्था किस

यदि वह कहे कि किसी कारण से नहीं अपितु प्रमाद से विस्मृत हुआ है", तो उसे उक्त कारण से जीवनपर्यन्त आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

यदि वह कहे कि "अमुक कारण से विस्मृत हुआ है—प्रमाद से नहीं। अब मैं आचारप्रकल्प पुनः कण्ठस्थ कर लूंगा"—ऐसा कहकर कण्ठस्थ कर ले तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

यदि वह आचारप्रकल्प को पुनः कण्ठस्थ कर लेने को कहकर भी कण्ठस्थ न करे तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

१६. नवदीक्षित, बाल एवं तरुण निर्ग्रन्थी को यदि आचारप्रकल्प-अध्ययन विस्मृत हो जाए तो उसे पूछना चाहिए कि—

"हे आर्ये! तुम किस कारण से आचारप्रकल्प-अध्ययन भूल गई हो? क्या किसी कारण से भूली हो या प्रमाद से?"

यदि वह कहे कि—"किसी कारण से नहीं अपितु प्रमाद से विस्मृत हुआ है"—तो उसे उक्त कारण से जीवनपर्यन्त प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

यदि वह कहे कि—"अमुक कारण से विस्मृत हुआ है, प्रमाद से नहीं, मैं पुनः आचारप्रकल्प को कण्ठस्थ कर लूंगी"—ऐसा कहकर कण्ठस्थ कर ले तो उसे प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी पद देना या धारण करना कल्पता है।

यदि वह आचारप्रकल्प को पुनः कण्ठस्थ कर लेने को कहकर भी कण्ठस्थ न करे तो उसे प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

विवेचन—तीसरे उद्देशक के तीसरे सूत्र में तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण को "आचारप्रकल्प" कण्ठस्थ धारण करने का कहा गया है और इन सूत्रों में प्रत्येक श्रमण-श्रमणी को आचारप्रकल्प कण्ठस्थ करना एवं उसे कण्ठस्थ रखना आवश्यक कहा गया है। साथ ही गच्छ के प्रमुख श्रमणों का यह कर्तव्य बताया गया है कि वे समय-समय पर यह जांच भी करते रहें कि किसी श्रमण को आचारप्रकल्प विस्मृत तो नहीं हो रहा है। यदि विस्मृत हुआ है तो उसके कारण की जानकारी करनी चाहिए।

सूत्र में यह भी कहा गया है कि आचारप्रकल्प को भूलने वाला श्रमण या श्रमणी यदि नवदीक्षित है, बालवय या तरुणवय वाला है तो उसे सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है। वह प्रायश्चित्त दो प्रकार का है, यथा—

(१) सकारण भूलने पर पुनः कण्ठस्थ करने तक वह किसी भी पदवी को धारण नहीं कर सकता तथा (सिंघाड़ाप्रमुख) बन कर विचरण भी नहीं कर सकता।

(२) प्रमादवश भूल जाय तो वह जीवनपर्यन्त किसी पदवी को धारण नहीं कर सकता तथा सिंघाड़ाप्रमुख बन कर विचरण भी नहीं कर सकता।

"आचारप्रकल्प" से यहां आचारांग और निशीथसूत्र का निर्देश किया गया है। इस सम्बन्धी विस्तृत व्याख्या उद्दे. ३ सूत्र ३ के विवेचन से जान लेनी चाहिए।

उद्दे. तीन और पांच के इन सूत्र-विधानों में आचारप्रकल्प का जो महत्त्व बताया गया है, उसे लक्ष्य में रखकर एवं अनुप्रेक्षा करके यदि उसकी रचना के विषय में निर्णय किया जाय तो सहज ही यह निर्णय हो जाता है कि इस व्यवहारसूत्र के रचयिता स्थविर भद्रबाहुस्वामी ने या उनके बाद के किसी स्थविर ने 'आचारप्रकल्प' की रचना नहीं की है किन्तु यह गणधररचित है और प्रारंभ से ही जिनशासन के सभी साधु-साध्वियों को आवश्यक रूप से अध्ययन कराया जाने वाला शास्त्र है। वर्तमान में यह शास्त्र आचारांग+निशीथ उभय सूत्रों का सूचक है।

दशाश्रुतस्कंध के निर्युक्तिकार ने निर्युक्ति की प्रथम गाथा में ही स्थविर श्री प्रथम भद्रबाहुस्वामी को वंदन-नमस्कार करते हुए उन्हें 'तीन छेदसूत्रों (दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प और व्यवहारसूत्र) की रचना करने वाले' ऐसे विशेषण से विभूषित किया है और श्रीभद्रबाहुस्वामी ने अपने द्वारा रचित (निर्यूढ) इस व्यवहारसूत्र मे सोलह बार आचारप्रकल्प का निर्देश करते हुए अनेक प्रकार के विधान किए हैं।

इतना स्पष्ट होते हुए भी ऐतिहासिक भ्रान्तियों के कारण वर्तमान के इतिहासज्ञ इस सूत्र के रचनाकार और उनके समय के विषय में अपने संदिग्ध विचार प्रस्तुत करते हैं, यह अत्यंत खेद का विषय है।

आचारप्रकल्प संबंधी व्यवहारसूत्र के विधानों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अध्ययन-व्यवस्था में आचारांग-निशीथसूत्र को अर्थ-परमार्थ सहित कंठस्थ करना प्रत्येक साधु-साध्वी के लिये अत्यंत आवश्यक है तथा स्वाध्याय आदि के द्वारा उसे कण्ठस्थ रखना भी आवश्यक है। जो कोई भी श्रमण या श्रमणी इसके अध्ययन की योग्यता वाले नहीं होते हैं या इसका अध्ययन नहीं करते हैं अथवा अध्ययन करने के बाद उसका स्वाध्याय न करके विस्मृत कर देते हैं, वे ही श्रमण या श्रमणी जिनशासन के किसी भी पद को ग्रहण करने में या पूर्व ग्रहीत को धारण करने के अयोग्य होते हैं, अर्थात् उन्हें कोई पद नहीं दिया जा सकता है और पहले से किसी पद पर हों तो उन्हें पद से हटा दिया जाता है। वे सिंघाड़ाप्रमुख बनकर भी विचरण करने का अधिकार नहीं रखते हैं तथा किसी भी प्रकार की गणव्युत्सर्गसाधना अर्थात् एकलविहार, संभोग-प्रत्याख्यान आदि साधनाएँ भी नहीं कर सकते हैं।

आचारप्रकल्प का धारक भिक्षु ही जघन्य गीतार्थ या जघन्य बहुश्रुत कहा गया है। वही स्वतंत्र विहार या गोचरी के योग्य होता है। अबहुश्रुत या अगीतार्थ की गवेषणा से प्राप्त पदार्थों के उपयोग करने का भी भाष्य में निषेध किया गया है एवं प्रायश्चित्त कहा गया है।

वर्तमान में पूर्वों का ज्ञान विच्छेद मानना तो आगमसम्मत है, किन्तु अन्य सूत्रों का विच्छेद होना नहीं कहा जा सकता है। अतः क्षेत्र या काल की ओट लेकर इन व्यवहारसूत्रकथित विधानों के आचरण का विच्छेद मानना सर्वथा अनुचित है। क्योंकि वर्तमान में दीक्षित होने वाले अनेक नवयुवक श्रमण-श्रमणियों को यदि योग्य अध्यापन कराने वाले मिलें तो वे तीन वर्ष में इतना अध्ययन कंठस्थ अवश्य कर सकते हैं। किन्तु अत्यंत खेद के साथ यह कहना पड़ता है कि अध्ययन के क्षेत्र में उदासीनता के कारण विद्यमान लगभग दस हजार (१०,०००) जैन साधु-साध्वियों में केवल दस साधु-साध्वियां भी इस आचारप्रकल्प को अर्थसहित कण्ठस्थ धारण करने वाले नहीं हैं। फिर भी समाज में अनेक आचार्य, उपाध्याय हैं और अनेक पद प्राप्ति के लिये लालायित रहने वाले भी हैं। संघाड़ाप्रमुख बनकर विचरण करने वाले भी अनेक साधु-साध्वी हैं और वे स्वयं को आगमानुसार विचरण करने वाले भी मानते हैं। किन्तु आगमानुसार अध्ययन, विचरण तथा गच्छ के पदों की व्यवस्था बिल

प्रकार करनी चाहिए, यह इन छेदसूत्रों के विवेचन से सरलतापूर्वक जानने एवं पालन करने का प्रयत्न नहीं करते हैं। यह आगमविधानों की उपेक्षा करना है।

अतः वर्तमान के पदवीधरों और गच्छप्रमुखों को अवश्य ही इस ओर ध्यान देकर आगम की अध्ययनप्रणाली को अविच्छिन्न बनाये रखना चाहिए। अर्थात् प्रत्येक नवदीक्षित युवक संत-सती को उचित व्यवस्था के साथ कम से कम तीन या पांच दस वर्ष तक आगम-अध्ययन एवं आत्मजागृतियुक्त संयमपालन में पूर्ण योग्य बनाना चाहिए। यह प्रत्येक पदवीधर का, गच्छप्रमुख का और गुरु का परम कर्तव्य है। ऐसा करने से ही वे शिष्यों के उपकारक हो सकते हैं।

दशा. द. ४ में भी आचार्यादि के लिये शिष्य के प्रति ऐसे ही कर्तव्यों का कथन करके उनके ऋण से उऋण होना कहा गया है, जिसका विवेचन वहीं पर देखें। वर्तमान में ऐसा न करने वाले ये अनेक पदवीधर क्या अपने कर्तव्यों के प्रति सजग हैं ? एवं जिनशासन के प्रति कृतज्ञ हैं ? अथवा पदों के द्वारा केवल प्रतिष्ठा प्राप्त करके संतुष्टि करने वाले हैं ?

इस विषय में गहरा विचार करके जिनशासन के प्रति कर्तव्यनिष्ठा रखने वाले आत्मार्थी साधकों को आगमानुसार अध्ययन-अध्यापन एवं पदप्रदान करने की व्यवस्था करनी चाहिए एवं विकृत परंपरा को आगमानुसारी बनाने में प्रयत्नशील होना चाहिए।

वर्तमान में यह मान्यता भी प्रचलित है कि—'आचारांग एवं निशीथसूत्र का यदि गुरुमुख से एक बार वाचन-श्रवण कर लिया तो प्रमुख बनकर विचरण या पदवीधारण किया जा सकता है और ऐसा करने पर सूत्राज्ञा का पालन हो जाता है।' किन्तु इन दो सूत्रों में किए गए विधानों को गहराई से समझने पर उपर्युक्त धारणा केवल स्वमतिकल्पित कल्पनामात्र सिद्ध होती है। क्योंकि इन सूत्रों में आचारप्रकल्प के विस्मृत होने आदि के विधान से प्रत्येक साधु-साध्वी को कंठस्थ धारण करना ही सिद्ध होता है।

कई आचार्यों की यह भी मान्यता है कि—'साध्वी को निशीथसूत्र का अध्ययन-अध्यापन आर्यरक्षित के द्वारा निषिद्ध है', यह भी आगमविपरीत कल्पना है। क्योंकि प्रस्तुत सोलहवें सूत्र में साध्वी को आचारप्रकल्प के कण्ठस्थ रखने का स्पष्ट विधान है। आगमविधानों से विपरीत आज्ञा देकर परंपरा चलाने का अधिकार किसी भी आचार्य को नहीं होता है और साढ़े नवपूर्वी आर्यरक्षित-स्वामी ऐसी आज्ञा दे भी नहीं सकते हैं, फिर भी इतिहास के नाम से ऐसी कई असंगत कल्पनाएँ प्रचलित हो जाती हैं।

अतः कल्पित कल्पनाओं से सावधान रहकर सूत्राज्ञा को प्रमुखता देनी चाहिये।

स्थविर के लिए आचारप्रकल्प के पुनरावर्तन करने का विधान

१७. थेराणं थेरभूमिपत्ताणं आयारपकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया, कप्पइ तेसिं संठवेत्ताण वा, असंठवेत्ताण वा आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१८. थेराणं थेरभूमिपत्ताणं आयारपकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया, कप्पइ तेसिं

सन्निसण्णाण वा, संतुयट्टाण वा, उत्ताणयाण वा, पासिल्लयाण वा आयरपकप्पं नामं अज्झयणं दोच्चंपि तच्चंपि पडिपुच्छित्तए वा, पडिसारेत्तए वा।

१७. स्थविरत्व (वृद्धावस्था) प्राप्त स्थविर यदि आचारप्रकल्प-अध्ययन विस्मृत हो जाए (और पुनः कण्ठस्थ करे या न करे) तो भी उन्हें आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

१८. स्थविरत्वप्राप्त स्थविर यदि आचारप्रकल्प-अध्ययन विस्मृत हो जाए तो उन्हे बैठे हुए, लेटे हुए, उत्तानासन से सोये हुए या पार्श्वभाग से शयन किये हुए भी आचारप्रकल्प-अध्ययन दो-तीन बार पूछकर स्मरण करना और पुनरावृत्ति करना कल्पता है।

विवेचन—पूर्व सूत्रद्विक के कहे गये विषय का ही यहां स्थविर साधु-साध्वी की अपेक्षा कथन किया गया है।

भाष्य में चालीस से उनसत्तर वर्ष की वय वाले को प्रौढ कहा है और सत्तर वर्ष से अधिक वय वाले को स्थविर कहा गया है। किन्तु ठाणांगसूत्र एवं व्यवहारसूत्र उद्दे. १० आदि आगमों में ६० वर्ष की वय वाले को स्थविर कहा गया है। अतः चालीस से उनसठ वर्ष तक की वय वाले को प्रौढ समझना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्रद्वय में स्थविर भिक्षुओं के लिये आपवादिक विधान किया है, जो प्रौढ के लिये नहीं समझा जा सकता। अतः प्रौढ का समावेश पूर्व सूत्रद्विक में उपलक्षण से या परिशेषन्याय से समझ लेना चाहिए। क्योंकि उस अवस्था तक श्रुत कंठस्थ धारण करने की शक्ति का अधिक ह्रास नहीं होता है। स्मरणशक्ति का ह्रास साठ वर्ष की वय के बाद होना अधिक संभव है। अतः प्रौढ साधु-साध्वियों के आचारप्रकल्प विस्मरण का प्रायश्चित्त भी पूर्व सूत्रद्विक में अंतर्निहित है, ऐसा समझ लेना चाहिए।

सत्तरहवें सूत्र में यह कहा गया है कि स्थविर भिक्षु यदि आचारप्रकल्प विस्मृत हो जाये और वह उसे पुनः उपस्थित कर सके या उपस्थित न भी कर सके तो उन्हें कोई भी पद दिया जा सकता है और पूर्वप्रदत्त पद को वे धारण भी कर सकते हैं।

प्रस्तुत सूत्रों का आशय यह है कि स्थविर भिक्षु को भी आचारप्रकल्प पुनः उपस्थित करने का प्रयत्न तो करना ही चाहिए, किन्तु पुनः उपस्थित न हो सकने पर उन्हें कोई भी प्रायश्चित्त नहीं आता है।

अठारहवें सूत्र में भी यह स्पष्ट किया गया है कि वे सूत्र को पुनः कण्ठस्थ करने के लिये कभी लेटे हुए या बैठे हुए भी अन्य साधुओं से सूत्र का श्रवण कर सकते हैं या बीच के कोई स्थल विस्मृत हों तो उन्हें पूछ सकते हैं। इस प्रकार इस सूत्र में भिक्षु को वृद्धावस्था में भी स्वाध्यायप्रिय होना सूचित किया गया है।

सूत्र में "थेराणं थेरभूमिपत्ताणं" शब्द प्रयोग से यह सूचित किया गया है कि वय:स्थविर होते हुए भी जिन्हें बुढापा आ चुका है अर्थात् जिनकी शरीरशक्ति और इन्द्रियशक्ति क्षीण हो चुकी है, उनकी अपेक्षा ही यह आपवादिक विधान समझना चाहिए।

परस्पर आलोचना करने के विधि-निषेध

१९. जे निग्गंथा य निग्गंथीओ य संभोइया सिया, नो णं कप्पइ अण्णमण्णस्स अंतिए आलोइत्तए।

अत्थि य इत्थ णं केइ आलोयणारिहे कप्पइ णं तस्स अंतिए आलोइत्तए।

नत्थि य इत्थ णं केइ आलोयणारिहे एवं णं कप्पइ अण्णमण्णस्स अंतिए आलोइत्तए।

१९. जो साधु और साध्वियां साम्भोगिक हैं, उन्हें परस्पर एक दूसरे के समीप आलोचना करना नहीं कल्पता है।

यदि स्वपक्ष में कोई आलोचना सुनने योग्य हो तो उनके समीप ही आलोचना करना कल्पता है।

यदि स्वपक्ष में आलोचना सुनने योग्य कोई न हो तो साधु-साध्वी को परस्पर आलोचना करना कल्पता है।

विवेचन—बृहत्कल्पसूत्र के चौथे उद्देशक में बारह सांभोगिक व्यवहारों का वर्णन करते हुए औत्सर्गिक विधि से साध्वियों के साथ छह सांभोगिक व्यवहार रखना कहा गया है। तदनुसार साध्वियों के साथ एक मांडलिक आहार का व्यवहार नहीं होता है तथा आगाढ कारण के बिना उनके साथ आहारादि का लेन-देन भी नहीं होता है, तो भी वे साधु-साध्वी एक आचार्य की आज्ञा में होने से और एक गच्छ वाले होने से सांभोगिक कहे जाते हैं।

ऐसे सांभोगिक साधु-साध्वियों के लिए भी आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त आदि परस्पर करना निषिद्ध है, अर्थात् साधु अपने दोषों की आलोचना, प्रायश्चित्त आचार्य, उपाध्याय, स्थविर आदि के पास ही करें और साध्वियां अपनी आलोचना, प्रायश्चित्त प्रवर्तिनी, स्थविरा आदि योग्य श्रमणियों के पास ही करें, यह विधिमार्ग या उत्सर्गमार्ग है।

अपवादमार्ग के अनुसार किसी गण में साधु या साध्वियों में कभी कोई आलोचनाश्रवण के योग्य न हो या प्रायश्चित्त देने योग्य न हो तब परिस्थितिवश साधु स्वगच्छीय साध्वी के पास आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त कर सकता है और साध्वी स्वगच्छीय साधु के पास आलोचना आदि कर सकती है।

इस विधान से यह स्पष्ट है कि सामान्यतया एक गच्छ के साधु-साध्वियों को भी परस्पर आलोचना, प्रायश्चित्त नहीं करना चाहिए।

परस्पर आलोचना का दुष्फल बताते हुए भाष्य में कहा गया है कि साधु या साध्वी को कभी चतुर्थव्रत भंग संबंधी आलोचना करनी हो और आलोचना सुनने वाला साधु या साध्वी भी कामवासना से पराभूत हो तो ऐसे अवसर पर उसे अपने भाव प्रकट करने का अवसर मिल सकता है और वह कह सकता है कि 'तुम्हें प्रायश्चित्त तो लेना ही है तो एक बार मेरी इच्छा भी पूर्ण कर दो, फिर एक साथ प्रायश्चित्त हो जायेगा।' इस प्रकार परस्पर आलोचना के कारण एक दूसरे का अधिकाधिक पतन होने की संभावना रहती है। अन्य दोषों की आलोचना करते समय भी एकांत में पुनः-पुनः साधु-साध्वी का संपर्क होने से ऐसे दोषों के उत्पन्न होने की संभावना रहती है।

ऐसे ही कारणों से स्वाध्याय या वाचना आदि के सिवाय साधु-साध्वी को परस्पर सभी प्रकार का संपर्क वर्जित है। इसलिये उन्हें एक दूसरे के उपाश्रय में सामान्य वार्तालाप या केवल दर्शन हेतु अथवा परम्परा-पालन के लिये नहीं जाना चाहिए।

स्थानांगसूत्र-निर्दिष्ट सेवा आदि परिस्थितियों से जाना तो आगमसम्मत है।

साधु-साध्वियों के परस्पर संपर्कनिषेध का विशेष वर्णन बृह. उ. ३ सूत्र १ के विवेचन में देखें। उस सूत्र में परस्पर एक दूसरे के उपाश्रय के बैठने, खड़े रहने आदि अनेक कार्यों का निषेध है।

परस्पर सेवा करने का विधि-निषेध

२०. जे निग्गंथा य निग्गंथीओ य संभोइया सिया, नो णं कप्पइ अण्णमण्णेणं वेयावच्चं कारवेत्तए।

अत्थि य इत्थ णं केइ वेयावच्चकरे कप्पइ णं तेणं वेयावच्चं कारवेत्तए,

नत्थि य इत्थ णं केइ वेयावच्चकरे, एवं णं कप्पइ अण्णमण्णेणं वेयावच्चं कारवेत्तए।

२०. जो साधु और साध्वियां सांभोगिक हैं, उन्हें परस्पर एक दूसरे की वैयावृत्य करना नहीं कल्पता है।

यदि स्वपक्ष में कोई वैयावृत्य करने वाला हो तो उसी से वैयावृत्य कराना कल्पता है।

यदि स्वपक्ष में वैयावृत्य करने वाला कोई न हो तो साधु-साध्वी को परस्पर वैयावृत्य करना कल्पता है।

विवेचन—पूर्वसूत्र में साधु-साध्वियों के परस्पर आलोचना करने का निषेध किया गया है और प्रस्तुत सूत्र में परस्पर एक दूसरे के कार्यों को करने का निषेध किया गया है।

साधु-साध्वी के संयम हेतु शरीर सम्बन्धी और उपकरण सम्बन्धी जो भी आवश्यक कार्य हो वह प्रथम तो स्वयं ही करना चाहिए और कभी कोई कार्य साधु-साधुओं से और साध्वियां साध्वियों से भी करवा सकती हैं, यह विधिमार्ग है।

रोग आदि कारणों से या किसी आवश्यक कार्य के करने में असमर्थ होने से परिस्थितिवश विवेकपूर्वक साधु साध्वी परस्पर भी अपना कार्य करवा सकते हैं, यह अपवादमार्ग है।

अत: विशेष परिस्थिति के बिना साधु-साध्वी को परस्पर कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए।

इन सूत्रों के पारस्परिक व्यवहारों के निषेध का मुख्य कारण यह है कि इन प्रवृत्तियों से अतिसम्पर्क, मोहवृद्धि होने से कभी ब्रह्मचर्य में असमाधि उत्पन्न हो सकती है और इस प्रकार का परस्पर अनावश्यक अतिसम्पर्क देखकर जन-साधारण में कई प्रकार की कुशंकाएं उत्पन्न हो सकती हैं।

अत: सूत्रोक्त विधान के अनुसार ही साधु-साध्वियों को आचरण करना चाहिए।

परस्पर किये जाने वाले सेवाकार्य—

(१) आहार-पानी लाकर देना या लेना अथवा निमंत्रण करना।

(२) वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों की याचना करके लाकर देना या स्वयं के गवेषित उपकरण देना।

(३) उपकरणों का परिकर्म कार्य—सीना, जोड़ना, रोगानादि लगाना।
(४) वस्त्र, रजोहरण आदि धोना।
(५) रजोहरण आदि उपकरण बनाकर देना।
(६) प्रतिलेखन आदि कर देना।

इत्यादि अनेक कार्य यथासम्भव समझ लेने चाहिए। इन्हें आगाढ़ परिस्थितियों के बिना परस्पर करना करवाना साधु-साध्वियों को नहीं कल्पता है एवं करने-करवाने पर गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

आचार्य आदि पदवीधरों के भी प्रतिलेखना आदि सेवा कार्य केवल भक्ति प्रदर्शित करने के लिये साध्वियां नहीं कर सकती हैं। यदि आचार्य आदि इस तरह अपना कार्य अकारण करवावें तो वे भी गुरुचौमासी प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

तात्पर्य यह है कि साथ में रहने वाले साधु जो सेवाकार्य कर सकते हों तो साध्वियों से नहीं कराना चाहिए, उसी प्रकार साध्वियों को भी जब तक अन्य साध्वियां करने वाली हों तब तक साधुओं से अपना कोई भी कार्य नहीं करवाना चाहिए।

सर्पदंशचिकित्सा के विधि-निषेध

२१. निग्गंथं च णं राओ वा वियाले वा दीहपुट्ठो लूसेज्जा, इत्थी वा पुरिसस्स ओमावेज्जा, पुरिसो वा इत्थीए ओमावेज्जा, एवं से कप्पइ, एवं से चिट्ठइ, परिहारं च से नो पाउणइ, एस कप्पो थेर-कप्पियाणं।

एवं से नो कप्पइ, एवं से नो चिट्ठइ, परिहारं च से पाउणइ, एस कप्पे जिणकप्पियाणं।

२१. यदि किसी निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी को रात्रि या विकाल (सन्ध्या) में सर्प डस ले और उस समय स्त्री निर्ग्रन्थ की और पुरुष निर्ग्रन्थी की सर्पदंश चिकित्सा करे तो इस प्रकार उपचार कराना उनको कल्पता है। इस प्रकार उपचार कराने पर भी उनकी निर्ग्रन्थता रहती है तथा वे प्रायश्चित्त के पात्र नहीं होते हैं। यह स्थविरकल्पी साधुओं का आचार है।

जिनकल्प वालों को इस प्रकार उपचार कराना नहीं कल्पता है, इस प्रकार उपचार कराने पर उनका जिनकल्प नहीं रहता है और वे प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं। यह जिनकल्पी साधुओं का आचार है।

विवेचन—बृहत्कल्पसूत्र के छट्ठे उद्देशक में ६ प्रकार की कल्पस्थिति कही गई है, अर्थात् ६ प्रकार का आचार कहा गया है। वहां पर स्थविरकल्पी और जिनकल्पी का आचार भिन्न-भिन्न सूचित किया है। उस आचार-भिन्नता का एक उदाहरण इस सूत्र में स्पष्ट किया गया है।

दोनों के आचार में मुख्य अन्तर यह है कि स्थविरकल्पी यथावसर शरीरपरिकर्म, औषध-उपचार तथा परिस्थिति वश किसी भी अपवादमार्ग का अनुसरण कर सकते हैं, किन्तु जिनकल्पी दृढ़तापूर्वक उत्सर्गमार्ग पर ही चलते हैं। वे किसी भी प्रकार का औषध-उपचार, शरीरपरिकर्म,

शरीरसंरक्षण आदि नहीं कर सकते हैं तथा अन्य भी अनेक प्रकार की विशिष्ट समाचारी का वे पालन करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि स्थविरकल्पी भिक्षु को सांप काट खाए तो वह मन्त्रवादी से सांप का जहर उतरवा सकता है। रात्रि में भी वह सर्पदंश का उपचार करा सकता है तथा साध्वी, पुरुष से और साधु, स्त्री से भी रात्रि में सर्पदंश का उपचार करा सकता है। कोई स्थविरकल्पी भी दृढ़ मनोबली हो और चिकित्सा न करावे तो यह उसकी इच्छा पर निर्भर है अर्थात् सूत्रों में दी गई छूट या सूत्रों से प्रतिध्वनित होने वाली छूट का सेवन स्थविरकल्पी के लिए सदा ऐच्छिक होता है।

जिनकल्पी की साधना में स्वेच्छा का कोई विकल्प नहीं है। उसे तो शरीर-निरपेक्ष होकर ग्रहण की गई प्रतिज्ञाओं को जीवनपर्यन्त पालन करना होता है। निर्वद्य अपवाद सेवन से भी इनका जिनकल्प भंग हो जाता है, जिससे वे प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

स्थविरकल्पी को परिस्थितिवश निर्वद्य अपवाद सेवन का प्रायश्चित्त नहीं आता है और कभी किसी परिस्थिति में सावद्य अपवाद सेवन का भी अत्यल्प प्रायश्चित्त ही आता है। किन्तु अकारण मर्यादा का उल्लंघन करने पर उन्हें भी विशेष प्रायश्चित्त आता है।

जिनकल्पी की विशिष्ट समाचारी

१. तीसरे प्रहर में ही गोचरी करना एवं विहार भी तीसरे प्रहर में ही करना।

२. रूक्ष एवं लेप रहित पदार्थों का आहार करना, अभिग्रह युक्त गोचरी करना एवं अन्तिम पांच पिंडेषणाओं में से किसी एक पिंडेषणा से आहारादि ग्रहण करना।

३. वस्त्र-पात्र आदि भी तीसरी चौथी वस्त्रैषणा-पात्रैषणा (पडिमा) से ग्रहण करना।

४. औपग्रहिक उपधि नही रखना, अतः संस्तारकपट्ट या आसन भी नहीं रखना।

५. तीसरे प्रहर के अतिरिक्त प्रायः सदा कायोत्सर्ग करना या उत्कुटुकासन से समय व्यतीत करना।

६. बिछाए हुए पाट, संस्तारक या पृथ्वीशिला मिल जाय तो ही उपयोग में लेना।

७. संयम पालन योग्य क्षेत्र में पूर्ण मासकल्प रहना और चातुर्मास में किसी भी कारण से विहार नहीं करना।

८. दस प्रकार की समाचारी में से दो समाचारियों का पालन करना।

९. स्थंडिल के १० दोष-रहित भूमि हो तो ही परठना अन्यथा नहीं परठना।

१०. मकान का प्रमार्जन, बिलों को ढकना, बन्द करना आदि नहीं करना, न दरवाजे खोलना, न बन्द करना।

११. गृहस्थ की इच्छा बिना कुछ भी नही लेना या उन्हें अप्रीतिकर हो, ऐसा कुछ भी व्यवहार नहीं करना।

१२. मकान देते समय कोई पूछे—"तुम कितने साधु हो, कितना ठहरोगे" ऐसे भावों से पूछने पर नही ठहरना।

१३. अल्प समय भी अग्नि या दीपक जले या उसका प्रकाश आवे वहां नहीं ठहरना।

१४. भिक्षु की १२ पडिमा तथा अन्य भद्र-महाभद्र आदि पडिमा नही करना।

१५. गांव में गोचरी के घरों को छह विभाग में विभाजित करना, फिर एक दिन में किसी एक विभाग में ही गोचरी करना, छह दिनों के पूर्व पुनः वहां गोचरी नही जाना।

१६. अन्य कोई भिक्षु गोचरी जाए, उस विभाग में नहीं जाना।

१७. अतिक्रम आदि दोषों के संकल्पमात्र का भी गुरुचौमासी प्रायश्चित्त लेना।

१८. किसी को दीक्षा न देना, किन्तु प्रतिबोध दे सकते हैं।

१९. आंख आदि का मैल नही निकालना।

२०. वृद्धावस्था में जंघाबल क्षीण होने पर विहार नहीं कहना, किन्तु अन्य सभी जिनकल्प की मर्यादाओं का पालन करना।

इत्यादि और भी अनेक मर्यादाएं हैं, जिन्हें भाष्यादि से अथवा अभि. राजेन्द्र कोष भाग ४ 'जिनकल्प' शब्द पृ. १४७३ (१९) से जान लेना चाहिए।

अभि. राजेन्द्र कोष में जिनकल्प का अर्थ इस प्रकार किया है—

(१) जिनाः गच्छनिर्गतसाधुविशेषाः तेषां कल्पः समाचारः।

जिनानामिव कल्पो जिनकल्प उग्रविहारविशेषः—उग्रविहारी गच्छनिर्गत साधु जिनकल्पी कहे जाते हैं और उनकी समाचारीमर्यादाओं को जिनकल्प कहा जाता है।

इसलिये ही प्रस्तुत सूत्र में उन्हें सांप काट जाय तो भी चिकित्सा कराने का निषेध है।

प्रस्तुत सूत्रविधान के अनुसार स्थविरकल्पी की संयमसाधना शरीरसापेक्ष या शरीरनिरपेक्ष दोनों प्रकार की होती है, किन्तु जिनकल्प-साधना शरीरनिरपेक्ष ही होती है।

पांचवें उद्देशक का सारांश

सूत्र १-१० प्रवर्तिनी दो साध्वियों को साथ लेकर विचरण करे और तीन साध्वियों को साथ लेकर चातुर्मास करे।

गणावच्छेदिका तीन साध्वियों को साथ लेकर विचरण करे एवं चार साध्वियों को साथ लेकर चातुर्मास करे। अनेक प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिका सम्मिलित होवें तो भी उपर्युक्त संख्या के अनुसार ही प्रत्येक को रहना चाहिए।

११-१२ प्रमुखा साध्वी के कालधर्म प्राप्त हो जाने पर शेष साध्वियां अन्य योग्य को प्रमुखा बनाकर विचरण करें। योग्य न हो तो विहार करके शीघ्र अन्य संघाड़े में मिल जावें।

१३-१४ प्रवर्तिनी-निर्दिष्ट योग्य साध्वी को पदवी देना, वह योग्य न हो तो अन्य योग्य साध्वी को पद पर नियुक्त करना।

१५-१६ आचारांग निशीथसूत्र प्रत्येक साधु-साध्वी को अर्थ सहित कण्ठस्थ धारणा करना और उन्हें उपस्थित रखना चाहिए। आचार्यादि को भी यथासमय पृच्छताछ करते रहना चाहिए। यदि किसी को ये सूत्र विस्मृत हो जायें तो उसे किसी प्रकार के

पद पर न रखें न ही उसे प्रमुख बन कर विचरण करने की आज्ञा दें। यदि कोई रोगादि के कारण से सूत्र भूल जाय तो स्वस्थ होने पर पुनः कण्ठस्थ करने के बाद पद आदि दिये जा सकते हैं।

सूत्र १७-१८ वृद्धावस्था वाले स्थविर के द्वारा ये कण्ठस्थ सूत्र भूल जाना क्षम्य है तथा पुनः याद करते हुए भी याद न होवे तो कोई प्रायश्चित्त नहीं है। वृद्ध भिक्षु कभी लेटे हुए या बैठे हुए सूत्र की पुनरावृत्ति, श्रवण या पृच्छा आदि कर सकते हैं।

१९ विशेष परिस्थिति के बिना साधु-साध्वी को परस्पर एक दूसरे के पास आलोचना, प्रायश्चित्त नही करना चाहिए।

२० साधु-साध्वी को परस्पर एक दूसरे का कोई भी सेवाकार्य नहीं करना चाहिए। आगमोक्त विशेष परिस्थितियों में वे एक दूसरे की सेवापरिचर्या कर सकते हैं।

२१ सांप काट जाय तो स्थविरकल्पी भिक्षु को मन्त्रचिकित्सा कराना कल्पता है, किन्तु जिनकल्पी को चिकित्सा करना या कराना नहीं कल्पता है। स्थविरकल्पी को उस चिकित्सा कराने का प्रायश्चित्त भी नहीं है। जिनकल्पी को ऐसा करने पर प्रायश्चित्त आता है।

उपसंहार

इस प्रकार इस उद्देशक में—

सूत्र १-१० प्रवर्तिनी आदि के साथ विचरण करने वाली साध्वियों की संख्या का,

११-१२ प्रमुखा साध्वी के काल करने पर आवश्यक कर्तव्यों का,

१३-१४ प्रवर्तिनी-निर्दिष्ट या अन्य योग्य साध्वी को पद देने का,

१५-१८ आचारप्रकल्प कण्ठस्थ रखने का,

१९-२० साधु-साध्वी को परस्पर सेवा, आलोचना नही करने का,

२१ सर्पदंशचिकित्सा का,

इत्यादि विषयों का कथन किया गया है।

॥ पांचवां उद्देशक समाप्त ॥

छट्ठा उद्देशक

स्वजन-परिजन-गृह में गोचरी जाने का विधि-निषेध

१. भिक्खु य इच्छेज्जा नायविहिं एत्तए, नो से कप्पइ से थेरे अणापुच्छित्ता नायविहिं एत्तए।

कप्पइ से थेरे आपुच्छित्ता नायविहिं एत्तए।

थेरा य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ नायविहिं एत्तए।

थेरा य से नो वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ नायविहिं एत्तए।

जे तत्थ थेरेहिं अविइण्णे नायविहिं एइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा।

नो से कप्पइ अप्पसुयस्स अप्पागमस्स एगाणियस्स नायविहिं एत्तए।

कप्पइ से जे तत्थ बहुस्सुए बब्भागमे तेण सद्धिं नायविहिं एत्तए।

तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते चाउलोदणे, पच्छाउत्ते भिलिंगसूवे, कप्पइ से चाउलोदणे पडिगाहित्तए, नो से कप्पइ भिलिंगसूवे पडिगाहित्तए।

तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते भिलिंगसूवे, पच्छाउत्ते चाउलोदणे, कप्पइ से भिलिंगसूवे पडिगाहित्तए, नो से कप्पइ चाउलोदणे पडिगाहित्तए।

तत्थ से पुव्वागमणेणं दो वि पुव्वाउत्ताइं कप्पइ से दोवि पडिगाहित्तए।

तत्थ से पुव्वागमणेणं दो वि पच्छाउत्ताइं नो से कप्पइ दो वि पडिगाहित्तए।

जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए।

जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पच्छाउत्ते नो से कप्पइ पडिगाहित्तए।

१. भिक्षु यदि स्वजनों के घर गोचरी जाना चाहे तो स्थविरों से पूछे बिना स्वजनों के घर जाना नहीं कल्पता है।

स्थविरों से पूछकर स्वजनों के घर जाना कल्पता है।

स्थविर यदि आज्ञा दे तो स्वजनों के घर जाना कल्पता है।

स्थविर यदि आज्ञा न दे तो स्वजनों के घर पर जाना नहीं कल्पता है।

स्थविरो की आज्ञा के बिना यदि स्वजनों के घर जाए तो वे दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

अल्पश्रुत और अल्पआगमज्ञ अकेले भिक्षु और अकेली भिक्षुणी को स्वजनों के घर जाना नहीं कल्पता है।

किन्तु समुदाय में जो बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ भिक्षु हों, उनके साथ स्वजनों के घर जाना कल्पता है।

ज्ञातिजन के घर में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के आगमन से पूर्व चावल रंधे हुए हों और दाल पीछे से रंधे तो चावल लेना कल्पता है, किन्तु दाल लेना नहीं कल्पता है।

वहां आगमन से पूर्व दाल रंधी हुए हो और चावल पीछे से रंधे तो दाल लेना कल्पता है किन्तु चावल लेना नहीं कल्पता है।

वहां आगमन से पूर्व दाल और चावल दोनों रंधे हुए हों तो दोनों लेने कल्पते हैं।

और दोनों बाद में रंधे हों तो दोनो लेने नहीं कल्पते हैं।

इस प्रकार ज्ञातिजन के घर भिक्षु के आगमन से पूर्व जो आहार अग्नि आदि से दूर रखा हुआ हो, वह लेना कल्पता है।

जो आगमन के बाद में अग्नि से दूर रखा गया हो, वह लेना नहीं कल्पता है।

विवेचन—जिस प्रकार आहार लेने के लिए जाने की सामान्य रूप से गुरु-आज्ञा ली जाती है तो भी निशीथ उ. ४ के अनुसार विगययुक्त आहार ग्रहण करने के लिए आचार्यादि की विशिष्ट आज्ञा लेना आवश्यक होता है। उसी प्रकार प्रस्तुत सूत्र में भिक्षाचरी हेतु सामान्य आज्ञा प्राप्त करने के अतिरिक्त अपने पारिवारिक लोगों के घरों में गोचरी जाने के लिए विशिष्ट आज्ञा प्राप्त करने का विधान किया गया है।

जो भिक्षु बहुश्रुत है, वह आज्ञा प्राप्त करने के बाद स्वयं की प्रमुखता से ज्ञातिजनों के घरों में भिक्षार्थ जा सकता है। किन्तु जो भिक्षु अबहुश्रुत है एवं अल्प दीक्षापर्याय वाला (तीन वर्ष से कम) है, वह आज्ञा प्राप्त करके भी स्वयं की प्रमुखता से नहीं जा सकता, किन्तु किसी बहुश्रुत भिक्षु के साथ ही अपने ज्ञातिजनों के घर जा सकता है।

सूत्र में "णायविहिं" शब्द का प्रयोग है। उसमें ज्ञातिजनों के घर जाने के सभी प्रयोजन समाविष्ट हैं। अतः गोचरी आदि किसी भी प्रयोजन से जाना हो तो उसके लिए इस सूत्रोक्त विधि का पालन करना आवश्यक है। उक्त विधि को भंग करने पर वह यथायोग्य तप या छेद रूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

सूत्र के उत्तरार्ध में भिक्षाचरी सम्बन्धी विवेक निहित है। गवेषणा के ४२ दोषों में एवं आचारांगसूत्र और दशवैकालिकसूत्र के पिंडेषणा अध्ययन में सूचित अनेक दोषों में इस प्रकार का विवेक सूचित नहीं किया है। किन्तु ज्ञातिजनों के घर गोचरी जाने के विधान के साथ ही इस का विस्तृत विधान प्रस्तुत सूत्र में एवं दशा. द. ६ और दशा द. ८ में किया गया है। अतः यह एषणा का दोष नहीं है, किन्तु ज्ञातिजनों के घर से सम्बन्धित दोष है।

यहां इस सूत्र का आशय यह है कि ज्ञातिजनों के घर में भक्ति की अधिकता या अनुराग की अधिकता रहती है। इसी कारण से आचा. श्रु. २ अ. १ उ. ९ में भी इन घरों में गोचरी का समय न हुआ हो तो दूसरी बार जाने का निषेध किया है और निशीथ उ. २ में ज्ञातिजनों के घरों में दुबारा जाने पर प्रायश्चित्त कहा है। किन्तु ज्ञातिजनों के अतिरिक्त अन्य घरों में दुबारा जाए तो यह निषेध एवं प्रायश्चित्त नहीं है, क्योंकि एषणा के सामान्य नियमों में यह नियम नहीं है।

इसके अतिरिक्त जिन घरों में अधिक भक्ति एवं अनुराग हो तो उपलक्षण से वहां भी यह विवेक रखना आवश्यक समझ लेना चाहिए। क्योंकि वहां भी ऐसे दोषों के लगने की सम्भावना तो रहती ही है।

इस सूत्रांश में यह बताया गया है कि पारिवारिक लोगों के घर में गोचरी के लिए प्रवेश करने के बाद कोई भी खाद्य पदार्थ निष्पादित हो या चुल्हे पर से चावल दाल या रोटी दूध आदि कोई भी पदार्थ हटाया जाए तो उसे नहीं लेना चाहिए। उस पदार्थ के हटाने में साधु का निमित्त हो या न हो, ज्ञात कुल में ऐसे पदार्थ अग्राह्य है।

वहां घर में प्रवेश करने के पहले ही जो पदार्थ निष्पन्न हो या चूल्हे पर से उतरा हुआ हो, वही लेना चाहिए।

अपरिचित या अल्पपरिचित घरों में उक्त पदार्थ लेने का सूत्र में निषेध नहीं है।

इसका कारण यह है कि अनुरागी ज्ञातिजन आदि भक्तिवश कभी साधु के निमित्त भी वह प्रवृत्ति कर सकते हैं जिससे अग्निकाय की विराधना होना सम्भव है, किन्तु अल्पपरिचित या अल्पानुरागी घरों में उक्त दोष की सम्भावना नहीं रहती है। अतः उन कुलों में उक्त नियम की उपयोगिता नहीं है। इसीलिए यह विधान आगमों में केवल ज्ञातिजनों के कुल के साथ ही जोड़ा गया है।

आचार्य आदि के अतिशय

२. आयरिय-उवज्झायस्स गणंसि पंच अइसेसा पण्णत्ता, तं जहा—

१. आयरिय-उवज्झाए अंतो उवस्सयस्स पाए निगिज्झिय-निगिज्झिय पप्फोडेमाणे वा पमज्जेमाणे वा नाइक्कमइ।

२. आयरिय-उवज्झाए अंतो उवस्सयस्स उच्चार-पासवणं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा नाइक्कमइ।

३. आयरिय-उवज्झाए पभू वेयावडियं, इच्छा करेज्जा, इच्छा नो करेज्जा।

४. आयरिय-उवज्झाए अंतो उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा एगओ वसमाणे नाइक्कमइ।

५. आयरिय-उवज्झाए बाहिं उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा एगओ वसमाणे नाइक्कमइ।

३. गणावच्छेइयस्स णं गणंसि दो अइसेसा पण्णत्ता, तं जहा—

१. गणावच्छेइए अंतो उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा एगओ वसमाणे नाइक्कमइ।

२. गणावच्छेइए बाहिं उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा एगओ वसमाणे नाइक्कमइ।

गण में आचार्य और उपाध्याय के पांच अतिशय कहे गये हैं, यथा—

१. आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के अन्दर धूल से भरे अपने पैरों से आकर के कपड़े से पोंछें या प्रमार्जन करें तो मर्यादा (जिनाज्ञा) का उल्लंघन नहीं होता है।

२. आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के अन्दर मल-मूत्रादि का त्याग व शुद्धि करें तो मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है।

३. सशक्त आचार्य या उपाध्याय इच्छा हो तो सेवा के कार्य करें और इच्छा न हो तो न करें, फिर भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है।

४. आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के अन्दर किसी विशेष कारण से यदि एक-दो रात अकेले रहें तो भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है।

५. आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के बाहर किसी विशेष कारण से यदि एक-दो रात अकेले रहें तो भी मर्यादा का उल्लघन नहीं होता है।

३. गण में गणावच्छेदक के दो अतिशय कहे गये हैं, यथा—

१. गणावच्छेदक उपाश्रय के अन्दर (किसी विशेष कारण से) यदि एक-दो रात अकेले रहें तो मर्यादा का उल्लंघन नही होता है।

२. गणावच्छेदक उपाश्रय के बाहर (किसी विशेष कारण से) यदि एक-दो रात अकेले रहें तो मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है।

विवेचन—आचारकल्प की कुछ विशेषताओं का यहां "अतिशय" शब्द से निर्देश किया गया है। ठाणांगसूत्र के पांचवें और सातवें अध्ययन में भी आचार्य-उपाध्याय के पांच और सात अतिशय कहे गये हैं। वहां पांच अतिशय तो प्रस्तुत सूत्र के समान हैं और दो विशेष कहे गये हैं, यथा—(१) उपकरणातिशय और (२) भक्तपानातिशय। भाष्य में इन्हीं दो अतिशयों के स्थान पर पांच अतिशय विशेष कहे हैं, यथा—

भत्ते, पाणे, धुवणे, पसंसणा हत्थपायसोए य।
आयरिए अतिसेसा, अणातिसेसा अणायरिए॥ २२९॥

भाष्य गा. २३० से २४६ तक इसका विवेचन किया गया है, उसका सारांश इस प्रकार है—

(१) क्षेत्र-काल के अनुकूल सर्वदोषमुक्त आहार आचार्य को देना,

(२) तिक्त कटुक अम्ल आदि रसों से रहित अचित्त जल आचार्य को देना,

(३) आचार्य के मनोनुकूल तनोनुकूल एवं जनोनुकूल वस्त्रादि उन्हें देना एवं मलिन हो जाने पर उनके उपकरण यथासमय प्रक्षालन कर शुद्ध करना।

(४) गम्भीर, मृदु, क्षमादि गुणों से सम्पन्न, अनेक संयमगुणों की खान, श्रुतवान्, कृतज्ञ, दाता, उच्चकुलोत्पन्न, उपद्रवों से रहित, शांतमूर्ति, बहुश्रुत, तपस्वी इत्यादि गुणों में से वे जिन गुणों से युक्त हों, उन विद्यमान गुणों से उनकी प्रशंसा करना।

(५) हाथ, पांव, मुख, नयन का प्रक्षालन कर शुद्ध रखना।

भाष्यगाथा २३८ से २४६ तक दृष्टान्त देकर यह स्पष्ट किया है कि यदि आचार्य दृढ़ देह वाला हो, स्वाभाविक ही निर्मल देह वाला हो, तेजस्वी एवं यशस्वी हो तो उपर्युक्त अतिशय के आचरणों का सेवन उन्हें नहीं करना चाहिए।

अन्य साधुओं को सामान्य आहार आदि से जीवन निर्वाह करना चाहिए, किन्तु रोगा कारणों से सामान्य भिक्षु भी उक्त आचरणों को स्वीकार कर सकता है ।
सूत्रोक्त पांच अतिशयों का तात्पर्य यह है—

(१) आचार्य आदि उपाश्रय के भीतर भी पांव का प्रमार्जन कर शुद्धि कर सकते हैं ।

(२) ग्रामादि के बाहर शुद्ध योग्य स्थंडिल के होते हुए भी वे उपाश्रय से संलग्न स्थंडिल मलत्याग कर सकते हैं ।

(३) गोचरी आदि अनेक सामूहिक कार्य या वस्त्रप्रक्षालन आदि सेवा के कार्य वे इच्छा हो तो कर सकते हैं अन्यथा शक्ति होते हुए भी अन्य से करवा सकते है ।

(४-५) विद्या मन्त्र आदि के पुनरावर्तन हेतु अथवा अन्य किन्ही कारणों से वे उपाश्रय के किसी एकान्त भाग में अथवा उपाश्रय से बाहर अकेले एक या दो दिन रह सकते हैं । इन विद्या मन्त्रों का उपयोग गृहस्थ हेतु करने का आगम में निषेध है तथापि साधु साध्वी के लिए वे कभी इनका उपयोग कर सकते हैं ।

इन अतिशयों का फलितार्थ यह है कि सामान्य भिक्षु उपर्युक्त विषयों में इस प्रकार आचरण करे—

(१) उपाश्रय में प्रवेश करते समय पांवों का प्रमार्जन यदि आवश्यक हो तो उपाश्रय के बाहर ही कर ले ।

(२) योग्य स्थंडिल उपलब्ध हो और शारीरिक अनुकूलता हो तो उपाश्रय में मलत्याग न करे ।

(३) गुरु-आज्ञा होने पर या बिना कहे भी उन्हें सदा सेवा के कार्यों को करने में प्रयत्नशील रहना चाहिये । शेष समय में ही स्वाध्याय आदि करना चाहिये ।

(४-५) रत्नाधिक गुरु के समीप या उनके दृष्टिगत स्थान में ही सदा शयन-आसन करना चाहिए । किन्तु गीतार्थ-बहुश्रुत भिक्षु अनुकूलता-अनुसार एवं आज्ञानुसार आचरण कर सकता है ।

भाष्य में इन विषयों पर विस्तृत विवेचन करते हुए अनेक गुण-दोषों एवं हानि-लाभ का कथन किया है । जिज्ञासु पाठक वहां देखें ।

सूत्र में आचार्य-उपाध्याय दोनों के पांच-पांच अतिशय कहे है और गणावच्छेदक के अन्तिम दो अतिशय द्वितीय सूत्र में अलग से कहे गये हैं । इसका तात्पर्य यह है कि प्रथम तीन अतिशय गणावच्छेदक के लिए आवश्यक नहीं होते हैं, क्योंकि गणावच्छेदक-पद ऋद्धिसम्पन्न पद न होकर कार्यवाहक पद है । अतः उनके लिये अन्तिम दो अतिशय ही पर्याप्त हैं । विशेष परिस्थिति में तो कोई भी साधु या गणावच्छेदक उक्त सभी अतिशयों की प्रवृत्तियों का आचरण कर सकते हैं ।

सामान्यतया आचार्य-उपाध्याय को अकेले रहने का निषेध उद्दे. ४ में किया गया है । यहां अतिशय की अपेक्षा विधान है ।

अगीतार्थों के रहने का विधि-निषेध और प्रायश्चित्त

४. से गामंसि वा जाव रायहाणिसि वा (सन्निवेसंसि वा) एगवगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमण-पवेसाए (उवस्सए) नो कप्पइ बहूणं अगडसुयाणं एगयओ वत्थए।

अत्थि याइं केइ आयारपकप्पधरे, नत्थि णं केइ छेए वा परिहारे वा।

नत्थि याइं णं केइ आयारपकप्पधरे से संतरा छेए वा परिहारे वा।

५. से गामंसि वा जाव रायहाणिसि वा (सन्निवेसंसि वा) अभिनिव्वगडाए अभिनिदुवाराए अभिनिक्खमण-पवेसाए (उवस्सए) नो कप्पइ बहूणं अगडसुयाणं एगयओ वत्थए।

अत्थि याइं णं केइ आयारपकप्पधरे, जे तत्तियं रयणिं संवसइ, नत्थि णं केइ छेए वा परिहारे वा।

नत्थि याइं णं केइ आयारपकप्पधरे जे तत्तियं रयणिं संवसइ, सव्वेसिं तेसिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा।

४. ग्राम यावत् राजधानी में (सन्निवेश में) एक प्राकार वाले, एक द्वार वाले और एक निष्क्रमण-प्रवेश वाले उपाश्रय में अनेक अकृतश्रुत (अल्पज्ञ) भिक्षुओं को एक साथ रहना नहीं कल्पता है।

यदि उनमे कोई आचारप्रकल्पधर हो तो वे दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त के पात्र नहीं होते हैं।

यदि उनमें कोई आचारप्रकल्पधर न हो तो वे मर्यादा-उल्लंघन के कारण दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

५. ग्राम यावत् राजधानी (सन्निवेश) में अनेक प्राकार वाले, अनेक द्वार वाले और अनेक निष्क्रमण-प्रवेश वाले उपाश्रय में अनेक अकृतश्रुत (अल्पज्ञ) भिक्षुओं को एक साथ रहना नहीं कल्पता है।

यदि कोई आचारप्रकल्पधर तीसरे दिन उनके साथ रहे तो वे दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त-के पात्र नही होते हैं।

यदि कोई आचार प्रकल्पधर तीसरे दिन भी वहा नहीं रहता हो तो उन सभी को उस मर्यादा-उल्लंघन का तप या छेद प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—इन सूत्रों में आचारांग एवं निशीथसूत्र अर्थसहित कण्ठस्थ धारण नहीं करने वाले अबहुश्रुत भिक्षुओं को "अगडसुय"-अकृतश्रुत—कहा गया है। अर्थात् प्रमुख बनकर विचरण करने की योग्यताप्राप्ति के लिए (आवश्यक, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आचारांग और निशीथसूत्र) का अध्ययन एवं कण्ठस्थ धारण नहीं करने वाला भिक्षु आगमिक शब्दों में "अगडसुय" कहा गया है।

ऐसे एक या अनेक भिक्षुओं के विचरण करने का निषेध उद्देशक तीन के प्रथम सूत्र में किया

अन्य साधुओं को सामान्य आहार आदि से जीवन निर्वाह करना चाहिए, किन्तु रोगादि कारणों से सामान्य भिक्षु भी उक्त आचरणों को स्वीकार कर सकता है।

सूत्रोक्त पांच अतिशयों का तात्पर्य यह है—

(१) आचार्य आदि उपाश्रय के भीतर भी पांव का प्रमार्जन कर शुद्धि कर सकते हैं।

(२) ग्रामादि के बाहर शुद्ध योग्य स्थंडिल के होते हुए भी वे उपाश्रय से संलग्न स्थंडिल में मलत्याग कर सकते हैं।

(३) गोचरी आदि अनेक सामूहिक कार्य या वस्त्रप्रक्षालन आदि सेवा के कार्य वे इच्छा हो तो कर सकते है अन्यथा शक्ति होते हुए भी अन्य से करवा सकते हैं।

(४-५) विद्या मन्त्र आदि के पुनरावर्तन हेतु अथवा अन्य किन्हीं कारणों से वे उपाश्रय के किसी एकान्त भाग में अथवा उपाश्रय से बाहर अकेले एक या दो दिन रह सकते हैं। इन विद्या मन्त्रों का उपयोग गृहस्थ हेतु करने का आगम में निषेध है तथापि साधु साध्वी के लिए वे कभी इनका उपयोग कर सकते हैं।

इन अतिशयों का फलितार्थ यह है कि सामान्य भिक्षु उपर्युक्त विषयों में इस प्रकार आचरण करे—

(१) उपाश्रय में प्रवेश करते समय पांवों का प्रमार्जन यदि आवश्यक हो तो उपाश्रय के बाहर ही कर ले।

(२) योग्य स्थंडिल उपलब्ध हो और शारीरिक अनुकूलता हो तो उपाश्रय में मलत्याग न करे।

(३) गुरु-आज्ञा होने पर या बिना कहे भी उन्हें सदा सेवा के कार्यों को करने में प्रयत्नशील रहना चाहिये। शेष समय में ही स्वाध्याय आदि करना चाहिये।

(४-५) रत्नाधिक गुरु के समीप या उनके दृष्टिगत स्थान में ही सदा शयन-आसन करना चाहिए। किन्तु गीतार्थ-बहुश्रुत भिक्षु अनुकूलता-अनुसार एवं आज्ञानुसार आचरण कर सकता है।

भाष्य में इन विषयों पर विस्तृत विवेचन करते हुए अनेक गुण-दोषों एवं हानि-लाभ का कथन किया है। जिज्ञासु पाठक वहां देखें।

सूत्र में आचार्य-उपाध्याय दोनों के पांच-पांच अतिशय कहे है और गणावच्छेदक के अन्तिम दो अतिशय द्वितीय सूत्र में अलग से कहे गये हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्रथम तीन अतिशय गणावच्छेदक के लिए आवश्यक नहीं होते हैं, क्योंकि गणावच्छेदक-पद ऋद्धिसम्पन्न पद न होकर कार्यवाहक पद है। अतः उनके लिये अन्तिम दो अतिशय ही पर्याप्त हैं। विशेष परिस्थिति में तो कोई भी साधु या गणावच्छेदक उक्त सभी अतिशयों की प्रवृत्तियों का आचरण कर सकते हैं।

सामान्यतया आचार्य-उपाध्याय को अकेले रहने का निषेध उद्दे- ४ में किया गया है। यहां अतिशय की अपेक्षा विधान है।

अगीतार्थों के रहने का विधि-निषेध और प्रायश्चित्त

४. से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा (सन्निवेसंसि वा) एगवगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमण-पवेसाए (उवस्सए) नो कप्पइ बहूणं अगडसुयाणं एगयओ वत्थए।

अत्थि याइं केइ आयारपकप्पधरे, नत्थि णं केइ छेए वा परिहारे वा।

नत्थि याइं णं केइ आयारपकप्पधरे से संतरा छेए वा परिहारे वा।

५. से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा (सन्निवेसंसि वा) अभिनिव्वगडाए अभिनिदुवाराए अभिनिक्खमण-पवेसाए (उवस्सए) नो कप्पइ बहूणं अगडसुयाणं एगयओ वत्थए।

अत्थि याइं णं केइ आयारपकप्पधरे, जे तत्तियं रयणिं संवसइ, नत्थि णं केइ छेए वा परिहारे वा।

नत्थि याइं णं केइआयारपकप्पधरे जे तत्तियं रयणिं संवसइ, सव्वेसिं तेसिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा।

४. ग्राम यावत् राजधानी में (सन्निवेश में) एक प्राकार वाले, एक द्वार वाले और एक निष्क्रमण-प्रवेश वाले उपाश्रय में अनेक अकृतश्रुत (अल्पज्ञ) भिक्षुओं को एक साथ रहना नहीं कल्पता है।

यदि उनमें कोई आचारप्रकल्पधर हो तो वे दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त के पात्र नहीं होते हैं।

यदि उनमें कोई आचारप्रकल्पधर न हो तो वे मर्यादा-उल्लंघन के कारण दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

५. ग्राम यावत् राजधानी (सन्निवेश) मे अनेक प्राकार वाले, अनेक द्वार वाले और अनेक निष्क्रमण-प्रवेश वाले उपाश्रय में अनेक अकृतश्रुत (अल्पज्ञ) भिक्षुओं को एक साथ रहना नहीं कल्पता है।

यदि कोई आचारप्रकल्पधर तीसरे दिन उनके साथ रहे तो वे दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त-के पात्र नहीं होते हैं।

यदि कोई आचार प्रकल्पधर तीसरे दिन भी वहा नहीं रहता हो तो उन सभी को उस मर्यादा-उल्लंघन का तप या छेद प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—इन सूत्रों में आचारांग एवं निशीथसूत्र अर्थसहित कण्ठस्थ धारण नहीं करने वाले अबहुश्रुत भिक्षुओं को "अगडसुय"-अकृतश्रुत—कहा गया है। अर्थात् प्रमुख बनकर विचरण करने की योग्यताप्राप्ति के लिए (आवश्यक, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आचारांग और निशीथसूत्र) का अध्ययन एवं कण्ठस्थ धारण नहीं करने वाला भिक्षु आगमिक शब्दों में "अगडसुय" कहा गया है।

ऐसे एक या अनेक भिक्षुओं के विचरण करने का निषेध उद्देशक तीन के प्रथम सूत्र में किया

गया है। प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि किसी ग्रामादि में ऐसे अकृतसूत्री भिक्षुओं को छोड़कर बहुश्रुत भिक्षु विहार कर जाय तो वे अगीतार्थ भिक्षु वहां रह भी नहीं सकते।

इसी विषय को उपाश्रय की अवस्थिति के विकल्पों से सूत्र में स्पष्ट किया गया है—

यदि उपाश्रय में निकलने का तथा उसमें प्रवेश करने का मार्ग एक ही हो तो वहां 'अगडसुयो' (अगीतार्थ) को एक दिन भी रहना नहीं कल्पता है।

यदि उस उपाश्रय में जाने-आने के अनेक मार्ग हों तो अगीतार्थों को एक या दो दिन रहना कल्पता है। तीसरे दिन रहने पर उन्हें प्रायश्चित्त आता है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक योग्य भिक्षु को यथासमय बहुश्रुत होने योग्य श्रुत का अध्ययन कर एवं उन्हें कण्ठस्थ धारण कर पूर्ण योग्यतासम्पन्न हो जाना चाहिए, जिससे यथावसर विचरण एवं गणधारण आदि किये जा सकें। क्योंकि इन सूत्रों में अनेक अबहुश्रुतों के साथ में रहने एवं विचरण करने का स्पष्टतः निषेध किया गया है और साथ ही इस मर्यादा का भंग करने वालों को प्रायश्चित्त का पात्र कहा गया है।

अतः प्रत्येक नवदीक्षित योग्य भिक्षु का एवं उनके गणप्रमुख आचार्य-उपाध्याय आदि का यह आवश्यक कर्तव्य है कि वे अन्य रुचियों एवं प्रवृत्तियों को प्रमुखता न देकर आगमोक्त अध्ययन-अध्यापन को प्रमुखता दें एवं संयमविधियों में पूर्ण कुशल बनने व बनाने का ध्यान रखें। आचारकुशल एवं श्रुतसंपन्न बने बिना किसी भी भिक्षु को अलग विचरने में या अन्य कार्यों में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए।

अध्ययन सम्बन्धी आगमसम्मत अनेक प्रकार की जानकारी निशीथ उद्दे. १९ तथा व्यव. उद्दे. ३ एवं उद्दे. ५ के विवेचन में दी गई है। उसका ध्यानपूर्वक अध्ययन मनन कर आगमानुसार श्रुत-अध्ययन करने एवं करवाने का प्रमुख लक्ष्य बनाना चाहिए। ऐसा करने पर ही जिनाज्ञा का यथोक्त पालन हो सकता है तथा साधक आत्माओं का एवं जिनशासन का सर्वतोमुखी विकास हो सकता है।

अकेले भिक्षु के रहने का विधि-निषेध

६. से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा (सन्निवेसंसि वा) अभिनिव्वगडाए अभिनिदुवाराए अभिनिक्खमण-पवेसणाए (उवस्सए) नो कप्पइ बहुसुयस्स बब्भागमस्स एगाणियस्स भिक्खुस्स वत्थए, किमंग पुण अप्पसुयस्स अप्पागमस्स?

७. से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा (सन्निवेसंसि वा) एगवगडाए, एगदुवाराए, एग-निक्खमण-पवेसाए (उवस्सए) कप्पइ बहुसुयस्स बब्भागमस्स एगाणियस्स भिक्खुस्स वत्थए, उभओ कालं भिक्खुभावं पडिजागरमाणस्स।

६. ग्राम यावत् राजधानी (सन्निवेश) में अनेक वगडा वाले, अनेक द्वार वाले और अनेक निष्क्रमण-प्रवेश वाले उपाश्रय में अकेले बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ भिक्षु को भी रहना नहीं कल्पता है, अल्पश्रुत और अल्पआगमज्ञ अकेले भिक्षु को रहना कैसे कल्प सकता है? अर्थात् नहीं कल्पता है।

७. ग्राम यावत् राजधानी (सन्निवेश) में एक वगडा वाले, एक द्वार वाले, एक निष्क्रमण-प्रवेश वाले उपाश्रय में अकेले बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ भिक्षु को दोनों समय संयमभाव की जागृति रखते हुए रहना कल्पता है।

विवेचन—पूर्व सूत्रद्विक में अकृतसूत्री-अगीतार्थ भिक्षुओं के निवास से सम्बन्धित कथन किया गया है और प्रस्तुत सूत्रद्विक में बहुश्रुत-गीतार्थ अकेले भिक्षु को ग्रामादि में किस प्रकार के उपाश्रय में किस प्रकार से रहना या नहीं रहना, यह विधान किया गया है।

भाष्य में अगीतार्थ से सम्बन्धित सूत्रों का और इन एकाकी भिक्षुओं से सम्बन्धित सूत्रों का स्पष्टीकरण करते हुए इन्हें गच्छ की निश्रागत होना कहा है और "एगवगडा" आदि विशेषणों को उपाश्रयों से सम्बन्धित करके विस्तृत विवेचन किया है। किन्तु उपलब्ध प्रतियों में 'उवस्सय' शब्द लिपिदोष से छूट गया है, ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए यहां 'उवस्सय' शब्द को रखते हुए अर्थ एवं विवेचन किया है।

प्रस्तुत सूत्रद्विक से यह फलित होता है कि—

१. बहुश्रुत एकाकी विचरण करने वाले भिक्षु को अनेक द्वार एवं अनेक मार्ग वाले उपाश्रय में निवास नहीं करना चाहिए।

२. किन्तु एक द्वार, एक मार्ग वाले उपाश्रय में बहुश्रुत भिक्षु रह सकता है।

३. एकलविहारी भिक्षु को उभयकाल (सोते और उठते समय अथवा दिन में और रात्रि में) वैराग्य एवं संयमगुणों को पुष्ट करने वाली धर्म-जागरणा से धर्म-भावना की वृद्धि करते हुए रहना चाहिए।

४. अल्पश्रुत अल्प-आगमज्ञ—अगीतार्थ भिक्षु को किसी भी प्रकार के उपाश्रय में अकेला नहीं रहना चाहिए।

गीतार्थ बहुश्रुत भिक्षु को अकेला रहना तो इस सूत्र से या अन्य आगम-विधानों से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है, तथापि किस उपाश्रय में निवास करना या न करना अथवा किस तरह जागरूक रहना, यह विधान करना इन सूत्रों का आशय है।

विभिन्न प्रकार के उपाश्रयों में गीतार्थ भिक्षु के अकेले रहने पर अथवा अनेक अगीतार्थों के रहने पर किन-किन दोषों की सम्भावना रहती है, यह समझने के लिए जिज्ञासुओं को भाष्य का अवलोकन करना चाहिये।

उसी आशय का कुछ स्पष्टीकरण आगे के सूत्रों में स्वयं आगमकार ने किया है।

व्यव. भाष्य में इस उद्देशक का सार गुजराती भाषा में दिया है, उसमें भी इन चारों सूत्रों का अर्थ उपाश्रय से संबंधित किया है।

ग्रामादि से संबंधित अर्थ करना संगत भी नहीं होता है, क्योंकि प्रतिमाधारी जिनकल्पी आदि एकलविहार साधना करने वालों के तथा परिस्थितिक एकलविहार करने वालों के विचरण में ऐसे विधान का पालन होना भी अशक्य होता है। अतः भाष्यकारकृत अर्थ विवेचन को प्रामाणिक मानकर उपाश्रय से संबंधित अर्थ करना ही उचित है एवं आगमसम्मत है।

शुक्र-पुद्गल निकालने का प्रायश्चित्तसूत्र

८. जत्थ एए बहवे इत्थीओ य पुरिसा य पण्हावेंति, तत्थ से समणे निग्गंथे अन्नयरंसि अचित्तंसि सोयंसि सुक्कपोग्गले निग्घाएमाणे हत्थकम्मपडिसेवणपत्ते आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

९. जत्थ एए बहवे इत्थीओ य पुरिसा य पण्हावेंति तत्थ से समणे निग्गंथे अन्नयरंसि अचित्तंसि सोयंसि सुक्कपोग्गले निग्घाएमाणे मेहुणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

८. जहां पर ये अनेक स्त्री-पुरुष मैथुनसेवन करते हैं, वहां जो श्रमण निर्ग्रन्थ हस्तकर्म के संकल्प से किसी अचित्त स्रोत में शुक्रपुद्गल निकाले तो उसे अनुद्घातिक मासिक प्रायश्चित्त आता है।

९. जहां पर ये अनेक स्त्री-पुरुष मैथुनसेवन करते हैं, वहां जो श्रमण निर्ग्रन्थ मैथुनसेवन के संकल्प से किसी अचित्त स्रोत में शुक्र-पुद्गल निकाले तो उसे चातुर्मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—एकाकी भिक्षु के रहने के स्थानसंबंधी एवं कल्पसंबंधी विधि-निषेध के अनंतर इन सूत्रों में ब्रह्मचर्य महाव्रत के भंग करने की स्थिति का दो प्रकारों से कथन किया गया है। इस प्रकार की दूषित प्रवृत्ति की संभावना एकांत स्थान में ही अधिक संभव रहती है। यदि अनेक अगीतार्थ भिक्षु गीतार्थ की निश्रा बिना रहते हों तो गीतार्थ का संरक्षण न होने से उनमें भी ऐसी दूषित प्रवृत्ति का होना संभव है तथा गीतार्थ भिक्षु भी यदि अकेला रहे तो एकांत स्थान में सूत्रोक्त दूषित प्रवृत्ति की अधिक संभावना रहती है। इसलिए अगीतार्थ विहार और एकाकी विहार संबंधी सूत्र के अनंतर ही यह प्रायश्चित्त विधायक सूत्र कहा गया है।

दशवैकालिकसूत्र चूलिका २ गा. १० में भी परिस्थितिवश एकलविहार का विधान प्रथम-द्वितीय चरण में करने के साथ ही शास्त्रकार ने तृतीय-चतुर्थ चरण में पापों के परित्याग करने की और कामभोगों में आसक्त न होते हुए विचरण करने की शिक्षा दी है। अतः सामान्य तरुण साधकों को और विशेषकर एकाकी भिक्षुओं को इस विषय में विशेष सावधान रहना चाहिए। अर्थात् आगम-स्वाध्याय आदि के द्वारा संयम भावों की अत्यधिक पुष्टि करते हुए रहना चाहिए।

गच्छस्थित साधुओं के उक्त प्रवृत्ति करने में गच्छ की या गच्छस्थित साधुओं की लज्जा आदि के कारण भी कुछ सुरक्षा हो जाती है, किन्तु एकाकी भिक्षु के लिये उक्त सूत्रगत दूषित प्रवृत्ति के करने में पूर्ण स्वतंत्रता रहती है।

दोनों सूत्रों में कही गई प्रवृत्ति को करने में भिक्षु को किसी व्यक्ति या स्त्री की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि दोनों सूत्रों में अचित्त स्रोत (स्थान) का कथन है।

वह अचित्त स्थान कोई भी हो सकता है, किन्तु विचारों की परिणति एवं प्रवृत्ति में हस्तकर्म और मैथुनकर्म के दोष की भिन्नता होने से उसका प्रायश्चित्त अलग-अलग कहा गया है।

उक्त दूषित प्रवृत्ति के संकल्पों से बचने के लिए भिक्षु को निम्न सावधानियां भी रखनी चाहिए—

(१) दूध-दही, घृत, मिष्टान्न, मावा आदि पौष्टिक पदार्थों का सेवन नही करना एवं बादाम पिस्ता आदि मेवे के पदार्थों का भी त्याग करना।

कभी अत्यावश्यक हो तो इन पदार्थों को अल्पमात्रा में लेना और उनका अनेक दिनों तक निरंतर सेवन नहीं करना।

(२) एक महीने में कम से कम चार दिन आयंबिल या उपवासादि तपस्या अवश्य करना।

(३) सदा ऊनोदरी करना अर्थात् किसी भी समय परिपूर्ण भोजन नहीं करना।

(४) शाम के समय आहार नही करना या अत्यल्प करना।

(५) स्वास्थ्य अनुकूल हो तो एक बार से अधिक आहार नही करना अथवा दो बार से अधिक नही करना।

(६) एक बार के आहार में भी द्रव्यों की अल्पतम मर्यादा करना।

(७) आहार में मिर्च-मसालों की मात्रा अत्यल्प लेना, अचार, अथाणा आदि का सेवन नहीं करना।

(८) तले हुए खाद्य पदार्थों का सेवन नहीं करना।

(९) चूर्ण या खट्टे पदार्थों का सेवन नहीं करना।

(१०) रासायनिक औषधियों या ऊष्मावर्धक औषधियों का सेवन नहीं करना। संभवतः अन्य औषध का सेवन भी नहीं करना।

(११) महिने में कम से कम १०-१५ दिन पोरिसी करना एवं कम से कम १५ दिन रूक्ष आहार या सामान्य आहार करना अर्थात् विगय का त्याग करना।

(१२) खाद्य और पेय पदार्थ अत्यंत उष्ण हों तो शीतल करके खाना या पीना, चाय काफी का सेवन नहीं करना।

(१३) स्त्रियों का निकट संपर्क नही करना एवं उनके अंगोपांग और रूप को देखने की रुचि नहीं रखना।

(१४) दिन को नही सोना।

(१५) भोजन के बाद कमर झुकाकर नहीं बैठना और न ही सोना।

(१६) विहार या भिक्षाचरी आदि श्रम अवश्य करना अथवा तपश्चर्या या खड़े रहने की प्रवृत्ति रखना।

(१७) उत्तराध्ययनसूत्र, आचारांगसूत्र, सूयगडांगसूत्र एवं दशवैकालिकसूत्र का स्वाध्याय, वाचना, अनुप्रेक्षा आदि करते रहना।

(१८) नियमित भक्तामरस्तोत या प्रभुभक्ति एवं प्राणायाम अवश्य करना।

(१९) सोते समय और उठते समय कुछ देर आत्मचिन्तन अवश्य करना।

(२०) क्रोध के प्रसंग उपस्थित होने पर मौन रखना, आवेशयुक्त न बोलने का अभ्यास करना।

(२१) यथासमय स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग अवश्य करना।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में भी इस विषय में निम्न सूचना की गई है—

ब्रह्मचर्य का अनुपालन करने वाले पुरुष को इन कार्यों का त्याग करना चाहिए—

विषयराग, स्नेहराग, द्वेष और मोह की वृद्धि करने वाला प्रमाद तथा पार्श्वस्थ-शिथिलाचारी साधुओं का शील-आचार, घृतादि की मालिश करना, तेल लगाकर स्नान करना, बार-बार बगल, शिर, हाथ-पैर और मुंह धोना, मर्दन करना, पैर आदि दबाना, पगचम्पी करना, परिमर्दन करना, सारे शरीर को मलना, विलेपन करना, सुगन्धित चूर्ण-पाउडर से शरीर को सुवासित करना, अगर आदि का धूप देना, शरीर को सजाना, सुशोभित बनाना, बाकुशिक कर्म करना, नखों, केशों एवं वस्त्रों को संवारना, हंसी-मजाक करना, विकारयुक्त भाषण करना, गीत, वादित्र सुनना, नटों, नृत्यकारों, रस्से पर खेल दिखलाने वालों और कुश्तीबाजों का तमाशा देखना तथा इसी प्रकार की अन्य बातें जिनसे तपश्चर्या, संयम एवं ब्रह्मचर्य का आंशिक विनाश या पूर्णतः विनाश होता है, वैसी समस्त प्रवृत्तियों का ब्रह्मचारी पुरुष को सदैव के लिए त्याग कर देना चाहिए।

इन त्याज्य व्यवहारों के साथ आगे कहे जाने वाले व्यापारों से अन्तरात्मा को भावित करना चाहिये, यथा—

स्नान नहीं करना, दन्तधावन नहीं करना, जमे हुए या इससे भिन्न मैल को धारण करना, मौनव्रत धारण करना, केशों का लुंचन, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, अचेल (वस्त्ररहित) होना अथवा अल्प-वस्त्र धारण करना, भूख-प्यास सहना, अल्प उपधि रखना, सर्दी-गर्मी सहना, काष्ठ की शय्या या जमीन पर आसन करना, भिक्षादि के लिए गृहस्थ के घर में जाना और प्राप्ति या अप्राप्ति को समभाव से सहना, मान-अपमान-निन्दा को एवं दंशमशक के क्लेश को सहन करना, द्रव्यादि सम्बन्धी अभिग्रह करना, तप तथा मूलगुण आदि एवं विनय प्रवृत्तियों से अन्तःकरण को भावित करना, जिससे ब्रह्मचर्यव्रत अत्यन्त दृढ हो।

गच्छगत और एकाकी विहारी सभी तरुण भिक्षुओं को ये सावधानियां रखना अत्यंत हितकर हैं। इन सावधानियों से युक्त जीवन व्यतीत करने पर प्रस्तुत सूत्रोक्त दूषित स्थिति के उत्पन्न होने की प्रायः संभावना नहीं रहती है।

सूत्रगत दूषित प्रवृत्ति से भिक्षु का स्वास्थ्य एवं संयम दूषित होता है एवं पुण्य क्षीण होकर सर्वथा दुःखमय जीवन बन जाता है। अतः सूचित सभी सावधानियों के साथ शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

अन्य-गण से आये हुए को गण में सम्मिलित करने का निषेध

१०. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा निग्गंथिं अण्णगणाओ आगयं खुयायारं, सबलायारं, भिन्नायारं, संकिलिट्ठायारं तस्स ठाणस्स अणालोयावेत्ता अपडिक्कमावेत्ता, अनिंदावेत्ता, अगरहावेत्ता, अविउट्टावेत्ता, अविसोहावेत्ता, अकरणाए अणब्भुट्ठावेत्ता, अहारिहं पायच्छित्तं

अपडिवज्जावेत्ता उवट्ठावेत्तए वा, सभुंजित्तए वा, संवसित्तए वा तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

११. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा निग्गंथं अन्नगणाओ आगयं खुयायारं जाव संकिलिट्ठायारं, तस्स ठाणस्स अणालोयावेत्ता जाव अहारिहं पायच्छित्तं अपडिवज्जावेत्ता उवट्ठावेत्तए वा सभुंजित्तए वा संवसित्तए वा तस्स इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१०. खण्डित, शवल, भिन्न और सक्लिष्ट आचार वाली अन्य गण से आई हुई निर्ग्रन्थी को सेवित दोष की आलोचना, प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा, व्युत्सर्ग एव आत्म-शुद्धि न करा लें और भविष्य में पुनः पापस्थान सेवन न करने की प्रतिज्ञा कराके दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार न करा लें तब तक निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को उसे पुनः चारित्र में उपस्थापित करना, उसके साथ साम्भोगिक व्यवहार करना और साथ में रखना नहीं कल्पता है तथा उसे अल्पकाल के लिए दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना या धारण करना भी नहीं कल्पता है।

११. खण्डित यावत् संक्लिष्ट आचार वाले अन्य गण से आये हुए निर्ग्रन्थ को सेवित दोष की आलोचना यावत् दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार न करा लें तब तक निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को उसे पुनः चारित्र में उपस्थापित करना, उसके साथ साम्भोगिक व्यवहार करना और साथ में रखना नहीं कल्पता है तथा उसे अल्पकाल के लिए दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना या धारण करना भी नहीं कल्पता है।

विवेचन—ब्रह्मचर्यभंग आदि के कारण कोई साधु-साध्वी स्वतः गच्छ छोड़कर किसी के पास आवे अथवा गच्छ वालों के द्वारा गच्छ से निकाल दिये जाने पर आवे तो उसे रखने का विधि-निषेध प्रस्तुत सूत्रों में किया गया है।

क्षत-आचार आदि शब्दों का स्पष्टार्थ तीसरे उद्देशक में देखें।

सूत्र में दूषित आचार वाले साधु-साध्वी को उपस्थापित करने का कहा गया है, साथ ही आलोचना, प्रायश्चित्त के द्वारा उसकी शुद्धि करना भी आवश्यक कहा है।

इस प्रकार शुद्धि करके उपस्थापना करने के बाद ही उसके साथ आहार सहनिवास आदि किये जा सकते हैं और तभी उसके लिए आचार्य, उपाध्याय या गुरु का निर्देश किया जा सकता है।

सूत्र में आचार्य, उपाध्याय का निर्देश करने के लिए या उनकी निश्रा स्वीकार करने के लिये "दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा" शब्दों का प्रयोग किया गया है। उन शब्दों में क्षताचार वाले भिक्षु को आचार्य आदि पद देने-लेने का अर्थ करना उचित नहीं है। क्योंकि अक्षत-आचार वाले भिक्षु को ही आगम में आचार्य आदि पदों के योग्य कहा गया है।

अतः दिशा, अनुदिशा का उद्देश करने का तात्पर्य यह समझना चाहिए कि उस उपस्थापित साधु या साध्वी के आचार्य, उपाध्याय या प्रवर्तिनी कौन हैं, यह निर्देश करना। भाष्यकार ने भी यही अर्थ इन शब्दों का किया है।

प्रस्तुत सूत्रद्वय के स्थान पर लिपिदोष आदि कारणों से विभिन्न प्रतियों के मूल पाठों में भिन्नता हो गई है।

कहीं पर साध्वी के दो सूत्र हैं, कहीं पर साधु-साध्वी के चार सूत्र है। किन्तु भाष्यव्याख्या के आधार से प्रथम साध्वी का और द्वितीय साधु का सूत्र रखा गया है।

छट्ठे उद्देशक का सारांश

सूत्र १ ज्ञातिजनों के घरों में जाने के लिये आचार्यादि की विशिष्ट आज्ञा प्राप्त करनी चाहिए। अगीतार्थ या अबहुश्रुत भिक्षु को अकेले नहीं जाना चाहिए, गीतार्थ भिक्षु के साथ में ही जाना चाहिए। वहां घर में पहुंचने के पूर्व बनी हुई वस्तु ही लेनी चाहिए, किन्तु बाद में निष्पन्न हुई वस्तु नही लेनी चाहिए।

२-३ आचार्य-उपाध्याय के आचार सम्बन्धी पांच अतिशय (विशेषताएं) होते हैं और गणावच्छेदक के दो अतिशय होते हैं।

४-५ अकृतसूत्र (अगीतार्थ) अनेक साधुओं को कहीं निवास करना भी नहीं कल्पता है, किन्तु परिस्थितिवश उपाश्रय में एक-दो रात रह सकते हैं, अधिक रहने पर वे सभी प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

६-७ अनेक वगड़, द्वार या मार्ग वाले उपाश्रय में एकाकी भिक्षु को नहीं रहना चाहिए और एक वगड़, द्वार या मार्ग वाले उपाश्रय में भी उभयकाल धर्मजागरणा करते हुए रहना चाहिए।

८-९ स्त्री के साथ मैथुनसेवन न करते हुए भी हस्तकर्म के परिणामों से और कुशील-सेवन के परिणामों से शुक्रपुद्गलों के निकालने पर भिक्षु को क्रमशः गुरुमासिक या गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

१०-११ अन्य गच्छ से आये हुए क्षत-आचार वाले साधु-साध्वी को पूर्ण आलोचना, प्रायश्चित्त कराने के साथ उपस्थापित किया जा सकता है, उसके साथ आहार या निवास किया जा सकता है और उसके आचार्य, उपाध्याय, गुरु आदि की निश्रा निश्चित की जा सकती है।

उपसंहार

इस उद्देशक में—

सूत्र १ ज्ञातकुल में प्रवेश करने का,
२-३ आचार्यादि के अतिशयों का,
४-५ गीतार्थ अगीतार्थ भिक्षुओं के निवास का,
६-७ एकलविहारी भिक्षु के निवास का,
८-९ शुक्रपुद्गल निष्कासन के प्रायश्चित्त का,
१०-११ क्षताचार वाले आए हुए साधु-साध्वियों को रखने का,
इत्यादि विषयों का कथन किया गया है।

॥ छट्ठा उद्देशक समाप्त ॥

सातवां उद्देशक

अन्य-गण से आई साध्वी के रखने में परस्पर पृच्छा

१. जे निग्गंथा य निग्गंथीओ य संभोइया सिया, नो कप्पइ निग्गंथीणं निग्गंथे अणापुच्छित्ता निग्गंथि अन्नगणाओ आगयं खुयायारं जाव संकिलिट्ठायारं तस्स ठाणस्स अणालोयावेत्ता जाव अहारिहं पायच्छित्तं अपडिवज्जावेत्ता पुच्छित्तए वा, वाएत्तए वा, उवट्ठावेत्तए वा, संभुंजित्तए वा, संवसित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा, अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

२. कप्पइ निग्गंथाणं निग्गंथीओ आपुच्छित्ता वा, अणापुच्छित्ता वा, निग्गंथीं अन्नगणाओ आगयं खुयायारं जाव संकिलिट्ठायारं तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता जाव पायच्छित्तं पडिवज्जावेत्ता पुच्छित्तए वा, वाएत्तए वा, उवट्ठावेत्तए वा, संभुंजित्तए वा, संवसित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा, अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा तं च निग्गंथीओ नो इच्छेज्जा, सयमेव नियं ठाणं।

१. जो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियां साम्भोगिक हैं और यदि किसी निर्ग्रन्थ के समीप कोई अन्य गण से खण्डित यावत् संक्लिष्ट आचार वाली निर्ग्रन्थी आए तो निर्ग्रन्थ को पूछे विना और उसके पूर्वसेवित दोष की आलोचना यावत् दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार कराये विना उससे प्रश्न पूछना, उसे वाचना देना, चारित्र में पुन: उपस्थापित करना, उसके साथ बैठकर भोजन करना और साथ में रखना नहीं कल्पता है तथा उसे अल्पकाल के लिए दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना या धारण करना भी नहीं कल्पता है।

२. निर्ग्रन्थ के समीप यदि कोई अन्य गण से खण्डित यावत् संक्लिष्ट आचार वाली निर्ग्रन्थी आए तो निर्ग्रन्थियों को पूछकर या बिना पूछे भी सेवित दोष की आलोचना यावत् दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार कराके उससे प्रश्न पूछना, उसे वाचना देना, चारित्र में पुन: उपस्थापित करना, उसके साथ बैठकर भोजन करने की और साथ रखने की आज्ञा देना कल्पता है तथा उसे अल्पकाल की दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना या धारण करना कल्पता है, किन्तु यदि निर्ग्रन्थियां उसे न रखना चाहें तो उसे चाहिए कि वह पुन: अपने गण में चली जाए।

विवेचन—पूर्व उद्देशक में खण्डित आचार वाले निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के अन्य गण से आने पर उसके आलोचना प्रायश्चित्त करने का विधान किया गया है और प्रस्तुत सूत्रद्वय में केवल साध्वी के आने पर साम्भोगिक श्रमण या श्रमणी को पूछने सम्बन्धी विधान किया गया है।

यदि निर्ग्रन्थी के पास ऐसी साध्वी आवे तो वह अपने साम्भोगिक साधुओं को अर्थात् आचार्य-उपाध्याय आदि को पूछकर, उनकी आज्ञा होने पर ही उस साध्वी को रख सकती है, उसे वाचना देना-लेना कर सकती है, उपस्थापित कर सकती है अथवा उसके साथ आहार या साथ में बैठना आदि व्यवहार कर सकती है। किन्तु पूछे विना, सलाह लिए बिना ऐसी साध्वी के साथ उक्त कार्य करना

या निर्णायक उत्तर देना नहीं कल्पता है। आचार्य आदि यदि अन्यत्र हों तो उनकी आज्ञा प्राप्त होने तक प्रतीक्षा करनी चाहिए।

यदि निर्ग्रन्थ के पास अर्थात् आचार्यादि के पास ऐसी साध्वी आए तो वे उसके लिये साध्वियों को अर्थात् प्रवर्तिनी को पूछकर निर्णय ले सकते है अथवा कभी बिना पूछे भी निर्णय कर उस साध्वी को प्रवर्तिनी के सुपुर्द कर सकते हैं और उस साध्वी के इत्वरिक आचार्य, उपाध्याय या प्रवर्तिनी का निर्देश भी कर सकते हैं।

उसके बाद विषम प्रकृति आदि किसी भी कारण से प्रवर्तिनी उसे न रख सके तो उसे मुक्त कर देना चाहिए, जिससे वह स्वतः अपने पूर्वस्थान में चली जावे।

निर्ग्रन्थी के लिए आचार्य आदि को पूछना आवश्यक इसलिए है कि वे उसके छल-प्रपंचों को या आने वाले विघ्नों को जान सकते हैं और उस साध्वी के लक्षणों से उसके भविष्य को भी जान सकते हैं।

आचार्यादि के द्वारा रखी गई साध्वी को यदि प्रवर्तिनी नहीं रखती हो तो उसका कारण यह हो सकता है कि पूर्व प्रवर्तिनी के साथ उनकी मित्रता हो या शत्रुता हो अथवा उस साध्वी से किसी अनिष्ट का भय हो, इत्यादि अनेक कारण भाष्य में विस्तार से बताये गये हैं।

सामान्यतया तो प्रवर्तिनी आदि की सलाह लेकर ही साध्वी को रखना चाहिए।

सम्बन्धविच्छेद करने सम्बन्धी विधि-निषेध

३. जे निग्गंथा य निग्गंथीओ य संभोइया सिया, नो णं कप्पइ निग्गंथाणं पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए। कप्पइ णं पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए।

जत्थेव अण्णमण्णं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा—"अहं णं अज्जो! तुमए सद्धिं इमंमि कारणम्मि पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेमि।"

से य पडितप्पेज्जा, एवं से नो कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए। से य नो पडितप्पेज्जा, एवं से कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए।

४. जे निग्गंथा य निग्गंथीओ य संभोइया सिया, नो णं कप्पइ निग्गंथीणं पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए। कप्पइ णं पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए।

जत्थेव ताओ अप्पणो आयरिय-उवज्झाए पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा—"अहं णं भंते! अमुगीए अज्जाए सद्धिं इमम्मि कारणम्मि पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेमि।"

सा य पडितप्पेज्जा, एवं से नो कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए। सा य नो पडितप्पेज्जा एवं से कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए।

३. जो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियां सांभोगिक हैं, उनमें निर्ग्रन्थ को परोक्ष में साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके विसम्भोगी करना नहीं कल्पता है, किन्तु प्रत्यक्ष में साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसम्भोगी करना कल्पता है।

जब एक दूसरे से मिलें तब इस प्रकार कहे कि—"हे आर्य ! मैं अमुक कारण से तुम्हारे साथ साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके तुम्हें विसम्भोगी करता हूँ।"

इस प्रकार कहने पर वह यदि पश्चात्ताप करे तो प्रत्यक्ष में भी उसके साथ साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसम्भोगी करना नही कल्पता है। यदि वह पश्चात्ताप न करे तो प्रत्यक्ष में उसके साथ साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसम्भोगी करना कल्पता है।

४. जो निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियां साम्भोगिक है, उनमे निर्ग्रन्थी को प्रत्यक्ष में साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके विसम्भोगी करना नहीं कल्पता है।

किन्तु परोक्ष में साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसभोगी करना कल्पता है।

जब वे अपने आचार्य या उपाध्याय की सेवा में पहुंचें तब उन्हें इस प्रकार कहे कि—"हे भंते! मैं अमुक आर्या के साथ अमुक कारण से परोक्ष रूप मे साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसम्भोगी करना चाहती हूं।"

तब वह निर्ग्रन्थी यदि (आचार्य-उपाध्याय के समीप अपने सेवितदोष का) पश्चात्ताप करे तो उसके साथ परोक्ष में भी साम्भोगिक व्यवहार बन्द करना व उसे विसम्भोगी करना नहीं कल्पता है। यदि वह पश्चात्ताप न करे तो परोक्ष में उसके साथ साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसम्भोगी करना कल्पता है।

विवेचन—इन दो सूत्रों में साम्भोगिक व्यवहार के विच्छेद करने की विधि बताई गई है। भिक्षु को यदि भिक्षु के साथ व्यवहार बन्द करना हो तो उसके समक्ष दोषों का स्पष्ट कथन करते हुए वे व्यवहार बन्द करने को कह सकते हैं। सूत्र में प्रयुक्त "भिक्षु" शब्द से यहां "आचार्य" समझना चाहिए। क्योंकि आचार्य ही गच्छ के अनुशास्ता होते है। उन्हे जानकारी दिए बिना किसी भी साधु को अन्य साधु के साथ व्यवहार बन्द करना उचित नहीं है।

साध्वियों को साधु के समक्ष अर्थात् आचार्यादि के समक्ष निवेदन करना आवश्यक होता है, किन्तु आचार्यादि साधु-साध्वियों की सलाह लिये बिना ही किसी भी साधु-साध्वी को असाम्भोगिक कर सकते हैं।

भिक्षु विसंभोग किए जाने वाले साधुओं के समक्ष आचार्यादि को कहें और साध्वियां विसंभोग की जाने वाली साध्वियों की अनुपस्थिति में आचार्यादि से कहें। तब वे उनसे पूछ-ताछ करें, यह दोनों सूत्रों में आये प्रत्यक्ष और परोक्ष-विसंभोग का तात्पर्य है।

इस प्रकार निवेदन के पश्चात् सदोष साधु या साध्वी अपने दोषों का पश्चात्ताप करके सरलता एवं लघुता धारण कर ले तो उसे प्रायश्चित्त देकर उसके साथ संबंध कायम रखा जा सकता है। पश्चात्ताप न करने पर संबंधविच्छेद कर दिया जाता है।

ठाणांगसूत्र अ. ३ तथा अ. ९ में संभोगविच्छेद करने के कारण कहे गये हैं और भाष्य में भी ऐसे अनेक कारण कहे है।

उनका सारांश यह है कि १. महाव्रत, समिति, गुप्ति एवं समाचारी में उपेक्षापूर्वक दोषों

या निर्णायक उत्तर देना नहीं कल्पता है। आचार्य आदि यदि अन्यत्र हों तो उनकी आज्ञा प्राप्त होने तक प्रतीक्षा करनी चाहिए।

यदि निर्ग्रन्थ के पास अर्थात् आचार्यादि के पास ऐसी साध्वी आए तो वे उसके लिये साध्वियों को अर्थात् प्रवर्तिनी को पूछकर निर्णय ले सकते है अथवा कभी बिना पूछे भी निर्णय कर उस साध्वी को प्रवर्तिनी के सुपुर्द कर सकते हैं और उस साध्वी के इत्वरिक आचार्य, उपाध्याय या प्रवर्तिनी का निर्देश भी कर सकते हैं।

उसके बाद विषम प्रकृति आदि किसी भी कारण से प्रवर्तिनी उसे न रख सके तो उसे मुक्त कर देना चाहिए, जिससे वह स्वतः अपने पूर्वस्थान में चली जावे।

निर्ग्रन्थी के लिए आचार्य आदि को पूछना आवश्यक इसलिए है कि वे उसके छल-प्रपंचो को या आने वाले विघ्नों को जान सकते है और उस साध्वी के लक्षणों से उसके भविष्य को भी जान सकते हैं।

आचार्यादि के द्वारा रखी गई साध्वी को यदि प्रवर्तिनी नही रखती हो तो उसका कारण यह हो सकता है कि पूर्व प्रवर्तिनी के साथ उनको मित्रता हो या शत्रुता हो अथवा उस साध्वी से किसी अनिष्ट का भय हो, इत्यादि अनेक कारण भाष्य में विस्तार से बताये गये हैं।

सामान्यतया तो प्रवर्तिनी आदि की सलाह लेकर ही साध्वी को रखना चाहिए।

सम्बन्धविच्छेद करने सम्बन्धी विधि-निषेध

३. जे निग्गंथा य निग्गंथीओ य संभोइया सिया, नो णं कप्पइ निग्गंथाणं पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए। कप्पइ णं पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए।

जत्थेव अण्णमण्णं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा—"अहं णं अज्जो! तुमए सद्धिं इमंमि कारणम्मि पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेमि।"

से य पडितप्पेज्जा, एवं से नो कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए। से य नो पडितप्पेज्जा, एवं से कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए।

४. जे निग्गंथा य निग्गंथीओ य संभोइया सिया, नो णं कप्पइ निग्गंथीणं पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए। कप्पइ णं पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए।

जत्थेव ताओ अप्पणो आयरिय-उवज्झाए पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा—"अहं णं भंते! अमुगीए अज्जाए सद्धिं इमम्मि कारणम्मि पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेमि।"

सा य पडितप्पेज्जा, एवं से नो कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए। सा य नो पडितप्पेज्जा एवं से कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए।

३. जो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियां सांभोगिक हैं, उनमें निर्ग्रन्थ को परोक्ष में साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके विसम्भोगी करना नहीं कल्पता है, किन्तु प्रत्यक्ष में साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसम्भोगी करना कल्पता है।

जब एक दूसरे से मिलें तब इस प्रकार कहे कि—"हे आर्य ! मैं अमुक कारण से तुम्हारे साथ साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके तुम्हें विसम्भोगी करता हूँ।"

इस प्रकार कहने पर वह यदि पश्चात्ताप करे तो प्रत्यक्ष में भी उसके साथ साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसम्भोगी करना नहीं कल्पता है। यदि वह पश्चात्ताप न करे तो प्रत्यक्ष में उसके साथ साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसम्भोगी करना कल्पता है।

४. जो निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियां साम्भोगिक हैं, उनमे निर्ग्रन्थी को प्रत्यक्ष में साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके विसम्भोगी करना नहीं कल्पता है।

किन्तु परोक्ष में साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसभोगी करना कल्पता है।

जब वे अपने आचार्य या उपाध्याय की सेवा में पहुंचें तब उन्हें इस प्रकार कहे कि—"हे भंते! मैं अमुक आर्या के साथ अमुक कारण से परोक्ष रूप में साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसम्भोगी करना चाहती हूं।"

तब वह निर्ग्रन्थी यदि (आचार्य-उपाध्याय के समीप अपने सेवितदोष का) पश्चात्ताप करे तो उसके साथ परोक्ष में भी साम्भोगिक व्यवहार बन्द करना व उसे विसम्भोगी करना नहीं कल्पता है। यदि वह पश्चात्ताप न करे तो परोक्ष में उसके साथ साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसम्भोगी करना कल्पता है।

विवेचन—इन दो सूत्रों में साम्भोगिक व्यवहार के विच्छेद करने की विधि बताई गई है। भिक्षु को यदि भिक्षु के साथ व्यवहार बन्द करना हो तो उसके समक्ष दोषों का स्पष्ट कथन करते हुए वे व्यवहार बन्द करने को कह सकते हैं। सूत्र में प्रयुक्त "भिक्षु" शब्द से यहां "आचार्य" समझना चाहिए। क्योंकि आचार्य ही गच्छ के अनुशास्ता होते हैं। उन्हें जानकारी दिए बिना किसी भी साधु को अन्य साधु के साथ व्यवहार बन्द करना उचित नहीं है।

साध्वियों को साधु के समक्ष अर्थात् आचार्यादि के समक्ष निवेदन करना आवश्यक होता है, किन्तु आचार्यादि साधु-साध्वियों की सलाह लिये बिना ही किसी भी साधु-साध्वी को असाम्भोगिक कर सकते हैं।

भिक्षु विसंभोग किए जाने वाले साधुओं के समक्ष आचार्यादि को कहें और साध्वियां विसंभोग की जाने वाली साध्वियों की अनुपस्थिति में आचार्यादि से कहें। तब वे उनसे पूछ-ताछ करें, यह दोनों सूत्रों में आये प्रत्यक्ष और परोक्ष-विसंभोग का तात्पर्य है।

इस प्रकार निवेदन के पश्चात् सदोष साधु या साध्वी अपने दोषों का पश्चात्ताप करके सरलता एवं लघुता धारण कर ले तो उसे प्रायश्चित्त देकर उसके साथ संबंध कायम रखा जा सकता है। पश्चात्ताप न करने पर संबंधविच्छेद कर दिया जाता है।

ठाणांगसूत्र अ. ३ तथा अ. ९ में संभोगविच्छेद करने के कारण कहे गये हैं और भाष्य में भी ऐसे अनेक कारण कहे हैं।

उनका सारांश यह है कि १. महाव्रत, समिति, गुप्ति एवं समाचारी में उपेक्षापूर्वक चौथी

बार दोष लगाने पर, २. पार्श्वस्थादि के साथ बारम्बार संसर्ग करने पर तथा ३. गुरु आदि के प्रति विरोधभाव रखने पर उस साधु-साध्वी के साथ संबंधविच्छेद कर दिया जाता है।

प्रव्रजित करने आदि के विधि-निषेध

५. नो कप्पइ निग्गंथाणं निग्गंथीं अप्पणो अट्ठाए पव्वावेत्तए वा, मुंडावेत्तए वा, सेहावेत्तए वा, उवट्ठावेत्तए वा, संवसित्तए वा, संभुंजित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा, अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

६. कप्पइ निग्गंथाणं निग्गंथिं अन्नेसिं अट्ठाए पव्वावेत्तए वा जाव संभुंजित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा, अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

७. नो कप्पइ निग्गंथीणं निग्गंथं अप्पणो अट्ठाए पव्वावेत्तए वा जाव संभुंजित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

८. कप्पइ निग्गंथीणं निग्गंथं अण्णेसिं अट्ठाए पव्वावेत्तए वा जाव संभुंजित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

५. निर्ग्रन्थी को अपनी शिष्या बनाने के लिए प्रव्रजित करना, मुंडित करना, शिक्षित करना, चारित्र में पुनः उपस्थापित करना, उसके साथ रहना और साथ बैठकर भोजन करने के लिए निर्देश करना निर्ग्रन्थ को नहीं कल्पता है तथा अल्पकाल के लिए उसके दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना एवं उसे धारण करना नहीं कल्पता है।

६. अन्य की शिष्या बनाने के लिए किसी निर्ग्रन्थी को प्रव्रजित करना यावत् साथ बैठकर भोजन करने के लिए निर्देश करना निर्ग्रन्थ को कल्पता है तथा अल्पकाल के लिए उसकी दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना एवं उसे धारण करना कल्पता है।

७. निर्ग्रन्थ को अपना शिष्य बनाने के लिए प्रव्रजित करना यावत् साथ बैठकर भोजन करने के लिए निर्देश करना निर्ग्रन्थी को नहीं कल्पता है तथा अल्पकाल के लिए उसकी दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना एवं उसे धारण करना नहीं कल्पता है।

८. निर्ग्रन्थ को अन्य का शिष्य बनाने के लिए प्रव्रजित करना, साथ बैठकर भोजन करने के लिए निर्देश करना निर्ग्रन्थी को कल्पता है तथा अल्पकाल के लिए उसकी दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना एवं उसे धारण करने के लिए अनुज्ञा देना कल्पता है।

विवेचन—सामान्यतया साधु की दीक्षा आचार्य, उपाध्याय के द्वारा एवं साध्वी की दीक्षा आचार्य, उपाध्याय या प्रवर्तिनी के द्वारा दी जाती है।

तथापि कभी कोई गीतार्थ साधु किसी भी साधु या साध्वी को दीक्षित कर सकता है। उसी

प्रकार कोई भी गीतार्थ साध्वी किसी भी साधु या साध्वी को दीक्षित कर सकती है। किन्तु उन्हें आचार्य की आज्ञा लेना आवश्यक होता है।

किसी भी साधु को दीक्षित करना हो तो आचार्य, उपाध्याय के लिए दीक्षित किया जा सकता है और साध्वी को दीक्षित करना हो तो आचार्य, उपाध्याय या प्रवर्तिनी के लिए दीक्षित किया जा सकता है। किंतु साधु अपने लिए साध्वी को और साध्वी अपने लिये साधु को दीक्षित नहीं कर सकती।

भाष्य में बताया गया है कि इस प्रकार से परस्पर एक-दूसरे के लिए दीक्षित करने पर जनसाधारण में अनेक प्रकार की आशंकाएं उत्पन्न हो सकती हैं, जिससे उस साधु-साध्वी की अथवा जिनशासन की हीलना होती है।

कठिन-शब्दार्थ

"पव्वावेत्तए" = दीक्षित करना।
"मुंडावेत्तए" = लुंचन करना।
"सिक्खावेत्तए" = ग्रहण शिक्षा में दशवैकालिकसूत्र पढ़ाना, आसेवन शिक्षा में आचारविधि वस्त्र-परिधान आदि कार्यों की विधि बताना।
उवट्ठावेत्तए = बड़ी दीक्षा देना।
संभुंजित्तए = आहारादि देना।
संवासित्तए = साथ रखना।
"इत्तरियं = अल्पकालीन।
"दिसं" = आचार्य
"अणुदिसं" = उपाध्याय और प्रवर्तिनी।
"उद्दिसित्तए = निश्रा का निर्देश करना।
धारित्तए = नवदीक्षित भिक्षु के द्वारा अपनी दिशा अनुदिशा का धारण करना।

दूरस्थ क्षेत्र में रहे हुए गुरु आदि के निर्देश का विधि-निषेध

९. नो कप्पइ निग्गंथीणं विइकिट्ठियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१०. कप्पइ निग्गंथाणं विइकिट्ठियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

९. निर्ग्रन्थियों को दूरस्थ प्रवर्तिनी या गुरुणी का उद्देश करना या धारण करना नहीं कल्पता है।

१०. निर्ग्रन्थ को दूरस्थ आचार्य या गुरु आदि का उद्देश करना या धारण करना कल्पता है।

विवेचन—पूर्वसूत्र में अन्य के लिए दीक्षित करने का विधान किया गया है और प्रस्तुत सूत्र में भी उसी विषय का कुछ विशेष विधान है।

किसी भी साध्वी को कहीं पर भी दीक्षित होना हो तो उस क्षेत्र से अत्यन्त दूर रही हुई प्रवर्तिनी का निर्देश करके किसी के पास दीक्षित होना नहीं कल्पता है, क्योंकि वह स्वयं अकेली जा नहीं सकती, अधिक दूर होने से कोई पहुँचा नहीं सकते। लम्बे समय के अन्तर्गत उसका भाव परिणमन हो जाय, वह बीमार हो जाय, उसकी गुरुणी बीमार हो जाय या काल कर जाय इत्यादि स्थितियों में अनेक संकल्प-विकल्प या क्लेश, अशांति उत्पन्न होने की संभावना रहती है, इत्यादि कारणों से अतिदूरस्थ गुरुणी आदि का निर्देश कर किसी के पास दीक्षित होना साध्वी के लिए निषेध किया गया है।

सामान्य भिक्षु को भी दूरस्थ आचार्य आदि की निश्रा का निर्देश कर किसी के पास दीक्षित होना नहीं कल्पता है, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि साध्वी के लिए कहे गये दोषों की संभावना साधु के लिए भी हो सकती है। फिर भी द्वितीय सूत्र में जो छूट दी गई है, उसका आशय भाष्य में यह बताया गया है कि यदि दीक्षित होने वाला भिक्षु पूर्ण स्वस्थ एवं ज्ञानी, संविग्न और स्वयं धर्मोपदेशक है तथा उसका आचार्य भी ऐसा ही संविग्न है तो दूरस्थ क्षेत्र में किसी के पास दीक्षित हो सकता है। ऐसे भिक्षु के लिए भाष्य में कहा है कि—

मिच्छत्तादि दोसा, जे वुत्ता ते उ गच्छतो तस्स।
एगागिस्सवि न भवे, इति दूरगते वि उद्दिसणा॥
—भा. गा. १४२

उस योग्य गुणसंपन्न भिक्षु के अकेले जाने पर भी पूर्वोक्त मिथ्यात्वादि दोषों की संभावना नहीं रहती है, अतः उसे दूरस्थ आचार्य, उपाध्याय का निर्देश करके दीक्षा दी जा सकती है।

यहां 'दिसं-अणुदिसं' के अर्थ-भ्रम के कारण इन सूत्रों का विचरण से संबंधित अर्थ किया जाता है। उसे भ्रांतिपूर्ण अर्थ समझना चाहिए।

कलह-उपशमन के विधि-निषेध

११. नो कप्पइ निग्गंथाणं विइकिट्ठाइं पाहुडाइं विओसवेत्तए।

१२. कप्पइ निग्गंथीणं विइकिट्ठाइं पाहुडाइं विओसवेत्तए।

११. निर्ग्रन्थों में यदि परस्पर कलह हो जाए तो उन्हें दूर क्षेत्र में रहे हुए ही उपशान्त होना या क्षमायाचना करना नहीं कल्पता है।

१२. निर्ग्रन्थियों में यदि परस्पर कलह हो जाए तो उन्हें दूरवर्ती क्षेत्र में रहते हुए भी उपशांत होना या क्षमायाचना करना कल्पता है।

विवेचन—साधु-साध्वी को कलह होने के बाद क्षमायाचना किये बिना विहार आदि करने का निषेध बृहत्कल्प उ. ४ में किया गया है। तथापि कभी दोनों में से एक की अनुपशांति के कारण कोई विहार करके दूर देश में चला जाय और बाद में उस अनुपशांत साधु-साध्वी के मन में स्वतः या किसी की प्रेरणा से क्षमायाचना का भाव उत्पन्न हो तो साध्वी को क्षमापना के लिए अतिदूर क्षेत्र

में नहीं जाना चाहिए किंतु अन्य किसी जाने वाले भिक्षु के साथ क्षमायाचना का सन्देश भेज देना चाहिए, किन्तु भिक्षु को यथास्थान जाकर ही क्षमायाचना करना चाहिए। इस अलग-अलग विधान का कारण पूर्वसूत्र में कहे अनुसार ही समझ लेना चाहिए कि साध्वी का जाना पराधीन है और साधु का अकेला जाना भी संभव है। यदि निकट का क्षेत्र हो तो साध्वी को भी अन्य साध्वियों के साथ वहीं जाकर क्षमापणा करना चाहिए। सूत्रोक्त विधान अतिदूरस्थ क्षेत्र की अपेक्षा से है।

भाष्य में बताया गया है कि बीच के क्षेत्रों में यदि राजाओं का युद्ध, दुर्भिक्ष आदि कारण उत्पन्न हो गए हों तो भिक्षु को भी अतिदूर क्षेत्र में रहे हुए ही क्षमापणा कर लेना चाहिए।

क्षमापणा का धार्मिक जीवन में इतना अधिक महत्त्व है कि यदि किसी के साथ क्षमापणा भाव न आए और ऐसे भावों में कालधर्म प्राप्त हो जाय तो वह विराधक हो जाता है।

वह क्षमापण द्रव्य एवं भाव के भेद से दो प्रकार का है—(१) द्रव्य से यदि किसी के प्रति नाराजगी का भाव या रोषभाव हो तो उसे प्रत्यक्ष में कहना कि—"मैं आपको क्षमा करता हूं और आपके प्रति प्रसन्नभाव धारण करता हूं।" यदि कोई व्यक्ति किसी की भूल के कारण रुष्ट हो तो उससे कहना कि—"मेरी गलती हुई आप क्षमा करें, पुनः ऐसा व्यवहार नहीं करूंगा"।

(२) भाव से—शांति सरलता एवं नम्रता से हृदय को पूर्ण पवित्र बना लेना।

इस प्रकार के व्यवहार से तथा भावों की शुद्धि-एवं हृदय की पवित्रता के साथ क्षमा करना और क्षमा मांगना यह पूर्ण क्षमापणाविधि है। परिस्थितिवश ऐसा सम्भव न हो तो बृह. उ. १ सू. ३४ के अनुसार स्वयं को पूर्ण उपशांत कर लेने से भी आराधना हो सकती है, किन्तु यदि हृदय में शांति, शुद्धि न हो तो बाह्य विधि से संलेखना, १५ दिन का संथारा और क्षमापणा कर लेने पर भी आराधना नहीं हो सकती है, ऐसा भगवतीसूत्र में आये अभीचिकुमार के वर्णन से स्पष्ट होता है।

व्यतिकृष्टकाल में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए स्वाध्याय का विधि-निषेध

१३. नो कप्पइ निग्गंथाणं विइगिट्ठे काले सज्झायं करेत्तए।

१४. कप्पइ निग्गंथीणं विइगिट्ठे काले सज्झायं करेत्तए निग्गंथनिस्साए।

१३. निर्ग्रन्थों को व्यतिकृष्ट काल में (उत्कालिक आगम के स्वाध्यायकाल में कालिक आगम का) स्वाध्याय करना नहीं कल्पता है।

१४. निर्ग्रन्थ की निश्रा में निर्ग्रन्थियों को व्यतिकृष्टकाल में भी स्वाध्याय करना कल्पता है।

विवेचन—जिन आगमों का स्वाध्याय जिस काल में निषिद्ध है, वह काल उन आगमों के लिए व्यतिकृष्ट काल कहा जाता है।

साधु-साध्वी को ऐसे समय में स्वाध्याय अर्थात् आगम के मूल पाठ का उच्चारण नहीं करना चाहिए। वे काल निशीथ उद्देशक १९ में अनेक प्रकार के कहे गए हैं।

प्रस्तुत प्रकरण में व्यतिकृष्टकाल से केवल दिन और रात्रि की दूसरी तीसरी पौरिषी समझनी चाहिए अर्थात् इन चारों पौरिषी कालों में कालिकसूत्र का स्वाध्याय करने का निषेध है।

नंदीसूत्र में कालिकसूत्रों की संख्या १२+३०=४२ कही है और उत्कालिक सूत्रों की संख्या २९ कही है।

अनुयोगद्वारसूत्र में आवश्यकसूत्र को उत्कालिक कहा गया है। इस प्रकार कुल ४२+३०=७२ आगम श्रुतज्ञान में कहे गए हैं।

इनमें से उपलब्ध कालिकसूत्रों का उत्काल में स्वाध्याय करना प्रथम सूत्र में निषिद्ध है, किन्तु दूसरे सूत्र में साध्वी के लिए निर्ग्रन्थों के पास स्वाध्याय करने का आपवादिक विधान किया गया है। उसका कारण यह है कि कभी-कभी प्रवर्तिनी या साध्वियों को मूलपाठ उपाध्याय आदि को सुनना आवश्यक हो जाता है, जिससे कि अन्य साधु-साध्वियों में मूलपाठ की परम्परा समान रहे।

साधु-साध्वियों के परस्पर आगमों के स्वाध्याय का एवं वाचना का समय दूसरा-तीसरा प्रहर ही योग्य होता है, इसलिए यह छूट दी गई है, ऐसा समझना चाहिए।

उत्कालिक सूत्रों का चार संध्याकाल में स्वाध्याय करना भी निषिद्ध है, अतः दशवैकालिक या नंदीसूत्र का स्वाध्याय संध्याकाल में या दोपहर के समय नहीं किया जा सकता।

किसी परम्परा में नंदीसूत्र की पचास गाथा तथा दशवै. की दो चूलिका का स्वाध्याय, अस्वाध्यायकाल के समय भी किया जाता है।

इस विषय में ऐसा माना जाता है कि ये रचनाएं मौलिक नहीं हैं। रचनाकार के अतिरिक्त किसी के द्वारा जोड़ी गई हैं।

किन्तु यह धारणा भ्रांत एवं अनुचित है, क्योंकि नंदीसूत्र के रचनाकार देववाचक श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण हैं, यह निर्विवाद है। देववाचक उनका विशेषण है। नंदीसूत्र के चूर्णिकार एवं टीकाकार ने देववाचक या देवर्द्धिगणी को ही नंदीसूत्र का कर्ता स्वीकार किया है। नंदी की ५० गाथाओं में भी अन्त मे दूष्यगणी को वंदन करके उनका गुणगान किया हैं। अतः दूष्यगणी के शिष्य देववाचक श्री देवर्द्धिगणी ही सूत्र के रचनाकार हैं। अन्तिम गाथा के अन्तिम चरण में यह कहा गया है कि "णाणस्स परूवणं वोच्छं" = अब मैं ज्ञान की प्ररूपणा करूंगा। इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि नंदी के कर्ता ही ५० गाथाओं के कर्ता हैं। अतः ५० गाथाओं को सूत्रकार के अतिरिक्त किसी के द्वारा सम्बद्ध मानना प्रमाणसंगत नहीं है तथा नंदीसूत्र का संध्या समय में या अस्वाध्याय समय में उच्चारण नहीं करके उसकी ५० गाथाओं का अकाल में स्वाध्याय करना या उच्चारण करना सर्वथा अनुचित है।

दशवैकालिकसूत्र की चूलिका के विषय में कल्पित कथानक या किंवदन्ती प्रचलित है कि—"महाविदेह क्षेत्र से स्थूलिभद्र की बहिन द्वारा ये चूलिकायें लाई गई हैं।" किन्तु इस कथानक की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। क्योंकि किसी ग्रन्थ में दो चूलिकाएं लाने का वर्णन है तो किसी में चार चूलिका लाने का भी वर्णन है। —परिशिष्टपर्व, पर्व ९, आव. चू पृ. १८८

इन ग्रन्थों से भी दशवैकालिक सूत्र की चूर्णि प्राचीन है। उसके रचनाकार श्री अगस्त्यसिंहसूरि ने चूलिका की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है कि "अब आगे सूत्रकार श्री शय्यंभवाचार्य इस प्रकार कहते हैं।"

चूर्णिकार श्री अगस्त्यसिंहसूरि ने दोनों चूलिकाओं की पूर्ण व्याख्या की है और उसमें शय्यंभवाचार्य द्वारा रचित होना ही सूचित किया है। लेकिन महाविदेह से लाई जाने की बात का कोई कथन उन्होंने नहीं किया। प्रमाण के लिए देखें चूलिका. २ गा. १४-१५ की चूर्णि पृ. २६५। अतः यह किंवदन्ती चूर्णिकार के बाद किसी ने किसी कारण से प्रचारित की है। जो बाद के ग्रन्थों में लिख दी गई है। अतः इन दोनों चूलिकाओं को किसी के द्वारा सम्बद्ध मानकर संध्यासमय में या अस्वाध्यायकाल में इनकी स्वाध्याय करना सर्वथा अनुचित है। ऐसा करने से निशीथ उ. १९ के अनुसार प्रायश्चित्त भी आता है।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी को स्वाध्याय करने का विधि-निषेध

१५. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा असज्झाइए सज्झायं करेत्तए।

१६. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सज्झाइए सज्झायं करेत्तए।

१५. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करना नहीं कल्पता है।

१६. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को स्वाध्यायकाल में स्वाध्याय करना कल्पता है।

विवेचन—काल सम्बन्धी अस्वाध्याय १२, औदारिक सम्बन्धी अस्वाध्याय १० और आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय १०, इस प्रकार कुल ३२ अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने का प्रस्तुत सूत्र में निषेध किया गया है और पूर्व सूत्र में कालिक सूत्रों की उत्काल (दूसरे तीसरे प्रहर) के समय स्वाध्याय करने का निषेध किया गया है। अस्वाध्याय सम्बन्धी विस्तृत विवेचन के लिए निशीथ उद्दे. १९ का अध्ययन करना चाहिए।

दूसरे सूत्र में यह विधान किया गया है कि यदि किसी प्रकार का अस्वाध्याय न हो तो साधु-साध्वियों को स्वाध्याय करना चाहिए।

ज्ञान के अतिचारों के वर्णन से एवं निशीथ उद्दे. १९ सूत्र १३ के प्रायश्चित्त विधान से तथा श्रमणसूत्र के तीसरे पाठ से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वाध्याय के समय निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए।

इस स्वाध्यायविधान की पूर्ति के लिए किसी परम्परा में प्रतिक्रमण के साथ दशवैकालिक की सतरह गाथाओं का स्वाध्याय कर लिया जाता है, यह परम्परा अनुचित है। क्योंकि प्रतिक्रमण का समय तो अस्वाध्याय का होता है, अतः उसके साथ स्वाध्याय करना आगमविरुद्ध भी है तथा आचारांग निशीथसूत्र आदि अनेक कण्ठस्थ किए हुए कालिकआगमों का स्वाध्याय करना भी आवश्यक होता है।

अतः सायंकालीन प्रतिक्रमण के पूर्ण हो जाने पर काल का (आकाश का) प्रतिलेखन करने के बाद पूरे प्रहर तक स्वाध्याय करना चाहिए। उसी प्रकार सुबह के प्रतिक्रमण की आज्ञा लेने के पूर्व रात्रि के चौथे प्रहर में स्वाध्याय करने का आगमविधान है, ऐसा समझना चाहिए। किन्तु केवल दशवै. की उन्हीं १७ गाथाओं का अस्वाध्यायकाल में स्वाध्याय करके सन्तोष मानना अनुचित परंपरा है।

चारों प्रहर में स्वाध्याय न करना यह ज्ञान का अतिचार है एवं लघुचौमासी प्रायश्चित्त का स्थान है। ऐसा जानकर यदि कभी स्वाध्याय न हो तो उसका प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए। किन्तु सेवा या गुरुआज्ञा में कहीं समय व्यतीत हुआ हो तो चारों प्रहर में स्वाध्याय न करने पर भी प्रायश्चित्त नहीं आता है। उसी प्रकार रुग्णता आदि अन्य भी आपवादिक कारण समझ लेने चाहिए। अकारण स्वाध्याय की अपेक्षा कर विकथाओं में समय व्यतीत करने पर संयममर्यादा के विपरीत आचरण होता है एवं ज्ञान के अतिचार का सेवन होता है।

शारीरिक अस्वाध्याय होने पर स्वाध्याय का विधि-निषेध

१७. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अप्पणो असज्झाइए सज्झायं करेत्तए।
कप्पइ णं अण्णमण्णस्स वायणं दलइत्तए।

१७. निर्ग्रन्थों एवं निर्ग्रन्थियों को स्वशरीर सम्बन्धी अस्वाध्याय होने पर स्वाध्याय करना नहीं कल्पता है,

किन्तु परस्पर एक दूसरे को वाचना देना कल्पता है।

विवेचन—दस औदारिक अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने का सामान्य निषेध सूत्र १६ में किया गया है, तथापि यहां पुनः निषेध करने का कारण यह है कि मासिकधर्म संबंधी या अन्य व्रण संबंधी अपना अस्वाध्याय निरंतर चालू रहता है, उतने समय तक कोई भी सूत्र की वाचना चल रही हो उसे बंद करना या बीच में छोड़ना उपयुक्त नहीं है। अनेक साधु-साध्वियों की सामूहिक वाचना चल रही हो तो कभी किसी के और कभी किसी के अस्वाध्याय का कारण हो तो इस प्रकार अनेक दिन व्यतीत हो सकते हैं और उससे सूत्रों की वाचना में अव्यवस्था हो जाती है। अतः यह सूत्र उक्त मासिकधर्म और अन्य व्रण संबंधी अस्वाध्याय में आपवादिक विधान करता है कि रक्त-पीप आदि का उचित विवेक करके साधु या साध्वी परस्पर वाचना का लेन-देन कर सकते हैं।

इस प्रकार यहां मासिकधर्म के अस्वाध्याय में सूत्रों की वाचना देने-लेने की स्पष्ट छूट दी गई है। किन्तु वाचना के अतिरिक्त स्वतः स्वाध्याय करना या सुनना तो सूत्र के पूर्वार्द्ध से निषिद्ध ही है।

भाष्यकार और टीकाकार ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए ऋतु-धर्मकाल में एवं व्रण आदि के समय में सूत्रों की वाचना लेने-देने की विधि का विस्तार से स्पष्टीकरण किया है। साथ ही स्वाध्याय करने का तथा अविधि से वाचना लेने-देने का प्रायश्चित्त कहा है।

अधिक जानकारी के लिए निशीथ. उद्दे. १९ सूत्र १५ का विवेचन देखें।

सूत्र में अपने अस्वाध्याय में वाचना देने का विधान है तो भी वाचना देना और लेना दोनों ही समझ लेना चाहिए। क्योंकि वाचना न देने में जो अव्यवस्था संभव रहती है, उससे भी अधिक

अव्यवस्था वाचना न लेने में हो जाती है और अपने अस्वाध्याय में श्रवण करने की अपेक्षा उच्चारण करना अधिक बाधक होता है। अतः वाचना देने की छूट में वाचना लेना तो स्वतः सिद्ध है। फिर भी भाष्योक्त रक्त आदि की शुद्धि करने एवं वस्त्रपट लगाने की विधि के पालन करने का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

निर्ग्रन्थी के लिए आचार्य-उपाध्याय की नियुक्ति की आवश्यकता

१८. तिवासपरियाए समणे निग्गंथे तीसं वासपरियाए समणीए निग्गंथीए कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

१९. पंचवासपरियाए समणे निग्गंथे सट्ठिवासपरियाए समणीए निग्गंथीए कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

१८. तीस वर्ष की श्रमणपर्याय वाली निर्ग्रन्थी को उपाध्याय के रूप मे तीन वर्ष के श्रमणपर्याय वाले निर्ग्रन्थ को स्वीकार करना कल्पता है।

१९. साठ वर्ष की श्रमणपर्याय वाली निर्ग्रन्थी को आचार्य या उपाध्याय के रूप मे पांच वर्ष के श्रमणपर्याय वाले निर्ग्रन्थ को स्वीकार करना कल्पता है।

विवेचन—उद्देशक ३ सूत्र ११-१२ में साध्वियों को आचार्य, उपाध्याय एवं प्रवर्तिनी इन तीन की निश्रा से रहना आवश्यक कहा है तथा साधुओं को आचार्य, उपाध्याय इन दो की निश्रा से रहना आवश्यक कहा है। वह विधान तीन वर्ष की दीक्षापर्याय एवं चालीस वर्ष की उम्र तक के साधु-साध्वियों के लिए किया गया है।

प्रस्तुत सूत्रद्विक में तीस वर्ष की दीक्षापर्याय वाली साध्वी के लिए उपाध्याय की नियुक्ति और साठ वर्ष की दीक्षापर्याय वाली साध्वी के लिए आचार्य की नियुक्ति करना कहा है।

इसका तात्पर्य यह है कि तीस वर्ष तक की दीक्षापर्याय वाली साध्वियो को उपाध्याय एवं प्रवर्तिनी के बिना रहना नहीं कल्पता है और साठ वर्ष तक की दीक्षापर्याय वाली साध्वियों को आचार्य के बिना रहना नहीं कल्पता है।

भाष्य एवं टीका में उक्त वर्षसंख्या में दीक्षा के पूर्व के दस वर्ष और मिलाकर यह बताया है कि ४० वर्ष तक की उम्र वाली साध्वियों को उपाध्याय एवं प्रवर्तिनी की निश्रा बिना नहीं रहना चाहिए और ७० वर्ष तक की उम्र वाली साध्वियों को आचार्य की निश्रा बिना नहीं रहना चाहिए।

उक्त वर्षसंख्या के बाद यदि पदवीधर कालधर्म को प्राप्त हो जाएँ, या गच्छ छोड़कर शिथिलाचारी बन जाएँ तो ऐसी परिस्थितियों में उन साध्वियों को आचार्य आदि की नियुक्ति करना आवश्यक नही रहता है।

भाष्य में साध्वियों को 'लता' की उपमा दी है अर्थात् लता जिस तरह वृक्षादि के अवलंबन से ही रहती है उसी प्रकार साध्वियों को भी आचार्य के अधीन रहना संयमसमाधि-सुरक्षा के लिए आवश्यक है।

बृहत्कल्प उद्दे॰ १ में किसी ग्रामादि में ठहरने के लिए भी उन्हें गृहस्वामी आदि की निश्रा से रहने का अर्थात् सुरक्षा सहायता का आश्वासन लेकर ही रहने का विधान किया गया है।

आगमकार की दृष्टि से ६० वर्ष की दीक्षापर्याय के बाद आचार्य का और तीस वर्ष की दीक्षा के बाद उपाध्याय का होना उन साध्वियों के लिए आवश्यक नहीं है।

तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाले भिक्षु की उपाध्याय पद पर नियुक्ति एवं पांच वर्ष की दीक्षापर्याय वाले भिक्षु की आचार्य पद पर नियुक्ति संबंधी विस्तृत वर्णन तीसरे उद्देशक से जानना चाहिए।

श्रमण के मृतशरीर को परठने की और उपकरणों को ग्रहण करने की विधि

२०. *गामाणुगामं दूइज्जमाणे भिक्खू य आहच्च वीसुंभेज्जा, तं च सरीरगं केइ साहम्मिए पासेज्जा, कप्पइ से तं सरीरगं 'मा सागारियं' ति कट्टु एगंते अचित्ते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेत्तए।*

अत्थि य इत्थ केइ साहम्मियसंतिए उवगरणजाए परिहरणारिहे, कप्पइ से सागारकडं गहाय दोच्चंपि ओग्गहं अणुन्नवेत्ता परिहारं परिहारित्तए।

२०. ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ भिक्षु यदि अकस्मात् मार्ग में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाए और उसके शरीर को कोई श्रमण देखे और यह जान ले कि यहां 'कोई गृहस्थ नहीं है' तो उस मृत श्रमण के शरीर को एकान्त निर्जीव भूमि में प्रतिलेखन व प्रमार्जन करके परठना कल्पता है।

यदि उस मृत श्रमण के कोई उपकरण उपयोग में लेने योग्य हों तो उन्हें सागारकृत ग्रहण कर पुनः आचार्यादि की आज्ञा लेकर उपयोग में लेना कल्पता है।

विवेचन—बृहत्कल्प उद्देशक ४ में उपाश्रय में कालधर्म को प्राप्त होने वाले साधु को परठने संबंधी विधि कही गई है और प्रस्तुत सूत्र में विहार करते हुए कोई भिक्षु मार्ग में ही कालधर्म को प्राप्त हो जाय तो उसके मृत शरीर को परठने की विधि बताई है।

विहार में कभी अकेला चलता हुआ भिक्षु कालधर्म को प्राप्त हो जाय और उसके मृतशरीर को कोई एक या अनेक सार्धमिक साधु देखें तो उन्हें विधिपूर्वक एकांत में ले जा कर परठ देना चाहिए।

'मा सागारियं'—भिक्षु यह जान ले कि यहां आस-पास में कोई गृहस्थ नहीं है जो उस शरीर का मृत-संस्कार करे, तब उस स्थिति में साधुओं को उसे उठाकर एकांत अचित्त स्थान में परठ देना चाहिए।

यदि उस मृत भिक्षु के कोई उपकरण उपयोग में आने योग्य हों तो आचार्य की आज्ञा का आगार रखते हुए उन्हें ग्रहण कर सकते हैं। फिर जिन उपकरणों को रखने की आचार्य आज्ञा दें उन्हें रख सकते हैं और उपयोग में ले सकते हैं।

यदि कोई एक या अनेक भिक्षु किसी भी कारण से उस कालधर्मप्राप्त भिक्षु के मृतशरीर को मार्ग में यों ही छोड़कर चले जाएं तो वे सभी गुरुचौमासी प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

परिष्ठापन संबंधी अन्य जानकारी बृहत्कल्प उद्दे. ४ में देखें एवं विस्तृत जानकारी के लिए भाष्य का अवलोकन करें।

परिहरणीय शय्यातर का निर्णय

२१. सागारिए उवस्सयं वक्कएणं पउंजेज्जा से य वक्कइयं वएज्जा—'इमम्मिय इमम्मि य ओवासे समणा णिग्गंथा परिवसंति।

से सागारिए पारिहारिए।

से य नो वएज्जा वक्कइए वएज्जा, से सागारिए पारिहारिए।

दो वि ते वएज्जा, दो वि सागारिया पारिहारिया।

२२. सागारिए उवस्सयं विक्किणेज्जा, से य कइयं वएज्जा—

'इमम्मि य इमम्मि य ओवासे समणा निग्गंथा परिवसंति', से सागारिए पारिहारिए।

से य नो वएज्जा, कइए वएज्जा, से सागारिए पारिहारिए।

दो वि ते वएज्जा, दो वि सागारिया पारिहारिया।

२१. शय्यादाता यदि उपाश्रय किराये पर दे और किराये पर लेने वाले को यह कहे कि—'इतने-इतने स्थान में श्रमण निर्ग्रन्थ रह रहे है।'

इस प्रकार कहने वाला गृहस्वामी सागारिक (शय्यातर) है, अतः उसके घर आहारादि लेना नहीं कल्पता है।

यदि शय्यातर कुछ न कहे, किन्तु किराये पर लेने वाला कहे तो—वह शय्यातर है, अतः परिहार्य है।

यदि किराये पर देने वाला और लेने वाला दोनों कहें तो दोनों शय्यातर हैं, अतः दोनों परिहार्य हैं।

२२. शय्यातर यदि उपाश्रय बेचे और खरीदने वाले को यह कहे कि—'इतने-इतने स्थान में श्रमण निर्ग्रन्थ रहते हैं', तो वह शय्यातर है। अतः वह परिहार्य है।

यदि उपाश्रय का विक्रेता कुछ न कहें, किन्तु खरीदने वाला कहे तो वह सागारिक है, अतः वह परिहार्य है।

यदि विक्रेता और क्रेता दोनों कहे तो दोनों सागारिक है, अतः दोनों परिहार्य हैं।

विवेचन—भिक्षु जिस मकान में ठहरा हुआ है, उसका मालिक उसे किराये पर देवे या उसे बेच दे तो ऐसी स्थिति में भिक्षु का शय्यातर कौन रहता है, यह प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट किया गया है।

यदि खरीदने वाला या किराये पर लेने वाला व्यक्ति भिक्षु को अपने मकान में प्रसन्नतापूर्वक ठहरने की आज्ञा देता हो तो वह शय्यातर कहा जाता है। यदि वह भिक्षु को ठहराने में उपेक्षाभाव रखता है एवं आज्ञा भी नहीं देता है। किन्तु मकान का पूर्व मालिक ही उसे भिक्षु के रहने का

स्पष्टीकरण कर देता है कि "अमुक समय तक भिक्षु रहेंगे, उसके बाद वह स्थान भी तुम्हारा हो जायेगा।" ऐसी स्थिति में पूर्व शय्यादाता ही शय्यातर रहता है। शय्यातर के निर्णय का आशय यह है कि जो शय्यातर होगा उसी के घर का आहार आदि 'शय्यातरपिंड' कहलाएगा।

कभी पूर्व शय्यादाता भी कहे कि "मेरी आज्ञा है" और नूतन स्वामी भी कहे कि "मेरी भी आज्ञा है" तब दोनों को शय्यातर मानना चाहिए। यदि समझाने पर उनके समझ में आ जाय तो किसी एक की ही आज्ञा रखना उचित है। क्योंकि बृहत्कल्प उ. २ सू. १३ में अनेक स्वामियों वाले मकान में किसी एक स्वामी की आज्ञा लेने का विधान किया गया है। शय्यातर सम्बन्धी एवं शय्यातर-पिंड सम्बन्धी विशेष जानकारी निशीथ उ. २ सू. ४६ के विवेचन में देखें।

सूत्र में गृहस्थ के घर के लिये उपाश्रय शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका कारण यह है कि जहां भिक्षु ठहरा हुआ हो या जहां उसे ठहरना हो, उन दोनों ही मकानों को आगमकार उपाश्रय शब्द से कहते हैं। इसीलिए बृहत्कल्प उद्दे. २ सू. १-१० में पानी के घड़े, सुरा या सौवीर के घड़े और धान्य एवं खाद्यसामग्री रखे गृहस्थ के घर को भी उपाश्रय कहा गया है। संपूर्ण रात-दिन जहां अग्नि अर्थात् भट्टियां जलती हों या दीपक जलते हों, ऐसे गृहस्थ के आरम्भजन्य कारखाने आदि स्थान को भी उपाश्रय कहा गया है।

उसी पद्धति के कारण यहां भी गृहस्थ के घर में भिक्षु पहले से ठहरा हुआ होने से उसे उपाश्रय कहा है। वर्तमान में प्रचलित सामाजिक उपाश्रय में साधु ठहरा हुआ हो, उसे किसी के द्वारा बेचना या किराये पर देना सम्भव नहीं होता है।

अतः यहां उपाश्रय शब्द से गृहस्थ का मकान अर्थ समझना चाहिए।

आज्ञाग्रहण करने की विधि

२३. विहवधूया नायकुलवासिणी सा वि यावि ओग्गहं अणुन्नवेयव्वा, किमंग पुण पिया वा, भाया वा, पुत्ते वा, से वि या वि ओग्गहे ओगेण्हियव्वे।

२४. पहेवि ओग्गहं अणुन्नवेयव्वे।

२३. पिता के घर पर जीवन यापन करने वाली विधवा लड़की की भी आज्ञा ली जा सकती है, तब पिता, भाई, पुत्र का तो कहना ही क्या अर्थात् उनकी भी आज्ञा ग्रहण की जा सकती है।

२४. यदि मार्ग में ठहरना हो तो उस स्थान की भी आज्ञा ग्रहण करनी चाहिए।

विवेचन—घर के किन-किन सदस्यों की आज्ञा ली जा सकती है, यह प्रथम सूत्र का प्रतिपाद्य विषय है और किसी भी स्थान पर आज्ञा लेकर ही बैठना चाहिए यह दूसरे सूत्र का प्रतिपाद्य विषय है।

प्रथम सूत्र में बताया गया है कि पिता, पुत्र, भाई की भी आज्ञा ली जा सकती है अर्थात् संयुक्त परिवार का कोई भी समझदार सदस्य हो, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, उनकी आज्ञा ली जा सकती है। विवाहित लड़की की आज्ञा नहीं ली जा सकती। किन्तु जो लड़की किसी भी कारण से सदा पिता

के घर में ही रहती हो तो उसकी भी आज्ञा ली जा सकती है। इसी प्रकार जो समझदार एवं जिम्मेदार नौकर हो, उसकी भी आज्ञा ली जा सकती है।

मकान के बाहर का खुला स्थान (बरामदा) आदि में बैठना हो और मकान-मालिक घर बन्द करके कहीं गया हुआ हो तो किसी राहगीर या पड़ोसी की भी आज्ञा ली जा सकती है।

द्वितीय सूत्रानुसार भिक्षु को विहार करते हुए कभी मार्ग में या वृक्ष के नीचे ठहरना हो तो उस स्थान की भी आज्ञा लेनी चाहिए। बिना आज्ञा लिए भिक्षु वहां भी नहीं बैठ सकता है। उस समय यदि कोई भी पथिक उधर से जा रहा हो या कोई व्यक्ति वहां बैठा हो तो उसकी आज्ञा ली जा सकती है।

यदि कोई भी आज्ञा देने वाला न हो तो उस स्थान में ठहरने के लिए "शक्रेंद्र की आज्ञा है" ऐसा उच्चारण करके भिक्षु ठहर सकता है। किन्तु किसी भी प्रकार से आज्ञा लिए बिना कहीं पर भी नहीं ठहरना चाहिए, यह दूसरे सूत्र का आशय है। यदि आज्ञा लेना भूल जाए तो उसकी आलोचना प्रतिक्रमण कर लेना चाहिए।

प्रतियों में "पहे वि" और "पहिए वि" ऐसे दो तरह के शब्द मिलते हैं। किन्तु भाष्य के अनुसार यहां "पहे वि" ऐसा पाठ शुद्ध है, जिसका अर्थ है कि पथ में अर्थात् मार्ग में बैठना हो तो उसकी भी आज्ञा लेनी चाहिए। "पहिए वि" प्रयोग को लिपिदोष ही समझना चाहिए।

राज्यपरिवर्तन में आज्ञा ग्रहण करने का विधान

२५. से रज्जपरियट्टेसु, संथडेसु, अव्वोगडेसु, अव्वोच्छिन्नेसु, अपरपरिग्गहिएसु, सच्चेव ओग्गहस्स पुव्वाणुन्नवणा चिट्ठइ अहालंदमवि ओग्गहे।

२६. से रज्जपरियट्टेसु, असंथडेसु, वोगडेसु, वोच्छिन्नेसु, परपरिग्गहिएसु भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चंपि ओग्गहे अणुन्नवेयव्वे सिया।

२५. राजा की मृत्यु के बाद नये राजा का अभिषेक हो किन्तु अविभक्त एवं शत्रुओं द्वारा अनाक्रान्त रहे, राजवंश अविच्छिन्न रहे और राज्यव्यवस्था पूर्ववत् रहे तो साधु-साध्वियों के लिए पूर्वगृहीत आज्ञा ही अवस्थित रहती है।

२६. राजा की मृत्यु के बाद नये राजा का अभिषेक हो और उस समय राज्य विभक्त हो जाय या शत्रुओं द्वारा आक्रान्त हो जाय, राजवंश विच्छिन्न हो जाय या राज्यव्यवस्था परिवर्तित हो जाय तो साधु-साध्वियों को भिक्षु-भाव अर्थात् (संयम की मर्यादा) की रक्षा के लिए दूसरी बार आज्ञा ले लेनी चाहिए।

विवेचन—जिस राज्य में भिक्षुओं को विचरण करना हो उसके स्वामी अर्थात् राजा आदि की आज्ञा ले लेनी चाहिए। आज्ञा लेने के बाद यदि राजा का परिवर्तन हो जाय तब दो प्रकार की स्थिति होती है—

(१) पूर्व राजा का राजकुमार या उसके वंशज राजा बने हों अथवा केवल व्यक्ति का परिवर्तन हुआ हो, अन्य राजसत्ता, व्यवस्था और कानूनों का कोई परिवर्तन न हुआ हो तो पूर्व ग्रहण की हुई आज्ञा से विचरण किया जा सकता है, पुनः आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं रहती है।

(२) यदि कोई सर्वथा नया ही राजा बना हो, राज्यव्यवस्था का परिवर्तन हो गया हो तो वहां विचरण करने के लिए पुनः आज्ञा लेना आवश्यक हो जाता है।

सभी जैन संघों के साधु-साध्वियों के विचरण करने की राजाज्ञा एक प्रमुख व्यक्ति के द्वारा प्राप्त कर ली जाय तो फिर पृथक्-पृथक् किसी भी संत-सती को आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं रहती है।

सातवें उद्देशक का सारांश

सूत्र १-२ अन्य गच्छ से आई हुई दूषित आचार वाली निर्ग्रन्थी को प्रवर्तिनी आदि साध्वियां आचार्य आदि से पूछे बिना एवं उसके दोषों की शुद्धि कराये बिना नहीं रख सकतीं, किन्तु आचार्य आदि उसके दोषों की शुद्धि करवाकर प्रवर्तिनी आदि साध्वियों को पूछे बिना भी गच्छ में रख सकते हैं।

३-४ उपेक्षापूर्वक तीन बार से अधिक एषणादोष सेवन या व्यवस्थाभंग आदि करने पर उस साधु-साध्वी के साथ आहार-सम्बन्ध का परित्याग किया जा सकता है। ऐसा करने के लिए साध्वियां प्रत्यक्ष वार्ता नहीं कर सकती, किन्तु साधु प्रत्यक्ष वार्ता कर सकते हैं।

५-८ साधु कभी साध्वी को दीक्षा दे सकता है और साध्वी कभी साधु को दीक्षा दे सकती है, किन्तु वे उसे आचार्य आदि की निश्रा में कर सकते हैं, अपनी निश्रा में नहीं।

९-१० साध्वी अतिदूरस्थ आचार्य या प्रवर्तिनी की निश्रा स्वीकार करके दीक्षा न लेवे, किन्तु सन्निकट आचार्य या प्रवर्तिनी की ही निश्रा स्वीकार करे।

साधु दूरस्थ आचार्य की निश्रा स्वीकार करके भी दीक्षा ले सकता है।

११-१२ अतिदूर गई हुई साध्वी से अन्य साध्वी क्षमायाचना कर सकती है, किन्तु साधु को क्षमापना करने के लिए प्रत्यक्ष मिलना आवश्यक होता है। भाष्य में परिस्थितिवश साधु को भी दूरस्थ क्षमापना करना कहा है।

१३-१४ उत्काल में (दूसरे-तीसरे प्रहर में) कालिक सूत्र का स्वाध्याय नहीं करना चाहिए, किन्तु कभी साध्वी उपाध्याय आदि को स्वाध्याय सुना सकती है।

१५-१६ बत्तीस प्रकार के अस्वाध्याय काल हों तब स्वाध्याय नहीं करना और जब अस्वाध्याय न हो तब अवश्य स्वाध्याय करना।

१७ अपनी शारीरिक अस्वाध्याय में स्वाध्याय नहीं करना, किन्तु साधु-साध्वी परस्पर सूत्रार्थ वाचना दे सकते हैं।

तीस वर्ष की दीक्षापर्याय तक की साध्वियों को उपाध्याय प्रवर्तिनी के बिना नहीं रहना चाहिए और ६० वर्ष तक की दीक्षापर्याय वाली साध्वियों को बिना आचार्य के नहीं रहना चाहिए।

१८-१९ विहार करते हुए मार्ग में साधु का मृतदेह पड़ा हुआ दिख जाय तो उसे योग्य विधि से एवं योग्य स्थान में परठ देना चाहिए। यदि उनके उपयोगी उपकरण हों तो उन्हें ग्रहण कर आचार्य की आज्ञा लेकर उपयोग में लिया जा सकता है।

२० शय्यातर मकान को वेचे या किराये पर देवे तो नूतन स्वामी की या पूर्व स्वामी की या दोनों की आज्ञा ली जा सकती है।

२१-२२ घर के कोई सदस्य की या जिम्मेदार नौकर की आज्ञा लेकर भी ठहरा जा सकता है। सदा पिता के घर रहने वाली विवाहित बेटी की भी आज्ञा ली जा सकती है।

२३ मार्ग में बैठना हो तो भी आज्ञा लेकर ही बैठना चाहिए।

२४ राजा या राज्यव्यवस्था परिवर्तित होने पर उस राज्य में विचरण करने के लिए पुनः आज्ञा लेना आवश्यक है।
२५-२६ यदि उसी राजा के राजकुमार आदि वंशज राज बनें तो पूर्वाज्ञा से विचरण किया जा सकता है।

उपसंहार

इस उद्देशक में—

सूत्र १-२ अन्य गच्छ से आई साध्वी को गच्छ में लेने का,
३-४ परस्पर संभोगविच्छेद करने का,
५-८ परस्पर दीक्षा देने का,
९-१० दूरस्थ आचार्यादि की निश्रा लेने का,
११-१२ दूरस्थ से क्षमापना करने या न करने का,
१३-१७ स्वाध्याय करने या न करने का,
१८-१९ साध्वी को आचार्य उपाध्याय स्वीकार करने का,
२० साधु के मृतशरीर को परठने का,
२१-२४ ठहरने के स्थानों की आज्ञा लेने का,
२५-२६ राज्य में विचरण की नूतन आज्ञा लेने का,
इत्यादि विषयों का वर्णन किया गया है।

।। सातवां उद्देशक समाप्त ।।

आठवां उद्देशक

शयनस्थान के ग्रहण की विधि

१. गाहा उऊ पज्जोसविए, ताए, गाहाए, ताए पएसाए, ताए उवासंतराए "जमिणं जमिणं सेज्जासंथारगं लभेज्जा तमिणं तमिणं ममेव सिया।"

थेरा य से अणुजाणेज्जा, तस्सेव सिया। थेरा य से नो अणुजाणेज्जा नो तस्सेव सिया। एवं से कप्पइ अहाराइणियाए सेज्जासंथारगं पडिग्गाहित्तए।

१. हेमन्त या ग्रीष्म काल में किसी के घर में ठहरने के लिए रहा हो, उस घर के किसी विभाग के स्थानों में "जो-जो अनुकूल स्थान या संस्तारक मिलें वे-वे मैं ग्रहण करूं।"

इस प्रकार के संकल्प होने पर भी स्थविर यदि उस स्थान के लिये आज्ञा दे तो वहां शय्या-संस्तारक करना कल्पता है।

यदि स्थविर आज्ञा न दे तो वहां शय्या-संस्तारक ग्रहण करना नहीं कल्पता है। स्थविर के आज्ञा न देने पर यथारत्नाधिक-(दीक्षापर्याय से ज्येष्ठ-कनिष्ठ) क्रम से शय्या स्थान या संस्तारक ग्रहण करना कल्पता है।

विवेचन—किसी भी घर या उपाश्रय आदि में ठहरने के समय या बाद में अपने बैठने या सोने के स्थान का गुरु या प्रमुख की आज्ञा से निर्णय करना चाहिए। जिससे व्यवस्था एवं अनुशासन का सम्यक् पालन होता रहे।

आचारांग श्रु. २ अ. २ उ. ३ में शयनासन (शय्याभूमि) ग्रहण करने की विधि का कथन करते हुए बताया है कि "आचार्य उपाध्याय आदि पदवीधर एवं बाल, वृद्ध, रोगी, नवदीक्षित और आगन्तुक (पाहुणे) साधुओं को ऋतु के अनुकूल एवं इच्छित स्थान यथाक्रम से दिये जाने के बाद ही शेष भिक्षु संयमपर्याय के क्रम से शयनस्थान ग्रहण करें।

आचार्य आदि का यथोचित क्रम तथा सम-विषम, सवात-निर्वात आदि शय्या की अवस्थाओं का भाष्य में विस्तृत विवेचन किया गया है।

आचा. श्रु. २ अ. २ उ. ३ में अनेक प्रकार की अनुकूल प्रतिकूल शय्याओं में समभावपूर्वक रहने का निर्देश किया गया है और उत्तरा. अ. २ में शय्यापरीषह के वर्णन में कहा है कि भिक्षु इस प्रकार विचार करे कि एक रात्रि में क्या हो जाएगा, ऐसा सोचकर उस स्थिति को समभाव से सहन करे।

व्य. उ. ३ में भी रत्नाधिक के क्रम से शय्या-संस्तारक ग्रहण करने का विधान किया गया है जो उत्सर्गविधान है, क्योंकि रुग्णता आदि में उसका पालन करना आवश्यक नहीं होता है।

सूत्र में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ—

(१) गाहा—गृह, मकान, उपाश्रय ।
(२) उऊ—हेमन्त-ग्रीष्म ऋतु ।
(३) पज्जोसविए—गृह या उपाश्रय में पहुंचा हुआ या ठहरा हुआ भिक्षु ।
(४) ताए गाहाए—उस घर में ।
(५) ताए पएसाए—उस घर के एक विभाग-कमरे आदि में ।
(६) ताए उवासंतराए—उस कमरे आदि की अमुक सीमित जगह में ।

शय्यासंस्तारक के लाने की विधि

२. से य अहालहुसगं सेज्जासंथारगं गवेसेज्जा, जं चक्किया एगेण हत्थेण ओगिज्झ जाव एगाहं वा, दुयाहं वा, तियाहं वा परिवहित्तए, "एस मे हेमन्त-गिम्हासु भविस्सइ ।"

३. से य अहालहुसगं सेज्जासंथारगं गवेसेज्जा, जं चक्किया एगेणं हत्थेणं ओगिज्झ जाव एगाहं वा, दुयाहं वा, तियाहं वा अद्धाणं परिवहित्तए, "एस मे वासावासासु भविस्सइ ।"

४. से य अहालहुसगं सेज्जासंथारगं गवेसेज्जा, जं चक्किया एगेणं हत्थेणं ओगिज्झ जाव एगाहं वा, दुयाहं वा, तियाहं वा, चउयाहं वा, पंचाहं वा, दूरमवि अद्धाणं परिवहित्तए, "एस मे वुड्ढावासासु भविस्सइ ।"

२. श्रमण यथासम्भव हल्के शय्या-संस्तारक का अन्वेषण करे, वह इतना हल्का हो कि उसे एक हाथ से ग्रहण करके लाया जा सके । ऐसे शय्या-संस्तारक एक, दो या तीन दिन तक उसी बस्ती से गवेषणा करके लाया जा सकता है, इस प्रयोजन से कि यह शय्यासंस्तारक मेरे हेमन्त या ग्रीष्म ऋतु में काम आएगा ।

३. श्रमण यथासम्भव हल्के शय्या-संस्तारक का अन्वेषण करे, वह इतना हल्का हो कि उसे एक हाथ से ग्रहण करके लाया जा सके। ऐसा शय्या-संस्तारक एक दो या तीन दिन तक उसी बस्ती से या निकट की अन्य बस्ती से गवेषणा करके लाया जा सकता है, इस प्रयोजन से कि—यह शय्या संस्तारक मेरे वर्षावास में काम आएगा ।

४. श्रमण यथासम्भव हल्के शय्या-संस्तारक की याचना करे, वह इतना हल्का हो कि उसे एक हाथ से उठाकर लाया जा सके । ऐसा शय्या-संस्तारक एक, दो, तीन, चार या पांच दिन तक उसी बस्ती से या अन्य दूर की बस्ती से भी गवेषणा करके लाया जा सकता है, इस प्रयोजन से कि यह शय्या-संस्तारक मेरे वृद्धावास में काम आएगा ।

विवेचन—पूर्व सूत्र में शय्या-संस्तारक शब्द से स्थान ग्रहण करने की विधि कही है और इन सूत्रों में पाट आदि ग्रहण करने का विधान किया है ।

पाट आदि को प्रातिहारिक ही ग्रहण किया जाता है और आवश्यकता होने पर ही ग्रहण किया जाता है। क्योंकि यह साधु की सामान्य उपधि नहीं है।

भाष्य में अनावश्यक परिस्थिति से हेमन्त ऋतु के पाट आदि के ग्रहण करने का प्रायश्चित्त कहा है और वर्षाकाल में ग्रहण नहीं करने वाले को प्रायश्चित्त का पात्र कहा है। इन भाष्य-विधानों में जीवरक्षा एवं शारीरिक समाधि की मुख्य अपेक्षा दिखाई गई है। अतः उन अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर ही भिक्षु को विवेकपूर्वक पाट आदि के ग्रहण करने या न करने का निर्णय करना चाहिए।

इन सूत्रों में यह बताया गया है कि जो भी पाट आदि लावें, वह इतना हल्का होना चाहिए कि एक हाथ से उठाकर लाया जा सके।

हेमन्त-ग्रीष्म काल के लिए आवश्यक पाट आदि की गवेषणा तीन दिन तक उसी ग्रामादि में की जा सकती है, वर्षावास के लिए उसी ग्रामादि में या अन्य निकट के ग्रामादि में तीन दिन तक गवेषणा की जा सकती है और स्थविरवास के लिए पाट आदि की गवेषणा उत्कृष्ट पांच दिन तक उसी ग्रामादि में या दूर के ग्रामादि में भी की जा सकती है। ऐसा इन पृथक्-पृथक् तीन सूत्रों में स्पष्ट किया गया है।

प्रथम सूत्र में "अद्धाणं" शब्द नहीं है, दूसरे सूत्र में "अद्धाणं" है और तीसरे सूत्र में 'दूरमवि अद्धाणं' शब्द है, इसी से तीनों सूत्रों के अर्थ में कुछ-कुछ अन्तर है। शय्या-संस्तारक का अन्य विवेचन नि. उ. २ तथा उद्देशक पांच में देखें।

एकाकी स्थविर के भण्डोपकरण और गोचरी जाने की विधि

५. थेराणं थेरभूमिपत्ताणं कप्पइ दण्डए वा, भण्डए वा, छत्तए वा, मत्तए वा, लट्ठिया वा, भिसे वा, चेले वा, चेलचिलिमिलि वा, चम्मे वा, चम्मकोसे वा, चम्मपलिच्छेयणए वा अविरहिए ओवासे ठवेत्ता गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए पविसित्तए वा, निक्खमित्तए वा।

कप्पइ णं सन्नियट्टचारीणं दोच्चंपि उग्गहं अणुन्नवेत्ता परिहरित्तए।

५. स्थविरत्वप्राप्त (एकाकी) स्थविरों को दण्ड, भाण्ड, छत्र, मात्रक, लाठी, काष्ठ का आसन, वस्त्र, वस्त्र की चिलमिलिका, चर्म, चर्मकोष और चर्मपरिच्छेदनक अविरहित स्थान में रखकर अर्थात् किसी को सम्भलाकर गृहस्थ के घर में आहार के लिए जाना-आना कल्पता है।

भिक्षाचर्या करके पुनः लौटने पर जिसकी देख-रेख में दण्डादि रखे गये हैं, उससे दूसरी बार आज्ञा लेकर ग्रहण करना कल्पता है।

विवेचन—इस सूत्र में ऐसे एकाकी विचरण करने वाले भिक्षु का वर्णन है जो आचा. श्रु. १ अ. ६ उ. २, सूय. श्रु. १ अ. १०, उत्तरा. अ. ३२ गा. ५ तथा दशवै. चू. २ गा. १० में निर्दिष्ट सपरिस्थितिक एकलविहारी है। साथ ही शरीर की अपेक्षा वृद्ध या अतिवृद्ध है, स्थविरकल्पी सामान्य भिक्षु है और कर्मसंयोग से वृद्धावस्था तक भी वह अकेला रहकर यथाशक्ति संयम पालन कर रहा है।

शारीरिक कारणों से उसे अनेक औपग्रहिक उपकरण रखने पड़ रहे हैं। उन सभी उपकरणों को साथ लेकर गोचरी आदि के लिए वह नहीं जा सकता है। उसे असुरक्षित स्थान रहने को मिला हो तो वहां उन उपकरणों को छोड़कर जाने पर बच्चे या कुत्ते उन्हें तोड़-फोड़ दें या लेकर चले जाएं अथवा चोर चुरा लें इत्यादि कारणों से सूत्र में यह विधान किया गया है कि वह वृद्ध भिक्षु अपने उपकरणों की सुरक्षा के लिए किसी को नियुक्त करके जाए या पास में ही कोई बैठा हो तो उसे सूचित करके जाए और पुनः आने पर उसे सूचित कर दे कि 'मैं आ गया हूं' उसके बाद ही उन उपकरणों को ग्रहण करे।

शारीरिक स्थितियों से विवश अकेले वृद्ध भिक्षु के लिए भी इस सूत्र में जो अपवादों का विधान किया गया है, इससे यह स्पष्ट होता है कि सूत्रकार की या जिनशासन की अत्यन्त उदार एवं अनेकांत दृष्टि है।

सूत्रोक्त वृद्ध भिक्षु चलते समय सहारे के लिए दण्ड या लाठी रखता है, गर्मी आदि से रक्षा के लिए छत्र रखता है, मल-मूत्र-कफ आदि विकारों के कारण अनेक मात्रक रखता है, मिट्टी के घड़े आदि भांड भी रखता, अतिरिक्त वस्त्र-पात्र रखता है, मच्छर आदि के कारण मच्छरदानी भी रखता है, बैठने में सहारे के लिए भूसिका—काष्ठ आसन करता है, चर्मखण्ड, चर्मकोष (उपानह जूता आदि) या चर्मछेदनक भी रखता है अर्थात् अपने आवश्यक उपयोगी कोई भी उपकरण रखता है। उनमें से जिन उपकरणों की गोचरी जाने के समय आवश्यकता न हो उनके लिए सूत्र में यह विधान किया गया है।

विशिष्ट साधना वाले पडिमाधारी या जिनकल्पी भिक्षु औपग्रहिक उपकरण रखने आदि के अपवादों का सेवन नहीं करते हैं और गच्छगत भिक्षु की ऐसी सूत्रोक्त परिस्थिति होना सम्भव भी नहीं है। क्योंकि गच्छ में अनेक वैयावृत्य करने वाले होते हैं।

अतः परिस्थितिवश सामान्य बहुश्रुत भिक्षु भी जीवनपर्यन्त एकाकी रहकर यथाशक्ति संयम-मर्यादा का पालन करते हुए विचरण कर सकता, यह इस सूत्र से स्पष्ट होता है।

शय्या-संस्तारक के लिए पुनः आज्ञा लेने का विधान

६. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं वा, सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारगं दोच्चंपि ओग्गहं अणणुन्नवेत्ता बहिया नीहरित्तए।

७. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं वा, सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारगं दोच्चंपि ओग्गहं अणुन्नवेत्ता बहिया नीहरित्तए।

८. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं वा, सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारगं सव्वप्पणा अप्पिणित्ता दोच्चं पि ओग्गहं अणणुन्नवेत्ता अहिट्ठित्तए।

९. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं वा, सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारगं सव्वप्पणा अप्पिणित्ता दोच्चं पि ओग्गहं अणुन्नवेत्ता अहिट्ठित्तए।

पाट आदि को प्रातिहारिक ही ग्रहण किया जाता है और आवश्यकता होने पर ही ग्रहण किया जाता है। क्योंकि यह साधु की सामान्य उपधि नहीं है।

भाष्य में अनावश्यक परिस्थिति से हेमन्त ऋतु के पाट आदि के ग्रहण करने का प्रायश्चित्त कहा है और वर्षाकाल में ग्रहण नहीं करने वाले को प्रायश्चित्त का पात्र कहा है। इन भाष्य-विधानों में जीवरक्षा एवं शारीरिक समाधि की मुख्य अपेक्षा दिखाई गई है। अत: उन अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर ही भिक्षु को विवेकपूर्वक पाट आदि के ग्रहण करने या न करने का निर्णय करना चाहिए।

इन सूत्रों में यह बताया गया है कि जो भी पाट आदि लावें, वह इतना हल्का होना चाहिए कि एक हाथ से उठाकर लाया जा सके।

हेमन्त-ग्रीष्म काल के लिए आवश्यक पाट आदि की गवेषणा तीन दिन तक उसी ग्रामादि में की जा सकती है, वर्षावास के लिए उसी ग्रामादि में या अन्य निकट के ग्रामादि में तीन दिन तक गवेषणा की जा सकती है और स्थविरवास के लिए पाट आदि की गवेषणा उत्कृष्ट पांच दिन तक उसी ग्रामादि में या दूर के ग्रामादि में भी की जा सकती है। ऐसा इन पृथक्-पृथक् तीन सूत्रों में स्पष्ट किया गया है।

प्रथम सूत्र में "श्रद्धाणं" शब्द नहीं है, दूसरे सूत्र में "श्रद्धाणं" है और तीसरे सूत्र में 'दूरमवि श्रद्धाणं' शब्द है, इसी से तीनों सूत्रों के अर्थ में कुछ-कुछ अन्तर है। शय्या-संस्तारक का अन्य विवेचन नि. उ. २ तथा उद्देशक पांच में देखें।

एकाकी स्थविर के भण्डोपकरण और गोचरी जाने की विधि

५. *थेराणं थेरभूमिपत्ताणं कप्पइ दण्डए वा, भण्डए वा, छत्तए वा, मत्तए वा, लट्ठिया वा, भिसे वा, चेले वा, चेलचिलिमिलि वा, चम्मे वा, चम्मकोसे वा, चम्मपलिच्छेयणए वा अविरहिए ओवासे ठवेत्ता गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए पविसित्तए वा, निक्खमित्तए वा।*

कप्पइ णं सन्नियट्टचारीणं दोच्चंपि उग्गहं अणुन्नवेत्ता परिहरित्तए।

५. स्थविरत्वप्राप्त (एकाकी) स्थविरों को दण्ड, भाण्ड, छत्र, मात्रक, लाठी, काष्ठ का आसन, वस्त्र, वस्त्र की चिलमिलिका, चर्म, चर्मकोष और चर्मपरिच्छेदनक अविरहित स्थान में रखकर अर्थात् किसी को सम्भलाकर गृहस्थ के घर में आहार के लिए जाना-आना कल्पता है।

भिक्षाचर्या, करके पुन: लौटने पर जिसकी देख-रेख में दण्डादि रखे गये हैं, उससे दूसरी बार आज्ञा लेकर ग्रहण करना कल्पता है।

विवेचन—इस सूत्र में ऐसे एकाकी विचरण करने वाले भिक्षु का वर्णन है जो आचा. श्रु. १ अ. ६ उ. २, सूय. श्रु. १ अ. १०, उत्तरा. अ. ३२ गा. ५ तथा दशवं. चू. २ गा. १० में निर्दिष्ट सपरिस्थितिक एकलविहारी है। साथ ही शरीर की अपेक्षा वृद्ध या अतिवृद्ध है, स्थविरकल्पी सामान्य भिक्षु है और कर्मसंयोग से वृद्धावस्था तक भी वह अकेला रहकर यथाशक्ति संयम पालन कर रहा है।

शारीरिक कारणों से उसे अनेक औपग्रहिक उपकरण रखने पड़ रहे हैं। उन सभी उपकर को साथ लेकर गोचरी आदि के लिए वह नहीं जा सकता है। उसे असुरक्षित स्थान रहने को मि हो तो वहां उन उपकरणों को छोड़कर जाने पर बच्चे या कुत्ते उन्हें तोड़-फोड़ दें या लेकर जाएं अथवा चोर चुरा लें इत्यादि कारणों से सूत्र में यह विधान किया गया है कि वह वृद्ध भि अपने उपकरणों की सुरक्षा के लिए किसी को नियुक्त करके जाए या पास में ही कोई बैठा हो तो सूचित करके जाए और पुनः आने पर उसे सूचित कर दे कि 'मैं आ गया हूं' उसके बाद ही उपकरणों को ग्रहण करे।

शारीरिक स्थितियों से विवश अकेले वृद्ध भिक्षु के लिए भी इस सूत्र में जो अपवादों विधान किया गया है, इससे यह स्पष्ट होता है कि सूत्रकार की या जिनशासन की अत्यन्त उदार अनेकांत दृष्टि है।

सूत्रोक्त वृद्ध भिक्षु चलते समय सहारे के लिए दण्ड या लाठी रखता है, गर्मी आदि से रक्षा लिए छत्र रखता है, मल-मूत्र-कफ आदि विकारों के कारण अनेक मात्रक रखता है, मिट्टी के घड़े आ भांड भी रखता, अतिरिक्त वस्त्र-पात्र रखता है, मच्छर आदि के कारण मच्छरदानी भी रखता बैठने में सहारे के लिए भृसिका—काष्ठ आसन करता है, चर्मखण्ड, चर्मकोष (उपानह जूता आ या चर्मछेदनक भी रखता है अर्थात् अपने आवश्यक उपयोगी कोई भी उपकरण रखता है। उनमें जिन उपकरणों की गोचरी जाने के समय आवश्यकता न हो उनके लिए सूत्र में यह विधान कि गया है।

विशिष्ट साधना वाले पडिमाधारी या जिनकल्पी भिक्षु औपग्रहिक उपकरण रखने आदि अपवादों का सेवन नहीं करते हैं और गच्छगत भिक्षु की ऐसी सूत्रोक्त परिस्थिति होना सम्भव नहीं है। क्योंकि गच्छ में अनेक वैयावृत्य करने वाले होते हैं।

अतः परिस्थितिवश सामान्य बहुश्रुत भिक्षु भी जीवनपर्यन्त एकाकी रहकर यथाशक्ति संय मर्यादा का पालन करते हुए विचरण कर सकता, यह इस सूत्र से स्पष्ट होता है।

शय्या-संस्तारक के लिए पुनः आज्ञा लेने का विधान

६. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं वा, सागारियसंतियं वा सेज्जासंथार दोच्चंपि ओग्गहं अणणुन्नवेत्ता बहिया नीहरित्तए।

७. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं वा, सागारियसंतियं वा सेज्जासंथार दोच्चंपि ओग्गहं अणुन्नवेत्ता बहिया नीहरित्तए।

८. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं वा, सागारियसंतियं वा सेज्जासंथार सव्वप्पणा अप्पिणित्ता दोच्चं पि ओग्गहं अणणुन्नवेत्ता अहिट्ठित्तए।

९. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं वा, सागारियसंतियं वा सेज्जासंथार सव्वप्पणा अप्पिणित्ता दोच्चं पि ओग्गहं अणुन्नवेत्ता अहिट्ठित्तए।

६. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को बाहर से लाया हुआ प्रातिहारिक शय्या-संस्तारक या शय्यातर का शय्या-संस्तारक दूसरी बार आज्ञा लिए बिना अन्यत्र ले जाना नहीं कल्पता है।

७. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को बाहर से लाया हुआ प्रातिहारिक शय्या-संस्तारक या शय्यातर का शय्या-संस्तारक दूसरी बार आज्ञा लेकर ही अन्यत्र ले जाना कल्पता है।

८. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को बाहर से लाया हुआ प्रातिहारिक शय्या-संस्तारक या शय्यातर का शय्या-संस्तारक सर्वथा सौंप देने के बाद दूसरी बार आज्ञा लिए बिना काम में लेना नहीं कल्पता है।

९. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को बाहर से लाया हुआ शय्या-संस्तारक या शय्यातर का शय्या-संस्तारक सर्वथा सौंप देने के बाद दूसरी बार आज्ञा लेकर ही काम में लेना कल्पता है।

विवेचन—शय्यातर का या अन्य गृहस्थ का शय्या-संस्तारक आदि कोई भी प्रातिहारिक उपकरण जिस मकान में रहते हुए ग्रहण किया गया है, उसको दूसरे मकान में ले जाना आवश्यक हो तो उसके स्वामी से आज्ञा प्राप्त करना या उसे सूचना करना आवश्यक है। अधिक जानकारी के लिए नि. उ. २ सू. ५३ का विवेचन देखें।

किसी का पाट आदि कोई भी उपकरण लाया गया हो, उसे अल्पकाल के लिए आवश्यक न होने से उपाश्रय में ही अपनी निश्रा से छोड़ा जा सकता है किंतु उसे जब कभी पुनः लेना आवश्यक हो जाय तो दुबारा आज्ञा लेना जरूरी होता है, यह दूसरे सूत्रद्विक का आशय है। विशेष जानकारी के लिए नि. उ. ५ सू. २३ का विवेचन देखें।

शय्या-संस्तारक ग्रहण करने की विधि

१०. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पुव्वामेव ओग्गहं ओगिण्हित्ता तओ पच्छा अणुन्नवेत्तए।

११. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पुव्वामेव ओग्गहं अणुन्नवेत्ता तओ पच्छा ओगिण्हित्तए।

१२. अह पुण एवं जाणेज्जा—इह खलु निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा नो सुलभे पाडिहारिए सेज्जा संथारए त्ति कट्टु एवं णं कप्पइ पुव्वामेव ओग्गहं ओगिण्हित्ता तओ पच्छा अणुन्नवेत्तए।

"मा वहउ अज्जो! बिइयं" त्ति वइ अणुलोमेणं अणुलोमेयव्वे सिया।

१०. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को पहले शय्या-संस्तारक ग्रहण करना और बाद में उनकी आज्ञा लेना नहीं कल्पता है।

११. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को पहले आज्ञा लेना और बाद में शय्या-संस्तारक ग्रहण करना कल्पता है।

१२. यदि यह जाने कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को यहां प्रातिहारिक शय्या-संस्तारक सुलभ नहीं है तो पहले स्थान या शय्या-संस्तारक ग्रहण करना और बाद में आज्ञा लेना कल्पता है। (किन्तु ऐसा करने पर यदि संयतों के और शय्या-संस्तारक के स्वामी के मध्य किसी प्रकार का कलह हो जाय तो आचार्य उन्हें इस प्रकार कहे—'हे आर्यो ! एक ओर तो तुमने इनकी वसति ग्रहण की है, दूसरी ओर इनसे कठोर वचन बोल रहे हो") "हे आर्यो ! इस प्रकार तुम्हें इनके साथ ऐसा दुहरा अपराधमय व्यवहार नहीं करना चाहिए।" इस प्रकार अनुकूल वचनों से आचार्य उस वसति के स्वामी को अनुकूल करे।

विवेचन—किसी भी स्थान पर बैठना या ठहरना हो तो भिक्षु को पहले आज्ञा लेनी चाहिए, बाद में ही वहां ठहरना चाहिए। इसी प्रकार पाट आदि अथवा तृण आदि अन्य कोई भी पदार्थ लेने हों तो उनकी पहले आज्ञा लेना चाहिए, बाद में ही उसे ग्रहण करना या उपयोग में लेना चाहिए।

किसी भी वस्तु की आज्ञा लेने के पहले ग्रहण करना और फिर आज्ञा लेना अविधि है। इससे तृतीय महाव्रत दूषित होता है। तथापि सूत्र में मकान की दुर्लभता को लक्ष्य में रखते हुए परिस्थितिवश कभी इस प्रकार अविधि से ग्रहण करने की आपवादिक छूट दी गई है। विशेष परिस्थिति के अतिरिक्त इस छूट का अति उपयोग या दुरुपयोग नहीं करना चाहिए तथा यह भी ध्यान रखना चाहिए कि आपवादिक स्थिति का निर्णय गीतार्थ (बहुश्रुत) भिक्षु ही कर सकते हैं। अल्पज्ञ अबहुश्रुत-अगीतार्थ भिक्षु यदि ऐसा करे तो उसकी यह अनाधिकार चेष्टा है। फिर भी गीतार्थ-बहुश्रुत की निश्रा से वे इस अपवाद का आचरण कर सकते हैं।

इस सूत्र के अन्तिम वाक्य की व्याख्या में बताया गया है कि—"जहां दुर्लभ शय्या हो उस गांव में कुछ साधु आगे जाएं और किसी उपयुक्त मकान में आज्ञा लिए बिना ही ठहर जाएँ, जिससे मकान का मालिक रुष्ट होकर वाद-विवाद करने लगे। तब पीछे से अन्य भिक्षु या आचार्य पहुंच कर उस साधु को आक्रोशपूर्वक कहें कि "अरे आर्य ! तू यह दुगुना अपराध क्यों कर रहा है। एक तो इनके मकान में ठहरा है, दूसरे इन्हीं से वाद-विवाद कर रहा है। चुप रह, शांति रख।" इस प्रकार डांट कर फिर मकान-मालिक को प्रसन्न करते हुए नम्रता से वार्तालाप करके आज्ञा प्राप्त करें। अधिक विवेचन के लिए दशा. द. २ देखें।

पतित या विस्मृत उपकरण की एषणा

१३. निग्गंथस्स णं गाहावइकुलं पिण्डवाय पडियाए अणुपविट्ठस्स अण्णयरे अहालहुसए उवगरणजाए परिब्भट्ठे सिया। तं च केई साहम्मिए पासेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय जत्थेव अण्ण-मण्णं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा—

प०—"इमे भे अज्जो ! किं परिण्णाए ?"

उ०—से य वएज्जा—"परिण्णाए" तस्सेव पडिणिज्जाएयव्वे सिया।

से य वएज्जा—"नो परिण्णाए" तं नो अप्पणा परिभुंजेज्जा नो अण्णमण्णस्स दावए, एगंते बहुफासुए थण्डिले परिट्ठवेयव्वे सिया।

१४. निग्गंथस्स णं बहिया वियारभूमिं वा, विहारभूमिं वा निक्खन्तस्स अण्णयरे अहालहुसए उवगरणजाए परिब्भट्ठे सिया।

तं च केइ साहम्मिए पासेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय जत्थेव अण्णमण्णं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा—

प०—"इमे भे अज्जो! किं परिण्णाए?"

उ०—से य वएज्जा—"परिण्णाए" तस्सेव पडिणिज्जाएयव्वे सिया।

से य वएज्जा—"नो परिण्णाए" तं नो अप्पणा परिभुंजेज्जा, नो अण्णमण्णस्स दावए, एगंते बहुफासुए थण्डिले परिट्ठवेयव्वे सिया।

१५. निग्गंथस्स णं गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स अण्णयरे उवगरणजाए परिब्भट्ठे सिया।

तं च केई साहम्मिए पासेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय दूरमवि अद्धाण परिवहित्तए, जत्थेव अण्णमण्णं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा—

प०—"इमे भे अज्जो! किं परिण्णाए?"

उ०—से य वएज्जा "परिण्णाए" तस्सेव पडिणिज्जाएयव्वे सिया।

से य वएज्जा—"नो परिण्णाए" तं नो अप्पणा परिभुंजेज्जा, नो अण्णमण्णस्स दावए, एगंते बहुफासुए थण्डिले परिट्ठवेयव्वे सिया।

१३. निर्ग्रन्थ गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रवेश करे और कहीं पर उसका कोई लघु उपकरण गिर जाए, उस उपकरण को यदि कोई साधर्मिक श्रमण देखे तो 'जिसका यह उपकरण है उसे दे दूंगा' इस भावना से लेकर जाए और जहां किसी श्रमण को देखे, वहां इस प्रकार कहे—

प्र०—'हे आर्य! इस उपकरण को पहचानते हो?' (अर्थात् यह आपका है?)

उ०—वह कहे—'हां पहचानता हूं' (अर्थात् हां यह मेरा है) तो उस उपकरण को उसे दे दे।

यदि वह कहे—'मैं नहीं पहचानता हूं।' तो उस उपकरण का न स्वयं उपयोग करे और न अन्य किसी को दे किन्तु एकांत प्रासुक (निर्जीव) भूमि पर उसे परठ दे।

१४. स्वाध्यायभूमि में या उच्चार-प्रस्रवण-भूमि में जाते-आते हुए निर्ग्रन्थ का कोई लघु उपकरण गिर जाए,

उस उपकरण को यदि कोई साधर्मिक श्रमण देखे तो—'जिसका यह उपकरण है, उसे दे दूंगा' इस भावना से लेकर जाए और जहां किसी श्रमण को देखे, वहां इस प्रकार कहे—

प्र०—'हे आर्य! इस उपकरण को पहचानते हो?'

उ०—वह कहे—'हां पहचानता हूं'—तो उस उपकरण को उसे दे दे।

यदि वह कहे—'मैं नहीं पहचानता हूं'—तो उस उपकरण का न स्वयं उपयोग करे और न अन्य किसी को दे किन्तु एकान्त प्रासुक भूमि पर उसे परठ दे।

१५. ग्रामानुग्राम विहार करते हुए निर्ग्रन्थ का कोई उपकरण गिर जाए, उस उपकरण को यदि कोई साधर्मिक श्रमण देखे और 'जिसका यह उपकरण है, उसे दे दूंगा' इस भावना से वह उस उपकरण को दूर तक भी लेकर जाए और जहां किसी श्रमण को देखे, वहां इस प्रकार कहे—

प्र०—'हे आर्य ! इस उपकरण को पहचानते हो ?'

उ०—वह कहे—'हां पहचानता हूँ' तो उस उपकरण को उसे दे दे।

यदि वह कहे 'मैं नहीं पहचानता हूँ' तो उस उपकरण का न स्वयं उपयोग करे और न अन्य किसी को दे, किन्तु एकान्त प्रासुक भूमि पर उसे परठ दे।

विवेचन—गोचरी, विहार आदि के लिए जाते-आते समय भिक्षु का कोई छोटा-सा उपकरण वस्त्रादि गिर जाय और उसी मार्ग से जाते हुए किसी अन्य भिक्षु को दिख जाय तो उसे उठा लेना चाहिए और यह अनुमान करना चाहिए कि 'यह उपकरण किस का है ?' फिर उन-उन भिक्षुओं को वह उपकरण दिखाकर पूछना चाहिए और जिसका हो उसे दे देना चाहिए। यदि वहां आस-पास उपस्थित साधुओं में से कोई भी उसे स्वीकार न करे तो यदि उपकरण छोटा है या अधिक उपयोगी नही है तो उसे परठ देना चाहिए। बड़ा उपकरण रजोहरणादि है तो कुछ दूर तक विहारादि में साथ लेकर जावे और अन्य साधु जहां मिलें, वहां उनसे पूछ लेना चाहिए।

यदि उस उपकरण का स्वामी ज्ञात न हो सके और वह उपयोगी उपकरण है एवं उसकी आवश्यकता भी है तो गुरु एवं अन्य गृहस्थ की आज्ञा लेकर अपने उपयोग में लिया जा सकता है। किन्तु अनुमान से पूछताछ या गवेषणा करने के पूर्व एवं आज्ञा लेने के पूर्व उपयोग में नहीं लेना चाहिए।

कोई वस्त्रादि साधु का मालूम पड़े, परन्तु वह गृहस्थ का भी हो सकता है, अतः पुनः गृहस्थ की भी आज्ञा लेना आवश्यक हो जाता है।

सामान्यतया तो ऐसे अज्ञात स्वामी के उपकरण को उपयोग में लेना ही नहीं चाहिए। क्योंकि बाद में उसके स्वामी द्वारा क्लेश आदि उत्पन्न होने की संभावना रहती है।

अथवा कभी किसी ने जानबूझ कर मंत्रित करके उस उपकरण को मार्ग में छोड़ा हो तो भी उपयोग में लेने पर अहित हो सकता है।

यदि वह प्राप्त उपकरण अच्छी स्थिति मे है तो उसे छिन्न-भिन्न करके नही परठना चाहिए। किन्तु अखंड ही कहीं योग्य स्थान या योग्य व्यक्ति के पास स्पष्टीकरण करते हुए छोड़ देना चाहिए।

अतिरिक्त पात्र लाने का विधान

१६. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अइरेगपडिग्गहं अण्णमण्णस्स अट्ठाए दूरमवि अद्धाणं परिवहित्तए,

'सो वा णं धारेस्सइ, अहं वा णं धारेस्सामि, अण्णो वा णं धारेस्सइ', नो से कप्पइ ते अणापुच्छिय, अणामंतिय अण्णमण्णेसिं दाउं वा अणुप्पदाउं वा। कप्पइ से ते आपुच्छिय आमंतिय अण्णमण्णेसिं दाउं वा अणुप्पदाउं वा।

१६. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को एक-दूसरे के लिए अधिक पात्र बहुत दूर ले जाना कल्पता है।

'वह धारण कर लेगा, मैं रख लूंगा अथवा अन्य को आवश्यकता होगी तो उसे दे दूंगा।' इस प्रकार जिनके निमित्त पात्र लिया है, उन्हें लेने के लिए पूछे बिना, निमन्त्रण किये बिना, दूसरे को देना या निमन्त्रण करना नहीं कल्पता है।

उन्हें पूछने व निमन्त्रण करने के बाद अन्य किसी को देना या निमन्त्रण करना कल्पता है।

विवेचन—भिक्षु की प्रत्येक उपधि की कोई न कोई संख्या एवं माप निश्चित होता है। यदि किसी उपधि का परिमाण आगम में उपलब्ध नहीं होता है तो उसके विषय में गण-समाचारी के अनुसार परिमाण का निर्धारण किया जाता है।

पात्र के विषय में संख्या का निर्धारण आगम में स्पष्ट नहीं है। निर्युक्ति भाष्यादि में एक पात्र अथवा मात्रक सहित दो पात्र का निर्धारण मिलता है, किन्तु आगम से अनेक पात्र रखना सिद्ध होने से वर्तमान गण-समाचारी अनुसार ४-६ या और अधिक रखने की भिन्न-भिन्न परंपराएं प्रचलित हैं। जिस गण की जो भी मर्यादा है, उससे अतिरिक्त पात्र ग्रहण करने का यहां विधान किया गया है अथवा जहां उपलब्ध हो वहां से अतिरिक्त पात्र मंगाये जाते हैं। ऐसे पात्र ग्रहण करते समय जिस आचार्य-उपाध्याय का या व्यक्ति विशेष का निर्देश गृहस्थ के समक्ष किया हो, उन्हें ही पहले देना एवं निमंत्रण करना चाहिए। बाद में अन्य किसी को दिया जा सकता है।

निशीथ उ. १४ सू. ५ में गणी के उद्देश एवं समुद्देश से पात्र ग्रहण करने का वर्णन है और वहीं पर सूत्र ६-७ में असमर्थ को ही अतिरिक्त पात्र देने का विधान है। अतः अतिरिक्त पात्र ग्रहण करने की अनुमति देना आचार्यादि गीतार्थों के अधिकार का विषय है। विशेष वर्णन के लिए निशीथ उ. १४ का विवेचन देखें।

आहार की ऊनोदरी का परिमाण

१७. १. अट्ठ कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे अप्पाहारे।

२. दुवालस कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे अवड्ढोमोयरिया।

३. सोलस कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे दुभागपत्ते, अड्ढोमोयरिया।

४. चउव्वीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे तिभागपत्ते, अंसिया।

५. एगतीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे किंचूणोमोयरिया।

६. बत्तीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे पमाणपत्ते।

७. एत्तो एकेण वि कवलेण ऊणगं आहारं आहारेमाणे समणे निग्गंथे नो पकामभोइ त्ति वत्तव्वं सिया।

१७. १. अपने मुखप्रमाण आठ कवल आहार करने से अल्पाहार कहा जाता है।

२. अपने मुखप्रमाण बारह कवल आहार करने से कुछ अधिक अर्ध ऊनोदरिका कही जाती है।

३. अपने मुखप्रमाण सोलह कवल आहार करने से द्विभागप्राप्त आहार और अर्द्ध ऊनोदरी कही जाती है।

४. अपने मुखप्रमाण चौबीस कवल आहार करने से त्रिभागप्राप्त आहार और एक भाग ऊनोदरिका कही जाती है।

५. अपने मुखप्रमाण एकत्तीस कवल आहार करने से किंचित् ऊनोदरिका कही जाती है।

६. अपने मुखप्रमाण बत्तीस कवल आहार करने से प्रमाण प्राप्त आहार कहा जाता है।

इससे एक भी कवल कम आहार करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ प्रकामभोजी नहीं कहा जाता है।

विवेचन—भगवतीसूत्र शतक ७ तथा श. २५ एवं उववाईसूत्र में भी ऊनोदरी तप के विषय में ऐसा ही कथन है। 'आहारद्रव्य-ऊनोदरी' के स्वरूप के साथ ही वहां उपकरण-ऊनोदरी आदि भेदों का भी स्पष्टीकरण किया गया है।

उत्तरा. अ. ३० के तप-वर्णन में आहार-ऊनोदरी का ही कथन किया है। उपकरण-ऊनोदरी आदि भेदों की विवक्षा वहां नहीं की है। वहां पर आहार-ऊनोदरी के ५ भेद कहे हैं—(१) द्रव्य, (२) क्षेत्र, (३) काल, (४) भाव और (५) पर्याय से।

(१) द्रव्य से—अपनी पूर्ण खुराक से कम खाना। (२) क्षेत्र से—ग्रामादि क्षेत्र संबंधी अभिग्रह करना अथवा भिक्षाचरी में भ्रमण करने के मार्ग का पेटी आदि छः आकार में अभिग्रह करना। (३) काल से—गोचरी लाने व खाने का प्रहर, घंटा आदि रूप में अभिग्रह करना। (४) भाव से—घर में रहे पदार्थों से या स्त्री पुरुषों के वर्ण, वस्त्र-भाव आदि से अभिग्रह करना। (५) पर्याय से—उपरोक्त द्रव्यादि चार प्रकारों में से एक-एक का अभिग्रह करना उन-उन भेदों में समाविष्ट है और इन चार में से अनेक अभिग्रह एक साथ करना 'पर्याय ऊनोदरी' है।

प्रस्तुत सूत्र में इन पांचों में से प्रथम द्रव्य ऊनोदरी का निम्न पांच भेदों द्वारा वर्णन किया है—

(१) अल्पाहार—एक कवल, दो कवल यावत् आठ कवल प्रमाण आहार करने पर अल्पाहार ऊनोदरी होती है।

(२) अपार्ध-ऊनोदरी—नव से लेकर बारह कवल अथवा पन्द्रह कवल प्रमाण आहार करने पर आधी खुराक से कम आहार किया जाता है। उसे "अपार्द्ध ऊनोदरी" कहते हैं, अर्थात् पहली अल्पाहार रूप ऊनोदरी है और दूसरी आधी खुराक से कम आहार करने रूप ऊणोदरी है।

(३) द्विभागप्राप्त ऊनोदरी (अर्द्ध ऊनोदरी)—१६ कवल प्रमाण आहार करने पर अर्द्ध खुराक का आहार किया जाता है जो पूर्ण खुराक के चार भाग विवक्षित करने पर दो भाग रूप होती है, अतः इसे सूत्र में "द्विभागप्राप्त ऊनोदरी" कहा है और दो भाग की ऊनोदरी होने से इसे "अर्द्ध ऊनोदरी" भी कह सकते हैं।

(४) त्रिभागप्राप्त-अंसिका ऊनोदरी—२४ कवल (२७ से ३० कवल) प्रमाण आहार करने पर त्रिभाग आहार होता है और एक भाग आहार की ऊनोदरी होती है। इसके लिए सूत्र में "अंशिका-ऊनोदरी" शब्द का प्रयोग किया गया है। इसमें आहार के चार भाग में से तीन भाग का आहार किया जाता है, अतः यह त्रिभागप्राप्त आहाररूप ऊनोदरी है। अथवा इसे 'पाव ऊनोदरी' भी

कह सकते हैं। इस स्थल पर लिपि दोष से प्रतियों के पाठभेद हो गये हैं, अतः यहां अन्य आगमों से पाठ सुधारा गया है। प्रतियों में 'ओमोयरिए' 'पत्तोमोयरिए' ऐसे पाठ उपलब्ध होते हैं।

(५) किंचित्-ऊनोदरी—३१ कवल प्रमाण आहार करने पर एक कवल की ही ऊनोदरी होती है जो ३२ कवल आहार की अपेक्षा अल्प होने से 'किंचित् ऊनोदरी' कहा गया है।

सूत्र के अंतिम अंश से यह स्पष्ट किया गया है कि इन पांच में से किसी भी प्रकार की ऊनोदरी करने वाला भिक्षु प्रकामभोजी (भरपेट खाने वाला) नहीं होता।

३२ कवल रूप पूर्ण आहार करने वाला प्रमाणप्राप्तभोजी कहा गया है। उसके किंचित् भी ऊनोदरी नहीं होती है।

भिक्षु को इन्द्रियसंयम एवं ब्रह्मचर्यसमाधि के लिए सदा ऊनोदरी तप करना आवश्यक है, अर्थात् उसे कभी भरपेट आहार नहीं करना चाहिए।

आचा. श्रु. १ अ. ९ उ. ४ में भगवान् महावीर स्वामी के आहार-विहार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि भगवान् स्वस्थ अवस्था में भी सदा ऊनोदरीतप युक्त आहार करते थे। यथा—

ओमोयरियं चाएइ अपुट्ठे वि भगवं रोगेहिं। गा. १

नीति में भी कहा गया है कि—

संत सती ने सूरमा, चौथी विधवा नार।
ऐता तो भूखा भला धाया करे उत्पात॥

सूत्र में कवलप्रमाण को स्पष्ट करने के लिए 'कुक्कुटिअंडकप्रमाण' ऐसा विशेषण लगाया गया है। इस विषय में व्याख्याग्रन्थों में इस प्रकार स्पष्टीकरण किये गए हैं—

(१) निजकस्याहारस्य सदा यो द्वात्रिंशत्तमो भागो तत् कुक्कुटीप्रमाणं—अपनी आहार की मात्रा का जो सदा बत्तीसवां भाग होता है, वह कुक्कुटीअंडकप्रमाण अर्थात् उस दिन का कवल कहा जाता है

(२) कुत्सिता कुटी-कुक्कुटी शरीरमित्यर्थः। तस्याः शरीररूपायाः कुक्कुट्या अंडकमिव अंडकं-मुखं—अशुचि मय यह शरीर ही कुकुटी है, उसका जो मुख है वह कुकुटी का अंडक कहा गया है।

(३) यावत्प्रमाणमात्रेण कवलेन मुखे प्रक्षिप्यमाणेन मुखं न विकृतं भवति तावत्पलं कुक्कुट-अंडक-प्रमाणम्—जितना बड़ा कवल मुख में रखने पर मुख विकृत न दिखे उतने प्रमाण का एक कवल समझना चाहिए। उस कवल के समावेश के लिये जो मुख का भीतरी आकार बनता है, उसे कुक्कुटी-अंडकप्रमाण समझना चाहिए।

(४) अयमन्यः विकल्पः कुक्कुटं अंडकोपमे कवले—अथवा कुकड़ी के अंडे के प्रमाण जितना कवल, यह भी अर्थ का एक विकल्प है।

—'ऊणोयरिया' —अभि. रा. कोश भा. २, पृ. ११८२

उपर्युक्त व्याख्यास्थलों पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि 'कुक्कुडिअंडग' इतना शब्द न होने पर भी सूत्राशय स्पष्ट हो जाता है और यह शब्द भ्रमोत्पादक भी है, अतः यह शब्द कभी

किसी के द्वारा प्रक्षिप्त किया गया हो और व्याख्याकारों ने इसे मौलिक पाठ समझ कर ज्यों-त्यों करके संगति करने की कोशिश की हो।

व्याख्या में यह भी कहा गया है कि एक दिन पूर्ण आहार करने वाला 'प्रकामभोजी' है, अनेक दिन पूर्ण आहार करने वाला 'निकामभोजी' है और ३२ कवल से भी अधिक खाने वाला 'अतिभोजी है।

यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि बत्तीस कवल के आहार से जो संपूर्ण माप कहा गया है वह प्रत्येक बार के भोजन की अपेक्षा से है या अनेक बार के भोजन की अपेक्षा से ? तथा दूध, छाछ आदि पेय पदार्थों का समावेश इन ३२ कवल में किस प्रकार होता है ?

समाधान—आचारशास्त्रों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दिन में एक बार भोजन करना ही भिक्षु का शुद्ध उत्सर्ग आचार है। आगमों में अनेक जगह अन्य समय में आहार करने का जो विधान है, उसे आपवादिक विधान समझना चाहिए। आपवादिक आचरण को सदा के लिए प्रवृत्ति रूप में स्वीकार कर लेना शिथिलाचार है। अतः कारणवश अनेक बार या सुबह शाम आहार करना ही अपवादमार्ग है। उत्सर्गमार्ग तो एक बार खाने का ही है। अतः आगमोक्त एक बार के औत्सर्गिक आहार करने की अपेक्षा यह विधान है।

जितने आहार से पेट पूर्ण भर जाय, पूर्ण तृप्ति हो जाय अथवा जिससे भूख रहने का या और कुछ खाने का मन न हो, ऐसी संपूर्ण मात्रा को ३२ कवल में विभाजित कर लेना चाहिए। इसमें दूध रोटी फल आदि सभी को समाविष्ट समझना चाहिए। अनुमान से जितने-जितने कवल प्रमाण भूख रखी जाय, उतनी-उतनी ऊनोदरी समझनी चाहिए।

समान्यतया उत्सर्गमार्ग से भिक्षु का आहार विगयरहित होता है, अतः रोटी आदि की अपेक्षा ३२ कवल समझना और भी सरल हो जाता है।

इसी के आधार से यह फलित होता है कि कारण से अनेक बार किये जाने वाले आहार का कुल योग ३२ कवल होना चाहिए। अतः अनेक बार आहार करना हो तो ३२ कवलों को विभाजित करके समझ लेना चाहिए।

अनेक दिनों तक एक वक्त विगयरहित सामान्य आहार करके कुल खुराक का माप रोटी की संख्या में कायम किया जा सकता है।

आठवें उद्देशक का सारांश

सूत्र १ स्थविर गुरु आदि की आज्ञा से शयनासनभूमि ग्रहण करना।

२-४ पाट आदि एक हाथ से उठाकर सरलता से लाया जा सके, वैसा ही लाना। उसकी गवेषणा तीन दिन तक की जा सकती है और स्थविरवास के अनुकूल पाट की गवेषणा पांच दिन तक की जा सकती है एवं अधिक दूर से भी लाया जा सकता है।

५ एकलविहारी वृद्ध भिक्षु के यदि अनेक प्रकार के औपग्रहिक उपकरण हों तो उन्हें भिक्षाचारी आदि जाते समय किसी की देखरेख में छोड़कर जाना एवं पुनः आकर उसे सूचित करके ग्रहण करना।

सूत्र ६-९ किसी गृहस्थ का शय्या-संस्तारक आदि अन्य उपाश्रय (मकान) में ले जाना हो तो उसकी पुनः आज्ञा लेना। कभी अल्पकाल के लिए कोई पाट आदि उपाश्रय में ही छोड़ दिया हो तो उसे ग्रहण करने के लिये पुनः आज्ञा लेना, किन्तु बिना आज्ञा ग्रहण नहीं करना। क्योंकि उसे अपनी निश्रा से कुछ समय के लिए छोड़ दिया गया है।

१०-१२ मकान पाट आदि की पहले आज्ञा लेना बाद में ग्रहण करना। कभी दुर्लभ शय्या की परिस्थिति में विवेकपूर्वक पहले ग्रहण करके फिर आज्ञा ली जा सकती है।

१३-१५ चलते समय मार्ग में किसी भिक्षु का उपकरण गिर जाय और अन्य भिक्षु को मिल जाय तो पूछताछ कर जिसका हो उसे दे देना। कोई भी उसे स्वीकार न करे तो परठ देना। रजोहरणादि बड़े उपकरण हों, तो अधिक दूर भी ले जाना और पूछताछ करना।

१६ अतिरिक्त पात्र आचार्यादि के निर्देश से ग्रहण किए हों तो उन्हें ही देना या सुपुर्द करना। जिसे देने की इच्छा हो, उन्हें स्वतः ही नहीं देना। जिसका नाम निर्देश करके लिया हो तो आचार्य की आज्ञा लेकर पहले उसे ही देना।

१७ सदा कुछ न कुछ ऊनोदरी तप करना चाहिए। ऊनोदरी करने वाला प्रकामभोजी नहीं कहा जाता है।

उपसंहार इस उद्देशक में—

सूत्र १-४, ६-१२ शयनासन पाट आदि के ग्रहण करने आदि का,

५ एकाकी वृद्ध स्थविर का,

१३-१५ खोए गए उपकरणों का,

१६ अतिरिक्त पात्र लाने देने का,

१७ आहार की ऊनोदरी का,

इत्यादि विषयों का कथन किया गया है।

॥ आठवां उद्देशक समाप्त ॥

नवम उद्देशक

शय्यातर के पाहुणे, नौकर एवं ज्ञातिजन के निमित्त से बने आहार के लेने का विधि-निषेध

१. सागारियस्स आएसे अन्तो वगडाए भुंजए, निट्ठिए निसट्ठे पाडिहारिए, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

२. सागारियस्स आएसे अंतो वगडाए भुंजए, निट्ठिए निसट्ठे अपाडिहारिए, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

३. सागारियस्स आएसे बाहिं वगडाए भुंजइ, निट्ठिए निसट्ठे पाडिहारिए, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

४. सागारियस्स आएसे बाहिं वगडाए भुंजइ, निट्ठिए निसट्ठे अपाडिहारिए, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

५. सागारियस्स दासे वा, पेसे वा, भयए वा, भइण्णए वा अंतो वगडाए भुंजइ निट्ठिए निसट्ठे पाडिहारिए, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

६. सागारियस्स दासे वा, पेसे वा, भयए वा, भइण्णए वा अन्तो वगडाए भुंजइ, निट्ठिए निसट्ठे अपाडिहारिए, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

७. सागारियस्स दासे वा, पेसे वा, भयए वा, भइण्णए वा बाहिं वगडाए भुंजइ, निट्ठिए निसट्ठे पाडिहारिए, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

८. सागारियस्स दासे वा, पेसे वा, भयए वा, भइण्णए वा बाहिं वगडाए भुंजइ, निट्ठिए निसट्ठे अपाडिहारिए, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

९. सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स एगवगडाए अंतो सागारियस्स एगपयाए, सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

१०. सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स एगवगडाए अंतो सागारियस्स अभिनिपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

११. सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स एगवगडाए बाहिं सागारियस्स एगपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

१२. सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स एगवगडाए बाहिं सागारियस्स अभिनिपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

१३. सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमण-पवेसाए अंतो सागारियस्स एगपयाए सागारियं चोवजीवइ तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

१४. सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमण-पवेसाए अंतो सागारियस्स अभिनिपयाए सागारियं चोवजीवइ तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

१५. सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमण-पवेसाए बाहिं सागारियस्स एगपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

१६. सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमण-पवेसाए बाहिं सागारियस्स अभिनिपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

१. शय्यातर के यहां किसी आगन्तुक के लिये आहार बनाया गया हो, उसे प्रातिहारिक दिया गया हो, वह उसके घर के भीतरी भाग में जीमता हो, उस आहार में से वह आगन्तुक दे तो साधु को लेना नहीं कल्पता है।

२. शय्यातर के यहां किसी आगन्तुक के लिये आहार बनाया गया हो, उसे अप्रातिहारिक दिया गया हो, वह उसके घर के भीतरी भाग में जीमता हो, उस आहार में से वह आगन्तुक दे तो साधु को लेना कल्पता है।

३. शय्यातर के यहां किसी आगन्तुक के लिये आहार बनाया गया हो, उसे खाने के लिए प्रातिहारिक दिया गया हो, वह उसके घर के बाह्यभाग में जीमता हो, उस आहार में से वह आगन्तुक दे तो साधु को लेना नहीं कल्पता है।

४. शय्यातर के यहां किसी आगन्तुक के लिये घर के बाह्यभाग में आहार बनाया गया हो, उसे खाने के लिये अप्रातिहारिक दिया गया हो, वह उसके घर के बाह्यभाग में जीमता हो, उस आहार में से वह आगन्तुक दे तो साधु को लेना कल्पता है।

५. शय्यातर के दास, प्रेष्य, भृतक और नौकर के लिए आहार बना हो, उसे प्रातिहारिक दिया गया हो, वह उसके घर के भीतरी भाग में जीमता हो, उस आहार में से वह साधु को दे तो लेना नहीं कल्पता है।

६. शय्यातर के दास, प्रेष्य, भृतक और नौकर के लिए आहार बना हो, उसे अप्रातिहारिक दिया गया हो, वह उसके घर के भीतरी भाग में जीमता हो, उस आहार में से वह साधु को दे तो लेना कल्पता है।

७. शय्यातर के दास, प्रेष्य, भृतक और नौकर के लिए आहार बना हो, उसे प्रातिहारिक

दिया गया हो, वह घर के बाह्यभाग में जीमता हो, उस आहार में से वह साधु को दे तो लेना नहीं कल्पता है।

८. शय्यातर के दास, प्रेष्य, भृतक और नौकर के लिए आहार बना हो, उसे अप्रातिहारिक दिया गया हो, वह घर के बाह्यभाग मे जीमता हो, उस आहार में से वह साधु को दे तो लेना कल्पता है।

९. सागारिक (शय्यातर) का स्वजन सागारिक के घर में सागारिक के एक ही चूल्हे पर सागारिक की ही सामग्री से आहार निष्पन्न कर जीवननिर्वाह करता है। यदि वह उस आहार में से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को देता है तो उन्हें लेना नही कल्पता है।

१०. सागारिक का स्वजन यदि सागारिक के घर में ही सागारिक के चूल्हे से भिन्न चूल्हे पर सागारिक की ही सामग्री से आहारादि निष्पन्न कर जीवननिर्वाह करता है। यदि वह उस आहार में से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को देता है तो उन्हें लेना नही कल्पता है।

११. सागारिक का स्वजन सागारिक के घर के बाह्यविभाग मे सागारिक के ही चूल्हे पर सागारिक की ही सामग्री से आहार निष्पन्न कर उससे जीवननिर्वाह करता है। यदि वह उस आहार में से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को देता है तो उन्हें लेना नही कल्पता है।

१२. सागारिक का स्वजन सागारिक के घर के बाह्यविभाग में सागारिक के चूल्हे से भिन्न चूल्हे पर सागारिक की ही सामग्री से आहार निष्पन्न कर उससे जीवननिर्वाह करता है। यदि वह उस आहार में से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

१३. सागारिक का स्वजन सागारिक के घर के भिन्न गृहविभाग में तथा एक निष्क्रमण-प्रवेश द्वार वाले गृह में सागारिक के ही चूल्हे पर सागारिक की ही सामग्री से आहार निष्पन्न कर उससे जीवननिर्वाह करता है। यदि वह उस आहार में से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

१४. सागारिक का स्वजन सागारिक के घर के भिन्न गृहविभाग में तथा एक निष्क्रमण-प्रवेश-द्वार वाले गृह में सागारिक के चूल्हे से भिन्न चूल्हे पर सागारिक की ही सामग्री से आहार निष्पन्न कर उससे जीवननिर्वाह करता है। यदि वह उस आहार मे से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को दे तो उन्हें लेना नही कल्पता है।

१५. सागारिक का स्वजन सागारिक के गृह के विभिन्नगृहविभाग में तथा एक निष्क्रमण-प्रवेश-द्वार वाले गृह के बाह्य भाग में सागारिक के चूल्हे पर सागारिक की ही सामग्री से आहार निष्पन्न कर उससे जीवननिर्वाह करता है। यदि वह उस आहार मे से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

१६. सागारिक का स्वजन सागारिक के गृह के भिन्न गृहविभाग में तथा एक निष्क्रमण-प्रवेश-द्वार वाले गृह के बाह्यभाग में सागारिक के चूल्हे से भिन्न चूल्हे पर सागारिक की ही सामग्री से आहार

निष्पन्न कर उससे जीवननिर्वाह करता है। यदि वह उस आहार में से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

विवेचन—शय्यातर का आहार पाहुणों (मेहमानो) के एवं नौकरों को नियत किये अनुसार परिपूर्ण दे दिया गया हो तो उसमें से भिक्षु ग्रहण कर सकता है।

यदि पाहुणों को या नौकरों को थोड़ा-थोड़ा दिया जा रहा है एवं आवश्यकता होने पर वे पुनः ले सकते हैं और अवशेष रहने पर लौटा भी सकते हैं, ऐसा आहार साधु नहीं ले सकता है।

शय्यातर के सहयोग से ही जो ज्ञातिजन जीवन व्यतीत करते हों अर्थात् उनका सम्पूर्ण खर्च शय्यातर ही देता हो तो भिक्षु उसके आहार को ग्रहण नहीं कर सकता। यही अर्थ (९ से १६) आठ सूत्रों में कहा गया है। आशय यह है कि वे ज्ञातिजन शय्यातर के घर के अन्दर या बाहर किसी चूल्हे पर भोजन बनावें एवं उसका चौका अलग हो या शामिल हो, किसी भी विकल्प में उसका आहारादि नहीं कल्पता है।

इससे यह तात्पर्य समझना चाहिए कि शय्यातर के ज्ञातिजन या अन्य को मर्यादित खर्च दिया जाता हो और घट-बध का जिम्मेवार वह शय्यातर नहीं हो तो उनका आहारादि ग्रहण किया जा सकता है।

शय्यातरपिंड संबंधी अन्य जानकारी निशीथ उ. २, बृहत्कल्प उ. २, दशा. द. २ एवं व्यव. उ. ६ में देखें।

शय्यातर के भागीदारी वाली विक्रयशालाओं से आहार लेने का विधि-निषेध

१७. सागारियस्स चक्कियासाला साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

१८. सागारियस्स चक्कियासाला निस्साहारण-वक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए एवं से नो कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

१९. सागारियस्स गोलियसाला साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२०. सागारियस्स गोलियसाला निस्साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२१. सागारियस्स बोधियसाला साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२२. सागारियस्स बोधियसाला निस्साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२३. सागारियस्स दोसियसाला साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२४. सागारियस्स दोसियसाला निस्साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२५. सागारियस्स सोत्तियसाला साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२६. सागारियस्स सोत्तियसाला निस्साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२७. सागारियस्स बोंडियसाला साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२८. सागारियस्स बोंडियसाला निस्साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२९. सागारियस्स गंधियसाला साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

३०. सागारियस्स गंधियसाला निस्साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

३१. सागारियस्स सोंडियसाला साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

३२. सागारियस्स सोंडियसाला निस्साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

३३. सागारियस्स ओसहीओ संथडाओ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

३४. सागारियस्स ओसहीओ असंथडाओ, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

३५. सागारियस्स अम्बफला संथडाओ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

३६. सागारियस्स अम्बफला असंथडा, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

१७. सागारिक (शय्यातर) की हिस्सेदारी वाली चक्रिकाशाला (तेल की दुकान) में से सागारिक का साझेदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को तेल देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

१८. सागारिक की सीर (हिस्सेदारी) वाली तेल की दुकान में से सागारिक का साझीदार सागरिक के बिना सीर का तेल देता है तो साधु को लेना कल्पता है।

१९. सागारिक के सीर वाली गुड़ की दुकान में से सागारिक का साझेदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को गुड़ देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

२०. सागारिक के सीर वाली गुड़ की दुकान में से सागारिक का साझेदार सागारिक के बिना सीर का गुड़ देता है तो साधु को लेना कल्पता है।

२१. सागारिक के सीर वाली बोधियशाला (किराणे की दुकान) में से सागारिक का साझेदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को किराणे की वस्तु देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

२२. सागारिक के सीर वाली किराणे की दुकान में से सागारिक का साझेदार सागारिक के बिना सीर की किराणे की वस्तु देता है तो उन्हें लेना कल्पता है।

२३. सागारिक के सीर वाली दोसियशाला (कपड़े की दुकान) में से सागारिक का साझेदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को वस्त्र देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

२४. सागारिक के सीर वाली कपड़े की दुकान में से सागारिक का साझेदार सागारिक के बिना सीर का कपड़ा देता है तो साधु को लेना कल्पता है।

२५. सागारिक के सीर वाली सूत (धागे) की दुकान में से सागारिक का साझेदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को सूत देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

२६. सागारिक के सीर वाली सूत की दुकान में से सागारिक का साझेदार सागारिक के बिना सीर का सूत देता है तो साधु को लेना कल्पता है।

२७. सागारिक के सीर वाली बोंडियशाला (रूई की दुकान) में से सागारिक का साझेदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को रूई देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

२८. सागारिक के सीर वाली रूई की दुकान में से सागारिक का साझेदार सागारिक के बिना सीर की रूई देता है तो लेना कल्पता है।

२९. सागारिक के सीर वाली गन्धियशाला में से सागारिक का साझेदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को सुगन्धित पदार्थ देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

३०. सागारिक के सीर वाली गन्धियशाला में से सागारिक का साझेदार सागारिक के बिना सीर का सुगन्धित पदार्थ देता है तो साधु को लेना कल्पता है।

३१. सागारिक के सीर वाली मिष्ठान्नशाला में से सागारिक निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को मिठाई देता है तो लेना नहीं कल्पता है।

३२. सागारिक के सीर वाली मिष्ठान्नशाला में से सागारिक का साझीदार सागारिक के बिना सीर की मिठाई देता है तो उन्हें लेना कल्पता है।

३३. सागारिक के सीर वाली भोजनशाला में से सागारिक का साझीदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को आहार देता है तो लेना नहीं कल्पता है।

३४. सागारिक के सीर वाली भोजनशाला से सागारिक का साझीदार बंटवारे मे प्राप्त खाद्य सामग्री में से देता है तो साधु को लेना कल्पता है।

३५. सागारिक के सीर वाले आम्र आदि फलों में से सागारिक का साझीदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को आम्रादि देता है तो उन्हें लेना नहीं कल्पता है।

३६. सागारिक के सीर वाले आम्रादि फलों में से सागारिक का साझीदार बंटवारे मे प्राप्त आम्र आदि फल यदि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को देता है तो उन्हें लेना कल्पता है।

विवेचन—पूर्व सूत्रों में शय्यातरपिंड घरों में से लेने, न लेने का विधान किया गया है और इन सूत्रों में विक्रयशाला अर्थात् दुकानों में से खाद्यपदार्थ या अन्य वस्त्रादि लेने, न लेने का विधान किया गया है।

इन सूत्रों का आशय यह है कि शय्यातर एवं अशय्यातर (अन्य गृहस्थ) की सामूहिक विक्रय-शाला हो, उसमें कभी-कोई विभाजित वस्तु में शय्यातर का स्वामित्व न हो या कोई पदार्थ अन्य गृहस्थ के स्वतन्त्र स्वामित्व का हो तो उसे ग्रहण करने पर शय्यातरपिंड का दोष नहीं लगता है। अतः सूत्रोक्त दुकानों से वे पदार्थ गृहस्थ के निमन्त्रण करने पर या आवश्यक होने पर विवेकपूर्वक ग्रहण किये जा सकते हैं।

सूत्रगत विक्रयशाला के पदार्थ इस प्रकार है—

(१) तेल आदि, (२) गुड़ आदि, (३) अनाज किराणा के कोई अचित्त पदार्थ, (४) वस्त्र, (५) सूत, (धागे), (६) कपास (रूई), (७) सुगंधित तेल इत्रादि (ग्लान हेतु औषध रूप में), (८) मिष्ठान्न (९) भोजनसामग्री (१०) आम्रादि अचित्त फल (उबले हुए या गुठली रहित खण्ड)।

इन सूत्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि साधु-साध्वी घरों के अतिरिक्त कभी कहीं दुकान से भी कल्प्यवस्तु ग्रहण कर सकते हैं। दशवै. अ. ५ उ. १ गा. ७२ में भी रज से युक्त खाद्यपदार्थ हों तो विक्रयशाला से लेने का निषेध किया गया है, अर्थात् रजरहित हों तो वे ग्रहण किए जा सकते हैं।

यहां टीकाकार ने स्पष्ट किया है कि क्षेत्र, काल, व्यक्ति एवं जनसाधारण के वातावरण का अवश्य ही विवेक रखना चाहिए। अन्यथा दुकानों से पदार्थ ग्रहण करने में साधु की या जिनशासन की हीलना हो सकती है।

"सोंडियसाला—"सुखडी" तिप्रसिद्धमिष्ठान्नविक्रयशाला कांदविकापण इत्यर्थः—कंदोई की दुकान। —नि. भाष्य (घासी.)

भाष्यादि में "मद्यशाला" अर्थ किया है, किन्तु साधु-साध्वियों का मद्य-मांस से कोई सम्पर्क ही नहीं होता है, क्योंकि ये पदार्थ आगम में नरक के कारणभूत कहे गये हैं । अतः उपर्युक्त अर्थ ही संगत है। इस विषय की अधिक जानकारी निशीथ उ. १९ सू. १ के विवेचन में देखें ।

सप्तसप्ततिका आदि भिक्षुप्रतिमाएं

३७. सत्त-सत्तमिया णं भिक्खुपडिमा एगूणपन्नाए राइंदिएहिं एगेणं छन्नउएणं भिक्खासएणं अहासुत्तं जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

३८. अट्ठ-अट्ठमिया णं भिक्खुपडिमा चउसट्ठीए राइंदिएहिं दोहि य अट्ठासिएहिं भिक्खासएहिं अहासुत्तं जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

३९. नव-नवमिया णं भिक्खुपडिमा एगासीए राइंदिएहिं चउहि य पंचुत्तरेहिं भिक्खासएहिं अहासुत्तं जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

४०. दस-दसमिया णं भिक्खुपडिमा एगेणं राइंदियसएणं अद्धछट्ठेहिं य भिक्खासएहिं जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

३७. सप्तसप्तमिका—सप्त-सप्तदिवसीय भिक्षुप्रतिमा उनपचास अहोरात्र में एक सौ छियानवें भिक्षादत्तियों से सूत्रानुसार यावत् जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है ।

३८. अष्टअष्टमिया—अष्ट-अष्टदिवसीय भिक्षुप्रतिमा चौसठ अहोरात्र में दो सौ अठासी भिक्षादत्तियों से सूत्रानुसार यावत् जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है ।

३९. नवनवमिया—नौ-नौदिवसीय भिक्षुप्रतिमा इक्यासी अहोरात्र में चार सौ पांच भिक्षादत्तियों से सूत्रानुसार यावत् जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है ।

४०. दसदसमिया— दस-दसदिवसीय भिक्षुप्रतिमा सौ अहोरात्र में पांच सौ पचास भिक्षादत्तियों से सूत्रानुसार यावत् जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है ।

विवेचन—इन सूत्रों में चार प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है, जिनकी आराधना साधु-साध्वी दोनों ही कर सकते हैं ।

अंतगडसूत्र के आठवें वर्ग में सुकृष्णा आर्या द्वारा इन भिक्षुप्रतिमाओं की आराधना करने का वर्णन है ।

इन प्रतिमाओं में साध्वी भी स्वयं अपनी गोचरी लाती है, जिनमें निर्धारित दिनों तक भिक्षा-दत्ति की मर्यादा का पालन किया जाता है । इन प्रतिमाओं में निर्धारित दत्तियों से कम दत्तियां ग्रहण की जा सकती हैं या अनशन तपस्या भी की जा सकती है । किन्तु किसी भी कारण से मर्यादा से अधिक दत्ति ग्रहण नहीं की जा सकती है ।

इन प्रतिमाओं में उपवास आदि तप करना आवश्यक नहीं होता है, स्वाभाविक ही प्रायः सदा ऊनोदरी तप हो जाता है ।

सप्तसप्ततिका भिक्षुप्रतिमा—प्रथम सात दिन तक एक-एक दत्ति, दूसरे सात दिन तक दो-दो दत्ति, यों क्रमशः सातवें सप्तक में सात-सात दत्ति ग्रहण की जाती है । इस प्रकार सात सप्तक के ४९ दिन होते हैं और भिक्षादत्ति की कुल अधिकतम संख्या १९६ होती है । ये दत्तियां आहार की अपेक्षा से हैं । पानी की अपेक्षा भी इतनी ही दत्तियां समझ लेनी चाहिए ।

इसी प्रकार अष्टअष्टमिका भिक्षुप्रतिमा—आठ अष्टक से ६४ दिनों में पूर्ण की जाती है । जिसमें प्रथम आठ दिन में एक दत्ति आहार की एवं एक ही दत्ति पानी की ली जाती है । इस प्रकार बढ़ाते हुए आठवें अष्टक में प्रतिदिन आठ दत्ति आहार की एवं आठ दत्ति पानी की ली जा सकती है । इस प्रकार कुल ६४ दिन और २८८ भिक्षादत्ति हो जाती हैं ।

इसी प्रकार "नवनवमिका" और दसदसमिकाप्रतिमा—के भी सूत्रोक्त दिन और दत्तियों का प्रमाण समझ लेना चाहिए ।

बृहत्कल्प उ. ५ में साध्वी को अकेले गोचरी जाने का भी निषेध किया है । अतः इन प्रतिमाओं में स्वतन्त्र गोचरी लाने वाली साध्वी के साथ अन्य साध्वियों को रखना आवश्यक है, किन्तु गोचरी तो वह स्वयं ही करती है ।

इन प्रतिमाओं को भी सूत्र में "भिक्षुप्रतिमा" शब्द से ही सूचित किया गया है । फिर भी इनको धारण करने में बारह भिक्षुप्रतिमाओं के समान पूर्वो का ज्ञान या विशिष्ट संहनन की आवश्यकता नही होती है ।

मोक-प्रतिमा-विधान

४१. दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—१. खुड्डिया वा मोयपडिमा, २. महल्लिया वा मोयपडिमा । खुड्डियं णं मोयपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ पढम-सरय-कालसमयंसि वा चरिम-निदाह-कालसमयंसि वा, बहिया गामस्स वा जाव रायहाणीए वा वणंसि वा वणदुग्गंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयदुग्गंसि वा । भोच्चा आरुभइ, चोद्दसमेणं पारेइ, अभोच्चा आरुभइ, सोलसमेणं पारेइ । जाए-जाए मोए आगच्छइ, ताए-ताए आईयव्वे । दिया आगच्छइ आईयव्वे, रत्ति आगच्छइ नो आईयव्वे । सपाणे मत्ते आगच्छइ नो आईयव्वे, अपाणे मत्ते आगच्छइ आईयव्वे । सबीए मत्ते आगच्छइ नो आईयव्वे, अबीए मत्ते आगच्छइ आईयव्वे । ससणिद्धे मत्ते आगच्छइ नो आईयव्वे अससणिद्धे मत्ते आगच्छइ आईयव्वे । ससरक्खे मत्ते आगच्छइ नो आईयव्वे, अससरक्खे मत्ते आगच्छइ आईयव्वे । जावइए-जावइए मोए आगच्छइ, तावइए-तावइए सव्वे आईयव्वे, तं जहा—अप्पे वा, बहुए वा । एवं खलु एसा खुड्डिया मोयपडिमा अहासुत्तं जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

४२. महल्लियं णं मोयपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ पढम-सरय-कालसमयंसि वा चरम-निदाह-कालसमयंसि वा, बहिया गामस्स वा जाव रायहाणिए वा वणंसि वा

पच्चयंसि वा पव्वयदुग्गंसि वा, भोच्चा आरुभइ, सोलसमेणं पारेइ, अभोच्चा आरुभइ, अट्ठारसमेणं पारेइ। जाए-जाए मोए आगच्छइ, ताए-ताए आईयव्वे। दिया आगच्छइ आईयव्वे, रत्ति आगच्छइ नो आईयव्वे जाव एवं खलु एसा महल्लिया मोयपडिमा अहासुत्तं जाव आणाए अणुपालिता भवइ।

४१. दो प्रतिमाएं कही गई हैं, यथा—१. छोटी प्रस्रवणप्रतिमा, २. बड़ी प्रस्रवणप्रतिमा। छोटी प्रस्रवणप्रतिमा शरत्काल के प्रारम्भ में अथवा ग्रीष्मकाल के अन्त में ग्राम के बाहर यावत् राजधानी के बाहर वन में या वनदुर्ग में, पर्वत पर या पर्वतदुर्ग में अनगार को धारण करना कल्पता है। यदि वह भोजन करके उस दिन इस प्रतिमा को धारण करता है तो छह उपवास से इसे पूर्ण करता है। यदि भोजन किये बिना अर्थात् उपवास के दिन इस प्रतिमा को धारण करता है तो सात उपवास से इसे पूर्ण करता है। इस प्रतिमा में भिक्षु को जितनी बार मूत्र आवे उतनी बार पी लेना चाहिए। दिन में आवे तो पीना चाहिए, किन्तु रात में आवे तो नहीं पीना चाहिए। कृमियुक्त आवे तो नहीं पीना चाहिए, किन्तु कृमिरहित आवे तो पीना चाहिए। वीर्यसहित आवे तो नहीं पीना चाहिए, किन्तु वीर्यरहित आवे तो पीना चाहिए। चिकनाईसहित आवे तो नहीं पीना चाहिए, किन्तु चिकनाईरहित आवे तो पीना चाहिए। रज (रक्तकण) सहित आवे तो नहीं पीना चाहिए, किन्तु रज-रहित आवे तो पीना चाहिए। जितना-जितना मूत्र आवे उतना-उतना सब पी लेना चाहिए, वह अल्प हो या अधिक।

इस प्रकार यह छोटी प्रस्रवणप्रतिमा सूत्रानुसार यावत् जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

४२. बड़ी प्रस्रवणप्रतिमा शरत्काल के प्रारम्भ में या ग्रीष्मकाल के अन्त में ग्राम के बाहर यावत् राजधानी के बाहर वन में या वनदुर्ग में, पर्वत पर या पर्वतदुर्ग में अनगार को धारण करना कल्पता है। यदि वह भोजन करके उसी दिन इस प्रतिमा को धारण करता है तो सात उपवास से इसे पूर्ण करता है। यदि भोजन किये बिना अर्थात् उपवास के दिन इस प्रतिमा को धारण करता है तो आठ उपवास से इसे पूर्ण करता है। इस प्रतिमा में भिक्षु को जब-जब मूत्र आवे, तब-तब पी लेना चाहिए। यदि दिन में आवे तो पीना चाहिए, किन्तु रात में आवे तो नहीं पीना चाहिए यावत् इस प्रकार यह बड़ी प्रस्रवणप्रतिमा सूत्रानुसार यावत् जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

विवेचन—इस सूत्रद्विक में दो भिक्षुप्रतिमाओं का वर्णन किया गया है। इन्हें केवल निर्ग्रन्थ ही स्वीकार कर सकता है। निर्ग्रन्थियां इन प्रतिमाओं को धारण नहीं कर सकतीं। क्योंकि ये प्रतिमाएं ग्रामादि के बाहर अथवा जंगल या पहाड़ों में जाकर सात-आठ दिन तक एकाकी रहकर रात-दिन कायोत्सर्ग करके पालन की जाती हैं। अतः भाष्य में इसका अधिकारी तीन संहनन वाले पूर्वधारी को ही बताया है।

ये प्रतिमाएं आषाढ मास या मृगशीर्ष (मिगसर) मास में ही धारण की जाती हैं। दोनों प्रस्रवणप्रतिमाओं में से एक प्रतिमा सात रात्रि कायोत्सर्ग की होती है, उसे छोटी प्रस्रवणप्रतिमा कहा गया है। दूसरी आठ रात्रि कायोत्सर्ग की होती है, उसे बड़ी प्रस्रवणप्रतिमा कहा है।

इन दोनों प्रतिमाओं को प्रथम दिन उपवास तप करके प्रारम्भ किया जा सकता है अथवा एक बार भोजन करके भी प्रारम्भ किया जा सकता है। भोजन करने वाले के एक दिन की तपस्या कम होती है, किन्तु कायोत्सर्ग करने का काल तो सभी के समान ही होता है।

इन प्रतिमाओं को धारण करने के बाद चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दिया जाता है, केवल स्वमूत्रपान करना खुला रहता है अर्थात् उन दिनों में जब-जब जितना भी मूत्र आवे, उसे सूत्रोक्त नियमों का पालन करते हुए पी लिया जाता है।

नियम इस प्रकार हैं—(१) दिन में पीना, रात्रि में नहीं। (२) कृमि, वीर्य, रज या चिकनाई युक्त हो तो नहीं पीना चाहिए। शुद्ध हो तो पीना चाहिए।

प्रतिमाधारी भिक्षु के उक्त रक्त, स्निग्धता आदि विकृतियां किसी रोग के कारण या तपस्या एवं धूप की गर्मी के कारण हो सकती हैं, ऐसा भाष्य में बताया गया है। कभी मूत्रपान से ही शरीर के विकारों की शुद्धि होने के लिए भी ऐसा होता है।

यद्यपि इस प्रतिमा वाला चौविहार तपस्या करता है और रात-दिन व्युत्सर्गतप में रहता है, फिर भी वह मूत्र की बाधा होने पर कायोत्सर्ग का त्याग कर मात्रक में प्रस्रवण त्याग करके उसका प्रतिलेखन करके पी लेता है। फिर पुनः कायोत्सर्ग में स्थिर हो जाता है। यह इस प्रतिमा की विधि है।

इस प्रतिमा का पालन करने वाला मोक्षमार्ग की आराधना करता है। साथ ही उसके शारीरिक रोग दूर हो जाते हैं और कंचनवर्णी बलवान् शरीर हो जाता है।

प्रतिमा-आराधन के बाद पुनः उपाश्रय में आ जाता है। भाष्य में उसके पारणे में आहार-पानी की ४९ दिन की क्रमिक विधि बताई गई है।

लोक-व्यवहार में मूत्र को एकांत अशुचिमय एवं अपवित्र माना जाता है, किन्तु वैद्यक ग्रन्थों में इसे सर्वौषधि, शिवांबु आदि नामों से कहा गया है और जैनागमों में भिक्षु को "मोयसमायारे" कह कर गृहस्थों को शुचिसमाचारी वाला कहा गया है।

अभि. रा. कोश में "निशाकल्प" शब्द में साधु के लिए रात्रि में पानी के स्थान पर इसे आचमन करने में उपयोगी होना बताया है। स्वमूत्र का विधिपूर्वक पान करने पर एवं इसका शरीर की त्वचा पर अभ्यंगन करने पर अनेक असाध्य रोग दूर हो जाते हैं। चर्मरोग के लिए या किसी प्रकार की चोट भरोंच आदि के लिए यह एक सफल औषध है। अतः आगमों में मूत्र को एकांत अपवित्र या अशुचिमय नहीं मानकर अपेक्षा से पेय एवं अपेक्षा से अशुचिमय भी माना है।

भाष्यकार ने यह भी बताया है कि जनसाधारण शौचवादी होते हैं और मूत्र को एकांत अपवित्र मानते हैं, अतः प्रतिमाधारी भिक्षु चारों ओर प्रतिलेखन करके कोई भी व्यक्ति न देखें, ऐसे विवेक के साथ मूत्र का पान करे। तदनुसार अन्य भिक्षुओं को भी प्रस्रवण संबंधी कोई भी प्रवृत्ति करनी हो तो जनसाधारण से अदृष्ट एवं अज्ञात रखते हुए करने का विवेक रखना चाहिए।

वर्तमान में भी मूत्रचिकित्सा का महत्त्व बहुत बढ़ा है, इस विषय के स्वतंत्र ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं, जिनमें कैंसर, टी. बी. आदि असाध्य रोगों के उपशांत होने के उल्लेख भी हैं।

दत्ति-प्रमाणनिरूपण

४३. संखादत्तियस्स भिक्खुस्स पडिग्गहधारिस्स (गाहावइकुलं पिंडवाय-पडियाए, अणुपविट्ठस्स) जावइयं-जावइयं केइ अन्तो पडिग्गहंसि उवइत्ता दलएज्जा तावइयाओ ताओ दत्तीओ वत्तव्वं सिया।

तत्थ से केइ छब्बएण वा, दूसएण वा, वालएणं वा अन्तो पडिग्गहंसि उवइत्ता दलएज्जा, सव्वा वि णं सा एगा दत्ती वत्तव्वं सिया।

तत्थ से बहवे भुंजमाणा सव्वे ते सयं सयं पिण्डं साहणिय अन्तो पडिग्गहंसि उवइत्ता दलएज्जा, सव्वा वि णं सा एगा दत्ती वत्तव्वं सिया।

४४. संखादत्तियस्स णं भिक्खुस्स पाणि पडिग्गहियस्स (गाहावइकुलं पिण्डवाय-पडियाए अणुपविट्ठस्स)

जावइयं-जावइयं केइ अन्तो पाणिंसि उवइत्ता दलएज्जा तावइयाओ ताओ दत्तीओ वत्तव्वं सिया।

तत्थ से केइ छब्बएण वा, दूसएण वा, वालएण वा अन्तो पाणिंसि उवइत्ता दलएज्जा, सव्वा वि णं सा एगा दत्ती वत्तव्वं सिया।

तत्थ से बहवे भुंजमाणा सव्वे ते सयं सयं पिण्डं साहणिय अन्तो पाणिंसि उवइत्ता दलएज्जा सव्वा वि णं सा एगा दत्ती वत्तव्वं सिया।

४३. दत्तियों की संख्या का अभिग्रह करने वाला पात्रधारी निर्ग्रन्थ गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रवेश करे, इस समय—

१. आहार देने वाला गृहस्थ पात्र में जितनी बार झुकाकर आहार दे, उतनी ही "दत्तियां" कहनी चाहिए।

२. आहार देने वाला गृहस्थ यदि छबड़ी से, वस्त्र से या चालनी से बिना रुके पात्र में झुकाकर दे, वह सब "एक दत्ति" कहनी चाहिए।

३. आहार देने वाले गृहस्थ जहां अनेक हों और वे सब अपना-अपना आहार सम्मिलित कर बिना रुके पात्र में झुकाकर दें तो वह सब "एक दत्ति" कहनी चाहिए।

४४. दत्तियों की संख्या का अभिग्रह करने वाला करपात्रभोजी निर्ग्रन्थ गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रवेश करे, इस समय—

१. आहार देने वाला गृहस्थ जितनी बार झुकाकर भिक्षु के हाथ में आहार दे, उतनी ही "दत्तियां" कहनी चाहिए।

२. आहार देने वाला गृहस्थ यदि छबड़ी से, वस्त्र से या चालनी से बिना रुके भिक्षु के हाथ में जितना आहार दे वह सब "एक दत्ति" कहनी चाहिए।

३. आहार देने वाले गृहस्थ जहां अनेक हों और वे सब अपना-अपना आहार सम्मिलित कर बिना रुके भिक्षु के हाथ में झुकाकर दे, वह सब "एक दत्ति" कहनी चाहिए।

विवेचन—सप्तसप्तमिका आदि भिक्षुप्रतिमाओं में दत्तियों की संख्या से आहार ग्रहण करने का वर्णन किया गया है और इस सूत्रद्विक में दत्ति का स्वरूप बताया गया है।

दाता एक ही बार में धार खंडित किये बिना जितना आहार या पानी साधु के पात्र में दे उसे एक 'दत्ति' प्रमाण आहार या पानी कहा जाता है। वह एक दत्ति आहार-पानी हाथ से दे या किसी बर्तन से दे अथवा किसी सूप, छाबड़ी आदि से दे, अल्पमात्रा में देकर रुक जाय या बिना रुके अधिक मात्रा में दे, वह सब एक बार में दिया गया आहार या पानी एक दत्ति ही कहा जाता है।

कभी कोई खाद्य पदार्थ अनेक बर्तनों में या अनेक व्यक्तियों के हाथ में अलग-अलग रखा हो, उसे एक बर्तन में या एक हाथ में इकट्ठा करके एक साथ पात्र में दे दिया जाए तो वह भी एक दत्ति ही समझना चाहिए।

पात्र नहीं रखने वाले अर्थात् कर-पात्री भिक्षु के हाथ में उपर्युक्त विधियों से जितना आहार आदि एक साथ दिया जाय, वह उनके लिए एक दत्ति समझना चाहिए।

तीन प्रकार का आहार

४५. तिविहे उवहडे पण्णत्ते, तं जहा—१. फलिओवहडे, २. सुद्धोवहडे, ३. संसट्ठोवहडे।

४५. खाद्यपदार्थ तीन प्रकार का माना गया है, यथा—१. फलितोपहृत—अनेक प्रकार के व्यंजनों से मिश्रित खाद्यपदार्थ। २. शुद्धोपहृत—व्यंजनरहित शुद्ध अलेप्य खाद्यपदार्थ। ३. संसृष्टोपहृत—व्यंजनरहित सलेप्य खाद्यपदार्थ।

विवेचन—भिक्षा में तीन प्रकार के खाद्यपदार्थ ग्रहण किये जाते हैं, जिसमें सभी प्रकार के ग्राह्य पदार्थों का समावेश हो जाता है।

(१) अनेक पदार्थों के संयोग से संस्कारित मिष्ठान्न, नमकीन शाक-भाजी आदि को फलितोपहृत कहा है।

(२) शुद्ध अलेप्य चने, ममरे, फूली आदि को शुद्धोपहृत कहा है।

(३) शुद्ध सलेप्य भात, रोटी, घाट, खिचड़ी आदि असंस्कारित गीले सामान्य पदार्थ को संसृष्टोपहृत कहा है। अभिग्रह धारण करने वाले भिक्षु इनमें से किसी भी प्रकार का अभिग्रह कर सकते हैं।

अवगृहीत आहार के प्रकार

४६. तिविहे ओग्गहिए पण्णत्ते, तं जहा—१. जं च ओगिण्हइ, २. जं च साहरइ, ३. जं च आसगंसि (थासगंसि) पक्खिवइ, एगे एवमाहंसु।

एगे पुण एवमाहंसु, दुविहे ओग्गहिए पण्णत्ते, तं जहा—१. जं च ओगिण्हइ, २. जं च आसगंसि (थासगंसि) पक्खिवइ।

४६. अवगृहीत आहार तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—१. परोसने के लिए ग्रहण किया हुआ। २. परोसने के लिए ले जाता हुआ। ३. बर्तन में परोसा जाता हुआ, ऐसा कुछ आचार्य कहते

हैं। परन्तु कुछ आचार्य ऐसा भी कहते हैं कि—अवगृहीत आहार दो प्रकार का कहा गया है, यथा-
१. परोसने के लिए ग्रहण किया जाता हुआ। २. बर्तन में परोसा जाता हुआ।

विवेचन—पूर्वसूत्र में खाद्यपदार्थ के तीन प्रकार कहे गये हैं और प्रस्तुत सूत्र में दाता द्वारा आहार को ग्रहण करने की तीन अवस्थाओं का कथन किया गया है—

(१) *जिसमें खाद्यपदार्थ पड़ा है या बनाया गया है, उसमें से निकाल कर अन्य बर्तन में ग्रहण किया जा रहा हो।*

(२) ग्रहण करके परोसने के लिए ले जाया जा रहा हो।

(३) थाली आदि में परोस दिया गया हो, किन्तु खाना प्रारम्भ नहीं किया हो।

भाष्यकार ने यहां तीनों अवस्थाओं का छट्ठी पिंडेषणा रूप होने का कहा है। अनेक प्रतियों में तीसरे प्रकार के लिए "आसगंसि" शब्द उपलब्ध होता है, जिसके दो अर्थ किए जाते हैं—

(१) खाने के लिए मुख में डाला जाता हुआ।

(२) बर्तन के मुख में डाला जाता हुआ।

ये दोनों ही अर्थ यहां प्रसंगसंगत नहीं है क्योंकि छट्ठी पिंडेषणा में भोजन करने के लिए ग्रहण की जाने वाली तीन अवस्थाओं (तीन प्रकारों) का क्रमशः तीसरा प्रकार थाली आदि में परोसा जाता हुआ आहार ऐसा अर्थ करना ही उपयुक्त है। जो खाना प्रारम्भ करने के पूर्व की अवस्था होने से कल्पनीय भी है। किन्तु मुख में खाने के लिए डाला जाता हुआ आहार ग्रहण करना तो अनुपयुक्त एवं अव्यवहारिक है और बर्तन के मुख में डाला जाता हुआ आहार छट्ठी पिंडेषणा रूप नहीं होने से प्रसंग-प्राप्त प्रासंगिक नहीं है। अतः सम्भावना यह है कि लिपिदोष से 'थालंसि या थालगंसि' शब्द के स्थान पर कदाचित् 'आसगंसि' शब्द बन गया है।

भगवतीसूत्र श. ११ उ. ११ पृ. १९५१ (सैलाना से प्रकाशित) में थाल और थालग शब्दों का प्रयोग किया है, जिनका क्रमशः थाली और तस्तरी (प्लेट) अर्थ किया गया है।

अतः यहां थालगंसि या थालंसि शब्द को शुद्ध मान कर अर्थ स्पष्ट किया है।

सूत्र के द्वितीय विभाग में वैकल्पिक अपेक्षा से भोजन करने हेतु ग्रहण किए हुए आहार के दो प्रकार कहे गये हैं, यथा—मूल बर्तन में से निकालते हुए और थाली आदि में परोसते हुए। इस विकल्प में जहां आहार रखा हो वहीं पर बैठे हुए एक बर्तन में से निकालकर थाली आदि में परोसने की अपेक्षा की गई है किन्तु मार्ग में चलने की या दूर से जाकर परोसने की विवक्षा इसमें नहीं की गई है।

सूत्र में "एगे पुण एवमाहंसु" शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे मान्यताभेद की कल्पना उत्पन्न होती है, किन्तु यहां दो अपेक्षाओं को लेकर सूत्र की रचना-पद्धति है, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि ऐसी सामान्य बात के लिए पूर्वधरों में मान्यताभेद हो जाना एवं सूत्र में संकलित किया जाना क्लिष्ट कल्पना है।

जबकि ऐसे वाक्यप्रयोग जीवाभिगमसूत्र के प्रारम्भ में अनेक आदेशात्मक प्ररूपणा के हैं, वहां अपेक्षा से जीवों के दो, तीन, चार आदि भेद कहे हैं। वह कथन भी मान्यताभेद न समझकर विभिन्न अपेक्षा रूप ही समझा जाता है। वहां टीकाकार ने भी वैसा ही स्पष्टीकरण किया है। अतः यहां भी "एगे पुण एवमाहंसु" शब्दों का प्रयोग होते हुए भी मान्यताभेद होना नहीं समझना चाहिए। भाष्यकार ने भी इसे आदेश कहकर उसकी यह परिभाषा बताई है कि अनेक बहुश्रुतों से चली आई भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं को आदेश कहते हैं। इसलिए प्रस्तुत सूत्र के दोनो विभागों को आदेश ही समझना चाहिए।

नवम उद्देशक का सारांश

सूत्र १-८ शय्यातर के नौकर या पाहुणों को पूर्ण रूप से दिये गये आहार में से भिक्षु ले सकता है, यदि प्रातिहारिक दिया हो (शेष आहार लौटाने का हो) तो नहीं लेना चाहिए।

९-१६ शय्यातर के सहयोग से जीवननिर्वाह करने वाले उसके ज्ञातिजन यदि खाना बनावें या खावें तो उनसे लेना नहीं कल्पता है।

१७-३६ शय्यातर के भागीदारी (साझेदारी) वाली दुकानों में यदि कोई पदार्थ बिना भागीदारी वाली का हो तो उसके भागीदार से लिए जा सकते हैं। अथवा विभक्त हो जाने पर कोई भी पदार्थ लिए जा सकते है।

३७-४० सात-सप्तक, आठ-अष्टक, नव-नवक और दश-दशक में दत्तियों की मर्यादा से भिक्षा ग्रहण करके चार प्रकार की भिक्षु प्रतिमाओं का आराधन साधु-साध्वी कर सकते है।

४१-४२ स्वमूत्रपान की छोटी व बड़ी प्रतिमा सात एवं आठ दिन में आराधन की जाती है। इसमें पूर्ण शुद्ध एवं सूत्रोक्त प्रस्रवण दिन में ही पिया जाता है, रात्रि में नही।

४३-४४ एक बार में अखंड धार से साधु के हाथ में या पात्र में दिये जाने वाले आहारादि को एक दत्ति कहा जाता है।

४५ तीन प्रकार के खाद्य पदार्थ होते है (१) संस्कारित पदार्थ, (२) शुद्ध अलेप्य पदार्थ, (३) शुद्ध सलेप्य पदार्थ। इनमें से कोई भी अभिग्रह धारण किया जा सकता है।

४६ "प्रगृहीत" नामक छट्ठी पिंडेषणा के योग्य आहार की तीन अवस्थाएं होती हैं। (१) बर्तन में से निकालते हुए, (२) परोसने लिये ले जाते हुए, (३) थाली आदि में परोसते हुए। अथवा अपेक्षा से उस आहार की दो अवस्था कही जा सकती हैं—(१) बर्तन में से निकालते हुए, (२) थाली आदि में परोसते हुए।

हैं। परन्तु कुछ आचार्य ऐसा भी कहते हैं कि—अवगृहीत आहार दो प्रकार का कहा गया है, यथा—१. परोसने के लिए ग्रहण किया जाता हुआ। २. बर्तन में परोसा जाता हुआ।

विवेचन—पूर्वसूत्र में खाद्यपदार्थ के तीन प्रकार कहे गये हैं और प्रस्तुत सूत्र में दाता के द्वारा आहार को ग्रहण करने की तीन अवस्थाओं का कथन किया गया है—

(१) जिसमें खाद्यपदार्थ पड़ा है या बनाया गया है, उसमें से निकाल कर अन्य बर्तन में ग्रहण किया जा रहा हो।

(२) ग्रहण करके परोसने के लिए ले जाया जा रहा हो।

(३) थाली आदि में परोस दिया गया हो, किन्तु खाना प्रारम्भ नहीं किया हो।

भाष्यकार ने यहां तीनों अवस्थाओं का छट्ठी पिंडेषणा रूप होने का कहा है। अनेक प्रतियों में तीसरे प्रकार के लिए "आसगंसि" शब्द उपलब्ध होता है, जिसके दो अर्थ किए जाते हैं—

(१) खाने के लिए मुख में डाला जाता हुआ।

(२) बर्तन के मुख में डाला जाता हुआ।

ये दोनों ही अर्थ यहां प्रसंगसंगत नहीं हैं क्योंकि छट्ठी पिंडेषणा में भोजन करने के लिए ग्रहण की जाने वाली तीन अवस्थाओं (तीन प्रकारों) का क्रमशः तीसरा प्रकार थाली आदि में परोसा जाता हुआ आहार ऐसा अर्थ करना ही उपयुक्त है। जो खाना प्रारम्भ करने के पूर्व की अवस्था होने से कल्पनीय भी है। किन्तु मुख में खाने के लिए डाला जाता हुआ आहार ग्रहण करना तो अनुपयुक्त एवं अव्यवहारिक है और बर्तन के मुख में डाला जाता हुआ आहार छट्ठी पिंडेषणा रूप नहीं होने से क्रम-प्राप्त प्रासंगिक नहीं है। अतः सम्भावना यह है कि लिपिदोष से 'थासगंसि या थालगंसि' शब्द के स्थान पर कदाचित् 'आसगंसि' शब्द बन गया है।

भगवतीसूत्र श. ११ उ. ११ पृ. १९५१ (सैलाना से प्रकाशित) में थाल और थासग शब्दों का प्रयोग किया है, जिनका क्रमशः थाली और तस्तरी (प्लेट) अर्थ किया गया है।

अतः यहां थासगंसि या थालगंसि शब्द को शुद्ध मान कर अर्थ स्पष्ट किया है।

सूत्र के द्वितीय विभाग में वैकल्पिक अपेक्षा से भोजन करने हेतु ग्रहण किए हुए आहार के दो प्रकार कहे गये हैं, यथा—मूल बर्तन में से निकालते हुए और थाली आदि में परोसते हुए। इस विकल्प में जहां आहार रखा हो वहीं पर बैठे हुए एक बर्तन में से निकालकर थाली आदि में परोसने की अपेक्षा की गई है किन्तु मार्ग में चलने की या दूर ले जाकर परोसने की विवक्षा इसमें नहीं की गई है।

सूत्र में "एगे पुण एवमाहंसु" शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे मान्यताभेद की कल्पना उत्पन्न होती है, किन्तु यहां दो अपेक्षाओं को लेकर सूत्र की रचना-पद्धति है, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि ऐसी सामान्य बात के लिए पूर्वधरों में मान्यताभेद हो जाना एवं सूत्र में संकलित किया जाना क्लिष्ट कल्पना है।

जबकि ऐसे वाक्यप्रयोग जीवाभिगमसूत्र के प्रारम्भ में अनेक आदेशात्मक प्ररूपणा के हैं, वहां अपेक्षा से जीवों के दो, तीन, चार आदि भेद कहे हैं। वह कथन भी मान्यताभेद न समझकर विभिन्न अपेक्षा रूप ही समझा जाता है। वहां टीकाकार ने भी वैसा ही स्पष्टीकरण किया है। अतः यहां भी "एगे पुण एवमाहंसु" शब्दों का प्रयोग होते हुए भी मान्यताभेद होना नहीं समझना चाहिए। भाष्यकार ने भी इसे आदेश कहकर उसकी यह परिभाषा बताई है कि अनेक बहुश्रुतों से चली आई भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं को आदेश कहते हैं। इसलिए प्रस्तुत सूत्र के दोनों विभागों को आदेश ही समझना चाहिए।

नवम उद्देशक का सारांश

सूत्र १-८ शय्यातर के नौकर या पाहुणों को पूर्ण रूप से दिये गये आहार में से भिक्षु ले सकता है, यदि प्रातिहारिक दिया हो (शेष आहार लौटाने का हो) तो नहीं लेना चाहिए।

९-१६ शय्यातर के सहयोग से जीवननिर्वाह करने वाले उसके ज्ञातिजन यदि खाना बनावें या खावें तो उनसे लेना नहीं कल्पता है।

१७-३६ शय्यातर के भागीदारी (साझेदारी) वाली दुकानों में यदि कोई पदार्थ बिना भागीदारी वाली का हो तो उसके भागीदार से लिए जा सकते हैं। अथवा विभक्त हो जाने पर कोई भी पदार्थ लिए जा सकते हैं।

३७-४० सात-सप्तक, आठ-अष्टक, नव-नवक और दश-दशक में दत्तियों की मर्यादा से भिक्षा ग्रहण करके चार प्रकार की भिक्षु प्रतिमाओं का आराधन साधु-साध्वी कर सकते है।

४१-४२ स्वमूत्रपान की छोटी व बड़ी प्रतिमा सात एवं आठ दिन में आराधन की जाती है। इसमें पूर्ण शुद्ध एवं सूत्रोक्त प्रस्रवण दिन में ही पिया जाता है, रात्रि में नहीं।

४३-४४ एक बार में अखंड धार से साधु के हाथ में या पात्र में दिये जाने वाले आहारादि को एक दत्ति कहा जाता है।

४५ तीन प्रकार के खाद्य पदार्थ होते है (१) संस्कारित पदार्थ, (२) शुद्ध अलेप्य पदार्थ, (३) शुद्ध सलेप्य पदार्थ। इनमें से कोई भी अभिग्रह धारण किया जा सकता है।

४६ "प्रगृहीत" नामक छट्ठी पिंडेषणा के योग्य आहार की तीन अवस्थाएं होती हैं। (१) बर्तन में से निकालते हुए, (२) परोसने लिये ले जाते हुए, (३) थाली आदि में परोसते हुए। अथवा अपेक्षा से उस आहार की दो अवस्था कही जा सकती हैं— (१) बर्तन में से निकालते हुए, (२) थाली आदि में परोसते हुए।

उपसंहार—

इस उद्देशक में—

१-३६ शय्यातर के खाद्यपदार्थ के कल्प्याकल्प्य का,

३७-४२ दत्ति-परिमाण प्रतिमाओं का एवं प्रश्रवण-पान प्रतिमाओं का,

४३-४४ दत्तिस्वरूप का,

४५-४६ अभिग्रह योग्य आहार के प्रकारों का,

इत्यादि विषयों का कथन किया गया है।

॥ नवम उद्देशक समाप्त ॥

दसवां उद्देशक

दो प्रकार की चन्द्रप्रतिमाएं

१. दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

१. जवमज्झा य चंदपडिमा, २. वइरमज्झा य चंदपडिमा।

जवमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं मासं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे। जे केइ परीसहोवसग्गा समुप्पज्जेज्जा दिव्वा वा, माणुस्सगा वा, तिरिक्खजोणिया वा, अणुलोमा वा, पडिलोमा वा, तत्थ अणुलोमा ताव वंदेज्जा वा, नमंसिज्जा वा, सक्कारेज्जा वा, सम्माणेज्जा वा, कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेज्जा, पडिलोमा ताव अन्नयरेणं दंडेण वा, अट्ठिणा वा, जोत्तेण वा, वेत्तेण वा, कसेण वा काए आउट्टेज्जा, ते सव्वे उप्पन्ने सम्मं सहेज्जा, खमेज्जा, तितिक्खेज्जा, अहियासेज्जा।

जवमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स,
सुक्कपक्खस्स पाडिवए से कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगा पाणस्स,
सव्वेहिं दुप्पयं चउप्पयाइएहिं आहार-कंखीहिं सत्तेहिं पडिणियत्तेहिं,
अन्नायउंछं सुद्धोवहडं
निज्जूहित्ता बहवे समण जाव वणीमगा।

कप्पइ से एगस्स भुंजमाणस्स पडिग्गाहेत्तए नो दोण्हं, नो तिण्हं, नो चउण्हं, नो पंचण्हं। नो गुव्विणीए, नो बालवच्छाए, नो दारगं पेज्जमाणीए। नो अंतो एलुयस्स दो वि पाए साहट्टु दलमाणीए नो बाहिं एलुयस्स दो वि पाए साहट्टु दलमाणीए।

अह पुण एवं जाणेज्जा—एगं पायं अंतो किच्चा, एगं पायं बाहिं किच्चा एलुयं विक्खम्भइत्ता दलयइ, एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए।

बिइयाए से कप्पइ दोण्णि दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दोण्णि पाणस्स।
तइयाए से कप्पइ तिण्णि दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तिण्णि पाणस्स।
चउत्थीए से कप्पइ चउ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउ पाणस्स।
पंचमीए से कप्पइ पंच दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पंच पाणस्स।
छट्ठीए से कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, छ पाणस्स।
सत्तमीए से कप्पइ सत्त दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, सत्त पाणस्स।
अट्ठमीए से कप्पइ अट्ठ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, अट्ठ पाणस्स।
नवमीए से कप्पइ नव दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, नव पाणस्स।
दसमीए से कप्पइ दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दस पाणस्स।

एगारसमीए से कप्पइ एगारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगारस पाणस्स ।
बारसमीए से कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, बारस पाणस्स ।
तेरसमीए से कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तेरस पाणस्स ।
चोद्दसमीए से कप्पइ चोद्दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चोद्दस पाणस्स ।
पन्नरसमीए से कप्पइ पन्नरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पन्नरस पाणस्स ।
बहुलपक्खस्स पाडिवए से कप्पइ चोद्दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चोद्दस पाणस्स ।
बिइयाए से कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तेरस पाणस्स ।
तइयाए से कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, बारस पाणस्स ।
चउत्थीए से कप्पइ एक्कारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एक्कारस पाणस्स ।
पंचमीए से कप्पइ दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दस पाणस्स ।
छट्ठीए से कप्पइ नव दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, नव पाणस्स ।
सत्तमीए से कप्पइ अट्ठ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, अट्ठ पाणस्स ।
अट्ठमीए से कप्पइ सत्त दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, सत्त पाणस्स ।
नवमीए से कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, छ पाणस्स ।
दसमीए से कप्पइ पंच दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पंच पाणस्स ।
एक्कारसमीए से कप्पइ चउ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउ पाणस्स ।
बारसमीए से कप्पइ तिण्णि दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तिण्णि पाणस्स ।
तेरसमीए से कप्पइ दो दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दो पाणस्स ।
चउदसमीए से कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगा पाणस्स ।
अमावासाए से य अब्भत्तट्ठे भवइ ।
एवं खलु जवमज्झचंदपडिमा अहासुत्तं जाव अणाए अणुपालिया भवइ ।

२. वइरमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं मासं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ परीसहोवसग्गा समुप्पज्जेज्जा जाव अहियासेज्जा ।

वइरमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स,

बहुलपक्खस्स पाडिवए से कप्पइ पन्नरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पन्नरस पाणस्स जाव एलुयं विक्खंभइत्ता दलयइ एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ।

बिइयाए से कप्पइ चउद्दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउद्दस पाणस्स ।
तइयाए से कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तेरस पाणस्स ।
चउत्थीए से कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, बारस पाणस्स ।
पंचमीए से कप्पइ एगारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगारस पाणस्स ।
छट्ठीए से कप्पइ दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दस पाणस्स ।

सत्तमीए से कप्पइ नव दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, नव पाणस्स ।
अट्ठमीए से कप्पइ अट्ठ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, अट्ठ पाणस्स ।
नवमीए से कप्पइ सत्त दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, सत्त पाणस्स ।
दसमीए से कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, छ पाणस्स ।
एगारसमीए से कप्पइ पंच दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पंच पाणस्स ।
बारसमीए से कप्पइ चउ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउ पाणस्स ।
तेरसमीए से कप्पइ तिन्नि दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तिन्नि पाणस्स ।
चउद्दसमीए से कप्पइ दो दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दो पाणस्स ।
अमावासाए से कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगा पाणंस्स ।
सुक्कपक्खस्स पाडिवए से कप्पइ दो दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दो पाणस्स ।
बिइयाए से कप्पइ तिन्नि दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तिन्नि पाणस्स ।
तइयाए से कप्पइ चउ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउ पाणस्स ।
चउत्थीए से कप्पइ पंच दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पंच पाणस्स ।
पंचमीए से कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, छ पाणस्स ।
छट्ठीए से कप्पइ सत्त दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, सत्त पाणस्स ।
सत्तमीए से कप्पइ अट्ठ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, अट्ठ पाणस्स ।
अट्ठमीए से कप्पइ नव दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, नव पाणस्स ।
नवमीए से कप्पइ दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दस पाणस्स ।
दसमीए से कप्पइ एगारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगारस पाणस्स ।
एगारसमीए से कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, बारस पाणस्स ।
बारसमीए से कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तेरस पाणस्स ।
तेरसमीए से कप्पइ चउद्दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउद्दस पाणस्स ।
[illegible] स दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पन्नरस पाणस्स । पुण्णिमाए से

एगारसमीए से कप्पइ एगारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एग.
बारसमीए से कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, बारस
तेरसमीए से कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तेरस पाण.
चोद्दसमीए से कप्पइ चोद्दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चोद्दस प.
पन्नरसमीए से कप्पइ पन्नरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पन्नरस प
बहुलपक्खस्स पाडिवए से कप्पइ चोद्दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए,
बिइयाए से कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तेरस पाणस्स।
तइयाए से कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, बारस पाणस्स।
चउत्थीए से कप्पइ एक्कारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एक्कारस पा
पंचमीए से कप्पइ दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दस पाणस्स।
छट्ठीए से कप्पइ नव दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, नव पाणस्स।
सत्तमीए से कप्पइ अट्ठ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, अट्ठ पाणस्स।
अट्ठमीए से कप्पइ सत्त दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, सत्त पाणस्स।
नवमीए से कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, छ पाणस्स।
दसमीए से कप्पइ पंच दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पंच पाणस्स।
एक्कारसमीए से कप्पइ चउ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउ पाणस्स।
बारसमीए से कप्पइ तिण्णि दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तिण्णि पाणस्स।
तेरसमीए से कप्पइ दो दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दो पाणस्स।
चउदसमीए से कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगा पाणस्स।
अमावासाए से य अभत्तट्ठे भवइ।
एवं खलु जवमज्झचंदपडिमा अहासुत्तं जाव अणाए अणुपालिया भवइ।

२. वइरमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं मासं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे परीसहोवसग्गा समुप्पज्जेज्जा जाव अहियासेज्जा।

वइरमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स,

बहुलपक्खस्स पाडिवए से कप्पइ पन्नरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पन्नरस पाणस्स। एलुयं विक्खंभइत्ता दलयइ एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए।

बिइयाए से कप्पइ चउद्दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउद्दस पाणस्स।
तइयाए से कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तेरस पाणस्स।
चउत्थीए से कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, बारस पाणस्स।
पंचमीए से कप्पइ एगारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगारस पाणस्स।
छट्ठीए से कप्पइ दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दस पाणस्स।

सत्तमीए से कप्पइ नव दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, नव पाणस्स।
अट्ठमीए से कप्पइ अट्ठ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, अट्ठ पाणस्स।
नवमीए से कप्पइ सत्त दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, सत्त पाणस्स।
दसमीए से कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, छ पाणस्स।
एगारसमीए से कप्पइ पंच दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पंच पाणस्स।
बारसमीए से कप्पइ चउ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउ पाणस्स।
तेरसमीए से कप्पइ तिन्नि दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तिन्नि पाणस्स।
चउदसमीए से कप्पइ दो दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दो पाणस्स।
अमावासाए से कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगा पाणस्स।
सुक्कपक्खस्स पाडिवए से कप्पइ दो दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दो पाणस्स।
बिइयाए से कप्पइ तिन्नि दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तिन्नि पाणस्स।
तइयाए से कप्पइ चउ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउ पाणस्स।
चउत्थीए से कप्पइ पंच दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पंच पाणस्स।
पंचमीए से कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, छ पाणस्स।
छट्ठीए से कप्पइ सत्त दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, सत्त पाणस्स।
सत्तमीए से कप्पइ अट्ठ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, अट्ठ पाणस्स।
अट्ठमीए से कप्पइ नव दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, नव पाणस्स।
नवमीए से कप्पइ दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दस पाणस्स।
दसमीए से कप्पइ एगारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगारस पाणस्स।
एगारसमीए से कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, बारस पाणस्स।
बारसमीए से कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तेरस पाणस्स।
तेरसमीए से कप्पइ चउद्दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउद्दस पाणस्स।
चउद्दसमीए से कप्पइ पन्नरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पन्नरस पाणस्स। पुण्णिमाए से य अब्भत्तट्ठे भवइ।

एवं खलु एसा वइरमज्झा चंदपडिमा अहासुत्तं जाव आणाए अणुपालिया भवइ।

१. दो प्रतिमायें कही गई हैं, यथा—१. यवमध्यचन्द्रप्रतिमा, २. वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा।

यवमध्यचन्द्रप्रतिमा स्वीकार करने वाला अनगार एक मास तक शरीर के परिकर्म से तथा शरीर के ममत्व से रहित होकर रहे। उस समय जो कोई भी देव, मनुष्य एवं तिर्यंचकृत अनुकूल या प्रतिकूल परीषह एवं उपसर्ग उत्पन्न हों, यथा—

अनुकूल परीषह एवं उपसर्ग ये हैं—कोई वन्दना नमस्कार करे, सत्कार-सम्मान करे, कल्याण-रूप, मंगलरूप, देवरूप और ज्ञानरूप मानकर पर्युपासना करे।

प्रतिकूल परीषह एवं उपसर्ग ये हैं—किसी दण्ड, हड्डी, जोत, बेंत अथवा चाबुक से शरीर पर प्रहार करे। वह इन सब अनुकूल-प्रतिकूल उत्पन्न हुए परीषहों एवं उपसर्गों को प्रसन्न या खिन्न न होकर समभाव से सहन करे, उस व्यक्ति के प्रति क्षमाभाव धारण करे, वीरतापूर्वक सहन करे और शांति से आनन्दानुभाव करते हुए सहन करे।

यवमध्यचन्द्रप्रतिमा के आराधक अणगार को,

शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन आहार और पानी की एक-एक दत्ति ग्रहण करना कल्पता है।

आहार की आकांक्षा करने वाले सभी द्विपद, चतुष्पद आदि प्राणी आहार लेकर लौट गये हों तब उसे अज्ञात स्थान से शुद्ध अल्पलेप वाला आहार लेना कल्पता है।

अनेक श्रमण यावत् भिखारी आहार लेकर लौट गये हों अर्थात् वहां खड़े न हों तो आहार लेना कल्पता है।

एक व्यक्ति के भोजन में से आहार लेना कल्पता है, किंतु दो, तीन, चार या पांच व्यक्ति के भोजन में से लेना नहीं कल्पता है।

गर्भवती, छोटे बच्चे वाली और बच्चे को दूध पिलाने वाली के हाथ से आहार लेना नहीं कल्पता है।

दाता के दोनों पैर देहली के अन्दर हों या बाहर हों तो उससे आहार लेना नहीं कल्पता है।

यदि ऐसा जाने कि दाता एक पैर देहली के अन्दर और एक पैर देहली के बाहर रखकर देहली को पैरों के बीच में करके दे रहा है तो उसके हाथ से आहार लेना कल्पता है।

शुक्लपक्ष के द्वितीया के दिन प्रतिमाधारी अणगार को भोजन और पानी की दो-दो दत्तियां लेना कल्पता है।

तीज के दिन भोजन और पानी की तीन-तीन दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
चौथ के दिन भोजन और पानी की चार-चार दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
पांचम के दिन भोजन और पानी की पांच-पांच दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
छठ के दिन भोजन और पानी की छह-छह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
सातम के दिन भोजन और पानी की सात-सात दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
आठम के दिन भोजन और पानी की आठ-आठ दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
नवमी के दिन भोजन और पानी की नव-नव दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
दसमी के दिन भोजन और पानी की दस-दस दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
ग्यारस के दिन भोजन और पानी की ग्यारह-ग्यारह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
बारस के दिन भोजन और पानी की बारह-बारह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
तेरस के दिन भोजन और पानी की तेरह-तेरह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
चौदस के दिन भोजन और पानी की चौदह-चौदह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
पूर्णिमा के दिन भोजन और पानी की पन्द्रह-पन्द्रह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है

कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन भोजन और पानी की चौदह-चौदह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।

द्वितीया के दिन भोजन और पानी की तेरह-तेरह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
तीज के दिन भोजन और पानी की बारह-बारह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
चौथ के दिन भोजन और पानी की ग्यारह-ग्यारह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
पांचम के दिन भोजन और पानी की दश-दश दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
छठ के दिन भोजन और पानी की नव-नव दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
सातम के दिन भोजन और पानी की आठ-आठ दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
आठम के दिन भोजन और पानी की सात-सात दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
नवमी के दिन भोजन और पानी की छह-छह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
दसमी के दिन भोजन और पानी की पांच-पाच दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
ग्यारस के दिन भोजन और पानी की चार-चार दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
बारस के दिन भोजन और पानी की तीन-तीन दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
तेरस के दिन भोजन और पानी की दो-दो दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
चौदस के दिन भोजन और पानी की एक-एक दत्ति ग्रहण करना कल्पता है।
अमावस के दिन वह उपवास करता है।

इस प्रकार यह यवमध्यचन्द्रप्रतिमा सूत्रानुसार यावत् जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है।

२. वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा स्वीकार करने वाला अनगार एक मास तक शरीर के परिकर्म से तथा शरीर के ममत्व से रहित होकर रहे और जो कोई परीषह एवं उपसर्ग हो यावत् उन्हें शांति से सहन करे। वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा स्वीकार करने वाले अणगार को,

कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन पन्द्रह-पन्द्रह दत्तियां भोजन और पानी की लेना कल्पता है यावत् देहली को पैरों के बीच में करके दे तो उससे आहार लेना कल्पता है।

द्वितीया के दिन भोजन और पानी की चौदह-चौदह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
तीज के दिन भोजन और पानी की तेरह-तेरह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
चौथ के दिन भोजन और पानी की बारह-बारह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
पांचम के दिन भोजन और पानी की ग्यारह-ग्यारह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
छठ के दिन भोजन और पानी की दश-दश दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
सातम के दिन भोजन और पानी की नव-नव दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
आठम के दिन भोजन और पानी की आठ-आठ दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
नवमी के दिन भोजन और पानी की सात-सात दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
दसमी के दिन भोजन और पानी की छह-छह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
ग्यारस के दिन भोजन और पानी की पांच-पांच दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
बारस के दिन भोजन और पानी की चार-चार दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।

तेरस के दिन भोजन और पानी की तीन-तीन दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
चौदस के दिन भोजन और पानी की दो-दो दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
अमावस्या के दिन भोजन और पानी की एक-एक दत्ति ग्रहण करना कल्पता है।
शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन भोजन और पानी की दो-दो दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
द्वितीया के दिन भोजन और पानी की तीन-तीन दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
तीज के दिन भोजन और पानी की चार-चार दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
चौथ के दिन भोजन और पानी की पांच-पांच दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
पांचम के दिन भोजन और पानी की छह-छह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
छठ के दिन भोजन और पानी की सात-सात दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
सातम के दिन भोजन और पानी की आठ-आठ दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
आठम के दिन भोजन और पानी की नव-नव दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
नवमी के दिन भोजन और पानी की दश-दश दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
दसमी के दिन भोजन और पानी की ग्यारह-ग्यारह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
ग्यारस के दिन भोजन और पानी की बारह-बारह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
बारस के दिन भोजन और पानी की तेरह-तेरह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
तेरस के दिन भोजन और पानी की चौदह-चौदह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
चौदस के दिन भोजन और पानी की पन्द्रह-पन्द्रह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
पूर्णिमा के दिन वह उपवास करता है।
इस प्रकार यह वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा सूत्रानुसार यावत् जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

विवेचन—जिस प्रकार शुक्लपक्ष में चन्द्र की कलाएं बढ़ती हैं और कृष्णपक्ष में घटती हैं, उसी प्रकार इन दोनों प्रतिमाओं में आहार की दत्तियों की संख्या तिथियों के क्रम से घटाई और बढ़ाई जाती हैं। इसलिए इन दोनों प्रतिमाओं को "चन्द्रप्रतिमा" कहा गया है।

जिस प्रकार जौ (धान्य) का एक किनारा पतला होता है, फिर मध्य में स्थूल होता है एवं अन्त में पतला होता है, उसी प्रकार जिस प्रतिमा के प्रारम्भ में एक दत्ति, मध्य में पन्द्रह दत्ति, अन्त में एक दत्ती और बाद में उपवास किया जाता है, उसे "यवमध्यचन्द्रप्रतिमा" कहा जाता है।

जिस प्रकार वज्ररत्न या डमरू का एक किनारा विस्तृत, मध्यभाग संकुचित और दूसरा किनारा विस्तृत होता है, उसी प्रकार जिस प्रतिमा के प्रारम्भ में पन्द्रह दत्ति, मध्य में एक दत्ति, अन्त में पन्द्रह दत्ति और बाद में उपवास किया जाता है, उसे "वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा" कहा जाता है।

ये दोनों प्रतिमाएं विशिष्ट संहनन वाला एवं पूर्वधर भिक्षु ही धारण कर सकता है। इन प्रतिमाओं में आहार-पानी की दत्तियां सूत्रनुसार क्रमशः घटाते-बढ़ाते हुए ग्रहण की जाती हैं। आहार पानी की दत्तियों की संख्या के साथ-साथ इन प्रतिमाओं को धारण करने वाले भिक्षु को निम्नलिखित नियमों का पालन करना आवश्यक होता है—

(१) शारीरिक ममत्व का त्याग करना अर्थात् नियमित परिमित आहार के अतिरिक्त औषध-भेषज के सेवन का और सभी प्रकार के शरीरपरिकर्म का त्याग करना।

(२) देव, मनुष्य या तिर्यंच द्वारा किए गए उपसर्गो का प्रतिकार न करना और न उनसे बचने का प्रयत्न करना।

(३) किसी के वन्दना या आदर-सत्कार किये जाने पर प्रसन्न न होना, अपितु समभाव में लीन रहना।

(४) जिस मार्ग मे या जिस घर के बाहर पशु या पक्षी हों तो पशुओं के चारा चर लेने के बाद और पक्षियों के चुग्गा चुग लेने के बाद पडिमाधारी को आहार लेने के लिए घर में प्रवेश करना।

(५) पडिमाधारी के आने की सूचना या जानकारी न हो या उनकी कोई प्रतीक्षा करता न हो, ऐसे अज्ञात घरों से आहार ग्रहण करना।

(६) उंछ—विगयरहित रूक्ष आहार ग्रहण करना।
(७) शुद्धोपहृत—लेप रहित आहारादि ग्रहण करना।
(८) अन्य भिक्षु श्रमणादि जहां पर खड़े हों, वहां भिक्षा के लिये न जाना।
(९) एक व्यक्ति का आहार हो उसमें से लेना, अधिक व्यक्तियों के आहार में से नही लेना।
(१०) किसी भी गर्भवती स्त्री से भिक्षा न लेना।
(११) जो छोटे बच्चे को लिए हुए हो, उससे भिक्षा न लेना।
(१२) जो स्त्री बच्चे को दूध पिला रही हो, उससे भिक्षा न लेना।
(१३) घर की देहली के अतिरिक्त अन्य कहीं पर भी खड़े हुए से भिक्षा नही लेना।

(१४) देहली के भी एक पांव अन्दर और एक पांव बाहर रख कर बैठे हुए या खड़े हुए दाता से भिक्षा ग्रहण करना।

एषणा के ४२ दोष एवं अन्य आगमोक्त विधियों का पालन करना तो इन प्रतिमाधारी के लिए भी आवश्यक ही समझना चाहिए।

इन दोनों चन्द्रप्रतिमाओं की आराधना एक-एक मास में की जाती है।

इन उक्त नियमों के अनुसार यदि आहार मिले तो ग्रहण करे और न मिले तो ग्रहण न करे अर्थात् उस दिन उपवास करे। प्रतिमाधारी भिक्षु भिक्षा का समय या घर की संख्या निर्धारित कर लेता है और उतने समय तक या उतने ही घरों मे भिक्षार्थ भ्रमण करता है। आहारादि के न मिलने पर उत्कृष्ट एक मास की तपश्चर्या भी हो जाती है। किन्तु किसी भी प्रकार का अपवाद सेवन वह नही करता है।

भाष्य में बताया है कि ये दोनों प्रतिमाएं बीस वर्ष की दीक्षापर्याय वाला, तीन संहनन वाला और नव पूर्व के ज्ञान वाला भिक्षु ही धारण कर सकता है।

भाष्य के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि "सव्वेहिं दुप्पय-चउप्पय-माइएहिं आहार कंखीहिं सत्तेहिं पडिणियत्तेहिं" इतना पाठ भाष्यकार के सामने नहीं था। उन्होंने क्रमशः शब्दों की एवं वाक्यों की व्याख्या की है। किन्तु इस वाक्य की व्याख्या नहीं की है और इस वाक्य के भावार्थ को

आगे आए "णिज्जुहित्ता वहवे ..." इस सूत्रांश की व्याख्या में स्पष्ट किया है। कतिपय शब्दों का अर्थ इस प्रकार है—व्युत्सृष्टकाय—शरीर की शुश्रूषा एवं औषध का त्याग।

चियत्तदेहे—शरीरपरिकर्म (अभ्यंगन, मर्दन) का त्याग करना एवं वध-बन्धन किये जाने पर प्रतीकार या सुरक्षा नहीं करना।

पांच प्रकार के व्यवहार

३. पंचविहे ववहारे पण्णत्ते, तं जहा—१. आगमे, २. सुए, ३. आणा, ४. धारणा, ५. जीए।

१. जहा से तत्थ आगमे सिया, आगमेणं ववहारं पट्ठवेज्जा।

२. णो से तत्थ आगमे सिया, जहा से तत्थ सुए सिया, सुएणं ववहारं पट्ठवेज्जा।

३. णो से तत्थ सुए सिया, जहा से तत्थ आणा सिया, आणाए ववहारं पट्ठवेज्जा।

४. णो से तत्थ आणा सिया, जहा से तत्थ धारणा सिया, धारणाए ववहारं पट्ठवेज्जा।

५. णो से तत्थ धारणा सिया, जहा से तत्थ जीए सिया, जीएणं ववहारं पट्ठवेज्जा।

इच्चेएहिं पंचहिं ववहारेहिं ववहारं पट्ठवेज्जा, तं जहा—१. आगमेणं, २. सुएणं, ३. आणाए, ४. धारणाए, ५. जीएणं। जहा-जहा से आगमे, सुए, आणा, धारणा, जीए तहा-तहा ववहारं पट्ठवेज्जा।

प०—से किमाहु भंते ?

उ०—आगमबलिया समणा निग्गंथा। इच्चेयं पंचविहं ववहारं जया-जया, जहिं-जहिं, तया-तया, तहिं-तहिं अणिस्सिओवस्सियं ववहारं ववहरमाणे समणे निग्गंथे आणाए आराहए भवइ।

३. व्यवहार पांच प्रकार का कहा गया है, यथा—१. आगम, २. श्रुत, ३. आज्ञा, ४. धारणा, ५. जीत।

१. जहां आगम (केवलज्ञानधारक यावत् नौपूर्वधारक) ज्ञानी हों, वहां उनके निर्देशानुसार व्यवहार करें।

२. जहां आगमज्ञानी न हों तो वहां श्रुतज्ञानी (जघन्य आचारप्रकल्प, उत्कृष्ट नवपूर्व से कुछ कम ज्ञानी) निर्देशानुसार व्यवहार करें।

३. जहां श्रुतज्ञानी न हों, तो वहां गीतार्थ की आज्ञानुसार व्यवहार करें।

४. जहां गीतार्थ की आज्ञा न हो वहां स्थविरों की धारणानुसार व्यवहार करें।

५. जहां स्थविरों की धारणा ज्ञात न हो तो वहां सर्वानुमत परम्परानुसार व्यवहार करें।

इन पांच व्यवहारों के अनुसार व्यवहार करें। यथा—१. आगम, २. श्रुत, ३. आज्ञा, ४. धारणा, ५. जीत।

आगमज्ञानी, श्रुतज्ञानी, गीतार्थ-आज्ञा, स्थविरों की धारणा और परम्परा, इन में से जिस समय जो उपलब्ध हो, उस समय उसी से क्रमशः व्यवहार करें।

प्र०—भंते ! ऐसा क्यों कहा ?

उ०—श्रमण-निर्ग्रन्थ आगमव्यवहार की प्रमुखता वाले होते हैं। इन पांच प्रकार के व्यवहारों में से जब-जब, जिस-जिस विषय में जो प्रमुख व्यवहार उपलब्ध हो तब-तब, उस-उस विषय में मध्यस्थ भाव से उस व्यवहार से व्यवहार करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ जिनाज्ञा का आराधक होता है।

विवेचन—सूत्र में "व्यवहार" शब्द प्रायश्चित्त अर्थ में प्रयुक्त है। अन्य आगमों में भी इस अर्थ में प्रयोग हुआ है। यथा—"अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया"—यथा लघुष्क (अत्यल्प) प्रायश्चित्त की प्रस्थापना करनी चाहिए। —बृहत्कल्प उद्देशक ४

प्रायश्चित्त का निर्णय "आगम" आदि सूत्रोक्तक्रम से ही करना चाहिए।

विशेष दोषों की आलोचना आगमव्यवहारी के पास ही करनी चाहिए। यदि वे न हों तो जो उपलब्ध सूत्रों में से अधिकतम सूत्रों को धारण करने वाले हों एवं आलोचना-श्रवण के योग्य हों उनके पास आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए। ऐसा न करने पर अर्थात् व्युत्क्रम से करने पर भाष्य में प्रायश्चित्त का कथन किया गया है।

सूत्र में प्रायश्चित्त के निर्णायक आधार पांच व्यवहार कहे गये हैं। उन्हें धारण करने वाला व्यवहारी कहा जाता है।

(१) आगमव्यवहारी—९ पूर्व से लेकर १४ पूर्व के ज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी और केवलज्ञानी, ये "आगमव्यवहारी" कहे जाते हैं।

(२) श्रुतव्यवहारी—जघन्य आचारांग एवं निशीथसूत्र मूल, अर्थ, परमार्थ सहित कण्ठस्थ धारण करने वाले और उत्कृष्ट ९ पूर्व से कम श्रुत को धारण करने वाले "श्रुतव्यवहारी" कहे जाते हैं।

(३) आज्ञाव्यवहारी—किसी आगमव्यवहारी या श्रुतव्यवहारी की आज्ञा प्राप्त होने पर उस आज्ञा के आधार से प्रायश्चित्त देने वाला "आज्ञाव्यवहारी" कहा जाता है।

(४) धारणाव्यवहारी—बहुश्रुतों ने श्रुतानुसारी प्रायश्चित्त की कुछ मर्यादा किसी योग्य भिक्षु को धारण करा दी हो, उनको अच्छी तरह धारण करने वाला "धारणाव्यवहारी" कहा जाता है।

(५) जीतव्यवहारी—जिन विषयों में कोई स्पष्ट सूत्र का आधार न हो उस विषय में बहुश्रुत भिक्षु सूत्र से अविरुद्ध और संयमपोषक प्रायश्चित्त की मर्यादाएं किसी योग्य भिक्षु को धारण करा दे। उन्हें अच्छी तरह धारण करने वाला "जीतव्यवहारी" कहा जाता है।

> जं जीयमसोहिकरं, पासत्थ पमत्त संजयाइण्णं।
> जइ वि महाजणाइण्णं, न तेण जीएण ववहारो ॥७२०॥
> जं जीयं सोहिकरं, संवेगपरायणेन दंतेण।
> एगेण वि आइन्नं, तेण उ जीएण ववहारो ॥७२१॥
>
> —व्यव. भाष्य. उद्दे. १०

वैराग्यवान् एक भी दमितेन्द्रिय बहुश्रुत द्वारा जो सेवित हो, वह जीतव्यवहार संयम-शुद्धि करने वाला हो सकता है। किन्तु जो पार्श्वस्थ प्रमत्त एवं अपवादप्राप्त भिक्षु से आचीर्ण हो, वह जीत-

व्यवहार अनेकों के द्वारा सेवित होने पर भी शुद्धि नहीं कर सकता है, अतः उस से व्यवहार नहीं करना चाहिए।

सो जहकालादीणं अपडिकंतस्स निव्विगईयंतु।
मुहणंतगफिडिय, पाणग असंवरेण, एवमादीसु ॥७०९॥

—व्यव. भाष्य. उद्दे. १०

जो पच्चक्खाणकाल या स्वाध्यायकाल आदि का प्रतिक्रमण नहीं करता है। मुख पर मुखवस्त्रिका के बिना रहता है अथवा बोलता है और पानी को नहीं ढकता है, उसे नीवी का प्रायश्चित्त आता है, यह सब जीतव्यवहार है। गाथा में आए 'मुहणंतगफिडिय' की टीका—"मुखपोतिकाया स्फिटितायां, मुखपोतिकामंतरेणेत्यर्थः"।

इन पांच व्यवहारियों द्वारा दिया गया प्रायश्चित्त आगमव्यवहार यावत् जीतव्यवहार कहा जाता है।

इस सूत्रविधान का आशय यह है कि पहले कहा गया व्यवहार और व्यवहारी प्रमुख होता है। उसकी अनुपस्थिति में ही बाद में कहे गए व्यवहार और व्यवहारी को प्रमुखता दी जा सकती है। अर्थात् जिस विषय में श्रुतव्यवहार उपलब्ध हो उस विषय के निर्णय करने में धारणा या जीतव्यवहार को प्रमुख नहीं करना चाहिए।

व्युत्क्रम से प्रमुखता देने में स्वार्थभाव या राग-द्वेष आदि होते हैं, निष्पक्षभाव नहीं रहता है। इसी आशय को सूचित करने के लिए सूत्र के अंतिम अंश में राग-द्वेष एवं पक्षपातभाव से रहित होकर यथाक्रम व्यवहार करने की प्रेरणा दी गई है, साथ ही सूत्रनिर्दिष्ट क्रम से एवं निष्पक्षभाव से व्यवहार करने वालों को आराधक कहा गया है। अतः पक्षभाव से एवं व्युत्क्रम से व्यवहार करने वाला विराधक होता है, यह स्पष्ट है।

व्यवहार शब्द का उपलक्षण से विस्तृत अर्थ करने पर भी फलित होता है कि संयमीजीवन से सम्बन्धित किसी भी व्यवहारिक विषय का निर्णय करना हो या कोई भी आगम से प्ररूपित तत्त्व के सम्बन्ध में उत्पन्न विवाद की स्थिति का निर्णय करना हो तो इसी क्रम से करना चाहिए अर्थात् यदि आगमव्यवहारी हो तो उसके निर्णय को स्वीकार करके विवाद को समाप्त करना चाहिए।

यदि आगमव्यवहारी न हो तो उपलब्ध श्रुत-आगम के आधार से जो निर्णय हो, उसे स्वीकार करना चाहिए। सूत्र का प्रमाण उपलब्ध होने पर आज्ञा, धारणा या परम्परा को प्रमुख नहीं मानना चाहिए, क्योंकि आज्ञा, धारणा या परम्परा की अपेक्षा श्रुतव्यवहार प्रमुख है।

वर्तमान में सर्वोपरि प्रमुख स्थान आगमों का है, उसके बाद व्याख्याओं एवं ग्रन्थों का स्थान है तत्पश्चात् स्थविरों द्वारा धारित कंठस्थ धारणा या परम्परा का है। व्याख्याओं या ग्रन्थों में भी पूर्व-पूर्व के आचार्यों की रचना का प्रमुख स्थान है।

अतः वर्तमान में सर्वप्रथम निर्णायक शास्त्र हैं, उससे विपरीत अर्थ को कहने वाले व्याख्या और ग्रन्थ का महत्त्व नहीं है। उसी प्रकार शास्त्रप्रमाण के उपलब्ध होने पर धारणा या परम्परा का भी कोई महत्त्व नहीं है। इसलिए शास्त्र, ग्रन्थ, धारणा और परम्परा को भी यथाक्रम विवेकपूर्वक प्रमुखता देकर किसी भी तत्त्व का निर्णय करना आराधना का हेतु है और किसी भी पक्षभाव के कारण व्युत्क्रम

से निर्णय करना विराधना का हेतु है। अतः इस सूत्र के आशय को समझ कर निष्पक्षभाव से आगम तत्त्वों का निर्णय करना चाहिए। भगवतीसूत्र श. ८ उ. ८ में तथा ठाणांग अ. ५ उ. २ में भी यह सूत्र है। वहां भी इस विषयक कुछ विवेचन किया गया है।

सारांश यह है कि प्रायश्चित्तों का या अन्य तत्त्वों का निर्णय इन पांच व्यवहारों द्वारा क्रमपूर्वक करना चाहिए, व्युत्क्रम से नहीं। इसलिए किसी विषय मे आगमपाठ के होते हुए धारणा या परंपरा को प्रमुखता देकर आग्रह करना सर्वथा अनुचित समझना चाहिए।

विविधप्रकार से गण की वैयावृत्य करने वाले

४. चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—१. अट्ठकरे नामं एगे, नो माणकरे, २. माणकरे नामं एगे, नो अट्ठकरे, ३. एगे अट्ठकरे वि, माणकरे वि, ४. एगे नो अट्ठकरे, नो माणकरे।

५. चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—१. गणट्ठकरे नामं एगे, नो माणकरे, २. माणकरे नामं एगे, नो गणट्ठकरे, ३. एगे गणट्ठकरे वि, माणकरे वि, ४. एगे नो गणट्ठकरे, नो माणकरे।

६. चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—१. गणसंगहकरे नामं एगे, नो माणकरे, २. माणकरे नामं एगे, नो गणसंगहकरे, ३. एगे गणसंगहकरे वि, माणकरे वि, ४. एगे नो गणसंगहकरे, नो माणकरे।

७. चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—१. गणसोहकरे नामं एगे, नो माणकरे, २. माणकरे नामं एगे, नो गणसोहकरे, ३. एगे गणसोहकरे वि, माणकरे वि, ४. एगे नो गणसोहकरे, नो माणकरे।

८. चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—१. गणसोहिकरे नामं एगे, नो माणकरे, २. माणकरे नामं एगे, नो गणसोहिकरे, ३. एगे गणसोहिकरे वि, माणकरे वि, ४. एगे नो गणसोहिकरे, नो माणकरे।

४. चार प्रकार के साधु पुरुष कहे गए हैं। जैसे—१. कोई साधु कार्य करता है, किन्तु मान नहीं करता है। २. कोई मान करता है, किन्तु कार्य नहीं करता है। ३. कोई कार्य भी करता है और मान भी करता है। ४. कोई कार्य भी नहीं करता है और मान भी नहीं करता है।

५. (पुनः) चार प्रकार के साधु पुरुष कहे गये है। जैसे—१. कोई गण का काम करता है, परन्तु मान नही करता है। २. कोई मान करता है, परन्तु गण का काम नही करता है। ३. कोई गण का काम भी करता है और मान भी करता है। ४. कोई न गण का काम करता है और न मान करता है।

६. (पुनः) चार प्रकार के साधु पुरुष कहे गये हैं। जैसे—१. कोई गण के लिए संग्रह करता है, परन्तु मान नहीं करता है। २. कोई मान करता है, परन्तु गण के लिए संग्रह नहीं करता है। ३. कोई गण के लिए संग्रह भी करता है और मान भी करता है। ४. कोई न गण के लिए संग्रह करता है और न मान ही करता है।

७. (पुन:) चार प्रकार के साधु पुरुष कहे गये हैं। जैसे—१. कोई गण की शोभा बढ़ाता है, किन्तु मान नहीं करता है। २. कोई मान करता है, किन्तु गण की शोभा नहीं बढ़ाता है। ३. कोई गण की शोभा भी बढ़ाता है और मान भी करता है। ४. कोई न गण की शोभा बढ़ाता है और न मान ही करता है।

८. (पुन:) चार प्रकार के साधु पुरुष कहे गये हैं। जैसे—१. कोई गण की शुद्धि करता है, परन्तु मान नहीं करता है। २. कोई मान करता है, परन्तु गण की शुद्धि नहीं करता है। ३. कोई गण की शुद्धि भी करता है और मान भी करता है। ४. कोई न गण की शुद्धि करता है और न मान ही करता है।

विवेचन—प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न गुण होते हैं। अत: यहां भिन्न-भिन्न को लेकर संयमी पुरुषों के लिए पांच चौभंगियां कही हैं, उनमें निम्न विषय है—(१) अट्ठ—कुछ भी सेवा कार्य, (२) गणट्ठ—गच्छ के व्यवस्था संबंधी कार्य, (३) गणसंग्रह—गण के लिए साधु-साध्वी श्रावक श्राविकाओं की वृद्धि हो, आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, शय्या-संस्तारक आदि सुलभ हों, ऐसे क्षेत्रों की वृद्धि करना, लोगों में धार्मिक रुचि एवं दान भावना की वृद्धि करना। (४) गणसोह—तप-संयम, ज्ञान-ध्यान, उपदेश एवं व्यवहारकुशलता से गण की शोभा की वृद्धि करना। (५) गणसोहि—साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविका के आचार-व्यवहार की अशुद्धियों को विवेक से दूर करना। संघव्यवस्था की अव्यवस्था को उचित उपायों द्वारा सुधार कर उत्तम व्यवस्था करना।

इन गुणों को और अभिमान को संबंधित करके चौभंगियों का कथन किया गया है। कुछ साधु गण के लिए उक्त कार्य करके भी अभिमान नहीं करते हैं। ऐसे साधु ही सर्वश्रेष्ठ होते हैं। प्रत्येक साधक को इस प्रथम भंग के अनुसार रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

दूसरा भंग आत्मा के लिए पूरी तरह निकृष्ट एवं हेय है। क्योंकि कार्य तो कुछ करना नहीं और व्यर्थ में घमंड करना सर्वथा अनुचित है।

तीसरा भंग मध्यम है अर्थात् दूसरे भंग की अपेक्षा तीसरा भंग आत्मा का अधिक अहित करने वाला नहीं है तथा छद्मस्थ जीवों में ऐसा होना स्वाभाविक है। अध्यात्मसाधना में काम करके उसका घमंड करना भी एक अवगुण है। इस से आत्मगुणों का विकास नहीं होता है।

चौथा भंग सामान्य साधुओं की अपेक्षा से है। इनमें गुण नहीं है तो अवगुण भी नहीं है, ऐसे भिक्षु संयम में सावधान हों तो अपनी आराधना कर सकते हैं, किंतु वे गणहित के कार्यों में सक्रिय नहीं होते। इस कारण इस भंग वाले अधिक निर्जरा भी नहीं करते तथा उनके विशेष कर्मबंध और पुण्यक्षय भी नहीं होता है।

इन भंगों का चिंतन करके आत्मपरीक्षा करते हुए शुद्ध से शुद्धतर अवस्था में आत्मशक्ति का विकास करना चाहिए। अर्थात् अपने क्षयोपशम के अनुसार गच्छहित एवं जिनशासन की प्रभावना में योगदान देना चाहिए। साथ ही आत्मा में लघुता का भाव उपस्थित रखते हुए स्वयं का उत्कर्ष और दूसरों का तिरस्कार-निंदा आदि नहीं करना चाहिए। क्योंकि कषायों की उपशांति और आत्मशांति की प्राप्ति करना ही साधना का प्रमुख लक्ष्य है, उसके विपरीत मानकषाय की वृद्धि होना

किसी भी पुरुषार्थ का अच्छा परिणाम नही है, अपितु दुष्परिणाम है। इसलिए इसका विवेक रखना आवश्यक है।

धर्मदृढता की चौभंगियां

९. चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—१. रूवं नाममेगे जहइ, नो धम्मं, २. धम्मं नाममेगे जहइ, नो रूवं, ३. एगे रूवं वि जहइ, धम्मं वि जहइ, ४. एगे नो रूवं जहइ, नो धम्मं जहइ।

१०. चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—१. धम्मं नाममेगे जहइ, नो गणसंठिइं, २. गणसंठिइं नाममेगे जहइ, नो धम्मं, ३. एगे गणसंठिइं वि जहइ, धम्मं वि जहइ, ४. एगे नो गणसंठिइं जहइ, नो धम्मं जहइ।

११. चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—१. पियधम्मे नाममेगे, नो दढधम्मे, २. दढधम्मे नाममेगे, नो पियधम्मे, ३. एगे पियधम्मे वि, दढधम्मे वि, ४. एगे नो पियधम्मे, नो दढधम्मे।

९. चार जाति के पुरुष कहे गये है, जैसे—१. कोई रूप (साधुवेष) को छोड़ देता है, पर धर्म को नहीं छोड़ता है। २. कोई धर्म को छोड़ देता है पर रूप को नहीं छोड़ता है। ३. कोई रूप भी छोड़ देता है और धर्म भी छोड़ देता है। ४. कोई न रूप को छोड़ता है और न धर्म को छोड़ता है।

१०. पुनः चार जाति के पुरुष कहे गये है। जैसे—१. कोई धर्म को छोड़ता है, पर गण की संस्थिति अर्थात् गणमर्यादा नही छोड़ता है। २. कोई गण की मर्यादा भी छोड़ देता है, पर धर्म को नही छोड़ता है। ३. कोई गण की मर्यादा भी छोड़ देता है और धर्म भी छोड़ देता है। ४. कोई न गण की मर्यादा ही छोड़ता है और न धर्म ही छोड़ता है।

११. पुनः चार जाति के पुरुष कहे गये हैं, जैसे—
१. कोई प्रियधर्मा है पर दृढधर्मा नहीं है। २. कोई दृढधर्मा है, पर प्रियधर्मा नही है। ३. कोई प्रियधर्मा भी है और दृढधर्मा भी है। ४. कोई न प्रियधर्मा ही है और न दृढधर्मा ही है।

विवेचन—इन चौभंगियों मे साधक की धर्मदृढता आदि का कथन किया गया है। जिसमें निम्न विषयों की चर्चा है—

१. साधुवेश और धर्मभाव,
२. धर्मभाव और गणसमाचारी की परम्परा,
३. धर्मप्रेम और धर्मदृढता।

प्रथम चौभंगी में यह बताया गया है कि कई व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में अपने धर्मभाव और साधुवेश दोनों को नहीं छोड़ते और गम्भीरता के साथ विकट परिस्थिति को पार कर लेते हैं। यह साधक आत्माओं की श्रेष्ठ अवस्था है। शेष भंगवर्ती कोई साधक घबराकर बाह्यवेषभूषा का और संयम-आचार का परित्याग कर देता है, किन्तु धर्मभावना या सम्यक्श्रद्धा को कायम रखता है। ऐसा साधक आत्मोन्नति से वंचित रहता है, किन्तु दुर्गति का भागी नहीं होता है।

कोई धर्मभाव का परित्याग कर देते हैं अर्थात् संयमाचरण और कषायों की उपशांति को छोड़ देते है, किन्तु साधुवेष नहीं छोड़ते हैं। कई साधक परिस्थिति आने पर दोनों ही छोड़ बैठते हैं। ये तीनों भंग वाले मार्गच्युत होते हैं। फिर भी दूसरे भंग वाला धर्म का आराधक हो सकता है। इस चौभंगी में चौथे भंग वाला साधक सर्वश्रेष्ठ है।

द्वितीय चौभंगी के चौथे भंग में बताया है कि कई साधक किसी भी परिस्थिति में आगम-समाचारी और गच्छसमाचारी किसी का भी भंग नहीं करते किन्तु दृढता एवं विवेक के साथ सम्पूर्ण समाचारी का पालन करते है, वे श्रेष्ठ साधक हैं। शेष तीन भंग में कहे गये साधक अल्प सफलता वाले हैं। ये परिस्थितिवश किसी न किसी समाचारी से च्युत हो जाते हैं। उन भंगों की संयोजना पूर्व चौभंगी के समान समझ लेना चाहिए।

तीसरी चौभंगी में धर्माचरणों की दृढता और धर्म के प्रति अन्तरंग प्रेम, इन दो गुणों का कथन है।

धर्मदृढता स्थिरचित्तता एवं गम्भीरता की सूचक है और धर्मप्रेम प्रगाढ श्रद्धा या भक्ति से सम्बन्धित है। किसी साधक में ये दोनों गुण होते हैं, किसी में कोई एक गुण होता है और किसी में दोनों ही गुणों की मंदता या अभाव होता है।

सारांश—प्रथम चौभंगी में चौथा भंग उत्तम है, द्वितीय चौभंगी में भी चौथा भंग उत्तम है और तीसरी चौभंगी में तीसरा भंग उत्तम है।

आचार्य एवं शिष्यों के प्रकार

१२. चत्तारि आयरिया पण्णत्ता, तं जहा—

१. पव्वावणायरिए नामेगे, नो उवट्ठावणायरिए, २. उवट्ठावणायरिए नामेगे, नो पव्वावणायरिए, ३. एगे पव्वावणायरिए वि, उवट्ठावणायरिए वि, ४. एगे नो पव्वावणायरिए, नो उवट्ठावणायरिए—धम्मायरिए।

१३. चत्तारि आयरिया पण्णत्ता, तं जहा—

१. उद्देसणायरिए नामेगे, नो वायणायरिए, २. वायणायरिए नामेगे, नो उद्देसणायरिए। ३. एगे उद्देसणायरिए वि, वायणायरिए वि, ४. एगे नो उद्देसणायरिए, नो वायणायरिए—धम्मायरिए।

१४. चत्तारि अंतेवासी पण्णत्ता, तं जहा—

१. पव्वावणंतेवासी नामेगे नो उवट्ठावणंतेवासी, २. उवट्ठावणंतेवासी नामेगे, नो पव्वावणंतेवासी, ३. एगे पव्वावणंतेवासी वि उवट्ठावणंतेवासी वि, ४. एगे नो पव्वावणंतेवासी, नो उवट्ठावणंतेवासी—धम्मंतेवासी।

१५. चत्तारि अंतेवासी पण्णत्ता, तं जहा—

१. उद्देसणंतेवासी नामेगे, नो वायणंतेवासी, २. वायणंतेवासी नामेगे, नो उद्देसणंतेवासी, ३. एगे उद्देसणंतेवासी वि वायणंतेवासी वि, ४. एगे नो उद्देसणंतेवासी, नो वायणंतेवासी—धम्मंतेवासी।

१२. चार प्रकार के आचार्य कहे गये हैं, यथा—

१. कोई आचार्य (किसी एक शिष्य की अपेक्षा) प्रव्रज्या देने वाले होते हैं, किन्तु महाव्रतों का आरोपण करने वाले नहीं होते हैं। २. कोई आचार्य महाव्रतों का आरोपण करने वाले होते हैं, किन्तु प्रव्रज्या देने वाले नहीं होते हैं। ३. कोई आचार्य प्रव्रज्या देने वाले भी होते हैं और महाव्रतों का आरोपण करने वाले भी होते हैं। ४. कोई आचार्य न प्रव्रज्या देने वाले होते हैं और न महाव्रतों का आरोपण करने वाले होते हैं, वे केवल धर्मोपदेश देने वाले होते हैं।

१३. चार प्रकार के आचार्य कहे गये हैं, यथा—१. कोई आचार्य (किसी एक शिष्य की अपेक्षा) मूलपाठ की वाचना देने वाले होते हैं, किन्तु अर्थ की वाचना देने वाले नहीं होते हैं। २. कोई आचार्य अर्थ की वाचना देने वाले होते हैं, किन्तु मूलपाठ की वाचना देने वाले नहीं होते हैं। ३. कोई आचार्य मूलपाठ की वाचना देने वाले भी होते हैं और अर्थ की वाचना देने वाले भी होते हैं। ४. कोई आचार्य मूलपाठ की वाचना देने वाले भी नहीं होते है और अर्थ की वाचना देने वाले भी होते हैं, वे केवल धर्माचार्य होते हैं।

१४. अन्तेवासी (शिष्य) चार प्रकार के कहे गये हैं, जैसे—१. कोई प्रव्रज्याशिष्य है, परन्तु उपस्थापनाशिष्य नहीं है। २. कोई उपस्थापनाशिष्य है, परन्तु प्रव्रज्याशिष्य नहीं। ३. कोई प्रव्रज्याशिष्य भी है और उपस्थापनाशिष्य भी है। ४. कोई न प्रव्रज्याशिष्य है और न उपस्थापना शिष्य है। किन्तु धर्मोपदेश से प्रतिबोधित शिष्य है।

१५. पुन: अन्तेवासी चार प्रकार के कहे गये है, जैसे—१. कोई उद्देशन-अन्तेवासी है, परन्तु वाचना-अन्तेवासी नहीं है। २. कोई वाचना-अन्तेवासी है, परन्तु उद्देशन-अन्तेवासी नहीं है। ३. कोई उद्देशन-अन्तेवासी भी है और वाचना-अन्तेवासी भी है। ४. कोई न उद्देशन-अन्तेवासी है और न वाचना-अन्तेवासी है। किन्तु धर्मोपदेश से प्रतिबोधित शिष्य है।

विवेचन—इन चौभंगियों में गुरु और शिष्य से सम्बन्धित निम्नलिखित विषयों का कथन किया गया है—

१. दीक्षादाता गुरु और शिष्य।
२. बड़ीदीक्षादाता गुरु और शिष्य।
३. आगम के मूलपाठ की वाचनादाता गुरु और शिष्य।
४. सूत्रार्थ की वाचनादाता गुरु और शिष्य।
५. प्रतिबोध-देने वाला गुरु और शिष्य।

किसी भी शिष्य को दीक्षा, बड़ीदीक्षा या प्रतिबोध देने वाले पृथक्-पृथक् आचार्य निर्धारित नहीं होते हैं अर्थात् आचार्य, उपाध्याय या अन्य कोई भी श्रमण-श्रमणी गुरु की आज्ञा से किसी को भी

दीक्षा, वड़ी दीक्षा या प्रतिबोध दे सकते हैं। उनको इस सूत्र के "आयरिय" शब्द से सूचित किया गया है। इसी तरह शिष्य को भी भिन्न-भिन्न शब्दों से सूचित किया है।

एक ही भिक्षु दीक्षादाता आदि पूर्वोक्त पांचों का कार्य सम्पन्न कर सकता है अथवा कोई हीनाधिक कार्यों का कर्ता हो सकता है और कोई भिक्षु पांचों ही अवस्थाओं से रहित भिन्न अवस्था वाला अर्थात् सामान्य भिक्षु भी होता है।

उक्त पांचों कार्य सम्पन्न करने वाले साधुओं को प्रथम दो चौभंगियों में "आयरिय" शब्द से सूचित किया है और उनके शिष्यों को बाद की दो चौभंगियों से सूचित किया है।

इस प्रकार इन चौभंगियों के ये भंग केवल ज्ञेय हैं, अर्थात् इन चौभंगियों के किसी भंग को प्रशस्त या अप्रशस्त नहीं कहा जा सकता है।

स्थविर के प्रकार

१६. तओ थेरभूमीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—१. जाइ-थेरे, २. सुय-थेरे, ३. परियाय-थेरे।

१. सट्ठिवासजाए समणे निग्गंथे जाइ-थेरे। २. ठाण-समवायांगधरे समणे निग्गंथे सुय-थेरे। ३. वीसवासपरियाए समणे निग्गंथे परियाय-थेरे।

१६. स्थविर तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—१. वय-स्थविर, २. श्रुत-स्थविर, ३. पर्याय-स्थविर।

१. साठ वर्ष की आयु वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ वयस्थविर हैं।
२. स्थानांग-समवायांग के धारक श्रमण-निर्ग्रन्थ श्रुतस्थविर हैं।
३. बीस वर्ष की दीक्षा-पर्याय के धारक श्रमण-निर्ग्रन्थ पर्यायस्थविर हैं।

विवेचन—"भूमि" शब्द यहां "अवस्था" अर्थ में प्रयुक्त है। जो स्थिर स्वभाव वाले हो जाते हैं वे अपूर्ण या चंचल नहीं होते हैं। अतः वे स्थविर कहे जाते हैं।

(१) वयस्थविर—सूत्र में गर्भकाल सहित ६० वर्ष की उम्र वालों को वयस्थविर सूचित किया है और व्यव. भाष्य उद्दे. ३ सूत्र ११ में ७० वर्ष की वय वाले को स्थविर कहा है। वहां उसके पूर्व की वयस्था को प्रौढ अवस्था कहा है। ये दोनों कथन सापेक्ष हैं, इनमें विरोध नहीं समझना चाहिए।

(२) श्रुतस्थविर—स्थानांग, समवायांगसूत्र को कंठस्थ धारण करने वाला अर्थात् आचारांगादि चार अंग, चार छेद एवं उत्तराध्ययन, दशवैकालिक और आवश्यकसूत्र को अर्थसहित कण्ठस्थ धारण करने वाला श्रुतज्ञान की अपेक्षा श्रुतस्थविर कहा जाता है।

(३) पर्यायस्थविर—संयमपर्याय के बीस वर्ष पूर्ण हो जाने पर भिक्षु "पर्यायस्थविर" कहा जाता है।

ये तीनों प्रकार के स्थविरत्व परस्पर निरपेक्ष हैं अर्थात् स्वतंत्र हैं।
इस सूत्र में ये तीनों प्रकार के स्थविर साधु-साध्वियों की अपेक्षा से ही कहे गये हैं।

इन स्थविरों के प्रति क्या-क्या व्यवहार करना चाहिए, इसका भाष्य में इसप्रकार स्पष्टीकरण किया गया है।

(१) जन्मस्थविर को काल-स्वभावानुसार आहार देना, उसके योग्य उपधि, शय्यासंस्तारक देना अर्थात् ऋतु के अनुकूल सवात-निर्वात स्थान और मृदु संस्तारक देना तथा विहार में उसके उपकरण और पानी उठाना इत्यादि अनुकम्पा करनी चाहिए।

(२) श्रुतस्थविर का आदर-सत्कार, अभ्युत्थान, कृतिकर्म, आसनप्रदान, पाद-प्रमार्जन करना करवाना। उसके प्रत्यक्ष या परोक्ष में गुणकीर्तन—प्रशंसा करना, उनके समक्ष उच्च शय्या आसन से नहीं बैठना, उनके निर्देशानुसार कार्य करना।

(३) पर्यायस्थविर का आदर-सत्कार, अभ्युत्थान, वंदन करना, खमासमणा देना, उनका दण्डादि उपकरण ग्रहण करना एवं उचित विनय करना।

ये स्थविर गण की ऋद्धिरूप होते हैं। इनका तिरस्कार, अभक्ति आदि करना विराधना का कारण है, ऐसा करने से गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

बड़ी दीक्षा देने का कालप्रमाण

१७. तओ सेहभूमीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—१. सत्तराइंदिया, २. चाउम्मासिया, ३. छम्मासिया। छम्मासिया उक्कोसिया। चाउम्मासिया मज्झमिया। सत्तराइंदिया जहन्निया

१७. नवदीक्षित शिष्य की तीन शैक्ष-भूमियां कही गई हैं, जैसे—१. सप्तरात्रि, २. चातुर्मासिक, ३. षाण्मासिकी। उत्कृष्ट छह मास से महाव्रत आरोपण करना। मध्यम चार मास से महाव्रत आरोपण करना। जघन्य सात दिन-रात के बाद महाव्रत आरोपण करना।

विवेचन—दीक्षा देने के बाद एवं उपस्थापना के पूर्व की मध्यगत अवस्था को यहां शैक्ष-भूमि कहा गया है।

जघन्य शैक्षकाल सात अहोरात्र का है, इसलिए कम से कम सात रात्रि व्यतीत होने पर अर्थात आठवें दिन बड़ी दीक्षा दी जा सकती है। उपस्थापना संबंधी अन्य विवेचन व्यव. उद्दे. ४ सूत्र १५ में देखें।

प्रतिक्रमण एवं समाचारी अध्ययन के पूर्ण न होने के कारण मध्यम और उत्कृष्ट शैक्ष-काल हो सकता है, अथवा साथ में दीक्षित होने वाले कोई मान्ननीय पूज्य पुरुष का कारण भी हो सकता है।

जघन्य शैक्ष-काल तो सभी के लिए आवश्यक ही होता है। इतने समय में कई अंतरंग जानकारियां हो जाती हैं, परीक्षण भी हो जाता है और प्रतिक्रमण एवं समाचारी का ज्ञान भी पूर्ण कराया जा सकता है।

किसी अपेक्षा को लेकर सातवें दिन बड़ी दीक्षा देने की परम्परा भी प्रचलित है, किंतु सूत्रानुसार सात रात्रि व्यतीत होने के पूर्व बड़ी दीक्षा देना उचित नहीं है। इस विषयक विशेष विवेचन उ. ४ सू. १५ में देखें।

बालक-बालिका को बड़ी दीक्षा देने का विधि-निषेध

१८. नो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा खुड्डगं वा खुड्डियं वा ऊणट्ठवासजायं उवट्ठावेत्तए वा संभुंजित्तए वा।

१९. कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा खुड्डगं वा खुड्डियं वा साइरेग अट्ठवासजायं उवट्ठावेत्तए वा संभुंजित्तए वा।

१८. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को आठ वर्ष से कम उम्र वाले बालक-बालिका को बड़ी दीक्षा देना और उनके साथ आहार करना नहीं कल्पता है।

१९. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को आठ वर्ष से अधिक उम्र वाले बालक-बालिका को बड़ी दीक्षा देना और उनके साथ आहार करना कल्पता है।

विवेचन—पूर्व सूत्र में शैक्ष-भूमि के कथन से उपस्थापना काल कहा गया है और यहां पर क्षुल्लक-क्षुल्लिका अर्थात् छोटी उम्र के बालक-बालिका की उपस्थापना का कथन किया गया है।

यदि माता-पिता आदि के साथ किसी कारण से छोटी उम्र के बालक को दीक्षा दे दी जाय तो कुछ भी अधिक आठ वर्ष अर्थात् गर्भकाल सहित नौ वर्ष के पूर्व बड़ी दीक्षा नहीं देनी चाहिए। इतना समय पूर्ण हो जाने पर बड़ी दीक्षा दी जा सकती है।

सामान्यतया तो इस वय के पूर्व दीक्षा भी नहीं देनी चाहिए। अतः यह सूत्रोक्त उपस्थापना का विधान आपवादिक परिस्थिति की अपेक्षा से है, ऐसा समझना चाहिए। अथवा उपस्थापना से दीक्षा या बड़ी दीक्षा दोनों ही सूचित है, ऐसा भी समझा जा सकता है।

अत्यधिक छोटी उम्र के बालक का अस्थिरचित्त एवं चंचल होना स्वाभाविक है एवं उसका जिद् करना, रोना, खेलना, अविवेक से टट्टी पेशाब कर देना आदि स्थितियों से संयम की हानि होना संभव रहता है। इसी कारण से नौ वर्ष की उम्र के पूर्व दीक्षा या बड़ी दीक्षा देने का निषेध एवं प्रायश्चित्त विधान है।

सूत्र में "संभुंजित्तए" क्रिया पद भी है, उसका तात्पर्य यह है कि उपस्थापना के पूर्व नवदीक्षित साधु को एक मांडलिक आहार नहीं कराया जा सकता है। क्योंकि तब तक वह सामायिकचारित्र वाला होता है। बड़ी दीक्षा के बाद वह छेदोपस्थापनीय चारित्र वाला हो जाता है। उसी के साथ एक मांडलिक आहार करने का विधान है, ऐसा समझना चाहिए।

बालक को आचारप्रकल्प के अध्ययन कराने का निषेध

२०. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा खुड्डगस्स वा खुड्डियाए वा अवंजणजायस्स आयारपकप्पे नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

२१. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा खुड्डगस्स वा खुड्डियाए वा वंजणजायस्स आयारपकप्पे नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

२०. अव्यंजनजात अर्थात् अप्राप्त यौवन वाले बालक भिक्षु या भिक्षुणी को आचारप्रकल्प नामक अध्ययन पढ़ाना निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को नहीं कल्पता है।

२१. व्यंजनजात अर्थात् यौवन प्राप्त भिक्षु या भिक्षुणी को आचारप्रकल्प नामक अध्ययन पढ़ाना निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को कल्पता है।

विवेचन—यहां पर आचारांगसूत्र और निशीथसूत्र को आचारप्रकल्प कहा गया है। इसका अध्ययन सोलह वर्ष से कम उम्र वाले साधु-साध्वी को कराने का निषेध किया गया है। इस विषयक संपूर्ण विवेचन निशीथ उद्दे. १९ सूत्र २० में देखें।

दीक्षापर्याय के साथ आगमों का अध्ययनक्रम

२२. तिवास-परियायस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ आयारपकप्पे नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

२३. चउवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ सूयगडे नामं अंगे उद्दिसित्तए।

२४. पंचवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ दसा-कप्प-ववहारे उद्दिसित्तए।

२५. अट्ठवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ ठाण-समवाए उद्दिसित्तए।

२६. दसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ वियाहे नामं अंगे उद्दिसित्तए।

२७. एक्कारसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ खुड्डिया विमाणपविभत्ती, महल्लियाविमाणपविभत्ती, अंगचूलिया, वग्गचूलिया, वियाहचूलिया नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

२८. बारसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ अरुणोववाए, वरुणोववाए, गरुलोववाए, धरणोववाए, वेसमणोववाए, वेलंधरोववाए, नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

२९. तेरसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ उट्ठाणसुए, समुट्ठाणसुए, देविंदपरिया-वणिए, नागपरियावणिए नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

३०. चोद्दसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ सुमिणभावणानामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

३१. पन्नरसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ चारणभावणानामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

३२. सोलसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ तेयणिसग्गे नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

बालक-बालिका को बड़ी दीक्षा देने का विधि-निषेध

१८. नो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा खुड्डगं वा खुड्डियं वा ऊणट्ठवासजायं उवट्ठावेत्तए वा संभुंजित्तए वा।

१९. कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा खुड्डगं वा खुड्डियं वा साइरेग अट्ठवासजायं उवट्ठावेत्तए वा संभुंजित्तए वा।

१८. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को आठ वर्ष से कम उम्र वाले बालक-बालिका को बड़ी दीक्षा देना और उनके साथ आहार करना नहीं कल्पता है।

१९. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को आठ वर्ष से अधिक उम्र वाले बालक-बालिका को बड़ी दीक्षा देना और उनके साथ आहार करना कल्पता है।

विवेचन—पूर्व सूत्र में शैक्ष-भूमि के कथन से उपस्थापना काल कहा गया है और यहाँ पर क्षुल्लक-क्षुल्लिका अर्थात् छोटी उम्र के बालक-बालिका की उपस्थापना का कथन किया गया है।

यदि माता-पिता आदि के साथ किसी कारण से छोटी उम्र के बालक को दीक्षा दे दी जाय तो कुछ भी अधिक आठ वर्ष अर्थात् गर्भकाल सहित नौ वर्ष के पूर्व बड़ी दीक्षा नहीं देनी चाहिए। इतना समय पूर्ण हो जाने पर बड़ी दीक्षा दी जा सकती है।

सामान्यतया तो इस वय के पूर्व दीक्षा भी नहीं देनी चाहिए। अतः यह सूत्रोक्त उपस्थापना का विधान आपवादिक परिस्थिति की अपेक्षा से है, ऐसा समझना चाहिए। अथवा उपस्थापना से दीक्षा या बड़ी दीक्षा दोनों ही सूचित है, ऐसा भी समझा जा सकता है।

अत्यधिक छोटी उम्र के बालक का अस्थिरचित्त एवं चंचल होना स्वाभाविक है एवं उसका जिद् करना, रोना, खेलना, अविवेक से टट्टी पेशाब कर देना आदि स्थितियों से संयम की हानि होना संभव रहता है। इसी कारण से नौ वर्ष की उम्र के पूर्व दीक्षा या बड़ी दीक्षा देने का निषेध एवं प्रायश्चित्त विधान है।

सूत्र में "संभुंजित्तए" क्रिया पद भी है, उसका तात्पर्य यह है कि उपस्थापना के पूर्व नवदीक्षित साधु को एक मांडलिक आहार नहीं कराया जा सकता है। क्योंकि तब तक वह सामायिकचारित्र वाला होता है। बड़ी दीक्षा के बाद वह छेदोपस्थापनीय चारित्र वाला हो जाता है। उसी के साथ एक मांडलिक आहार करने का विधान है, ऐसा समझना चाहिए।

बालक को आचारप्रकल्प के अध्ययन कराने का निषेध

२०. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा खुड्डगस्स वा खुड्डियाए वा अवंजणजायस्स आयारपकप्पे णामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

२१. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा खुड्डगस्स वा खुड्डियाए वा वंजणजायस्स आयारपकप्पे णामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

२०. अव्यंजनजात अर्थात् अप्राप्त यौवन वाले बालक भिक्षु या भिक्षुणी को आचारप्रकल्प नामक अध्ययन पढ़ाना निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को नहीं कल्पता है।

२१. व्यंजनजात अर्थात् यौवन प्राप्त भिक्षु या भिक्षुणी को आचारप्रकल्प नामक अध्ययन पढ़ाना निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को कल्पता है।

विवेचन—यहां पर आचारांगसूत्र और निशीथसूत्र को आचारप्रकल्प कहा गया है। इसका अध्ययन सोलह वर्ष से कम उम्र वाले साधु-साध्वी को कराने का निषेध किया गया है। इस विषयक संपूर्ण विवेचन निशीथ उद्दे. १९ सूत्र २० में देखें।

दीक्षापर्याय के साथ आगमों का अध्ययनक्रम

२२. तिवास-परियायस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ आयारपकप्पे नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

२३. चउवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ सूयगडे नामं अंगे उद्दिसित्तए।

२४. पंचवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ दसा-कप्प-ववहारे उद्दिसित्तए।

२५. अट्ठवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ ठाण-समवाए उद्दिसित्तए।

२६. दसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ वियाहे नामं अंगे उद्दिसित्तए।

२७. एक्कारसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ खुड्डिया विमाणपविभत्ती, महल्लियाविमाणपविभत्ती, अंगचूलिया, वग्गचूलिया, वियाहचूलिया नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

२८. बारसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ अरुणोववाए, वरुणोववाए, गरुलोववाए, धरणोववाए, वेसमणोववाए, वेलंधरोववाए, नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

२९. तेरसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ उट्ठाणसुए, समुट्ठाणसुए, देविंदपरिया-वणिए, नागपरियावणिए नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

३०. चोद्दसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ सुमिणभावणानामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

३१. पन्नरसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ चारणभावणानामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

३२. सोलसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ तेयणिसग्गे नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

३३. सत्तरसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ आसीविसभावणाणामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

३४. अट्ठारसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ दिट्ठिविसभावणाणामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

३५. एगूणवीसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ दिट्ठिवाय नामं अंगे उद्दिसित्तए।

३६. वीसवास-परियाए समणे णिग्गंथे सव्वसुयाणुवाई भवइ।

२२. तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाले (योग्य) श्रमण-निर्ग्रन्थ को आचारप्रकल्प नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है।

२३. चार वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को सूत्रकृतांग नामक दूसरा अंग पढ़ाना कल्पता है।

२४. पांच वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को दशा, कल्प, व्यवहार सूत्र पढ़ाना कल्पता है।

२५. आठ वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को स्थानांग और समवायांगसूत्र पढ़ाना कल्पता है।

२६. दश वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक अंग पढ़ाना कल्पता है।

२७. ग्यारह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को क्षुल्लिका विमानप्रविभक्ति, महल्लिका विमानप्रविभक्ति, अंगचूलिका, वर्गचूलिका और व्याख्याचूलिका नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है।

२८. बारह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को अरुणोपपात, वरुणोपपात, गरुडोपपात, धरणोपपात, वैश्रमणोपपात, वेलन्धरोपपात नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है।

२९. तेरह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को उत्थानश्रुत, समुत्थानश्रुत, देवेन्द्रपरियापनिका और नागपरियापनिका नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

३०. चौदह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को स्वप्नभावना नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है।

३१. पन्द्रह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को चारणभावना नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है।

३२. सोलह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को तेजोनिसर्ग नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है।

३३. सत्तरह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को आसीविषभावना नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है।

३४. अठारह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को दृष्टिविषभावना नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है।

३५. उन्नीस वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को दृष्टिवाद नामक बारहवां अंग पढ़ाना कल्पता है।

३६. बीस वर्ष की दीक्षापर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ सर्वश्रुत को धारण करने वाला हो जाता है।

विवेचन—इन पन्द्रह सूत्रों में क्रमशः आगमों के अध्ययन का कथन दीक्षापर्याय की अपेक्षा से किया गया है। जिसमें तीन वर्ष से लेकर बीस वर्ष तक का कथन है।

यह अध्ययनक्रम इस सूत्र के रचयिता श्री भद्रबाहुस्वामी के समय उपलब्ध श्रुतों के अनुसार है। उसके बाद में रचित एवं निर्यूढ सूत्रों का इस अध्ययनक्रम में उल्लेख नहीं है। अतः उववाई आदि १२ उपांगसूत्र एवं मूलसूत्रों के अध्ययनक्रम की यहां विवक्षा नहीं की गई है। फिर भी आचारशास्त्र के अध्ययन कर लेने पर अर्थात् छेदसूत्रों के अध्ययन के बाद और ठाणांग, समवायांग तथा भगवती-सूत्र के अध्ययन के पहले या पीछे कभी भी उन शेष सूत्रों का अध्ययन करना समझ लेना चाहिए।

आवश्यकसूत्र का अध्ययन तो उपस्थापना के पूर्व ही किया जाता है तथा भाष्य में आचारांग व निशीथ के पूर्व दशवैकालिक और उत्तराध्ययनसूत्र के अध्ययन करने का निर्देश किया गया है। उससे सम्बन्धित उद्धरण तीसरे उद्देशक में दे दिये गये हैं तथा निशी. उ. १९ में इस विषय में विवेचन किया है।

१. दशवैकालिकसूत्र के विषय में ऐसी धारणा प्रचलित है कि भद्रबाहुस्वामी से पूर्व शय्यंभव-स्वामी ने अपने पुत्र "मनक" के लिए इस सूत्र की रचना की थी। फिर संघ के आग्रह से इसे पुनः पूर्वों में विलीन नहीं किया और स्वतंत्र रूप में रहने दिया।

२. उत्तराध्ययनसूत्र के लिए भी ऐसी परम्परा प्रचलित है कि ये ३६ अध्ययन भ. महावीर स्वामी ने अंतिम देशना में फरमाये थे। उस समय देशना सुनकर किसी स्थविर ने उनका सूत्र रूप में गुंथन किया।

किन्तु प्रस्तुत आगमअध्ययनक्रम में भद्रबाहुस्वामी द्वारा इन दोनों सूत्रों को स्थान नहीं दिए जाने के कारण एवं उन ऐतिहासिक कथनों का सूक्ष्मबुद्धि से परिशीलन करने पर सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि ये दोनों सूत्रों से संबंधित धारणाएं काल्पनिक हैं। वास्तव में ये सूत्र भद्रबाहु-स्वामी के बाद में और देवर्द्धिगणी के समय तक किसी भी काल में संकलित किए गए हैं।

इतिहास के नाम से समय-समय पर ऐसी कई कल्पनाएं प्रचलित हुई हैं या की गई हैं। जैसे कि—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णियां आदि वास्तव में तो नंदीसूत्र की रचना के बाद आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थ हैं। फिर भी इनके विषय में १४ पूर्वी या तीन पूर्वी आदि के द्वारा रचित होने के कल्पित इतिहास प्रसिद्ध किए गए हैं।

महाविदेहक्षेत्र से स्थूलिभद्र की बहन के द्वारा दो अथवा चार चूलिका लाने का कथन परिशिष्टपर्व आदि भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में है। ये ग्रन्थ स्थूलिभद्र के समय से ८००-९०० वर्ष बाद रचे गए हैं। उन ग्रन्थकारों के पूर्व हुए टीकाकार, चूर्णिकार आदि उन चूलिकाओं के लिए महाविदेह से लाने संबंधी कोई कल्पना न करके उन्हें मौलिक रचना होना ही स्वीकार करते हैं।

पर्युपणाकल्पसूत्र का १२वीं-तेरहवी शताब्दी तक नाम भी नहीं था। उसे भी १४ पूर्वी भद्रबाहुस्वामी द्वारा रचित होना प्रचारित कर दिया, देखें दशा. द. ८ का विवेचन।

अतः उत्तराध्ययन, दशवैकालिक इन दोनों सूत्रों की रचना व्यवहारसूत्र की रचना के बाद मानने में कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु उसके पहले के आचार्यों द्वारा रचित मानने पर इस व्यवहारसूत्र के अध्ययनक्रम में इनका निर्देश न होना विचारणीय रहता है एवं इस विषयक प्रचलित इतिहास-परंपराएं भी विचार करने पर तर्कसंगत नहीं होती हैं।

इन सूत्रों में जो तीन वर्ष पर्याय आदि का कथन किया गया है, उसका दो तरह से अर्थ किया जा सकता है—

(१) दीक्षापर्याय के तीन वर्ष पूर्ण होने पर उन आगमों का अध्ययन करना।

(२) तीन वर्षों के दीक्षापर्याय में योग्य भिक्षु को कम से कम आगमों का अध्ययन कर लेना या करा देना चाहिए।

इन दोनों अर्थों में दूसरा अर्थ आगमानुसारी है, इसका स्पष्टीकरण उ. ३ सू. ३ के विवेचन में किया गया है। पाठक वहां से समझ लें।

दस वर्ष की दीक्षापर्याय के बाद में अध्ययन करने के लिए कहे गए सूत्रों में से प्रायः सभी सूत्र नंदीसूत्र की रचना के समय में कालिक श्रुतरूप में उपलब्ध थे। किन्तु वर्तमान में उनमें से कोई भी सूत्र उपलब्ध नहीं है। *केवल 'तेयनिसर्ग' नामक अध्ययन भगवतीसूत्र के पंद्रहवें शतक में उपलब्ध है।*

ज्ञातासूत्र आदि अंगसूत्रों का प्रस्तुत अध्ययन में निर्देश नहीं किया गया है, इसका कारण यह है कि इन सूत्रों में प्रायः धर्मकथा का वर्णन है, जिनके क्रम की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। यथावसर कभी भी इनका अध्ययन किया या कराया जा सकता है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में उपलब्ध आश्रव-संवर का वर्णन गणधररचित नहीं है, किन्तु सूत्र की रचना के बाद में संकलित किया गया है।

इन सूत्रों में सूचित किये गये आगमों के नाम इस प्रकार हैं—

(१-२) आचारांगसूत्र एवं निशीथसूत्र, (३) सूयगडांगसूत्र, (४, ५, ६) दशाश्रुतस्कंधसूत्र, बृहत्कल्पसूत्र और व्यवहारसूत्र, (७, ८) ठाणांगसूत्र, समवायांगसूत्र, (९) भगवतीसूत्र। (१०-१४) क्षुल्लिका विमानप्रविभक्ति, महल्लिका विमानप्रविभक्ति, अंगचूलिका, वर्गचूलिका, व्याख्याचूलिका।

(१५-२०) अरुणोपपात, वरुणोपपात, गरुडोपपात, धरणोपपात, वैश्रमणोपपात, वेलन्धरोपपात, (२१-२४) उत्थानश्रुत, समुत्थानश्रुत, देवेन्द्रपरियापनिका, नागपरियापनिका, (२५) स्वप्नभावना अध्ययन, (२६) चारणभावना अध्ययन, (२७) तेजनिसर्ग अध्ययन, (२८) आशीविषभावना अध्ययन, (२९) दृष्टिविषभावना अध्ययन, (३०) दृष्टिवाद अंग।

सूत्रांक १० से २९ तक के आगम दृष्टिवाद नामक अंग के ही अध्ययन थे अथवा उससे अलग निर्यूढ किये गये सूत्र थे। इन सभी का नाम नंदीसूत्र में कालिकश्रुत की सूची में दिया गया है।

इन सूत्रों के अंत में यह बताया गया है कि बीस वर्ष की दीक्षापर्याय तक संपूर्णश्रुत का अध्ययन कर लेना चाहिए। तदनुसार वर्तमान में भी प्रत्येक योग्य भिक्षु को उपलब्ध सभी आगमश्रुत का अध्ययन बीस वर्ष में परिपूर्ण कर लेना चाहिए। उसके बाद प्रवचनप्रभावना करनी चाहिए अथवा निवृत्तिमय साधना में रहकर स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि में लीन रहते हुए आत्मसाधना करनी चाहिए।

उपर्युक्त आगमों की वाचना योग्य शिष्य को यथाक्रम से ही देनी चाहिए, इत्यादि विस्तृत वर्णन निशी. उ. १९ में देखें।

वैयावृत्य के प्रकार एवं महानिर्जरा

३७. दसविहे वेयावच्चे पण्णत्ते, तं जहा—१. आयरिय-वेयावच्चे, २. उवज्झाय-वेयावच्चे, ३. थेर-वेयावच्चे, ४. तवस्सि-वेयावच्चे, ५. सेह-वेयावच्चे, ६. गिलाण-वेयावच्चे, ७. साहम्मिय-वेयावच्चे, ८. कुल-वेयावच्चे, ९. गण-वेयावच्चे, १०. संघ-वेयावच्चे।

१. आयरिय-वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

२. उवज्झाय-वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

३. थेर-वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

४. तवस्सि-वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

५. सेह-वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

६. गिलाण-वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

७. साहम्मिय-वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

८. कुल-वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

९. गण-वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

१०. संघ-वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

३७. वैयावृत्य दस प्रकार का कहा गया है, जैसे—१. आचार्य-वैयावृत्य, २. उपाध्याय-वैयावृत्य, ३. स्थविर-वैयावृत्य, ४. तपस्वी-वैयावृत्य, ५. शैक्ष-वैयावृत्य, ६. ग्लान-वैयावृत्य, ७. साधर्मिक-वैयावृत्य, ८. कुल-वैयावृत्य, ९. गण-वैयावृत्य, १०. संघ-वैयावृत्य।

१. आचार्य की वैयावृत्य करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।

२. उपाध्याय की वैयावृत्य करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।

३. स्थविर की वैयावृत्य करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।

४. तपस्वी की वैयावृत्य करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।

५. शैक्ष की वैयावृत्य करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।

६. ग्लान की वैयावृत्य करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।

७. साधर्मिक की वैयावृत्य करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।

८. कुल की वैयावृत्य करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।

९. गण की वैयावृत्य करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।

१०. संघ की वैयावृत्य करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।

विवेचन—*पूर्वसूत्र में निर्जरा के प्रमुख साधन रूप स्वाध्याय का कथन किया गया है और* प्रस्तुत सूत्र में वैयावृत्य से महानिर्जरा एवं महापर्यवसान अर्थात् मोक्षप्राप्ति का कथन किया गया है।

यहां आचार्य आदि दसों के कथन में वैयावृत्य के पात्र सभी साधुओं का समावेश कर दिया गया है।

यह वैयावृत्य भाष्य में तेरह प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) आहार—उक्त आचार्य आदि के लिये यथायोग्य आहार लाना व देना आदि।

(२) पानी—पानी की गवेषणा करना एवं लाना-देना आदि।

(३) शयनासन—शयनासन की नियुक्ति करना, संस्तारक बिछाना या गवेषणा करके लाना तथा शय्या भूमि का प्रमार्जन करना।

(४) प्रतिलेखन—उपकरणों का प्रतिलेखन करना व शुद्धि करना।

(५-७) पाए—औषध, भेषज लाना-देना या पादप्रमार्जन करना।

(८) मार्ग—विहार आदि में उपधि वहन आदि उपग्रह करना तथा उनके साथ-साथ चलना आदि ।

(९) राजद्विष्ट—राजादि के द्वेष का निवारण करना ।

(१०) स्तेन—चोर आदि से रक्षा करना ।

(११) दंडग्गह—उपाश्रय से बाहर गमनागमन करते समय उनके हाथ में से दंड पात्र आदि ग्रहण करना । अथवा उपाश्रय में आने पर उनके दंड आदि ग्रहण करना ।

(१२) ग्लान—बीमार की अनेक प्रकार से सम्भाल करना, पूछताछ करना ।

(१३) मात्रक—उच्चार, प्रस्रवण, खेल मात्रक की शुद्धि करना अर्थात् उन पदार्थों को एकांत में विसर्जन करना ।

भाष्यकार ने बताया है कि सूत्र में कहे गये आचार्य पद से तीर्थंकर का भी ग्रहण समझ लेना चाहिए । क्योंकि गणधर गौतमस्वामी भगवान् के लिए "धर्माचार्य" शब्द का निर्देश करते थे ।

—भग. श. २, उ. १ स्कन्धक वर्णन ।

कुल—एक गुरु की परम्परा कुल है ।
गण—एक प्रमुख आचार्य की परम्परा "गण" है ।
संघ—सभी गच्छों का समूह "संघ" है ।
वैयावृत्य सम्बन्धी अन्य वर्णन उद्दे. ५ में किया गया है ।

दसवें उद्देशक का सारांश

सूत्र १-२ यवमध्यचन्द्रप्रतिमा और वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा का सूत्रोक्त विधि से विशिष्ट संहनन वाले श्रुतसम्पन्न भिक्षु आराधन कर सकते हैं । ये प्रतिमाएँ एक-एक मास की होती हैं । इनमें आहार-पानी की दत्ति की हानि-वृद्धि की जाती है । साथ ही अन्य अनेक नियम, अभिग्रह किए जाते हैं एवं परीषह उपसर्गों को धैर्य के साथ शरीर के प्रति निरपेक्ष होकर सहन किया जाता है ।

३ आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा, जीत इन पांच व्यवहारों में से जिस समय जो उपलब्ध हों, उनका क्रमशः निष्पक्ष भाव से प्रायश्चित्त एवं तत्त्व निर्णय में उपयोग करना चाहिए । स्वार्थ, आग्रह या उपेक्षा भाव के कारण व्युत्क्रम से उपयोग नहीं करना चाहिए अर्थात् केवल धारणा को ही अधिक महत्त्व न देकर आगमों के विधि-निषेध को प्रमुखता देनी चाहिए ।

४-८ सेवाकार्य एवं गणकार्य करने के साथ मान करने या न करने की पांच चौभंगियों का कथन है ।

९-१० धर्म में, आचार में और गणसमाचारी में स्थिर रहने वालों या उसका त्याग देने वालों सम्बन्धी दो चौभंगियां हैं ।

११ दृढधर्मी और प्रियधर्मी सम्बन्धी एक चौभंगी है।

१२-१५ दीक्षादाता, बड़ी दीक्षादाता, मूल-आगम के वाचनादाता, अर्थ-आगम के वाचनादाता की एवं इनसे सम्बन्धित शिष्यों की कुल चार चौभंगियां कही गई हैं एवं उनके अन्तिम भंग के साथ धर्माचार्य (प्रतिबोधदाता) आदि का कथन किया गया है।

१६ तीन प्रकार के स्थविर होते हैं।

१७ शैक्ष की उपस्थापना के पूर्व की तीन अवस्थाएं होती हैं।

१८-१९ गर्भकाल सहित ९ वर्ष के पूर्व किसी को दीक्षा नहीं देना। कारणवश दीक्षा दी गई हो तो बड़ी दीक्षा नहीं देना चाहिए।

२०-२१ अव्यक्त (१६ वर्ष से कम वय वाले) को आचारांग-निशीथ की वाचना न देना, अन्य अध्ययन कराना।

२२-३६ बीस वर्ष की दीक्षापर्याय तक योग्य शिष्यों को सूत्रोक्त आगमों की वाचना पूर्ण कराना।

३७ आचार्यादि दश की भावयुक्त वैयावृत्य करना। इनकी वैयावृत्य से महान् कर्मों की निर्जरा एवं मुक्ति की प्राप्ति होती है।

उपसंहार

इस उद्देशक में—

१-२ दो चन्द्रप्रतिमाओं का,

३ पांच व्यवहार का,

४-१५ अनेक चौभंगियों का,

१६ स्थविर के प्रकारों का,

१७ शैक्ष को अवस्थाओं का,

१८-१९ बालदीक्षा के विधि-निषेध का,

२०-३६ आगम-अध्ययनक्रम का,

३७ वैयावृत्य का,

इत्यादि विषयों का कथन किया गया है।

॥ दसवां उद्देशक समाप्त ॥

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या संयुक्त होने के कारण, इनका भी आगमों में अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अंतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, तं जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, तं जहा—अट्ठी, मंसं, सोणित्ते, असुतिसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्गसूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करित्तए, तं जहा—आसाढपाडिवए, इंदमहापाडिवए, कत्तिअपाडिवए, सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा, चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पडिमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा, चाउक्कालं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पुव्वण्हे, अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गये हैं। जिनका संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-तारापतन—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

२. दिग्दाह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग-सी लगी है, तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

३-४.—गर्जित-विद्युत्—गर्जन और विद्युत प्रायः ऋतु स्वभाव से ही होता है। अतः आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नहीं माना जाता।

५. निर्घात—विना बादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जन होने पर या बादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्यायकाल है।

६. यूपक—शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनों प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा में बिजली चमकने जैसा, थोड़े थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अतः आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. धूमिका कृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गर्भमास होता है। इसमें धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पड़ती रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. मिहिकाश्वेत—शीतकाल में श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुन्ध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. रज उद्घात—वायु के कारण आकाश में चारों ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं।

औदारिक सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३. हड्डी मांस और रुधिर—पंचेंद्रिय तिर्यंच की हड्डी, मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहां से यह वस्तुएं उठाई न जाएँ जब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि मांस और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एवं बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एवं आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. अशुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. श्मशान—श्मशानभूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१७. सूर्यग्रहण—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमशः आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्र पुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसंस्कार न हो तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो तब तक शनैः शनैः स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नहीं करें।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पंचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८ चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढपूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव है। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इसमें स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रातः सायं मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर में एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरड़िया , मद्रास
२. श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३. श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरड़िया, बैंगलोर
५. श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६. श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री कंवरलालजी बैताला, गोहाटी
८. श्री सेठ खींवराजजी चोरड़िया मद्रास
९. श्री गुमानमलजी चोरड़िया, मद्रास
१०. श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१२. श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१३. श्री जे. अन्नराजजी चोरड़िया, मद्रास
१४. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१५. श्री आर. शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१६. श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१७. श्री जे. हुक्मीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२. श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती, जोधपुर
३. श्री तिलोकचंदजी, सागरमलजी संचेती, मद्रास
४. श्री पूसालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, कटंगी
५. श्री आर. प्रसन्नचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
६. श्री दीपचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
८. श्री वर्द्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मांगीलालजी मिश्रीलालजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री बिरदीचंदजी प्रकाशचंदजी तलेसरा, पाली
२. श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता, मेड़ता सिटी
४. श्री श० जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री मोहनलालजी नेमीचन्दजी ललवाणी, चांगाटोला
७. श्री दीपचंदजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
८. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगाटोला
९. श्रीमती सिरेकुंवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगनचन्दजी झामड़, मदुरान्तकम्
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K. G. F.) जाड़न
११. श्री थानचन्दजी मेहता, जोधपुर
१२. श्री भैरुदानजी लाभचन्दजी सुराणा, नागौर
१३. श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया ब्यावर
१५. श्री इन्द्रचन्दजी बैद, राजनांदगांव
१६. श्री रावतमलजी भीकमचन्दजी पगारिया, बालाघाट
१७. श्री गणेशमलजी धर्मीचन्दजी कांकरिया, टंगला
१८. श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया, इन्दौर
१९. श्री हरकचन्दजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचन्दजी लोढ़ा, चांगाटोला
२१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोला

२२. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२३. श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४. श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५. श्री रतनचन्दजी उत्तमचन्दजी मोदी, ब्यावर
२६. श्री धर्मीचन्दजी भागचन्दजी बोहरा, झूंठा
२७. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा डोंडीलोहारा
२८. श्री गुणचदजी दलीचंदजी कटारिया, बेल्लारी
२९. श्री मूलचन्दजी सुजानमलजी संचेती, जोधपुर
३०. श्री सी० अमरचन्दजी बोथरा, मद्रास
३१. श्री भंवरलालजी मूलचंदजी सुराणा, मद्रास
३२. श्री बादलचंदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३. श्री लालचदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, अजमेर
३५. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बैंगलोर
३६. श्री भंवरीमलजी चोरड़िया, मद्रास
३७. श्री भंवरलालजी गोठी, मद्रास
३८. श्री जालमचंदजी रिखबचंदजी बाफना, आगरा
३९. श्री घेवरचंदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४०. श्री जवरचन्दजी गेलड़ा, मद्रास
४१. श्री जड़ावमलजी सुगनचन्दजी, मद्रास
४२. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३. श्री चेनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४. श्री लूणकरणजी रिखबचंदजी लोढ़ा, मद्रास
४५. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसा, मेड़तासिटी
२. श्रीमती छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३. श्री पूनमचन्दजी नाहटा, जोधपुर
४. श्री भंवरलालजी विजयराजजी कांकरिया, विल्लीपुरम्
५. श्री भंवरलालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री बी. गजराजजी बोकड़िया, सेलम
८. श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी कांठेड, पाली
९. श्री के. पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१०. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११. श्री मोहनलालजी मंगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१२. श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३. श्री भंवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४ श्री उत्तमचंदजी मांगीलालजी, जोधपुर
१५. श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६. श्री सुमेरमलजी मेड़तिया, जोधपुर
१७. श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टांटिया, जोधपुर
१८. श्री उदयराजजी पुखराजजी संचेती, जोधपुर
१९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
२०. श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री ताराचदजी गोठी, जोधपुर
२१. श्री रायचन्दजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२. श्री घेवरचन्दजी रूपराजजी, जोधपुर
२३. श्री भंवरलालजी माणकचंदजी सुराणा, मद्रास
२४. श्री जंवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
२५. श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेड़तासिटी
२६. श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७. श्री जसराजजी जंवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९. श्री नेमीचंदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३०. श्री ताराचंदजी केवलचंदजी [illegible]
३१. श्री आसूमल एण्ड कं०, जोधपु[illegible]
३२. श्री पुखराजजी लोढा, जो[illegible]
३३. श्रीमती सुगनीबाई W/o [illegible] सांड, जोधपुर
३४. श्री बच्छराजी सु[illegible]
३५. श्री हरकचन्दजी [illegible]
३६. श्री देवराजजी [illegible]
३७. श्री [illegible] जोधपुर
३८. श्री [illegible]
३९. श्री [illegible]

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री श्रीकचंदजी हेमराजजी सोनी, दुर्ग
४२. श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३. श्री घीसूलालजी लालचंदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट कं.) जोधपुर
४५. श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६. श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बैंगलोर
४७. श्री भंवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८. श्री लालचंदजी मोतीलालजी गादिया, बैंगलोर
४९. श्री भंवरलालजी नवरत्नमलजी सांखला, मेट्टूपालियम
५०. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१. श्री श्रासकरणजी जसराजजी पारख, दुर्ग
५२. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३. श्री श्रमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेड़तासिटी
५४. श्री घेवरचंदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५. श्री मांगीलालजी रेखचंदजी पारख, जोधपुर
५६. श्री मुन्नीलालजी मूलचंदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७. श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेड़ता सिटी
५९. श्री भंवरलालजी रिखबचंदजी नाहटा, नागौर
६०. श्री मांगीलालजी प्रकाशचन्दजी रूणवाल, मैसूर
६१. श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया कलां
६२. श्री हरकचंदजी जुगराजजी बाफना, बैंगलोर
६३. श्री चन्दनमलजी प्रेमचंदजी मोदी, भिलाई
६४. श्री भींवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, श्रजमेर
६६. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गुलेच्छा, राजनांदगांव
६७. श्री रावतमलजी छाजेड़, भिलाई
६८. श्री भंवरलालजी डूंगरमलजी कांकरिया, भिलाई
६९. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिला
७०. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
७१. श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी बाफणा, ब्यावर
७२. श्री गंगारामजी इन्द्रचंदजी बोहरा, कुचेरा
७३. श्री फतेहराजजी नेमीचंदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४. श्री बालचंदजी थानचन्दजी भरट, कलकत्ता
७५. श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६. श्री जंवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा, बोलारम
७७. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८. श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९. श्री माणकचंदजी रतनलालजी मुणोत, टंगला
८०. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढा, ब्यावर
८१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२. श्री पारसमलजी महावीरचंदजी बाफना, गोठ
८३. श्री फकीरचंदजी कमलचंदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४. श्री मांगीलालजी मदनलालजी चोरड़िया, भैरूंद
८५. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जंवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७. श्री सरदारमलजी एण्ड कम्पनी, जोधपुर
८८. श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९. श्री धुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९०. श्री इन्द्रचन्दजी मुकनचन्दजी, इन्दौर
९१. श्री भंवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२. श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३. श्री बालचन्दजी श्रमरचन्दजी मोदी, ब्यावर
९४. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भंडारी, बैंगलोर
९५. श्रीमती कमलाकंवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६. श्री श्रखेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७. श्री सुगनचन्दजी संचेती, राजनांदगांव

९८. श्री प्रकाशचंदजी जैन, नागौर
९९. श्री कुशालचंदजी रिखबचन्दजी सुराणा, बोलारम
१००. श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
१०१. श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन
१०२. श्री तेजराजजी कोठारी, मांगलियावास
१०३. सम्पतराजजी चोरड़िया, मद्रास
१०४. श्री अमरचंदजी छाजेड़, पादु बड़ी
१०५. श्री जुगराजजी धनराजजी बरमेचा, मद्रास
१०६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
१०७. श्रीमती कंचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
१०८. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१०९. श्री भंवरलालजी मांगीलालजी बेताला, डेह
११०. श्री जीवराजजी भंवरलालजी चोरड़िया, भैरूंदा
१११. श्री मांगीलालजी शांतिलालजी रूणवाल, हरसोलाव
११२. श्री चांदमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११३. श्री रामप्रसन्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
११४. श्री भूरमलजी दुलीचंदजी बोकड़िया, मेड़ता सिटी
११५. श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
११६. श्रीमती रामकुंवरबाई धर्मपत्नी श्री चांदमलजी लोढा, बम्बई
११७. श्री मांगीलालजी उत्तमचंदजी बाफणा, बेंगलो
११८. श्री सांचालालजी बाफणा, औरंगाबाद
११९. श्री भीखमचन्दजी माणकचन्दजी खाबिया, (कुडालोर) मद्रास
१२०. श्रीमती अनोपकुंवर धर्मपत्नी श्री चम्पालालजी संघवी, कुचेरा
१२१. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांवला
१२२. श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२३. श्री भीखमचन्दजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
१२४. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़, सिकन्दराबाद
१२५. श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया सिकन्दराबाद
१२६. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, बगड़ीनगर
१२७. श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, बिलाड़ा
१२८. श्री टी. पारसमलजी चोरड़िया, मद्रास
१२९. श्री मोतीलालजी आसूलालजी बोहरा एण्ड कं., बेंगलोर
१३०. श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड़ □□